महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के सम्मान में समर्पित

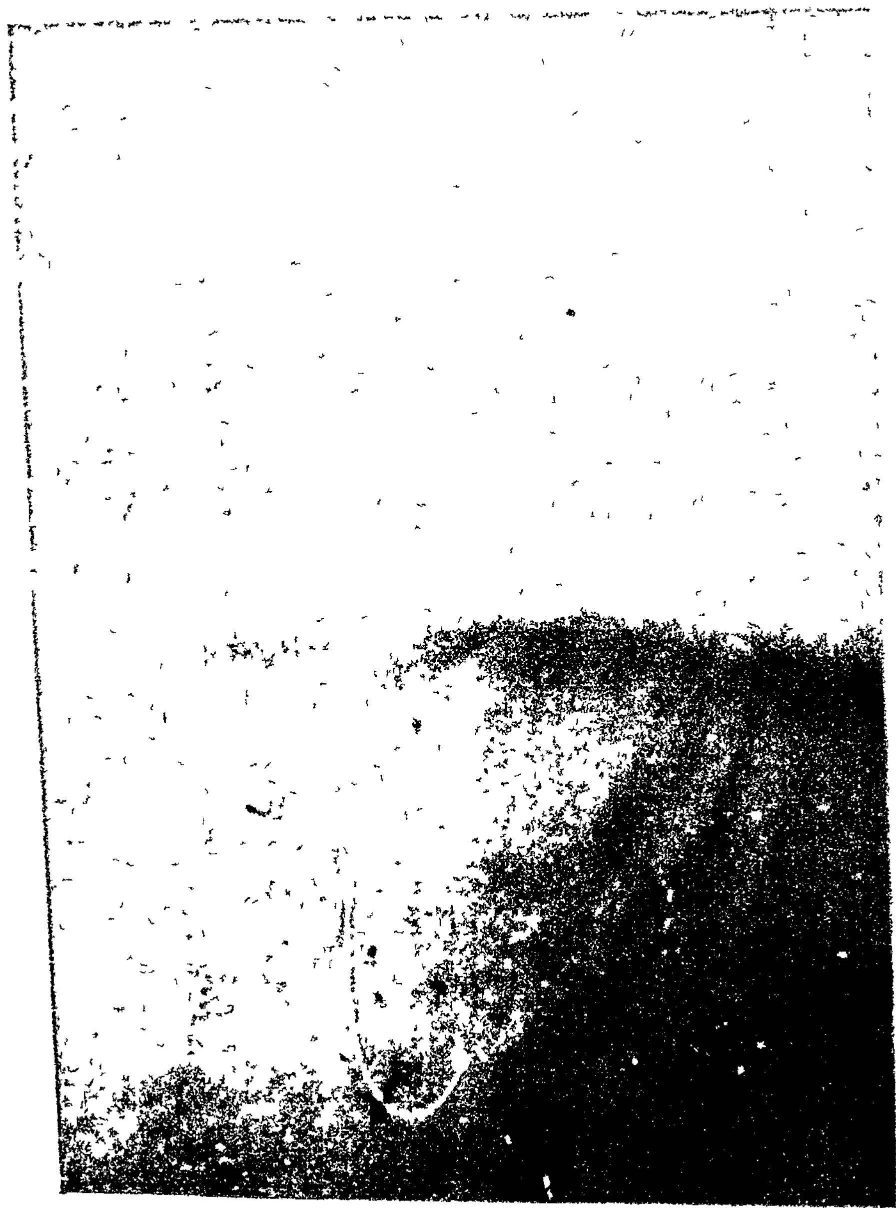
भारतीय अनुशीलन-ग्रन्थ



हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

१९९०

मुद्रक
के० मित्र द्वारा इंडियन प्रेस, लि० मे०
प्रयाग



महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा।
[७०वें वर्ष की पूर्ति पर]

महामहोपाध्याय

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के करकमलों में

उन के ७०वें वर्ष की पूर्त्ति के उपलक्ष में
उन के देश-विदेश के मित्रों, सहयोगियों और शिष्यों के
ये अनुशीलन

अनेक मंगल-कामनाओं के साथ

समर्पित

११ चैत्र, सं० १९९०
२३वां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली

प्राक्कथन

यह ओझा-अभिनन्दन ग्रन्थ सर्वसाधारण, विशेषत हिन्दीप्रेमी जनता, के सम्मुख उपस्थित करने में मुझे वर्णनातीत हर्ष हो रहा है। मेरे प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मित्र महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने हिन्दी एवं विद्वत्ता की जो कुछ प्रकाण्ड सेवा की है वह केवल हिन्दी-संसार ही क्यों वरन भारतीय एवं योरोपीय विद्वन्मण्डली को भी भली भाँति विदित है। उस का बहुत कुछ परिचय इस ग्रन्थ रत्न के अवलोकन से सूक्ष्मरीत्या मिल जायगा और यह भी प्रकट होगा कि विद्वानों में ओझा जी का कैसा मान है। मेरे सभापतित्व में दिसम्बर १९३२ में जो अखिलभारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की बैठक ग्वालियर में हुई उस अवसर पर यह प्रस्ताव पास हुआ कि ओझा जी की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाय। उक्त ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन ने छः सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त की जिस के संयोजक का काम प्रोफेसर जयचन्द्र जी विद्यालंकार को दिया गया।

विद्यालंकार जी ने इस महत् कार्य में किस योग्यता और उत्साह से काम किया इस का परिचय मुझे इस कारण से बहुत कुछ हो सका कि सम्मेलन के तत्कालीन सभापति के नाते से प्राय समस्त साल भर बल्कि कुछ अधिक समय तक अपीलों, पत्रों इत्यादि पर मुझे निरन्तर हस्ताक्षर करना पड़ा और कभी कभी मैंने उन में कुछ अपनी ओर से भी बढ़ा देने की धृष्टता की। हर्ष का विषय है कि जैसे एतद्देशीय एवं विदेशी विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए उत्तमोत्तम और महत्त्वपूर्ण लेख भेज वैसे ही राजा-महाराजाओं के साथ अनेक धनी-मानी मनुष्यों तथा सर्वसाधारण ने भी अच्छी आर्थिक सहायता की, जिस से ग्रन्थ समय पर आप लोगों की सेवा में उपस्थित हो सका। कहना न होगा कि यदि हमारे रईस एवं अन्य धनी भाई कुछ विशेष उदारता से तथा अधिक संख्या में आर्थिक सहायता करने की अनुकम्पा दिखाते तो कार्यकर्ताओं को समय समय पर कुछ भी कष्ट उठाना न पड़ता। अस्तु, जैसे-तैसे काम चल हो गया और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के पिछले (दिल्ली वाले) अधिवेशन के अवसर पर (जिस में मैं भी उपस्थित था) श्रीमान् ओझा जी के कर-कमलों में इस ग्रन्थ की एक प्रति समर्पित की जा सकी। पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार भी वहीं थे और उन्हों ने अपनी वक्तृता में ग्रन्थ के उपस्थित करने में जो कुछ कठिनाइयाँ पड़ी थीं तथा उस में कौन कौन विशिष्ट बातें हैं इस का रोचक वर्णन किया।

किन किन विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए कौन कौन से, किन किन विषयों पर लेख दिए उन के विषय बताने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पाठक-गण उसे आप ही देख लेंगे। मैं समझता हूँ कि मित्रवर ओझा जी के उत्कट पाण्डित्य, पुरातत्त्व ज्ञान एवं व्यक्तित्व का ही यह फल है कि हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती,

उड़िया, आसमिया, सिंहली, मलयालम, फ़ारसी, अँगरेजी, जर्मन, अमेरिकन, ओलन्देज़, फ्रेंच, स्वीड तथा रूसी विद्वानो ने ऐसे ऐसे उत्कृष्ट लेख दे कर इस ग्रन्थ-रत्न की शोभा बढाई है। इन के विषय बहुत गम्भीर हैं एवं ढंग गवेषणा-पूर्ण और महत्त्वगर्भित है। वैदिक एवं पिछले प्राचीन काल से ले कर वर्तमान समय तक की बातें इन मे आई हैं और अवश्य ही इन के अवलोकन से हिन्दी-रसिकों की ज्ञान-वृद्धि होगी। जैसी कि आशा की जा सकती थी यह ग्रन्थ वास्तव मे हिन्दी-भण्डार का एक बड़ा ही देदीप्यमान रत्न होगा और सभी हिन्दी-रसिकों को इस का ध्यानपूर्वक पठन एवं मनन करना चाहिए। "को बड छोट कहत अपराधू" के भय से हम किसी लेखक अथवा लेखविशेष का विशिष्ट वर्णन करना उचित नहीं समझते। ग्रन्थावलोकन से पाठकों को इस का भान आप ही हो जायगा। तो भी इतना कहे विना नहीं रहा जाता कि इस में कम से कम एक दर्जन लेख बड़े ही उच्च श्रेणी के हैं और ऐसा लेख एक भी नहीं जिस में कुछ न कुछ विशेषताएँ अथवा महत्त्व की सामग्री न हो।

जिन महानुभावो ने दान दे कर इस महत् कार्य्य मे सहायता की है उन के शुभ नाम अन्यत्र मिलेंगे। इन महानुभावो की उदारता के विना कुछ हो ही नहीं सकता था और ये हिन्दी-रसिकों के विशेष धन्यवाद-पात्र हैं। इन मे प्राय सर्वोच्च दान देने वाले एक-दो ऐसे महापुरुष है जिन्हों ने इतनी उदारता दिखलाते हुए भी अपना कुछ भी पता एवं नाम तक प्रकट नहीं किया। ऐसे दानियों से भारत का शिर अब भी ऊँचा है।

ग्रन्थ-सम्पादन का मुख्य काम भी श्री जयचन्द्र जी विद्यालकार ने ही बड़ी योग्यता से सँभाला और पूरा किया। विद्वान सम्पादकों की इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। आप महानुभावो के उत्साह एवं निरन्तर उद्योग के विना इस मे सफलता प्राप्त होना प्रायः असम्भव हो जाता। इन्हे इस कार्य्य मे जो जो सहायताएँ मिलीं एवं कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी उन का कुछ विस्तृत वर्णन "वस्तु-कथा" नामक सम्पादकीय भूमिका मे लिखा गया है। अपनी तथा पाठकों की ओर से विद्यालंकार जी एवं अन्य सम्पादको तथा लेखको और सहायकों को भूरि भूरि धन्यवाद देते हुए हम इस वक्तव्य को यहीं समाप्त करते हैं।

श्यामविहारी मिश्र
(रावराजा, रायबहादुर)
तत्कालीन सभापति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

गोलागंज, लखनऊ
रविवार, ज्येष्ठ कृ०
६ संवत् १९९१,
ता० ३-६-१९३४,

वस्तु-कथा

महामहोपाध्याय प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपना जीवन भारतीय इतिहास की खोज के लिए अर्पित किया है। वे हम लोगों के बुज़ुर्ग हैं। अपनी सब रचनायें उन्होंने हिन्दी में ही की हैं। उन्हें एक ग्रन्थ भेंट करने का प्रस्ताव कर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने एक शुभ अनुष्ठान किया। इस ग्रन्थ के द्वारा ओझा जी के अनेक मित्रों और सहयोगियों को उन्हें पत्र पुष्प भेंट करने का अवसर मिला है। इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सम्मेलन ने हमें सौंपा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (२२ वें अधिवेशन, ग्वालियर) का वह प्रस्ताव इस प्रकार था —

"यह सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक और पुरातत्ववेत्ता रायबहादुर महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाय। उस ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त करता है —

१ श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल
२ ,, दीवानबहादुर हरबिलास जी सारडा
३ ,, रायबहादुर हीरालाल जी
४ ,, सरदार माधव विनायक किबे
५ ,, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६ ,, प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार (संयोजक)।"

सम्मेलन में यह प्रस्ताव आने से पहिले भी हीरालाल, हरबिलास, काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने इस विषय पर परस्पर परामर्श किया था। सम्मेलन के प्रधानमंत्री प० रमाकान्त मालवीय ने कार्य में बड़ी रुचि दिखलाई, इसी से यह प्रस्ताव सम्मेलन में उपस्थित हुआ। प्रस्ताव की सूचना पाने पर माधवराव किबे और सुनीति चटर्जी ने भी सहर्ष अपना सहयोग दिया।

जनवरी १९३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने पटना में मिल कर तथा अन्य सदस्यों से पत्रों द्वारा परामर्श कर के ग्रन्थ की योजना निश्चित की। यह निश्चय हुआ कि ग्रन्थ में केवल भारतीय खोज विषयक लेख हों, वे लेख चाहे किसी भी भाषा में हों, और भारतीय भाषाओं के सब लेख नागरी लिपि में छापे जायँ। इस के अनुसार विद्वानों से लेख माँगे गये। देश-विदेश के विद्वानों से हमें जो सहयोग मिला वह बहुत ही उत्साहजनक था।

जर्मनी से तीन लेख हमें इण्डिया इन्स्टिट्यूट आफ डायूशे एकाडमी की कृपा से प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का लेख वारेन्द्र अनुसन्धान-समिति राजशाही की कृपा से। हम इन संस्थाओं के

बड़े कृतज्ञ हैं, और विशेष कर इण्डिया इन्स्टीट्यूट के मंत्री डा० फ्रांत्स थियरफ़ेल्डर के। जर्मनी से आने वाले तीन लेखों मे से दो अँगरेज़ी में थे, और उन के विषय मे हमे आदेश मिला था कि उन का हिन्दी अनुवाद छापा जाय। गिरनार अभिलेखों के बीच ओझा जी का जो पुराना चित्र दिया गया है वह श्रीयुत चिरंजीलाल नाथूलाल व्यास की कृपा से मिला है।

इच्छा रहते हुए भी बीमारी बुढ़ापे आदि के कारण कुछ विद्वान इस कार्य में सम्मिलित न हो सके, उन्हो ने अपनी शुभकामनायें भेजीं। उन में से विशेष उल्लेखयोग्य नाम सिंहल के श्रीयुत विक्रमसिंह, इँग्लैण्ड के सर एडवर्ड गेट, सर ज्यॉर्ज ग्रियर्सन, डा० टर्नर, धूलिया (खानदेश) के पं० श्रीधरशास्त्री पाठक, नेपाल के राजगुरु श्रीयुत हेमराज पंडितज्यू तथा तोकियो के प्रो० गामो के हैं।

समूची समिति की बैठक कभी एक स्थान पर नहीं हुई, पर जब तब मिल कर तथा पत्रों द्वारा हम लोग इस ग्रन्थ के सम्पादन के विषय मे बराबर परामर्श करते रहे हैं। जनवरी १९३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र पटना मे मिले, फ़रवरी मे किबे और जयचन्द्र इन्दौर मे, अप्रैल में हरविलास और जयचन्द्र दिल्ली में, मई में हीरालाल, काशीप्रसाद और जयचन्द्र काशी मे, सितम्बर मे काशीप्रसाद और जयचन्द्र प्रयाग में, दिसम्बर मे हीरालाल, काशीप्रसाद, सुनीति और जयचन्द्र बड़ौदा में।

सितम्बर मे प० रमाकान्त मालवीय के प्रयाग से चले जाने और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य छोड देने से कठिनाई उपस्थित हुई। उन के उत्तराधिकारियों ने ग्रन्थ के ख़र्च जुटाने का दायित्व लेने से इनकार कर दिया, तब आगरा के अध्यापक रामरत्न जी तथा इस समिति के संयोजक ने वह दायित्व अपने ऊपर लिया।

हमे आर्थिक सहायता दिलवाने का जिन सज्जनो ने विशेष उद्योग किया उन में से सीतामऊ के महाराज-कुमार श्री रघुबीरसिंह जी एम० ए०, एल० एल० बी० का, जो स्वयं एक होनहार ऐतिहासिक हैं, डूँगरपुर के महाराजा साहब श्री नागेन्द्रसिंह जी का, इन्दौर राज्य के प्रधान-मंत्री वज़ीरुद्दौला रा० ब० श्री सिरेमल जी बापना बी० ए०, बी० एस-सी०, एल० एल० बी०, सी० आई० ई० का, और अजमेर के श्रीयुत किशनलाल दुर्गाशंकर दुबे तथा श्रीयुत नाथूलाल भगीरथ व्यास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सब सज्जनो के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सहायता देने वाले महानुभावों की सूची अलग प्रकाशित की जा रही है। इण्डियन प्रेस प्रयाग के मालिकों और संचालको के भी हम अनुगृहीत हैं कि उन्हो ने रियायती दर पर हमारा ग्रन्थ छापना स्वीकार किया।

प्रेस में ग्रन्थ के सम्पादन के लिए श्रीयुत वीरसेन मेहता विद्यालंकार नियुक्त किये गये। प्रो० हाउअर तथा प्रो० स्ट्रौस के लेखों के अनुवाद तथा अधिकांश लेखो के हिन्दी सार श्रीयुत वीरसेन ही के किये हुए हैं। भाषातत्व-विभाग के अँगरेज़ी लेखो के सारों का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा ने करने की कृपा की है। विभिन्न भाषाओं से नागरी लिप्यन्तर और अनुवाद करने के काम मे निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओ ने सहायता देने की कृपा की है।

बँगला—श्री नारायणदत्त पाण्डेय, बी० ए०, प्रयाग।
श्री अमलानन्द घोष, एम० ए०, प्रयाग।
श्री जयगोपाल चट्टोपाध्याय एम० ए०, प्रयाग।

उड़िया—श्री शरच्चन्द्र पटनायक, गोरखपुर।

श्री सामन्त राय, बी० एस सी०, प्रयाग।

सिंहली—श्री अभयसिंह परेरा, काशी।

मलयालम—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास।

फारसी—श्री मुहम्मद नैमुर्रहमान, एम० ए०, प्रयाग।

„ मुहम्मद गुलाम क़ादिर, बी० ए०, प्रयाग।

जर्मन—श्री पाउल हूगो तेओदोर तेमि, प्रयाग।

श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०, प्रयाग।

रूसी लेख का अँगरेजी सार लिख देने की कृपा कलकत्ता विश्वविद्यालय के अरबी फारसी विभाग के श्रीयुत बोग्दानोव ने की है। श्रीयुत अभयसिंह परेरा, श्रीयुत नैमुर्रहमान तथा श्री अमलानन्द घोष ने सिंहल, फारसी और जर्मन लेखों के प्रूफ देखने की भी कृपा की है।

दूसरी भाषाओं के कई उच्चारणों के लिए जो नये संकेत हम ने नागरी में बनाये हैं, वे अभी केवल काम-चलाऊ हैं, हम उन्हें पूर्ण और परिपक्व नहीं कहते। इस अंश में और खोज तथा अध्ययन की आवश्यकता है। हमें खेद है कि फारसी से नागरी में लिप्यन्तर आधुनिक जीवित फारसी उच्चारण के अनुसार नहीं हो सका, प्रत्युत फारसी के भारत में प्रचलित उच्चारण के अनुसार हुआ है। श्रीयुत नैमुर्रहमान की सहायता यदि हम पहले मिल गई होती तो यह त्रुटि न रहने पाती। बँगला और आसमिया से नागरी लिप्यन्तर करने में उन भाषाओं की लिखावट का अनुसरण किया गया है न कि उच्चारण का। किन्तु इस सम्बन्ध में सुनीति चटर्जी ने निम्नलिखित नियम बना दिये थे—

(१) तद्भव शब्दों में—

'य' के बजाय 'ज' और 'व' के बजाय 'ब' लिखा जाय, जैसे 'याइव' के बजाय 'जाइब', 'याय' के बजाय 'जाय'।

(२) तद्भव भाव-वाची शब्दों के अन्त में 'या' के बजाय 'आ' लिखा जाय, जैसे 'याओया' के बजाय 'जाओआ'।

इन अंशों में बँगला और आसमिया का नागरी लिप्यन्तर उच्चारणानुसार किया गया है।

समिति के मंत्री का ध्यान खर्च जुटाने में लग जाने से तथा आर्थिक सहायता आने में देर होने से, ग्रन्थ के सम्पादन में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की तरफ से छपाई आदि का प्रबन्ध बहुत देर से होने के कारण लेखकों के पास प्रूफ भेजने का समय नहीं रहा। जनवरी १९३४ के अन्त में प्रेस के साथ प्रबन्ध हो पाया और वास्तविक छपाई ५ मार्च से शुरू हुई। २५ मार्च को ग्रन्थ दिल्ली में ओझा जी को भेंट किया जाने को था। इस दौड़ धूप में छपाई की बहुत भूलचूक रह गई, जिस के लिए हम अत्यन्त खेद है। हम विशेष कर उन लेखकों से क्षमा माँगते हैं जिन्हों ने हमें प्रूफ भेजने का आदेश दिया था।

२४ मार्च की संध्या तक ग्रन्थ के पूर्ण हो जाने का सब प्रबन्ध कर लिया गया था, परन्तु अन्तिम दिनों हमें सूचना मिली कि राजपूताना के दो तीन और राज्य ग्रन्थ की सहायता में योग देना चाहते हैं, इस लिए सहायता की सूची और प्रस्तावना आदि छपाये बिना तथा कुछ लेखों की छपाई भी स्थगित कर के ग्रन्थ की एक

प्रति तैयार की गई और वही १२ चैत्र सं० १९९० (२६ मार्च सन् १९३४ ई०) को दिल्ली में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २३ वें अधिवेशन में ओझा जी को भेंट की गई।

इस ग्रन्थ से एक नई पद्धति स्थापित हो रही है। विभिन्नभाषी भारतीय विद्वान् अभी तक एक दूसरे की कृति अँगरेज़ी में पढ़ते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ से प्रकट होगा कि वे अपनी-अपनी भाषा में लिखें, और उन के लेखों का केवल नागरी लिप्यन्तर कर दिया जाय तो थोड़े ही यत्न से वे एक दूसरे का अभिप्राय समझ सकते हैं। गत वर्ष के आरम्भ में जब हम ने इस शैली का प्रस्ताव किया, तभी बहुत से विद्वानों ने इस का स्वागत किया और अनेक ने स्वयं अपने लेख नागरी में लिख कर भेजे। अनेक महाराष्ट्र, बंगाली और गुजराती विद्वानों ने हिन्दी में ही अपने लेख दिए हैं। भारतीय विद्वानों में अपने विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की यह पद्धति क्रमश: पुष्ट होती जाय तो हमारा प्रयत्न सफल होगा। जिन ओझा जी ने आधुनिक हिन्दी में इतिहास-ग्रन्थ लिखने की शैली पहले-पहल चलाई है, उन्हीं के सम्मान में समर्पित इस ग्रन्थ से इस नई पद्धति का सूत्रपात होना आशाप्रद और मंगल-मूलक है।

हीरालाल,
हरविलास सारडा,
का० प्र० जायसवाल,
मा० वि० किबे,
श्री सुनीतकुमार चटर्जी,
जयचन्द्र नारङ्ग।



श्रीमान् हिज हाइनेस रायरायाँ महाराजाधिराज महारावलजी श्री लक्ष्मणसिंहजी बहादुर डूंगरपुर-नरेश

[आप मेवाड़ के गुहिल राजवंश की बड़ी शाखा के प्रमुख वंशधर हैं। आप होनहार एवं साहित्य-प्रेमी नरेश हैं। आपको इतिहास से विशेष अभिरुचि है।]

सहायता की सूची

(प्राप्ति-तिथि-क्रम से)

१५०) गुप्त दान।

२००) विद्याधिकारी बड़ौदा राज्य।

५००) श्रीमान् हिज हाइनेस राय ए रायान्, महारावल श्री लक्ष्मणसिंह जी बहादुर, डूँगरपुर।

२००) श्रीमान् मेजर जनरल हिज हाइनेस् महाराजाधिराज राजराजेश्वरशिरोमणि महाराणा श्री सर गंगासिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० आई० ई०, जी० सी० वी० ओ०, जी० बी० ई०, के० सी० बी०, एल्-एल्० डी०, ए० डी० सी०, बीकानेर।

५०) श्रीमान गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलाल जी, काँकरोली, मेवाड़।

३००) श्रीमान् हिज हाइनेस् महाराजाधिराज राज राजेश्वर सवाई यशवन्तराव जी होल्कर बहादुर, इन्दौर।

१२५) श्रीमान् हिज हाइनेस् महाराणा श्री वीरभद्रसिंह जी रणसिंह जी बहादुर, लूणावाड़ा।

५००) गुप्त दान।

२००) श्रीमान् हिज हाइनेस् राय ए रायान् महारावल जी सर पृथ्वीसिंह जी बहादुर, के० सी० आई० ई०, बाँसवाड़ा।

२००) श्रीमान् हिज हाइनेस् महाराजाधिराज महाराणा जी सर भूपालसिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, के० सी० आई० ई०, उदयपुर (मेवाड़)।

३५०) श्रीमान् महाराजा रामानुजशरणसिंह जी देव, सी० बी० ई०, सरगुजा।

५०) श्रीमान् हिज हाइनेस् धर्मदिवाकर महाराजाधिराज महाराजराना जी राजेन्द्रसिंह जी देव बहादुर, झालरापाटन (झालावाड़)।

२५०) श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट-कर्नल हिज हाइनेस् राजराजेश्वर महाराजाधिराज नरेन्द्रशिरोमणि महाराजा सर उम्मेदसिंह जी बहादुर, जी० सी० आई० ई०, के० सी० एस्० आई०, के० सी० वी० ओ०, जोधपुर (मारवाड़)।

प्रतिष्ठापकों की सूची

(तिथि-क्रम से)

सूचना—प्रतिष्ठापक शुल्क २५) रक्खा गया था।

१ अध्यापक रामरत्न जी, रत्नाश्रम; आगरा।

२ पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, साहित्याचार्य, अध्यक्ष पुरातत्त्व विभाग, जोधपुर (मारवाड)।

३ रावबहादुर वासुदेव अनन्त वाम्बर्डेकर, नासिक।

४ सेठ लालचन्द्र जी सेठी, विनोद मिल्स, उज्जैन।

५ पं० हरिनारायण जी पुरोहित, तहवीलदारों का रास्ता, जयपुर।

६ पं० शिवदत्त जी शर्मा, रेलवे क्लियरिंग आफ़िस, दिल्ली।

७ रावराजा सरदारसिंह जी बहादुर, उणियारा, जयपुर-राज्य।

८ रायबहादुर बाबू नॉदमल जी जैन, चन्दननिवास, अजमेर।

९ सेठ भागचन्द जी सोनी, अनूप चौक, अजमेर।

१० दीवानबहादुर हरविलास जी सारडा, अजमेर।

११ स्व० रायबहादुर डा० हीरालाल जी, डी० लिट०, कटनी।

१२ रायबहादुर डा० सरजूप्रसाद जी तिवारी, १२ तुकोगंज, इन्दौर।

१३ रावसाहब श्री विजयसिंह जी, मसूदा-भवन, मसूदा, अजमेर-मेरवाडा।

१४ रावराजा रायबहादुर पं० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, १०५ गोलागंज, लखनऊ।

१५ श्रीयुत मेलाराम जी वैश्य, भिवानी, हिसार।

१६ पं० सर सुखदेवप्रसाद जी, के० टी०, सी० आई० ई०, प्राइम मिनिस्टर, उदयपुर, मेवाड़।

१७ रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी, भेलूपुर, काशी।

१८ बा० दुर्गाप्रसाद जी खेतान, ४३ जकरिया स्ट्रीट, कलकत्ता।

१९ श्रीयुत गांगेय नरोत्तम शास्त्री, गांगेय-भवन, न० १२ आशुतोष दे लेन, चितरञ्जन एवेन्यू नॉर्थ, कलकत्ता।

२० राजा जी साहेब श्री अमरसिंह जी, बनेड़ा, मेवाड़।

२१ श्रीयुत बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त, सेवा-उपवन, नगवा, काशी।

२२ राय रामचरण जी अग्रवाल, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, रईस, बड़ी कोठी, दारागंज, प्रयाग।

२३ श्रीयुत बेनीप्रसाद जी अग्रवाल, एम्० ए०, एल्-एल० बी०, कटरा, इलाहाबाद।

२४ सरदार माधव विनायक किबे, सरस्वतीसदन, इन्दौर।

विषय-तालिका

विभाग १ वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

विभाग २. पिछला प्राचीन काल

विभाग ३. मध्य काल

विभाग २ अर्वाचीन काल

विभाग ३ अभिलेखों, मुद्राओं लिपि तथा प्राचीन पोथियों का अनुसंधान

विभाग ६, ललित कला

विभाग ७, मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

विभाग ८, भूवृत्त

विभाग ९. भाषातत्त्व

विभाग १० वैयक्तिक

चित्र-सूची

संक्षेप और संकेत

(१) नये अक्षर-चिह्न

अ़ = फ़ारसी ऐन को प्रकट करने के लिए।

ऍ = ह्रस्व एकार।

ॆ = ह्रस्व एकार की मात्रा।

ॅ = हिन्दी 'ऐ' का उच्चारण, जैसा "जैसे" शब्द में। ै का वास्तविक उच्चारण "अइ" सा होता है, न कि "अय" सा, हिन्दी शब्दों में हम उसे "अय" सा बोलते हैं, और इस ग्रन्थ के हिन्दी अंश में भी उस का उसी उच्चारण के लिए प्रयोग हुआ है। किन्तु अन्य भारतीय भाषाओं में ै का उच्चारण "अइ" सा है, इसलिए हिन्दी 'ऐ' उच्चारण को ॅ से प्रकट किया गया है।

ॊ = ह्रस्व ओकार।

च़ = "च" का "स" में ढलता हुआ उच्चारण।

झ़ = जैसा फ़ारसी पझ़ या अंग्रेजी लॆझ़र (leisure) में।

(२) ग्रन्थ-निर्देश-विषयक

अथ० = अथर्ववेद।

अ० हि० = विन्सेंट स्मिथ कृत अर्ली हिस्टरी आफ़ इंडिया।

आप० = आपस्तम्ब धर्मसूत्र।

आ० स० इं० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इन्डिया, ऐन्युअल रिपोर्टें।

आ० स० प० भा० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ वेस्टर्न इंडिया (पश्चिमी भारत की आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्टें)।

आ० स० रि० = कनिंघम कृत आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया की रिपोर्टें।

इं० आ० = इंडियन आण्टिक्वेरी।

इं० हि० क्वा० = इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली।

ऋ० = ऋग्वेद।

ए० इं० = एपिग्राफ़िया इंडिका।

उप० = उपनिषद्।

ऐ० ओ० = ऐक्टा ओरंटेलिया।

ऐत० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण।

क० सं० सि० सू० = कैटलॉग ऑफ़ कौइन्स इन इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता (कलकत्ता-संग्रहालय सिक्का-सूची)।

ज० अ० ओ० सो० = जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी।

ज० ए० सो० बं० = जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल।

ज० बं० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ दि बम्बई ब्रान्च ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी।

ज० बि० श्रो० रि० सो० = जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी।

ज० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐं आयरलैण्ड।

जैमि० ब्रा० = जैमिनीय ब्राह्मण।

तै० आ० = तैत्तिरीय आरण्यक।

ना० प्र० प० = नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

पु० = पुराण।

प्रा० ध० ग्र० = सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट (प्राच्य-धर्म ग्रन्थमाला)।

बौ० = बौधायन धर्मसूत्र।

बं० ग० = बंबई गजेटियर।

भा० अ० स० = कॉर्पस् इस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् (भारतीय अभिलेख समुच्चय)।

भा० भा० प० = लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (भारतीय भाषा पड़ताल)।

मनु० = मनुस्मृति।

म० भा० = महाभारत।

मा० पु० = मार्कण्डेय पुराण।

वा० पु० = वायु पुराण।

वि० पु० = विष्णु पुराण।

शत० = शतपथ ब्राह्मण।

साधारणतः वे ही संकेत बर्ते गये हैं जो 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में हैं। युरोपीय भाषाओं के संकेत सुपरिचित हैं।

भारतीय अनुशीलन

१

वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

हमारा वैदिक तथा आधुनिक प्रचलित पञ्चाङ्ग

(तीन संशोधन)

प्रिंसिपल गोविन्द सदाशिव आपटे, एम्० ए०, बी० एस्-सी०, गणकचूडामणि, सुपरिंटेंडेंट,
श्री जिवाजी वेधशाला, उज्जयिनी।

(१) वैदिक काल में जिस पञ्चाङ्ग के अनुसार हमारे पूर्वज चलते थे, अर्थात् जिस के आधार पर यज्ञयागादि सर्व धर्मकृत्य करते थे, उसे वेदाङ्ग-ज्योतिष कहते हैं। इस में यजुर्वेद-काल में ऋक् काल की अपेक्षा तेरह श्लोक अधिक थे। कुल श्लोक ४९ हैं। ये सब अङ्कमय हैं। अतः कम से कम आज से ३३०० वर्ष पूर्व उन का जो स्वरूप रहा होगा उस में कई स्थानों में परिवर्तन अवश्य हुआ है। यहाँ तक कि मूल शब्दों का केवल अनुमान करना पड़ता है। वेदाङ्ग ज्योतिष के समय उत्तरायण की प्रवृत्ति सूर्य के धनिष्ठा में आने पर होती थी ऐसा यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक ६ में लिखा है। इस आधार पर भारतीय ज्योतिर्विद् शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित तथा लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक जैसे विद्वानों ने वेदाङ्ग-काल शकपूर्व लगभग १४०० या १५०० वर्ष माना है। खींच-खाँच कर बहुत होगा तो वह शकपूर्व ११०० वर्ष पर्यन्त आ सकता है। किन्तु इस से आधुनिक नहीं हो सकता। इस वेदाङ्गज्योतिष-काल में वर्षमान ३६६ दिन का मानते थे। तथा ५ वर्षों के अनन्तर तिथि नक्षत्र जैसे के तैसे ही आते थे। ऐसा उन का गणित था। ५ वर्षों में दो अधिक मास मानते थे। उस पञ्चाङ्ग का आधुनिक पञ्चाङ्ग से तुलना करने के लिए निम्न लिखित अङ्क दिये जाते हैं।

सौर-चान्द्र चक्र	वेदाङ्ग-काल में ५ वर्ष		तथा वर्तमान में १९ वर्ष है	
पाँच वर्षों की दिन संख्या	,,	१८३०	,,	१८२६ १८ ,,
६२ चान्द्रमासों के दिन	,,	१८३०	,,	१८३० ८९ ,,
पाँच सौर वर्षों में चान्द्रमास	,,	६२	,,	६१ ८४ ,,
पाँच सौर वर्षों में तिथि	,,	१८६०	,,	१८५५ २६३ ,,

इतना अन्तरित पञ्चाङ्ग दीर्घ काल पर्यन्त चलना अशक्य है। तब क्या इस अन्तर को हमारे पूर्वज पुराणप्रियता के हठ से सैंकड़ों हजारों वर्ष पर्यन्त यों ही बढ़ने देते थे, अथवा जो स्थिति बारम्बार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती थी उस के अनुसार उपरोक्त मानों में सुधार करते थे? यह हम को देखना है।

काल-महिमा से इन ४९ श्लोकों में जो पाठान्तर आ गए हैं उन का यथार्थ ज्ञान कर के सुसङ्गत अर्थनिष्पत्ति करने के लिए कई विद्वानों ने प्रयत्न किया है। - की इन श्लोकों पर टीका है। इस में साधारणतः

आधे से अधिक श्लोकों का अर्थ सोमाकर से नहीं लगा है। ई० स० १८७९ में डाक्टर थीबो ने यह प्रयत्न किया। उन से ६ श्लोकों का अर्थ सोमाकर से अधिक लगा। आगे सन् १८८५ में जनार्दन बालाजी मोड़क ने और दो तीन श्लोकों का अर्थ लगाया। सन् १८९६ में शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने और ८ श्लोकों का व्याख्यान किया। उस के अनन्तर १९०७ में यू० पी० के एक एंजिनियर लाला छोटेलाल ने, बार्हस्पत्य नाम धारण कर के अपनी टीका-टिप्पणी के साथ सब श्लोकों का अँगरेज़ी भाषान्तर प्रकाशित किया, और सन् १९१४ में अपनी पुस्तक ज्योतिषवेदाङ्ग लोकमान्य तिलक के पास समालोचना के लिए भेजी। वह उन को माँडले की बन्दीशाला (जेल) में मिली। लाला छोटेलाल ने जो १०,१२ श्लोक लगाये थे उन पर तिलक महाशय ने अपनी टिप्पणी लिख कर उन्हें दी। सन् १९१८ में, जब मैं पूना में फर्लो पर था, तिलक महाशय ने प्रकाशित करने से पहले अपनी टिप्पणी देखने के लिए मेरे पास भेजी। मैंने अपनी टिप्पणी लिख कर लोकमान्य को दे दी। उन में से आधे भाग पर उन की मेरे साथ चर्चा भी हुई और शेष भाग के ऊपर उन्हों ने 'फ़ुरसत में बातचीत करेंगे, फिर आओ' ऐसी आज्ञा दी। किन्तु दुर्भाग्य से फिर दूसरी बैठक न हुई और चर्चा का काम अधूरा ही रहा। फलस्वरूप लोकमान्य के पुत्रों ने अपने पिता की टिप्पणी जैसी की तैसी ही प्रकाशित कर दी। मैं ने अपनी टिप्पणी के आधार पर यह संशोधन-निबन्ध लिखा है। सन् १९०८ में पं० सुधाकर द्विवेदी ने "याजुष ज्योतिष" करके अपनी टीका समेत एक पुस्तक और छपवाई है। उन्हों ने भी उस में सभी श्लोकों का अर्थ दिया है।

इतने प्रयत्न होने पर भी उन ४९ श्लोकों में कई स्थान अद्यापि वादग्रस्त हैं। पर मैं समझता हूँ तो भी इस बात का पता हम को चल सकता है कि दीर्घ काल तक वह पञ्चाङ्ग-पद्धति कैसे चली और प्रस्तुत पद्धति उस पद्धति से किस प्रकार सम्बद्ध है।

यजुर्वेदज्योतिष में लिखा है—

> दुहेयं पर्व चेत्पादे पादस्त्रिंशत्तु सैकिका।
> भागात्मनाऽपवृज्यांशान् निर्दिशेदधिको यदि ॥१२॥

इस श्लोक का प्रथम चरण थोड़ा ध्यान देने लायक़ है। उसी के ऊपर मेरा संशोधन निर्भर है। उस का आपाततः जो अन्वय नज़र आता है सो यों है 'पर्व पादे चेत् दुहेयम्'। किन्तु इस में दुहेयम् पद दुर्बोध है। यह दुह धातु का कोई रूप नहीं, क्योंकि यह धातु अदादिगण का होने से उस का दुह्याम् रूप होगा, न कि दुहेयम् और आर्ष समझ कर उस रूप को यदि ठीक मान भी लिया जाय तो उस से कोई अर्थ नहीं लगता। इस से यह अनुमान निकालना चाहिए कि दुहेयम् यह किसी अन्य शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। कई प्रकार की कल्पना करने के बाद लोकमान्य तिलक ने द्युहेयम् यह पाठ सूचित किया और वह मुझे भी बहुत पसन्द आया। किन्तु उस से लोकमान्य तिलक ने जो अर्थ निकाला है[1], वह मुझे मान्य नहीं। द्युहेयम् इस का सीधा अर्थ 'एक दिन का त्याग करना चाहिए' ऐसा है। और वह कब ? इस का उत्तर पर्व चेत् पादे में है। यानी पर्व की समाप्ति यदि पाद अर्थात् नक्षत्र के चरण पर हो तब। पाँच वर्षों का यह पञ्चाङ्ग मध्यम मानों से बनाया हुआ है। मन्दफल इत्यादि संस्कार उन दिनों में अज्ञात थे। वैदिक पञ्चाङ्ग का कोष्ठक दीक्षित महाशय ने अपने भारतीय ज्योतिष में दिया

---

१ दे० तिलक—वैदिक क्रोनोलॉजी एण्ड वेदाङ्ग ज्योतिष (पूना १९२५), पृ० ८६—९९।

है[1]। उस पर दृष्टि डालने से व्यक्त होता है कि वेदाङ्ग-काल में युग[2] के पाँचों वर्षों के पृथक् पृथक् नाम क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर अनुवत्सर और इद्वत्सर थे। इन में परिवत्सर की वैशाखी पूर्णिमा, इदावत्सर के अधिक श्रावण की अमावास्या, अनुवत्सर की कार्त्तिकी पूर्णिमा और इद्वत्सर की श्रावणी अमावास्या, ये चार पर्व ऐसे हैं जो नक्षत्र के चरणों के अन्त पर ही समाप्त होते हैं। नक्षत्र-चरण ३१ अंशों का होता है क्योंकि पादः त्रिंशत् तु सैकिका ऐसा श्लोक के द्वितीय चरण में लिखा है (त्रिंशत् = ३०, सैकिका = एक से युक्त)। जैसे हम आजकल नक्षत्र की ८०० कला मानते हैं उस प्रकार की गणना उन दिनों नहीं थी। वे एक पञ्चवर्षी युग में ६२ चान्द्रमास एवं ६२ × २ = १२४ पर्व (पक्ष) मानते। सूर्य १२४ पर्वों में २७ × ५ = १३५ नक्षत्र भ्रमण करता है। एक पक्ष में $\frac{१३५}{१२४}$ = १ $\frac{११}{१२४}$ नक्षत्र हुए। अर्थात् १ पक्ष में सूर्य १ नक्षत्र और १२४ अंशों में ११ अंश और अधिक चला। इस प्रकार नक्षत्र के पूरे अंश १२४ माने जाते हैं। हर एक पक्ष में ११ के हिसाब से ३१ वें पर्व के अन्त में $\frac{३१ \times ११}{१२४}$ = २ $\frac{९३}{१२४}$ यानी ९३ अंश होते हैं। इसी प्रकार ६२ वें पर्व के अन्त में १८६ अंश यानी ६२ अंश, ९३ वें पर्व में ३१ अंश और १२४ वें पर्व के अन्त में १२४ अंश होते हैं, अथवा इन पर्वों के समाप्ति काल में क्रम से नक्षत्र का ३ रा, २ रा, १ ला तथा ४ था चरण पूर्ण होता है। इन चारों समयों पर १ दिन त्यागने की आज्ञा है। श्लोक में पादे यह एकवचनान्त प्रयोग है तथापि जातिदर्शक एकवचन का प्रयोग व्याकरणसम्मत है। अर्थात् पादे का अर्थ 'प्रथम पाद के अन्त में', 'द्वितीय पाद के अन्त में' इत्यादि समझना चाहिए। १२४ में से और किसी पर्व के अन्त में ३१ या ३१ के किसी पट के बराबर अंश नहीं आ सकते। इसलिए ५ वर्ष के चक्र में यानी ४ पर्वान्त पर एक एक दिन छोड़ना चाहिए। इस प्रमाण से पाँच वर्षों में चार दिन छोड़े जाते थे। उपरोक्त श्लोक ऋग्वदज्योतिष में न होने से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ में यह बात कि इस प्रकार ४ दिनों का त्याग करना चाहिए, ध्यान में नहीं आई थी, किन्तु जब आई तब आचार्यों ने पुराण प्रिय न होते हुए यजुर्वेद-काल में उन का त्याग किया। इस का परिणाम स्पष्टतया ऐसा हुआ कि ५ वर्ष में स्थूल मान से जो ४ दिन अधिक मानते थे उन को छोड़ने से चान्द्र और सौर मान का मेल ठीक बैठने लगा। आरम्भ में इस की आवश्यकता ज्ञात होने का कारण यह मालूम होता है कि गणितागत विषुवदिन नहीं मिलते थे। ३० घटी पात्रों के समय में दिन पूरा होना चाहिए किन्तु जब कभी प्रारम्भ में २०,२५ वर्षों में विषुव दिन में २० दिनों का अन्तर पड़ा होगा तब संशोधन करना आवश्यक हुआ होगा।

तीसरे तथा चौथे चरण का अन्वय ऐसा होता है —'यदि अधिकं तर्हि अंशान् भागात्मना अवपृज्य निर्दिशत्'। इस अन्वय में मैंने मूल श्लोक के अधिक' के स्थान में अधिकं इतना पाठान्तर किया है। क्योंकि उस से अर्थ सुलभ और विशद होता है। इस अन्वय से यह अर्थ व्यक्त होता है कि प्रत्येक पर्व के अन्त में समाप्त होने वाले नक्षत्र के अंश यदि अधिक (यानी १२४ अंश से अधिक) हों, तो नक्षत्र के भागों का जो आत्मा यानी १२४ अंशों का समुच्चय हो, उस को अवपृज्य यानी घटा कर शेष जो अंश बचें उन्हें ही गणक को यानी (उस काल के) पञ्चाङ्ग-कर्त्ता को बता देना चाहिए। उदाहरणार्थ १२ वें पर्व की समाप्ति पर यदि कोई उस से पूछे तो

१ दे० श० बा० दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्र या भारतीय ज्योतिषा चा प्राचीन आणि अर्वाचीन इतिहास (पूना, बुधवारपेठ १८८१) पृ० १० ७८।

२ तिथि नक्षत्र आदि के एक पूरे चक्कर का नाम युग है अर्थात् एक के बाद दूसरे युग में ये फिर पहले की तरह ही लौटते हैं।

१३२ अंश हुए हैं यह न कह कर उसे १३२ में से १२४ घटा कर बाकी ८ अंश ही बताने चाहिए। ताकि प्रश्नकर्त्ता यह जान ले कि दिन घटाने का समय अभी नहीं आया। अर्थात् १२४ से घटाने के व्यतिरिक्त पर्वान्त नक्षत्र-पाद की समाप्ति पर होता है या नहीं इस का पता सुलभता से नहीं लग सकता। दीक्षित ने १२४ पर्वों की समाप्ति के समय के नक्षत्रांश दिये हैं। उन को देखने से यह अर्थ सुलभता से व्यक्त हो सकता है।

पाँच सौर वर्षों के दिन १८२६ होने चाहिए, उन के स्थान में वेदाङ्ग-ज्योतिषकार ने १८३० माने हैं। किन्तु वस्तुस्थिति से मिलान के लिए चार दिन का त्याग किस प्रकार करते थे यह ऊपर बतलाया है, इस युक्ति से सौरवर्ष की शुद्धि हो गई। किन्तु ६२ चान्द्र मासों के दिन १८३० के स्थान में १८३१ लेने चाहिए थे, इस के लिए कौन-सी योजना की जाती थी यह समझना आवश्यक है। वह योजना भी यजुर्वेद ज्योतिष के उपरिनिर्दिष्ट श्लोक के अनन्तर एक श्लोक छोड़ कर दूसरे श्लोक में दी है।

स्युः पादोर्ध्वं त्रिपद्यायास्त्रिद्व्यंकेऽह्न कृते स्थिताः।
साम्येनेन्दोस्तृणोऽन्येतु पञ्चकाः पर्वसम्मिताः ॥१४॥

मैंने एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त की थी। उस में इस श्लोक के प्रथमार्ध में स्थितम् पद था। उस में थोड़ा परिवर्तन कर के मैंने स्थिताः ऐसा पाठ माना है। इस में इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार हो सकता है। 'पादोर्ध्वं, त्रिपद्याया अह्न कृते त्रिद्व्यंके पादा इन्दो स्तृणः साम्येन स्थिता स्युः। अन्ये तु पञ्चकाः पर्वसम्मिताः (इति मन्यन्ते)।' इस में त्रिपद्या का अर्थ प्रतिपदा तथा स्तृ का अर्थ नक्षत्र होता है, इतना ध्यान में रखना चाहिए। वह रखने पर उपरोक्त श्लोक का अर्थ निम्नलिखित निष्पन्न होता है।

यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक १२ के अनुसार नक्षत्र-पाद के अन्त में पर्व-समाप्ति होने के अनन्तर जो प्रतिपदा आवेगी उस तिथि के विषय में तीसरा, दूसरा, पहला, यानी तीनों पादों के लिए जिस नक्षत्र के सान्निध्य में चन्द्रमा प्रत्यक्ष होगा उसी नक्षत्र के तुल्य उस दिन का नक्षत्र समझना चाहिए (न कि तिथिपत्रों में लिखा हुआ, यदि वह भिन्न हो)। प्रतिपदा का चौथा पाद कुछ कर्मों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस कारण जो विशुद्ध तीन पाद हैं, उन्हीं के उपलक्ष में प्रतिपदा को त्रिपदा कहते हैं। कई अन्य आचार्यों के मतानुसार प्रतिपदा के चारों पाद और उस के निकट का पूर्णिमा का अन्तिम पाद इन पाँचों के लिए पर्वान्त के समय प्रत्यक्ष दिखने वाला चन्द्र-नक्षत्र मानना चाहिए, यह एक मतान्तर है। तथापि इतनी बात स्पष्ट है कि नक्षत्र-पादों पर समाप्त होने वाले पर्व आते ही उन दिनों के लिए गणितागत नक्षत्र का त्याग कर आकाश में जो नक्षत्र चन्द्र के पास नज़र आवे उसी नक्षत्र के ग्रहण करने की आज्ञा है। इस का वस्तुतः तो यह आशय समझना चाहिए कि ऐसे मौकों पर दृग्गोचर नक्षत्र को मान कर उसी के अनुसार आगे चलते थे। अब भी हम देखते हैं कि चन्द्रमा का मध्यम गणितागत स्थान तथा स्पष्ट स्थान इन में सदैव अन्तर रहता है, और वह अनियत है। उस को जानने के नियम उन दिनों में अज्ञात थे। तथापि यागकर्ता ऋत्विजों की यह इच्छा अवश्य थी कि उस दिन का कर्म आकाश में जो नक्षत्र प्रत्यक्ष हो उसी पर होना चाहिए, और उस इच्छा के अनुसार वे क्या प्रयत्न करते थे, उस का कथन इस श्लोक में है। चन्द्र का गणित थोड़ा जटिल है। उस में बहुत संस्कार करने पड़ते हैं, आधुनिक आविष्कारों से तो चन्द्र के ४० तक संस्कार हैं, जिन को किये बिना वह ठीक दृग्गोचर नहीं होता। कोई १०,१२ संस्कार करते हैं, कोई ८,९ करते हैं। किन्तु कम से

कम पाँच तो अत्यन्त आवश्यक हैं। उतने संस्कार न करें तो ग्रहण नहीं मिलते। वेदाङ्ग-काल में तो इन में से एक भी संस्कार ज्ञात न होने से हमारे आचार्यों ने प्रत्यक्ष नक्षत्र को ही देखने की प्रथा डाली थी। गणित की रीतियों में वे सुधार न कर सके। किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि वे प्रत्यक्ष फल से काम लेते थे, ६२ चान्द्रमासों के वे १८३० दिन मानते थे। उन में एक दिन कम आता था। यह अन्तर इस युक्ति से उन्हों ने हटाया। इस उपाय से चान्द्रमास दिन संख्या की शुद्धि हो गई।

आचार्यों ने सौरमान शुद्ध किया तथा चान्द्रमान भी शुद्ध किया। किन्तु पाँच सौरवर्षों में ६२ चान्द्रमास मानते थे उस में गलती रही। वास्तव में ६२ के स्थान में ६१.८४ मानना चाहिए था। इस का अर्थ यह है कि पाँच वर्ष में सौरमास ६० मानते थे तथा चान्द्रमास दो अधिक लेते थे अथवा इस गणित से ९५ वर्ष में ३८ अधिक मास मानते थे। इस में तीन मास अधिक लेते थे। यह तीन मास का अन्तर निकाल डालने के लिए ९५ वर्ष में तीन क्षयमास मानने पड़ते हैं। अथवा स्थूलतः ३२ वर्ष में एक क्षयमास मानना चाहिए। इन दो मार्गों में से आचार्य कौन-से मार्ग का अवलम्बन करते थे यह हम नहीं कह सकते, किन्तु गणित शुद्धि के लिए क्षयमास मानते थे इस में सन्देह नहीं, क्योंकि आगे भारत काल में इन क्षयमासों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में लिखा है कि—

क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा।
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम्॥ अ० ३०१।

इस श्लोक में दिवस, पक्ष, मास तथा वर्ष इन सभी का क्षय लिखा है। दिन के क्षय के प्रसङ्ग श्लोक १२ से ज्ञात होते हैं। कभी प्रति पञ्च वर्षी युग में चार दिनों का क्षय मानने की विस्मृति हुई तो २० वर्ष में एक पक्ष के त्याग करने का प्रसङ्ग आता ही होगा। मास का क्षय प्रति ३२ वर्ष में मानना अनिवार्य हुआ था सो ऊपर बतलाया ही है। परन्तु क्षय-वर्ष का कोई विचार हमने अब तक नहीं किया है। आधुनिक आविष्कार ऐसा है कि १९ वर्ष में चन्द्र तथा सूर्य क्रान्तिवृत्त में अपने पूर्व स्थान पर आते हैं, और फिर उसी पर्याय का प्रारम्भ होता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के स्थूल नियम से पाँच वर्ष में एक पर्याय, अथवा २० वर्ष में चार पर्याय मानते थे। वस्तुतः वह चार पर्यायों का एक बड़ा पर्याय १९ वर्ष में मानना चाहिए। उसी के अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव था। इस कारण प्रत्यक्ष स्थिति से मेल करने के लिए २० वर्ष में १ वर्ष का त्याग करना पड़ता था। इस गणित से हम समझ सकते हैं कि उपरोक्त श्लोक में जो संवत्सर का क्षय लिखा है वह यथार्थ था। ऋग्वेद-काल में इतनी सूक्ष्मता ध्यान में नहीं आ सकी। किन्तु उस काल के आचार्यों ने इतना अवश्य जाना था कि पाँच वर्षों में कुछ दिन का क्षय मानना चाहिए। इसी कारण ऋग्वेद-ज्योतिष में ५ वाँ श्लोक इस प्रकार का लिखा है —

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात्तदादियुगं माघस्तपः शुक्लो दिनं त्यजेत् ॥५॥

यद्यपि ऋग्वेदकाल में दिन, मास तथा संवत्सर का कोन कौन-से प्रसङ्ग पर त्याग करना चाहिए इस का ज्ञान नहीं हुआ था, तथापि कुछ दिनों का त्याग न करें तो पञ्चाङ्ग का प्रत्यक्ष से मेल नहीं बैठता इतना तो तत्कालीन आचार्यों ने माना था।

सारांश यह है कि वेदकालीन परम्परा से वर्तमान काल पर्यन्त यदि हम इतिहास का विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आवश्यकतानुसार वे आचार्य और ज्योतिषी अपने गणित में सुधार करने के लिए उद्यत थे। आधुनिक काल मे पाश्चात्य राष्ट्रों के पञ्चाङ्ग-विषयक इतिहास के परिवर्तन पर यदि दृष्टि दी जावे तो भी यह व्यक्त होता है कि ईसवी सन १५८२ में तेरहवें पोप ग्रेगरी ने आज्ञापत्र निकाला था कि उक्त वर्ष के अक्टोबर को ४थी तारीख के दूसरे दिन १५ ता० मानी जावे। इस आज्ञापत्र के अनुसार कई देशो के पञ्चाङ्ग मे परिवर्तन हुआ। खुद इंग्लैंड मे भी पार्लियामेंट की आज्ञा से सन् १७५२ के सितम्बर महीने मे ता०२ के दूसरे दिन ता०१४ मानी गई[1]। इस विषय में संसार मे किस प्रकार प्रगति हो रही है इस पर यदि हम ध्यान दें तो हमें लज्जित होना चाहिए कि हम सूर्य-सिद्धान्त के काल से आज तक अपने वर्षमान में प्रतिवर्ष ८॥ पल अधिक मानते आये और इस कारण जो ४ दिन सञ्चित हुए हैं उन का त्याग करने की हमारी सम्मति नहीं है। हमे महाराष्ट्र मे आजकल जिसे तिलक-पञ्चाङ्ग कहते है उसी का स्वीकार करना उचित है। चन्द्रादि ग्रहों के सम्बन्ध मे जो आविष्कार नये हुए हैं, जिन का हमे आकाश मे प्रत्यक्ष अनुभव होता है, हमे अपने आधुनिक प्रचलित पंचाङ्ग मे उन का संशोधन कर लेना चाहिए।

(२) हमारा वर्तमान पञ्चाङ्ग वेदाङ्ग-ज्योतिष से किस प्रकार सिद्ध हो सकता है इस का विवरण मैं ने अपनी पुस्तक मे दिया है[2]। इस लिए उस की पुनरुक्ति यहाँ करना अनावश्यक है।

(३) अन्त मे ऋग्वेदाङ्गज्योतिष के १९ वें श्लोक के विषय मे मैंने जो संशोधन किया है उसे विद्वानों की सेवा मे उपस्थित करता हूँ। इस श्लोक को कई संशोधकों ने दुर्बोध समझ कर छोड़ दिया है, तथा अन्य विद्वानो ने जो उस का अर्थ किया है वह मेरे मत से आक्षेपार्ह है।

श्रविष्ठाभ्या गुणऽभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।
सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् विद्याचान्द्रमसान् ऋतून्॥

इस श्लोक का उत्तरार्द्ध सुलभ सा दिखता है किन्तु पूर्वार्द्ध के अर्थ का कुछ पता नहीं चलता। मैं समझता हूँ मेरे लगाये हुए अर्थ मे कुछ सुबोधता है।

पूर्वार्द्ध का **गुणभ्यस्त** पद एक दुर्भेद चट्टान-सा ज्ञात होता है। मैं उस का काठिन्य इस प्रकार शिथिल करता हूँ। **अभ्यस्त** का अर्थ है गुणा हुआ। जब **गुण** शब्द का प्रयोग संख्या सूचित करने के लिए होता है तब उस का अर्थ 'तीन' होता है यह गणितज्ञ जानते हैं। **गुणभ्यस्त** का अर्थ 'तीन से गुणा हुआ' ऐसा होता है। परन्तु यह अर्थ यहाँ पर नहीं जमता। इसलिए **अभ्यस्त** का मूल अर्थ क्या है यह देखना चाहिए। किसी वस्तु को वारम्वार करना इसे हम उस वस्तु का अभ्यास करना समझते हैं। जैसे किसी पाठ को वारम्वार पढ़ने से हम उसे उस पाठ का अभ्यास समझते हैं। व्याकरण मे भी एक पद की पुनरावृत्ति करने की क्रिया को **अभ्यास** कहते हैं। उदाहरणार्थ लिट् के रूप को सिद्ध करते समय चर् धातु के प्रथमाक्षर को दुहरा कर **चचार, चचर** ऐसे रूप होते हैं। और

१ दे. नॉटिकल ऐल्मनक (अँगरेजी पञ्चाङ्ग) पृ ७९९-६०।

२ सर्वानन्द करणम् पृ० १६९-७०।

यहाँ पर च को अभ्यस्त किया है ऐसा कहते हैं। यानी वस्तु को दुहराना इसे उस का अभ्यास करना कहते हैं। इस नियम के अनुसार गुणाभ्यस्त का अर्थ 'तीन तीन से पुनरावृत्त होने वाला' कर सकते हैं। गुणाभ्यस्तान् यह मासान् का विशेषण है। इस लिए गुणाभ्यस्तान् मासान् इस का अर्थ 'तीन तीन के अनन्तर आने वाले मास को' ऐसा कर सकते हैं। ये 'तीन तीन मास' कहाँ से गिनने चाहिए इस बतान के लिए श्रविष्ठाभ्याम् पद लिखा है। श्रविष्ठा शब्द का अर्थ धनिष्ठा नक्षत्र है। उस का प्रयोग एकवचन में अथवा बहुवचन में होता है परन्तु इस स्थान में उसे द्विवचन में प्रयुक्त किया है। कदाचित् यह प्रमाद होगा ऐसा कोई कह सकते हैं, किन्तु मेरे विचार में यह द्विवचन हेतुपूर्वक है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के काल में सूर्य के धनिष्ठा पर आते ही वर्षारम्भ मानने की प्रथा था। उस समय उदगयन अथवा प्रस्तुत समय का सायन मकरारम्भ होता था। उस के अनन्तर तीन महीनों के पश्चात् (२१ मार्च को) सूर्य मेष में आता है, और उस समय पहला अथवा वासन्तिक विषुवदिन (जिस रोज दिन और रात्रि समान होते हैं) आता है। विषुवदिन का महत्त्व वार्षिक यज्ञों में बहुत था। यह हम को तैत्तिरीय संहिता (७.४.८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (१८.१८) इत्यादि से ज्ञात होता है[1], और इसी कारण उस की उन दिनों में बहुत प्रतीक्षा करते थे। वासन्तिक विषुवदिन से ६ महीनों के अनन्तर दूसरा विषुवदिन (सितम्बर २१ को) आता है। इस क्रम से पहले विषुवदिन से ९ महीने बीतने पर यानी दूसरे विषुवदिन के तीन महीने पश्चात् फिर उदगयनारम्भ (२२ दिसम्बर) अथवा धनिष्ठार्क होता था। अर्थात् वर्षारम्भ के धनिष्ठार्क के तीन महीने अनन्तर वासन्तिक विषुवदिन आता था। तथा वर्ष के अन्त में जो धनिष्ठार्क होता था उस के तीन महीने पहले शारद विषुवदिन होता था। इस प्रकार एक ही वर्ष के आदि तथा अन्त में होने वाले धनिष्ठार्क से तीन तीन महीनों के अन्तर पर विषुवदिन आया करते थे। अर्थात् दो धनिष्ठाओं से तीन तीन मास आगे तथा पीछे विषुवदिन की पुनरावृत्ति होती था। जिन महीनों में विषुवदिन आते हैं वे सायन मेषार्क के तथा सायन तुलार्क के महीने होते हैं। इन महीनों के प्रारम्भ में सूर्य ठीक पूर्व दिशा में उगता है। उस समय उस का अग्रा (उदय समय में पूर्व बिन्दु से उस का अन्तर) शून्य होता है। इस कारण उन दोनों मासों को प्राग्विलग्न अर्थात् 'पूर्व बिन्दु से लगने वाले' ऐसा कह सकते हैं। इस से यह विशद होगा कि दो धनिष्ठाओं से तीन तीन महीने पूर्व व पश्चात् पूर्व बिन्दु पर संलग्न होने वाले मास कैसे आ सकते थे। पाँच वर्षों के युग में ऐसे १० मास आते थे इसी कारण से पञ्चवार्षिक पञ्चाङ्ग के लिए "मासान्" यह बहुवचनात्मक प्रयोग यथार्थ है। तस्मात् प्रथमार्द्ध का अन्वय अब इस प्रकार बैठता है —श्रविष्ठाभ्यां गुणाभ्यस्तान् (मासान्) प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्। संक्षेप में शब्दशः इस का अर्थ यह है —'दो धनिष्ठाओं से तीन मास पहले तथा अनन्तर पुनरावृत्त होनेवाले मासों को पूर्व दिशा में लग्न मास बता देना चाहिए'। एंजिनियर लाला छोटेलाल ने 'गुण' का अर्थ ८ किया है, और उस का कारण यह दिया है कि धनिष्ठा के आगे आठवाँ नक्षत्रपुञ्ज कृत्तिका का होता है और कृत्तिका नक्षत्र का उदय ठीक पूर्व दिशा में होता है ऐसा शतपथब्राह्मण में लिखा है। इस कल्पना से इस श्लोक का अनुवाद वे इस प्रकार करते हैं "श्रविष्ठा से आठवाँ नक्षत्र कृत्तिका होता है और वह प्राग्विलग्न भी है"। हमारा इस पर यह आक्षेप है कि इस में

[1] दी० भा० ज्यो० पृ० ३८ ४७,४८।

अभ्यस्त पद का अर्थ ठीक नहीं बैठता तथा प्राग्विलग्नान् इस पुल्लिंगी द्वितीयान्त पद को नक्षत्रान् इस अध्याहृत पद का विशेषण मानना पड़ता है। किन्तु नक्षत्र शब्द नपुंसक होने के कारण यह कल्पना अग्राह्य है। व्याकरण के नियम को तोड़ने का दोष इस मे स्पष्ट है। इस के अतिरिक्त और भी एक न्यूनता है। वह यह है कि धनिष्ठाभ्याम् इस द्विवचन का इस में थोडा भी समर्थन नहीं है, तथा गुण शब्द का अर्थ 'आठ' करने के लिए गणितशास्त्र मे कहीं भी आधार नहीं। वेदकाल (शकपूर्व ३००० वर्ष) मे कृत्तिका ठेठ पूर्व दिशा में उदित होती थी यह सच है, परन्तु वेदाङ्गकाल मे यह स्थिति कैसी रही इस प्रश्न का उत्तर आपने कहीं भी नहीं दिया है। इन कारणों से उन का किया हुआ अर्थ मान्य नहीं हो सकता।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने उपरोक्त कारणों से लाला छोटेलाल की कल्पना नापसंद की और मूल श्लोक मे "अविष्ठाभ्यो गणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्। स्वार्क्षान मासान् षडभ्यस्तान् इत्यादि"। इस प्रकार बहुत परिवर्तन कर के जो अर्थ किया है वह यह है—"गण यानी नक्षत्रगण अथवा २७, इस से, अविष्ठा का उदय होने से इष्ट काल पर्यन्त तक मे नक्षत्रों के अंश को गुणने से पूर्व बिन्दु पर उदित होने वाले नक्षत्र के अंश मिलते हैं।" इस अर्थ के विरुद्ध बड़े बड़े आक्षेप हो सकते हैं। अविष्ठाभ्यां के स्थान मे अविष्ठाभ्यः यह पाठभेद किसी भी पोथी मे नहीं मिलता, न किसी अन्य पण्डित ने सूचित किया है। तीसरे चरण मे स्वार्क्षान् यह पाठभेद भी नया है। गुण के स्थान मे गण माना है और उस का अर्थ भगण अथवा नक्षत्रों की संख्या यानी २७ किया है। धनिष्ठा प्रतिदिन जब कभी उदित होती है उस समय से इष्ट काल पर्यन्त जो सावयव नक्षत्र बीतते हैं उन्हे २७ से गुणने को कहा है। अर्थात् धनिष्ठोदय से इष्ट काल कितना व्यतीत हुआ यह नक्षत्राश से ज्ञात कर लेना चाहिए।

किन्तु वह काल और उस काल मे भुक्त होने वाले भाश अथवा नक्षत्राश किस रीति से निकालने चाहिए इस का नियम वेदाङ्गज्योतिष में कहीं भी लिखा हुआ नहीं है, तथा इस अर्थ में भांशान् पद का पूर्णतया अध्याहार करना पड़ता है, और वह मुख्य है। जो अर्थ इतनी खींचातानी से किया गया है वह ग्राह्य नहीं हो सकता। लोकमान्य तिलक ने भी उस को अपनी सम्मति नहीं दी।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का अन्वय इस प्रकार हो सकता है :—सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् चान्द्रमसान् ऋतून् विद्यात्। इसका अर्थ यह है—'पञ्चसंवत्सर युग मे जितने सौरमास होते हैं उन्हें ६ से गुणने से चान्द्रऋतुओं की संख्या का ज्ञान होता है।' किन्तु इस अर्थ के अनुसार इस श्लोकार्द्ध से पाँच सौरवर्ष में कितनी चान्द्रऋतुएँ हुई इस का ठीक ज्ञान नहीं होता। क्योंकि पाँच वर्षों में सौरमास ६० होते हैं। उन को ६ से गुणा करने से ३६० चान्द्रऋतुएँ होती हैं। वास्तव मे जब चन्द्रमा का नक्षत्रो मे एक पर्याय होता है तब उस की ६ ऋतु मान सकते हैं। परन्तु पाँच वर्ष में चन्द्रमा के ६७ पर्याय होते हैं; अर्थात् $६७ \times ६ = ४०२$ चान्द्रऋतुएँ होती हैं यानी ४२ ऋतुएँ अधिक होती हैं। यह अन्तर उपेक्षणीय नहीं है। तथापि यह सत्य है कि ये ४०२ ऋतुएँ ६,६ ऋतुओ के पर्याय से अपने को पुनरावृत्त करती हैं। और इस अर्थ को निकालने के लिए षडभ्यस्त का अर्थ '६,६ के पर्याय से जिन की पुनरावृत्ति होती है' ऐसा समझ सकते हैं। इस अर्थ में असत्यता का तथा व्याकरण के नियमों के विरुद्ध होने का दोष नहीं है।

इतना संशोधन कर के मैं यह अवश्य कहूँगा कि वेदाङ्गज्योतिष का पूर्णतया अर्थ अब तक लगा नहीं है, किन्तु, प्रत्येक प्रयत्न दूसरे संशोधन का मार्गदर्शक होता है इस नियम के अनुसार आशा है मेरा यह अल्प प्रयत्न भी भविष्य में और संशोधकों का लाभदायी होगा। वह आशा सफल हो तथा जिन महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा के पुण्य प्रताप से यह संशोधन प्रसिद्ध करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे दीर्घायु हो कर सुखी रहें ऐसी प्रार्थना कर के इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

व्रात्यसमस्या और अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड*

(प्रो० डा० हावर त्युबिंगेन विद्यापीठ, जर्मनी)

अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड वैदिक वाङ्मय का सब से कठिन पहेला समझा जाता है। हमारे प्रमुख संस्कृतज्ञों को इस के बारे में अत्यन्त तुच्छतासूचक बातें कहनी पड़ी हैं[1]। प्रो० लैन्मन ने इस के महत्त्व को थोड़ा-बहुत पहिचाना है। ह्विटनी के अनुवाद पर अपनी प्रारम्भिक टिप्पणी में उन्हों ने लिखा है कि, 'इस में दीखने वाले लड़कपन और अस्पष्टता रहते भी यह काण्ड अनुशासन के अनुपयुक्त नहीं।'[2] जब से मुझे पहले पहल इस में योग के कुछ आरम्भिक तत्त्वों का पता लगा[3], मैं इस दुर्बोध प्रबन्ध का बार बार परिशीलन करता रहा हूँ।

ध्यानपूर्वक विवेचन के बाद मुझे स्पष्टतया विदित हो गया कि यह प्रबन्ध प्राचीन भारत के ब्राह्मणेतर आर्य-धर्म को मानने वाले व्रात्यों के उस बृहत् वाङ्मय का कीमती अवशेष है जो प्राय लुप्त हो चुका है[4]।

अपनी पुस्तक दे र व्रा त्य में मैंने बताया है कि व्रा त्य शब्द व्रा त से व्युत्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ है व्र त (=पुण्य कार्य) में दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय। यह ब्राह्मणों के दी क्षि त का ठीक प्रतिवाचक है, ब्राह्मणों के यहां ब्राह्मण को सर्वोत्तम दीक्षित कहा गया है। इसी कारण मतपरिवर्तन के बाद जब व्रात्यों ने ब्राह्मण धर्म स्वीकार किया तो ये लोग ब्राह्मण वर्ण में लिये गये। व्रात्य लोग असल में उस विधर्मी सम्प्रदाय के पूज्य व्यक्ति थे, जिस का प्रधान देवता रुद्र था। शुरू में ये लोग अद्भुत वेश वाली टोलियों में घूमने वाले धर्मगुरु और जादूगर थे, जिन की कई श्रेणियाँ थीं और अपना एक अलग ही पवित्र ज्ञान था, और बाद में एकाकी योगी और सिद्ध जो अपने गुप्त ज्ञान और पवित्र अनुष्ठानों का खजाना लिये देश में घूमते फिरते।

व्रात्यों का अधिदेव रुद्र ई शा न - म हा दे व, जिस ने भ्रमण कर के सब पदार्थों के आरम्भ में विश्व का सृजन किया, स्वयं भी व्रा त्य या ए क व्रा त्य कहाता। और जैसा कि बृ ह त्स र्वा नु क्र म णी में माना है, अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड इस अनादि व्रात्य का ही एक स्तुतिपरक प्रकरण है। उस में इस का यों बयान है—अध्यात्मक मन्त्रोक्तदेवत्या उत व्रात्यदैवतम्। यह व्रात्य लौकिक व्रात्य का सनातन प्रतिमूर्ति है।

---

* इंडिया इन्स्टीट्यूट ऑफ ड्यूश एकॉडमी, म्युनशन (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

1 मिलाइए ब्लूमफील्ड—दि अथर्ववेद ऐंड गोपथ ब्राह्मण (ग्रुन्ड्रिस डेर इन्दोईरानिश् फिलालॉजी उन्द आल्तरतुम्सकुन्दे—हिन्द ईरानी भाषा और खोज का विश्वकोष) ६५ रुडोल्फ रौथ कृत अथर्ववेद का जर्मन अनुवाद (पाण्डुलिपि—त्युबिंगेन विद्यापीठ, जर्मनी, के पुस्तकालय में)। 2 ह्विटनी—अथर्व संहिता नि० २, पृ० ७७०।

3 दी अनफैंग देर योगप्राक्सिस इम आल्तन इंडियन पृ० १७२ में। 4 हावर—देर व्रात्य उन्तरसुशिगनअँयर दी निश्त ब्राह्मनिश रेलीजिओन आल्तइंडियन्स् जि० १, स्टुटगार्ट, १९२७ (आगे संक्षिप्त—देर व्रात्य०)।

यह काण्ड लगभग दो समान भागो मे विभक्त है। प्रथम अनुवाक १—७ सूक्तों तथा द्वितीय अनुवाक ८—१८ सूक्तो का है। इन मे पहला अनुवाक तो सुसम्बद्ध और सम्पूर्ण है, उस मे व्रात्य का वर्णन आदिदेव-रूप मे तथा उस की उत्पादक चेष्टाओं के साथ है। दूसरा अनुवाक मेरी राय मे व्रात्य अनुश्रुति के विभिन्न अंशो का सङ्कलन है। ८ और ९ सूक्त जिन मे राजन्य की उत्पत्ति का विषय है एक स्वतन्त्र भाग है, तथा वैसे ही १०—१३ सूक्त भी जिन मे अकेले व्रात्य के पृथ्वी-विचरण का वर्णन है, सूक्त १५—१७ मे व्रात्य के श्वास-प्रश्वास को विश्व की धारक शक्ति बताया है, और अन्त मे सूक्त १८ वे मे उस का वर्णन विश्व-पुरुष के रूप मे है।

इन सूक्तो की साहित्यिक शैली पर्य्यायो की है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्रात्य रचनाओ की शैली मुख्यत. यही थी। ये भजन हैं, जो कि वैदिक साहित्य के वर्णवृत्तो की योजना मे नहीं बैठते (यद्यपि बृहत्सर्वानुक्रमणी मे उन्हे बैठाने का जतन किया गया है)। तथापि इन में छन्दों की सी गति लगातार विद्यमान हैं, और शब्दो का अनुपात रखने की स्पष्ट प्रवृत्ति है।

पहले सूक्त मे सब पदार्थों के उद्भव का वर्णन है। वह यों चलता है—

१. (आरम्भ आरम्भ मे) व्रात्य घूम रहा था। उस ने प्रजापति को प्रेरित किया[1]।

२ उस ने प्रजापतिरूप मे सुवर्ण को अपने मे देखा। उसे जना (प्रा ज न य त्)।

३ वह एक हो गया। वह माथे का ल ला म (तिलक) हो गया। वह म ह त् हुआ, ज्ये ष्ठ हुआ, ब्रह्म हुआ, सृजने वाली गर्मी (त प) हुआ, सत्य हो गया और इस प्रकार प्रकट हुआ (प्र जा य त)।

४. वह उद्दीप्त हो उठा, वह महान् हो गया, म हा दे व बन गया।

५ वह देवताओ के ईश्वरत्व को लाँघ गया, ईशान हो गया।

६ वह ए क व्रा त्य हो गया। उस ने एक धनुष उठा लिया, वही इन्द्रधनुष है।

७. उस का पेट नीला, पीठ लाल है।

८. नीले से ही वह अप्रिय भ्रा तृ व्य को आवृत (प्र - ऊ र्णु) करता है, लाल से ही विद्वेषी को बीधता है। ब्रह्मवादियो का यह कहना है।

यहा आदिदेव को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य-देवविदो ने सब पदार्थों के मूल और एक-मात्र कारण की कल्पना पृथ्वी पर पुण्यात्मा व्यक्ति-विशेष के रूप मे की थी, जैसे कई बार आदिदेव को पहला ब्राह्मण (ज्ये ष्ठ ब्रा ह्म ण, अथ० १०.७ १७) कहा जाता है। इन महात्माओ का परिभ्रमण और अनुष्ठान पृथ्वी पर सभी सचेष्ट शक्ति का कारण था। अत सनातन और सर्वोत्तम व्रात्य को भी सब पदार्थों का मूल कारण कल्पित करना और यह सोचना कि उस के परिभ्रमण से विश्व की प्रसुप्त कार्योत्पादक शक्तियाँ जाग उठी, कोई दूर की या कठिन बात न थी। कहना होगा कि ब्राह्मणो के तप और यज्ञ की तरह यहाँ व्रात्यों के पुण्य कार्यों को ही देवत्व प्रदान किया गया और मूल कारण माना गया। व्रात्य के इस देवत्व का प्रमाण यह सूक्त ही नहीं—जै मि नी य ब्रा ह्म ण २.२२२ मे भी ईशान का, जिस का वहाँ वायु से एकत्व माना गया है, स्वरूप ए क व्रा त्य[2] बताया है। जै मि नी य उ प नि ष द् ब्रा ह्म ण ३.२१ मे वायु को, जो कि विश्वदेव है तथा अन्य सब देवता जिस की नाना

---

१ 'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।' परन्तु पैप्पलादसंहिता में "व्रात्यो वा इदमग्र आसीत" यह पाठ है।

२. हौर व्रात्य० पृ० ४६।

अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, व्रात्य, एकव्रात्य, अद्भुत, सब देवों की योनि (बिल) और (विकास की) चरमावधि[1] कहा है। प्रश्नोपनिषद् २ ११ में सर्वोच्च देवेश के लिए कहा गया है,—"हे प्राण, एकर्षि, विश्व के भोक्ता, तुम ही एक मात्र असल स्वामी व्रात्य हो।"[2] अत वैदिक काल में किसी न किसी एकेश्वरवादी या एकराजेश्वरवादी सम्प्रदाय की अनुश्रुति अवश्य रही होगी, जिस के अनुसार परमेश्वर वायु ईशान, व्रात्य था। हम इसे ब्राह्मण-धर्म के मुकाबले में व्रात्य-धर्म कह सकते हैं। केवल सामवेदीय और आथर्वणिक वाङ्मय में ही यह अनुश्रुति सुरक्षित है, अन्यथा ब्राह्मणों के सारे वाङ्मय से इस व्रात्य धर्म की पृथक् सत्ता के चिह्नों को चुन चुन कर नष्ट कर दिया गया है।

प्रजापति, जो कि आदि व्रात्य के प्रजनक पर्यटन से प्रेरित हो कर प्रकट होने वाली प्रथम दैवी सत्ता है, जैमि० ब्रा० में सहायक देवता है, जो कि एकव्रात्य को त्यागने वाले व्रात्यों को शरण देता है। पर हमारे पहले सूक्त में प्रजापति आदिव्रात्य की सृष्टि है। अत यह उस समय रचा गया होगा जब कि प्रजापति व्रात्यदेव के मुकाबले में प्रधानता हासिल करने की स्पर्धा कर रहा था और व्रात्यों के बहुत से प्रमुख नेता उस की तरफ हो गये थे। ये ही वे लोग थे जो व्रात्यस्तोमों द्वारा ब्राह्मण वर्ण में ले लिये गये थे। यह सूक्त श्रद्धालु व्रात्यों की तरफ से अपने पुरखों के देवता के प्रति किए गए इस विद्रोह का जवाब था। वे प्रजापति को तथा तप, एकम् आदि ब्राह्मणों के अन्य विचारों की उपेक्षा न कर सके, पर उन्हों ने उन को व्रात्यदेव का आश्रित बना दिया, जिस ने कि उन्हें उत्पन्न किया। ब्राह्मणों के देवताओं और सिद्धान्तों के साथ ही उन्हों ने अपने परम्परागत ललाम[3], महत्, महान् आदिक को भी रक्खा। "सुवर्णमात्मन्नपश्यत्, तत् प्राजनयत्" यह वाक्य बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि सुवर्ण के स्थान में हिरण्यगर्भ बदल कर शेष सारा वाक्य लगभग इसी रूप में व्रात्य अनुश्रुति से सम्बद्ध एक उपनिषद् ने यों दुहराया है,—यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।[4] मेरे विचार में यह अब तक का अप्रजनित सुवर्ण ही पिछले सांख्यों का अव्यक्त प्रधान या प्रकृति है, जिस में से व्यक्त (संसार) का विकास होता है। व्रात्य अनुश्रुति के एक दूसरे[5] सूक्त में त्रिगुणवाद की तरह यहाँ हम पिछले सांख्यों की बहुत सी परिभाषाओं—महत्, महान्, आदि का मूल भी पाते हैं।

इस सूक्त का, जिसे मैं व्रात्यकाण्ड में सब से अर्वाचीन समझता हूँ, रचनाचातुर्य इस में प्रकट है कि अव्यक्त सुवर्ण से व्यक्त पहली परम्परा जिस का अन्त सत्य पर होता है, सब नपुंसकलिङ्गी वस्तुओं की है, तब दिव्य पुरुष सत्ताओं की दूसरी परम्परा आरम्भ होती है जिस का अन्त एकव्रात्य पर होता है। वह व्रात्यों के चामत्कारिक धनुष-स्थानीय ज्या हृड को उठाता है और उस से सारे विरोधियों को जीत डालता है और तब अपने विश्व भ्रमण को आरम्भ करता है, जिस का सूक्त २ में वर्णन है।

---

१ देखे व्रात्य० २०७।

२ देखे व्रात्य० २१०।

३ ललाम शैवों के साम्प्रदायिक चिह्न पुण्ड्र का पर्याय है। कालाग्निरुद्र नामक एक सारी की सारी उपनिषद् इसी पुण्ड्र के विराट् स्वरूप के बयान में लिखी गई है।

४ श्वेत० ३ ४ २।

५ अथ० १० ८ ४३।

सूक्त १ मे एक बड़ी कठिनाई है जिस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मंत्र ६ का एकव्रात्य आदिव्रात्य की अन्तिम अभिव्यक्ति है। अत जैं सि० उ प० ग्रा० की तरह हमारे इस सूक्त में ये दोनों एक नहीं। इस विरोध का कारण यह है कि यह सूक्त आदिव्रात्य से प्रकट होने वाली एक परम्परा स्थापित करना चाहता है; जिस से कि आदिव्रात्य को इस प्रकार हर एक अव्यक्त पदार्थ से परे, देवगाथाओं के क्षेत्र से अलग, एक अध्यात्म-पुरुष के रूप मे माना गया है। इस प्रकार विश्वपुरुष व्रात्य की पुरानी परम्परागत देवगाथायें, जो २—६ तथा १४—१८ सूक्तो मे हैं, आदिव्रात्य के एकाकी स्वरूप से मेल नहीं खातीं। अत इन सूक्तों का मुख्य विषय व्रात्यो के देवगाथाओ मे कल्पित मुखिया एकव्रात्य को बना दिया गया है, यद्यपि मूल प्रसग व्रात्य का ही था। इसी से पिछले वाङ्मय मे व्रात्य और एकव्रात्य को एक माना गया है। सो ठीक भी है, क्योंकि ये एक ही सत्ता के दो विभिन्न रूप हैं।

२—७ सूक्तो मे विश्वपुरुष व्रात्य के भ्रमण और कर्मकाण्ड का वर्णन है, जो कि लौकिक व्रात्य के नमूने पर है। इन सूक्तों मे दो मूल कल्पनायें हैं। पहली कर्मकाण्ड-सम्बन्धी, अर्थात् लौकिक व्रात्य के पर्यटन तथा उस के पवित्र अनुष्ठान, इन मे प्रधान कर्म महाव्रत है, जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक दे र व्रा त्य ० (पृ० २४६ प्र) मे दिखाया है। दूसरी विश्वरचनाविषयक; अर्थात् विश्व का भ्रमण करने वाला आदिव्रात्य वा यु है, जिसे हम भारतीय हे र्मे स (Hermes) या ओ डि न (Odin) कह सकते हैं। इन दोनो कल्पनाओं का समन्वय इन सूक्तों से हुआ है और जैसे लौकिक महाव्रत की परिसमाप्ति वर्षा, अन्न और भूमि का उपजाऊपन आदि विश्व की पोषक शक्तियो की उत्पत्ति से होती है, ठीक वैसे ही पहले अनुवाक के अन्त और दूसरे के आरम्भ में ये शक्तियां प्रकट हो कर पृथ्वी और द्युलोक मे अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। निस्सन्देह हम कह सकते हैं कि प्रथम अनुवाक के ये सूक्त एक प्रकार से सृ ष्टि - म हा व्र त का वर्णन करते हैं, जिस में मुख्य पात्र सनातन व्रात्य है। यही विचार १४ वें सूक्त मे, जिस मे कि विश्वपुरुष व्रात्य की सवारी द्वारा दिव्य शक्तियों का अवतार होता है, तथा १५—१७ सूक्तो मे भी जहाँ कि व्रात्य का उछ्वास-प्रछ्वास सम्पूर्ण विश्व की प्राण-धारक क्रिया के रूप मे वर्णित है, है। सृजनवाली शक्ति के रूप मे चमत्कारी उछ्वास-प्रछ्वास महाव्रत का एक मुख्य अङ्ग था।

दूसरा सूक्त ४ गणों में विभक्त है जिन मे से हर एक फिर ७ गणावसानन मे विभक्त है। पहला गण यों है—"वह (विश्व-व्रात्य) उठ खड़ा हुआ, वह पूर्व दिशा को चला (=अनुव्यचलत्), बृ ह त् र थ न्त र आ दि त्य और सब देवता (=विश्वेदेवा) उस के पीछे चले। ऐसे विद्वान व्रात्य की जो बुराई करता है, बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेव सब से अपने को जुदा कर लेता है। जो यों जानता है, वह बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेवो का प्रेम-पात्र (=प्रियंधाम) हो जाता है। पूर्व मे इस व्रात्य की श्रद्धा रखैल (=पुँश्चली), मन्त्र भाट (=मागध), विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी (=उष्णीश) रात्रि केश, दोनो पीले (=हारीतौ) गोले सूर्य चाँद दो अलकार (कुण्डल), भूत और भविष्य आगे पीछे चलने वाले दो अनुचर (=परिष्यन्दौ), मन वाहन (=विपथ) मानसून (=मातरिश्वा) और ढाडू (=पवमान) खींचने वाले (=विपथवाहौ), तूफान सारथी, बवूला (=वातूल) चाबुक (=प्रतोद), कीर्ति और यश चोबदार (=पुर सरौ) हैं। जो यह जाने उसे कीर्ति और यश मिलता है।"[1]

१. सि० अथ० ३ १५ प्र; २८।

चारों गण इसी तरह हैं। उन में व्रात्य चारों मुख्य दिशाओं में भ्रमण करता है। हर एक दिशा में उस का मार्ग भिन्न है, तथा देवता साम और हर दिशा में अनुसरण करने वाली अन्य शक्तियाँ विभिन्न हैं। यहाँ विश्वव्रात्य के साथी सामान आदि सब वही हैं जो धर्मानुष्ठान के लिए देश में घूमने वाले लौकिक व्रात्यों के। जैसे ऋ० १०.८५ में सूर्या के विवाह में उस के वस्त्र सामान सखियाँ आदि मन्त्रों सूक्तों व अन्यान्य प्राकृतिक व दैवी सत्ताओं का बनाया गया है, वैसे ही यहाँ विश्वव्रात्य के। दूसरी तरफ एक छायामयी तुलना द्वारा लौकिक व्रात्य के साथी सामान आदि भी सब वही हैं, यह सूक्त ३ से सिद्ध किया जा सकता है। वहाँ विश्वव्रात्य की आसन्दी (=चौकी) को बनाने वाली विभिन्न शक्तियों की तुलना लौकिक पुरोहित की आसन्दी के अवयवों से की गई है।

सूक्त का सामान्य अभिप्राय स्पष्ट है। व्रात्य पहले पूरब को प्रस्थान करता है, फिर दक्खिन को मुड़ता है, तब पच्छिम और उत्तर को। यों उस की सवारी पूरा चक्कर काटती है। यह पवित्र प्रदक्षिणा है। महाव्रत में वेदी की प्रदक्षिणा, जिस से कि बहुत-सी गुप्त सिद्धियाँ उस पवित्र आंगन में प्रकट हो जातीं और उस की क्रियाशक्तियाँ जाग पड़तीं मानी जाती हैं, इसी का प्रतीक है। विश्वव्रात्य मानो अपनी अमनदारी की तरह संसार की, जो कि उस की जगत् सृजन और पालने वाली चेष्टाओं की पुण्य लीलाभूमि है, परिक्रमा करता है।

छठे सूक्त में इसी प्रकार एक दूसरी परिक्रमा का वर्णन है। वहाँ प्राकृतिक शक्तियों की एक अत्यन्त कौतुकमयी परम्परा उस का अनुसरण करती है। ज्यादा विस्तार न कर के संक्षेप में मैं इतना ही कह देता हूँ कि इन दिशाओं में, जिन में व्रात्य घूमता है, और उन में व्रात्य का अनुसरण करने वाली शक्तियों में खास प्रकार का सम्बन्ध है। सारा विश्व यहाँ विश्वव्रात्य के सञ्चालन से चलायमान है। दिशायें किन्हीं अचिन्त्य प्रान्तों की तरफ ऊँची-सी उठ रही हैं, जिन में से एक मानव कल्पना से इतना दूर है कि यह समझा गया है कि व्रात्य वहाँ से न लौटेगा। सचमुच ही वह उस के बाद में हि मा-म हु (=बढ़ती हुई महानता) में परिवर्तित हो जाता—संसार को घेरने वाला महासमुद्र बन जाता—है (सूक्त ७)। व्रात्य वायु की तरह विश्व के कोने कोने में व्याप जाता है, कोई जगह उस की साक्षात् समुपस्थिति से नहीं बचती, और जहाँ जहाँ वह जाता है प्राकृतिक शक्तियाँ जाग उठतीं और उस का अनुगमन करती हैं।

इस सूक्त से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि व्रात्य-दर्शनवादियों की अपनी एक आधिदैविक सृष्टि थी, जिस में बहुत-से लोकों का, जो ब्राह्मण वाङ्मय से एक प्रकार से अपरिचित थे, उल्लेख था, जिन में हर एक का एक अधिष्ठातृ-देवता अलग था, और वे सब सनातन व्रात्य—एक सार्वभौम परमेश्वर—के अधीन थे।

तीसरे सूक्त में विश्वव्रात्य पूरे एक वर्ष सीधा खड़ा रहता है। व्रात्य का यह अनुष्ठान भी लौकिक महाव्रत के उस अनुष्ठान के नमूने पर है, जहाँ एक मनुष्य बहुत देर तक खड़ा रह कर सूर्य का स्तवन करता और वह प्रभावोत्पादक स्तोत्र पढ़ता हुआ सूर्य के साथ साथ घूमता है। मैं समझता हूँ स्कम्भ के अनुष्ठान की कल्पना भी, जिस का व्रात्य कल्पना से निकट सम्बन्ध है, इसी नमूने पर हुई है।

और ठीक जैसे कि महाव्रत में उद्गाता के लिए आसन्दी बनाई जाती है, यहाँ देवता लोग साम और अन्य विश्वशक्तियाँ से व्रात्य के लिए एक आसन्दी तैयार करते हैं। यह समता कोई मेरा अपना अनुमान नहीं, साम के मूल सन्दर्भों[1] द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि व्रात्य की आसन्दी में

१ जैमिनीय ब्रा० २.२४-२६; लाट्यायन श्रौत सूत्र ३.१२.७ आदि देखें व्रात्य ... ८।

आसन्दी के भिन्न भिन्न अवयवों और कतिपय रहस्यमयी शक्तियों का साम्य वैसा ही है जैसा कि महाव्रत की आसन्दी में। आसन्दी की बनावट के रहस्य का विषय व्रात्य आधिदैविकों को बड़ा प्रिय था। इसी से यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि इस आसन्दी-कल्पना को व्रात्यों के एक नेता कुशीतक के सम्प्रदाय ने व्रात्य-मत छोड़ने के बाद भी जारी रक्खा और बढ़ाया; कौशीतकी उपनिषद् (१ ५) का वह एक मुख्य भाग है।

क्योंकि व्रात्य की आसन्दी महाव्रत के उद्गाता की आसन्दी है और प्रमुख सामों द्वारा बनी है, इस से यह प्रकट है कि व्रात्य को महान् विश्वउद्गाता के रूप में कल्पित किया गया है, जो साम-गान और ओङ्कार-नाद से विश्व को शब्दब्रह्म से परिपूर्ण कर देता है। तब समस्त देव-प्रजा उस की पदाति बन जाती है और उस के मन के संकल्प ही उस के दूत।

यही विचार चौथे और पाचवें सूक्त में प्रकट हुआ है। वहाँ वर्ष के बारहों महीने—जिन के उपजाऊपन के लिए उद्गाता गा रहा है—तथा सब महासाम और परमात्मा के अर्थात् स्वयं आदिव्रात्य के अपने सात विभिन्न रूप उस के सहायक साथी बनाये गये हैं, जो उसे एक जीवित शक्ति के रूप में, जिस में विश्व की अन्य सब सत्तायें केन्द्रित है, सब दिशाओं और प्रदिशाओं में घेरे हैं।

महाव्रत में उद्गाता आसन्दी पर बैठ सामगान करता था, जिस के पश्चात् महदुक्थ का पाठ होता। अब दोनों को मिला कर एक पुरुष—अर्थात् महाव्रत के अधिष्ठातृदेवता—के रूप में कल्पित किया गया। ऐ त रे य आ० २ ३.३. के अनुसार वह पुरुष ही संसार के चारों तरफ़ का महासमुद्र है। इस महासमुद्र से जल और जलों से अन्न पैदा होते हैं। ठीक इसी कल्पना की तुलना में ७ वें सूक्त में विश्व-महाव्रत का प्रमुख पुरुष 'बृहती महानता' हो जाता, पृथ्वी के अन्त तक पहुँचता और महासमुद्र बन जाता है। और उस के पीछे पीछे प्रजापति और परमेष्ठी, पिता और पितामह, और जल वर्षा बन कर बहते हैं। और तब श्रद्धा और यज्ञ, जगत् और अन्न, तथा अन्न खाने की शक्ति (अन्नाद्य) अर्थात् जगत् की पोषक शक्तियाँ पैदा हो कर चलती हैं। विश्व-महाव्रत यों सफल और सम्पूर्ण हो गया।

अब चूँकि जगत् और उस की पोषक शक्तियाँ—श्र द्धा, य ज्ञ, अ न्न और अ न्ना द्य पैदा हो गये, अतः अनादि व्रात्य से, जो कि (विश्व-महाव्रत की प्रेरक शक्तियों द्वारा) रज से प्रदीप्त हो उठता है (=अरज्यत्), रा ज न्य की उत्पत्ति होती है। राजन्य एकाएक वि श (कबीलों) सजात बान्धवों (=सबन्धून्) अ न्न और अ न्ना द्यों के ऊपर होने का आकांक्षी हो जाता है (अभ्युदतिष्ठत्)[१]।

९ वें सूक्त में व्रात्य विश की तरफ़ बढ़ता—विशः की सत्ता स्थापित करता—और इस प्रकार राजन्य के मनोरथ को पूर्ण करता है। उस के पीछे पीछे स भा, स मि ति, से ना और सु रा अर्थात् उन ब्राह्मणेतर लोगों के बड़े बड़े जमाव और उत्तेजनापूर्ण पान-गोष्ठियाँ चलती हैं। इस सूक्त की व्याख्या उन सुरापान-महोत्सवों को ध्यान में रख कर करनी चाहिए, जिन की झलक श त रु द्रि य में है तथा जिन का वर्णन मेगॉस्थेनेस् ने भारतीय दिओनुसस् अर्थात् रुद्र-शिव की पूजा का उल्लेख करते हुए किया है। समयाभाव से मैं ज़्यादा बारीकियों में नहीं जा रहा हूँ, उन का सविस्तर वर्णन अपने ग्रन्थ दे र व्रा त्य जि० २ में दूँगा।

---

१ सूक्त ८।

१०—१३ सूक्तों में लौकिक व्रात्य को अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राजन्यों और जन साधारण के घरों में जाते हुए दिखलाया गया है। इन सूक्तों का, अ ति थि ब्रा ह्म ण वाले सूक्तों[1] से, जो कि इसी तरह पर्यायों में रचे गये हैं और व्रात्य अनुश्रुति से सम्बन्ध रखते हैं, तथा आ प स्त म्ब ध र्म सू त्र[2] के अतिथि सन्दर्भों से, जहाँ इन्हीं सूक्तों के अन्तरश उद्धरण दिये गये हैं, गहरा सम्बन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार की तुलना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरने वाला साधु ही है, जो पूर्वकाल में पुरोहित या जादूगर होता, और बाद में सिद्ध, जो अपने साथ अलौकिक बातों का गुप्त ज्ञान लाता और अपना स्वागत करने वालों को असीस देता। ऋग्वेद और अन्य धर्मों से तुलना करने पर मालूम पड़ता है कि यह आर्यावर्त्त और यूरोप की उभयनिष्ठ संस्था थी, और प्राचीन भारत में व्रात्य लोग इस के ब्राह्मणेतर प्रतिनिधि थे। वह जहाँ जाता उस की आव भगत बड़ी श्रद्धा भक्ति से होती और व्रात्य देवता की तरह, जिस का कि वह पार्थिव प्रतिनिधि है (१३ ८ ९) उस का स्वागत किया जाता। इस आतिथ्य का बड़ा माहात्म्य है। यदि वह किसी घर में एक रात ठहरे तो गृही पृ थ्वी के सब पु ण्य लो कों को पा जाता है, दूसरे दिन ठहरे तो अ न्त रि क्ष के, तीसरे दिन द्यु के, चौथे दिन पु ण्य के पु ण्य लो कों को तथा पाँचवें दिन अपरिमित पुण्यलोकों को।

ऐसा मालूम होता है कि बहुत-से कपट-व्रात्य (व्रा त्य ब्रु व) भी होते थे, जो सिर्फ व्रात्यों के नाम का फायदा उठाने के ख़याल से व्रात्य बनने का ढोंग करते[3]। १३ वें सूक्त में गृहपति को एक बड़ा मजेदार आदेश है जिस से कि वह कपट-व्रात्य के आने से भी वही फल पा सके जो सच्चे व्रात्य के आने पर[4] होता है।

१० वें सूक्त के आरम्भ में यह पता चलता है कि अतिथि अब घूमते धर्मगुरु और जादूगर के रूप में पहले व्रात्यों वाली सजधज और मण्डली के साथ नहीं आता, अब तो वह ए व वि द्वा न् व्रा त्य है, जिस के ज्ञान ने अब पुराने कर्मकाण्ड की जगह ले ली है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात घट सके, वह है परिव्राजक योगी या सन्यासी। योगियों सन्यासियों का सब से पुराना नमूना व्रात्य है।

पहले पहल अजब जान पड़ने वाला १४ वाँ सूक्त जिसे रूडाल्फ रॉथ ने तो एकदम ही फिजूल और निरर्थक करार दिया था, प्रारम्भिक होते हुए भी रहस्यवाद का एक उत्तम गम्भीर सन्दर्भ है, जिस का भाव अथ० ९ ६ के अ ति थि ब्रा ह्म ण वाले प्रकरण में भी स्फुट हुआ है, और सम्भवत यहाँ भी यही कारण है कि अतिथि-सूक्तों के बाद ही इसे स्थान मिला है। इस में भी १० गण हैं जिन की रचना उसी क्रम से हुई है।

"ज्यों ही वह (व्रात्य) पूरब को चला मरुत की सेना उत्पन्न हो कर (=भूत्वा) और मन को भोक्ता (=अन्नाद) बना कर उस के पीछे हो ली। जो यों जाने, वह मन के अ न्ना द से अ न्न खाता है।"

बारहों दिशाओं में इसी प्रकार विश्व शक्तियों व दैवी सत्ताओं की १० विभिन्न मंडलियाँ उठती हैं और व्रात्य के पीछे हो लेती हैं। वे बारहो अलग अलग अ न्ना द सा बनाती हैं, जिस मन के साथ दीक्षित लौकिक व्रात्य भोजन करता है।

---

१ अथ० ९ ६।

२ २ ३ ७।

३ अथ० १५ १३ ६।

४ वहीं ६—९।

इस सूक्त की ठीक व्याख्या के लिए प्राचीन भारतीयों के उस तत्त्वज्ञान को समझना आवश्यक है जिसे हम अन्न-मीमांसा कह सकते हैं और जो व्रात्य-विचारकों का एक प्रिय विषय था।

इन समस्याओं ने कि अन्न शरीर और मन की पोषक शक्ति के रूप में कैसे परिवर्तित हो जाता है, कि खाद्य पदार्थों (अन्नों) में वस्तुत: खाद्य (अन्न) क्या है, और कि मनुष्य में वह कौन सी शक्ति है जो उसे हज़्म करती है, बहुत से वैदिक विचारों को जगाया था। और सच ही प्रकृति और चेतन की समस्या का, जिस का हल आज भी नहीं किया जा सका, यह आरम्भिक स्वरूप था। इन्हीं चिन्ताओं में अन्न और अन्नाद का विचार जन्मा,—अन्न अर्थात् विश्व का पोषक तत्त्व जो अपने को विभिन्न रूप, तनु या मूर्ति में बाँट लेता है, और अन्नाद या भोक्ता अर्थात् सचेष्ट तत्त्व जिसे कि प्राय: अन्तरतम में बसने वाला अग्नि या प्राण माना जाता है, और जो अपने को विभिन्न लोकों में बाँट लेता है।

यही प्रधान और पुरुष का निराला द्वैतवाद है ?[1]

अन्नाद बन कर अथवा विश्व अन्नाद्य के साथ विशेष दिशा में बैठ कर अन्न खाने से, साधक विश्व के उस भाग से जीवित सम्पर्क स्थापित कर लेता है। १४ वें सूक्त का निर्माण इन्हीं विचारों से हुआ है, और इसी लिए यह सूक्त हमारे व्रात्यकाण्ड के गूढ़ अभिप्राय का द्योतक है। जो आध्यात्मिक चित्र यह खींचता है वह बहुत ही विशाल है,—विश्व का कोना कोना व्रात्य की उत्पादक चेष्टाओं और दैवी सत्ताओं से समाक्रान्त है, वे अपने अपने स्थान की अधिष्ठात्री हैं, और वहाँ अन्नादों को नियुक्त करती हैं जो कि साधकों को अपने विशेष क्षेत्र की गुप्त शक्तियों में दीक्षित करते हैं। यह विश्व एक सुव्यवस्थित सजीव देह है, जिस की मूल प्रेरक शक्ति सनातन व्रात्य है और इस लोक में उस का ज़िम्मेदार विद्वान् व्रात्य। योगदर्शन में इसी आशय को यों स्पष्ट किया है, 'योगी का मन मूल प्रकृति अथवा प्रधान से, जो कि सब पदार्थों की अभिव्यक्ति और लय का स्थान है, सीधे सम्पर्क में रहता है, और इसी से सब दिशाओं कालों और पदार्थों से भी।' योगी की ऐहलौकिक चमत्कारपूर्ण सभी विभूतियों का मूल स्रोत यही है।

हमारे काण्ड में बारबार आने वाले वाक्य—प्रियं धाम भवति य एवं वेद—में इसी आशय को तनिक दूसरे ढंग से कहा है—साधक में अभिव्यक्त होने वाली संपूर्ण शक्तियाँ उस में सजीव रूप में अवतरित हो जाती हैं।

यह सूक्त क्या निरर्थक आँय बाँय है ? हमे यह न भूलना चाहिए कि विश्व के क्रम-नियम और उस से अपने सम्पर्क के बारे में वैदिक ऋषियों की धारणायें हमारी धारणाओं से मिलें यह आवश्यक नहीं है।

१५—१७ सूक्तों के आध्यात्मिक विचार भी कम महत्त्व के नहीं। व्रात्य 'तीन बार सात गुणे' ताल से विश्व के अन्तरङ्ग में प्राणवायु फूँकता है, और इस तरह इसे अनुप्राणित रखता है। उस के इक्कीस प्राण हैं—७ प्राण अर्थात् आगे-श्वास, ७ अपान अर्थात् नीचे-श्वास और ७ व्यान अर्थात् बीचोबीच-श्वास, उस में से कइयों के विभिन्न नाम हैं, और हर एक परोक्ष या अपरोक्ष विश्व का भाग, अर्थात् उस की गूढ धारक शक्ति, है।

---

१ दे०—ऐ० आ० २,१, तै० उप० २२, ऐ० उप० १३, बृ० उप० १५, ४६, मैत्री उप० ६११ अ; कठोप० ३४; महा-नारा० उप० ११; तथा ऋ० ११८७, छा० उप० ३१३.७-८।

हम जब अपने इस काण्ड के अन्तिम सूक्त पर निगाह डालते हैं तो व्रात्य-विचार का एक नया पहलू सामने आता है—अर्थात् सनातन व्रात्य विश्वपुरुष के रूप में। जैमि० उप० ब्रा०[1] से ज्ञात होता है कि व्रात्य लोग "ऊर्ध्व-लोकों में स्थित तथा यज्ञ की बलि से घृणा करने वाले देवाधिदेवों का," तथा ओ३म् इस अक्षर का गूढ़ ज्ञान भी रखते थे। इस प्रकार हम व्रात्य विचार के प्रमुख आध्यात्मिक विषयों को पहचान सकते हैं, और आगे प्र श्न, श्वे ता श्व त र, मै त्रा आदि रुद्र-शिव की अनुश्रुतिपरक उपनिषदों में इन्हीं का विवेचन और अधिक दार्शनिक ढंग से पाते हैं। इन के साथ सम्बद्ध का ठ क, मु ण्ड क और म हा ना रा य णो प नि ष द् का नाम भी जोड़ा जा सकता है। क्योंकि उपनिषदों में स्पष्ट ही सांख्य परिभाषाओं—म न, बु द्धि, चि त्त, अ हं का र—का प्रयोग है, और क्योंकि अथर्ववेद के एक व्रात्य-सूक्त में त्रि गु ण वा द का उल्लेख भी हम देख चुके हैं, इस लिए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आरम्भिक सांख्य और योग की नींव, जिन का आरम्भ इतना पहले वैदिक काल में मिल रहा है, पहले पहल व्रात्य सम्प्रदाय में ही पड़ी।

अब मैं अन्त में थोड़े से वाक्यों में इस प्रश्न पर विचार करता हूँ कि आया मेरी यह स्थापना कि अथर्ववेद के १५वें काण्ड का व्रात्य बाद के योगियों का अग्रगामी है, मान्य हो सकती है। निश्चय ही महादेव के रूप में व्रात्य ईशान की स्थिति पिछले योग-दर्शन के ईश्वर अथवा परम पुरुष की स्थिति से ठीक मेल खाती है। तब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १०—१३ सूक्तों का ए व वि द्वा न् व्रा त्य परिव्राजक योगी का पूर्वरूप है।

पर क्या यहाँ हम पिछले योग की किन्हीं विशेष क्रियाओं का आभास मिल सकता है?

इस काण्ड में वर्णित विश्वव्रात्य और लौकिक व्रात्य का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ संक्षेप में बता देना आवश्यक है। यह बात खास कर सूक्त २ से स्पष्ट है कि सनातन व्रात्य के कार्यों और स्वरूप को लौकिक व्रात्य के नमूने पर ही गढ़ा गया है। अतः सनातन व्रात्य के वर्णन से लौकिक व्रात्य के विषय में कुछ बातें हम जान सकते हैं। यदि सनातन व्रात्य तीन-चार-सतगुने ताल से साँस लेता है तो लौकिक व्रात्य भी इसी तरह की कोई क्रिया अर्थात् कोई खास तरह का प्राणायाम अवश्य करता होगा। फिर यदि सनातन व्रात्य पूरे एक वर्ष भर सीधा खड़ा रहता है तो देर तक सीधे खड़े रहने की क्रिया लौकिक व्रात्य से छिपी न होगी, क्योंकि विशेषतः मैं त्रा य णी उ प नि ष द् के अनुसार, जिस का व्रात्य-अनुश्रुति से निकट सम्बन्ध है, राजा बृहद्रथ ने एक हजार दिन तक ऐसी क्रिया की थी और तब देवताओं ने प्रकट हो कर उस के सम्मुख औपनिषद ज्ञान का प्रकाश कर दिया था।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि व्रात्यों की बहुत-सी क्रियाओं का मूल पुराने कर्मकाण्ड में निहित है। उदाहरणार्थ, सामगायकों के नियमित प्राणायाम, और उन के साथ प्राणों के विषय में आध्यात्मिक विचार—जैसा कि हम उन्हें विशेषतः जैमि० उप० ब्रा० में पाते हैं—उपासकों के कर्मकाण्ड छोड़ने पर बन्द नहीं हो गये, बल्कि वे नये प्रकार के पवित्र जीवन में ध्येय प्राप्ति के साधन रूप में अङ्गीकार कर लिये गये। इसी प्रकार, जब कि सामों का गायन कर्मकाण्ड के साथ साथ छोड़ दिया गया, तब भी ओंकार के जाप को मन की एकाग्रता में सहायक मान कर प्रचलित रक्खा गया। व्रात्य लोग ओ३म् इस अक्षर के रहस्य के ज्ञाता थे, सो पहले ही कह चुका हूँ। इसी तरह बैठने का निश्चित आसन तब भी जारी रहा जब कि आसन्दी को अकेले फिरने वाले व्रात्य

[1] १।१०।४; मि० हेर व्रात्य पृ० २४८।

की स्वच्छन्दता में बाधक मान कर छोड़ दिया गया[1]। इन सब योग-तत्वों का वर्णन ३—५ सूक्तों में है, जहाँ उन का तब तक महाव्रत-अनुष्ठान से, जिस में से कि उन का विकास हुआ, सम्बन्ध है।

यह कहते समय कि अथर्व का १५वाँ काण्ड एक योग-ग्रन्थ है[2] निःसन्देह मैंने अत्युक्ति की थी। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस काण्ड में उस सनातन व्रात्य-विषयक गुह्य अनुश्रुति विद्यमान है जिस का कि दीक्षित साधक लोग असली एवं विद्वान् व्रात्य बनने के लिए ध्यान किया करते थे। अतः स्पष्ट ही विश्वशक्ति का ध्यान और परमेश्वर से साहचर्य-संपादक यह पवित्र ज्ञान उन व्रात्यों के जीवन का एक मुख्य अंग था, जो कर्मकाण्ड को छोड तत्त्वज्ञान और तत्सम्पादक अभ्यासों की ओर झुके।

और क्योंकि वे अपने आप को सब देवताओं और विश्व शक्तियों का प्रियं धाम अनुभव करते तथा विश्व के सब भागों की अधिष्ठात्री शक्तियों से अपना सजीव सम्बन्ध समझते, यही नहीं बल्कि स्वयं अपने को देवाधिदेव व्रात्य अनुभव करते थे, इस लिए यह मनःस्थिति, जो कि अपनी चरमावस्था में समाधि—अर्थात् अपरिमित आत्मविस्तार और अभ्युदय—की एक दशा में परिणत हो जाती है, अवश्य ही इन तत्त्वज्ञों में से कुछ अत्यधिक प्रतिभावान् महाभागों की हो जाती होगी। अतः इस काण्ड में पिछले योग के प्रायः सभी मुख्य तत्त्वों का पूर्वाभास मिलता है।

मैं यह नहीं कहता कि व्रात्य-प्रकरण की सभी पहेलियां बूझ ली गईं। पर अनेक अब तक अनसुलझी सूक्ष्म गुत्थियों के अलावा इस काण्ड का सामान्य आशय भी प्रकट हो गया है और वैदिक काल के इतिहास में इस का स्थान निश्चित हो गया है। व्रात्य-धर्म का सम्बन्ध अथर्व से पहले या पिछले काल से स्थापित करना अब अगले अनुसन्धान का कार्य होगा। अब तक की मेरी खोज से जो बातें पाई गई हैं, उन से यह सम्भावना होती है कि व्रात्य लोग, जो आर्य तो निश्चय से थे ही, भारत में आने वाले आर्य प्रवासियों के पहले समूह में से थे। यदि कहीं पञ्चविंश ब्राह्मण २४.१८.५ प्र में उल्लिखित लुप्त ब्राह्मण की प्रति मिल सके तो यह इतिहास बहुत कुछ सुलझ सकेगा, क्योंकि उस में व्रात्यों के नेता बुध की अनुश्रुति थी।

और दूसरे यह सिद्ध हो गया कि सांख्य-योग की जड़ भी यहीं खोजी जानी चाहिए।

इस प्रकार अथर्व का बहुत बदनाम १५वाँ काण्ड भारत के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुआ। यह एक लुप्तप्राय वाङ्मय का एकमात्र अवशेष है अतः इस का महत्त्व और भी बढ जाता है।[3]

---

१ एक जातक-चित्र में सिद्ध है कि पिछले काल में भी योगी लोग आसन्दी बरतते थे। दे०—देर व्रात्य पृ० ३२ टि०।

२ दी अनकैंग देर योगप्राक्सिस पृ० १८४।

३. इन स्थापनाओं का विस्तृत पोषण मेरी पुस्तक देर व्रात्य जिल्द २ में होगा।

सद्रु*

प्रो० डा० ओटो स्ट्रॉस, पी-एच० डी०, मरबाग विद्यापीठ, जर्मनी

अथर्ववेद-संहिता के व्रात्यकाण्ड (१५) के सातवें पर्याय का पहला मन्त्र यह है —

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं
पृथिव्या अगच्छत्समुद्रोऽभवत्।

इस पङ्क्ति का अनुवाद ह्विट्नी-लैन्मैन ने इस प्रकार किया है[1] —

'वह महत्ता उस में से सीधी निकल कर (Becoming Sessile) पृथ्वी के अन्त तक गई। समुद्र हो गई।' इस के समर्थन में वहीं निम्नलिखित टिप्पणी दी गई है, "ह्वि० ने हाशिये पर पेंसिल के नोट में इस प्रकार सुझाया है—'अथवा वह उस में से सीधी निकलने वाली महानता बन कर इत्यादि'। औफ्रेख्त और सेंट-पीटर्सबुर्ग ने सन्देह प्रकट किया है कि सद्रु और समुद्र शब्द में सम्बन्ध दीख पड़ता है। पर समानता इतनी थोड़ी है कि निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता। औफ्रेख्त सद्रुर्भूत्वा का अर्थ 'अपने आप को गति दे कर' (स+द्रु भूत्वा) करता है। और पीटर्सबुर्ग भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थक प्रतीत होता है। परन्तु यह मानना कठिन है ।"

हमारा पहला सवाल यही होगा कि क्या कोई पुराना भारतीय प्रमाण भी सद्रु, की इन व्याख्याओं का समर्थक है? और इस का जवाब है हाँ, क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी के ३.२.१५९ सूत्र दाधेट्सिशदसदो रुः के अनुसार इन धातुओं के आगे रु होता है, और ३.२.१३४ सूत्र के अनुसार इस उकारान्त प्रत्यय का अर्थ होता है तच्छील तद्धर्म तत्साधुकारि। इस के अतिरिक्त काशिका में ३.२.१५९ का उदाहरण सद्रु दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पाणिनि सद्रु का अर्थ समासन्न (Sessile) करने के पक्ष में है।

अब हम दूसरी व्युत्पत्ति पर आते हैं, जिसे लैन्मन के मत में ठीक मानना कठिन है। "अपने आप को गति दे कर" इस अनुवाद के प्रस्तावक दोनों जर्मन विद्वान् औफ्रेख्त और राडोल्फ रॉथ इतने बड़े विद्वान् हैं कि उन की सम्मति को इतनी आसानी से उड़ाया नहीं जा सकता। रॉथ जो कि पीटर्सबुर्ग के वैदिक लेखों के लिए जिम्मेदार हैं, वैदिक विचारों को समझने में बहुत प्रवीण थे। क्या वास्तव में ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिस से उन का द्रु धातु से सद्रु शब्द की व्युत्पत्ति करना, और समुद्र शब्द से उस का सम्बन्ध स्थिर हो सके?

मेरे विचार में पाणिनि से भी पुराने एक आचार्य का मत इस के पक्ष में है। निरुक्त (२.१०) में यास्क ऋक् १०.९८.५ पर टीका करते हुए कहते हैं—

समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः। समभिद्रवन्त्येनमापः।

* इंडिया इन्स्टिट्यूट आफ ड्यूश एकाडेमी, म्युन्शन (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

[1] हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज, जि० ८, पृ० ७८३।

इस से यह स्पष्ट है कि यास्क ने समुद्र और द्रु धातु में सम्बन्ध समझा था। आधुनिक दृष्टि से यह सम्बन्ध भले ही अद्भुत प्रतीत हो, और पाणिनि के वैज्ञानिक सम्प्रदाय-द्वारा यह भले ही परित्यक्त है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के ढंग से यह मेल खाता है। और अथर्ववेद १५.७.१ के रचयिता का भी यही अभिप्राय था। स्पष्ट ही उस ने समुद्र के साथ साथ सद्रु को उसी प्रकार रक्खा है जैसे पर्याय ८.१ में राजन्य के साथ अरज्यत को।

इस लिए मेरा विचार यह है कि व्रात्य-काण्ड में हमें द्रु से ही सद्रु की व्युत्पत्ति करनी चाहिए, और इस का अनुवाद 'उस ने अपने आप को गति दे कर' यही करना चाहिए।

बहुत से पीछे के कवियों ने भी समुद्र और द्रु धातु के इस सम्बन्ध का अनुभव किया है और अलङ्कार रूप में इस का प्रयोग करते रहे, चाहे निरुक्ति की दृष्टि से वे इसे ठीक न मानते रहे हों। जैसे भगवद्गीता (११.२८):—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

ऋग्वेद के देवता

श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम०ए०, पिएच्०-डि०, बडोदा

[ऋग्वेद के देवता केवल प्रकृति-देवता नहीं हैं जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। यह विचार कि ऋग्वेद में वर्णित सब देवता प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं, गलत है। यह भ्रम ऋग्वेद पर लिखने वाले पुराने और नये लेखकों की गलत व्याख्याओं के फल-स्वरूप फैला है। ऋग्वेद की व्याख्या के लिए—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छहों वेदाङ्गों का अच्छा ज्ञान आवश्यक है, और खास तौर पर ज्योतिष का, जो कि सब वेदाङ्गों में प्रमुख है। पर सब से अधिक दुःख का विषय यही है कि ऋग्वेद की व्याख्या में ज्योतिष का उपयोग भले प्रकार नहीं किया गया। इसी त्रुटि के कारण ऋग्वेद के देवताओं का प्रश्न इतना जटिल हो गया है।

वेदाङ्ग-ज्योतिष में २७ राशियों के, जिन में कि उत्क्रान्ति-वृत्त विभक्त है, २७ नक्षत्र-देवताओं अथवा अधिष्ठातृदेवों का वर्णन है। ये सत्ताइसों देवता सूर्य के सत्ताइस विभिन्न नक्षत्रों में पहुँचने पर पडने वाले नाम हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण हर एक देवता को एक खास नक्षत्र के साथ जोडता है। उदाहरण के लिए जब रुद्र का उल्लेख हो तो समझना चाहिए कि वह आर्द्रा का सूर्य है, जब कि बादल उमडते हैं, बिजली कड़कती है और मूसलाधार बरसता है। वैसे ही जब पूषा का वर्णन हो तो समझना चाहिए कि वह रेवती नक्षत्र का सूर्य है जिस का काम पशु-संसार का पालन करना है।

यह तो अच्छी तरह विदित है कि ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा किसी न किसी एक देवतापरक है, और जब तक उस देवता को ठीक तरह समझ और पहचान न लिया जाय, उस ऋचा का असली अभिप्राय समझ में आना कठिन है। और क्योंकि अधिकांश देवता किसी न किसी नक्षत्र-देवता के या सूर्य के विभिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं, अतः ऋग्वेद की किसी भी ऋचा का अर्थ करने का तब तक साहस न किया जाना चाहिए जब तक कि उस के देवता का किसी खास नक्षत्र के साथ सम्बन्ध न पहचान लिया जाय।

अगर इस सम्बन्ध को समझ लिया जाय तो ऋग्वेद की दुर्बोध भाषा का धुँधलापन बहुत कुछ साफ़ हो जाता है।]

ऋग्वेदेर देवता सम्बन्धे अनेककाल हइते अनेक प्रकार मत भेद चलिया आसितछे। केह बलेन, वैदिक ऋषिरा पौत्तलिक छिलेन, केह बलेन, ताँहारा प्राकृतिक सौन्दर्य्येर उपासक छिलेन, ताँहारा सूर्य्य चन्द्रेर उपासना करितेन, कखन ओ मेघ ओ वृष्टि, कखन ओ नदी उपनदी एवं कखन-ओ गाछ पाथरेर उपासना करितेन। अनेके बलेन, एइ रूप उपासना पुरातन काले सकल असभ्य ओ वर्व्वर जातिदिगेर मध्य वर्तमान छिल, एवं एखन ओ कोल, भील, साँओतालदिगेर मध्य एवं आफ्रिकार वर्व्वर जातिदेर मध्य देखिते पाओआ जाय, अतएव पुरातन वैदिक ऋषिरा-ओ अनेकटा सेइ श्रेणीभुक्त छिलेन। ऋग्वेदेर धर्मके इउरोपीय पण्डितरा "हिनाथिस्म" (Henotheism) नाम दियाछेन, अर्थात् ऋषिरा जखन जाहाके पूजा करितेन, जाँहार उद्देश सूक्त लिखितेन, ताँहाकेइ सर्व्वापेक्षा बड़ो करिया तुलितेन, एवं अन्य समस्त देवताके एकबारे छोटो करिया दितेन। आबार अन्य एकटि देवताके जखन धरितेन, तखन बाकी सकलगुलिके-इ छोटो करिया दितेन। अर्थात् वेदेर धर्म एक प्रकार खोशामोद-वाद इउरोपीय पण्डितेरा परिणत करिया फेलियाछेन। काजेइ, वेदेर एइ सनातन खोशामोद वाद हइतेइ भारतवर्षेर आबाल-वृद्ध वनिता खोशामोद प्रिय हइया पड़ियाछे, एवं ताहा हइबारइ कथा।

एखन देखा जाक्, कथाटा कतोदूर सत्य। ऋग्वेद कोन् काले लेखा हइयाछिल ताहार-इ ठिक नाइ। पश्चिम भारतेर सिन्धु प्रदेशे माहेन-जो दड़ो हइते जाहा नूतन आविष्कार हइयाछे, ताहा हइते अनेकटा अनुमान करा जाय जे ऋग्वेदेर सभ्यता सिन्धु देशीय प्राचीन सभ्यता हइते ओ किञ्चित् पुरातन। ताहा हइले-इ ऋग्वेदके खृष्ट-पूर्व ३००० वत्सरेर परे आना जाय ना। ताहाइ यदि हय, एखन आमरा ऋग्वेदेर अर्थ जाहा करितेछि ताहाइ ठिक, ना सायणाचार्य्य चतुर्दश शताब्दीते जे अर्थ करियाछेन ताहाइ ठिक। सायणाचार्य्य यदि ऋग्वेदेर अर्थ स्पष्ट बुझितेन, ताहा हइले तिनि एकटि अर्थेर बदले नाना स्थले पाँच छयटि अर्थ दिलेन केनो? एकटि ऋकेर अर्थ एक प्रकारइ हइबे,—सायणाचार्य्य एकइ ऋकेर जन्य, पाठकेरा जाहाते बाछिया लइते पारे ताहार जन्य, एकबारे दोकान साजाइया दिलेन केनो? काजेइ बेश बोझा गेलो, एखन ओ ऋग्वेदेर अर्थ करा ठिक हय नाइ, एवं बहु पण्डितेरा चेष्टा करिया ताहार प्रकृत अर्थ धरिते पारेन नाइ।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रेर साहाय्य लइया ऋग्वेदेर दुइ चारिटि शब्देर अर्थ करा हइयाछे। एवं एइ रूप तुलना-मूलक पद्धतिते शब्देर अर्थ करा खुबइ विज्ञान सम्मत, सन्देह नाइ। किन्तु अति सामान्य शब्देर अर्थ लइया कि करिया एइ बृहत्कलेवर ऋग्वेदेर सम्पूर्ण अर्थ करा सम्भवपर हइते पारे? ताहार पर आबार जे लाटिन, ग्रीक, अवेस्ता इत्यादि भाषार मारफत ऋग्वेदेर शब्देर अर्थ करा हइतेछे, देखा दरकार ताहादेर प्राचीनतम साहित्य ऋग्वैदिक कालेर समसामयिक कि ना। ग्रीक ओ लाटिनेर सर्व्वापेक्षा पुरातन साहित्य ओ ऋग्वेदेर कयेक सहस्र वत्सर परे रचित हइयाछे। से क्षेत्रे ग्रीक, लाटिन, अवेस्ता इत्यादि साहित्य हइते आजकाल जे अर्थ करा हइतेछे, ताहाइ जे ऋग्वेदेर समयकार शब्देर अर्थ, ताहा कि करिया अनुमान करा जाइते पारे? कारण भाषा कखन ओ एक थाके ना, भाषा समय हिसाबे एवं स्थान हिसाबे सदाइ परिवर्त्तित हइतेछे। संस्कृत हइते प्राकृत, प्राकृत हइते अपभ्रंश, एवं अपभ्रंश हइते प्रादेशिक वर्तमान भाषा-सकल, एइ परिवर्तन वादइ समर्थन करिया थाके। काजे-इ तुलना-मूलक भाषाशास्त्रेर मारफत ओ ऋग्वेदेर मतन प्रकाण्ड साहित्येर कणा-मात्र-ओ बुझा जाय ना।

अतएव, एइ रूप आंशिक भावे विवेचित दुइ चारिटि तथ्येर उपर भरसा करिया पण्डितरा जे सकल

अभिनव मत प्रदर्शन करियाछेन, ताहार उपर सम्पूर्ण आस्था स्थापन करा कोनो बुद्धिमानेर काज नहे।

आर एकटि कथा। इउरोपीय पण्डितदेर निकट वेद प्रागैतिहासिक युगेर असभ्यता ओ वर्वरतार-इ एकटा निदर्शन। एवं वेदे-इ जे ताहारा आपनादेर मनोभाव प्रकाश करीयाछे, एइ कथा मुक्तकण्ठे ताँहारा प्रचार करेन। किन्तु भारतवर्षे वेदेर सम्मान सकलेर चेये वड़ो, न्याय-वेदान्तेर अतो सम्मान नाइ। ताहा छाडा, 'हिन्दु' वलिते गेले-इ वुझिते हय—जाँहारा वेदे विश्वास करेन। वेदेर दोहाइ ना दिले भारतवर्षेर कोन-ओ शास्त्र सम्मान पान ना—एवं से शास्त्रके केहो माने ना। वेदेर भितर जाहाते कोनोरूप भुल-भ्रान्ति प्रवेश करिते ना पार, से-जन्य नानारूप पाठेर व्यवस्था करा हइयाछे; ताहाते-इ पदपाठ, स्वरपाठ, जटापाठ, घनपाठ इत्यादिर प्रतिष्ठा हइयाछे। एखन-ओ भारतेर नाना स्थाने जटापाठी, घनपाठी देखिते पाओआ जाय। इहादेर-इ वहु सहस्र वत्सरेर प्रचेष्टार फले वेदेर आदि स्वरूप रक्षित हइयाछे। यदि वेद, मात्र वर्वरतार-इ अभिव्यक्ति हय, ताहा हइले ताहा रक्षा करिवार जन्य एतो वहुकालव्यापी चेष्टाइ वा केनो, आर कोनोशास्त्र लिखिते गेले, से वेदेर दोहाइ देओआ-इ वा केनो ?

ताहार कारण, भारते वेदेर सर्वापेक्षा वेशी मान। वेद-इ सर्वशास्त्रेर आकर, वेद-इ सकल रसेर उत्स। वेदके वले अपौरुषेय। ताहार अर्थ इहा नहे जे पुरुषे उहा तैयारी करे नाइ। उहार अर्थ एइ जे, उहा मानवेर क्षमतार अतीत, यदि मानवे-इ करिया थाकेन, तो तिनि अतिमानव, तिनि ऐश्वरिक-शक्ति-सम्पन्न। वेद विद्-धातु हइते सिद्ध हइयाछे, विद्-धातुर अर्थ जाना, ताइ वेद वलिते ज्ञानेर भाण्डार वुझाय। सव चाइते वेशी जानार दरकार यज्ञ-क्रिया, जे यज्ञेर जन्य वेदिर दरकार हय ना, पुरोहित, ऋत्विकेर प्रयोजन हय ना, घी, दुध, चरु, पुरोडाशेर दरकार हय ना। से यज्ञ एइ विराट सृष्टि-यज्ञ, जाहाते एइ अद्भुत सृष्टि, स्थिति ओ प्रलयेर लीला अनादि अनन्त काल हइते चलिया आसितेछे। एइ लीलार प्रकृत ज्ञान-इ मानवेर वाञ्छित ज्ञान, एइ ज्ञानके-इ आत्मज्ञान वले, आर एइ ज्ञान हइले-इ प्रकृत मोक्षलाभ करा जाय। एइ आत्मज्ञानके-इ आमादेर शास्त्रे श्रेष्ठ ज्ञान वलियाछे। जतोदिन नाना विपद आपद, झञ्झार भितर दिया एइ सृष्टि.अतिवाहित हइवे, ततोदिन एइ ज्ञान मानवेर थाकिवे, एवं अन्यान्य सकल ज्ञानेर उपर आसन पातिया वसिया थाकिवे। वेदे एइ विराट सृष्टि-रहस्येर द्वार खुलिया दियाछे, आत्मज्ञान लाभ करिवार रास्ता देखाइया दियाछे,—ताइ आमादेर देशे वेदेर एतो सम्मान।

एइ सृष्टि-यज्ञे सर्वशक्तिमान् सूर्य-इ कर्ता; तिनि एकटि सवत्सरे उत्पत्ति, स्थिति ओ ध्वंसेर वीज वपन करिया जाइतेछेन। तिनि विष्णु, तिनिइ सर्वव्यापी, तिनि-इ सर्वशक्तिमान, स्व-इच्छाय आपनाके वहुधा विभक्त करियाछेन, एवं एइ विराट सृष्टि-यज्ञे उत्पत्ति, स्थिति ओ लयेर लीला प्रवर्तन करियाछेन। वेदेर ज्ञान सर्वोच्च दर्शनेर ज्ञान—ताइ वेद हइते सर्वशास्त्रेर उद्भव, एवं सेइ-जन्य वेद सर्वज्ञानेर उत्स रूपे परिकल्पित हइयाछे। आमादेर काछे वेद वर्वरतार अभिव्यक्ति नहे, सर्वोच्च सभ्यतार अभिव्यक्ति,—से सभ्यता आर कखनओ आसिवे किना सन्देह।

वलितेछिलाम, वेदेर अर्थ जाना सहज नहे। सायणाचार्य कर्म-मीमांसक छिलेन, तिनि-ओ कर्म-मीमांसार चशमार भितर दिया-इ वेदके देखियाछेन, वेदे ज्ञान देखिते पान नाइ। तुलनात्मक भाषाशास्त्र प्राय अन्ध, ताहार सवे चक्षु फुटितेछे। भाषाशास्त्रेर मध्य दिया वेदके देखिले ज्ञान हइवे ना, अज्ञानेइ आच्छन्न थाकिते

हइबे। वेदेर ज्ञान जाहाते सम्यक् प्रचार हय एवं सम्यक् बोधगम्य हय, ताहा सकले-इ कामना करेन, किन्तु ए प्रवन्ध से प्रचारेर उद्देश्य लइया लिखितछि ना। इहाते शुधु वैदिक देवता सम्बन्धे दुइ-चारिटि कथा बलिनो। विलाती पण्डितेरा वैदिक देवता सम्बन्धे जाहा बलियाछेन, ताहा-इ शेष कथा नय, ताहा-इ बुझाइबार जन्य एता बडो भूमिका दिते बाध्य हइयाछि।

वैदिक देवता सम्बन्धे विस्तारित विवेचना करिते गेले एकटि बृहत् ग्रन्थेर आवश्यक हय, कारण एइ विषय ओ वेदेर इ न्याय गहन, एवं एकटि समुद्र विशेष। काजे-इ एइ विषये दुइ एकटि नूतन तथ्य एखाने पाठक-के उपहार दिबा, मन स्थ करियाछि। सकले इ जानेन, वेदेर छयटि करिया अङ्ग आछे, अर्थात् वेदेर सहित घनिष्ठभावे सयुक्त छय प्रकारेर साहित्य आछे। एइ छय साहित्य के 'वेदाङ्ग' बला हइया थाके। वेद बुझिते हइले एइ छय अङ्गेरइ साहाय्य लइते हय। व्याकरण ओ निरुक्तेर साहाय्ये वेदेर शब्द सम्बन्धे बोध हय, एवं इहार इ साहाय्य बेशी करिया सायनाचार्य्य ओ आधुनिक पण्डितेरा ग्रहण करियाछेन। किन्तु ज्योतिष शास्त्र ओ एकटि वेदेर अङ्ग बलिया परिचित। वेदेर अर्थ निर्णय करिबार जन्य ज्योतिष-शास्त्रेर साहाय्य आज पर्यन्त अति अल्प इ लओया हइयाछे। वेदाङ्ग ज्योतिषेर पुस्तके ज्योतिष सम्बन्धे निम्नलिखित श्लोक देखित पाओया जाय—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥

—लगधकृत वेदाङ्गज्योतिष

अर्थात्, मयूरेर शिखा जेमन ताहार माथाय थाके, नागेर मणि जेमन ताहार माथाय थाके, सेइ रूप वेदाङ्ग शास्त्रेर मध्य ज्योतिष सकलेर उपर अवस्थान करिया थाके।

आर एक जायगाय बले "ज्योतिष अयन चक्षु" अर्थात् वेदेर चक्षु इ ज्योतिष, अथवा वेद देखिते गेले ज्योतिष दियाइ ताहाके देखित हय। एवं एइ-सकल कथार सारवत्ता एकटु चेष्टा करिले इ बुझित पारा जाय। आर कोनो कथा बुझा जाक्, वा ना जाक्, वेदेर देवता बुझिते हइले ज्योतिष शास्त्रेर सहायता बिना आर कोनो उपाय नाइ।

बलिबार दरकार नाइ जे वेदे नाना देवतार नाम पाओया जाय,—यथा प्रजापति, त्वष्टा, अहिर्बुध्न, यम, अश्विनी इत्यादि। ईंहारा कारा, ईंहादेर काहार सहित सम्बन्ध, ईंहादेर कार्य कि, इत्यादि कोनो प्रश्नेर भालो उत्तर पाओया जाय ना। ए विषये केह किछु लिखियाछेन कि ना, जानि ना। वेदेर देवता सम्बन्धे किन्तु वेदाङ्ग ज्योतिषे एकटि बेश श्लोक आछे—

अग्नि प्रजापति सोमा रुद्राऽदितिर्बृहस्पति।
सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमापि च॥
सविता त्वष्टाऽथ वायुश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरूपो वै विश्वेदेवास्तथैव च॥
विष्णुर्वसवो वरुणोऽज एकपात्तथैव च।
अहिर्बुध्नस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च॥

—लगधकृत वेदाङ्गज्योतिष

उपरोक्त श्लोके कयेकटि देवतार तालिका देओया हइयाछे। एइ-सकल देवताके वेदाङ्ग ज्योतिषे "नक्षत्र देवता" बला हइयाछे। इहादेर भितर सविता सूर्येर नाम, विष्णु सूर्येर नाम, अर्यमा ओ भग सूर्येर नाम। काजेइ एइ-गुलि सब-इ जे सूर्येर भिन्न भिन्न नाम, से विषये सन्देह करिबार युक्तियुक्त कारण देखिते पाओया जाय ना। एइगुलिके आबार जखन नक्षत्र-देवता बला हइतेछे, एवं जखन २७-टिर बेशी नाम पाओया जाइतेछे ना, तखन स्वत-इ मने हय जे सूर्य जखन भिन्न भिन्न नक्षत्रे अधिष्ठान करेन, तखन ताँहार एइ रूप भिन्न भिन्न नाम हइया थाके। काजे-इ बुझा जाय, एइ जे समस्त देवता, इँहारा सूर्य हइते भिन्न नहेन, एवं सूर्य आपनाके गुण-कर्म-भेदे एइ रूपे भिन्न भिन्न देवतारूपे भाग करिया थाकेन। सातारा नक्षत्रे एइ रूपे आपनाके भाग करा, "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—एइ मतेर-इ पोषकता करिया थाके।

कोन् नक्षत्रे अधिष्ठान करिले सर्वशक्तिमान् सूर्यदेवेर कि नाम हइया थाके, एवं ताँहार गुण एवं कर्मेर किरूप भेद हइया थाके, ताहा परवर्ती ब्राह्मण-युगेर पुस्तक तैत्तिरीय ब्राह्मणे[1] देखिते पाओया याय। एइ पुस्तके प्राप्त विवरण निम्नलिखित कोष्ठके देओया हइलो—

संख्या	देवता	नक्षत्र	संख्या	देवता	नक्षत्र
१	अग्नि	कृत्तिका	१५	मित्र	अनुराधा
२	प्रजापति	रोहिणी	१६	इन्द्र	ज्येष्ठा
३	सोम	मृगशिरा	१७	निऋ॑ति	मूला
४	रुद्र	आर्द्रा	१८	आप.	पूर्वाषाढा
५	अदिति	पुनर्वसु	१९	विश्वेदेवा.	उत्तराषाढा
६	बृहस्पति	पुष्या (तिष्या)	२०	विष्णु	श्रवणा (श्रोणा)
७	सर्प	अश्लेषा (आश्रेषा)	२१	वसुगण	धनिष्ठा (श्रविष्ठा)
८	पितर	मघा	२२	वरुण	शतभिषक्
९	भग	पूर्वफल्गुनी	२३	अज एकपात्	पूर्वभाद्रपदा (प्रोष्ठपदा)
१०	अर्यमा	उत्तरफल्गुनी	२४	अहिर्बुध्न	(उत्तरभाद्रपदा)
११	सविता	हस्ता	२५	पूषा	रेवती
१२	त्वष्टा	चित्रा	२६	अश्विनीद्वय	अश्विनी
१३	वायु	स्वाती	२७	यम	भरणी
१४	इन्द्राग्नी	विशाखा			

जखन-इ ऋग्वेदे इँहादेर मध्ये कोन एकटि देवतार नाम करा हइबे, तखन-इ बुझिते हइबे जे, जे देवतार नाम करा हइयाछे, ताँहार-इ नक्षत्रेर कथा बला हइयाछे। अर्थात् सूर्य सेइ नक्षत्रे अवस्थानकालीन

१। काण्ड ३, प्रपाठक ४, अनुवाक ४।

परवर्ती युगेर पौराणिक अनेक आख्यान ऋग्वेदेर सूक्त हइते लओआ हइयाछे। किन्तु पुराणोक्त आख्यानगुलि ज्योतिष व्यतिरेके हेँयालि-रूपे एखन पर्यवसित हइयाछे। जेमन, महादेवेर माथार जटा हइते गङ्गार अवतरण। इहा कि करिया हइते पारे? एइ रूप गल्प बलिवार कारण कि? यदि ज्योतिषेर भितर दिया देखा जाय, ताहा हइले पाठकवर्ग देखिवेन, एइ रूप वर्णनाय अतिरञ्जन वा हेँयालि किछु-इ नाइ। रुद्र वा शिव वा महादेव आर्द्रा-नक्षत्रेर देवता, आवार आर्द्रा मिथुन-राशिते अवस्थित। एइ मिथुन-राशिर भितर दिया आकाश-गङ्गा प्रवाहित हइतेछे। एइ जिनिसटि बुझाइवार जन्य गङ्गावतरणेर आख्यानटि रचित हइयाछे। कोनो काले-इ शिव-नामक देवतार माथार जटा हइते आमादेर गङ्गा वा भागीरथी प्रवाहित हय नाइ। जाँहादेर से धारणा आछे, ताँहादेर जाना उचित जे उहा नितान्त भुल।

सूर्येर आख्यानटि-ओ ठिक एइ प्रकारेर। पुराणे बले, सूर्य त्वष्टार कन्या प्रभा वा सरण्युके विवाह करियाछिलेन, एवं ताँहार गर्भे मनु, यम, ओ यमी नामक दुइ पुत्र ओ एक कन्यार जन्म हय। किन्तु सरण्यु सूर्येर तेज सह्य करिते ना पाराय, उत्तरकुरुते पालाइया जान्, एवं तथाय घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करिते आरम्भ करेन। जाइवार समय पतिर सेवार जन्य आपनार शरीर हइते निजेर-इ मत छायाके उत्पन्न करिया सूर्येर निकट राखिया जान। छायार गर्भे शनि, सावर्णि मनु, ओ तपतीर जन्म हय। एक समय छाया यमेर उपर राग करिया ताहाके भयङ्कर शाप देन। इहाते-इ यम ओ सूर्य, दुइ जने-इ छाया जे यमेर माता नहेन, ताहा जानिते पारेन। सूर्यदेव ध्यानस्थ हइया देखिलेन, प्रभा उत्तर-कुरुते घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करितेछेन, एवं सेइ-जन्य तिनि-ओ घोटकेर रूप धरिया ताँहार सहित मिलित हन। एवं सेइ घोटकीर गर्भे तिनटि पुत्र उत्पादन करेन। ताँहारा सकलेइ अश्वरूपे जन्म-ग्रहण करेन, एवं ताँहाराइ अश्विनीकुमार-द्वय एवं रेवन्त नामे परिचित हन।

यदि ऋग्वेदे एइ विषय अनुसन्धान करा जाय, ताहा हइले देखा जाइवे, ऋग्वेदेर दुइटि ऋकेर उपर निर्भर करिया एइ आख्यानटि रचित हइयाछे। सेइ दुइटि ऋक् नीचे देओआ हइलो, एवं ताहादेर अनुवादओ देओआ हइलो—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

—मंडल १०. १७. १।

अर्थात्, त्वष्टा ताँहार कन्याके विवाह दितेछेन, सेइ-जन्य समस्त जगतेर जीव एकत्र हइयाछेन। यमेर माता एवं महान सूर्येर पत्नी परिणयेर समय आपनाके लुकाइया फेलिलेन।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्युः॥

—मंडल १०. १७. २॥

देवतारा मर्त्यदिगेर निकट हइते अमृत गोपन करिया सूर्य देवके ताहार कृत्रिम प्रतिकृति दान करिलेन। आवार सरण्यु अश्विनीद्वयके गर्भे धारण करिया ताहादेर जन्मदान करिलेन, एवं आर-ओ दुइ-जनेर जन्म दिलेन॥

सूक्तेर देवता त्वष्टा, चित्रा नक्षत्रेर देवता। तिनि इ विश्वकर्मा नामे ख्यात, तिनि स्वर्गेर स्थपति,—ताँहार काज, सकल जिनिसे रूप देओआ। तिनि ना थाकिले कोनओ जिनिस जगत देखिते पाओआ जाइतो ना। ताँहार कन्या प्रभा—अर्थात् जे प्रभा सूर्यके रूप दिया थाके, अर्थात् ताँहार रश्मि। आवार प्रभार इ आर एक नाम सरण्यु, अर्थात् जिनि अनुसरण वा अनुगमन करेन। सूर्य जेखाने इ जान, प्रभा वा सूर्येर रश्मि से-इ स इ स्थले इ विराजमान थाकेन बलिया, प्रभार द्वितीय नाम सरण्यु। दक्षिणायने सूर्येर तेज क्रमश कमित थाके, एवं जखन सूर्य चित्रा नक्षत्रेर निकटवर्ती हन, तखन दिन अत्यन्त छोटो हइया थाके, एवं रात्रिर अन्धकार बाडित थाके। एइ जिनिसटि बुझाइबार जन्य प्रभार उत्तर-कुरुते पलायन काहिनी विवृत हइयाछे। तारपर, सूर्य छायार सहित थाकित थाकित जखन मकर-राशिते अवस्थान करेन, तखन ताँहार तिनटि पुत्र-कन्या छायार गर्भे उत्पन्न हय। ताहादेर मध्ये शनि एक। एइ शनि सेइ-जन्य मकर राशिर अधिपति बलिया परिचित। मकर-सक्रान्ति हइते इ उत्तरायणेर आरम्भ, अर्थात् एइ समय हइते इ दिन धीरे धीरे बडो हइते थाके, एवं अन्धकार कम हइते थाके। ऋग्वेदे ज्ञानके-इ आलोक ओ अज्ञानके-इ अन्धकार बलिया मानियाछे। एतो दिन अन्धकार छिलो बलिया सूर्य अज्ञान छिलेन, एवं सेइ जन्य छायाके प्रभा-रूपे ग्रहण करियाछिलेन। किन्तु क्रमे अन्धकार जखन काटिया गेलो, तखन छाया जे प्रभा नहे, ताहा बुझिते पारिलेन, एवं ताँहार खोँज लइते लागिलेन। देखिलेन, प्रभा उत्तर-कुरुते अर्थात् सूर्य देवेर उत्तरायणेर पथे घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करितेछेन, काजे इ सूर्य ओ घोडार रूप लइया ताँहार सहित वास करिलेन। मेष-राशित अश्विनी-नक्षत्रे अश्विनीकुमार-द्वयेर जन्म हइलो बलिया ताँहादेर उक्त नक्षत्रेर अधिपति करिया दिलेन। तार पर आवार प्रभा आपनार पूर्व रूप धारण करिया चलिते लागिलेन, एवं शीघ्र इ परवर्ती नक्षत्र भरणीते आसिया उपस्थित हइलेन। एइ समय प्रभार गर्भे यम, यमी ओ मनुर जन्म हइलो, एवं यमके उक्त भरणी नक्षत्रेर अधिपति करिया तिनि आगाइया गेलेन। पर पर आवार सेइ-रूप त्वष्टार सज्ञा, छायार लीला वत्सर वत्सर चलिते लागिलो। सूर्यदेव घोडार रूप लइलेन केनो, ए विषय एकटा उत्तर देओआ दरकार। सकले इ जानेन, घोडार गर्भ सम्पूर्ण हइते पूरा बारो मास लागिया थाके, एवं सूर्येर ओ समस्त क्रान्ति-वृत्त एकवार घुरिते बारो मास लागे बलिया सूर्यके ऋग्वेदेर अनेक स्थले अश्व-रूपे कल्पना करा हइयाछे।

शेष विशेष वक्तव्य एइ जे, भविष्यत ऋग्वेदेर देवता सम्बन्धे कि भावे गवेषणा करिले सत्य निर्धारित हइते पारे, ताहार इ एकटा दिक् एइ प्रबन्धे देखाइवार चेष्टा करियाछि। एइ विषय अति गहन, एवं एइ भावे सूक्तेर सम्यक् अर्थ ग्रहण अत्यन्त समय-सापेक्ष। जाँहादेर सुविधा हइवे, ताँहारा यदि एइ विषये आर-ओ गवेषणा करेन, ताहा हइले-इ श्रम सार्थक ज्ञान करिबो।

शिश्नदेव

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

पृथिवी के अनेक देशो मे लिङ्गोपासना प्रचलित है, हमारे भारतवर्ष मे भी है। हमारे देश में कब से इस का प्रचार है, इस बात का विचार पण्डितों ने किया है। पाश्चात्य पण्डित-गण कहना चाहते हैं कि वेदों के समय में यह बात प्रचलित थी। इस बात के प्रमाण के लिए वे ऋग्वेद मे केवल दो स्थानो[1] मे आये शि श्न दे व शब्द का उल्लेख करते हैं। शिश्न ही अर्थात् लिङ्ग ही जिस का देव अर्थात् देवता है वह शिश्नदेव हुआ। इस शब्द का अक्षरार्थ यही है, इस मे सन्देह नहीं। किन्तु अक्षरार्थ ही तो एकमात्र अर्थ नहीं होता। लाक्षणिक आदि अन्य अर्थ भी होते हैं। यह देखना आवश्यक होता है कि शब्द का प्रयोग किस अर्थ मे होता है। नही तो गलती होने की सम्भावना भी रहती है। शब्द का अर्थ निर्णय करते समय आगम, सम्प्रदाय या गुरु-शिष्य-परम्परा की एकदम अवज्ञा करने से काम नहीं चलता। आगम का अनुसरण करने पर देखा जायगा कि यास्क[2] और सायण[3] दोनो ही ने उस शब्द का अर्थ किया है, अ ब्र ह्म च र्य, अर्थात् 'ब्रह्मचर्यहीन', 'जिस का ब्रह्मचर्य नहीं है', अर्थात् 'का मु क' या 'का मा स क्त'। ऋग्वेद के जिन दो स्थानो मे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन स्थानो पर यह अर्थ खूब सङ्गत है।

दे व शब्द के साथ जिनका समास किया गया है ऐसे समस्त अन्यान्य शब्दों के अर्थों की आलोचना कर के देखने पर कोई इस बात मे सन्देह नहीं रह जाता कि यास्क और सायण का यह अर्थ ही एकमात्र अर्थ है। तै त्ति री य उ प नि ष द्[4] मे है—

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।"

यहाँ जिस तरह की उपासना लोग शिव विष्णु प्रभृति देवताओ की करते हैं ठीक उसी तरह माता-पिता, आचार्य और अतिथि की भी उपासना हो, यह तात्पर्य नहीं है। देवता के प्रति जिस प्रकार भक्ति और आदर रखते हैं उसी प्रकार की भक्ति और आदर के साथ माता आदि की सेवा शुश्रूषा यत्न आदर सत्कारादि करना चाहिए, यहाँ देव शब्द के प्रयोग से वक्ता को यही अभिप्रेत है। इस लिए मा तृ-दे व वह व्यक्ति है जिस के निकट माता देव या देवता की नाईं (साक्षात् देव या देवता नहीं) है। इसी तरह पितृदेव आदि शब्दो को समझना चाहिए। शंकराचार्य भी यही अर्थ करना चाहते हैं। उन्हों ने स्पष्ट ही लिखा है देवतावत् उपास्या एत इत्यर्थः अर्थात् ये देवता की तरह उपास्य हैं।

इसी प्रकार एक शब्द और लीजिये। अनेक ब्राह्मण ग्रंथो और तै त्ति री य सं हि ता[5] मे श्रद्धादेव शब्द का उल्लेख है। जर्मन-भाषा मे लिखित सुप्रसिद्ध संस्कृत कोश सै न्स् क्रि त वो र् टे र् बु ख (Sanskrit Worterbuch) के प्रणेताओं ने उस का अर्थ किया है दे व - वि श्वा सी (Gott Vertrauend गोट फेर्ट्रॉयन्ट्), मालूम नहीं,

---

१. ७.२१.५, १० ९९ ३। २ निरुक्त ४ १९। ३ ऋक् ७ २१ ५, १० ९९ ३। ४. १ ११ २।
५ ७ १८ २।

किस प्रकार इस का ऐसा अर्थ होता है। यह भी नहीं मालूम कि एग्गेलिङ्ग साहब ने किस प्रकार इस का अर्थ 'देव भीरु'[1] किया है। हमारे देश के भाष्यकारों ने इस का अर्थ किया है 'श्रद्धालु' या 'श्रद्धावान्' तैत्तिरीय संहिता[2] में सायण ने लिखा है 'श्रद्धा है देव जिस का वह हुआ श्रद्धा देव' (श्रद्धा देवो यस्यासौ श्रद्धा देव)। उक्त भाष्यकार विश्लेषण कर के तात्पर्यार्थ कहते हैं, 'जिस प्रकार देवता में आदर होता है उसी प्रकार जिस की श्रद्धा में (हो वह) यह तात्पर्य है' (यथा देवतायामादरस्तथा श्रद्धायामित्यर्थः)। अतः इस शब्द का अर्थ भी यही समझना चाहिए। जैसा देवता में वैसा ही शिश्न में जिस का आदर हो वही हुआ शिश्नदेव।

इस प्रसङ्ग में स्त्रीदेव शब्द का अर्थ विचार करने पर आलोच्य विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। अध्यात्म रामायण (निर्णयसागर) के ४र्थ पृष्ठ पर उद्धृत ब्रह्माण्ड पुराण[3] में लिखा है—

प्राप्ते कलियुगे घोरे नराः पुण्यविवर्जिताः।
दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्तापराङ्मुखाः।
परापवादनिरताः परद्रव्याभिलाषिणः।
परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः॥
देहात्मदृष्टयो मूढा नास्तिकाः पशुबुद्धयः।
मातृपितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिङ्कराः॥

यहाँ स्त्रीदेव शब्द का अर्थ हुआ जो कामुक है, इस विषय में किसी को जरा भी सन्देह नहीं हो सकता। शिश्नदेव शब्द का अर्थ भी यही अर्थात् कामुक है।

अभारतीय, या संस्कृत भाषा की वाक् पद्धति से जो अच्छी तरह परिचित नहीं हैं उन के लिए शिश्नदेव शब्द का आन्तरिक और यौगिक अर्थ ले कर लिङ्गपूजक अर्थ करना अस्वाभाविक नहीं। किन्तु जो लोग भारतीय हैं, या संस्कृत वाग्विन्यास से परिचित हैं, वे तो इस प्रकार के प्रयोगों के भावार्थ को लौकिक संस्कृत में ही बहुत पायँगे। संस्कृत में शिश्नोदरतृप और शिश्नोदरम्भर ये दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन दो शब्दों का अर्थ है 'कामी और पेटू'। और इसी अर्थ में शिश्नोदरपरायण शब्द का भी प्रयोग होता है। इस में परायण शब्द का अर्थ ('परमगति,' 'परम आश्रय') लक्ष्य में रखना चाहिए। इस के साथ ही नारायणपरायण और कामक्रोधपरायण की तुलना करनी चाहिए। पहले जो आलोचना की गई है उस से समझा जा सकता है कि वेद का शिश्नदेव और लौकिक शिश्नोदरपरायण इन दोनों शब्दों में यथाक्रम प्रयुक्त देव और परायण शब्दों का अर्थ एक ही है। और दोनों स्थलों पर उस का भावार्थ या तात्पर्यार्थ है 'आसक्त'। अतएव शिश्नदेव शब्द से 'शिश्न में आसक्त' और शिश्नोदरपरायण शब्द से 'शिश्न और उदर में आसक्त' यह अर्थ समझा जायगा।

—

१ शतपथ ब्राह्मण (अँगरेजी अनुवाद) १ १ ४ २। २ ७ १ ८ २। ३ उत्तरखण्ड १ ६ ११।

ऋग्वेद की दानस्तुतियों में ऐतिहासिक उपादान

प्रो० डा० मणिलाल पटेल, पीएच्० डी० (मारबुर्ग), विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

ऋग्वेद के ऐतिहासिक उपादानों का, जान पड़ता है, अभी तक इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ कि उस के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रक्खा गया हो। लुड्विग् के प्रबन्ध को[1], जिस में ऋग्वेद के इस अंश पर विचार किया गया था, प्रकाशित हुए लगभग ५० वर्ष से अधिक हुए। आज उस पुस्तक के वक्तव्यों को आधुनिक खोजों के प्रकाश में दुहराने और शोधने का समय आ गया है। इस विषय में हम ऋग्वेद के उन सूक्तों या मन्त्रों से, जिन्हें दा न स्तु ति कहा जाता है, बहुत कुछ सहायता पा सकते हैं। विंतरनित्स कहते हैं—"ये दानस्तुतियाँ सर्वदा धार्मिक दाताओं के पूर्ण नाम देती हैं और निस्संदिग्ध भाव से ऐतिहासिक तथ्यों की या वास्तविक घटनाओं की सूचना देती हैं। इस लिए वे महत्त्वपूर्ण हैं।"[2]

दानस्तुति के इन्हीं ऐतिहासिक उपादानों का इस लेख में, जिसे मैं इतिहास के प्रगाढ़ विद्वान् रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की ७० वीं वर्षगाठ के उपलक्ष में अपने विनम्र अर्घ्य के रूप में समर्पित कर रहा हूँ, विचार करूँगा।

इस स्थान पर मैं सर्व-प्रथम उन दान-स्तुतियों की सूची देना आवश्यक समझता हूँ जिन के आधार पर यह लेख लिखा जा रहा है। यह सूची मैंने अपने दि दा न स्तु ति सू दे स ऋ ग्वे द नामक जर्मन ग्रन्थ से ली है[3]। उसी के द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद की दान-स्तुतियों को निश्चित करने के पुरातन वा अर्वाचीन प्रयत्नों का सविस्तर वर्णन किया गया है। वे प्रयत्न बृहद्देवता और अनुक्रमणिका के प्रणेता, मेक्समूलर्, आउफरेख्त्, लुड्विग्, ओल्डनबर्ग, गेल्डनर् आदि के द्वारा किये गये थे। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नीचे उस सूची को ही देते हैं जिस में मेरी राय में ऋग्वेद की उन सभी ऋचाओं का समावेश है जो दानस्तुति-परक हैं।

मण्डल १. १०० १६—१७, १२२. ७—१४, १२५—२६।
" ४. १५. ७—१०; ३२. १९—२४।
" ५. १८. ५, २७, ३०. १२—१५, ३३. ७—१०, ३४. ९, ३६. ६. ५२. १७; ६१. ५—१०।
" ६. २७. ८; ४५. ३१—३३, ४७ २२—२५, ६३. ९—१०।
" ७ १८. २२—२५।

---

१. लुड्विग—दि नखरिख्ते देस ऋग्वेद उन्थ अथर्ववेद उँबर जोओग्राफ़ी गेशिश्त, फेरफासुग देस आल्तन इंडिएन, प्राग १८७५।

२ हिन्तरानित्स—गेशिश्त देर इंदिशेन् लितरातुर (अँगरेज़ी अनुवाद—हिस्ट्रि ऑफ इंडियन लिट्रेचर (१), कलकत्ता १९२७). (१) लाइप्‌जिग १९०७ पृ० ११।

३. हारासोवित्स द्वारा प्रका० (लाइप्‌जिग्), १९२९।

मण्डल ८ १ ३०—३३, २ ४१-४२, ३ २१—२४, ४ १९—२१, ५ ३७—३९, ६ ४६—४८, १९ ३६-३७, २१ १७-१८, २५ २२—२४, ३४ १६—१८, ४६ २१—३३, ५५-५६, ६५ १०-१२, ६८ १४—१९, ७० १३—१५।

" १० ६२ ८—११, ९३ १४-१५।

इस के बाद उन राजाओं के नाम तथा उन के बारे में उपर्युक्त दानस्तुतियों में जो कुछ आया है उस का विवरण दिया जाता है।

ऋ० १ १२२ ८१० ११ में पज्र ऋषियों का राजा नहुष कहा गया है। नहुष नामक एक प्राचीन आर्यजाति के प्रधान पुरुष का नाम भी नहुष था[1]। वह प्रधान पुरुष निश्चय से यही नहुष होगा। इसी नहुष या नहुष जाति के एक व्यक्ति ने ५ वार्षगिरों (वृषागिर के पुत्रों) को पुरस्कृत किया था (ऋ० १ १०० १६)। लुड्विग का कहना है[2] कि राजा मशशरि और आयवस जिन की चर्चा ऋग्वेद (१ १२२ १५) में हुई है, नहुष जाति के ही थे। ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों राजा जिन्हों ने नहुष के साथ महायज्ञ किया था, या तो उस के सम्बन्धी थे या उस के साथ मित्रता के बन्धन में आबद्ध थे। ऋग्वेद के समय यह एक साधारण नियम था कि किसी महायज्ञ का अनुष्ठान कई राजा मिल कर किया करते थे, और उन में से हर एक गायक कवियों को उपहार दिया करता था। इसी लिए दानस्तुति में हम अनेक आश्रयदाताओं का उल्लेख एक साथ पाते हैं। नहुष जाति ने सिन्धुनद[3] या सरस्वती[4] के किनारे पर वास किया था। ऋ० ८ ४६ २७ स्पष्ट ही कहता है कि अर्ह्यच एक नहुष था और उस ने अनेक उत्तम कार्य (सुकृत) किये थे। नहुष सदा एक विशेष राजा या जाति के वाचक शब्द के रूप में पाया जाता है। न तो संस्कृत वोर्टेरबुख[5] जो इस शब्द का अर्थ "पड़ोसी, प्रतिवेशित्व, एक पड़ोसी जाति" करता है इस का ठीक अर्थ बताता है, और न नैघण्टु (२ २) ही जिस में इस का अर्थ सिर्फ 'आदमी' किया गया है।

नहुष।

यह सहदेव का पुत्र[6] और सृञ्जयों का 'कुमार' था। ऋ० (४ १५ ४) में एक सृञ्जय दैववात का चर्चा आई है। ऐतरेय ब्राह्मण (७ ३४) में अन्य राजकुमारों के साथ सहदेव सार्ञ्जय का उल्लेख है। देववात को, जिसे हम सृञ्जय का पिता समझ सकते हैं भारत बताया गया है[7]। अगर भरत

सोमक साहदेव्य।

1 आयु भी इसी तरह एक जाति और उस का प्रधान पुरुष था, दे०—ऋ० १ ३१ ११ इत्यादि।

2 देर ऋग्वेद (३), प्राग १८७६ ८८, पृ० २०६।

3 ऋ० १ ३१ ११ ६ २२ १०; ४६ ७, १० ८० ६।

4 ऋ० ७ ९५ २; ६ ८८ २ ९१ २। दुर्भाग्यवश, वैदिक युग में सरस्वती नदी की भौगोलिक परिस्थितियों का निश्चय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह बिलकुल असम्भव है कि सरस्वती और सिन्धु एक ही नदी का नाम हो। जैसा कि लुड्विग ने कहा है, (डी नख्रिख्तेन० पृ० १२ १३) यह कहना अधिक युक्तिसङ्गत है कि सरस्वती सिन्धु की एक छोटी सी सहायक नदी थी।

5 रुडोल्फ रॉथ और बोथलिङ्क—संस्कृत वोर्टेरबुख्, सेंट पीटर्सबुर्ग, यथास्थान।

6 ऋ० ४ १५ ७—१०।

7 ऋ० ३ २३ २।

देववात का पिता हो तो हमें ५ पीढ़ियों का पता चलता है—भग्न, देववात, सृञ्जय, सहदेव और सोमक। शत० ब्रा० (२.४.४.४) में सुप्लन् सहदेव का नाम दिया गया है। यह सोमक सहदेव ही था या उस से सम्बद्ध कोई अन्य, यह बात अभी स्पष्ट नहीं है। सुप्लन् नाम बाहर से आया हुआ जान पड़ता है[१]।

यह त्रिवृष्ण का पुत्र था। ऋ० (५.२७) में इस का उल्लेख त्रसदस्यु और अश्वमेध के साथ है। बृ० दे० (५.३१) और अनुक्रमणिका में त्रसदस्यु और अश्वमेध को इस सूक्त में भिन्न भिन्न व्यक्ति बताया गया है। जो हो, यह बात ज़्यादा सम्भव जान पड़ती है, जैसा कि पौराणिक वंशावली में दिखाया गया है,[२] कि त्र्यरुण त्रसदस्यु की संतान है। इसी लिए कवि ने (ऋ० ५.२७ में) त्रसदस्यु शब्द को त्र्यरुण के कुल-नाम के रूप में प्रयोग किया है। अश्वमेध और त्रसदस्यु मित्र राजा जान पड़ते हैं।

त्र्यरुण।

यह (ऋ० ५.३३) पुरुकुत्स[३] और पुरुकुत्सानी का पुत्र था। यह ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक है। सायण[४] के अनुसार वह गिरिक्षित् का वंशज है या नहीं—यह प्रश्न किया जा सकता है। क्योंकि यह बात केवल इसी सीधे-से आधार पर मान ली गई है कि गैरिक्षित का उल्लेख ऋ० (५.३३.८) में आया है। पुराणों की वंशावली में हमें ऐसा कोई स्थान ज्ञात नहीं जहाँ गिरिक्षित त्रसदस्यु के पूर्व पुरुष के रूप में कहा गया हो[५]। संभवतः त्रसदस्यु, विदथ, मारुताश्व, च्यवतान, ध्वन्य लक्ष्मण्य (ऋ० ५.३३.९) आदि की तरह गैरिक्षित भी एक दूसरे आश्रयदाता थे।

त्रसदस्यु।

ये दोनों, जो सुवास्तु के किनारे रहते थे, उसी दानस्तुति (ऋ० ८. १९. ३६-३७) में उल्लिखित हैं। इन की चर्चा त्रसदस्यु के साथ ही हुई है। हम उन के बारे में इस से अधिक नहीं जानते। ये नाम अनार्य से जान पड़ते हैं।

प्रयियु और वयियु।

हमने ऊपर कहा है कि त्र्यरुण त्रैवृष्ण, त्रसदस्यु का[६] वंशज था। उस की दूसरी संतान थी कुरुश्रवण (ऋ० १०.३३.४)। उसी सूक्त से हम जान सकते हैं कि उपमश्रवस् कुरुश्रवण का पुत्र और मित्रातिथि का पौत्र था।

बृ० दे० (५.६१ प्र) और षड्गुरुशिष्य तथा सायण के भाष्यों में ऋ० ५.६१.९-१० पर भाष्य करते समय यह इतिहास दिया गया है—श्यावाश्व अर्चनानस् का पुत्र था। उस ने राजा रथवीति दाल्भ्य के लिए यज्ञ किया था। पिता ने पुत्र श्यावाश्व की शादी राजा की पुत्री से करनी चाही। किन्तु राजा ने स्वीकार नहीं किया पर उस की रानी की बड़ी इच्छा थी कि उन का जामाता एक ऋषि हो। पिता और पुत्र, जो इस प्रकार निराश हुए थे, घर लौटते समय तरन्त और पुरुमीळ्ह से मिले। इन दोनों

पुरुमीळ्ह।

---

१ हिलेब्रान्त—वेदिश मिथॉलागी (१), ब्रेस्ला १८९१-९२, पृ० १०५।

२ दे० एमिल सीग—सागेन्स्टॉफ देस ऋग्वेद उन्ड दी इंडिश इतिहास ट्रेडीशन् (१), स्तुतगर्त १९०२, पृ० ७५।

३ ऋ० ८ १९ ३६।

४ इस सम्बन्ध में कीथ और मैकडोनल सायण का ही अनुसरण करते हैं। देखिए—वैदिक इण्डेक्स. यथास्थान।

५ दे०—ज० रा० ए० सो०, जि० १७, पृ० २७, सोलर लाइन।

६ इस के बाद उसके पुत्र तृक्षि ने शासन किया था—दे०—ऋ० ८ २२ ७। इस लिए इस का वंशक्रम यों होगा:—पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, तृक्षि।

ने पिता पुत्र के लिए बडा सम्मान दिखाया। तरन्त की स्त्री शशीयसी ने श्यावाश्व को बहुविध धन दिया। उस ने मरुतों का चिंतन किया जिस से वे प्रत्यक्ष हुए। इसी लिए वह ऋषि हो गया। अंत में स्वय राजा रथवीति ने श्यावाश्व को अपनी कन्या दी।—यह उल्लेख योग्य है कि यह इतिहास पीछे मे अनेक सस्करणों को पार करता हुआ इस रूप में आया है। पुरुमीळ्ह को ऋ० १ १५१ २, १८३ ५ म ऋषि कहा गया है[1]। किन्तु यहाँ वह एक उदार राजा के रूप में देखा जाता है। इस लिए वह एक राजर्षि था। ऋ० ५ ६१ १० में एक शब्द 'वैददश्व' आता है। सायण ने इस का अर्थ पुरुमीळ्ह किया है जो ठीक नहीं जान पडता। यह शब्द क्या तरन्त के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता जो इसी मन्त्र में आता है? तरन्त और पुरुमीळ्ह[2] (ताण्ड्य ब्रा० १३ ७ १२ और जैमि० ब्रा० १ १५१ के अनुसार) भाई थे। ये वितदश्व और अर्चनानस् की पुत्री महो के पुत्र थे।

यह चयमान का पुत्र था (ऋ० ६ २७ ४–८), और इस ने वृचीवतों को, जिन का राजा वरशिख था, जीता था। सृञ्जय ने उस की सहायता की थी। तुर्वश आदि ने वरशिख का पक्ष लिया। हरियूपीया और यव्यावती नदियों के किनारे यह युद्ध हुआ। हिलेब्राण्ट[3] कहते हैं कि "हरियूपीया नदी आधुनिक अरिओब या हलिआब नदी है जो कुरम प्रान्त की नदियों म से एक है (यह स्थान पार्थव प्रदेश में नहीं है जैसा कि लूनहाफर कहते हैं। यह ठीक है कि लूनहाफर न ही हरियूपीया को अरिओब पहले पहल बताया था, मगर उन का बताया स्थान ठीक नहीं था)। यव्यावती भी उस से बहुत दूर नहीं होगी।" इस बात से हमें पता चलता है कि अभ्यावर्तिन् सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर राज्य करता था। इस के अतिरिक्त अभ्यावर्तिन् को पार्थव कहा गया है (ऋ० ६ २७ ८)। त्सिमर का[4] विश्वास है कि पार्थव पृथु के अपत्यों को ही कहते हैं किन्तु हिलेब्राण्ट ने[5] बताया है कि अभ्यावर्तिन् एक पार्थव था। लुडविग भी यही कहते हैं।[6] इस लेखक के अनुसार पृथु और पर्शु केवल पार्थव हो सकते हैं (फारस के शिलालेखों में, जो पहाडों पर खुदे हैं, पार्थव स् शब्द पाया गया है और ग्रीक ग्रन्थकारों न पर्थी या पर्थ्ये ये लिखा है) और पर्शव पर्शियन हो सकते हैं।[7] इस अनुमान में वे ठीक समझे जा सकते हैं क्योंकि हमें आगे के उल्लेख से पता चलता है कि ऋग्वेद के युग में भारत का अपने पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी पडोसियों से निकट का सम्बन्ध था।

अभ्यावर्तिन्।

---

१ विशेषत दे०—अथ० ४ २९ ४; १८ ३ १५।

२ जैमि० ब्रा० १ १५१ के अनुसार ये दोनों 'देवर्षि' और 'मन्त्रकृत्' थे। किन्तु ताण्ड्य ब्रा० १३.७ १२ और जैमि० ब्रा० ३ १३९ के अनुसार इन दोनों ने पुरस्कारों का स्वीकार किया था। (विशेष दे०—ऋ० १ ९८ ३ पर सायण भाष्य।)

३ लीडेर देस् ऋग्वेद, गोटिंगेन १९१३, पृ० ४१।

४ आल्टिन्डिशेस् लेबन, बर्लिन १८७९, पृ० १३३ ३४।

५ लीडेर देस् ऋग्वेद पृ० ४९।

६ देर ऋग्वेद (३) पृ० १९८–९९।

७ दी मस्त्रिग्सन० पृ० ६६।

यह इन्द्र द्वारा पालित और यदु का समसामयिक था।[1] इस ने वृचीवतों को पुरस्कृत किया था। यह नाम तुर्वश जाति का सूचक है।[2] इस जाति के मूलनिवासस्थानों के बारे में बहुत मतभेद हैं। तो भी इस

तुर्वश। मण्डल से यह स्पष्ट है कि वे कण्वों से सम्बद्ध थे। हॉपकिन्स ने एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख में कहा है कि कण्व लोगों का पश्चिमी देशों से बहुत दिनों का नाता-रिश्ता था[3] और हिलेब्राण्ड्ट ने तुर्वश तथा उन के पड़ोसी यदुओं का—कम-से-कम उन की एक शाखा का—उत्तर-पश्चिमी पार्वत्य प्रदेशों से बताया है।[4]

यह अनुक्रम० और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६ ११.११ के अनुसार बढ़ई ('तक्षन्') था। मनुस्मृति १०.१०७

वृबु। मे कहा गया है कि इस ने भरद्वाज को, जो निर्जन वन में क्षुधापीड़ित था, अनेक गायें दी थीं। षड्गुरुशिष्य ने अनुक्रम० के भाष्य मे कहा है कि वृबु तक्षन्, परम्परा के अनुसार, इन्द्र का भक्त और शम्य का बन्धु था।

इस ने वर्चिन् और शंबर को हराया था (ऋ० ७ ४७)। प्रस्तोक ने इस की सहायता की थी। इन दोनों

दिवोदास। संयुक्त राजाओं ने विजित सम्पत्ति ऋषियों को दान कर दी थी। दिवोदास बध्र्यश्व का पुत्र (ऋ० ६.६१.१) और सुदास् का पिता (ऋ० ७ १८ २५) था। इस का कुल-नाम अतिथिग्व था (ऋ० ६.४७.२२)। अश्वथ[5] भी इस का सहायक रहा होगा जिस ने अथर्वणों और पायु को दान दिया था।

यह एक प्रसिद्ध राजा था (ऋ० ७.१८), जिस ने दशराज-युद्ध जीता था। यह लड़ाई सुदास् और उस के दस शत्रु राजो से हुई थी। सुदास् और उस की सेना को उस के शत्रुओं ने चारों ओर से घेर लिया था[6]। केवल

सुदास्। एक ही रास्ता था जिस से पीछे हटा जा सकता था। वह रास्ता परुष्णी नदी थी। ऋ० (७.३३.३) मे कहा गया है कि इन्द्र सुदास् की सहायता के लिए आया। ऋ० ७.१८.५—२० में युद्ध का मनोरञ्जक वर्णन है। लड़ाई छिड़ गई। राजा सुदास् परुष्णी के रास्ते से पीछे हट रहा था। इधर शत्रु राजाओं ने परुष्णी के किनारे पर भागते हुए सुदास् के ऊपर हमला कर दिया। इसी समय नदी में नीरों की बाढ़ आई और शत्रुसेना मे से अधिकांश जलमग्न हो गई। जो बच रहे उन्हे सुदास् और इन्द्र ने माफ़ कर दिया। इस प्रकार सुदास् की विजय हुई।[7] सुदास् देववत् का पौत्र कहा जाता है (ऋ० ७.१८ २२)। इसे पैजवन भी

---

१ तुर्वश और यदु समसामयिक थे—ऋ० १ ३६ १८; ६ ४५ १। इन के विषय की वह प्रसिद्ध कहानी प्रायः उल्लेख की जाती है, दे०—ऋ० ४,३०,१७। "तुर्वश और यदु तैरना नहीं जानते थे पर शक्तिशाली इन्द्र ने उन्हें अपनी शक्ति से नदी पार कराया।" विशेषतः दे०—१ ७४ ९, २ १५ ५, ५ ३१ ८। इसी तरह की कहानियाँ तुर्वीति और वय्य के बारे में भी कही जाती है। दे०—१ ५४.६; ६१.११ ,२ १३ १२, १५.५, ४.१९ ६।

२ ऋ० १ १०८.८, ८ ४ १६।

३. ज० अ० ओ० सो० १७ पृ०, २३ प्र।

४ लीदर देस् ऋग्वेद, पृ० ४६।

५. ऋ० ६.४७ २५ पर सायणभाष्य और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.११, के अनुसार अश्वथ सृञ्जय का पुत्र था।

६ ऋ० ७ ८३.८।

७. इस युद्ध की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सूचना ऋग्वेद मे प्रायः पाई जाती है। उदाहरणार्थ दे०—१.५३.६; ७.६०.६; ७.१६ ७४। इस युद्ध से अनतिभिन्न वर्णना के लिए दे०—ताण्ड्य ब्रा० १५.३.७, मैत्रा० सं० ३.४०.६, जैमि० ब्रा० ३ २४४। इन स्थानों मे उन राजाओं के नाम ऋग्वेद जैसे नहीं है। वहाँ पुरोहित भरद्वाज है और घिरा हुआ राजा दिवोदास (ताण्ड्य०) या प्रतर्दन (मैत्रा० सं०) या इस का पुत्र (जैमि० ब्रा०) है।

कहा जाता है (ऋचा २३), जो उस का कुल-नाम हो सकता है। यास्क ने (२ २४) पैजवन का व्याख्या पिजवनस्यपुत्र का है। ऋ० ७ १८ २५ के अनुसार सुदास् का पिता दिवोदास था। इस लिए सम्भवत पिजवन और दिवोदास एक ही व्यक्ति थे। एक वसिष्ठ गोत्र के ऋषि ने उस की स्तुति ऋ० ७ १८ २४ मे यों की है —"—जिस की कीर्ति दोनों लोकों म ज्ञात है उस दाता ने (विनित संपत्ति का दान) प्रत्यक ऋषि को किया है। वे ऋषि उस की इस प्रकार स्तुति करते हैं जैसे सात (नदिया ने) इन्द्र की। उस ने युध्यामति को युद्ध मे मारा था।"[1]

मैं इसे (ऋ० ८ १) आसङ्ग का पुत्र समझता हूँ जिस का पिता प्लयोग। भारतीय परम्परा में आसङ्ग के बार में एक कहानी है कि उस ने अपना पुरुषत्व खो दिया था और स्त्रैण हो गया। किन्तु मधातिथि के बीच में पडन से उस ने पुरुषत्व पुन प्राप्त किया जिस मे उस की पत्नी अति प्रसन्न हुई। इस कहानी का सूचना ऋ० (८ १ ३४) में पाई जाती है। ऋ० (८ १ ३२) में स्वनद्रथ आसङ्ग का वर्णन है। ३३वीं ऋचा में उस के पिता आसङ्ग प्लायोगि का और ३४वीं ऋचा म उस की पत्नी शश्वता का नाम है। शायद स्वनद्रथ न एक महायाग किया था जिस में अन्यान्य बडे राजा जैसे निन्दिताश्व, प्रपथिन् और परमज्या (ऋचा ३०) भी सम्मिलित थ। उस समय सम्भवत उन के मा बाप उपस्थित थे।

स्वनद्रथ।

ये दोनों ऋ० ८ ६ के कवि के आश्रय-दाता थ। शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६ ११ २०) मे कहा है कि काण्व वत्स न तिरिन्दिर पार्शव्य से आश्रय पाया था। इस का यह अर्थ हुआ कि शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार तिरिन्दिर और पर्शु एक ही आदमी थ। यही बात अनुक्रमणिका मे जानी जाती है। ऋग्वेद (८ ६ ४६, ४८) में इन राजाओं का यदुओं के सम्बन्ध में वर्णन पाया गया है। इस सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में बडा मतभेद ह। लुड्विग का विश्वास है कि ऋ० ८ ६ ४६ म[2] तिरिन्दिर का पर्शुओं का राजा कहा गया है जिस से यदुओं ने बहुत सा धन ले कर ऋषियो को दान किया था[3]। हिमर इस बात को नहीं मानते[4]। बहुत सम्भव है कि तिरिन्दिर और पर्शु यदुवंशी राजा थे, यद्यपि वेबर यदुओं को राजा नहीं किन्तु याजक कहत हैं[5]। ये नाम भारतीय नहीं जान पडते। वेबर कहते है कि वे ईरानी नाम हैं और इस से अनुमान करते हैं कि कभी इरान और भारत म नियमित सम्बन्ध था। हिलेब्राण्ट न भी भारतीयों और इरानियो के सम्बन्ध को माना है जो आरकोशिया में था। होपकिन्स् न उपरिलिखित प्रबन्ध (ज अ ओ सो १७, पृ० २३ प्र०) मे इस सम्बन्ध के पक्ष में अनेक उदाहरण दिये हैं।

तिरिन्दिर और पर्शु।

---

१ यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता।
सप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके॥

२ शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे।
राधांसि याद्वानाम्॥
"मैंने तिरिन्दिर से सौ पशु से सहस्र जो यादवों के उपहार के रूप म था पाया।" दा धातु आ उपसर्ग के साथ जब सप्तमी में प्रयुक्त होता है तो ऋग्वेद म 'किसी स किसी का कुछ पाना' अर्थ होता है।

३ डी नखरिख्तेन पृ० १७।

४ आल्तिनदिशस् लेबन पृ० १३६ १३७।

५ एपिशेस् इम वेदीशन रिटुअल (वेबर द्वारा सम्पा० इंदिश ए स्टडियन में प्रका०), बर्लिन पृ० ३० ३८।

६ वेन्० मिथ० (१) पृ० १४ प्र।

यह कनीत का पुत्र था (ऋ० ८ ४६.२१, २४), जो दास बल्बूथ तरुक्ष (ऋ० ८.४६.३२) के समान[1] एक अभारतीय जाति का है। जुस्ती ने अपने नामेन्बुख (पृ० १५५) में एक सीथियन राजा कर्नीथ का नाम दिया है जो दूसरी सदी ई० पू० में हुआ था। यह नाम यद्यपि कनीत से मिलता-जुलता है तथापि

पृथुश्रवस्।

इस से यह नहीं समझा जा सकता कि ये एक हैं और ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में इस एकत्वाभास के ऊपर समारोपित सारे सिद्धान्त अविश्वसनीय हैं। यह केवल इतना भर सिद्ध करता है कि कनीत अभारतीय था। बल्बूथ को जो ऋग्वेद में 'दास' कहा गया है इस से यह सूचना मिलती है कि या तो उस की माता अनार्य थी या वह यहाँ के आदिम निवासियों में से था[2]। जो हो, वह वायु का—जो आर्य-देवता है—पूजक था[3]। क्या इस से यह सूचना मिलती है कि आर्यों और दासों में एक मित्रता का सम्बन्ध था[4] ?

ऋ० (१०.६२.८–११) में इस की 'सहसदा' की स्तुति की गई है। इस दानस्तुति से यह स्पष्ट है कि वह यदु और तुर्वश का समसामयिक था (ऋचा १०)। ऋ० (८.५१.१) में एक मनु सांवरण नामक आदमी

मनु सावर्णि (या सावर्ण्य)।

का नाम है जो मेध्यातिथि जैसे ऐतिहासिक कवि के साथ वर्णित है। यह नाम मनु सावर्णि की याद दिलाता है। दूसरी ओर, ऋ० (८.५२.१) में मनु विवस्वन जैसे काल्पनिक व्यक्ति का वर्णन है। ब्लूमफील्ड ऋ० (१०.६२.८—११) के सम्बन्ध में कहते हैं कि "सवर्णा की सन्तान मनु की प्राचीनता सिद्ध करने में यह दानस्तुति (ऋ० १०.६२.८—११) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"[5] और इस पर से वह निश्चय करते हैं कि वैवस्वत शब्द पितृ-वंश-सूचक है और सावर्णि मातृवंश-सूचक। मनु सावर्णि को ११ वीं ऋचा में 'ग्रामणी' कहा गया है। मैं इसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानता हूँ। इस का सीधा-सा कारण यह है कि इसे दानस्तुति में वर्णित पाया गया है।

निम्नलिखित राजाओं के बारे में उन के नाम के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते।

स्वनय भाव्य। यह सिंधु के समीपवर्ती स्थानों में रहता था। यह ऋषि कक्षीवत् का आश्रयदाता था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.५ में इस का नाम 'स्वनय भावयव्य' दिया है।

ऋणञ्चय। यह रुशम जाति या जनसमूह का राजा था। रुशम जाति का वर्णन वेद में तीन बार आया है—ऋ० ८.३.१२; ४.२; अथर्ववेद २०.१२७.१।

शत्रि। यह अग्निवेष का पुत्र था। इस का वर्णन केवल एक बार—ऋ० ५.३४.९ में—आया है।

श्रुतरथ। यह एक युवा राजा (ऋ० ५.३६.६) था। यह पज्रवंश का आश्रयदाता था (ऋ० १,१२२,७) ऋषि कक्षीवत् इसी वंश का था।

रथवीति दार्भ्य। गोमती के किनारे पार्वत्य प्रदेशों में रहता था (ऋ० ५.६१.१७–१९)।

---

१. होपकिंस—ज० अ० ओ० सो० (१७), पृ० ९० ।
२. त्सिमर—आल्तिनदिशेष लीवन पृ० ११७ ।
३. ऋ० ८. ४६, ३२ ।
४. दे०— वैदिक इंडेक्स २, ६४ ।
५. ज० अ० ओ० सो० (१५), पृ० १७९ ।

पुरय, सुमीढ्ह, पेरुक, शाण्ड (ऋ० ६ ६३ ९) और पुरुपन्थान् (ऋचा १०) भरद्वाज ऋषि के आश्रयदाता थे।

निन्दिताश्व, प्रपथिन् और परमज्या मध्यातिथि के आश्रयदाता थे, जिस ने उन की स्तुति (ऋ० ८ १ ३० में) की थी। विभिन्द ने भी मेध्यातिथि को दान दिया था (ऋ० ८ २ ४१)।

पाकस्थामन्। यह कुरयाण का पुत्र था। (ऋ० ८ ३ २१) लुड्विग ने[1] इस अनु जाति का राजा माना है।

कुरुङ्ग। यह ऋ० ८ ४ के ऋषि का आश्रयदाता था। लुड्विग ने उक्त ग्रन्थस्थान में इसे भी अनु जाति का राजा माना है। पर यह बात ठीक नहीं जान पडती। कुरुङ्ग तुर्वश कुल का था क्योंकि उसी ऋचा (ऋ० ८ ४ १९) में अन्य तुर्वशों का स्पष्ट वर्णन है।

कशु। यह चेदि का पुत्र था। चेदि की उदारता सुप्रसिद्ध थी। ऋ० ८ ५ ३९ में कहा है कि "कोई भी उस मार्ग से नहीं चल सकता जिस पर चेदि चलते हैं। इस लिए चेदियों से अधिक उदार राजा होने का दावा कोई आश्रयदाता नहीं कर सकता।"

चित्र। यह राजा सरस्वती के किनारे रहता था (ऋ० ८ २१ १७ १८)। बृ० दे० ६ ५८ प्र ने इस का नाम "आतुराज" दिया है जिस का कुछ कारण नहीं जान पडता। यह सोभरि का आश्रयदाता था।

वरो सुषामन्। यह विश्वमनस् ऋषि का आश्रयदाता था (ऋ० ८ २४ २८)। रॉथ संस्कृत वार्टेर्बुख् में कहते हैं कि 'वरो' यह सम्बोधनरूप यहाँ ठीक नहीं है इस लिए सब से अच्छी व्याख्या इस की यह हो सकती है कि वरोसुषामन् एक ही शब्द और व्यक्तिवाचक संज्ञा है। यद्यपि इस का रूप अस्पष्ट है।" सम्भवतः सुषामन् व्यक्तिवाचक संज्ञा है और वरो उस के पुकार का नाम है। यह निश्चित नहीं है कि नार्य (ऋ० ८ २४ २९) और सुषामन् एक ही व्यक्ति हैं या नहीं।

उक्षण्यायन और हरयाण जो सुषामन के साथ आश्रयदाता के रूप में वर्णित पाये जाते हैं (ऋ० ८ २५ २२) स्पष्ट ही विभिन्न व्यक्ति हैं। जो हो, सायण का कहना है कि वरु का एक पूर्वज उक्षन् कहा जाता था जिस की सन्तान उक्षण्यायन था। सायण हरयाण को भी सुषामन् का विशेषण समझते हैं।

वसुरोचिष्। इस ने ऋषि नीपातिथि को दान दिया था। (ऋ० ३४ १६)। किन्तु अनुक्रमणी ने इसे ऋ० ८ ३४ १६–१८ का ऋषि माना है, और सायण ने उस का अनुसरण किया है। पर यह स्पष्टतः ही गलत है। १८ वीं ऋचा में क्यों इसे 'पारावत राजा' कहा है, यह बात हमें नहीं मालूम।

दस्यवेवृक (ऋ० ८ ५५ ५६) पूतक्रतु का पुत्र था। इस के विचित्र नाम से जान पडता है कि यह निश्चय ही दस्युओं का घोर शत्रु रहा होगा।

इन्द्रोत। यह अतिथिग्व का पुत्र था (ऋ० ८ ६८ १५, १६)। रॉथ (संस्कृत वार्टे०) इसे ऋक्ष का पुत्र समझ कर गलती करते हैं। इन्द्रोत के सिवा आर्क्ष (ऋक्ष का पुत्र)—जो वास्तव में श्रुतर्वन् (ऋ० ८ ७४ १३) था—और आश्वमेध (अश्वमेध का पुत्र अर्थात् पूतक्रतु—ऋ० ८ ६८ १७) का वर्णन पाया जाता है।

---

1 देखें आग्वेद (३) पृ० १६०।

शर। यह शूरदेव का पुत्र था (ऋ० ८.७०.१५)। इस ने एक ही गाय तीन ऋषियों को दी थी इस लिए उन्हों ने दानस्तुति मे व्यङ्ग रूप से इस की स्तुति की है।

श्रुतर्वन्। जैसा कि पहले ही कहा गया है, यह ऋक्ष का पुत्र था (ऋ० ८.७४.१३)। मृगय को इस का जीतना (ऋ० १०.४९.४ मे) कहा गया है। इस का निवास परुष्णी नदी पर था (ऋ० ८७.४.१५)।

दुःशीम पृथवान, वेन, राम (ऋ० १०.९३.१४) और तान्व तथा मायव (ऋचा १५) केवल उस ऋषि के आश्रयदाता के रूप मे कहे गये हैं जिस ने ऋ० १०.९३ बनाया था।

× × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि दानस्तुतियाँ ऋग्वेदीय युग के ऐतिहासिक पुरुषों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। जो हो यह दुर्भाग्य का विषय है कि ऋग्वेद मे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का पर्याप्त विवरण नहीं मिलता। केवल कहीं कहीं कुछ उल्लेख ऐसे मिल जाते हैं जो आगन्तुक आर्यों के परिभ्रमण[1] और पञ्जाब (पञ्चनदप्रदेश) मे उन के आगे बढ़ने की सूचना देते हैं[2]।

भौगोलिक समस्यायें अपेक्षाकृत स्पष्टतर हैं। इस का कारण यह है कि नदियों के नाम दिये गये हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों को करीब करीब निःसंदिग्ध रूप से निश्चित करने में सहायक होते हैं। दानस्तुतियों मे जिन नदियों के नाम पाये जाते हैं वे ये हैं—सरस्वती (ऋ० ८.२१.१७-१८), परुष्णी (८.७४.१५), गोमती (८.२४.३०), सुवास्तु (८.१९.३७), यमुना (५.५२.१७), गङ्गा (६.४५.३१) और सिन्धु (१०.६२.९)। इस प्रकार के हवाले पाये जाते है जिस से ऋषियों ने स्थानीय नदी के साथ दान का सम्बन्ध बताया है[3]। ऋग्वेद ५.३४.९ मे जल का भी सामान्य रूप से वर्णन है—"उस के लिए जल अबाधित हो कर वृद्धि प्राप्त करें।" नदियाँ ही ऋग्वेद मे भौगोलिक परिस्थितियों को ठीक करने के लिए एकमात्र साधन हैं। पर्वत, शहर और अन्य स्थान जो कुछ मिलते भी हैं तो उन से किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचना मुश्किल ही है। इस लिए दानस्तुति मे यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यज्ञ किस नदी के किनारे किया गया था। पच्छिम से पूरब गिनने में उन का क्रम यों है—सुवास्तु, गोमती, सिन्धु, परुष्णी, सरस्वती, यमुना और गङ्गा। इन नदियों का स्थान ही निश्चय रूप से ऋग्वेद का अपना स्थान है।

---

१ दे०—ऋ० १.४०.७, १३१.५, १६९.८, २.२१.५; ४.१६.६; ५.३१.६; ६.६१.२, ७.५६.२४; १०.४९.४, १०४.८।

२ उदाहरणार्थ गेल्डनर के ऋ० ३.१२.८ ऊपर नोट दे०—'अप्तूर्यम्' शब्द आर्यों के नदीवाले प्रदेश मे आगे बढ़ने का स्मारक शब्द है दे०, ऋ० १.४०.७। आगे चलकर 'वृत्रतूर्यम्' शब्द के साथ ही अप्तूर्य शब्द भी शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८.१६.१ में विजयी के आगे बढ़ने के अर्थ से रूढ हो गया है।

३ ऋ० १.११.६ को भी दे०—"ऐ शूर! तुम्हारे दानों को इस नदी के साक्ष्य मे लेकर मै लौटा।" यहाँ कवि ने इन्द्र के ज़रिये जो दान मिला था उस मे स्थानीय नदी को साक्षी रखा था।

ईरान वैज ।

प्रो० पूर् ए दाऊद, विश्व भारती, शान्तिनिकेतन

[**आर्य्य या आर्य लोग**—अविस्ता और पहलवी म हम इरान वच शब्द बार बार मिलता है।

भारतीय और इरानी दोनों के ग्रन्थों म उस वश का नाम जिस म स ये दानों जातियाँ निकली हैं, आय अथात् सरदार दिया ह। छठी शताब्दी इ० पू० म दारयवहु महान् अपन आपको आय वहता है। भारतवासियों के लिए अविस्ता के विभिन्न प्रकरणों म हिन्दु शब्द आया है।

ज्यों ज्यों हम खोजते हैं, यह बात अधिक अधिक पाते हैं कि भारतीय और इरानी—भाषा, धम, विचार और रीति रिवाजा म बिल्कुल एक थे। अविस्ता भाषा और संस्कृत म केवल उच्चारण का ही अन्तर ह अन्यथा वे एक ही हैं। दोना भाषायें परस्पर इतनी संबद्ध हैं कि हम एक को जानें और दूसरी को न जानें तो हमारा ज्ञान अधूरा रहता है। इस प्रकार वेद और अविस्ता तत्त्वत एक ही ह और उन म एक ही जाति क इतिहास की स्मृतियां हैं। यह विश्वास कि महात्मा जरतुश्त के आविभाव से दोनों जातियां अलग अलग हो गईं, कोरी कल्पना पर निभर हे इसम तथ्य कुछ भी नहीं।

ईरान वैज—मध्य एशिया स प्रवास करके इरानी लोग पहले पहल जिस प्रदेश म बस उस अविस्ता म इरान वैज कहा है। कुछ विद्वानों का विचार ह कि यह संस्कृत शब्द बीज का रूपा तर ह। परन्तु फारसी म इस अथ म ऐसा कोई शब्द नहीं। इ रा न् वै ज किसी विस्तृत देश का नाम नहीं अपितु उस प्रदेश का नाम है जहा अपन प्रवास क बाद इरानी लोग पहले पहल बस—और जिसे उन्हों ने स्वर्ग कहा। पीछे इस के चौगिर्द कहानियों का जाला बुना गया जिस म इस की ठीक पहचान लुप्त हो गइ। कुछ विद्वान् इन कहानियों में उलझ कर यह समझने लगे कि इरान् वैज बिल्कुल ही एक कल्पना थी। पर यह ठीक नहीं; यह एक वास्तविक देश का नाम है।

मुश्किल तो यह है कि अरबों के फारिस विजय से भी बहुत पहले स इस देश की ठीक स्थिति के बारे म सन्देह विद्यमान थे। पहलवी ग्रन्थ दीन अ गा सी म हम पाते हैं कि इ रा न् वै ज अजरबाइजान म कहीं था। इस लिए कुछ एक प्राच्य विदों न इसे फारिस के उत्तर पश्चिम अजरबाइजान के आस पास, प्राचीन लोगों म अ र्रा न नाम से प्रसिद्ध एक देश म, जिसे अरब भी जानते थे, ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। अरब भूवत्ताओं ने अरान का निम्नलिखित सीमाओं क अन्तरगत होना माना है—आमीनिया, शिरवान, अजरबाइजान और कास्पियन सागर। कि तु यूनानी लेखक स्त्राबो न अ र्रा न लोगों को अनाय कहा है। मि० टाइड का विश्वास ह कि ईरान वैज फारस के उत्तर पूरब में कहा था। इस का मतलब है आधुनिक ख्वारिजम या खीवा ही ईरान् वैज था। जुस्ति और एण्ड्रियुस् भी इस से सहमत हैं।

अविस्ता म भी यही सिद्ध होता है। वहा इस देश का फारिस के उत्तर पूरब और पूरब कहा है, तथा सुग्ध, मर्व, बलख नीसाय, हरात, काबुल आदि को इस म सम्मिलित गिना है। पहलवी टीका म लिखा है कि ईरान् वैज म अत्यधिक सरदी पड़ती थी।

अविस्ता क अलावा इतिहास मे भी यही प्रकट होता है कि ख्वारिजम फारिस के सब से पुराने सूबों म से है तथा फारसी सभ्यता का केन्द्र रहा है। ऐतिहासिक अलबीरूनी भी इस बात का समथन करता है। अविस्ता के कई प्रकरणों स भी इस की पुष्टि होती है।

फारस के धार्मिक इतिहास में दक्खिनी फारिस का कहीं जिक्र नहीं है। जरतुश्त का आविर्भाव और उस का धर्म प्रचार पूरबी फारिस में ही हुआ। पहलवी और पाजन्द ग्रन्थों क अनेक निर्देशों से भी पूरबी इरान ही ईरान् वैज सिद्ध होता है। किन्तु यु दहिश्न इसे अजरबइजान के आस पास रखता है। पर अधिकांश प्रमाण दूसरे पक्ष म है इस लिए ख्वारिजम को ही इरान वैज समझना चाहिये।]

आरियाई हा

दर अविस्ता युनानके दर कुतब्-ए पहलवी गालियन बकल्म ए ईरान वैज बरमीखुरेम राज अि य हुदूद-ए ई मर्जबूम् आराए मुख्तलिफ अस्त। पेश अज दाखिल शुदन दरई मबहस लाजिम अस्त अज आरियाइ हा कि ई मर जमीन् बइस्मे ई कौम नामजद गर्दीद मुख्तसरन् सुहबत् बि दारेम।

दरमियान्-ए अक़वाम्-ए हिन्द व आरोपाई दो दस्त' अज़ हमी निझाद कि हिन्दुवान व ईरानियान बाशन्द बिस्यार व हम दीगर नज़दीक् व हर्दो आरियाई नामीद: शुद' अन्द। आसार्-ए कुतवे कि अज़ आरियाई हा दर दस्त अस्त क़दीम तरीन असनाद-ए अक़वाम-ए हिन्द व उरूपाई अस्त। वेद-ए हिन्दुवान व अविस्ता-ए ईरानियान अज़ बराय-ए अक़वाम-ए हिन्द व उरूपाई चुनानक् तौरात अज़ बराए अक़वाम-ए सामी क, हम-नीम्न-ए आसारे क़दीम-ए दुनिया बशुमार अस्त। ऋग्वेद क़दीम तरीन्-ए क़िस्मत्-ए किताब्-ए दीनी-ए ब्रह्मनान दर् दो हज़ार व पानसद साल पेश अज् मसीह व वजूद आमाद. व क़दमत गाथा क़दीम तरीन किस्मत् नाम-ए मुक़द्दस्-ए मज़्दयस्नान वहज़ार् व सद् साल् पेश् अज् मसीह मी रसद्[1]। ईरानियान व हिन्दुआन हर्दो ख़ुदरा आरियाई नामीद: अन्द यानी शरीफ़। दर् सरोद हाए ऋग्वेद् हिन्दुआन् अज़ सियाह पोस्त्हा व साकिनीन्-ए असली-ए सिन्द् व पञ्जाव व इस्म-ए आरियाई इम्तियाज दाद' शुद: अन्द। दर मुक़ाबिल्-ए मरदुमान्-ए असली-ए आँ सर ज़मीन् कि दास् दुश्मन नामीद' शुद व रफ़्त रफ़्त: ख़ाकशान बदस्त्-ए आरियाई हा दर आमद.[2] हम चुनीं ग़ालिबन् दर अविस्ता अज़् क़ौम-ए आरियाई या ईरान ख़ाकशान याद शुद: अस्त[3]। दारयूश बुज़ुर्ग दर क़र्न शशुम पेश अज् मसीह दर कतीब-ए नक्श्-ए रुस्तम ख़ुदरा चुनीं ख़्वान्दह मन दारयूश हस्तम पादशाह्-ए बुज़ुर्ग पादशाह्-ए पादशाहान पादशाह-ए ममालिक-ए अक़्वाम-ए बिसियार् पादशाह्-ए ई ज़मीन-ए बुज़ुर्ग-ए दूर के रान पिसर्-ए वैश्ताम्प (गुश्ताम्प) हख़ामन्शी यक् पारसी पिसर्-ए यक् पारसी यक् आरियाई व अज़निझाद-ए आरियाई बिना ब-ख़बर-ए हेरोदूत-ए माद हा ईरानियान-ए मग़रिब् ज़मीन कि दर अवाख़िर-ए क़र्न्-ए हश्तुम पेश अज़ मसीह नख़ुस्तीं सल्तनत्-ए ईरान् रा तश्कील दादन्द। दर ज़मान-ए क़दीम् असूमन आरियाई नामीद. मी शुदन्द[4]। ईरानियान् इस्म-ए ख़ुदरा बसर ज़मीन हा ई कि बदस्त आवुर्दन्द दाद: ऐरियान् नामीद अन्द। इस्मे कि इमरोज़ ईरान् गुफ़्त' मी शवद् व तापान सद् व पिन्जाह सालपेश अज़् ई ईरान् तलफ़्फ़ुज़् मी शुद अस्त्। हिन्दुआन नीज़ बसर ज़मीन् हाई कि ब आँ जा मुहाज़रत करद. इस्म-ए ख़ुद दाद. 'आर्यावर्त्त्' नामीद. अन्द्। हम चुनी आँ रा 'भारतवर्ष' या 'भारतभूमि' ख़्वाद अन्द। इस्म-ए हिन्द या हिन्दोस्तान् कि हिन्दी हा नीज़ ब हमीं इस्म वतन्-ए ख़ुदरा मीनामन्द अज़् ईरानियान् गिरिफ़्त: शुद: अस्त। चहारबार दर अविस्ता ब-इस्म-ए हिन्द बर मी ख़ुरेम, फ़र्गर्द्-ए अव्वल वन्दीदाद फिकर्-ए १८ यस्ना ५७ (सरोश यश्त-ए सर्शव) फिकर्-ए २९ तीर यश्त फ़िकर्-ए ३२ मेह यश्त फिकर्-ए १०४। दरई फ़िक़रान् हिन्दू च दरनुस्ख बदल हिन्दू आमद.। व दर फ़ुर्स्-ए हख़ामन्शी नीज़ हिन्दू मी बाशद्। दारयूश्-ए बुज़ुर्ग दर नक्श्-ए रुस्तम अज़ाँ दर् जुज़्व्-ए ममालिक-ए दीगर् कि दर्हसर्रुफ़-ए वैबूद' याद् मी कुनद्। दर् सांस्कृत् सिन्धू व दर् यूनानी इन्दूस् मी बाशद्। वा ई इस्मेस्त् कि बरूद् सिन्द दाद शुद. अस्त। नज़रव ई कि हिन्दुआन् न ख़ुस्त दर सवाहिल्-ए रुद-ए सिन्द जाय गुज़ीद व ममालिक्-ए पंजाब रा बदस्त आवुर्द: अज़्

---

१ रजूअ शवद् ब मकालय्-ए ज़मान्-ए जरतुश्त दर् हमीं जिल्द।

२ रुजूअ शवद् ब 'ओस्ता ईरानिश्श् कुल्तूर' (अज गायगर), सफ़हा १७०।

३ रुजूअ शवद् ब आवान् यश्त फ़िक़ात ४९,४८,६६, ११७, व तीरयश्त फ़ि० ६,३६,४८,६१; व मिहर यश्त फ़ि० ४,१३, व फ़र्वदीन यश्त फ़ि० १४३, व जामियाद यश्त फ़ि० ५६,६६, व वंदीदाद फ़र्गर्द १९ फ़ि० ३९।

४ हिरोडोटस् ७,६२।

आँना रफ़् रफ़् ब किनार्-ए रूद-ए गङ्ग व नुकात्-ए दीगर् ए हिन्द नफ़ूज करदन्द। इस्म् ए मम्लुकत्-ए आनान् निज़्द ए ईरानियान् हिन्द नामाद शुद अस्त[1]।

गुफ्तेम अज़् मम्लुकत् ए आरियाई या ईरान् व अज़् कौम् ए आँ ऐर्य कि दर फ़ुर्स व दर सांस्करीत नीज़ अरिय गुफ़् मी शवद्। गालिबन दर अविस्ता याद शुद अस्त। अज़ाँ जुम्ला दर फर्वर दान यश्त फ़िक्र्-ए ८७ ग य म र त न कि दर फारसी कयूमर्स गोयम् व दर अविस्ता न ख़ुस्तान्-ए बशर् शुमुर्दे शुद। व मानि-द् ए आदम दर अदयान् ए सामी नख़ुस्तीन् कस अस्त कि मनिश् व अमोज़िश् ए अहूरा मज़दा रा दरियाफ़् अहूरा मज़दा अज़् नाफ़य (दूदमान) ममालिक् ए ईरानी व नभ्राद् ए ममालिक्-ए इरानी पिदाद् आनुर्द्। अन् ऐर्य यानि गैर आरियाई या गैर ईरानी व ख़ारिज व बगान दर मुकाबिल्-ए कलम ए ऐय दर अविस्ता बिसियार आयद अस्त।

हरचन्द कि दर तहक़ीक़ात् राज अ व हिन्दुआन व इरानियान् दूरतर रवेम व नकदीम् तरीन्-ए आसार् ए आनान कि वेद् व अविस्ता बाशद् मुलाहिज़ कुनम्। बेश अज़् बेश शवाहते मियान् ए ज़बान व दान व तर्ज़ ए ख़्याल् व आदात् व रूसूम्-ए आनान् करफ़ ख़्वाहेम् कर्द्। बतौर कि अनदन् शक्कैन मी मानद कि ई दो कौम अज़् यक् नभ्राद बूद। व राजे दर यक् सर ज़मीन बसर मी बुर्दे। व दाराय यक् ज़बान व यक ख़स्तन बूद अन्द। ज़ुबान् ए अविस्ता व ज़ुबान् ए वेद् फ़कत् तफावुत् ए लहज व हम दागर दारन्द। मियान्-ए ज़ुबान् ए अविस्ता व ज़ुबान् ए फ़ुर्स् कि दर कतार ए पादशाहान् ए हख़ामनशी नमून्-ए अज़ो य जामाद नाज हमान तफ़ावुत्-ए लहजा रा बायद् कायल् शुद्। गुज़श्त अज़् कलमात् तरकीब् ए जुम्लात् ए ज़ुबान् ए अविस्ता व कवाइदे नफ़् व नन्नीय्य् ए आँ व अन्दाज् ए व सांस्करीत् नज़दीक् अस्त् कि बसा अज़् जिक्रात् ए अविस्ता रा नै गेनिहीं फक्त बकलम वज़ुबान् ए सांस्करात् मा तवाँ बर गर्दानाद। इस्तानीन जुगराफ़िया नवारा ए यूनानी दर् यक् कर्न पेश अज़् मीलाद ज़बान् व य कुल्लाय्य ए अक़वाम ए आरियाइ रायके दानिस्ता व फक़त् फर्क्-ए लहज दर्मियान् ए आँहा कायल् शुद अस्त्[2]। बशक् अगर सांस्करान् व अदबीय्यात् ए फरावान् ए आँ नबूद् हर आइना किस्मत अज अदनाय्यात् ए मज्द यस्ना मजहूल मी मानद्। दानिशमन्द ए फ़रान्स बुर्नूफ़ व तवस्सुत् ए सांस्करीत् ए यस्ना रा कि पज फ़स्ल्-ए गाथा दर जुन्च आँ अस्त व अज़् मुश्किल् तरीन् ए किस्मत नाम् ए मुकद्देस अस्त व फरान्स तरजम नमूद। दरसाल् ए १८३३ मीलादी मुन्तशर साख्त। अज़् ई रोज व बाद अज़् फरतवे सांस्करात् बहसाल ए अविस्ता पाय ए इल्मी गिरिफ़् व नवाँमेत् ए तरक्का ए इल्म्-ए इश्तिक़ाक दर अरूपाव यरसूम बवामत ए मुतवज्ज शुदन ए दानिश मन्दान् व अदनाय्यात् ए कुदाम् ए हिन्द मुन्दर्जात्-ए अविस्ता मतदर्शिजन् रौशन् शुद। तफ़सीर् ए पहलवी ए अविस्ता कि आँ रा ज़न्द नामन्द नफ़सीर् ए सुन्नता अस्त निस्बत् व तफ़सार कि अज़ रूये इल्म् ए इश्तिक़ाक़ अस्त कमतर काबिल् ए एतमाद अस्त। वले बावुजूद् ए ई फसाद् ए फहम् ए अविस्ता अस्त व दर तिर्गे अन्

1 रुजूअ शवद् ब 'लथ लेक्चर पानशाओड्डम ऑन हिन्दू' (अज़् राधाकृष्णन) तजना अज़ एम्० इल्यू० शामस्त साइयजात १९२८ सफ़्हा ६।

2 रुजूअ शवद् ब इन्साइक्लोपीडिया आफ़ इरानियन् रिलिजन्स (अज़् थार्वोजाम) आइयजीन १८८३ सफ़्हा ९।

3 ज्याग्रिसस ऑफ़ स्ट्राबो' नि० १ इदान् हमद् मूसान् (अज़् वूल होयर) आइरनाग १८८६ सफ़्हा २०२।

मवाजे यदान' वसील्-ए एस्त अज़् बराय रसीदन् व मआनि तकरीबी आ हा ज़ुबान्-ए अविस्ता दर अहृद्-ए सासानियान् कि तफ़सीर्-ए आँ दर् आँ अहृद् नविश्त शुद. मतरूक् बूद' । मुफस्सरीन्-ए आ ज़मान् दायम्न बनाचार व तफ़सीर्-ए सुन्नती किताब्-ए मुक़द्दस् कि अज़् पुश्त व पुश्त व आ ना रसीद बुद. इक्तिफ़ा कुनन्द । बख़ुसूस् तफ़सीर्-ए पहलवीय्य-ए गाथा कि अज़् कदीमूस्तरीन् बमुश्किल् तरीन्-ए अजज़ाय अविस्ता अस्त । दूर अज़्मानीये हक़ीक़ी मतलहहाये पैग़म्बर्-ए इरान् अस्त। अस्मां तफ़सीर् व तर्जुमा-ए पहलवी सायर्-ए क़िस्मत् हाये अविस्ता कम् व वेश नज़दीक् बमतन अस्त ।

नई कि फक़त् अज़् बराये नमूदन्-ए मानीये हक़ीक़ीये कलमात व जुम्लात्-ए अविस्ता मुहताज् व मास्करीत् हस्तेम् । बल्कि अज़् बराये दर यावीदन्-ए मतालिब्-ए अविस्ता ग़ैर अज़् गाथा नीज़ नयाज़मन्द-ए अदबीय्यात्-ए क़दीम्-ए हिन्द हस्तेम् । यक् रिश्त: अज़् मुन्दर्जात-ए अविस्ता ये मुत आख़ब़र् व बग़िन-ए वेद व किताब्-ए रज्मीये-हिन्दुआन् महाभारत हल गर्दीद् । चुनाँ कि मीदानेम ज़र्तुश्त उसूल्-ए केश-ए क़ुहुन-ए आरियाई रा तग़्यीर् दाद ईरानियान् रा व परस्तिश्-ए आफ़रीदगार्-ए यगान. रहनमून् गश्त व गाथा कि अज़् सरोदहाये-ख़ुदा-ए पैग़म्बर्-ए ईरान् व हावी ये तालीमात्-ए ओस्त गोया-ए ई तजूदीद व तग़्यीर अस्त । अस्माँ क़िस्मत हाये दीगर अविस्ता व ई कि दाराये उसूल्-ए ज़रतुश्ती अस्त बख़ूबी याद आवरे केश्-ए कुहन-ए आरियाई अस्त । व गिरोह्-ए अज़् ईज़दान या फरिश्तगान् व बसा अज़् देवहाय् आँ हमाँ पर्वर्दिगारान्-ए आरियाई हस्तन्द । व दरकुतुब्-ए दीनीये बरहमनान नीज़ दाराये नाम निशान् मी बाशद् । शके नीस्त कि दानिशमन्दान्-ए वेदनीज़ अज़् कुतुब-ए दीनीये क़दीम्-ए ईरानियान् बे नियाज् नेस्तन्द । ख़्वाह अज़् लिहाज्-ए इल्म्-ए इश्तिकाक व ख़्वाह अज़् लिहाज्-ए मआनी व मुहतवीयात्-ए गुज़िश्त' अर्ज़ी विना व तहक़ीक़ात-ए मुस्तश्रिकीन् क़िस्मत्-ए अज़् कुतुब्-ए वेद दर् ईरान् ज़मीन् नविश्त: शुद: । व बिर्खे अज़् ऋषिया सरोद्-गोयान्-ए वेद ईरानी बूद: अन्द । व बसादर ई सरोद् हा रुह्-ए ईरानी हुक्म फ़रमाँ अस्त ।

वेद व अविस्ता आसारे अस्त अज़् बिरादरान्-ए आरियाई कि इम रोज़ पस् अज़् गुज़श्तने चन्दि हज़ार साल मी हवानेम व मुआवनत्-ए ई दो मीरास्-ए मुक़द्दस्-ए इह सासात व ख़यालात्-ए नियागान्-ए नामवर्-ए ख़ुदरादर या वेम । जुज़् अज़् हमीदो किताब्-ए दोनों आसार्-ए दीगर्-ए कि गोया-ए रवावीत्-ए दरीन्-ए आरियाई हा यानी ईरानियान् व हिन्दुआन् बाशद् दर दस्तनदारेम् । ई दो किताब लफ़्ज़न् व मानन् दलील अस्त कि ईरानियान् व हिन्दुआन् अज़् हर हैस बहमदीगर् नज़दीक् बूद अन्द । इमरोज़: बतौर-ए तहक़ीक़ नमीदानेम् कि आना दर कुदाम् सर ज़मीन् वाहम बसर मी बुर्द. अन्द व कैं अज़् हम दीगर जुदा शुद अन्द । व सबब्-ए जुदाइ-ए आनान् चेबूद. अस्त । दरई मौज़ू नमीख़्वाहेम् दाख़िल्-ए मुबाहसा शुदा यक्मुश्त्-ए हदस् व एहृतमाल् व ख़र्वार्-ए एहृतेमालात्-ए मुहके क़ीन बेयफज़ायेम् । बिर्खे अज मुवर्रख़ीन् तसव्वुर् करद' अन्द कि ज़हूर्-ए ज़रतुश्त व बतवस्तुत्-ए ऊ ब वजूद् आमदन्-ए दीन-ए नौ सबब्-ए जुदाईये ईरानियान् व हिन्दुआन शुद' बाशद् । ई हदस्-ए बे असास् व हेच वजह क़ाबिल्-ए तवज्जुह नेस्त । बिदून्-ए शक् मुद्दत हा पस् अज़् जुदा शुदने ई दुदस्ता अज़् हम दीगर् व मुहाजरत् नमूदन्-ए ईरानियान् व सर ज़मीन्-ए ईरान्-ए पैग़म्बर ज़हूर नमूद ।

नज़र व क़दीम-तरीन्-ए आसार-ए आरियाई हा शबाहत्-ए तअम्मे अज़् हर हैस मियान्-ए ईरानियान् व हिन्दुआन् मौजूद् अस्त । हुमा तौरे कि वेद व अविस्तान मूदार्-ए क़राबत्-ए ज़ुबान-ए आँना अस्त । दर

खमाइस्-ए मिल्लीनीज नमूदार्-ए ख्वेशीय आँना अस्ते व हमूदीगर्। अम्माँ नजर ब तारीख़-ए आँना दरकुमन् ए बाद तफावुत्-ए फाहिश्-ए दर खमाएल् ए आँना दीद मी शवद्। हिन्दुआन् गाश गीर व फैलसूफ व अहले फिकर अन्द। इरानियान् जहाँगीर व पहलवान् व चनाक अन्द। ई तफ़ावुत रा बायद अज़ तमल्लुन् ए आब व हवा ए औतान् ए आना दानिस्त। हिन्दुआन् दर मुहाजरत्-ए ख़ुद ब किनार् ए सिन्द व दश्त हाय पजान रसाद दर् आँ मर जमान् ए बिसियार गर्म व पुर आब व आसाना दर्-ए रोजा न रूय ख़ुद कुशूद दादन्द अज़ ई रु अज़ कोशिश् बाज मादन्द्। अम्माँ इरानियान् कि ब आमियाय मर्कजारुय निहादा बदश्तहाय सैहून व जैहून् दर आमदन्द व रफ़्ता रफ़्ता सरासर्-ए ईरान् जमान् रा फरागिरिफ़्तन्द। व खाक्-ए कम आब व ख़ुश्क रसीदन्द् व तवानिस्तान बिसियार गर्म व जमिस्तान् ए सख़्त सर ख़ुर्दन्द। ना गुजार अज़ बराय जिन्दगी बकार व कोशिश् दर आमदन्द। अफ़कारिज् ए तर्बीईय् ए सरकश्-ए आँना रा मर्द्-ए मैदाँ व दर मुकाबिल्-ए आ चह बद बजिरत अस्त। दिलर व पायदार साख़्त।

ईरान् वैज

इनक व दानेम् कि ईरानियान् पस् अज़् मुहाजरत् ए ख़ुद दर मरकज् ए आसिया ब कुजा धार्-ए इक़ामत् अफ़गन्दन्द् व नख़ुस्तन्-ए सर मन्जिल् ए ख़ुदरा चे गून नामाद अन्द। इ सरजमान् दर अविस्ता गालिबन ए रि य न वै ज नामाद शुद अस्त। जुन् ए अव्वल् ए ई इस्म हुमाँ अस्त कि गुफ़्तेम। इस राज ईरान् गोयम् मानि-ए लफ़्जिये वैज दुरुस्त मालूमनस्त। अम्माँ दर संस्कृत् कल्मा बा ज मौजूद व ब मानिय तुख़्म मी बाशद्। बदमाँ मुनासिबत् मुस्तश्रिक़ान् ए एरिया वैज रा ब मानिय सर जमान् ए तुख़्म व निजमाद्-ए आरियाई गिरफ़्त अन्द। अलबत्ता अज़् बराय ई इस्म् ए मुरक्कब चुनाँ मानाँ या मवानिय दागर अज़् हमाँ क़बील बायद् तसव्वुर नमूद। व अफ़ोद बिरसे कि इ कल्मरा या कल्म ए बीज कि दर सर जुबान् ए आमियान् इरान् अस्त मरबूद दानिस्ता अन्द क़ाबिल ए तवज्जुह नस्त। जोरा कि अन् बराय सहल् ए लुगत् ए मजकूर-शाहिद दर अदबीयात् ए फारसी दरदस्त न दारम्।

ऐरियान वैज व सरासर्-ए ईरान् जमीन् बुज़ुर्ग इतलाक़ नमीशुद। बल्कि इस्म क़ित ख़ाका अस्त कि न ख़ुस्त ईरानियाँ ब आँजा धार् ए इक़ामत अफ़गन्दन्द्। व अज़् आँजा मुतदर्रिजन् पेशतर रफ़्त सरासरईरान् जमान् रा फ़रा गिरफ़्तन्द व बादहा। हम गुमानिक-ए कि दर तेमर्रफ्-ए आना बूद परियन् या ईरान् नामीद शुद अस्त।

वक़्त हमश इक़ामत गाह्-ए अव्वली ख़ुदरा ब नक़ा याद करदन्द। व सुरूर् ए ज़माँ बा सरजासूम ए क़हन् निजाद् ए आना जम्अ् ए मानवी गिरफ यक् क़िस्म-ए बहिश्त्-ए रूय् ए जमीन् तारीफ शुद अस्त, व चूँ रोजगार ए दराज बर आँगुजश्त व तारहाय अफ़्सान दौर ए इ महदरा पि गिरफ़्त दर सर् ए सयान्-ए बाँ शरदाद पैदा करदन्द। बरँ अज मुस्तशरक़ीन् कि इस्म ए इ मम्लुकत् रा बा बाँ हमाँ दास्ताँ आमेख़्ता दी दन्द। जहन ए आँना ब यक् किश्वर-ए मान याँ मुन्तकिल गरदाद्। अम्माँ इमरोज कमतर शक नस्त कि एरियाना वैज इस्म् ए यक् सरजमूम ए बा कि इ अस्त फक़त ब वाक़ेय फ़क़दान्-ए बमाइत बाल् ए अमार ब तौर्-ए महक़ाक़ नमा त्वानम महल्ल ए आँरा मु अय्यन कुनम। दर अविस्ता आमानिये बिसियार अज पजानगाहा ब कोह हा ब रूदहाय ईरान जमान कुदाम महफ़ूज़ मांद। दर सर्-ए नयान् बिर्ई अन् बाहा कि गुवर्रिनान

व जुगराफ़ियून्-ए क़दीम-ए यूनान व रोम नीज अज़् आं हा ज़िक्र कर्द. व दर कतीबये शाहन्शाहान-ए हख़ामन्शी हम याद गर्दीद । व ग्राई कि असामीये क़दीम-ए आं हा हनूज़ मुताबिक़्-ए नाम हाये कनूनिये आं हास्त इश्काले नदारेम् व बिखें दीगर अज़् आ हा कि फ़क़त यक या चन्दी बार दर किताब्-ए मुक़द्दस आमद. व दर कुतुब-ए पहलवी बिदून्-ए हेच किस्म तौज़ीहे तकरार शुद. व दीगर दर हेच जा असर व ख़बर अज़ आं हा नीस्त। नमीतवॉ अज़रूये यक़ीन हुदूद अज़बराये आ हा मुअय्यन नमूद ।

इश्काले कि मॉ इमरोज़. राजे बचुनीन असामाये जाम-ए अविस्ता दारेम दर हज़ार व नीमद साल पेश-अज़् ई हम यानी पेश अज़् इस्तीलाये अरब व ईरान् दर अहद्-ए सासानियान् नीज़ दाश्त: अन्द । ज़ीराकि दर आं अज़मिन अज़् अहद्-ए ज़हूर्-ए मज़्द यस्ना व तालीफ़्-ए अजज़ाये अविस्ता गुज़श्त: अन्द व मसाहत्-ए साल खुर्द: रङ्ग व आब्-ए दास्तानी गिरफ़्त तौर्-ए दीगर जलव: मी नमूद । राजे बयक् दस्त: अज़ अस्माये-जाम्-ए अविस्ता बेना तारीफ़्-ए नक़ीज़्-ए कुतुब्-ए पहलवी कि आविशख़ुर्-ए आ हा रिवायान व गुमान-ए अहद्-ए सासानी अस्त व बसा तारीफ़्-ए शिगिफ़्त आ मेज़-ए कुतुब्-ए मज़कूर बेश अज़् बेश मा रा इमरोज़ व रसीदन-ए हक़ीक़त्-ए मतलब दूर दाश्त व मायये इश्तिबाह मी शवद् । अज़ आ जुम्ल. दर किताब्-ए पहलवीये दीन् आगासी (आगाही) माअरूफ़ व बुन्दहिश् दर फ़स्ल २६ फ़िक़र: १२ सराहतन आमद ।

"ईरान् वेज दरतरफ़्-ए आज़र बायजान् अस्त" अज़्-चन्दी मौज़्-ए दीगर हमीं किताब बर मी आयद कि मुअल्लिफ़्-ए बुन्दहिश् ऐरियन् वेज रा दर् मग़रिब्-ए शुमालीये ईरान मी पिन्दाश्त: अस्त । नज़र् व हमीं तारीफ़्-ए बुन्दहिश् अस्त कि यक् दस्त. अज़ मुस्तश्रिक़ीन व मग़रिब्-ए शिमालीये ईरान् मुतवज्जि शुद. दर आं हुदूद मम्लुकत-राजुस्तन्द कि हम मायये आं जरबायजान् अस्त व ई मम्लुकत इरान अस्त कि व ज़ोम्-ए आं ना हमॉ ऐरियन वैजह्-ए अविस्ता अस्त । दर कुतुब-ए जुग़राफ़ियून-ए ईरानी व अरब ई मम्लुकत गर्रान ज़ब्त शुद व आँ अिबारत अस्त अज़् अल्बान्-ए क़दीम निज़्द-ए क़ुदमाये यूनान व रोम । इस्तख़री कि दर नीमये ऊला क़र्न-ए चहारुम-ए हिजरी मी ज़ीस्त ई मम्लुकतरा अज़् तरफ़्-ए शिमालशर्क़ी व दरबन्द व अज़ तर्फ़्-ए मग़रिब बतिफ़ालीस व अज़् तर्फ़्-ए जुनूब व जुनूब ग़र्बी व रूद्-ए अरस् महदूद कर्द: अस्त । याक़ूत कि दर-साल ५७४ तवल्लुद याफ़्त व दर ६२६ दर गुज़श्त ईरान् रा बबास्त ये रूद्-ए अर्स अज् आज़र बायजान मुन फ़सिल कर्द: तमाम राज़ीरा कि अज़् ई रूद अज़् तर्फ़्-ए शिमाल व मग़रिब मशरूब मी शवद अयालत-ए ईरान दानिस्त: अस्त। दर यक् क़र्न बाद हमदुल्लाह मुस्तौफ़ी दर किताब्-ए नुजहतुल्क़ुलूब कि दर साल्-ए ७४० हिजरी नविश्त: शुद: मीगोयद, "देयार्-ए इरान् व मूग़ान वा विलायत्-ए अर्मन व शीरवान् व आज़राबयजान व बहर्-ए ख़िज़र पैवस्त: अस्त ।" दर जाये दीगर गोयद, "अज़् किनार्-ए आब्-ए अर्स ता आब्-ए कर बीनुल्-नहरैन इरान् अस्त ।" पस् अज़् इस्तीला ये मुग़ूल क़िस्मत्-ए जनूबीये-ईरान्-ए क़दीम व इस्म्-ए नीमतुर्की व नीमईरानी क़राबाग़् नामीद: शुद. कि ता कुनून् हम बहमी इस्म ख़्वॉन्द मी शवद । चीज्-ए कि मुस्तश्रिक़ीन रा ब ई अयालत्-ए मग़रिब्-ए शिमाली व ख़ाक्-ए इरान् मुतवज्जि स्वाख़्त न ख़ुस्त हमॉ फ़िक़्-ए १० अज़् फ़स्ल्-ए २६ बुन्दहिश अस्त । कि गुफ़्त म ईरानवैजरा अज़ तर्फ़्-ए (कस्तीक) आज़र बायजान् पिन्दाश्त अस्त । दुवम इस्म्-ए ख़ुद्-ए ई अयालत अस्त कि अज़् ज़मान्-ए क़दीम व इस्म्-ए ईरानीये ख़ुद इरान् नामज़द् बूद अस्त । व आॅ रा अज़् कल्म ऐर्यन दानिस्त अन्द । वले हेचपक् अज़् ई दो दलील रा ऐतबारे नीस्त । ज़ीरा कि मुन्दर्जात्-ए बुन्दहिश् राजे व असामीये जुग़राफ़ियाई बे असास अस्त । इश्तिबाहात्-ए जुग़राफ़ियाई

दर ई किताब कि दर कम ए हरतुम्-ए मोला दी तालीफयाफ़ नजीर निसियार दारद। हम चुनाँ हैअत् ए कल्म् ए इरान क़ाबिल्-ए तवज्जु अस्त। ज़ीरा कि कल्मये ऐर्येन सग्रमूलन् वा यिस्त ईरान् शुद नाशद चुनाँ कि शुद व वतन् ए मा चुनीं रवाँदन शुद अस्त। व ई दलायेल व नदलाल्-ए ई कि इरान हमेश यक् अयालत्-ए गैर्-ए आरियाई नूद। व मुन्दरजात् ए इस्तराबून (Strabon) रानिअ व रुसूम व आदात् ए अहालिय इरान = अल्लानिया गैर् ए ईरानी वूदन्-ए आ नाँरा मानित मी साजद। व अनदन मन्तिका नीस्त कि ई मरजमान महद् ए नख़ुस्तीन् ए तमद्दुन् ए ईरान् तसव्वुर शवद[१]। गिराहे अज् मुस्तश्रिकान् बिना बर मवाद अज नराय तअयीन् ए ईरान्वैज न मशरिक़्-ए ईरान मुतवज्ज शुद अन्द कापर्त (Kiepert) आँ रा दर सर जमीन् ए जुनूब शर्कीय फर्गान एहतिमाल दाद अस्त[२]। गायगर (Geiger) रा अकीद बर ई अस्त कि ईरान् वैज दर मशरिक् ए शिमाली अस्त। हुदूद् ए फरगान, को हिस्तान्-ए हालिय महल्ल ए आँ अस्त व रूद् ए दायती कि दर अविस्ता रूद् ए ईरान वैज अस्त अिबारत अस्त अज जर अफ़्शान्[३]। दानिशमन्द ए मजकूर पस् अज् चहारदह साल दीगर दर सर अकादय खुद साबित माँद मी नवीसद् बतौर इल्म ईरान वैज दर अक्सा हुदूद् ए मश्रिक शिमालिये ईरान् जमान अस्त। व मुमकिन नीस्त कि इरान बाशद[४]।

ताकि ईरान वैजरा दर मश्रिक् ए शिमाला दानिस्त मा नवीसद्। ईरान् वैज बिना बतरतीब्-ए कि दर फर्गर्द्-ए अव्वल वदीदाद् आमद नखुस्तीन-ए इकामतगाह् ए ईरानियान अस्त कि अज आँ जा रफ़्ता रफ़्ता व सुगद् व मर्व व बल्ख व निसाय व हरात व काबुल व हल्मन्द दस्त अन्दाजा करदन्द व पस् अज आँ व ममालिक् ए शिमालीय ईराँ रूय आवुर्दन्द। बिना बतकरीर्-ए दानिशमन्द्-ए मुलादी इरान्वैजरा बायद सर जमान् ए ख्वारज्म या खीव हालिय बिदानेम[५]।

---

१ यक् ए अज् शहराय् ए बुज़ुर्ग व मअरूफ़ अरीन् कि इस् रोन विद्दस्त दमियान् ए सराय दर् किनार्-ए रूद् ए मौसूम अस्त बदअ (बर ज अ = बदअ) इ इस्म मुअरब् ए परता मी बाशद्। नजी शिदगान् ए थमनी नीन इस्म् ए ई शहर रा तुर्नोजकत कर्द अन्द। याकूत मुअजमुल्बुल्दान् नकूल अन् तब्ज नमूद मी नवीसद — बनअह मुअरब् अन् कल्म् ए फारसी अस्त — दार मीं बाशद्यअनी जाये कि बद् (अमीर) निगाह मी दाश्तद।" ला शुद् इ बजह् ए इश्तिका बाजारी अस्त। व बर्द दास्तान् ए मिल्लिये मा नीज दाराय् ए नाम व निशानस्त। व गुफ़्ये शाहनामा अफ़्रासियाब अज् बीम् ए कै खुसरो अज गंग देश गुरेख्त दर् गारे दर् बालाय् ए कोह व निज्दीक् ए बर्दअ पिन्हान शुद। हाम आबिद् दर् हमा कोह मुजनी बूद। ऊ रा दस्तगीर कर्द व कै खुसरौ अज खून् ए पिदरश् सियावुश् इंतिकाम कशीद क रा कुश्त रूजूअ शवद बर जिल्द १ अस्त हा सफ़हा २०१,२१० व व जिल्द २सफ़हा २५१।

२ बहुयर गेओग्राफ़िश् थानूमोदनूप मेर नामन् आरशिर् ला ड्विशापतन् इन् पेरर्यन् फ़गद देल मदीदाद् (अज् पुष० कीपल) मुनातसबर देर के अर्कादेमी मेर विसन्शाफ़्त—१९ दिसम्बर १८५६ सफ़हा ६२१ ६४७।

३ ओस्तीरानिश् कुल्तूर (अज गायगर) एर्लांगन १८८२ सफ़हा ३० ३४।

४ गेओग्राफ़ी फ़ोन इरान (अज् गायगर) मुन्द्रिस देर इरानिशन् फ़िलोलोगी, जि० २ स्ट्रासबुर्ग १८९६ ११०४ सफ़हा ३८९।

५ गेशिश्त मेर 'रिलीगिआन इन् आल्टरतुम जि० २ दि रिलीगियोन बाइ इरानिशन् फ़ोल्कर्न फ़ोन तीले। डुयुश आउस्गाब फ़ोन गरिश्। गोता १९०० सफ़हा ५५ ५६।

यूस्ती नीज़ एहतिमालदाद: कि ईरान वैज हमां ख्वाव ज़ालिस या ख्वारज़्म-ए क़दीमबाशद[१]। गिरोहे अज़ दानिश मन्दान-ए दीगर हज़्यक़् व दलील-ए बहमां नतीज: रसीद: ईरान वैज रा हमां ख्वारज़्म दानिस्त. अन्द। अज़ आँ जुम्ल: दानिशमन्द-ए मअरूफ़ आन्द्रिआस[२] (Andreas) व अक़ीदये उस्ताद-ए मारक्वार्त कि अज़् बुज़ुर्गान्-ए मुस्तश्रिक़ीन व ब ख़ुसूस. दर जुग़राफ़ियाय ईरान्-ए क़दीम अज़ मुअ़स्सिरीन बूद: ईरान-वैज हमां ख्वारज़्म अस्त। व ईं दानिशमन्द्-ए मरहूम साबितबूद कि ग्राक्-ए तूरान (तूर्य) पैवस्त. बख़्वारज़्म बूद अस्त[३]। अज़ख़ुद-ए अविस्ता नीज़ बख़ूबी बर मी आयद कि अज़ ऐरियनवैज: हमां ख्वारज़्म उस शुद: बख़ुसूस सेह् फ़िक़रा अज़ फ़र्गर्द-ए अव्वल्-ए बन्दीदाद गाज़ग्राज व ईं मौज़ू: बिसियार दस्तूर्-ए ढिक़न्-ए अस्त। दर ईं फ़र्गर्द अज़ शांज़द. मम्लुकत नाम बुर्द शुद:। आमेय व आफ़ते कि अहरीमन दर हज़्यक् अज़ आँ ममालिक दर मुक़ाबिल्-ए आफ़रीं निश्-ए नेक्-ए अहूरमज़्दा पिदीद्-ए आवुर्द: ज़िक्र गर्दीद अस्त। दर सर्-ए ईं ममालिक ऐरियनवैज जायद दाद शुद अस्त। यायअसिये सेह् फ़िक़रये ऊला ईं अस्त।

[१]अहूरा मज्दा ब स्पीतमान ज़रतुश्त गुफ़्त। ऐ स्पीतमान ज़रतुश्त हर आँ जाई रा हम कि रामश् देहिन्द नेस्त मन आं जा रा शादमानी बख़्श आफ़रीदम्। ज़ीराकि अगर मनअ़्आ जायगामिश् नदे ज़िन्दगी शादमानी बख़्शहम् तमां आफ़रीदम् हरआईन. हमये मर्दुमान्-ए जहान् ब ईरानवैज रूसी आवुर्दन्द।

[२]नख़ुस्तीन् व बेहतरीन-ए जा व सरज़मीने कि मन् अहूरामज़्दा बि आफ़रीदम ईरानवैज अस्त। आँ जा ई कि रूद्-ए दॉयती-ए नेक मी बाशद् अम्मा अहरीमन् पुर ख्यांत्य दर आ जा बनैयारगी मार्-ए मुर्ग व जमिस्तान् देवदाद बकार आवुर्द।

[३]दह् मादर आँजा। ज़मिस्तान् अस्त, दोमाह ताबिस्तान व ईं दो माह नीज़ सर्द अस्त। अज़ बराये आव सर्द अज़ बराये जर्मी सर्द अज़ बराये गियाह ईं जा अस्त मियान्-ए (यर्कज़-ए) ज़मिस्तान् ईं जा दिल्-ए ज़मिस्तान आँ गाह कि ज़मिस्तान् ब पायान् रसद सैला ब आयद।

---

१. ग्रुंड्रिश देर ईरानिशन् फ़िलोलोगी जि० २ स० ४०१

२. बक़ीद्ये-ए दानिश्मन्द-ए आलमानी आंद्रिआस कि दे अवायिल्-ए माह्-ए अक्तूबर १९३० देर सिन्न्-ए हफ़्ताद व चहार सालगी बारहमत्-ए ईज़दी पैवस्त फ़र्गर्द-ए अव्वल्-ए अश्कानी (२७१-१३६ पेश अज़् मसीह) इंशा शुदा। बमुना-सबत्-ए ईं कि ख्वारज़्म वतन्-ए असलिय्-ए अश्कानियान् बूद. ईरान वैज्-ए क़दीम रा कि अज़ आं हमां ख्वारज़्म इरादा. शुद: दर सर्-ए ममालिक्-ए दीगर ता दाद: अंद। व नज़र्-ए निगारिंद: दलील्-ए कि दानिश्मंद्-ए मरहूम् अज़् बराय्-ए -सुबूत्-ए अक़ीद्-ए ख़ुद आवुर्द: क़ाबिल्-ए तर्दीद अस्त। हरचंद कि ख़ुद मसअला. दुरुस्त व दुरोज बीस्तर दानिश्मदान् ऐरियन वैज. व ख्वारज़्म रा याक्-ए मी दानंद दर् ज़मीन्-ए अविस्ता ईं गून. दावइल्-ए तारीख़ी शवीह व दलील्-ए आंद्रिआस जिक्र कर्दन् बस्त. बतुर्रत्-ए शख़्सी अस्त।

३ 'ईरान शहर' अज़् मार्किट बर्लिन १९०१ व क़ुतुब्-ए ज़ैल नीज़ मुतालाइज शवद—क्लक नोतिस सरल स्लू आंसियान् ग्रौंड दु ज़ुरोअस्त्रिज़्म पार आर्तूर क्रिस्तन्सन् एक्स आक्तोरुम् ओरिअतालुम् जि० ४। एक्ससपर्तुम् पृ० ८२. एतूद सूरल ज़ोरोअस्त्रिज़्म द ल पर्स आंतीक, कोवन हाफ़न १९२८, पृ० ४२-४-४। आल्तीरानिशन् वेरतर बुदन फ़ोन बार्सोलोये शास्त्रबुर्ग १९०४ पृ० ६७-६८ लार्तिकल ख्वारिज़्म' यार डब्ल्यू बार्तोल्द, इंसाइक्लोपीडी द लिस्लाम, जि० २ बर्लिन १९०६।

पस् अज् जिक्र ए ऐरियनवैज दरफ़िक़रात् ए वआद अज़मुमालिक्-ए शिमालशर्क़ी व शर्क़ी ईरान अज सुगद व मर्व व वलख व निसाय (मियान् ए मर्व व वलख) वहरोत व कावुल वग़ैर इस्मबुर्दे शुद अस्त[१]। दरतफसार-ए पहलवी (जद) ई फ़िक़रात मतालिब राजिअ व इरान् वैज व रूदए दायती नया मद हमा क़दर जिक्र शुद कि जमिस्तान् दर ई" मम्लुकत बिसियार मख्त अस्त व रूद्-ए ओं पुर् अज् हशरात अस्त व राजिअ व फ़िक्रय सिवुम एख्तिलाफ़्-ए आरा-ए मुफस्सिरीन् जिक्रशुद अजई" कि बिर्ते दहमाह जमिस्तान रा अज् व रायू ए आव व जमान् व गियाह मर्द मकसूद दानिस्त व बिर्ते दीगर" दो माह्-ए् तिस्तान रा नीज अजवरायू ए आव व जमान् व गियाहे मर्द मकसूद दानिस्त अन्द। मुन्दर्जात् ए मी नू खिरद अक़ाद् ए अरतोर् ए मुफस्सि रान्-ए पहलवी अहद् ए सासानियान् रा तकमियत् मीकुनद। जा ग फ़िदरफस्ल् ए ४४ दरफ़िक़रात १७—२० मुन्दर्ज अस्त, "वदेव् ए जमिस्तान् दर ईरान वैज तवाना तर अस्त व दर दीन पैदा अस्त कि दर इरान् वैज दह् माह जमिस्तान व दो माह तानिस्तान् अस्त व ई" दो माह ताविस्ता हममद अस्त अज् वराये आव व जमीं व जियाह।"

दर फ़िक़रात्-ए मज़कूर बिसियार गरीब व नजर मा रसद कि दर रन्दाफ़् ए मुमालिक अज़ख़ार अज़ मम्लुकत्-ए बिसियार क़दाम व मशहूर या देत शुद बाशद। हर सूरते कि अज् मुमालिक् ए हमसाय्-ए ओं मानिन्द्-ए सुगद व मर्व व बल्ख वग़ैर यक् यक् नाम बुर्दे शुद अस्त। व तीर् ए हतमा तुवान् गुफ़्त कि दर फ़िक्रय मजकूर अज् ऐरीयन वैज हमीं ख्वारज्म कि ख़ीव् ए हालिय बाशद इराद करद अन्द। अम्मा चूँ ह मम्लुकत न खुस्तीन् ए इक़ामत गाह् ए ईरानियाँ बूद व इस्मे कि याद आवुर-ए राजगार् ए क़ुहन्-ए आमर्जबूम बूद नामीद शुद अस्त। दरगुद अविस्तानाज ई" मम्लुकत व इस्म् ए माअरूफ़् ए खुद ख्वारिजम् नामीद शुद, व बामर्द व सुगद् दो मम्लुकत् ए हमसाय अशयक जा आमद। चुनाक दर फ़िक्रये १४ मिहूर यशृत व दर फ़िक्रय पेश अज ओं याअनी दर फ़िक्रये १३ हमीं यश्त ख्वारज्म व मर्व व सुगूद ऐर्याशयन याअना ख्वान व मान या एक़ामता गाह्-ए ईरानियान् शिमुर्दे शुद अन्द।

गुजश्त अज् अविस्ता दलायले तारीख़ीनीज दर दस्त अस्त कि ख्वारज्म अज जमाने बिसियार क़ुहन अज् ममालिक् ए मशहूर्-ए ईरान् जमान् व मरकज्-ए तमद्दुने ए आसियाई मरकजा बूद अस्त। बिना व मुन्दर्जात् ए हरद्त् (Herodotus, 117) पेश अज् तासीस-ए सल्तनत् ए हखामुशियान् याअनी पेश अज् साले

---

१ राजिअ व नी साय दर् तफ्सीर् ए फगद् ए अयल चदीदार दर जिल्दे जुदागान मुफस्सरव साहयत ख्वाहंल नाशत। दर् ई जा मुख्तसस् मी निगारेन् दर् तफ्सीर् ए पहलवी (जद) रातिआ व माँ आमद। 'अज ह" कि नी साय मियान् ए मर व बल्ख कैद शुद बाय् ए ईं अस्त कि मम्लुकत् ए दीगर हम बहमी इस्म अस्त नमीन् ए क़दीम चद्दी अहल चुनीं नामनद बद। अज् आ जुम्ल दायश् ए बुजुग दर कर्ताय् ए निसुनून अज् यक नी साय दीगर इस्म बुर्दे गोयद् 'गुमाताम् ए मुल्क रा कि व इस्म् ए वदिया पिसर् ए कौरश सल्तनत रा मख्य बद बूदमन उ रा दर बहुन् माहए् वाग यादी (मुताबिक २६ सितम्बर ५२२ पश अज मसीह) धा तन् अज् पैरवान् ए खुद्दग दर किलअम् ए मास दर पहलवी निसामियानक ख्वाद शुद अस्त। रजूअ शवद् ब ईरान् शहर अज माकट सफ्हा ७८ अरयानम् मासहिनुस् २१ ५२० कुन्नर वलामन् फ़ोन हेन् सफ्हा ३२।

पानसद व पिन्जाह व नुह (५६६ पेश अज़मसीह) ख़ारज़्म दाराये नाम व निशान व अहमियत बूदः अस्त। राजेअ् बअहमीयत व सुहरत व क़दामते तद्दुन्-ए ख़ारज़्म अज़् कुतुब्-ए दीनीये ईरानियान व मुन्दर्जात-ए मुवर्रख़ीन्-ए क़दीम्-ए यूनान शवाहिद्-ए ज़ियाद मीतुवान् इकाम नमूद। दर ईं जा मौक़ये जिक्र्-ए तारीख़ ईं सर ज़मीन् नीस्त।

राजिअ् व क़दामत्-ए ख़ारज़्म सुन्नत्-ए अबूरैहान् बेरूनी दर आसारुल् बाक़िय: (सफ़ा ३५) ज़िक्र मी कुनद अज़ई कि निज़द्-ए ख़ारज़्मियान् वुरूद्-ए सियावुश पिसर्-ए कैकाऊस मब्द्-ए तारीख़ बूदः अस्त। व अिबारत्-ए दीगर तासीस्-ए अिमारत्-ए ख़ारज़्म रा कि दर नुह सदव हश्ताद साल पेश्-ए इस्कन्दर मी दानिस्तन्द मब्द्-ए तारीख़ मी शुमुर्दन्द। दर सूरते कि दस्तयाफ़्तन्-ए इस्कन्दररा व ममालिक्-ए शर्क़ीये ईरान व कुश्त शुदन्-ए दारयूश्-ए सिवुम् आख़िरीन्-ए पादशाह्-ए सिलसिलये हख़ामशी रा किदर साल्-ए ३३० पेश अज़् मसीह् वाक़िअ् शुद बशुमार आवुरेम्। तमद्दुन्-ए ख़ारज़्म व हज़ार व सीसद व दह (१३१०) साल पेश अज़् मसीह मीरसद। दर अविस्ता व दर कुतुब्-ए दीनीये पहलवी ग़ालिबन् बफ़िक़राते बर मी ख़ुरेम कि गोयाये जम्बये तक़द्दुस्-ए ईरान् वैज व रूद्-ए आ दायती मी बासद ख़ाकेस्त महल्ल्-ए नुज़ूल्-ए पर्तव्-ए जलाल्-ए आहूरामज़्दा व ईज़दान् यहद्-ए तमद्दुन् व दीन्-ए ईरान् अस्त। पैग़म्बर दर किनार्-ए रूद्-ए ईं सरज़मीन् व इल्हाम्-ए ग़ैबी रसीद। यलान् व नामवरान् दर किनार्-ए आब्-ए ईं ख़ाक ईज़ादान् रा सुबूद. व नज़्रनमूद. रुस्तगारी व कामयाबी दरख़्वास्तन्द। अज़् ऑजुम्ल. दर फ़र्गर्द्-ए २ वन्दीदाद दर फ़िक़रात्-ए २०—२१ आमदः। "अन्जुमन्-ए गिर्द्-ए अहुरामज़्दा व ईज़दान्-ए मीनूवी दर ईरान वैज मशहूर (दरऑजाये के रूद) नेकदायती अस्त।

व ईं अन्जुमन् दर आमद्-ए दादार-ए अहूरा मज़्दा बा ईज़दान्-ए मीनवी दर ईरान् वैज-मशहूर नेक दायती अस्त। व ईं अन्जुमन् दर आमद-ए जमशीद्-ए दारिन्द-ए रमये-ए ख़ूब बा बेहतरीन्-ए मर्दुमान् दर ईरान् वैज मशहूर (दर ऑ जाए कि रूद) नेकदायती अस्त।"

दर फ़िक़रात्-ए बाअ्द आमदः कि आहूर मज़्दा जमशीद रा अज़् ज़मिस्तान्-ए सख़्त्-ए आइन्दः व आसेब याफ़्तन्-ए जहान् अज़् ऑ आगाह साख़्त व बरू दस्तूर दाद कि अज़् बराये निजात याफ़्तन् अज़् बला व रिहानीदन्-ए आफ़रीदगान्-ए ईजदी वरजिम्कर्द बिसाज़द् व बा चन्दतन अज़् यारान व बा रमये अज़् चारपायान्-ए नेक दर ऑ बाग़ शवद। आतिश व तुख़्म्-ए गियाहहा व रूई-दनीहा रा नीज़ व ऑ जा बुर्दः निगाह दारद।[1] दर सुन्नत्-ए ईरानियान् ईं बाग़ दर हमाँ जाये कि अहूरा मज़्दा जमशीद रा अज़् तूफ़ान्-ए आइन्दः आगाह नमूदः साख़्तः शुदः अस्त। दर मीन् ख़िरद दरफ़स्ल्-ए ६२ फ़िक़्-ए १५ आमदः, "वरजिम्कर्द व ईरान् वैज दर ज़ेर्-ए ज़मीन् अस्त। दरयस्ना ६ फ़िक़्-ए १४ आमदः "न ख़ुस्त ज़रतुश्त्-ए नामदार दर ईरान् वैज चहार बार यता अहू विसरूद।" चुनानक् अज़ईं फ़िक़्ये पैदास्त पैग़म्बर दर ईरान् वैज मशहूर बूदः व

---

१. राजिअ् व देव मल्कूश (महरकूश) या देव्-ए ज़मिस्तान् कि न मंजिलम्-ए तूफ़ान्-ए नूह अस्त व बाग़-ए मअरूफ़्-ए वरजंकर्द कि बताय्-ए नूह अस्त व जिल्द्-ए अव्वल यश्त हा तफ़सीर्-ए निगारिंदः व सफ़हात १८२-१८९ मुलाहज़. गरदद्।

नगुस्त दर आँजा व मलूदन् ए नमाज्-ए मअरूफ यथा अहू कि अज् अदअियय निसिभार शगफ अस्त लब वि कुशूद।

हमचुनीं दर फर्गर्द् ए १९ वन्दीदाद दर फिकरात् ए १ व २ आमद कि अहरामन् ए तबहकार दाव् ए दरोग रा हमराहिम-ए चन्द दीव् ए दागग अज् बराय कुश्तन् ए जरतुश्त बरा अङ्गेख्त। जरतुश्त दर मुकाबिल् ए आनान लब ब सिताइश् ए कुशूद। यताअहू निसरूद व आनहाये नेकदायती रा निसुतूद। ग यदान् ए मज्दयस्ना इअतिराफ नमूद। दीव्-ए दगग व हमराहानश् शिकस्तयाफ्त बगगश्तन्द[1]।

दर पुन्द हिश् दर फस्ल ए ३२ फिक्रय ३ मुन्दर्ज अस्त, आँ गाह कि जरतुश्त दान् ए गुद आवुर्द नगुस्त दर ईरान् वैज मरासिम्-ए सिताइश बजा आवुर्द व मदयू माह अज्ऊ दान् पिजोरुफ्[2]।

दर आबान् यशृत् दर फिक्रात् ए १७ व १८ आफरीदगार् ए अहूरामज्दा दर ईरान् वैज दर किनार्-ए रूद् ए नक दायती व ईजद आब् ए नाहीद दरूद व आफरीन ख्वाँद दरख्वास्त कि जरतुश्त पिसर् ए पूरूशसप् रा दर पिन्दार व गुफ्तार व किरदार दान् दार साजन। हम चुनीं दर फिकरात्-ए २ व ३ रामयशृत आफरादगार ए अहूरामज्दा दर ईरान् वैज दर किनार्-ए रूदे नक दायती व ईजद् ए हवा इन्द्र वायु दरूद व आफरान् ख्वाँद ख्वास्तार शुद कि नचार लुदन् ए अहरीमन् कामर वा गर्दद। दर आनान् ए यशृत दर फिक्रात्-ए १०४ १०५ जरतुश्त पस् अज् बजा आवुर्दन् ए मरासिम् ए सिताइश् दर ईरान वैज दरकिनार् ए रूद् ए दायती नेक दरख्वास्त कि ब दान दराउर्न ए कैगुश्तास्प पिसर्-ए लुहरास्प कामियाब गर्दद।

दरफिकरात्ए २५ व २६ गोश यशृत पैगम्बर्ए ईरान् पस् अज तकदीम नमूदम्-ए नुजूरात्-ए माही व मअनवाये खुद दर ईरान वैज दरकिनार् ए रूद् ए नेकदायती अज् फिरिश्तये मुअक्किल-ए चारपायान्-ए सूदमन्द दर्वास्प दरख्वास्त कि हूतिसए नेक व आजाद जन् ए केगुश्तास्परा नेदान् ए मज्दयस्ना दर आवुरद व पिन्दार व गुफ्तार व किरदारश् रा मुताबिक्-ए उसूल् ए दान कुनद[3]।

जरीर फिसर्-ए लुहरास्प निरादर् ए कै गुश्तास्प दर फिकरात्ए ११२-११३ आनान यशृत व दरफिकरात् ए २९-३० गोश यशृत दर किनार्-ए आब् ए दायती फिरिश्तगान् ए यशृहाय मजकूररा सुतूद व नज्र तकदीम कर्द दरख्वास्तन्द कि ब हुमायुदान् ए खुद् ए अर्जास्प बादशाह ए तूरान व बनामवरान् ए दागर्-ए तूरानी देव् ए यस्ना दस्त यावन्द व दर पैकार-ए आना पीरोजमन्द बदर आयन्द[4]। अज फिकरात् फौक तअजीम व तकरीम ए ईरानियान् निस्बत ब ईरान् वैज पैदा अस्त। हम चुनाँ अज् फिकरात्-ए फौक्ए फहरन् जहनमा बमशरिक् ए ईरान जमीन मुन्तकिल माशवद्। इ मल्लुकत व रूदस रा दर हमां हदूदे कि सर जमीन् ए दास्तान ए मिल्ला व दीन् ए मज्दयस्नी अस्त बायद तमव्वुर कर्द। ममालिक कि इमरोज

१ रनूय शवद् व जिल्द् २ वरतहा सफ्हा ३७ ३८।

२ मयोमाह पिसर् ए अम्मू ए जरतुश्त आम्र व नख्तुस्तीन् कस् ए अस्त कि ब पैगम्बर इमान् आवुर्द। रनूय शवद् व जिल्द २ वरतहा सफ्हा ८०।

३ ब फिक्रय् ए ४९ अर्थ वरत नीन मुलाहज शवद्।

४ व फिक्रय् ए ६१ अत वरतनीन मुलाहज शवद्।

तुर्किस्तान्-ए रूसिय नामीद: मीशवद व कुल्लीयये मुमालिक-ए शिमाल शर्की व शर्कीये ईरान् व दर जुज़्व्-ए आँ क़िस्कते अज् ख़ाक्-ए अफ़ग़ानिस्तान व सरज़मीन-ए नश्व व नुमाय-ए दीन्-ए ज़रतुश्ती अस्त व हर्मी ममालिक नीज सरज़मीन-ए दास्तान्-ए मिल्लीये मा व मैदान्-ए कारज़ार्-ए यलान व नामवरान् अस्त शिमाल्-ए ईरान् व खुसूस अमालत हाय्-ए गीलान् व माज़न्दरान् दरतारीख़-ए दीनीये ईरान् मस्कन-ए देव हा नामीद शुद: अस्त। जोरा कि दर ईं सरज़मीन् हा दर अरान पेश अज़ महाजरत्-ए ईरानियान व आँजा एक़ामत गाह्-ए अक़वाम्-ए गैर्-ए आरियाई बूद' व चूँ बदीन्-ए जरतुश्ती न बूद: अन्द निज़्द-ए मज़दयस्नान दरोग़परस्तान व पैरवान्-ए देव ख्वाँद: मीशुद: अन्द।

दर तारीख़्-ए दीनी अज़ जुनूब-ए ईरान् अस्ला सोहबते नेस्त अज़ हेचक् अज् एयालत—हा व कोहहा व रादेहाये आँ सामान दर क़ुतब्-ए मुक़द्दम नाम व निशाने नेस्त। दर ईं जा बायद मुतज़क्किर शवेम् कि अज़ फ़िक़रात्-ए मज़कूर न बायद चुनीं पिन्दाश्त कि खुद पैगम्बर अज़मशरिक्-ए ईरान् बाशद। चुनानक् दर सुन्नत अस्त। व दलायिल-हम दर दस्त अस्त ज़रतुश्त अज़ मगरिब्-ए ईरान् बूद: व तरफ़्-ए मशरिक्-ए सरज़मीन् अन्जाम्-ए मक़ासिद-ए रिसालत्-ए ऊस्त व दर वापसीन्नीज़ सोशियन्त हा यअनी मसौऊद मौऊत हाये ज़रतुश्ती अज़ मशरिक्-ए ईरान् अज़किनार-ए दरिया चहरा हामून दर सीस्तान् ज़ुहूर ख़ाहन्द नमूद।

अज़् यक रिश्त मुन्दर्जात्-ए क़ुतब-ए पहलवी व पाज़न्द-ए नीज़ बर मी आयद कि ईरान् वैज दर मशरिक्-ए ईरान् ज़र्मान् अस्त। अज़ आं जुम्ला दर मौन् ख़िरद फ़स्ल्-ए ६२ दर फ़िकरात्-ए १२—१४ आमद,—"गङ्ग दिभ्र दर सरहद्-ए वैमन्द ईरान् वैज अस्त।" चुनाँकि मींदानेम् गंग्-ए दिज़ बिना बदास्तान्-ए मिल्लीय् मा साख़्तय्-ए सिआवश व पिसर्-ए कैकाऊस व दामाद्-ए अफ़रासियाब अस्त व ‹गाख़्वारज़्म व पैरामून्-ए आँ इर्तिबातदारद[१]। दर फ़स्ल-ए ६२ मैनूख़िरल दर फ़िक्रये ३१ मुन्दर्ज अस्त'—'गोपतशाह दर ईरान् वैज अन्दर किश्वर्-ए ख़ूनी रस् (किश्वर्-ए-सर्कज़ी) अस्त।" दर दादस्तान्-ए दीनीक् दर फ़स्ल् ए ९० फ़िक्र-ए ४ आमद:—'सल्तनत-ए गोपतशाह दर कम्मलुत्-ए गोपत मुजाविर्-ए ईरान वैज दर किनार्-ए आब्-ए दामती मी बाशद।" दर दीनकर्द दर किताब्-ए नहुम दर फ़स्ल्-ए १६ फ़िक्र-ए १४ आमद'—'गोकपत दर मम्लुकत्-ए खारिज: अस्त।" लीबुद अज़् मम्लुकत्-ए ख़ारिज तूरोन इराद: शुद कि दर बालाये ख़्वारिज़्म वाक़िअ् अस्त। जीरा गोपतशाह पुनवान-ए अगरीरस् व पिसरश मी बाशद। चुनाँकि मीदानेम् अग़रीरज़ पिसर्-ए पुशग बिरादर्-ए अफ़रासियाब व कर्सयूज़ सिपह बद्-ए तूरान् बूद' व अज़नेकाँ शुमुर्द शुद:मुहब्बत-ए मख़सूसी बा ईरानिया दाश्वत बहमी जुर्म अफसियाब ऊरा कुश्त। व गुफ़्ये बुन्दहिश दरफ़स्ल्-ए ३१ फ़िक्-ए २० 'अज़ अग़रीसरस् गोपत शाह ब वुजूद आमद।

दर फ़िक्र य्-ए २२ फ़स्ल्-ए मज़कूर्-ए बुन्दहिश् मुन्दर्ज अस्त अफ़रासियाब अग़रीरस् रा अज़ बराय्-ए ख़तायश कुश्त दर पादाश् ख़ुदावन्द पिसर-ए चूँ गोपतशाह ब ऊ दाद।

ख़ाकि गोपतशाह दर किताब्-ए बुन्दहिश् सौकबस्तान् नामज़द गरदीद। दर फ़स्ल्-ए २९ फ़िकर्-ए पेंजुम्-ए आँमुन्दर्ज अस्त—"अग़रीरस पिसर-ए युशङ्ग दर मम्लुकत्-ए सौकबस्तान् अस्त। व ऊरा

---

१ रुजूअ शवद व जिल्द्-ए अव्वल यश्तहा सफ़हा २१९-२२०।

गोपतशाह ख्वानन्द।" वले 'बुन्दहिश्' ईं मम्लुकत रा तौर तअरीफे कर्द कि बा कुतुब्-ए दीगर-ए मजकूर मुवाफिक अस्त। चे दर फस्ल्-ए २९ फिकर्-ए १३ मीनवीसद—"मम्लुकत्-ए सौकवस्तान् दर मर्-ए राह्-ए तुर्किस्तान एवमरफ्-ए चान वाकिअ अस्त।" बिना व फिकरात्-ए फौक ईरान्वैज दर अक्सा बिलाद्-ए ईरान् जमीन मुजाविर्-ए खाक्-ए तूरान् अस्त। व जौक्-ए सलीम नीज चुनाँ हुक्म माकुनद कि ईं मम्लुकत दर हमाँ मामान् नाशद न दर जाय्-ए दीगर।

गुफ़्तेम् बर खिलाफ्-ए मजमूअ्-ए ईं कराइन् कि हमा मा रा ब मशरिक्-ए ईरान मुतवज्ज मी साजद दर 'बुन्दहिश्' सराहतन् ईरान् वैज दर तरफ्-ए आजरबायजान अस्त। बिना ब मुन्दर्जात्-ए हमीं किताब हम दर फस्ल्-ए २० फिक्र्-ए ३२ रूद्-ए दार्जे मानिन्द्-ए रूद्-ए दायती दर ईरान्वैज अस्त। दर किनार्-ए आँ खान-ए पूर्वशस्प पिदर्-ए जरतुश्त बूद। व बाज दर फस्ल्-ए २४ फिक्र्-ए १५ हमाँ किताब आमद—रूद्-ए दारज रूद (बुजुर्ग व सर्वर) रूद्-ए जारान् अस्त। जाराकि खान् व मान्-ए पिदर्-ए जरतुश्त दर किनार्-ए आँ बूद व जरतुश्त दर आँजा जाईद शुद।" अज् रूद्-ए दारर्जे दर खुद अविस्ता व कुतब्-ए दीगर्-ए पहलवी याद शुद। अम्मा जिक्र न शुद कि रूद्-ए ईरान् वैज अस्त। दर फर्गर्द-ए १९ वन्दीदाद दर फिक्रात् ४ व ११ ई रूद दरिजा नामीद शुद व रूदस्त कि बर जहर या नरपुश्त व बुलन्दीये ऑरसानय पूर्वशप पिदर्-ए जरतुश्त बूद। कलिमय अविस्ताई जन कि दर वन्दीदाद दर फिक्रात्-ए मजकूर व मअनिये पुश्त व बुलन्दा अस्त। दर बुन्दहिश् जार शुद कि नमअनिये किनार व साहिल अस्त। दर फस्ल्-ए २० आद मरपरम् अज् मुकालमय्-ए हफ़्त अम्शास्पद बा जरतुश्त सुखुन रफ़्त कि हरयक् नौबत ब नौबत बा पैगम्बर गुफ़्त व शुनीद दाश्तन्द। दर फिक्रात्-ए ७ आँ आमद कि न खुस्तीन्-ए मुकालमय-ए जरतुश्त बा अहूरामज्दा दर किनार्-ए आब्-ए दायती बूद अस्त। दर फिकरात-ए बअद अज मुकालमय अमूशास्पन्दान् बहमन व उर्दीनहिश्त व शहरवर् व सिपन्दार-मज व 'खुरदाद' कि हरयक् दर्जाय मुअय्यन सूरत गिरफ़्त जिक्र शुद अस्त। दर फिक्रये १० अज मुकालमय-ए आखिरीन्-ए अम्शासपन्द अमरदाद याद शुद मुन्दर्ज अस्त—"अमरदाद दर किनार्-ए रूद्-ए दारर्जे व दरकिनार-ए आब्-ए दायती व दर जाहाय-ए दीगर बाजरतुश्त गुफ़्तगू नमूद।" नजर बईं कि दर सुन्नत कि मुत्तकी ब दलायिले लुगवी हम मायाशद जरतुश्त अज् आजर बायजान बूद बायद दार्जे रा कि दर जवार्-ए आँ पूर्वशस्प पिदर्-ए जरतुश्त मजिन दाश्त यके अज् रूदहाय्-ए आँ मामान् बिदानेम्।

अम्मा रूद्-ए दायती कि गालिबन् दर अविस्ता व दर कुतुब्-ए पहलवी[1] रूद्-ए ईरान् वैज कैदशुद निज्द-ए दानिश्मन्दाने कि ईरान् वैज रा अरान् यके दानिस्त शुद आँरा ब तफावुत्-ए आरा दरू अर्स या कुर्व या सुफाद

---

1 रूद्-ए दास्त मायहूम नीस्त कि बुज्जाम यज रूद हाय्-ए आजरबायजान अस्त। हदम रि जैक्सन दर मुकाम्-ए या जन रनय शवद् व तरास्पर दि प्रापेट आफ पर्शियट ईरान। अन् जक्सन सफ्हा १६४ १६५ 'पर्शिया पास्त अज प्रेजण्ट' अज नवसर युयार्क १०६ सफ्हा १६० १६१।

रूद् दानिस्त. अन्द[1] व आनानें कि व फ़र्ग़ान मुतवज्ज शुद. बाय्द-ए ज़ब अफ़ग़ान् यके दानिस्त: अन्द दर सूरते कि ईरान् बैज हमाँ ख्वारज़्म या ख्वीव हालिय बाशद बायद दायतीरा रूद या शिकोह-ए आमू दरिया कि जैहून हम गुफ्तः मीशावद विदानेम । ईं रूद दर ईरान् वेज व मञ्ज़िल-ए रूद-ए उर्दुन् अस्त दर फ़लस्तीन् । चूँ पैग़म्बर दर किनार्-ए ईं रूद्-ए मुक़द्दस् बइल्हाम रसीद[2] अज़ ईं जिहत आग व इस्म-ए दीनी नामीदः अन्द । दाइत्या अज़् रेश-ए कलमय-ए दात (दाद = क़ानून) व मअनी मुआफ़िक्-ए क़ायदः व मुताबिक्-ए क़ानून अस्त । व बहमी मअनी दर तजकीर दाइत्य कि मिफ़न अस्त नूर जुदागान: विसियार् दर अविस्ता इस्तिअमाल शुद अस्त । ईं रूद दर पहलवी दायतीक या दायती गरदीद: अस्त । दायती मुकर्रर दर अविस्ता वा मुल्कत्-ए ईरान् वैज जिक्र शुदः व वसा हम विदून्-ए आ आमदः अस्त । गाहे वा मिफ़त वन्गुही कि वमअनी विह् (विह्) व नीक अस्त आमद अस्त । व गाहे हम आब्-ए दायती नामीदः शुदः अस्त । अज़ हमीं सिफ़त् वन्गुही—अस्त कि ईं रूद दर कुत्ब्-ए बुस्ता दर कुतुब्-ए पहलवी विहरूद (विहरूद) नीज़ नामीदः शुदः व निज़्द्-ए चीनियाँ नीज़ चुनी ख्वाँदः मीशुदः अस्त ।

इस्म्-ए अस्ली व ईरानीय-ए ईं रूद बायद वख्श् वाशद[3] कि वमाअनिय-ए फ़ज़ा इन्दः व बालिन्द अस्त । अज़् फ़िअल-ए वख्श कि वमअनिय-ए अफ़ज़ूदन् व बालीदन् व तरक्की कर्दन् दर अविस्ता विसियार इस्तिअमाल शुदः अस्त । दर सांस्किरीत ऊख्शयन्त व दर पहलवी वख्शीतन् मी बाशद । कलम्-ए ऊक्सस कि निज़्द्-ए जुग़राफ़ियून्-ए क़दीम्-ए यूनान् व रूम ज़िक्र शुदः अज़् हमीं कलम्-ए ईरानी अस्त । निज़्द-ए जुग़राफ़ियून्-ए ईरानी व अरब वख्श सरज़मीनेस्त दर किनार्-ए जैहून व वख्शाव रूद यारेअस्त अज़् शुअबात्-ए जैहून । अबूराहान् बेरूनी दर ज़िक्र-ए मोहहा व जश्नहाय्-ए ख़्वारज़्मियान् मी नवीसद् राज़्-ए दहुम् इस्फ़न्द माह निज़्द्-ए ख्वारज़्मियान् जश्नेस्त नाम ज़द् व वख्शन्गाम् व वख्श इस्म-ए फरिश्त-ए अस्त कि निगहवानीय-ए आब बाऊस । व खुसूसः इस्म्-ए फ़िरश्तय-ए मुअक्केल-ए रूद्-ए जैहून अस्त ।[4] अम्मा इस्म्-ए आमू (आमू दरिया = आब्-ए नआभूय:) कि इस्म्-ए दीगरेस्त अज़् बराय-ए रूद्-ए जैहून[5] । आमू या आमूये या आमुल् इस्म-ए यक् कर्वालय-ए

---

१ कुतुब्-ए ज़ैल मुलाहज शवद्.—कोमतार डइवर डस अविस्ता फोन २ पीगल [जि० १ बीन १८६४ सफ़हा १०-१२, ईरानिश् अल्ततु र्खुर्द जि० १ सफ़हा २११ व ६८३ व ६६५ जद अविस्ता अज दार्मेस्तेतर, जि० २ सफ़हा ५-६, जोरोएर दि प्राफ़ेट आफ ऐंशियस् इरिन अज जैक्सन सफह ४१ व १६३-६७ व २११ ; अविस्ता लितरातूर फ़िलोलोगी, जि० २ सफ़ह ३८ डी गेशिश्त ईरान्स अज़ युस्ती सफह ४०२, डी ईरानिश. रिलीगिआन अज् जैक्सन सफ़ह ६२३ ।

२ रजूअ शवद् व दीनकर्द किताब ७ फ़स्ल ६, फ़िक़रा १४ व ज़ादसपरम् फ़स्ल २१ फ़िक़रा ५ ।

३ रजूअ शवद् व,—ओस्तीरानिश बुलत्र अज गायगर सफह ४५ , मजमून आमू दरिया अज बार्तेल्द, आंसिव-लोये दी द लरस्ताम जि० १ ।

४. वल्—ग़ौमुल्—आशिर्-ए मिन्हु (ऐ इस्वदारमजी = इस्कंद माह) । श्रीदुन् लहुन् मुसम्मा बल्शयाम् व वल्श् हुव इस्मुल् —मलकिल्—मुवक्कल्—ए बिल्माइ व खास्ततन् बिनहर्-ए जैहून । आसारुल् बाक़िय सफ़ह २२७ ।

५ बीग्-ए आमूय व दुरुश्ती राह्-ए ऊ ज़ेर्-ए पायम पर्नियात ।आयद् हमीं । आब्-ए जैहून् अज निशांत-ए रून्-ए दस्त । ख़िंग्-ए मा रा रा मियान आयद् हमीं (रूदकी) ।

गैर ए आरियाई बूद । दर तबरिस्तान् माजिन्दरान् ए हालिय । शहर्-ए आमुल् व इस्म् ए हमीं कवाल नामजद् गर्दीद अस्त । अस्लन् इस्म् ए ई कवाल दर फ़ुर्म मर्द या आमर्द बूद कि निज़्द् ए मुअर्रिख़ान् ए क़दीम् ए यूनान् व रूम (मार्दो ई या अमर्दोइ) नामाद शुद अस्त । ई कलम लफ़्ज़न् ?—यअनी मुजिर्र व मुअर्रिब व जियान् रसान् या बिसियार मुजिर्र व बिसियार मुअर्रिब अस्त । इस्कन्दर् ए बुज़ुर्ग चन्दीं बार् बा अनान दर जद् व ख़ुर्द बूद । ताई कि आना रा राम कर्द । बअद पादशाह् ए अशकानी फ़रादान् ए अव्वल आना रा अज् आँजा मुहाजरत दाद दर कफ़क़ाज जाय दाद । यक् क़बीलय ए दागर-ए गैर्-ए आरियाई मौसूम बलापूर अज् नाहियय तावरान (तूस = मशहद) आमद जाय ए आनारा निगिरिफ़्त व इस्म ए ख़ुदरा न आँ मरज़ुमान् दाद तबरिस्तान् नामीद । इस्म कि बअदहा दर रूय ए मस्कूकात ए तापूरिस्ताँन् नक़्श शुद अस्त । शुअबये अज् कवालय ए आमर्द अज् मसन्न ए रूद् ए जैहून व बालातर व तरफ़् ए शर्क़ी साकिन बूद । शहर् ए आमुल या आमूय दर कुरून् ए वुस्त कि इम्मरौज आँ महल्ल् ए चार्जू नामीद मीशवद नीज न इस्म ए ई कवाल नामजद् गर्दीद । व रूद्-ए जैहून न ई मुनासबत् आमूँ दरिया ख़्वाँदा शुद अस्त । तापूर हा व कफ़्क़ाज़हा दर जुज़्व् ए आ ना मर्दुमान् ए अरान् व आमर्दहा अज् साकिनीन् ए अस्लिय ए आँ मरज़ुमानहा व गैर-ए आरियाई बूदन्द व पस् अज् मुहाजरत् ए ईरानियान् व आँ हुदूद तमद्दुन् ए ईरानी गिरिफ़्तन्द व ब दीन् ए ज़रतुश्ती दर आमदन्द[१] ।

बगुफ़्त्-ए याक़ूत जैहून व इस्म्-ए शहर् ए जैहान् नामजद् गर्दीद कि बिना ब आदत् ए ईरानियान् दर ई कल्म अलिफ़ (।) मुन्क़लिब ब वाव (') शुद अस्त । गुफ़्तम दर कुरून् ए वुस्ता नहर्-ए जैहून् रा नीज व रूद् मा नामादन्द । व ई इस्म सिफ़त् ए अविस्ताईय् ए वनगुही कि गालिबन् अज् वराय ए रूद ए दायती आमद अस्त मी बाशद् । दर बुन्दहिश् मुक़र्रिरन् विहरूद (बिहरूद) ज़िक्र शुद अस्त[२] । याक़ूत नक़ल अज् महज नमूद मी नवीसत, इस्म् ए अस्लिय् ए जैहून दर फ़ारसा हरून् मी बाशद । लाबुद ई कल्मा बायद् तहरीफ़ शुद् ए विहरूज (बिहरूद) बाशद् । दर मुसल्ल् ए मुअर्जमुल्बुल्दान् ए याक़ूत चन्दा इस्म् ए ख़ास् ए दीगर राजिअ ब हमीं जैहून ख़राब शुद अस्त । निजद् ए दमिश्क़ी इस्म ए इ नहर न दर रूद नविश्ते शुद । शक्क नस्त कि इ कल्मा हमों विहरूद् अस्त[३] ।

दर अन्जाम् ए मक़ाल अफ़ज़ूद गोयम अज् मजमू ए आँचे राजिअ व इरान् वैज ज़िक्र करदम व ख़ूब पैदा अस्त कि ई मम्लुकत हमों ख़्वारज़्म या ख़ीव हालिय व रूद् ए दायता हमाँ जैहून अस्त दर फ़िक्र्-ए दुवम् अज् फ़र्गर्द् ए अव्वल् ए वन्दादाद कि ज़िक्र अश गुज़श्त दर रदीफ़-ए शान्द मम्लुकत्-ए ईरान् ए शर्क़ी कि दर आँ फ़र्गर्द आमद ख़्वारज़्म न इस्म्-ए दानीय-ए ख़ुद ऐरियन वैज (इरान् वैज) याद शुद अस्त । दार्यूश्-ए

---

१ रुजूअ शवद् ताशीक़ात् ए मार्कट ईरान् शहर चलिन १६०७ सफ़ह १२६ न १३६ व ३११ एनजुशायन ख़ूर गेशिश्त फ़ौन इरान् हिस्सा २ लाइपज़ीग १०६०५ सफ़ह ५७ शाहरिस्तानीहाय् ए ईरान रोमा १६३१ सफ़ह ११० ।

२ रुजूअ शवद् ब बुन्दहिश् फ़स्ल ७, फ़िक़रात १६ व १७ फ़स्ल २० फ़िक़रात १३ ६ ७ ६ ८ २२८,३० फ़स्ल २१ फ़िक़रात २ ।

३ इरान् शहर अज मार्कट १४७ १४८ ।

बुज़ुर्ग दरसिह कतीवय-ए ख़ुद यके दर बासुतून व दोताय-ए दीगर दर फ़ार्स:न्दर तख़्त-ए जमशीद व दर नक़्श-ए रुस्तम दर जुज़्व-ए ममालिक-ए शिमाल शर्क़ी व शर्क़ी कि दर तसर्रुफ़-ए ऊ बूद: शर्याह व फ़र्गदे-ए अव्वल-ए वन्दीदाद अज़ हरात व ख़्वारज़्म व बल्ख व सुग़द यवजा नाम मीवरद हमान तौरे कि दर वन्दीदाद अज़ जमिस्तान-ए बिसियार सख़्त-ए ईरान बैज सखुन रफ़्त: । उस्तख़ी नीज़ ख़्वारज़्म रा सर्दतरीन-ए अयालत-ए ख़ारज़्म नविश्त: । व इब्नुल् फ़क़ीह अर्जा ख़्वाक रा सर्द तरीन-ए ममालिक-ए ईरान् ज़मीन् क़ैद कर्द: अस्त ।

The Aryans and the Indus Valley Civilization

प्रो० डा० आ० बेरिडेल कीथ, एडिनबरा विद्यापीठ

[मोहन जोदड़ो और हड़पा की खुदाई से जिस एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है उस का सम्बन्ध किन लोगों से है ?

यह प्राचीन सिन्धु काठे की सभ्यता यद्यपि पूर्ण रूप से भारतीय है पर इस का सम्बन्ध भारत की अन्य किसी भी ज्ञात सभ्यता से लगाना कठिन है। हड़पा से मिली दो प्रतिमाओं का यूनानी कला से अत्यधिक साम्य होना एक आश्चर्य की बात है जिस की कोई उचित व्याख्या अभी नहीं की जा सकती। इस के अलावा इस प्राचीनतम सभ्यता का सम्बन्ध अब तक ज्ञात अन्य किसी भी सभ्यता से नहीं नजर आता।

लिपि की दृष्टि से सिन्धु-लिपि का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर या आदि-एलम लिपि से है या नहीं सो कहना कठिन है, पर प्रो० लैङ्डन, हण्टर और गैड आदि सभी का यह मत है कि सुमेर या एलम-लिपि और भाषा का सम्बन्ध सिन्धु से बिलकुल नहीं। ये दोनों बिलकुल अलग हैं। इन की तथाकथित थोड़ी-बहुत समानता का कारण दोनों का ही किसी प्राचीन शब्दाक्षर-लिपि या चित्रलिपि से निकलना हो सकता है। अतः इन में समान दीखने वाले अक्षरों की अर्थ-समता भले ही हो ध्वनि कभी एक नहीं। ये लोग ब्राह्मी को सिन्धुलिपि से ही विकसित मानते हैं, पर इन दोनों लिपियों में भी इतना अन्तर है कि इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत प्रमाणों की आवश्यकता है।

सिन्धु-सभ्यता का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर-सभ्यता से किसी तरह भी नहीं माना जा सकता। इस के पक्ष में जो थोड़े-बहुत प्रमाण मिलते हैं उन की व्याख्या पारस्परिक व्यवहार और सम्पर्क रहने से हो सकती है।

इस के बाद स्वभावतः प्राचीन द्रविड़ों से सम्बन्ध होने की सम्भावना होती है। इस का कारण है भारत में मुंडों के बाद द्रविड वंश का ही सब से पुराना होना। दक्षिण भारत के बरतनों के चिह्नों का भी कुछ साम्य सिन्धु-चिह्नों से है। तथा शैव, शाक्त या तांत्रिक मत की प्रधानता भी इस बात को सुझाती है। पर अधिकांश विद्वानों का ध्यान आर्यों से इस का सम्बन्ध खोज निकालने की तरफ़ रहने से, हम प्राचीन आदि-द्रविड-भाषा या धर्म के बारे में अधिक कुछ नहीं जानते। अभी इस दिशा में अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है।

ये लोग आर्य थे या द्रविड इस प्रश्न पर कपाल-मिति से तो कुछ प्रकाश पड़ नहीं सकता। क्योंकि मोहन जोदड़ो से मिले कपालों में आदि-आग्नेय, भूमध्यसागरवर्ती, अल्पाइन, एवं मङ्गोल वंश के अल्पाइन, सभी नमूने पाये जाते हैं।

आर्यों से सम्बन्ध भी किसी तरह सिद्ध नहीं होता। इस भाषा का प्राग्वैदिक संस्कृत या प्राकृत से सम्बन्ध ढूँढ़ना तो क्रीट द्वीप के अभिलेखों से यूनानी भाषा की खोज की तरह ही अकारथ है। शेष इस खुदाई से प्रकट हुए तथ्यों की ऋग्वैदिक ऋचाओं से ध्वनित सभ्यता से तुलना कर के हम किसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं। पर सिन्धु-सभ्यता के ऋग्वैदिक सभ्यता से किसी तरह के सम्बन्ध की कल्पना में सब से अधिक बाधक बात आर्यों का उस (३२०० या २८०० ई० पू०) जमाने में भारत में सम्भव न होना है। डा० नरेन्द्रनाथ लाहा ने आर्यों का भारत में इतना पहले रहना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर वाङ्मय का इतिहास इस के खिलाफ़ गवाही देता है। आर्य लोग भारत में ज़्यादा से ज़्यादा २००० ई० पू० में आये हो

सकते हैं। ऋग्वैदिक भाषा और धर्म की पारस्परिक समता मुख्य कारण है जो ऋग्वेद का काल बहुत परे नहीं हटा दे सकता। हम जरथुस्त्र का काल ज्यादा से ज्यादा १००० ई० पू० मान सकते हैं। ऋग्वेद के सङ्कलन का काल भी ज्यादा से ज्यादा यही माना जा सकता है। अत आर्य भारत में ज्यादा से ज्यादा उस से ८०० या हजार बरस और पहले आये होंगे, जब सिन्धु की नागरिक सभ्यता का ह्रास हो चुका था। वे उस के खँडहरों और भग्नावशेषों में ही आये होंगे। अत उन का कोई भी सम्बन्ध इससे नहीं प्राप्त होता। सर जॉन मार्शल के निम्नलिखित परिणामों से भी यही प्रकट होता है।

१—मोहन जोदड़ो की सभ्यता नागरिक थी। ऋग्वैदिक ऋचाओं के समय की सभ्यता ग्राम्य है। उन में नागरिक जीवन की अभिज्ञता का प्रमाण नहीं। दस्युओं के जिन पुरों का वर्णन आता है वे भी मोहन जोदड़ो जैसे बड़े बड़े नगर थे इस की कोई सम्भावना नहीं। यदि प्राग्वैदिक या वैदिक आर्य ही मोहन जोदड़ो के निर्माता थे तो पीछे से वे वैसे बड़े बड़े नगर बनाना भूल क्यों गये? मेगास्थनेस के समय पाटलिपुत्र जैसे नगर का कोट और खाई लकड़ी का होना क्या अर्थ रखता है?

२—ऋग्वेद में सोने का तो काफ़ी बखान है पर चान्दी का नहीं। इधर मोहन जोदड़ो में सोने की बजाय चाँदी का चलन ज्यादा दीखता है।

३—ऋग्वेद में कवच का और शिरस्त्राण का जिक्र है, गदा का नहीं। पर मोहन जोदड़ो में कवच और शिरस्त्राण अज्ञात हैं, गदा का प्रयोग बहुत प्राप्त होता है। पीछे अथर्व और यजु में गदा का निर्देश आता है।

४—सिन्धु लोग मछली खाते थे, पर वैदिक आर्यों के आमिषभोजि होते हुए भी ऋग्वेद में मछली का खाद्य पदार्थ के रूप में निर्देश नहीं है। अत या तो वे तब तक ऐसे देश में थे जहाँ मछली दुर्लभ थी या मछली खाना निषिद्ध था।

५—मोहन जोदड़ो में घोड़े का अभाव है।

६—शाक्त धर्म की प्रधानता एवं स्त्रीदेवता की मुख्य तौर से पूजा, मूर्तिपूजा इत्यादि ऋग्वेद में अविहित धार्मिक प्रथाओं की प्रमुखता। सिन्धु लोग जिस शिव की पूजा करते थे वह ऋग्वैदिक रुद्र से भिन्न है। उस की समता यजुर्वेदीय रुद्र तथा पिछले शिव से है, जो रुद्र और अनार्य भावों के मेल से बना है।

७—गाय ऋग्वेद में प्रधान है। मोहन जोदड़ो में गाय की जगह बैल की अधिक महिमा जान पड़ती है।]

The problems which have been set for us by the excavations at Mohenjo daro and Harappa are at present beyond solution and it may be hoped that much light will still be shed on them by further excavation which may reveal the true extent of the culture thus revealed At present the whole of the questions involved are still largely in dispute There is even controversy as to the relation between the Indus script and the Sumerian and Proto Elamitic signs it has been denied admitted with doubts or asserted as certain But even Dr Hunter admits[1] that it is probable that the languages are unconnected and that the phonetic value of the signs may well be different The Sumerian and the Indus signs on his view, go back to a common ancestor which was in an ideographic or pictographic stage, with the result that any parallels between the signs of its descendants would indicate an ideographic and not a phonetic relationship Professor Langdon[2] and Dr Hunter, however, are in agreement that Brāhmī is derived from the Indus script But it must be confessed that the proof of this relationship is far from cogent to the eye, and further evidence seems sadly needed, as also for the latter's claim[3] that the Sabaean script, which ultimately explains some of our letters, is to be traced back to the Indus script Dr Hunter again claims to

[1] J R A S 1932 p 483

[2] *Mohenjo daro and the Indus Civilisation* p 423

[3] J R A S 1932 p 493

be able to isolate words names and concepts, while this is denied nor is it easy to follow his explanation[1] of accent E as a product of Sandhi, indicating that a syllable properly ending in a soft consonant is to be pronounced with the corresponding hard, and the suggestion that it may well be that the Aryans, on account of this usage, gave it the value of Visarga when they borrowed it The Aryan action seems incomprehensible, and we shall have to wait for any serious proof of the connection of Brāhmī and the Indus script as a matter of direct descent. It may, of course be that all these varied scripts ultimately derive from one remote ancestor and that in that sense Brāhmī and the Indus script are related but the only issue of importance is that of direct descent. Dr Hunter very wisely rejects the suggestion tentatively made by Mr. Gadd[2] that we can find Sanskrit *putra* When we reflect that we are still unable to read a word of the famous Cretan script, it is not to be wondered at if we may long wait for enlightenment on the meaning of the Indus especially when it is asserted with equal assurance that the script has not been worn down to conventional summaries, and that it has so been worn down

The origin of this culture remains a mystery It is natural to suggest that there are close relations with the Sumerians, and to recall the fact that the late Dr Hall[3] conjectured that Sumerians and Dravidians were closely connected. But the fact seems as often, to disagree with plausible theorising There seems a remarkable paucity of evidence pointing to Sumerian influence on the Indus valley While certain seals from the Indus are found in Babylonia no Babylonian or Sumerian equivalents have been unearthed at Mohenjo-daro, and the traces of influence are of the slightest kind Moreover communications by sea are rendered dubious by the absence of any proof that the people of Mohenjo-daro, though they used fish were interested in boats or navigation Was then the Sumerian civilisation derived from the Indus valley, a suggestion thrown out by Professor Langdon[4] as possible? But it seems most improbable Everything suggests that the Indus valley language was different from that of the Sumerians, and the pictographic script seems to have been genuinely Sumerian Neither the use of painted ware nor of the rectangular brick need be regarded as a borrowing from the Indus valley, and all that is known seems to be sufficiently accounted for by a normal amount of intercourse chiefly from the Indus. This would be rather neatly confirmed if the further excavations in old Sumerian sites should bear out the ingenious conjecture[5] that the differences of the inscriptions on the square Indus seals and those on

---

[1] J R A S 1932, p 489 For a more plausible account of the 'accents, see Professor Thomas, J R A S 1932, p 464

[2] *Mohenjo-daro*, ii 413, 414

[3] *Ancient History of the Far East* (1912) pp 173, 174 *Cf* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda* pp 10, 630

[4] J R A S 1931 pp 593—6

[5] Hunter J R A S 1932 p 469 There are only three circular seals with Indus scripts to rely on, and these are too few to prove any conclusion

the circular seals in the Indus script found in Mesopotamia is due to the fact that the former are genuine Indus seals, which reached Mesopotamia by way of trade and the latter are seals made in Mesopotamia by a Sumerian or Semitic speaking person of Indus descent who, though not speaking his ancestral language used the sacred signs for sacrificial purposes engraving his non Indus names in Indus characters in order that the Indus gods might have no doubt as to the identity of the pious donor. This assumes of course, that the seals were largely used for the purpose of marking tampons accompanying sacrifices a conjecture quite plausible.[1] But at any rate for the present the effort to connect the Sumerian and Indus valley civilisations seems premature and improbable.

It is inevitable that the question should be posed whether in the people who lived in Mohenjo daro and Harappā, and presumably in other places in the Indus valley the Panjab, and even further afield, we are to see early Dravidians or Aryans. The evidence to be derived from the human remains investigated on the basis of the craniological tests yields no result whatever, beyond what is coming now to be generally expected the fact of the existence side by side of different skull types. In this case those normally classed as Proto Australoid as Mediterranean as Alpine, and as Alpine of the Mongolian branch, can be recognised. But we have not the slightest evidence to show which of these types, if any, predominated and marked the nature of the population. Moreover, even if we could determine this point which appears quite out of the question we should be confronted by the fact that no one can say with the slightest plausibility what was the Aryan type for the period supposed (3250—2750 B C), or what was the Dravidian type.

Comparison of the civilisation with proto-Dravidian and an effort to decipher the language on the basis of proto-Dravidian are naturally suggested by the general view that Dravidian is an ancient element in India, superimposed on Mundā, and by the fact that some marks on South Indian pottery resemble Indus signs and the apparent prevalence of Çaivism at Mohenjo-daro. Unfortunately the fatal obstacle for the time being to serious progress to definite results along this line of research is the lack of real information as to proto-Dravidian language or religion. We have not the slightest evidence to show that Çaivism was not taken by Dravidians from an earlier stratum of Indian population other than the Indus valley population or borrowed from that population. Our lack of information as to Dravidian origins no doubt explains the fact that so much more effort has been devoted to seeking connections between the Aryans and the Indus valley.

Unfortunately so far any effort[2] to trace the Indus speech to pre-Vedic or old Prakrit has been unsuccessful. At this we need feel no surprise, for the task offers enormous difficulties and all the efforts to find Greek in the Cretan inscriptions have hitherto failed to satisfy anyone save their authors. The evidence therefore which remains is that of

---

[1] Hunter pp 470 471 But there are other possibilities and no *proof* yet available

[2] E g Pran Nath J R A S 1931 pp 671—4

comparison of the civilisation which we infer from the excavations and that which we infer from the early Vedic hymns The first difficulty here unquestionably is one of chronology. "Neither Sanskritists nor Indo-Europeanists will admit of Indo-Āryans in the Panjab at such a date as 3000 B C' is a doctrine[1] *prima facie* valid It is proper therefore that Dr. Narendranath Law in a most valuable communication[2] on this subject should have definitely set about to establish the probability of an earlier dating for the presence of the Aryans in the Panjab. He rejects as too inconclusive the efforts[3] of Professors Jacobi and Tilak to establish the existence of Aryans in India as early as 4500 B C or 6000 B C. and by doing so unquestionably strengthens his argument, for these suggestions, for all their ingenuity can carry no conviction whatever He relies, however, on the passages in the Gṛhyasūtras in which the polar star is pointed out to the bride as a symbol of constancy, and he has, of course, with him in this argument Professor Zimmermann[4] It is urged that Alpha Draconis was, about 2780 B C, the only star bright enough to serve the purpose of a polar star. Unhappily this contention, ingenious as it is, carried no real conviction The Gṛhyasūtras are late works, there is no proof whatever that the ritual on this point came down from any early date, and that it should be necessary to find a bright star actually fairly constant seems to make an excessive demand on the needs of the case All this evidence must, I think, be frankly discarded as having any value whatever, and we must look to the history of the literature and language as affording the sole guide[5]

In this regard it is necessary to consider the arguments adopted by Dr Law from Professor Winternitz,[6] as undoubtedly they afford the best grounds yet adduced for assigning considerable antiquity to the *Rgveda* It is (1) suggested that a very considerable time must have been occupied by the composition for the texts which are compiled in the present Saṁhitā, and that we may have to date the beginning of the development as far back as 2000 or 2500 B C[7] Unfortunately this argument seems to me inconclusive and improbable Most readily should it be admitted that the Saṁhitā presupposes a long period of development, but the number of centuries allowed by Professor Winternitz seems decidedly excessive We are still very much in the dark regarding the date of the compilation of the Saṁhitā Very possibly it may be placed about 1000 B C, though the evidence is not very strong. But need we allow more than five hundred years for the development? Or giving a very generous allowance 800 years? The whole matter is one merely for conjecture, but it seems very hard to find any justification for such a date as 2500 B C Dr Law is attracted to it because he believes in the argument

---

[1] Thomas, J R A S 1932 p 464 *Cf* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda* pp 614—19
[2] I H Q viii, 121-64
[3] *Cf* Macdonell and Keith *Vedic Index* i, 420—27
[4] *Second Selection of Hymns from the Rgveda*, p cxxxi
[5] *Cf* Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp 3—9
[6] *History of Indian Literature* i 293ff
[7] *Ibid* i 310.

from the pole star, but if we reject that as I think we must, the date 2500 seems to be really unjustifiable. But (2) the argument is supported by the repetitions in the *Rgveda* marked out by Professor Bloomfield, and the references in that text to ancient composers of hymns. But here again the repetitions are abundantly accounted for by the admitted fact of a long period of composition, and the earliest seers on any theory were ancient to the latest, and we are not carried beyond 1500 or 1800 B.C. (3) The argument from the relation of the religion of the *Rgveda* and of its language to that of the *Avesta* is a serious difficulty in the way of the early dating of the *Rgveda*. Professor Winternitz suggests that the similarity of religion must not be overestimated, because of course there are many differences of a profound character, and the whole matter can be explained by the fact of the Indians and the Iranians having at one time formed a cultural unity and later having remained in contact despite their distinct development. But the difficulty of language remains serious, especially in view of the view now often asserted that the *Avesta* is of late origin.[1] It is difficult it is suggested to suppose that we can place the *Rgveda* perhaps a thousand years before the *Avesta*. In part of course, this difficulty can be diminished by assuming an earlier date say 800 or 1000 B.C. for the epoch of Zoroaster, and this is probably the proper course to adopt as regards his date. It is quite legitimate to stress the fact that we have in the Nineveh inscription[2] the name Parsuas Persia as the land over which Kuraš was reigning in 630 B.C. and to adduce the archaic character of this form, which may represent the contemporary usage, as a piece of evidence against pushing back the Gāthās to a remote date. But the fact that in the 9th century the same phonetic form is found used of a district in the north west of Persia undoubtedly deprives the instance of probative force, for it may well be that the Assyrian records have merely preserved the ninth century spelling. But taken on the whole it is better to regard the *Rgveda* as going back at most not beyond 1800 B.C. for the composition of the earliest hymns, though these, if now contained in the Saṃhitā, have no doubt been in some degree redacted and certainly cannot have been preserved wholly unchanged.

It may therefore be concluded, with reasonable probability that the Aryans were not in India before or much before 2000 B.C. and may have entered a good deal later. But in any case they certainly, on the present evidence, cannot have come into contact with the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā as a living force, at the most they may have come across degenerated survivals. With this conclusion accords well the evidence adduced by Sir John Marshall, though no doubt the value of it varies.

(1) There is really no ground to suppose that the Rgvedic Indians had any real acquaintance with cities or city life.[3] That their enemies had forts is clear but there is nothing to compel us to assume that they had anything in the nature of Mohenjo-daro. On the other

[1] See Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 614-16.
[2] H. W. Bailey, J.R.A.S. 1932, p. 976 and see p. 239.
[3] Macdonell and Keith, *Vedic Index*, i. 538, 539.

hand city civilisation was doubtless decadent when the Aryans appeared. If the Aryans were the people of Mohenjo-daro, it is really impossible to understand how they ceased to be builders of cities of that type, and how Pātaliputra even in Megasthenes' time was defended by wooden walls and ditches But at least we can say that the *Rgveda* must represent Āryans who did not share in such a relatively high form of civilisation as Mohenjo-daro implies Nor is this in discord with what appears of the geographical position of the Indians of the *Rgveda*, who seem to have in strength at a considerable distance[1] from the main centres of the Indus valley civilisation

(2) It is certainly striking that silver should be more commonly used than gold in Mohenjo-daro, while the *Rgveda*[2] which agrees with the Indus valley in ignoring in all probability, iron, ignores silver, which is known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*

(3) There is a clear distinction in the fact that the *Rgveda* knows of the use of the helmet and coat of mail,[3] but not of the mace as a weapon of war, while the Indus valley ignores defensive armour but has maces both of metal and stone, and maces are known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*

(4) It is certainly noteworthy that the Indus valley folk made use of fish[4] as an ordinary article of diet, which certainly seems to be contrary to the practice of the Āryans of the *Rgveda* The fact is the more noteworthy because both peoples were meat eaters, and suggests either that the *Rgveda* Indians dwelt in areas where fish were few and far between, or that for some reason tabu of fish prevailed among them

(5) The absence of the horse from Mohenjo-daro is of the highest importance as an argument It seems certainly the most probable view that the Aryans were aided in their conquests and their migrations by the horse and perhaps by their defensive armour. Dr. Law[5] realises the importance of the argument from the horse, and suggests that it is invalid, because the omission to represent the horse may be accidental, and in any case it is necessary to prove that, assuming the horse were known to the people, there existed the same reasons for placing its representation on seals as in the case of other animals Neither of these contentions, however, is of much weight The point regarding the horse is that the *Rgveda*,[6] shows its essential importance and familiarity, if there should turn out to be representations at Mohenjo-daro, nevertheless, their paucity would certainly suggest that the horse was a rare animal there and not in very normal use, as among the Āryans Secondly, whatever the purpose of the representations of animals on the seals, it is necessary to suggest some specific reason why

[1] Keith, *Cambridge History of India*, i. 80, 81
[2] Macdonell and Keith, *Vedic Index*, i 197
[3] *Ibid*, ii 271, 272
[4] *Ibid*, ii 121
[5] I H Q viii 160
[6] Macdonell and Keith, *Vedic Index*, i. 42, 43

the horse should not be delineated and Dr Law has not made any such suggestion nor does any plausible suggestion present itself

6 The same considerations apply to the case of the cow, which certainly appears to have possessed for the Indus valley people nothing like the importance of the bull It is perfectly true that the Vedic Aryans prized the bull but there seems to be a clear gulf between the civilisations in respect of the cow If as seems most probable the Indus valley civilisation knew the tiger then the fact that the *Rgveda* does not is probable to be explained simply by geographical difference of habitat rather than by the hypothesis that the *Rgveda* found no occasion to mention the animal Nor is it probable that the animal of Mohenjo daro is merely a hyena [1] The case of the elephant counts far less It is clear that it was rather a novelty to the *Rgveda* but that by the time of the later Saṁhitās it had been tamed, in the Indus valley it was better known but perhaps mainly as an animal used for state purposes [2] the matter is essentially conjectural

7 The differences in matters of religion seems to have been considerable The *Rgvedic* religion is certainly aniconic in principle [3] the fact that fetishes might exist does not destroy this fundamental feature of the organised cult On the other hand iconism seems to permeate the Indus valley civilisation, proving a very different outlook Nor does it seem possible to ignore the importance of the evidence of Çaktism and of the worship of the Mother Goddess in the Indus valley as in Asia Minor Dr Law adduces as a Vedic parallel the case of Pṛthivī but it must be admitted that in the *Rgveda* she plays a wholly subordinate and unimportant part [4] Nor is it illegitimate to regard this predominance of the female divinity as very possibly connected with the stage of society not very happily named matriarchal The *Rgveda* certainly represents a society which was not in such a stage and in which it is very hard to find any suggestion of ever having passed through such a stage [5] It is, of course, of the highest importance to find such clear evidence of the worship of a god whose characteristics so closely resemble those of Çiva both in his relation to animals as Paçupati and in his devotion to Yoga This is not the Rudra of the *Rgveda* and it is impossible to resist the conclusion that he is a deity far more closely allied to the Çiva who appears, developed in part from Rudra, in part from contamination with non-Aryan beliefs in the *Yajurveda* and the *Atharvaveda* [6] It is true of course, that the Indo Aryans were devoted to Yoga practices, but we cannot prove or render it even probable that this was an Aryan attitude, rather we may accept the current view that Yoga was a doctrine absorbed by Aryans, not introduced by them

Other matters doubtless admit of less certainty That the *Rgveda* was opposed to phallus worshippers (*Çiçnadeva*) is *prima facie* correct, but it is impossible to prove that those who

---

[1] *Mohenjo daro* ii 387, 388

[2] *Ibid* ii 388

[3] Keith *Religion and Philosophy of the Veda* p 68

[4] *Ibid* p 174 *Cf* Hopkins *Epic Mythology*, pp 76—81

[5] Keith, *Cambridge History of India* 88 89

[6] Keith *Religion and Philosophy of the Veda* pp 142—50 Hopkins *op cit* pp 219—24

[7] *Cf* Keith *Religion and Philosophy of the Veda*, p 632 n 3

practised such rites were non-Aryans, though, even if Aryans, they may be held to have adopted an un-Aryan practice. What can be said is that this side of religion seems scantily represented in the *Rgveda* and therefore to have played but a minor part in the religion of the *Rgveda*. Again the criticism that in view of the fundamental importance of the god Agni in the *Rgveda* we should expect to find an *Agnikunda* in each Mohenjo-daro home is valid but not wholly conclusive, for the *Rgveda* does not make it certain that such altars did exist in every house. Nevertheless these pieces of evidence are not negligible, and they do support the general conclusion that the *Rgveda* knew a religion which was not that of the Indus valley people. The same conclusion is certainly suggested by the evidence of a human sacrifice to the earth goddess which is afforded by a representation at Harappā [1] for there is no real trace of human sacrifice in the *Rgveda* [2] The Indus valley religion is certainly Indian, but there is no reason to suppose that it specifically was Aryan

The question of the alleged derivation of the Brāhmī script from the Indus valley script has been mentioned above There is not the slightest reason to suppose that the *Rgveda* knew the use of writing of any kind, and, as noted above, Dr Law adduces oral tradition as one of the causes of the slow development of the Vedic literature There is at present a complete lacuna between Brāhmī and the Indus valley script and it will be necessary to fill it up before there can be any certainty of direct derivation So far such similarities as exist can be adequately explained if it is assumed that Brāhmī is a late outcome of some script which stood in such a relationship to the Indus valley script as is involved in descent from the same ultimate source Whether even this assumption is necessary remains to be demonstrated. But, however the issue may finally be settled, it does not appear that it would in any way show that the people of the *Rgveda* knew or owed anything to the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā. That civilisation, no doubt, whatever its impulse, is largely Indian in character and nature [3] But it possesses many curious features which give it distinctive character of its own and prevent us from identifying it with any civilisation known to us in India In special we have the remarkable use of seals of a distinctive kind, and problems at present defying satisfactory solution are unquestionably presented by the two remarkable statuettes from Harappā which have certain affinities with Greek art.[4] All the other ancient civilisations revealed by excavation leave us with problems quite unsolved, and it would be unreasonable to expect that decisive explanations should early be possible. But the negative conclusion that the civilisation is not that of the *Rgveda* seems conclusively established

---

[1] Accepted as such by Dr Law, I H Q viii 138

[2] *Cf* Keith, *op cit* pp 262—4

[3] Perhaps we find here the origin of phallicism, Hopkins (*Epic Mythology*, p 222, No 1) pointed out the lack of evidence of it among the wild tribes

[4] Plates x and xi

वैदिक साहित्ये उद्भिदेर कथा

डा० एकेन्द्रनाथ घोष, पि एच्० डि०, एम० डि०, कलिकाता

[ऋग्वेद में उद्भिद् शब्द पाया जाता है। परन्तु उस का अर्थ वहाँ पौधा नहीं है। यह अर्थ अमरकोश के समय आ कर कहीं आता है। ऋग्वैदिक काल में पौधों के विभिन्न प्रकारों की पहचान थी। साधारण वृक्षों तथा वन-वृक्षों (वनस्पति) में कई बार भेद किया जाता था। छोटे वृक्ष वानस्पत्य कहलाते थे। दो वर्ष में पकने वाले तथा पृथ्वी में कंद या मूल छोड़ने वाले पेड़ शायद 'वीरुध' कहलाते और वार्षिक पौधे ओषधि। चढ़ने वाली लताओं (प्रतति) तथा लिपटने वाली लताओं (लिम्जुज) का भी उल्लेख है। बूटियों और घासों की भी पहचान थी।

वृक्ष के विभिन्न भागों का भी पूरा ज्ञान था। जड़, तना, शाखाएँ उपशाखाएँ, कोंपल कलियाँ, पत्तियाँ, फूल, फल व बीज की भी पहचान की गई थी। पुष्पगुच्छों तथा रसीले फलों का भी वर्णन है। फूटने वाले पौधों का भी उल्लेख है। भीतरी तथा ऊपरी छाल तथा गोंदों का वर्णन भी पाया जाता है।

पेड़ों की लकड़ी तथा अन्य वस्तुएँ आर्थिक तथा ओषधिक उपयोगों में लाई जाती थीं।

लगभग १२१ विभिन्न पौधों का वर्णन वेदों में है, कदाचित कुछ और भी। उन में से कइयों का अर्थ नहीं पहचाना जा सकता]

"उद्भिद" कथाटि ऋग्वेद (१ ८९ १, ८ ६८ १, इत्यादि), वाजसनेयि-संहिता (२८ २५) ओ अथर्ववेदे (५ २० ११) थाकिलेओ, इहा गाछेर अर्थे व्यवहृत हय नाइ। सम्भवत अमरकोष इ आमरा इहार "गाछ" अर्थे प्रथम व्यवहार देखि।

गाछेर प्रकार भेद। वैदिक ग्रन्थगुलिते प्रकार-भेदे गाछेर अनेकगुलि नाम पाओया जाय जेमन, वृक्ष (ऋग्वेद, वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद), द्रुम (केवल निरुक्त ओ षड्विंशतिब्राह्मण), वनस्पति (ऋग्वेद, वाजसनेयिसंहिता, अथर्ववेद), वानस्पत्य (केवल अथर्ववेद), वीरुध्, ओषधि, प्रतति, लिबुजा ओ तृण। वृक्ष, वनस्पति ओ वानस्पत्य, एइ तिन कथार अर्थ आमरा "बड गाछ" (tree) मने करि। ऋग्वेदे 'वृक्ष' ओ 'वनस्पति' शब्द-दुइटि एक-सङ्गे व्यवहृत हय नाइ, सुतरां आमरा मने करिते पारि जे, शब्द-दुइटि ऋग्वेदेर समय एकइ अर्थे व्यवहृत हइत। वाजसनेयि-संहिताय (१७ २०) 'वन हइते' एवं 'वृक्ष हइते' कथार एक-सङ्गे उल्लेख आछे, इहाते मने हय जे, एइ समय वन-जात गाछ हइते 'वृक्ष' के भिन्न बलिया धरा हइत। अथर्ववेदे वृक्ष ओ वनस्पति (१० ३ १३), एवं वृक्ष ओ वानस्पत्य शब्देर (१२ १ २७) एक-सङ्गे व्यवहार देखा जाय, किन्तु साधारणत इहादेर एकत्र उल्लेख नाइ, सुतरां मने हय जे, काहारओ मते एइ दुइ के पृथक् धरा हइत। हिट्नी (Whitney) साम्य वनस्पतिके वन्य वृक्ष बलियाछेन। आबार अथर्ववेदे (८ ८ १४, १५ ६ ३) वनस्पति ओ वानस्पत्य कथा दुइटि एक-सङ्गे देखा जाय। वानस्पत्य कथाटिर अर्थ, 'वनस्पतिर पुत्र वा पुत्रस्थानीय' धरिले, आमरा इहाके 'छोट वृक्ष' मने करिते पारि। चरक (सूत्रस्थान) औद्भिद औषध-सकलके चारि भागे भाग करा हइयाछे—वनस्पति (याहार केवल फल हय, सम्भवत डुमुर जातीय गाछ), वानस्पत्य (जाहार फूल ओ फल उभय इ थाके), ओषधि (जाहा फल पाकिले मरिया जाय), ओ वीरुध् (जाहा लताइया जाय—प्रतान विशिष्ट)।

ऋग्वेदेर तिन स्थले "वृक्ष" कथाटि 'गाछ' अर्थे पाओआ जाय। एक स्थाने (४ २०.५) 'पक्व' अर्थात् फलवान वृक्षेर उल्लेख आछे। द्वितीय स्थाने (२ १४.२) वृक्षेर कर्तनके इन्द्र द्वारा वृत्रवधेर सहित तुलना करा हइयाछे। अन्य एक स्थाने (१.१६४.२२) आदित्यके वृक्षेर सहित तुलना करा हइयाछे। १.१६४.२० ते जे वृक्षेर कथा आछे, ताहा "रक्तमांसे गठित जडदेह" बलिया मने करा जाय। आबार, 'वृक्ष' अर्थे (५ ५८ ५) दारुमय पेटिकाके उद्देश्य करा हइयाछे।

वृक्ष।

वाजसनेयिसंहिताय बला हइयाछे जे वृक्षेर उपर युद्धेर अस्त्र-शस्त्र राखा हइत (१६.४१)। काष्ठ-निर्मित खाटेर उल्लेख आछे (२३.२४)। आबार वृक्षके हरिकेश (भाष्यकार-मते हरितवर्णेर केश अर्थात् पत्रविशिष्ट) बला हइयाछे (१६.४०)। सम्भवत. इहा कोनो सूक्ष्म सूचिकार मत पत्र विशिष्ट वृक्षके (देवदारु वा अन्य कोनो एरूप वृक्षके) लक्ष्य करा हइयाछे।

अथर्ववेदे वृक्षेर स्कन्ध (trunk) हइते शाखा-विशाखार उत्पत्ति (१०.७.३८), वृक्षेर ऊर्ध्व भावे अवस्थान (४ ७ ५, ६ ४४.१), वृक्षेर सबुज वर्णेर (१० ८.३१) कथा पाओआ जाय। अश्वत्थ (३.६.८), पलाश (६.१५.३), ओ शिंशपाके (६.१२९.३) वृक्ष बला हइयाछे। आबार वायु द्वारा वृक्षेर पतन (१०.१.१७; १० ३ १५), कुलिश द्वारा वृक्षेर छेदन (२.१२.३) एवं वृक्षे वज्राघातेर (७.५२.१; ७.६१.१. ७.१०४.१४) उल्लेख आछे। वृक्ष हइते स्रज् अर्थात् मालाके (१.१४.१) पुष्पविन्यास (Inflorescence) मने करा जाय। पक्व अर्थात् फलयुक्त वृक्षेर (२०.१२७.४) उल्लेख एवं फल-पतनेर कथा (६.१२४.२) आछे।

ऋग्वेदे वनस्पतिर उद्देशे बहु स्तव आछे (१.९०.८, ५ ४१.८, इत्यादि); सुतरां वनस्पति जे बहु कार्ये व्यवहृत हइत, ताहा बुझिते पारा जाय। इहार काष्ठ ज्वालान हइत (५.७.४), इहार काष्ठ हइते रथ (३.५३.२०; इत्यादि), उलूखल (१.२८.६), यूपकाष्ठ (३.८.१,६; १०.७०.१०), अरणि (६.१५.२) एवं यज्ञे व्यवहृत बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (१०.११० १०)। वनस्पतिर शतसहस्र शाखार उल्लेख आछे (३.८.११)। बला हइयाछे, मरुद्‌गणेर आगमने वनस्पतिगण भये आकुल हय (१.१६६.५) ओ निनाद करे (८.२०.५); मरुद्‌गण ताहादिगके वियुक्त करेन (१.३९ ५), अर्थात् झटिकाय आलोडित हइया वनस्पतिगण उत्पाटित हइत। ताहारा वज्रध्वनिते प्रतिध्वनित हइत। आबार बला हइयाछे जे, पृथिवी वनस्पति-सकलके वृष्टिर समय धारण करिया थाकेन (५.८४.३, १०.६० ९)। पूषण् (६.४८.१७), इन्द्र (३.३४.१०), विश्वेदेवगण (१०.६५.११) एवं अश्विद्वयेर (१ १५७.५) स्तवे वनस्पतिगणेर उल्लेख आछे। सोम (१ ९१.६; ९.१२.७) ओ अग्निके (१.१३.११, १.१८८ १०, इत्यादि) वनस्पति बला हइयाछे। अग्निके वनस्पतिर पुत्रओ बला हइयाछे (८ २३.२५), कारण पुत्र जेमन मृत पितार दाह करे, अग्निओ सेइ रूप काष्ठ दग्ध करे।

वनस्पति।

वाजसनेयिसंहिताय वनस्पतिर ऊर्ध्वे वृद्धि (४ १०) बहु शाखा (५.४३), ओ सुस्वादु फलेर (२८.१०) उल्लेख आछे। वन्य वृक्षेर काष्ठ हइते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (२० ४५, १०.२३)।

अथर्ववेदे वनस्पतिके 'वीड्वङ्ग' (अर्थात् स्थूलकाण्ड ओ शाखायुक्त) (६.१२५.१) ओ पुष्टियुक्त (१९.३१.९) बला हइयाछे। पृथिवी ताहाके धारण करेन (४.२६.५)। जङ्गिड (१९.३४.९), पलास (३.५.३) ओ वरण-के (६.८५ १, १०.३ ५) वनस्पति बला हइयाछे। वात वृक्ष ओ वनस्पतिके भग्न करे (१०.३.१६)। वनस्पतिर जे शाखा-प्रशाखा छेदन करा हय, ताहा वर्षमध्येइ वर्धित हय (८ १२ १)। वन्य वृक्षेर काष्ठते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (६.१२५.१ इत्यादि)।

ঋগ্বেদের দশম মণ্ডলে বীরুধের উল্লেখ আছে। সুতরাং কথাটি আধুনিক সূক্তগুলির রচনার সময় গঠিত হইয়াছিল বলিয়া মনে হয়। বাজসনেয়িসংহিতার দুই স্থলে (১২ ৭৭,১৮ ১৪) বীরুধ কথাটি পাওয়া যায়, এবং বীরুধ্ ও ওষধি কথা দুইটি এক সঙ্গে থাকায়, ইহাদের অর্থের প্রভেদ আছে বলিয়া মনে করিতে পারি। অথর্ববেদের বহু স্থলে (চল্লিশ বার হইবে) এই কথা পাওয়া যায়। ইহা ওষধি ও তৃণ হইতে ভিন্ন (১১ ৭ ২১)।

বীরুধ্।

ঋগ্বেদে (১০ ৭৯ ৩) বৃহৎ ও প্রসর্পী (যাহা মাটীর উপর লতাইয়া যায়) বীরুধের কথা আছে। বীরুধ্ বর্ষায় (১০ ৪৭ ৯) বনে জন্মিত (১০ ৯৭ ৬)। বীরুধ্ জ্বালান হইত (১০ ৪৫ ৪)।

বাজসনেয়িসংহিতার টীকাকার মহীধর বীরুধ্কে এক স্থলে (১৮ ১৪) এবং অন্য স্থলে (১২ ৬) ওষধি বলিয়াছেন। উবট (১২ ৭৭ টীকায়) ইহার অর্থ করিয়াছেন 'যাহা ব্যাধি রোধ করে'।

অথর্ববেদে কথিত হইয়াছে যে গরুর অন্ত্র হইতে বীরুধের জন্ম হইয়াছে (১০ ১০ ২১), সম্ভবত এ অন্ত্র পচিয়া সার মাটীতে পরিণত হইলে, তাহাতে বীরুধ্ তৃণের সহিত জন্মায় এই কথা বলাই উদ্দেশ্য। বীরুধের মূল (৮ ৭ ২৩—বরাহ বীরুধের মূল জানে, ৮ ৭ ২,১২), অগ্র (অর্থাৎ ডগা, ৮ ৭ ১২), মধ্য (অর্থাৎ কাণ্ড ৮ ৭ ১২), পর্ণ (পত্র, ৮ ৭ ১২) এবং পুষ্পের (৮ ৭ ১২) উল্লেখ পাওয়া যায়। আবার ইহাকে অংশুমতী (যাহা রশ্মির মত চারিদিকে বর্ধিত হয়), কাণ্ডিনী (যাহার কাণ্ড, সম্ভবত স্ফীত দণ্ড আছে) অথবা বিশাখ (অর্থাৎ শাখাহীন) বলা হইয়াছে। ইহা হইতে ভেষজ বা ঔষধ প্রস্তুত করা হইত (৫ ৫২ ৩), এই জন্যই বোধ হয় মহীয়সী বলা হইয়াছে (৮ ৭ ১১)। বহু প্রকারের (৪ ১৫ ২) এবং বহু সংখ্যক (৫ ৪ ১) বীরুধ্ দেখিতে পাওয়া যায়। কুষ্ঠকে বীরুধ্ (৫ ৪ ১) এবং দর্ভকে এক স্থলে বীরুধ্ (১৯ ৩৩ ১) আবার অন্য স্থলে ওষধি (১৯ ৩২ ২) বলা হইয়াছে।

ঋগ্বেদে ওষধির বহু স্তুতি আছে (৬ ৩৯ ৫, ৭ ৪ ৫), একটি সূক্তের (১০ ৯৭) দেবতাই ওষধি। ওষধি নদীর জল (৭ ৫০ ৩), জলবিহীন উচ্চ স্থানে (৪ ৩৩ ৭) অথবা অশ্বত্থ ও পলাশ বৃক্ষের উপর (১০ ৯৭ ৫) জন্মিয়া থাকে। বর্ষায় (৫ ৮৩ ৫) ও বৃষ্টির জলে (৩ ৫ ৮) ওষধি জন্মায়। বৃষ্টির জল পাইলে ওষধিগণ পুষ্প ও ফলযুক্ত হয় (৭ ১০১ ১)। পুষ্পযুক্ত বা পুষ্পহীন এবং ফলযুক্ত বা ফলহীন ওষধির উল্লেখ আছে (১০ ৯৭ ১৫)। অশ্ববতী, সোমবতী, ঊর্জয়ন্তী ও উদোজ নামে ওষধির উল্লেখ পাওয়া যায় (১০ ৯৭ ৭), সম্ভবত অশ্ববতী অশ্বগন্ধা হইতে পারে, সোমবতী সোমলতা অথবা সোমের মত স্নিগ্ধ কোনো গাছ, ঊর্জয়ন্তী কোনো বলকারক গাছ, উদোজ কোনো উগ্র বা তেজস্কর গাছ হইবে। মৃত্তিকাখনন করিয়া ওষধি স্থানান্তরিত করা হইত (১ ১৬৬ ৫), সুতরাং ওষধি যে চাষ করা হইত, তাহা বুঝিতে পারা গেল। ওষধি গাভী (১০ ১৬৯ ১) ও অশ্বের খাদ্য (১ ১৬২ ৭)। শুষ্ক ওষধি হইতে বাণ প্রস্তুত করা হইত (৯ ১১২ ২)। ওষধি আবার জ্বালানি হইত (২ ৪ ৪)।

ওষধি।

বাজসনেয়িসংহিতায় ঋগ্বেদের অনেক কথা পুনরায় বলা হইয়াছে। ইহাতে ওষধির রসের উল্লেখ আছে (১৮ ৩৬,১৯ ৩৩)। ওষধি হইতে পিষ্টক (১ ২১) ও পুরোডাশ (১১ ৪২) প্রস্তুত করা হইত। ওষধি ঔষধ রূপেও ব্যবহৃত হইত (১২ ৮০,৮৪,৮৫,৮৬)। কুশকে ওষধি বলা হইয়াছে। অথর্ববেদে ওষধির বহু উল্লেখ ও স্তুতি আছে। ইহা পর্বত ও সমভূমিতে জন্মায় (৮ ৭ ১৭), বর্ষায় জন্মায় ও বর্ধিত হয় (৪ ১৫ ১৬

৮.২.২২ ইত্যাদি), ওষধির চাপের কথা পাওয়া যায় (৩.১৭.৫; ১২.১.২; ৪.৭.৬)। ওষধির দৃঢ় মূল, বিস্তারিত মধ্যভাগ (অর্থাৎ কাণ্ড) (৬.১৩৭.৩), বীজ (৮.৭.২১) এবং রসের উল্লেখ আছে (২.২৪.১; ৪.২৭.২, ৩ ইত্যাদি)। নানা বর্ণের ওষধির কথা পাওয়া যায় (৮.৭.১, বভ্রু শাদা, লাল, বিন্দু-চিহ্নিত ও কালো)। প্রস্তৃণতী (যাহা চারিদিকে ছড়াইয়া পড়ে), স্তম্বিনী (ঝোপের মত), প্রতন্বতী (যাহা একদিকে বাড়ে), একশুঙ্গ (যাহার একটিমাত্র আবরণ থাকে—সম্ভবত কচুর পুষ্পবিন্যাসের আবরণ পত্রের মত পত্র বা Spathe কে লক্ষ্য করা হইয়াছে) এবং বহুপত্রবিশিষ্ট ওষধির উল্লেখ আছে (৮.৭.১৩)। ওষধি গো, ছাগল ও মেষের খাদ্য (৮.৭.২৫), ওষধি হইতে ঔষধ প্রস্তুত হইত (৪.৪.২,৩, ৪.১৭.১), যেমন কুষ্ঠ (৬.৯৫.৩ ইত্যাদি) ও অপামার্গ (৪.১৯.৩)। বিষাক্ত ওষধিরও উল্লেখ আছে (১০.৪.২২)। ওষধি হইতে শল্য প্রস্তুত হইত (৪.৬.৮)। গুণভেদে ওষধিগণকে জীবলা (অর্থাৎ প্রফুল্লতাদায়ক), নঘারিষা (যে কোনো হানি করে না), জীবন্তী (জীবন-রক্ষক), সহস্বতী (তেজবিশিষ্ট) ও ত্রায়মাণা (সর্বাপেক্ষা তেজস্কর) বলা হইয়াছে (৮.২.৬)। আবার ওষধিকে পুনঃসরা (যে পুনরায় নিজ অবস্থা পায়) বলা হইয়াছে (৪.১৭.২); সম্ভবতঃ ইহাতে মৃত্তিকা-গর্ভস্থ কন্দ হইতে গাছের উত্থান নির্দেশ করা হইয়াছে। যব, দর্ভ, অরুন্ধতি-লতাকে ওষধি বলা হইয়াছে (৬.১৫.১ ইত্যাদি)।

আমরা মোটামুটি বীরুধ্‌কে biennial ও perennial herb এবং shrub বলিতে পারি। ওষধি ইঙ্গরাজীতে annual herb.

ব্রততি। ঋগ্বেদে (৮.৪০.৬) ও তৈত্তিরীয়ব্রাহ্মণে (১.১.১.৩, ইত্যাদি) ব্রততির কথা আছে। নিরুক্তে (১.১৪, ৬.২৮) ব্রততি অর্থে বল্লী বা লতানিয়া গাছ বলা হইয়াছে। সম্ভবতঃ ইহা মাধবীলতার মত বৃহৎ শাখাযুক্ত লতা হইবে।

লিবুজা। অথর্ববেদে (৬.৮.১, ১৮.১.১৫,১৬) বলা হইয়াছে যে লিবুজা অশ্বের কক্ষবন্ধনীর ন্যায় বৃক্ষকে বেষ্টন করিয়া থাকে; সুতরাং ইহা Twining plant বা বেষ্টিকা লতা।

তৃণ ও সস। বেদ ও ব্রাহ্মণে তৃণের বহু উল্লেখ আছে। ঋগ্বেদে বলা হইয়াছে যে অশ্ব ও গরুকে তৃণ খাওয়ান হইত (১.১৬৪.৪০)। তৃণ দগ্ধ করিবার কথাও আছে (৩.২৯.৬)। অথর্ববেদে উক্ত হইয়াছে যে, তৃণদ্বারা গৃহের প্রাচীর প্রস্তুত করা হইত (৩.১২.৫; ৯.৩.৪)। 'শাদ' কথাটি অনেক স্থলে (ঋ০ ৯.১৫.৬; বাজসনেয়িস০ ২৫.১) সাধারণ ঘাসের অর্থে ব্যবহৃত হইত। তৃণগুচ্ছকে 'স্তম্ব' বলা হইত। তৃণ, বিশেষতঃ দর্ভগুচ্ছকে পিঞ্জূল বা পুঞ্জীল বলা হইত। তৃণ Gramineæ বংশের যে-কোনো গাছ।

সসশব্দ ঋগ্বেদে (১.৫১.৩, ৩.৫.৬, ৪.৫.৭, ইত্যাদি) আছে। সায়ণ এক স্থলে (১.৫১.৩) সস অর্থে 'অন্ন' করিয়াছেন। পাশ্চাত্য পণ্ডিতগণ ইহাকে herb বা grass মনে করেন। ইহা 'সস্য' (শস্য—grain) শব্দের পাঠান্তর হইতে পারে।

উদ্ভিদের ভিন্ন ভিন্ন অংশ। আমরা বেদ ব্রাহ্মণাদি গ্রন্থে উদ্ভিদের মূল, স্কন্ধ, শাখা, বয়া, বল্‌শ, তোক্মন, প্রসূ, তূল (বা পুষ্পগুচ্ছ), পুষ্প, ফল, বীজ ও সস্যের উল্লেখ দেখিতে পাই। এতদ্ব্যতীত দারু, দ্রু, বল্ক,

वल्कल ओ निर्यासेर कथाओ पाओया जाय। वाजसनेयिसंहिता (२२ २८) ओ तैत्तिरीयसंहिताय (७ ३ २० १) एकने अनकशुति नाम आछे।

मूल। मूल एइ कथाटि वाजसनेयि संहिता (२२ २८) ओ तैत्तिरीय संहिताय (७ ३ २० १) पाओया जाय। इहा इङ्गराजीते root।

स्कन्ध (तैत्ति० सं० ७ ३ २० १, ऋ० १ ३२ ५, अथ० १० ७ ३८)—गाछेर काण्ड वा गुँड़ि अर्थे व्यवहृत हइयाछे। 'स्थाणु' नाम एकटि शब्द ऋग्वेदे (१० ४० १३) 'विघ्न' वा 'बाधा' अर्थे व्यवहृत हइयाछे।

शाखा (ऋ० १ ८ ८, ७ ४३ १ इत्यादि, अथ० ३ ६ ८) ओ वया शब्द (ऋ० २ ५ ४, ५,१ १ इत्यादि) गाछेर डाल (branch) अर्थे व्यवहृत हइयाछे। फल संग्रह करिबार जन्य वृक्षे आरोहण करिया शाखा हइते

शाखा, वया। शाखान्तरे जाइबार कथा आछे (ऋ० २ ५ ४)। कथा-दुइटि अन्य अर्थेओ व्यवहृत हइयाछे जेमन अग्निर शाखा (ऋ० १ ५९ १), नदीर शाखा (ऋ० ६ ७ ६) इत्यादि। नवीन वृक्षेर वया भक्षण करा हइत (ऋ० १० ९४ ३)।

वल्श। वल्श ऋग्वेद (३ ८ ११ शतवल्श, ३ ८ ११, ७ ३३ ९ इत्यादि सहस्रवल्शा) ओ अथर्ववेद (६ ३० २) एइ कथाटि 'क्षुद्र कोमल शाखा (वा कचि डगा)' अर्थे व्यवहृत हइत। इहार इङ्गराजी नाम twig।

तोक्मन (ऋ० १० ६२ ८, वाज० सं० १९ १३, २१ ३० इत्यादि, मैत्रायणी सं० ३ ११ ९, तैत्तिरीयब्राह्मण ११ ६ ४) ऋग्वेदे इहाके 'गाछेर वर्धनशील अंश' बलिया मने करा जाय। वाजसनेयिसंहितार टीकाकार महीधर

तोक्मन। इहाके व्रीहि वा यवेर अङ्कुर वा अङ्कुरित व्रीहि वा यव मने करेन। ऐतरेयब्राह्मणे व्रीहि, महाव्रीहि प्रभृतिर तोक्मार उल्लेख आछे। ताहा हइले आमरा तोक्माके अङ्कुर (germinating plant) बलिया मने करिते पारि। म्याक्डोनेल एवं कीथ (Macdonell, Keith) ताँहादेर वैदिक इण्डेक्से इहाके green shoot of any kind of grain बलेन। घासेर अङ्कुरके 'शष्प' बला हइत (वाज० सं० १९ १३, २१ २९, शत० ब्रा० ८ ५ ३ इत्यादि)।

प्रसू (ऋ० १ ९५ १०, ७ ९ ३ इत्यादि, काठकसंहिता ३६ ७, तैत्ति० ब्रा० १ ६ ३ ७, शत० ब्रा० २ ५ १ १८)। भाष्यकारगण 'प्रसू'के कोमल शाखा वा ताहार अग्रभाग बलिया मने करेन। प्रसूवरी अर्थे

प्रसू। 'फलप्रसविनी'। ओषधिगणके प्रसूवरी बला हइत। 'प्रसू' अर्थ पुष्पमुकुल (ये कुँड़ि हइते पुष्प जन्माय—flower bud) मने करा जाय।

पर्ण, पत्र (तैत्ति० सं० ७ ३ २० १)। एइ दुइ शब्द पाता अर्थात् 'leaf' अर्थे व्यवहृत हइत। सचराचर पलाश वृक्षकेओ पर्ण बला हइत।

पुष्प। पुष्प शब्दटि बहुस्थाने पाओया जाय। इहा फुल वा flower। (अथर्व ११ ४ १) पुष्पगुच्छ ए 'स्तम्ब' बला हइत। पुष्पेर मालाके [illegible] बला हइत। विवाह सभाय व्यवहार छिल।

फल (ऋ० ३ ४५ ४, १० ७१ ५, अथ० ३ १४ ४, ६ १२४ २ इत्यादि)। फल fruit। [illegible]

फल। [illegible] बला हइयाछे (? ? १ १०)। ऋग्वेदे (१ १६४ २०, [illegible] ४ ६ [illegible] ४ ४४ [illegible]) 'पिप्पल' कथाटि [illegible] (ovary?) अर्थे व्यवहृत हइत किन्तु परवर्ती [illegible]

(বৃহদারণ্যকোপনিষদ্ ৪.১.৪১; শ০ ব্রা০ ৩.৭.১.১২) পিপ্পলকে অশ্বত্থের ফল (fig) বলা হইত। বৈদিক সময়ে যে ফল আহার করা হইত সে বিষয়ে কোনো সন্দেহ নাই।

ঋগ্বেদে (৫.৫৩.১৩) ধান্যবীজ অর্থাৎ 'ওষধিগণের ফল' (ইঙ্গরাজীতে Caryopsis—ইহা ফল, বীজ seed নহে) কথাটি পাওয়া যায়। ঋগ্বেদে (১০.৯৪.১৩, ১০.১০১.৩) ও অথর্ববেদে (১০.৬.৩৩) বীজবপনের উল্লেখ আছে। বীজ অর্থে seed। যব, গম, ধান্য ইত্যাদি ওষধির ফল (Caryopsis) এবং সম্ভবত: মসুর ও ছোলা জাতীয় গাছের (leguminous plants) বীজ 'সস্য' নামে অভিহিত হইত (অথ ৭.১১.১, ৮.১০.২৪; তৈ০ স০ ৩.৪.৩.৩ ইত্যাদি) (corn)। 'ধান্য' ও 'ধানা' কথা-দুইটি সাধারণ 'সস্য' অর্থে ব্যবহৃত হইত। ধানা শব্দ বহু স্থলে পাওয়া যায় (ঋ০ ১.১৬.১; ৩.৩৫.৩; ৩.৪৩.৪ ইত্যাদি, অথ০ ৪.৩২.৩৪, ১৮.৩.৬৯ ইত্যাদি)। বহু স্থলে 'ভৃষ্টধানা' (সায়ণ-মতে "ভৃষ্ট যব"—সম্ভবত: যে কোনো ভৃষ্ট ওষধির ফল)–কথাটীও দেখিতে পাওয়া যায়। 'ধান্য' কথাও বহু স্থলে আছে (ঋ০ ৬.১৩.৪, অথ০ ৩.২৪.২৫; ইত্যাদি)। বৃহদারণ্যকোপনিষদে (৬.৩.২২) ব্রীহি, যব, তিল, মাষা, অণু, প্রিয়ঙ্গু, গোধূম, মসূর, খল্ব ও খলকুল—এই দশ প্রকার ধান্যের কথা পাওয়া যায়। সুতরাং, 'ধান্য' শব্দে 'ক্ষুদ্র বীজ' এবং 'ওষধির ফল' (grain) বুঝাইত। 'আম্ব' (তৈ০ স০ ১.৮.১০.১ ইত্যাদি) ও 'নাম্ব' শব্দ (শ০ ব্রা০ ৫.৩.৩.৮) এই অর্থে (grain) ব্যবহৃত হইত। অতি ক্ষুদ্র সস্যকে অথর্ববেদে (১০.৯.২৬) 'কণ' বলা হইত। শুষ্ক সস্য (shrivelled grain) কে "পূলপ বা পূল্য" বলা হইয়াছে (অথ০ ১৪.২.৬৩)। ভৃষ্ট সস্যকে "লাজা" বলা হইত (বাজ০ সং০ ১৯.১৩, ২১.৪২, শ০ ব্রা০ ১২.৮.২.৭ ইত্যাদি)। ফলবান্ ওষধি-গুচ্ছকে 'পর্ষ' বলা হইত (ঋ০ ১০.৪৮.৭, নিরুক্ত ৩.১০; শ০ ব্রা০ ১৩.৪.২.৫)। শতপথব্রাহ্মণে (১২.৫.২.৩) 'শুম্বল' কথা পাওয়া যায়। টীকাকার হরিস্বামী ইহাকে খড় (straw) বলেন। সম্ভবত: ওষধিগুলি ভূমিতে নিক্ষেপ করিবার সময়ে সস্যগুলি ঝরিয়া পড়িলে ওষধির শুষ্ক দণ্ডগুলিকে "শুম্বল" বলা হইত। 'পলাল' (পলাবা) কথাটিও (অথ০ ২.৮.৩; ৮.৬.২, কৌশিকসূত্র ৮০.২৭) খড়-অর্থে ব্যবহৃত হইত। সস্যের আবরণ ও খোসাকে 'তুষ' (chaff) বলা হইত (অথ০ ৯.৬.১৬; ১১.১.১২,২৯ ইত্যাদি, ঐতরেয়ব্রাহ্মণ ২.৭.৯)। তৈত্তিরীয়সংহিতায় (৫.২.৪.২) আছে তুষ জ্বালাইয়া অগ্নি উৎপাদন করা হইত, এবং ঐ অগ্নিতে পাক করা হইত (তুষপক্ব)। অথর্ববেদ (১২.৩.১৯) এবং জৈমিনীয়োপনিষদ্-ব্রাহ্মণে (১.৫৪.১) 'পলাবা' কথাটি তুষ অর্থে ব্যবহৃত হইয়াছে।

আমরা বৃক্ষদণ্ডের (stem) ভিন্ন ভিন্ন অংশের নাম পাই। কাষ্ঠকে 'দারু' ও 'দ্রু' বলা হইত। 'দারু' শব্দ ঋগ্বেদে বহু স্থলে, অথর্ববেদে (৬.১২১.২; ১০.৪.৩), ও ব্রাহ্মণগ্রন্থে পাওয়া যায়। আগুন জ্বালাইতে কাষ্ঠ ব্যবহৃত হইত (ঋ০ ৬.৩.৪)। কাষ্ঠদণ্ড জলে ভাসাইয়া নদী প্রভৃতি পার হওয়া যাইত (ঋ০১০.১৫৫.৩)। 'দ্রু' কথাটি ঋগ্বেদে বহু স্থলে আছে। প্রায় সকল স্থানেই কাষ্ঠ হইতে প্রস্তুত দ্রব্য (যেমন রথ, নৌকা ?, কলস, পাদুকা ইত্যাদি) লক্ষ্য করা হইয়াছে। (ঋ০ ১.১৬১.১; ৫.৮৬.৩; ৮.৬৬.১১; ৯.১.২; ৯.৬৫.৬, ৯.৯৮.২; তৈ০ ব্রা০ ১.২.৯.১)। তৈত্তিরীয়সংহিতা (২.৫.৩.৫; ৩.৭.৪.২) এবং তৈত্তিরীয়ব্রাহ্মণে (১.৪.৭.৬) 'বল্ক' শব্দ পাই। বল্ক গাছের ছাল (bark)। তৈত্তিরীয়ব্রাহ্মণ (৩.৭.৪.২) ও কৌষিতকীব্রাহ্মণে (১০.২) 'বকল' কথা দেখা যায়। বকল ছালের ভিতরের অংশ, ইঙ্গরাজীতে bast। তৈত্তিরীয়সংহিতায় (২.১.৫.৪) বৃক্ষের নির্যাসের (exudation, gum) উল্লেখ আছে।

वेद ओ ब्राह्मणादि ग्रन्थे उल्लिखित गाछेर तालिका

(१) अंशु—इहा द्वारा ऋग्वेदे 'सोमलता' के लक्ष्य करा हइयाछे।

(२) अजशृङ्गी—(अ० ४ ३७)। अथर्ववेदेर टीकाकार ओ रत्नमाला अभिधानमते इहार अपर नाम 'विषाणी'। चलित कथाय इहा 'मेढ़ाशृङ्गी'। म्याकडोनेल एवं कीथेर मते इहा Odina pinnata (O wodier Roxb)। वेबर साहेबेर मते इहा Prosopis spicigera Linn अथवा Acacia suma Ham। शब्दकल्पद्रुमे विषाणी कथाटिते दुइटि गाछ बोझाय—जीवन्ती (क्षीरकाकोली, चलित कथाय 'जीयोल'—Odina pinnata) एवं अजशृङ्गी। सुतरां जीवन्ती अजशृङ्गी नहे। Prosopis spicigera Linn गाछेर संस्कृतनाम शमी, बाङ्गलाय 'शाँइगाछ' इहाओ अजशृङ्गी नहे। Acacia suma (Mimosa suma) के बाङ्गलाय 'साँइकाँटा' बले इहार संस्कृतनाम 'सोमवृक्ष, श्वेतखदिर, कटफल', इहाओ अजशृङ्गी नहे। वोयाट साहेबेर Dictionary of the Economic Products of India र तृतीय खण्डे (पृ० १७४) Gymnema sylvestre Br के मेषशृङ्गी (संस्कृत) ओ मेढ़ासिंगी (हिन्दी) बला हइयाछे Dolichandrone falcata Seem—केओ मेढ़शिंगि (मध्यप्रदेश), मेंढशिंगि (बाम्बाइ) एवं मेढ़सिंगि (मराठी) बला हय। आमादेर मते Gymnema sylvestre Br अजशृङ्गी, इहार अपर नाम 'अराटकी'।

(३) अणु—(वाज० सं० १८ २, बृहदारण्यकोप० ६ ३ १३) (Panicum miliaceum Linn) इहार बीजेर कथा पाओया याय। बाङ्गला नाम 'चिना'।

(४) अध्याण्ड—(अध्यण्डा) (श० ब्रा० १३ ८ १ १६)। वैदिक इण्डेक्स इहाके Carpopogon pruriens (अन्य नाम Mucuna pruriens DC) अथवा Flacourtia cataphracta Roxb बलिया मने करा हइयाछे। शब्दकल्पद्रुमे 'अध्यण्डा' अर्थे 'कपिकच्छु' (अर्थात् आलकुशी—अमरकोषमते—Mucuna pruriens) एवं 'भूम्यामलकी' (अर्थात् 'भुँइ आमला'—रत्नमालामते—Phyllanthus niruri Linn) मने करा हय। Flacourtia cataphracta Roxb र संस्कृत नाम 'तालीशपत्री' ओ बाङ्गला नाम 'पानियाल'। मेदिनीते आबार तालीशपत्रके (Abies webbiana Lindle) भूम्यामलकी बला हइयाछे। शतपथब्राह्मणे ये भावे कथाटि व्यवहृत हइयाछे, ताहाते इहाके 'आलकुशी' मने करा याय।

(५) अपामार्ग—(Achyranthes aspera Linn) वाजसनेयि संहिता (३५ ११—बीजेर व्यवहार), अथर्ववेद (४ १७ ६, ४ १८ ७, ४ १९ ४, ७ ६५ २) ओ ब्राह्मणे इहार बहु उल्लेख आछे।

(६) अमला—(जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण १ ३८ ६ छान्दोग्योपनिषद् ७ ३ १), आमलक, आमलकी (Emblica officinalis Gaertner)। फलेर नाम अमलक।

(७) अमूला (Gloriosa superba Willd)—साधारण नाम उलटचण्डाल, विषलाङ्गुलिया'। अथर्ववेद (५ ३१ ४) इहार नाम आछे। शिकडेर परिवर्ते कतकगुलि कन्द थाकाय इहार एइ नाम हइयाछे।

(८) अरलु (Oroxylon indicum Vent)—शोनागाछ—इहार काष्ठे रथेर अक्ष प्रस्तुत हइत (ऋ० ८ ४६ २७)।

(९) अराटकी—अजशृङ्गी।

(१०) अरुन्धती (अथर्ववेदे ४ १२ १; ५ ५ ५—९; ६ ५९ १,२; ८ ७ ६)। इहा सुवर्णवर्णेर लता गात्रे लोम आछे; इहा पयस्वती; इहा सुमित्रा; इहार अपर नाम 'लाक्षा' ओ सिलाची। Capparis horrida Linn नामक लता सिन्धु ओ पाञ्जाबे अरन्द नाम अभिहित। इहार गाये घन मरिचा (लौहमल) वर्णेर लोम आछे। पातागुलि बड़। छागल ओ हस्ती इहार पल्लव भक्षण करे। एइ लता अरुन्धती हइते पारे।

(११) अर्क (Calotropis gigantea R Br) अथर्ववेदे (६ ७२ १) रतिशक्ति वृद्धिर जन्य इहार स्तुति आछे। शतपथब्राह्मणेओ इहार नाम आछे।

(१२) अलसाला (अथर्ववेद ६.१६.४)—सायण इहाके एक प्रकार सस्यवल्ली बलेन। मेदिनीकोषे 'अलसा' अर्थे हंसपदी लता। रत्नमालाय इहार पर्याय मधुस्रवा, हंसपदी ओ त्रिपदी। Adiantum capillus-veneris Linn. नामक पर्णाङ्गी (Fern) गुजराटे 'हंसपदी' नामे ख्यात। इउरोपे इहार डाँटा हइते सिराप प्रस्तुत हय। सम्भवत. इहाइ अलसाला।

(१३) अलाबु (अ० ८.१० २६; इत्यादि, मैत्रायणीसंहिता ४ २.१३)—Lagenaria vulgaris Ser. इहार बाङ्गला नाम 'लाउ'। इहार खोलाय पात्र प्रस्तुत हइत (अ०)।

(१४) अवका (वाज० सं० १७.४; २५.१; तैत्ति० स० ४.६.१.१; इत्यादि; अ० ४.३७.८—१०) अपर नाम शैवल, शीपाल।—Blyxa roxburghii Rich. (Vallisneria octandra) बाङ्गलाय 'शेओला' बले।

(१५) अश्वगन्धा (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—Physalis flexuosa Linn. (Withania somnifera Dun.)

(१६) अश्वत्थ (Ficus religiosa Linn.)—इहार काष्ठे पात्र प्रस्तुत करा हइत (ऋ० १.१३५.८, १०.९७.५)। अश्वत्थकाष्ठ ज्वालानओ हइत (अ० ३.६ १; ४.३७ ४, ६ ११ १, शत० ब्रा० ११.५ १.१३)। इहार सुमिष्ट फल पक्षीरा भक्षण करे (ऋ० १.१६४ २०,२२)। अश्वत्थ अन्यान्य वृक्षेर उपर (विशेषत. खदिर) जन्माय, एवं ऐ सकल वृक्ष मारिया फेले (अ० ३.६.१)। ओषधिगण अश्वत्थवृक्षे उपवेशन करे, एइ सकल गाछ परवृक्षी अर्थात परगाछा (epiphyte)।

(१७) अश्ववार, अश्ववाल (मैत्रायणीसंहिता ३.७.६; काठक-संहिता २४.८; शत० ब्रा० ३.४.१ ७)—Saccharum spontaneum Linn काश वा केशषा घास।

(१८) आण्डीक (अ० ४.३४.५, ५.१७. १६)—पैप्पलादशाखाय आण्डीकेर परिवर्ते 'पुण्डरीक' कथा आछे। पुण्डरीक—श्वेतपद्म (Nelumbium speciosum Willd, white variety)।

(१९) आदार—(काठकसंहिता २४.३, शतब्रा० ५ १०.४; १४ १.१.१२, कात्यायनश्रौतसूत्र २५ १२.१६)—शतपथ-ब्राह्मणेर टीकाय इहाके पूतिका (पुँइ शाक) बला हइयाछे। पूतिक देखुन।

(२०) आवयु (अ० ६.१६.१) ब्लूम्फील्ड (Hymns of the Atharvaveda) इहाके सरिषा गाछ मने करेन। सिंहली भाषाय सरिषाके आब्बा बले। सम्भवतः आवयु कथाटि आर्यभाषार नहे।

(२१) आमलक—अमला देखुन।

(२२) आम्ब—(तैत्ति० सं० १.८ १० १ ; श० ब्रा० ५.३.३ ८ नाम्ब) इहाके एक प्रकार सस्य मने करा हइयाछे। Cicer arietinum Linn. के बोम्बाईए अम्ब ओ गुजराटे अम्बु बला हय। इहा साधारण छोला। इहाइ आम्ब हइबे।

(२३) इषीका—वैदिक इण्डेक्समते Phragmitis communis Tren.। हेमचन्द्रमते इहा काशतृण—Saccharum spontaneum Linn. इहाते कुडि (शत० ब्रा० १.१.४.१६), अर्गलेर शलाका प्रस्तुत करा हइत। इहार भंगप्रवणतार उल्लेख आछे।

(२४) उदुम्बर—(Ficus glomerata Roxb.) इहार काष्ठ हइते यूप (तैत्ति० स० २.१ १ ६) ओ दर्वी (तैत्ति० स० ५.४.७.३) प्रस्तुत हइत। इहार काष्ठे कवच हइत (अ० ८ ६ १७, १९.३१.६)। इहार काष्ठ नानाविध यज्ञेओ व्यवहृत हइत (श० ब्रा० ३ २ १.२३, ७.४ १ ३८, इत्यादि)। इहार सुमधुर फल (ऐतरेयब्रा० ७.१५.) वत्सरे तिन बार करिया पक्व हय (ऐ० ब्रा० ५ २४)। पञ्चविंशतिब्राह्मणे (१६.६.४) उदुम्बरेर वनेर उल्लेख आछे।

(२५) उपवाक अर्थात इन्द्रयव (Wrightia tinctoria R Br)—इहा हइते सक्तु (छातु) एवं करम्भ (दधिमिश्रित सक्तु) प्रस्तुत करा हइत (वाज० स० १९ २२, २१.३०; श० ब्रा० १२ ७.१.३, इत्यादि)।

(२६) उर्वारु, उर्वारुक (अर्थात् काँकुड—Cucumis melo Linn. var. utilissimus.) ऋग्वेद (७ ५९.१२), अथर्ववेद (१४ १ १७), वाजसनेयिसंहिता (३.६०) प्रभृतिते इहार उल्लेख आछे।

(२७) उशाना (श० ब्रा० ३ ४ ३ १३, ४ २.५.१५) इहा हइते सोम प्रस्तुत करा हइत। पाञ्जाबे श्वेतसरिषाके (Eruca sativa Lam) उसन बला हय। आबार 'उषण' शब्दे मरिच एवं उषणा शब्दे पिप्पली (अमर), शुण्ठी (राजनिर्घण्ट) एवं चविक (चइ—रत्नमाला) बुझाय, शत० ब्राह्मणेर उशाना 'मरिच' हइते पारे।

(२८) उलप ('उलुखड़ —Anthistiria arundinacea Roxb)—ऋग्वेद, अथर्ववेद प्रभृतिते इहार नाम आछे।

(२९) एरण्ड—(Ricinus communis Linn)—शाङ्खायन आरण्यके उल्लिखित हइयाछे।

(३०) ओषगन्धि—(अ० २ ३६ ७, ४ ३७ ३)—हुइट्‌नि साहेब इहाके 'धूपेर मत गन्ध अथवा 'धूप हइते प्रस्तुत कोनो गन्धद्रव्य' मन करेन। अथर्ववेदे पति पाइबार जन्य मन्त्रे एव नाना प्रकार दुष्ट प्रेतात्मार विपक्षे मन्त्रे व्यवहृत हइयाछे। आमरा आयुर्वेद वृषगन्धा नामे गाछेर नाम पाइ इहा वीर्यवर्धन ओ गर्भसञ्चारेर जन्य व्यवहृत हइत। वैज्ञानिक नाम Argyreia speciosa Sweet इहा औषगन्धि हइते पारे।

(३१) करञ्ज (Pongamia glabra Vent) (ऋ० १ ५३ ८ १० ४८ ८)।—जिम्मर, लुड्‌विक् एव हिलेब्रा ट् साहेब इहाके इन्द्रेर शत्रु बलेन। आमादर मन हय इहा गाछ।

(३२) करीर (Capparis aphylla Roth) कथादि पुस्तकआ हिन्दीते चलित। (तैत्ति० सं० २ ४ ९ २ इत्यादि)।

(३३) कर्कन्धु (कुलगाछ—Zizyphus jujuba Linn) बहुस्थले उल्लेख आछे। इहार फलके कुवल ओ बदर बला हइयाछे।

(३४) काकम्बीर (ऋ० ६ ४८ १७)—वैदिक इण्डेक्से कोनो गाछ मने करा हइयाछे। आबार 'काकम्बीर' अर्थ 'काकेर आश्रयभूत' हइते पारे।

(३५) काश (Saccharum spontaneum)—तैत्तिरीय आरण्यके (६ ९ १) काश हइते मादुर प्रस्तुतेर कथा आछे।

(३६) कार्ष्मर्य (कारमीरी—Gmelina arborea Linn)—कृष्णयजुर्वेद ओ शतपथब्राह्मणे इहार उल्लेख आछे।

(३७) किंशुक (Butea frondosa Roxb) इहार काष्ठे रथ प्रस्तुत हइत (ऋ० १० ८५ २०)।

(३८) कियाम्बु (ऋ० १० १६ १३ = अ १८ ३ ६) क्याम्बु (तैत्तिरीय आरण्यक ६ ४ १२) वैदिक इण्डेक्स कोना प्रकार जलीय गाछ मने करा हइयाछे। सम्भवत कियाम्बु अर्थ 'किञ्चित् जल'।

(३९) कुमुद (अ० ४ ३४ ५)—Nymphaea lotus Linn .

(४०) कुल्माष (छान्दो० उप० १ १० २ ७ निरुक्त १ ४)—अमरकोषे इहाके यावक' (बोरक, बरबटि—Vigna catjang Endl) बला हइयाछे अन्यमत इहा कुलत्थ कलाइ—Dolichos biflorus Linn निरुक्ते इहाके अल्पमाष, छान्दोग्य उपनिषदर टीकाकार इहाके कुत्सित माष ओ भागवत पुराणेर (५ ९ ११) टीकाकार कीटदष्ट माष बलिया-छेन। सम्भवत भिजा वा सिद्ध बरबटि वा कुलत्थ कलाइ लक्ष्य करा हइयाछे।

(४१) कुश (शतपथ ब्रा० २ ५ २ १५ इत्यादि) राट् साहेबेर मते इहा प्रथमत साधारण घास, परे कुश घास (Eragrostis cyno suroides Beauv) बुझाइत।

(४२) कुष्ठ (अ० ५ ४ १—१०; ६ ९५ १ २; इत्यादि) तक्मन् वा म्यालेरिया ज्वरेर विरुद्धे इहार स्तुति आछे। इहा एक प्रकार ओषधि, तुषारमण्डित पर्वते जन्माय। इहार मतमर कथा आछे। वैदिक इन्डेक्स इहाके Costus speciosus Sm मने करा हइयाछे। हिलेब्राण्ट् साहेबेर मते इहा Saussurea lappa C B Clarke द्वितीय गाछटि काश्मीरेर पर्वते प्रचुर परिमाणे पाओया जाय, एवं इहार मतम पुष्पनत्थो धूप आ चर्मरोगे व्यवहृत हय। सुतरां इहा कुष्ठ।

(४३) कृमुक (शतपथब्रा० ६ ६ २ ११; कौशिकसूत्र १९ १०; इत्यादि) क्रमुक (तैत्ति० सं० ५ १ ९ ३; श० ब्रा० १ ४ ७ ३)। Morus serrata Roxb पाञ्जाबे 'किमु' वा 'कुम' नाम परिचित। सम्भवत इहाइ कृमुक।

(४४) खदिर (Acacia catechu Willd)। इहार बहु उल्लेख पाओया जाय। इहार दृढ़, सारवान् काष्ठे बहु द्रव्य (मणि, स्रुव प्रभृति हाता) प्रस्तुत करा हइत।

(४५) खर्जूर (तैत्ति० सं० २ ४ ९ २) Phoenix sylvestris Roxb

(४६) खलकुल (बृहदारण्यक ६ ३ १३) शङ्कराचार्येर मते कुलत्थ कलाइ (Dolichos biflorus Linn)

(४७) खल्व (अ० २.३१.१, ५ २३.८; 'वाज० सं० १८.१२, बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३ १३)। अथर्ववेदे इहा जाताय गुँड़ा करिवार कथा आछे। वाजसनेयिसंहितार टीकाकारेर मते इहा चणक (Cicer arietinum Linn.) शङ्कराचार्येर मते इहा निष्पाव; एवं रत्नमालाय इहाके श्वेतशिम्बी बला हइयाछे (Dolichos lablab Linn)

(४८) गर्मुत् (तैत्ति० स० २.४.४.१,२) गन्मुत् (काठकसंहिता १०.११)। शब्दकल्पद्रुमे गर्मुत् शब्द दुइ गाछेर जन्य व्यवहृत हइयाछे, 'मयना' (Medicago denticulata Willd) एवं 'गड़गड़' गाछ (Coix lachryma-jobi Linn.)। गडगड बुन्देलखण्डे 'गण्डुल, गरुन' एवं मध्यप्रदेशे 'गुर्लु' नामे अभिहित। सम्भवतः वेदेर गर्मुत् गड़गड हइबे।

(४९) गवीधुक, गवीधुका, गवेधुक। इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहाते छातु (सक्तु) प्रस्तुत हइत। वैज्ञानिक नाम Polytoca barbata Stapf। शब्दकल्पद्रुमे इहाके गडगड़ देधान बला हइयाछे।

(५०) गोधूम (Triticum vulgare Vill.) इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहाते छातु प्रस्तुत हइत।

(५१) जङ्गिड़ (अथर्ववेद २.४; १९ ३४,३५)। अथर्ववेदे इहाके वनस्पति ओ ओषधि दुइइ बला हइयाछे। इहार चापेर कथा पाओया जाय। कौशिकसूत्रेर टीकाकार दारिल इहाके अर्जुन वृक्ष मने करेन। काँचा वा शुष्क हरीतकीके हिन्दुस्थानीते 'जङ्गी हर' बला हय (Watt's Dictionary of Economic Products)। सम्भवतः इहाइ जङ्गिड— Terminalia chebula Retz, अर्जुन (Terminalia arjuna Bedd) नहे।

(५२) जाम्बिल (वाज० स० २५.३)—महीधरेर मते इहा जम्बीर अर्थात् नेबु—Citrus medica acida Brandis।

(५३) तण्डुल। बहु स्थले इहार नाम पाओया जाय। इहा जे केवल व्रीहि अर्थात् धानेर 'चाल', ताहा नहे। श्यामा धानेर (शतपथ ब्रा० १०.६.३.२) ओ अपामार्गेर (छान्दोग्योपनिषद् ५.२.४.५) तण्डुलेर कथा पाओया जाय। तैत्तिरीयसंहिताय (१.८.९.३) कर्ण-तण्डुल (जाहार कर्ण अर्थात awn आछे) ओ अकर्ण-तण्डुलेर (जाहार awn नाइ) नाम आछे। कर्णतण्डुलके unhusked एवं अकर्णतण्डुलके husked rice बला हइयाछे। आमादेर मने हय—कर्ण अर्थे awn। ऋग्वेदे धान चापेर कथा पाओया जाय ना (जिम्मरेर Altindisches Leben देखुन)।

(५४) तलाश (अ० ६.१५.३), तलीश। बाङ्लाय पाणियाल—Flacourtia cataphracta Roxb

(५५) तार्ष्टाघ (कौशिकसूत्र २५.२३; अ० ५.२९.१५)—टीकाकारमते सर्षप।

(५६) तिर्य, तिल (Sesamum indicum DC)—इहा बहुस्थले उल्लिखित हइयाछे। तिलेर डाँटाके तिलपिञ्ज (अ० १२.२.५४), तिलपिञ्जी (अ० २.८.३) बला हइत। इहार काष्ठ ज्वालान हइत। बला हइयाछे, तिलगाछ हेमन्त ओ शिशिरे जन्माय। तिलेर मण्डके तिलौदन बला हइत, इहा खाद्यरूपे व्यवहृत हइत। तैल (बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३.२२) वा तौल (अ० १.७.२) तिलेर तैल, इहा कलसे राखा हइत।

(५७) तिल्वक (मैत्रायणीसंहिता ३.१.९, श० ब्रा० १३.८.१.१६; इत्यादि)। चलित कथाय 'लोध' (Symplocos racemosa Roxb)

(५८) तौदी (अ० १०.४.२४)। पाञ्जाबे Matthiola incana R. Br. के 'तोद्रि' बला हय। इहा कि तौदी?

(५९) त्रायमाणा (अ० ८.२.६)। इहा एक प्रकार ओषधि। बोम्बाइए Delphinium Zalil Aitch et Hesl के त्रयमान बला हय, इहाओ ओषधि। इहा त्रायमाणा हइते पारे।

(६०) दर्भ—बहु स्थले पाओया जाय। अथर्ववेदे इहाके सहस्रपर्ण, शतकाण्ड ओ भूमिमूल बला हइयाछे। इहार हिन्दी नाम 'दभ' एव बाङ्लाय 'डलु' बले। Imperata arundinacea Cyrilli

(६१) दूर्वा—बहु स्थले दूर्वार नाम पाओया जाय। ऋग्वेदे बला हइयाछे जे आर्द्रभूमिते दूर्वा जन्माय, एवं श्मशाने इहा रोपन करा हइत। अथर्ववेदे शाण्ड-दूर्वार नाम आछे (१८ ३.६)। 'साण्ड' धरिले 'अण्डविशिष्ट' अर्थ करा जाय। ताहा हइले इहाके 'मुथा घास' (Cyperus rotundus Linn) मने करा जाइते पारे, कारण इहार मूले छोट छोट डिमेर मत कन्द जन्माय। तैत्तिरीय-आरण्यके 'पाक-दूर्वा' कथा पाओया जाय। सायण इहाके परिपक्क दूर्वा बलियाछेन। दूर्वार वैज्ञानिक नाम

Cynodon dactylon Pers। पाकदूर्वा सम्भवत Panicum sanguinale Linn (Digitaria sanguinales Scop)। साधारण लोके इहाके यह आकारेर दूर्वा मन करे।

(६२) नग्रोध, न्यग्रोध। इहा वट गाछ—Ficus bengalensis Linn इहार काष्ठ यज्ञेर पात्र प्रस्तुत हइत। बहु स्थले इहार नाम पाओया जाय।

(६३) नड़। नाना स्थले इहार नाम पाओया जाय। इहा ह्रदे जन्माय, वर्षाय वर्धित हय (अ० ४ १६ १) इहाते मादुर प्रस्तुत हइत। नाम Phragmites Larka cineta Hooker

(६४) नराचि (अ० ५ ३१ ४)। 'जाहा नरेर सहित संश्लिष्ट'—एइ अर्थ धरिया इहाके कोन विषाक्त गाछ बलिया मन करा हइयाछे (वैदिक इन्डेक्स)।

(६५) नलद नलदि, नद (अ० ६ १०२ ३ ४ ३७ ३ ऐत० ब्रा० ३ २ ४ शांखा० आरण्यक २१ ४)। Nardostachys jatamansi D C।

(६६) नाम्ब—ग्राम्ब देखुन।

(६७) नीवार—(वहीधान—इहा वन्य धान्य; धान्ये भेदमात्र—a variety of rice)। बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे।

(६८) नीलाकसाला, नीलागलसाल—सायण इहाके सस्यवल्ली बलेन। आमरा 'नीलवल्ली' नामक गाछेर उल्लेख पाइ इहार साधारण नाम बाँदा (Vanda roxburghii Br)। इहा एइ गाछ हइते पारे।

(६९) न्यग्रोध। नग्रोध देखुन।

(७०) न्यस्तिका (अ० ६ १३९ १)। इहाके 'सहस्रपर्णी' बला हइयाछे। सायण इहाके शङ्खपुष्पिका' बलेन। वैदिक इन्डेक्से इहाके Andropogon aciculatus Retz बलिया स्थिर करा हइयाछे। अभिधाने शाणपुष्पी कथा पाओया जाय, इहा शङ्खाहुली नामेओ ख्यात बाङ्गलाय 'डानकुनी'—Canscora decussata Roem and Schult। Andropogon aciculatus Retz शङ्खिनी—शङ्खपुष्पी नहे। इहार बाङ्गला नाम 'चोरकाँटा'। सम्भवत डानकुनीइ न्यस्तिका।

(७१) पर्ण, पलास (Butea frondosa Roxb)। पलास गाछ बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठे याता, वाटि हाता, यूप प्रभृति प्रस्तुत करा हइत। इहार छालओ व्यवहृत हइत।

(७२) पाकदूर्वा—दूर्वा देखुन।

(७३) पाटा (अ० २ २७ ४; कौशिकसूत्र ३७ १, ३८ १५) कौशिकसूत्रेर टीकाकार इहाके पाठा बलेन। चलित कथाय आकनादि—Stephania hernandifolia Walp

(७४) पीतदारु—पूतद्रु देखुन।

(७५) पीला (अ० ४ ३७ ३)।—अथर्ववेदे इहाके 'अप्सरा' बला हइयाछे। Salvadora persica Linn के पील बला हय। इहार फले तीव्र गन्ध आछे छालेओ तीव्र निर्यास आछे। जे रूपे कथाटि व्यवहृत हइयाछे ताहाते एइ गाछ हइते पारे।

(७६) पीलु—(अ० २० १३५ १२), कपोत इहार फल खाय। वैदिक इन्डेक्से इहाके Careya arborea Roxb अथवा Salvadora persica Linn तालिक शेरिफे पीलुके Careya arborea Roxb बला हइयाछे। मराठी भाषाय आचार Salvadora persica Linn के पीलु बले। संस्कृतेओ इहाके पीलु बले। Careya arborea र संस्कृत नाम 'कुम्भी'। सुतरां पीलु (अथर्ववेदेर) Salvadora persica हओयाइ सम्भव।

(७७) पुण्डरीक—पाण्डीक देखुन। कथाटि बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे।

(७८) पुष्कर। पद्म—Nelumbium speciosum Willd बहु स्थले इहार नाम पाओया जाय।

(৭৯) পূতীক (পুঁইশাক)—(Basella rubra Linn) ইহা সোমের পরিবর্তে ব্যবহৃত হইত। বৈদিক ইংডেক্সে বলা হইয়াছে যে, Guilandina (Caesalpina) bonduc পূতীক হইতে পারে। কিন্তু এই গাছ ইংরাজের রাজত্বকালে সুমাত্রাদ্বীপ হইতে ভারতে আনীত হইয়াছিল, সুতরা বেদের 'পূতীক' হইতে পারে না।

(৮০) পূতুদারু, পূতুদ্রু। বহুস্থলে এই বৃক্ষের উল্লেখ আছে। ইহার ফলেরও উল্লেখ পাওয়া যায় (তৈত্তি০ সং০ ৬ ২.৮.৪), মহীধর (বাজ০ সং০ ৫.১৪) ইহাকে খদির, সায়ণ (ঐত০ ব্রা০ ১.২৮) উদুম্বর, এবং বৈদিক ইংডেক্স দেবদারু (Pinus devdara Roxb.) বলেন। অভিধানকারগণ তিন প্রকার গাছকে পীতদারু বলেন—দেবদারু (অমর), সরল—Pinus longifolia Roxb. (রত্নমালা), এবং হরিদ্রু অর্থাৎ দারুহরিদ্রা—Morinda augustifolia Roxb। 'পীতদ্রু' কথায় সরল ও দারুহরিদ্রা বোঝায় (অমর)। পূতদ্রু অর্থে পলাশ (রাজনিঘণ্টু)। সম্ভবত বেদের সময়ে পূতুদারু বা পূতুদ্রু দেবদারু-ই হইবে।

(৮১) পৃশ্নিপর্ণী। কাত্যায়নশ্রৌত্রসূত্রের (২৫.৭.১৭) টীকাকার ইহাকে 'গারকলাই বা রামকুর্থি' (Glycine hispida Maxim) বলেন। অভিধানে ইহার বহু নাম পাওয়া যায়, চলিত কথায় 'চাকুলিয়া' বলে (Uraria lagopoides DC.)। বৈদিক ইংডেক্সের নামটি, Hemionitis cordifolia, চলিত নাই। ইহা চাকুলিয়ার নাম।

(৮২) প্লক্ষ, প্লক্ষ। ইহা পাকুড—Ficus infectoria Roxb বহু স্থলে ইহার উল্লেখ আছে।

(৮৩) প্রমোধ (পঞ্চবিংশতিব্রা০ ৮.৪.১)। ইহা সোমের পরিবর্তে ব্যবহৃত হইত, Pavetta indica Linn. নামক গাছকে বোম্বাইএ 'পপত্' এবং মারাঠী ভাষায় 'পপদি' বলা হয়। ইহা ছোট গুল্ম। ইহা প্রমোধ হইতে পারে।

(৮৪) প্রমন্দ (ইন্দুক, অম্লকুচাই বা পাথরকুচি—Coleus aromaticus Benth.) কৌশিকসূত্রে উল্লিখিত হইয়াছে।

(৮৫) প্রমন্দনি (অ০ ৪.৩৭.৩) সম্ভবত. প্রমন্দ।

(৮৬) প্রিয়ঙ্গু (কাঁনি—Setaria italica Beauv.) বহু স্থলে ইহার নাম আছে।

(৮৭) প্লাশুক (শতপথব্রাহ্মণ ৫.৩.৩.২)। শীঘ্র বর্দ্ধনশীল কোনো প্রকার ধান। বাঙ্গলায় ফাঁপরি ধান দুই মাসে পক্ক হয়।

(৮৮) ফলবতী (ষড়্বিংশতিব্রা০ ৫.০)—টীকাকার ইহাকে প্রিয়ঙ্গু মনে করেন।

(৮৯) বজ (অ০ ৮.৬.৩; ইত্যাদি)—সায়ণের মতে শ্বেতসরিষা (Brassica alba Boiss)।

(৯০) বল্বজ—বহু স্থলে উল্লিখিত হইয়াছে। ঋগ্বেদে (৮.৫৫.৩) বলা হইয়াছে যে, ইহাতে ঝুড়ি প্রস্তুত করা হইত। কাঠকসংহিতায় ইহার যজ্ঞে ব্যবহার এবং জ্বালানি-কাষ্ঠ-রূপে ব্যবহারের কথা আছে। Andropogon muricatus Retz. বেনা গাছ কে 'বলবল' বলা হয়; এখনও ইহাতে মাদুর প্রস্তুত করা হয়। সম্ভবত. ইহাই বল্বজ।

(৯১) ভঙ্গ (গাঁজা—Cannabis sativa Linn.) ঋগ্বেদে ইহাকে সোমের বিশেষণ করা হইয়াছে (সম্ভবতঃ মাদকতা লক্ষ্য করিয়া)।

(৯২) ভূমিপাশ (শত০ ব্রা০ ১৩.৮.১.১৬) এক প্রকার আগাছা, যাহা ভূমিতে জালের মত বিস্তৃত থাকে। ইহা ভূস্তৃণ (Andropogon citratus DC. অর্থাৎ গন্ধবেণা) হইতে পারে।

(৯৩) মঞ্জিষ্ঠা—(Rubia cordifolia Linn) ইহা ঐতরেয়ব্রাহ্মণ (৩ ২ ৪) ও শাঙ্খায়ন-আরণ্যকে (৮ ৭) উল্লিখিত হইয়াছে।

(৯৪) মদাবতি (অ০ ৬.১৬.২)—ইহা কোনো মত্ততাকারক গাছ হইবে।

(৯৫) মসূর। (Lens esculenta Moench)। বাজসনেয়িসংহিতা (১ ১৮.১২) ও বৃহদারণ্যকোপনিষদে (৬.৩.১৩) উল্লিখিত হইয়াছে।

(৯৬) মসূস্য (তৈত্তি০ ব্রা০ ৩ ৮.১৪.৬)—টীকাকারমতে এক প্রকার উত্তরদেশীয় সস্য—মসূর হইতে পারে।

(९७) यव (Hordeum vulgare Linn) वैदिक साहित्ये यव-सम्बन्धे बहु कथा जाना जाय। यव प्रधान खाद्य छिल। ऋग्वेदे यवेर चाष, पक्व यव एवं यवेर मराइघर (कुलूल) कथा पाओया जाय। यवे हव्य प्रस्तुत करा हइत। वैदिक इंडेक्स बला हइयाछे जे ऋग्वेदे यव अर्थे साधारण शस्य बुझाइत; किन्तु ऋग्वेदेर ऋकगुलि पर्यवेक्षण करिया यवके साधारण सस्य मने करिवार कोनो विशेष प्रमाण पाओया गेल ना।

(९८) रज्जुदाल, राज्जुदाल (शत० ब्रा० १३ ४ ४ ६ , तैत्ति० ब्रा० ३ ८ १९ १) सायणमते इहा श्लेष्मातक अर्थात लसाड़ा वा बहुवार—Cordia myxa Linn। एगेलिङ्ग साहेब (ताहार शतपथब्राह्मणेर इङ्राजी अनुवादे) बलेन, इहा Cordia latifolia ओ हइते पारे किन्तु एइ गाछ इङ्राजदेर राजत्वकाले भारते आनीत हइयाछिल। (रक्सबुर्गेर Flora Indica)।

(९९) रोहितक (Andersonia rohitaka W and A)। मैत्रायणीसंहिता (२ ६ ३) ओ आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (१ ५४) इहार उल्लेख आछे।

(१००) वरण (तिक्त शाक—Crataeva religiosa Forst)। अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण ओ पञ्चविंशतिब्राह्मणे उल्लिखित हइयाछे।

(१०१) विकङ्कत (बँइच गाछ—Flacourtia ramontchi L'Herit var sapida) अनेक स्थाने उल्लिखित हइयाछे।

(१०२) विम्ब—(जैमिनीयोपनिषद्ब्रा० ३ ५ ६)। तलाकुचा—Cephalandra indica Naud

(१०३) विल्व—(Aegle marmelos Corr) बहु स्थले एइ गाछ ओ इहार फलेर कथा पाओया जाय।

(१०४) विषाणका (अ० ६ ४४ ३ ६ ८ २०)। इहाके 'वातीकृत्' बला हइयाछे। 'विषाणका' कथाटि अभिधाने पाओया जाय ना। शब्दकल्पद्रुमे विषाणिका अर्थे (१) मेषशृङ्गी (रत्नमाला), एवं (२) (क) सातला, (ख) कर्कटशृङ्गी ओ (ग) आवर्तकी (राजनिघण्ट) पाओया जाय। मेषशृङ्गी, अजशृङ्गी एकइ गाछ। 'सातला' गाछ क्षुप (छोट वृक्ष), लता नहे बाङ्लाय 'वनरिठा (Acacia concinna DC')। कर्कटशृङ्ग (Rhus succedanea Linn) एकजातीय छोट वृक्ष। आवर्तकी लतानिया गाछ इहार पर्याय, तिन्दुकिनी, विडाल्नी पीतकीलका चमरङ्गा, पीतपुष्पा, महाजाली (धन्वन्तरीय निघण्टु), आवार राजनिघण्टुमते इहा रक्तलता, रक्तपुष्पी, महत् आदिजाली, पीतकीला चमरङ्गा वामावर्ता, दूर्लभ्या ओ शशिसंयुता। देखा जाइतेछे जे इहार दण्ड लालवर्ण, मात्रे पीतवर्णेर कील वा प्रवर्धन इहार फुल पीत वा लाल। ओयाइज साहेब (Hindu System of Medicine ए) सन्देहपूर्वक इहाके Asclepias geminata Roxb बलेन। इहा अजशृङ्गी (आधुनिक वैज्ञानिक नाम Gymnema sylvestre Br)। मदनपाल आवर्तकीके 'सोनामुखी' बलियाछेन। अथर्ववेदेर विषाणका यदि 'विषाणिकाओ' हय, ताहा हइले कोनटि ताहा निर्णय करा कठिन। मेषशृङ्गीके आयुर्वेदे 'वातकारक' बला हइयाछे। विषाणकाके वातीकृत (वायुप्रकोपक ?) बला हइयाछे। सम्भवत मेषशृङ्गी इ विषाणका।

(१०५) विहल्ह (अ० ६ १६ २) इहाके सरिषा गाछेर पिता बला हइयाछे। सम्भवत सरिषा इ हइवे। Brassica juncea agrestis (Sinapis patens) के बाङ्लाय 'विलराइ' बले।

(१०६) वीरण, वीरिण (शत० ब्रा० १३ ८ १ १५) इहा उशीर घास—बेणा, खसखस, Andropogon squarrosus Linn

(१०७) व्रीहि। ऋग्वेद भिन्न बहु स्थले इहार नाम पाओया जाय। ऋग्वेदे 'धान्यबीज (५ ५३) साधारण शस्येर बीज बलिया मने हय। अथर्ववेदेरओ धान्य आमादेर चाल नहे। अन्यान्य सकल स्थानइ व्रीहि आमादेर धान—Oryza sativa Linn तैत्तिरीय संहिताय कृष्ण ओ श्वेत व्रीहिर कथा आछे (१ ८ १० १); बला हइयाछे जे, शरत्काले व्रीहि पक्व हय (७ २ १० ३)। कृष्णवर्ण आशुवर्धनशील बहु व्रीहिर कथा पाओया याय, इहा 'आउस' धान। अमरकोषे ओ षष्टिक (षष्टिशालि) धानेर कथा पाओया जाय, ताहा षाठ दिने पक्व हय।

(१०८) शण [(अ० २ ४ ५, शत ब्रा० ३ २ १ ११, इत्यादि) इहा Crotalaria juncea Linn इहा भङ्ग नहे (वैदिक इंडेक्स देखुन)

(१०९) शफक (अथर्ववेद ४.३४.५; आपस्तम्बश्रौतसूत्र ९.१४ १४) इहा जलज उद्भिद। सम्भवतः इहा पानीफल (शृङ्गाटक)। इहार फलेर गाये खुरेर मत उच्चता आछे। इहार सङ्गे 'बिस' कथार उल्लेख आछे। बिस पद्मेर डाँटा।

(११०) शमी (अ० ६.११.१, इत्यादि)। इहा Prosopis spicigera Linn. रोट् बलेन—Mimosa suma Kurz. ओ हइते पारे, इहा 'साईकाँटा', शमी नय। अथर्ववेदे इहाके केशघ्न, मादक ओ शतशाखायुक्त बला हइयाछे। इहार काष्ठ यज्ञे व्यवहृत हइत।

(१११) शमीधान्य (शत० ब्रा० १.१ १.१०) शिम्बीजात सस्यके (seeds of leguminous plants) शमीधान्य बला हइत (अमरकोष; भावप्रकाश)।

(११२) शाल्मलि (Bombax malabaricum DC) बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठे रथ प्रस्तुत हइत। इहाके दीर्घतम वृक्ष बला हइयाछे। ऋग्वेदे (३.५३ २२) 'शिम्बल' कथा आछे। सायण इहाके शिमुल फुल मने करेन।

(११३) शर (Saccharum ciliare E.D.) इहाते वाणदण्ड प्रस्तुत हइत। बहु स्थले इहार उल्लेख आछे।

(११४) शालुक (अ० ४ ३४.५)। Nymphaea lotus Linn.

(११५) शिंशपा (Dalbergia sissoo Roxb.) इहा ऋग्वेद (३ ५३.१७) ओ अथर्ववेदे (६.१२९.१; २०.१२९.७) उल्लिखित हइयाछे। इहार काष्ठ व्यवहृत हइत।

(११६) श्यामक (Panicum frumentaceum Trim) इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे। इहा पायरार खाद्य छिल। इहा अति क्षुद्र ओ हालका।

(११७) सर्षप (Brassica napus Linn.) षड्विंशतिब्राह्मण (५.२), शांखायनश्रौतसूत्र (४.१५.८) ओ छान्दोग्योपनिषदे (३.१४.३) इहार उल्लेख आछे।

(११८) सह (अ० ११.६.१५)। रोट् साहेबेर मते इहा एक रकम गाछ। ब्लूमफील्ड साहेब इहार अर्थ 'बलवान्' मने करेन। सहा 'बला' गाछेर एकटि नाम—Sida cordifolia Willd.

(११९) सहदेवा (सामविधानब्राह्मण), सहदेवी (अ० ६.५९.२)। सहदेवीर आर एक नाम महाबला—Sida rhombifolia Linn सहदेवा सम्भवत Vernonia cinerea Less. इहार बाङ्गला नाम कुकसिम, कालजिरा।

(१२०) सहमान (अ० २.२५? २; इत्यादि)—सायणमते इहार अर्थ 'बलवान्'। वैदिक इंडेक्से इहाके गाछ मने करा हइयाछे।

(१२१) सिलाचि—अरुन्धती देखुन।

(१२२) सिलाञ्जाला (अ० ६.१६.४); टीकाकारमते शलाञ्जल्य, कौशिकसूत्र ५१.१६ शिलाञ्जल; केशव (टीकाकार) इहाके सस्यवल्ली बलेन। अभिधाने शिलाञ्जनी नामे छोट वृक्षेर कथा पाओया याय (Memocylon edule Roxb.)।

(१२३) स्पन्दन—स्यन्दन देखुन।

(१२४) स्फूर्जक (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—इहा गाव Diospyros embryopteris Pers)।

(१२५) स्यन्दन (ऋ० ३.५३.१९)—सम्भवतः Ougeinia dalbergioides Benth (हिन्दी सन्दन) रोट् साहेब 'स्पन्दन' पाठ धरिया 'रथ' अर्थ करेन।

(१२६) स्रक्त्य (अ० २.११.२, इत्यादि)। वेबर साहेब-मते इहा बहुकोण स्फटिक (crystal)। टीकाकार इहाके तिलक वृक्ष बलेन। सम्भवतः Clerodendron phlomoides Linn

(१२७) स्रेकपर्ण (ऐत० ब्रा० २.६,१५, तैत्ति० ब्रा० ३.६ ६ ३) सायणमते करवीर पत्रेर आकार। करवीर वृक्षेर एक नाम स्रेक—Nerium odorum Soland

(१२८) स्वधिति (ऋ० ५ ३२.१०) रोट् साहेब इहाके कोनो दृढ़ काष्ठविशिष्ट वृक्ष मने करेन। सम्भवत इहा गाछ-इ नय।

(१२९) हरिद्रु (शत० ब्रा० १३ ८ १ १६)। अभिधानकारगण इहाके दारुहरिद्रा बलेन। वैदिक इडेक्से देवदारु बला हइयाछे। (पूतद्रु देखुन)।

भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

अध्यापक डा० श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, एम० ए , डी० लिट्० कलकत्ता विश्वविद्यालय

हम लोग अपनी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अति प्राचीनत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत हैं। प्राचीन इतिहास की जिन्हो ने भली भाँति चर्चा नहीं की, परन्तु जिन्हो ने साधारण शिक्षा पाई है, ऐसी हिन्दू-सन्तान इस बात को स्वत सिद्ध समझने म अभ्यस्त है, कि सारी दुनिया म सभ्यता का प्रथम प्रकाश हमारे इस भारतवर्ष में ही हुआ और इस प्राचीनतम सभ्यता का सूत्रपात हमारे आर्य पूर्वजों से हुआ था। जगत् म सभ्यता का उद्भव आर्यो की मनीषा का फल है, सभ्यता के कारण जो कुछ कृतित्व मिलता है, वह आर्यो को मिलना चाहिए, और इस के बाद, हम लोग आर्यो के वशधर हैं, इस लिए हम लोग भी इस कृतित्व के उत्तराधिकारी हैं। हमारी हिन्दू जाति की अति प्राचीनता के विषय में एक धारणा या सस्कार बचपन से हमारी नसो में जा बैठता है। पुराण की कहानियों में सत्य, त्रेता द्वापर, कलि—इन चार युगो की बात हम पढते हैं, वह कितने लाख वर्ष की बात है। यदि लाखों वर्षों की बात न भी सही, तो नि सन्देह हजारों वर्ष की बात तो माननी ही पडेगी।

हम लोगो में जिन्हों ने थोडी-सी आधुनिक शिक्षा को प्राप्त किया है, साधारणत इस बात को एक प्रकार स मान लिया है कि भारतवर्ष के बाहर के किसी एक स्थान से सहस्रों वर्ष पहले आर्य लोग इस देश में आ कर बसे, और उस के बाद हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा इन आर्यों ने की। जिन को केवल प्राचीन शिक्षा मिली, अथवा जो प्राय सिर्फ संस्कृत की चर्चा करते हैं, वे इस बात पर ध्यान देने की कुछ भी जरूरत नहीं समझते, या किसी जरूरत को स्वीकार भी नहीं करते,—उन के लिए भारतवर्ष ही आर्य जाति की पितृभूमि है,—भारत के बाहर के किसी स्थान स कभी आर्य लोग यहाँ आए, ऐसा सोचना इन के विचार में एक असम्भव कल्पना है। भारत के बाहर स आर्य लोग आए थ या नहीं, इस अवसर पर इस विषय की कुछ आलोचना हम नहीं करेंगे। सिर्फ इतना ही हम कह सकते हैं कि भारत के बाहर ही स आर्यो का यहाँ आगमन हुआ था, ऐसे मतवाद को हम मानते हैं। बाहर से आर्य लोग भारत म आए थ, यह विचार विगत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग स यूरोप के कई भाषातात्त्विकों के लेख म प्रकट होने और रूप ग्रहण करने लगा।

इगलैंड में बसे हुए जरमन पडित फ्रीद्रिख़् माक्स्-म्यूलर ने ही अपने लेखों और पुस्तकों में इस विचार को फैलाया। माक्स्-म्यूलर ने और उन के अनुयायी कई विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया कि आज कल के समय से चार हजार वर्ष पूर्व मध्य-एशिया में आर्य जाति वास करती थी, वहाँ प्राकृतिक विपर्यय या और दूसरी किसी घटना के वश आर्य लोगों का वास करना असम्भव हो गया, इसी से वे पश्चिम और दक्षिण के विभिन्न देशों में फैल गए। उन के कुछ कुछ यूरोप म गए, और वहाँ रूस, ग्रीस, इटली, जर्मनी,

फ़ान्स प्रभृति देश मे उपनिविष्ट हुए। इन सब देशों के अधिवासी स्लाव, ग्रीक, इटालीय, त्यूतन, केल्त् जाति के लोग इन ही के वंशधर हैं। मध्य-एशिया से आर्यों का एक झुंड दक्षिण में आया, वह ईरान मे उपविष्ट हुआ, फिर ईरान से उस का कुछ अंश भारतवर्ष में पधारा, उस से भारतीय आर्यों की उत्पत्ति हुई, जिन्हों ने वेद के सूक्त रचे, जो कि भारतीय सभ्यता की जड़ है। विज्ञान तथा इतिहास के और विचार तथा मतवाद के साथ यह मतवाद भी यथासमय भारतवर्ष मे आ पहुँचा, और अंगरेज़ी-शिक्षित भारतीय लोगो ने विना प्रतिवाद किए उसे ग्रहण किया। यूरोप में अंगरेज़ और अन्य यूरोपीय जातियों के पढ़े-लिखे लोगो में इस मतवाद की प्रतिष्ठा तुरन्त हुई। संस्कृत, प्राचीन ईरानी, आर्मेनी—एशिया-खंड की तीन सुसभ्य जातियों की ये तीन प्राचीन भाषाएँ, तथा यूरोप की प्रायः कुल जातियों की भाषाएँ—यथा ग्रीक, लातीन, प्राचीन स्लाव, अलबानी, केल्त्, त्यूतन;—ये सब एक अधुना-विलुप्त मूल या आदि आर्य-भाषा से उत्पन्न हुई। विगत उन्नीसवें शतक के प्रथमार्द्ध में तुलना-मूलक भाषा-तत्त्व-विद्या ने इस तथ्य को निरूपित किया। जब एक "आदि आर्य-भाषा" मानी गई, तब इस को बोलने वाली एक "आदि आर्य-जाति" को भी मानना पड़ा, और साथ साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा कि किसी प्राचीन समय में कहीं न कहीं यह जाति वास करती थी। जो लोग इस समय विभिन्न आर्य-भाषाएँ बोलते हैं, वे ज़रूर उन्हीं आदि आर्यों के वंशधर हैं, और वे आजकल दुनिया की सब से अधिक सभ्य जाति गिने जाते हैं। इस के अलावा, प्राचीन जातियों में हिन्दू, पारसीक, ग्रीक, रोमन इत्यादि आर्यभाषी कई जातियां भी सभ्यता के विषय में निहायत उन्नत थीं। इस से, आदि आर्य जाति के लोग भी सुसभ्य थे, ऐसा अनुमान करने में आधुनिक आर्य-जातीय अथवा "आर्यम्मन्य" लोगों को कुछ अन्तराय नहीं प्रतीत हुआ। इस "आर्यवाद" को यूरोपीय पंडितों ने आहिस्ता आहिस्ता स्थापित और सुगठित किया। देखा गया कि यूरोप के आधुनिक जातियों के लोग तमाम पृथिवी पर फैल गए—पुर्तगीज़, हिस्पानी, ओलन्दाज़, अंगरेज़, फ़ान्सीसी, जरमन, स्कान्दिनावीय लोगों ने अफ़्रीका, एशिया, अमरीका, आस्ट्रेलिया इन सब महादेशों में सर्वत्र यूरोप की सभ्यता का प्रचार किया; विना ज़्यादह तकलीफ़ उठाए हुए वे लोग उन मुल्कों में अपनी अप्रतिद्वन्द्वी प्रतिष्ठा को खड़ा कर, स्थानीय "नेटिव्" लोगों पर आधिपत्य कर रहे हैं,—उन "नेटिव्" लोगों को सुसभ्य बना रहे हैं (यह तो यूरोपीय विजेताओं की कही बात है)—और जब देखते हैं कि "नेटिव्" लोगो का अवस्थान अपनी जाति के लिए असुविधा-जनक है, अथवा जब वैसा करना आवश्यक समझते हैं, तब उनका समूल उच्छेद भी करते हैं—कई देशों में उच्छेद कर भी चुके। वे "आर्यवाद" के मामले पर, "एक ही इतिहास विभिन्न काल मे पुनरावृत्त होता है" (History repeats itself) इस अर्ध-सत्य वचन को काम में लाए। इस समय आर्यभाषी लोग जैसा करते हैं, प्राचीन काल मे इन के पूर्वजो ने वैसा ही किया था—इस प्रकार का अनुमान पंडितों ने उपस्थापित किया। इस समय के यूरोपियन आर्यभाषी लोगों के सदृश, सुसभ्य श्वेतवर्ण सुन्दरकान्ति प्राचीन आर्य लोग अपनी पितृभूमि से फैल गये, नाना असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियो के देशों पर जा कर, आर्यों ने विना श्रम के उन्हे जीत लिया, सभ्यता के आलोक से उन्हे जंगली ·बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्यपद-वाच्य बनाया, प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से ग्रीस, इटली, भारतवर्ष प्रभृति देशों में नए बसे हुए आर्यों ने नई नई सभ्यता की सृष्टि की। ऐसा व्यापार विशेषतया भारतवर्ष मे हुआ था। इस भारतवर्ष मे कृष्णकाय असभ्य जंगली अनार्य लोग रहते थे, इन मे सभ्य जीवन सभ्य चिंतन कुछ भी न था। आर्य लोग आये। वे अनार्यों से

बहुत उन्नत थे, यह तो स्वत सिद्ध बात है कि आर्य लोग उन्हे पराजित कर उनके शासक बन बैठते—और ऐसा तो होना ही चाहिए था। चद अनार्य, आर्य लोगों के कब्जे में आए, उन्होंने आर्यों को मान लिया, वे आर्यों के अधीन हुए, आर्यों के दास बने, आर्यों ने कृपा कर के अपने समाज म उन्हे एक निम्न स्थान दिया, और वे "शूद्र" कहलाए। किन्तु बहुश अनार्य लोग आर्यों के हाथ मारे गए। और जिन्हों ने आर्यों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया, वे पहाड और जगल में भाग गए, जहाँ कि इन के वशज, आज कल के कोल भील मान्ताल कुर्कू, गोंड कन्ध उराव मालेर, गारो बोडो कुकी नागा अब तक जगली अवस्था में रहते हैं। सैकडों वर्ष पहले भारत म जो आर्य लोग आये थे, वे यूरोप के आर्य लोगों के पूर्वजों क सम्बन्धी थे, इस विचार स, भारत के उच्चवर्णीय हिन्दू, जो कि अपने को विशुद्ध आर्यवशीय सोच कर मन ही मन अभिमान रखते हैं, अगरेज और दूसरे यूरोपीय गण के स्वगोत्रीय बन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य य सब अगरेजों के दूर-सम्पर्कीय हम-नस्ल या ज्ञाति साबित हुए। ऐसी बात भारत के उच्चवर्ण क लोगों का बुरी न लगी (यह भी याद रखना चाहिए कि उच्चवर्णीय हिन्दू सब से पहले अगरेजी पढने लगे)। ऐसा प्रतीत होता है कि अगरेज लोग, जो भारत पर शासन करते हैं, हम उन्हीं के समान हैं, क्योंकि हम उन का हम-नस्ल हैं, —इस विचार से उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन के निभृत कोण में आनन्द का हिल्लोल सा बहा। पर इस मनोभाव को स्पष्ट भाषा में जाहिर कर भारतीय जातीय आत्म सम्मान बोध पर दढा मारने को कोई तैयार न था। अगरेजों ने भी इस सम्पर्क को किसी प्रकार से मान लिया, और भारतवर्ष के ब्राह्मण तथा और उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (और उन के अनुगामी निम्नश्रेणी के हिन्दू लोगों को भी), our Aryan brother the mild Hindu ऐसी आख्या दे कर उन का पीठ ठोंका, और अगरेजों की तुच्छता बोधमिश्र इस उदारता से हमारे बहुत-से लोग आनन्द से लोट-पोट हो गये।

हमारी हिन्दू-जाति विभिन्न जातियों के मिश्रण का फल है। प्राचीन काल में अनुलोम प्रतिलोम विवाह द्वारा यह समिश्रण हुआ था। इस क बाद, तुर्कों के हिन्दुस्तान विजय के उत्तर काल से, जाति भेद की कठोरता आ गई समिश्रण पूरा नहीं हो सका। इस का नतीजा यह निकला कि हिन्दुओं के विभिन्न समाज या सम्प्रदायों में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य-बोध रह गया, कहीं कहीं नई तौर से यह स्वातन्त्र्य-बोध आ गया, विभिन्न श्रेणियों में एक अबाध sympathy या अनुकम्पा का अभाव नवीन रूप से प्रकट हुआ। अनुकम्पा का यह अभाव आधुनिक हिन्दू ससार का सब से बडा अभाव है। इस स्वातन्त्र्य या पार्थक्य बोध के फल-स्वरूप, जो अपने आर्यत्व का अभिमान रखते हैं ऐसे उच्चवशीय हिन्दुओं के मन मे आभिजात्य-बोध भी और सुदृढ हुआ, यूरोप से लाई हुई अनार्य जयी आर्यों की कल्पना ने उसे सहायता दी।

इस सुखद ढङ्ग से हिन्दू-सभ्यता के सूत्रपात का इतिहास तैयार हुआ। कृष्ण वर्ण कुत्सित-काय असभ्य बर्बर अनार्य जाति स्मरणातीत काल से इस देश म रहता था। इस जाति का धर्म निहायत निम्न स्तर का था, इस की रीति और नीति क्रूर थी। गौरवर्ण सुसभ्य आर्यों ने आ कर इसे जीत लिया। आर्यों के हाथ हिन्दू-सभ्यता का प्रारभ हुआ। पहले युग के आर्यों की देवताओं की आराधना को अवलम्बन कर वेद-सहिता बनी, इस के उत्तर काल में उन्हीं का देवताओं की कथाओं पर पुराण ग्रन्थ बने, रामायण, महाभारत और पुराण प्राय राजाओं की पौराणिक कहानी विषयक पुस्तकें हैं। अनार्य लोगों का धर्म और धार्मिक अनुष्ठान एक प्रकार

ग्राम्य अनुष्ठान या आख्यान के बीच किसी प्रकार थोड़ा सा रह गया:—निम्न-जातियों में प्रचलित पूजा-पद्धति और देवतावाद में नष्ट-प्राय अनार्य-धर्म चाहे कहीं आत्मगोपन कर के रहता हो, परन्तु उस के कुल चिह्न आर्य-सभ्यता के प्लावन के सामने मिट गए।

इस समय अनार्यों के सम्बन्ध से भारतवर्ष में, विशेष कर के उत्तर-भारत में, एक प्रकार की घृणा का भाव आ गया है। "अनार्य" शब्द ही इस के लिए बहुत अंश में उत्तरदायी है। यदि "अनार्य" शब्द केवल "अन्-आर्य" अर्थात् "जो आर्य नहीं, या आर्य-जाति-सम्पर्कित नहीं" इस अर्थ में प्रयुक्त होता, तो कुछ बात न थी, परन्तु "अनार्य" शब्द का "घृण्य, नीच" ऐसा अर्थ संस्कृत-युग से आ जाने के कारण, यह शब्द सिर्फ जाति-वाचक या संस्कृति-वाचक न रहा, यह मानसिक तथा नैतिक अपकर्ष-वाचक हो गया। इस वक्त हमारे आर्यावर्त्त में हिन्दुओं की सब जातियाँ आर्यत्व का दावा पेश कर रही हैं—सब जातियों की राय है कि वे आर्य—द्विज—हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य—वे शूद्र नहीं, अनार्य नहीं। हिन्दुओं के समस्त समाज समान द्विज हो, आर्य हो या अभिजात हो, अपने को उच्च समझ यथार्थ रूप से उच्च रहने की शक्ति को प्राप्त करें—आर्यानार्य सब ही के लिए हम यह हार्दिक कामना करते हैं।

आर्यों की श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रश्न उठाना ही आजकल हिन्दू जाति में heresy या पाखण्डोचित मनोभाव-प्रसूत चिन्ता का फल समझा जायगा। आर्य लोग पृथिवी की प्राचीनतम सभ्य जाति न थे, ऐसी बात कहना, अथवा ऐसी बात का इङ्गित करना, पितृपुरुष की निन्दा करना जैसा या स्वजाति-द्रोहिता जैसा महापातक है—इस प्रकार का मनोभाव, बहुत-से हिन्दुओं के मन में जान से या अनजान से परिव्याप्त है। पर हिन्दू के मन में "सत्यानुसन्धित्सा" (अर्थात् सत्य-निरूपण के लिए अभिलाषा) भी सदा जाग्रत रहती है। हमारे विचार में तीन मनोभाव हमारी हिन्दू-संस्कृति के जड़ हैं—समन्वय, सत्यानुसन्धित्सा और अहिंसा। हमारी जाति को अतीत जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक तथा आधिमानसिक उत्कर्ष मिला, इसी सत्यानुसन्धित्सा की बदौलत। हमारी सत्यानुसन्धित्सा-रूप मनोवृत्ति अभी तक सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुई। इसी से, सत्य की खोज के कारण अगर कुछ संस्कार-विरुद्ध विचार हिन्दू-सन्तान के समक्ष प्रकट किये जायँ, तो चाहे पहले-पहल प्रचलित संस्कार पर कुछ आघात भले ही लगे, परन्तु साधारण हिन्दू प्रस्तुत मामले को अच्छी तरह से समझना चाहता ही है—नूतन तथा सम्पूर्ण रूप से अनपेक्षित होने के कारण ही प्रस्तावित विचार से घृणा नहीं करता और न अन्त तक उस से विमुख हो रह जाता है।

आर्य भाषा संस्कृत का स्थान भारतवर्ष में आर्यों के एकाधिपत्य के पक्ष में प्रबलतम युक्ति स्वरूप है—समग्र हिन्दू-शास्त्र इस आर्य-भाषा ही में निबद्ध हैं। उत्तर-भारत में इस वक्त एक ही आर्य भाषा (पंजाबी, हिन्दी, बिहारी, बंगला आदि) प्रचलित है। आर्य एकाधिपत्य के विषय में यह दूसरी प्रबल युक्ति है। इस के अलावा संस्कृत शास्त्र के—वेद के न हों, पुराण के सही—मत के अनुसार हमारा इतिहास भारतवर्ष में अनादि काल से धारावाहिक रूप से चला आया है—अनादि काल से अगर न माना जाय तो भी अतिशय प्राचीन काल से तो है ही। भाषा-गत और साहित्य-गत इन दो युक्तियों ने हमें सब से अधिकतया "आर्यवाद"-ग्रस्त बना रक्खा है।

इन युक्तियों के प्रतिपक्ष में कई युक्तियाँ हैं, जिन में मुख्य ये हैं—दाक्षिणात्य तथा दक्षिण-भारत में सुसभ्य अनार्य भाषा का अस्तित्व, संस्कृत-समेत उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान अनार्य

भाषा का प्रभाव, ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के पूर्वकालीन समय के आर्यभाषा हिन्दुओं की संस्कृति के निदर्शन न मिलना, भारत के बाहर आर्य जाति का इतिहास, और पृथिवी के और प्राचीन स्थानों के इतिहास से भारत के इतिहास का संयोग।

तामिल भाषा अपने विराट् और प्राचीन साहित्य के साथ दक्षिण भारत में खडी है,—यही भाषा द्राविडों की स्वतन्त्र सभ्यता का एक अनपनेय निदर्शन है, जिस ने आर्य सभ्यता के सामने सम्पूर्णतया आत्म-बलिदान न किया। वैदिक भाषा भारत की आर्य भाषा का प्राचीनतम निदर्शन है, इस भाषा में प्राचीन आर्यपन विशेषतया मौजूद है। पर इस वैदिक भाषा में भी अनार्य भाषा का प्रभाव थोडा-सा विद्यमान है। इसके अलावा, जितना इधर हम आते हैं, आर्य भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर अनार्य भाषा का प्रभाव उतना ही बढता जाता है। धीरे धीरे आर्य भाषा को अनार्य भाषा के अर्थात् कोल और द्राविड के साँचे मे ढाल दिया गया, आर्य भाषा ने आहिस्ता आहिस्ता अनार्य भाषा के घर में अपनी जाति का सत्यानाश किया, इतना समझने में देर नहीं लगती।

दूसरी बात यह है कि हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में बड़े बड़े राजाओं के नाम मिलते हैं, एक प्रौढ सभ्यता का पता भी इन ग्रन्थों से हमें चलता है। परन्तु रामायण, महाभारत और पुराण के युग की (अर्थात् कम से कम तीन चार हजार बरस पूर्व के हिन्दू युग की) पुरानी इमारतें, हाथ के काम, शिल्प के निदर्शन, ये सब कुछ भी नहीं मिलते। केवल कई हजार बरस के "पुराण" और "इतिहास" की कहानियाँ हमारी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण स्वरूप विद्यमान हैं। इस साहित्यिक आधार के सिवा दूसरा आधार, जिसे हम "पत्थरिया आधार" कह सकते हैं, हमारे पास मौजूद नहीं। क्या मौर्य युग का पूर्व-कालीन हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन कुछ भी नहीं हैं? मिसर, बाबिल देश, असीरिया, लघु एशिया, क्रीट द्वीप—इन सब स्थानों में अब से तीन चार पाँच हजार बरस पूर्व की चीजें मिली हैं। भारतवर्ष में मोहेन-जो-दडो और हरप्पा में जो नगर के खँडहर और दूसरी चीजें मिली हैं, वे सचमुच चार या पाँच हजार बरस के पहले की हैं, परन्तु वे आर्य जातीय लोगों के हाथ के काम नहीं,—जो पण्डित इस विषय पर अनुसन्धान कर रहे हैं, उनका विचार तो यही है। इस के अतिरिक्त, भारत के बाहर रहने वाले आर्य जातीय लोगों के इतिहास पर विचार करना है। सब से पहले अपनी आदि धामभूमि से निकल कर इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् और जातियों के साथ मिलन या संघर्ष में) किस समय आर्य लोग पधारे, उसका कुछ कुछ पता अब चल रहा है। यह तो अब से सिर्फ चार या साढे चार हजार बरस की बात है। इसी समय ग्रीस तथा उत्तर पूर्व एशिया-माइनर में आर्यों से हमारी पहली भेंट होती है। इस घटना के बहुत काल बीतने के बाद आर्य लोग भारतवर्ष में आये। हमारे विचार से, भारतवर्ष से आर्य लोग बाहर के देशों में गये, ऐसे अनुमान के पक्ष की युक्तियाँ वैसी प्रबल नहीं। एक बात यह है—भारतवर्ष के इतिहास को और देशों के इतिहास से अलग या विच्छिन्न कर के देखना सही नहीं। प्राचीन काल में पारस्य, बाबिल देश तथा एशिया माइनर इत्यादि मुल्कों से भारतवर्ष घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र से बँधा हुआ था। उन देशों के साथ जो योगसूत्र भारतवर्ष का था, वह प्राचीन भारत के इतिहास के विवेचन में हमारा एक प्रधान अवलम्बन है। उसे छोड़ने से हमें कुछ फायदा न पहुँचेगा। ग्रीस प्रभृति विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों और जातियों के लोगों के मिश्रण से किस प्रकार एक

नवीन जाति और नवीन संस्कृति सृष्ट हुई, हमारी हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-संस्कृति की सृष्टि की आलोचना करने के समय उस विषय पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

कैसे हिन्दू-सभ्यता का सूत्रपात आरम्भ हुआ, और अपने पूर्ण रूप या पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के बाद हिन्दू-सभ्यता कब "स्वे महिम्नि" खड़ी हुई, इन विषयों पर जो मतवाद हमारे विचार में धीरे धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति के आलोचक पंडितों में साधारणतया स्वीकृत होता जाता है और अन्त में जिसे सब ही स्वीकृत करेंगे, मैं अब उस का कुछ दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा। इस विषय को a posteriori रीति से (अर्थात परिचित तथ्य के आधार पर अनुमान) प्रकट न कर के, a priori रीति से (अर्थात इतिहास-वर्णन के ढंग से), पौर्व्वापर्य अनुसार पुनर्गठित रूप की वर्णना कर के कहूँगा।

इस समय से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व, लगभग ईसवी ३,००० के आस-पास, मध्य या पूर्व यूरोप के किसी अंश में आदि आर्य जाति वास करती थी। अपनी पितृ-भूमि में आर्य लोग सभ्यता के उच्च स्तर पर पहुँच न सके। वास्तव सभ्यता में ये लोग प्राचीन काल की सुसभ्य जातियों के बहुत पीछे ही थे। पर इन में बहुत-से मानसिक और नैतिक गुण थे, ये लोग एक साथ कृतकर्मा तथा चिन्ताशील, कल्पनाशील तथा दृढव्रत जाति थे, और आपस में संबद्धता का भाव भी यथोपयुक्त था। फिर यह अनुमान होता है कि स्त्री-जाति के विषय में इन में कुछ ऐसी उच्च धारणाये थीं जो आजकल की सभ्यता में भी विद्यमान हैं। आर्य-जाति में कई tribe या गोत्र थे, इन गोत्रों में इन की मूल-भाषा के कुछ कुछ पार्थक्य आ गये। यह आर्य-जाति किन्हीं कारणों से अपनी पितृ-भूमि छोड़ कर पूर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चले जाने को बाध्य हुई, देश में अत्यधिक सर्दी का आकस्मिक प्रभाव इस में एक कारण हो सकता है, और यह भी संभव है कि पूर्व और उत्तर से उराल-अल्ताई जाति के लोगों ने आदि आर्यों पर चढ़ाई की, इस से इन्हें अपना प्राचीन वास छोड़ना पड़ा।

जिस समय आर्य लोग, ईसवी सदी के लगभग ३,००० वर्ष पूर्व, पहले अपने देश में थे, और कुछ खेती का काम तथा कुछ गो-मेषादि-पालन इनकी मुख्य वृत्ति थी, उसी समय पृथ्वी के कई अन्य भागों की सभ्यता विशेष ऊँची थी। इन में पहली थी मिसर की सभ्यता, जिस का प्रारम्भ ईसवी साल के पूर्व ४,००० से अधिक वर्ष से था, और जिस की जड़ और भी प्राचीन है। दूसरी—बाबिल और असीरिया की सभ्यता, जो मिसर से बराबरी करती है; और इन दोनों से भी अलग एशिया-माइनर और यूनान की प्राचीन सभ्यता है। विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, बड़ी बड़ी इमारतें और बड़े बड़े देव-मन्दिर, वाणिज्य, युद्ध-विग्रह, विजयगाथा, देवतावाद और पुराण-कहानी, पुरोहितश्रेणी, भास्कर्य, मूर्त्तिशिल्प, चित्रविद्या, शिलालेख, मृण्मय लेख, धातुनिर्मित और मृण्मय पात्र इत्यादि विषयों के सहारे इन सभ्यताओं ने रूप ग्रहण किया; आदिम अवस्था के आर्यों में ये सब कुछ न थे—यहाँ तक कि इन में शिल्प-विद्या-विषयक जागृति भी न हो सकी। जब आदिम आर्य लोग अपनी पितृभूमि में थे तब उन्हों ने एक विशेष उपयोगी साधन संग्रह किया—वे घोड़े को अपने वश में लाए। घोड़े पर सवार हो कर, या दो पहिए वाले रथ पर चढ़ कर दूर दूर देश तुरंत अतिक्रम करने का एक उपाय उन्हों ने आविष्कार किया। इस आविष्कार का एक फल यह हुआ, कि आर्य लोग जब पहले पहल इतिहास के रंग-मञ्च पर उतरे, तब पार्थिव सभ्यता में अर्द्ध-बर्बर होते हुए भी, सुसम्बद्ध, सात्माभिमान, कर्मशक्तियुक्त तथा भावनाशक्तियुक्त होने के कारण आसिरीय-बाबिल, एशिया-माइनर और ग्रीस की सुसभ्य जातियों के लिए इन्हे रोकना कठिन काम हो गया। ईसा के क़रीब २,००० वर्ष

-पहले, आर्य जाति इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात्, अपनी पितृभूमि के बाहर दूसरी जातियों के देशों में) सर्वप्रथम दिखाई दी। इन के आगमन का समाचार हमें प्राचीन असारिया और बाबिल, प्राचीन एशिया-माइनर और प्राचीन यूनान में मिलता है। उस समय भारतवर्ष की अवस्था कैसी थी, यह हम ठीक ठीक नहीं जानते। नि सन्देह उस समय द्राविड़ा और कोल (आस्ट्रिक) श्रेणी के अनार्य लोग, उत्तर-भारत में गंगा और सिन्धु के तीर पर तथा दक्षिण भारत में, अपने जीवनाचार को स्थापित कर के शान्त भाव से दिन बिताते थे। इतने में आर्य लोग की, जो अब तक कई झुंडों में विभक्त हो चुके थे और इन विभिन्न झुंडों में कुछ कुछ भाषा-गत पार्थक्य भी आ गया, एक शाखा एशिया माइनर में उपनिविष्ट हुई, जो कि अब "हित्ती" Hittite नाम से हमारे यहाँ प्रख्यात है, भाषा तात्त्विक लोग इन की भाषा की (जिसे पंडितों ने पढ़ा है) चर्चा कर के ऐसा विचार करते हैं कि हित्ती शाखा के आर्य लोग सब से पहले आदिम आर्य-संसार से विच्छिन्न हुए, और एशिया-माइनर में आ कर बसे, वहाँ स्थानीय जातियों में सुप्रतिष्ठित हो कर उन के शासक बने। हित्ती लोगों की आर्य बोली में मूल आर्य भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ सरक्षित थीं, जो कि दूसरी प्राचीन आर्य बोलियों में भली भाँति नहीं मिलतीं (देखना—एडगार एच्० स्टर्टेवेन्ट्—ए कॉम्पैरटिव ग्रामर ऑव दि हिट्टाइट लैंग्वेज, लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑव अमेरिका, फिलाडेलफिया, १९३३, पृ० २६—३३, तथा अन्यान्य पृष्ठों पर दिये विचार)। ईसा के पूर्व द्वितीय सहस्रक के मध्य भाग में हित्ती लोग एशिया-माइनर में राज्य करते थे, निश्चय ही इसके कुछ शतक पहले वे यहाँ आए होंगे। ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व, आर्यों के तीन झुंडों का पता हमें चलता है, पहला, ग्रीस विजयी आर्यों का, जो ग्रीस की प्राचीन सुसभ्य अनार्य जाति के साथ संघर्ष में आए, दूसरा एशिया माइनर के हित्ती आर्यों का, जिन के विषय में ऊपर कुछ कहा गया है, और तीसरा, पूर्व के आर्य लोगों का, जो ईसा के पूर्व लगभग २,५०० वर्ष से उत्तर-इराक, असीरिया और बाबिल देश में आते थे। इन तीनों श्रेणियों के आर्यों में कुछ भाषागत पार्थक्य दिखाई देता है। अतः मूल आर्य भाषा का परिवर्तन और विभिन्न रूप ग्रहण का काम कम से कम ईसा के पूर्व तीसरे सहस्रक के प्रथमार्ध से शुरू हुआ।

ऐसे कुछ कारण हमारे समक्ष अब दीखने हैं, जिन से हमारी सभ्यता की उत्पत्ति के इतिहास को मध्य एशिया के सम्पर्क से छुड़ाना पड़ेगा। जो आर्य भारतवर्ष की ओर चले, वे उत्तर मेसोपोतामिया की राह से आये,—ऐसा आभास हम पाते हैं। मध्य एशिया में आर्य पितृ भूमि का अवस्थान निश्चय करने की सामग्री कुछ नहीं है यह तो केवल कल्पना प्रसूत ही है। मेसोपोतामिया से सम्पर्क के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण मिलने के बाद, मध्य-एशिया की बात काल्पनिक मानित हो जाती है। जब से आर्य लोग उत्तर मेसोपोतामिया में सर्वप्रथम प्रकट हुए, तब से उनके सम्बन्ध में बाबिल देश और असारिया के लोगों ने जो कुछ कहा, वह ही आर्य लोगों के विषय में सबसे प्राचीन समसामयिक उल्लेख है। इन की कही हुई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सुसभ्य असारीय, बाबिलीनीय तथा एशिया-माइनर की जातियों के बीच आर्य लोग जब आए, वे चाहे कृष्ण-सागर के उत्तर तीर की राह लेकर उत्तर में कॉकसस पर्वत अतिक्रम करके आए हों, या चाहे उत्तर ग्रीस के मकदूनिया और थ्रेशिया की राह हो कर कृष्ण सागर के दक्षिण तीर का पन्थ ले कर एशिया-माइनर और मेसोपोतामिया में आए हों। बहुत-से झुंडों में नवागत आर्य लोग पधारे। इन के कुछ गोत्र उन सब स्थानों पर रहते थे और अन्त में वहीं बस गए, इन्हों ने स्थानीय

जातियों के बीच अपने लिए एक गौरवान्वित स्थान कायम कर लिया, और ये कहीं कहीं स्थानीय लोगों को जीत कर उन के शासक बने; यहां तक कि आर्य आगन्तुकों के एक झुंड ने (जिसके गोत्र का नाम था Kashshu या Cassite—शायद आर्य-भाषा में इस शब्द का रूप "काशि", "काश्य" हो) बाबिल नगरी पर दख़ल कर कई सदी तक वहां राज्य किया। जो आर्य गोत्र वहां रह गए, वे धीरे धीरे उस देश के लोगों से मिल गये, और इन्होंने उनकी भाषा को ग्रहण कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को विलुप्त कर दिया। परन्तु इन आर्यों के राजा या मुखियों के नाम, इन के देवताओं के नाम, और इन की भाषा के दो चार शब्दों से पता चलता है कि इन की भाषा कैसी थी। इन सब आधारों से, खीस्ट-पूर्व २,००० से १,२०० तक मेसोपोतामिया और उसके आस-पास उपनिविष्ट हुए आर्यों की अवस्था का कुछ पता भी हमें चलता है। ये आर्य ही इस प्रान्त में सब से पहले घोड़े को लाए। जो भाषा इन में बोली जाती थी, वह वैदिक और प्राचीन ईरानी इन दोनों की जननी थी। अपिच, इनका जो धर्म था, और जिन देवताओं की अर्चना ये लोग करते थे, उन के सम्बन्ध में जो ख़बर हमें मिलती है, उस से प्रतीत होता है कि इन्हीं का धर्म, तथा इन्हीं का देवता-लोक भारतवर्ष में पहुँच कर वैदिक धर्म्म तथा वैदिक देवता-लोक में परिवर्त्तित हो गया। सचमुच मेसोपोतामिया और एशिया-माइनरवाले आर्य-लोग प्राग्-वैदिक या वेद-पूर्व आर्य थे। भारतीय वैदिक-धर्म का सूत्रपात इन्हीं के तथा पारस्य की ओर चले हुए दूसरे आर्यों के बीच हुआ था। और यह बात भी सम्भव है कि मेसोपोतामिया तथा पारस्य में, ये आर्य लोग अपने देवताओं के विषय में जो स्तोत्र या भजन बनाते थे, उन सब स्तोत्र या भजनों में से कुछ कुछ अंश भारतवर्ष तक पहुँचे; भारतवर्ष में नये बनाये हुए और स्तोत्रों के साथ ये पुराने स्तोत्र (जो कि ईसा के पूर्व लगभग २,००० या १,८०० या १,५०० में बनाये गए) भारतीय द्विज, ऋषि या आचार्यों से ईसा के पूर्व लगभग १००० या ६०० में आद्य ब्राह्मी लिपि में लिखित हुए, और "व्यास" नामक किसी ऋषि के द्वारा तीन संहिता-ग्रन्थों में संगृहीत और सरक्षित हुए।

वेद के पूर्व के युग के इन आर्यों के कुछ नाम और उन की भाषा के कुछ शब्द अब दिए जाते हैं। ये नाम तथा शब्द बाबिलीय तथा एशिया-माइनर की प्राचीन भाषाओं में गृहीत हो कर रक्षित हुए। स्थानीय अनार्य-भाषाओं में इन प्राचीन आर्य-शब्दों का रूप तथा उच्चारण ज्यों का त्यों सरक्षित नहीं हो सका। इनके मूल-रूप जो कि हिन्दू-ईरानी-युग की आर्य-भाषा में चालू थे, तथा इन के भारतीय वैदिक भाषानुमोदित प्रतिरूप, बहुत विचार और अनुमान कर निर्धारित किए गए हैं।

देवताओं के कुछ नाम यथा—

[१] Shuriash = वेद-पूर्वीय आर्य-भाषा में Surias, वैदिक "सूर्य."।

[२] Maruttash = वेद-पूर्व Marutas, वैदिक "मरुत"।

[३] Shimalia = "उज्ज्वल (अर्थात् तुषार-धवल) पर्वताधिष्ठात्री देवी" = वेद-पूर्वीय Z'himālā = वैदिक 'हिम" + "-आल-",

[४] Shugamuna = "महामारी का देवता, ज्योति का देवता" = वेद-पूर्वीय S'auka-manas = वैदिक "शोक" + "मनः",

([३] और [४] सम्यक दो देवता, भारतवर्ष में वैदिक जगत् से निर्वासित हुए, वेदों में इनका पता नहीं चलता),

[५] Dal ash= 'नक्षत्रों का पिता''=भारतीय 'दक्ष'', सत्ताइस नक्षत्रों का पिता
[६] Indara=वैदिक ''इन्द्र'' (''इ न्द र''—स्वरभक्तियुक्त रूप)
[७] Mitra=वैदिक ''मित्र'';
[८] Nashattiya=वैदिक ''नासत्य'
[९] Uruwna या Aruna=वैदिक 'वरुण'', संस्कृत ''अरुण'' आकाश तथा सागर का देवता ।

राजा या प्रधानों के कुछ नाम—

[१] Abirattash=वैदिक 'अभिरथ''
[२] Shuzigash=वैदिक रूप ''सु जिग''
[३] Artamanya=वेदपूर्वीय * Rta manyas, वदिक ''ऋतमन्य''
[४] Arzawiya=वैदिक ''आज य
[५] Biriamaza=वैदिक ''वीयराज'',
[६] Biridashwa=वैदिक ''वृद्धाश्व''
[७] Dashiu=सम्भाव्य वैदिक * 'दशु' अथवा ''दस्र''
[८] Aitagama=वदपूर्वीय Aitagama वैदिक ''एतगाम''
[९] Indaruta=वदपूर्वीय Indaranta, Indrauta, वैदिक ''इन्द्रोत'',
[१०] Namyawaza=सम्भाव्य वैदिक * ''नाम्यवान'',
[११] Rushmanya=सम्भाव्य वैदिक ''रश्मिन्य''
[१२] Shatiya=वदिक ''सत्य''
[१३] Shubandu=वैदिक ''सुब धु''
[१४] Shumittarash=वदिक ''सुमित्र '
[१५] Shuwardata=सम्भाव्य वैदिक * ''सुवर्दात =''स्वदत्त'';
[१६] Teuwatti=सम्भाव्य वैदिक * 'यवात्त'
[१७] Turbazu=''तुवन, तुर्वसु'';
[१८] Tushratta=पूर्व वैदिक * Durzhratha=वैदिक 'दूरथ';
[१९] Artashumara=वदिक ''ऋतस्मर'
[२०] Artatama=वैदिक ''ऋतधाम'
[२१] Dashartti=सम्भाव्य वैदिक * 'दासत्ति'',
[२२] Mattiwaza=सम्भाव्य वैदिक ''मतिवान'
[२३] Saushshatar= 'सौक्षत्र'; इत्यादि ।

हिन्दू इरानीय युग की आय भाषा के कुछ शब्द—

[१] Maria=वैदिक मर्य'' (=योद्धा);
[२] Aika=वदपूर्वीय * Aika, वदिक ''एक ;

[३] Tera = "त्रि, त्रय",
[४] Panza = "पञ्च",
[५] Satta = "सप्त";
[६] Nava = "नव",
[७] Tapashshash = "तपस्",
[८] Wartanna = "वर्त्तनम्' —चक्कर देना।
[६] Vasanna = "वसनम्"—रोकना,

(ये नाम और शब्द, Acta Orientalia XI i, ii, iii, इन तीन खंडों में प्रकाशित रूसी लेखक N D. Mironov कर्तृक लिखित Aryan Vestiges in the Near East of the 2nd Millenary B C. नामक उपयोगी प्रबन्ध से लिए गए हैं; Mironov के सगृहीत जिन नाम और शब्दों की व्युत्पत्ति पर सन्देह है, वे यहाँ नहीं उद्धृत किए गए।) इस प्रकार वैदिक भाषा की सन्तान जननी-रूपिणी किसी भाषा के उपयोग करने वाले आर्यों को खीस्ट-पूर्व लगभग २,००० से १,५०० मे, और उस के बाद भी, मेसोपोटामिया और एशिया-माइनर में हम देखते हैं।

आर्य लोग इन देशों में रहने के समय सुसभ्य Ashur अशुर या "असुर" (अर्थात् आसिरीय-वाबिलोनीय) जाति के प्रभाव से प्रभावित हुए। आसिरीय-वाबिलोनीय जाति की बड़ी बड़ी इमारतें, इन के (विशेषतया आसिरीयों के) शौर्य तथा निठुरपन से आर्य लोग अभिभूत हो गए। असिरीय रीति-नीति ने भी आर्यों पर बहुत प्रभाव डाला। भारतवर्ष मे आने के बाद आर्य लोगों के मन में असुर जाति के सम्बन्ध में जो स्मृति निहित थी, वह परिवर्त्तित होकर उत्तर-कालीन हिन्दुओं में प्रचलित, यन्त्र तथा गृह-निर्माण के काम में सुदक्ष, देवता-विरोधी असुर या दानव की कल्पना में रूपान्तरित हुई।

जिन आर्य गोत्रों ने मेसोपोटामिया मे उपनिवेश नहीं किया, पर जो पूर्व की तरफ़ आए, वे ही पारसीक तथा भारतीय आर्यों के पूर्वज थे। पर्शु या पार्श्व, मद, शक, पार्थव प्रभृति कुछ आर्य गोत्र पारस्य देश में ही रह गए, भरत, कुरु, मद्र, शिवि, द्रुह्यु, त्रित्सु, पुरु, भृगु प्रभृति विभिन्न गोत्र भारतवर्ष मे पधारे। ऐसा अनुमान होता है, कि पारस्य तथा भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमांश मे एक ही जाति के अनार्य लोग रहते थे, जो कि आर्यों के द्वारा "दास" या "दस्यु" कहलाए।

भारतवर्ष के बाहर ही "दास या "दस्यु" नाम के अनार्यों के साथ आर्यों का सघर्ष शुरू होना सम्भव है। इस संघर्ष की बात कुछ कुछ वैदिक साहित्य में—ऋग्वेद मे—हमें मिलती है। उस के बाद, आहिस्त. आहिस्तः इन अनार्यों के साथ मित्रता सम्बन्ध भी होने लगा। ऐसा अनुमान होता है कि भारतवर्ष मे तीन प्रकार के अनार्य रहते थे। [१] Negrito नेग्रिटो या "निग्रोवटु" श्रेणी के अनार्य,—नाटा कद, रग खूब काला, आफ्रिका के निग्रो के माफ़िक नाक और होठ, बाल मेष-लोम सदृश,—ये लोग ज़्यादा कर के सामुद्रिक उपकूल के प्रान्त मे रहते थे, अगर सभ्यता की बात कही जाय, तो इन मे उच्च सभ्यता का कुछ भी अंश न था, मच्छी मार कर या जंगल मे चिड़ियों या जानवर का शिकार कर ये लोग गुज़र कर रहे थे,—यह जाति अब बिलकुल विनष्ट हो गई है, सिर्फ दक्षिण बिलोचिस्तान मे, दक्षिण-भारत मे और आसाम प्रान्त में इस का

कुछ अवशेष अभी तक कष्ट से बचा है। सम्भावना अधिक है, कि इस जाति के लोग भारत के प्राचीनतम अधिवासी थे। [२] Austric—आस्ट्रिक जाति—जिस के लोगों ने उत्तर पूर्व की राह से—आसाम प्रान्त—बर्मा तथा हिन्द चीन—से भारतवर्ष में प्रवेश किया। इन का चेहरा किस प्रकार का था, यह तो हम ठीक से नहीं जानते, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी कद में नाटे थे, इन की नाक भी चपटी थी, और जो बोली ये लोग बोलते थे, उसी से मध्य भारत की "कोल" बोलियाँ, और (आसाम की) खासी या खसिया बोली उत्पन्न हुई। इन की और शाखाएँ हिन्द चीन, मालय देश तथा द्वीपमय भारत के द्वीपपुञ्ज में, एवं प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैल गई। भारतवर्ष में तो गंगा की उपत्यका में, तथा मध्य और दक्षिण भारत में ये लोग ज्यादा फैले। हिमालय प्रान्त में भी ये थे, इस का प्रमाण भी है। धान की खेती, केला नारियल आदि कुछ फलों का उत्पादन, तथा आनुष्ठानिक और सामाजिक जीवन में पान-सुपारी का व्यवहार—हिन्दू सभ्यता की ये वस्तुएँ आस्ट्रिक जाति की दान है, ऐसा प्रतीत होता है। और इस के अलावा, इन में प्रचलित धर्म विश्वास तथा आचार अनुष्ठान हमारे हिन्दू पुनर्जन्मवाद के अन्तराल में और हमारी हिन्दू पूजा पद्धतियों में तथा विवाह और श्राद्ध के बहुत अंगों में छिपे हुए रहते हैं। आस्ट्रिक-भाषी जनगण उत्तर-भारत के समतल प्रान्तों में इस समय हिन्दू जनता में रूपान्तरित होकर अपना पृथक् आस्ट्रिक अस्तित्व को भूलकर, इसकी स्मृति तक से विलुप्त गए हैं। [३] नग्निटो तथा आस्ट्रिक के अलावा तीसरी अनार्य जाति जो आर्यागमन के पूर्व से भारतवर्ष में रहती थी, वह द्राविड जाति है। पंडित लोग सोचते हैं कि द्राविड जाति दीर्घकाय, सरल नासिक, और "दीर्घकपाली" थी। भारत के पश्चिम के देशों के लोगों के साथ इनका संयोग या सम्बन्ध था। भारतवर्ष में आर्य लोगों के आगमन के कई सहस्र वर्ष पूर्व, पश्चिम की घाटियों की राह से इनका भारतवर्ष में प्रवेश हुआ था—ऐसा सोचा जाता है। दक्षिण भारत में इनका घनिष्ठ वास हुआ था, पर उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इनका प्रसार हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। वहाँ ये लोग आस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ मिल जुल के रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आस्ट्रिक और द्राविड, इन दोनों जातियों का बहुत-कुछ मिलन तथा सम्मिश्रण हुआ था। द्राविड लोग आस्ट्रिकों से अधिक सभ्य थे, ये बड़ी बड़ी इमारतें, बड़े बड़े शहर बनाते थे, हिन्दू सभ्यता के बहुत से बाह्य उपकरण इस द्राविड जाति से ही गृहीत हुए, शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओं की विराट् कल्पनाएँ पहले पहल द्राविड जाति ही में उद्भूत हुई। योग साधना के मूल तत्त्व तथा आधार, द्राविड जाति की धार्मिक चिन्ता का फल था। मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा[1] की विराट् सभ्यता द्राविड जाति के लोगों के कृतित्व के परिचायक हैं, ऐसा प्रतीत होता है। द्राविड जाति के लोग आर्यों के सदृश गोपालन करते थे—गोपालन आस्ट्रिक जाति के रिवाज में नहीं था, और द्राविड लोग सर्वप्रथम घोड़ा को अपने वश में लाए, ऐसा भी सम्भव है।

जब आर्य लोग भारतवर्ष में पहले आए, तब इस देश में सुसभ्य (या किसी प्रकार की सभ्यता को प्राप्त की हुई) ये दो अनार्य जातियाँ वास करती थीं। नागरिक संस्कृति का उन्मेष द्राविडों में हुआ था, आस्ट्रिक जाति की सभ्यता मुख्यतया ग्रामीण सभ्यता थी, इनके सामने नवागत आर्यों की सभ्यता यायावर तथा ग्रामीण सभ्यता ही था। आर्यों के आगमन से इस देश के प्राचीन अनार्य अधिवासियों का पूरी तौर से मूलोत्पाटन या पूर्ण विनाश नहीं हुआ। नये आए हुए आर्य और पुराने बाशिन्दे अनार्य, एक दूसरे के पास रहने लगे। ज्यादा करके आर्य लोगों का आगमन होना सम्भव नहीं था, फिर विजेता तथा नूतन देश में आत्मप्रतिष्ठा के लिए आए हुए आर्यों में

1—स्थानीय उच्चारण हरप्पा नहीं, हड़पा है—अ० स०।

स्वजातीय स्त्रियों की कमी होना ही सम्भव और स्वाभाविक है। आर्य, द्राविड, कोल (आस्ट्रिक)—इन तीन जातियों में भावों का आदान-प्रदान और शोणित-संमिश्रण होने लगा। आर्य लोग तो विजेता थे—कम से कम इतना ही मानना पड़ेगा कि पंजाब-प्रान्त में विजेतृ-रूप से आर्यों का प्रवेश हुआ था। आर्यों की भाषा एक शक्तिशाली भाषा थी, और आर्यों की सहति-शक्ति भी असाधारण थी। आर्यों की भाषा आहिस्ते आहिस्ते प्रतिष्ठित हुई, और उनकी सहति-शक्ति के कारण अनार्यों के द्वारा यह भाषा गृहीत होने लगी; सम्भव है कि इस ज़माने में द्राविड तथा कोल (आस्ट्रिक) गोष्ठी की परस्पर-विरोधी अनार्य भाषा और उपभाषा के अनैक्य के गड़बड़ के बीच, आर्य-भाषा सर्वजनग्राह्य भाषा बनी, और इसी से इसका फैलाव सहज हुआ,—समग्र उत्तर-भारत ने अपनी पुरानी द्राविडी तथा कोल (आस्ट्रिक) बोलियों को छोड़ आर्य-भाषा को अपनाया। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देव-देवियों को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया, फिर धीरे धीरे अनार्यों के देवता, अनार्यों के धर्मानुष्ठान, अनार्यों के दर्शन और तत्त्वज्ञान, अनार्यों का भक्तिवाद, आर्यों के मन पर अपनी छाप लगाने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित लोग आर्य-भाषा ग्रहण करने के साथ ही साथ आर्य-समाज (अर्थात् आर्यभाषी समाज) में गृहीत होने लगे—एक क्रम-वर्धन-शील आर्य-भाषी जनता संगठित होने लगी। इस रीति से, संस्कृत भाषा जिसका वाहन था ऐसी एक मिश्र आर्यानार्य-सभ्यता, या हिन्दू-सभ्यता, आर्यों के भारतवर्ष के आगमन के थोड़े समय के बाद धीरे धीरे तैयार होने लगी।

इस उपाय से हिन्दू यानी प्राचीन भारत की जातीय सभ्यता के विशिष्ट रूप में विकासित होने में करीब करीब एक हज़ार बरस लग गए। आर्यों का भारतवर्ष में आना, उनके मेसोपोटामिया में प्रकट होने के थोड़े समय बाद ही हुआ, ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं होगा। अर्थात् ख्रीष्ट-पूर्व १,५०० के बाद या लगभग १,५०० ख्रीस्ट-पूर्व, यह घटना हुई थी। बुद्ध के समय, करीब ५०० ख्रीस्ट-पूर्व के आस-पास हिन्दू-सभ्यता का ढाँचा बन गया। अनार्य, आस्ट्रिक, और द्राविड़ देवताओं की लीलाएँ, उनके राजाओं की प्राचीन कहानियाँ,—ये सब आहिस्तः आहिस्तः संस्कृत भाषा में ग्रथित होकर, आर्यों की देव-कहानियों के तथा राज-कहानियों के साथ अच्छेद्य सूत्र के योग से संयुक्त हो गई, और इनको रामायण, महाभारत, और पुराणों में स्थान मिला। यही प्राचीन ग्रीस में भी हुआ था। सम्प्रति ऐसा एक अभिमत प्रकाशित किया गया है, की प्राचीन काल के क्षत्रिय लोग प्रधानतया अनार्य राजन्य सम्प्रदाय के लोग थे; इस देश में स्मरणातीत आर्य-पूर्व युग से जो अनार्य राजा लोग राज करते थे, नव-जात हिन्दू समाज में वे ही अपने पूर्व गौरव को अक्षुण्ण रख कर क्षत्रिय-रूप में गृहीत हुए। फिर ऐसा भी मत किसी विद्वान् ने प्रकट किया कि भारतवर्ष में आर्य-सन्तान के झुण्ड यहाँ आए ही नहीं, सिर्फ़ आर्यों की भाषा और आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान, Culture-drift अर्थात् प्रवहमान संस्कृति-स्रोत के हिसाब से ईरान से भारतवर्ष में आए—मूल आर्य-जाति के आदमी नहीं आए, पर उनकी भाषा आई, और उनका धर्म फैला।

आर्यों की विशिष्ट उपासना-रीति का नाम "होम" है। वैदिक आर्यों के देवता लोग आकाश में रहते हैं। अग्निदेव उन के दूत या मुख-पात्र थे; वेदी बना के उस पर लकड़ी की आग जला के, उसी आग में इन्द्र, वरुण, सूर्य, पूषा, अग्नि, अश्विद्वय, उषा, मरुद्गण प्रभृति देवताओं के उद्देश्य में दूध, घी, यव की रोटी (पुरोडाश), मांस, सोमरस इत्यादि खाद्य वस्तु की आहुति दी

जाती थी। देवता लोग आग के सहारे से उन वस्तुओं को प्राप्त कर खुश होते, और होमकर्त्ता को अश्व, गो, स्वर्ण, पुत्र सन्तान, प्रचुर शस्य आदि दान करते थे। पर 'पूजा" की रीति आर्यों में चालू नहीं था—प्रतिमा या और किसी प्रकार के देवप्रतीक पर फूल, पत्ता, चन्दन सिन्दूर इत्यादि चढाना, अक्षत, फल मूलादि के नैवेद्य अथवा बलिदान किए हुए पशु के मुण्ड या पात्र में उसका लहू निवेदन करना—यह सब वैदिक अर्थात् आर्य अनुष्ठान नहीं था। "पूजा" शब्द भी मूल में द्राविड भाषा का है, ऐसा अनुमान होता है। ये अनार्य अनुष्ठान, अनार्य देवताओं के साथ साथ "संस्कृत" होकर हिन्दू अनुष्ठान में परिणत हुए।

आर्य लोगों के आगमन के समय भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासी लोग द्राविड और कोल आदि अनार्य बोली बोलते थे, इस में कुछ भी सन्देह नहीं। आर्य लोगों के आने के और बसने के बाद बहु शत वर्ष तक ये सब अनार्य भाषाएँ जिन्दा थीं। बुद्ध के समय, और उनके उत्तर-काल में पाँच छः सौ साल पर्यन्त उत्तर भारत के बहु अंश में जन साधारण अनार्य बोलियाँ बोलते थे, ऐसा अनुमान करने के लिए बहुत से कारण हैं। इन अनार्य-भाषियों ने जब आर्य भाषा ग्रहण की, तब इन के धर्म, देवता और आचार अनुष्ठान भी आर्यीकृत हो गए, वे सर्वजनगृहीत हो गए, पौराणिक देववाद, भक्तिवाद इत्यादि आ गए, और वैदिक धर्म में एक गंभीरतर उन्नततर धर्म जीवन आर्यानार्य मिश्र भारतीय समाज में सृष्ट हुआ। अनार्यों के प्रधान देवता शिव उमा, विष्णु—अनुरूप गुण के आर्य देवताओं के साथ मिल कर एक हो गए, और इस प्रकार उन्हें भी महनीय बनाया गया। अनार्य वृक्ष देवता, यक्ष, रक्ष, नाग, और दैवी शक्ति के विकास के स्वरूप से कल्पित पशु और पक्षियों की पूजा भी आर्यानार्य मिश्र नव सृष्ट हिन्दू जाति में प्रचलित हो गई।

खीस्ट पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में जब आर्यों का वैदिक साहित्य, मिश्र आर्यानार्य या हिन्दू-जाति के द्वारा प्राचीन धर्म-शास्त्र रूप से स्वीकृत हो गया, तब प्रायः सब आर्य भाषियों ने श्रद्धा के साथ उसे ग्रहण किया। हमारी पुरोहित-श्रेणी का (ब्राह्मणों की) प्रतिष्ठा इसी समय हुई। वेद गृहीत होने का एक मुख्य कारण यह था, कि वेद पहले युग के विजेता शक्तिमान् आर्यों का शास्त्र या प्राचीन साहित्य एवं आदरणीय वस्तु था। वेद मान जाने के और ब्राह्मणों का प्राधान्य स्वीकृत होने के बाद, अनार्य भाषाओं का प्रतिष्ठा होना फिर सम्भव न था। परन्तु अनार्य भाषाओं ने इतनी जल्दी अपना स्थान नहीं छोडा। अनार्य शब्द बहुत कुछ आर्य प्राकृत तथा संस्कृत के भीतर आ गए, अनार्य चिन्ता-रीति आर्य भाषा संस्कृत और प्राकृत में भी आ गई। खीस्ट जन्म के डेढ सौ बरस पहले कलिङ्ग के जैन धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षर में खुदा हुआ प्राकृत भाषामय विराट् अनुशासन है, उसे पढ कर किसी को सन्देह तक भी नहीं हो सकता है कि राजा का नाम आर्य-भाषा का नहीं, वरन् द्राविड भाषा का है द्राविड "कार" शब्द का अर्थ "काला" या "कृष्ण", और "वेलू" शब्द का अर्थ "भाला" या "बल्लम"—मूल *"कारवेल', जिस से शायद "खारवेल" निकला है, उस का संस्कृत अनुवाद हो सकता है "कृष्णर्ष्टि (अर्थात् कृष्ण या भयानक ऋष्टि या बल्लम है जिस का)। दाक्षिणात्य के अन्ध्रवंशीय राजा लोग खीस्टीय युग के प्रारम्भ में राज्य करते थे, इनके प्राकृत भाषा में लिखे हुए बडे बडे अनुशासन हैं, इनके गोत्र नाम इस प्रकार के होते थे—"वासिष्ठीपुत्र, गौतमीपुत्र, मढरीपुत्र" इत्यादि, परन्तु इनका वंश नाम "सातवाहन" आर्य भाषा का

शब्द नहीं; यह शब्द कोल-भाषा का है, और इस का अर्थ "अश्वपुत्र"। जैसे केरल के नायर आदि जातियों में अभी तक दीखता है, तैसे इन में भी मातृगत उत्तराधिकार की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर ख़बरों से हमें आभास मिलता है कि दो ढाई हज़ार साल पहले, भारतीय जीवन में अनार्य उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य-प्रभाव कितना छिछला था।

भारतीय हिन्दू-सभ्यता का वय. पूर्व निर्दिष्ट इतिहास के अनुसार बहुत अधिक प्रतीत नहीं होगा। इस बात से हम मे बहुत-से सज्जनो के जात्यभिमान तथा आत्माभिमान पर चोट लगेगी। आर्यों के आने के पूर्व अनार्य द्राविड तथा कोल लोगों का इतिहास ज़रूर ही था, उस की बहुत कुछ बातें कुछ रूपान्तरित आकार मे संस्कृत पुराणो मे रक्षित हुई हैं। आर्य लोगो के आते ही हिन्दू-जाति के रूप ग्रहण मे विशेष रूप से सहायता पहुँची। आर्य और अनार्य का पूर्ण समन्वय हुआ। ख्रीस्ट-पूर्व पहले सहस्रक के द्वितीयार्द्ध मे, हिन्दू-जाति तथा सभ्यता के इतिहास में मोटी रीति से दो युग गिने जा सकते हैं—एक, यज्ञ के प्राधान्य का युग, और दूसरा पौराणिक देवताओं के प्राधान्य का युग। सचमुच ख्रीस्ट-पूर्व १,००० से हिन्दू-सभ्यता की प्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। आर्य और अनार्य इन दोनों विभिन्न रंगों के सूत्रों से हिन्दू-सभ्यता-रूप धूप छाया वस्त्र, इसी समय से तैयार होने लगा। ख्रीस्ट-जन्म के ७००-८०० वर्षों तक इस सभ्यता का सब से महत्त्व-पूर्ण समय था। पृथिवी के और प्राचीन सभ्यताओं के साथ अगर तुलना की जाय, तो वय के हिसाब से हमारी हिन्दू सभ्यता मिसरी, बाबिलोनीय और ईजियन सभ्यताओ से निहायत आधुनिक है, कुछ अंश मे प्राचीन ग्रीक और प्राचीन पारसीक तथा प्राचीन चीनी सभ्यताओ की समकालीन है। पर ग्रीक सभ्यता अपनी विशिष्ट मूर्त्ति को ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध ही में प्राप्त कर चुकी थी, और चीनी सभ्यता ने अव्याहत गति से लगभग ख्रीस्ट-पूर्व २,००० से शुरू कर ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध मे अपने परिणत रूप को प्राप्त कर लिया था। हमारी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता को रोमन (Roman) तथा ग्रीको-रोमन (Græco-Roman) युग की सभ्यता के साथ और चीन के हान् (Han) तथा थाङ्ग-वंश (T'ang) के युग की सभ्यता के साथ हम तौल कर सकते हैं।

हिन्दू-सभ्यता के अति-प्राचीनत्व के विषय पर जिनकी आस्था है, वे ज्यौतिषिक प्रमाण लाकर इसे साबित करने की कोशिश करते हैं। इस मामले में हम सिर्फ़ दो बात कहना चाहते हैं। पहले—ग्रीक लोगो के साथ परिचय होने के बाद हिन्दू-ज्योतिष ने पुष्टता को प्राप्त किया, वेद-संहिता तथा ब्राह्मणादि प्राचीन ग्रन्थों मे जो ज्यौतिषिक उक्तियाँ या उल्लेख हैं, किस अर्थ से उनका विवेचन किया जायगा, इस विषय पर प्रभूत मतानैक्य है। दूसरे—जो महाशय इन ज्यौतिषिक प्रमाणो का ऐतिहासिक आलोचना में उपयोग करते हैं, उनमें ऐकमत्य नहीं; इसी से साबित होता है, कि युक्ति-तर्कानुमोदित विचारशैली का जो एकमात्र पन्थ है, सो हमे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा देगा—उसे इस ज्यौतिषिक आलोचना में स्थान नहीं मिलता। ज्यौतिषिक व्याख्या या सिद्धान्तों से जो अतिप्राचीन तारीखों की बात हम कभी कभी सुनते हैं, उनके विरुद्ध इतने अन्य विषय हमारे सामने लाये जाते हैं, जिनके सामने हम इन विभिन्न व्याख्या या सिद्धान्तो में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

रामायण, महाभारत, पुराणो मे दिए हुए सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की तालिका—इन सब की ऐतिहासिकता पर बहुत-से अनुसन्धान हो चुके हैं। जो लोग यथारीति प्राचीन इतिहास की आलोचना

करते हैं, उनमें कोई भी रामायण की कहानी की किसी प्रकार की ऐतिहासिकता नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते हैं, कि महाभारत के मूल आख्यान में और महाभारत तथा पुराणों के कुछ उपाख्यानों में कुछ ऐतिहासिकता हो सकती है। कुरुक्षेत्र युद्ध खीस्ट-पूर्व दश शतक में हुआ था, ऐसा अभिमत दो विशिष्ट ऐतिहासिकों ने (अंगरेज एफ० ई० पर्जिटर ने और भारतीय हेमचन्द्र राय चौधुरी ने) प्रकट किया। इन की आलोचना-शैली उपेक्षा करने की नहीं। महाभारत के पात्र तथा पात्रियों के सम्बन्ध में इतना तक हम कह सकते हैं, कि वे आर्यागमन के पूर्व काल के लोग हो सकते हैं, महाभारत का मूल आख्यान अनार्य राजाओं की कहानी भी हो सकती है,—फिर नवागत आर्य-जाति के लोगों से अनार्यों के मिश्रण और भाषा में उनके आर्यीकरण के साथ ये सब उपाख्यान भी परिवर्तित हुए, पल्लवित हुए, और अन्त में इस से हमारा संस्कृत महाभारत बन गया, खीस्ट-जन्म के आस पास के किसी समय आर्यानार्य मिश्र हिन्दू-जाति का एक जातीय सम्पत्ति के रूप से अनार्य तथा आर्यों के प्रागितिहास और विचार का भण्डार-स्वरूप यह महाग्रन्थ कायम हो गया।

२

पिछला प्राचीन काल

The Buddha and his Maternal Clan

प्रो० डा० प्रज़्लूस्की, कालेज द फ्रास, पैरी

[शाक्यमुनि गौतम कहलाते थे और उन की मौसी प्रजापति गौतमी। अत बुद्ध के घरान म बच्चे पिता की अपेक्षा माता के गोत्र से अधिक संबद्ध रहते प्रतीत होते हैं।

बोधिसत्व सिद्धार्थ रुद्रक रामपुत्रक के पास ठहरे हैं यह सुन कर उन के पिता शुद्धोदन न ३०० और मामा सुप्रबुद्ध न २०० आदमी उन की टहल सेवा को भेजे, जिन मं से उन्होंने क्रमश तीन और दो को रख कर शेष को वापस लौटा दिया। लंबे उपवास के बाद जब बोधिसत्व फिर भोजन करने को तैयार हुए, तब ये पाँचों उन्हें छोड़ बनारस चले गये, जहा बुद्ध न पहले पहल इन्हें उपदेश दिया।

मू ल स र्वा स्ति वा द वि न य के अनुसार बुद्ध न इन म से पहले मातृ पक्ष वाले दो का और फिर पितृ पक्ष वाले तीन को उपदेश दिया था। अत बुद्ध का मातृ पक्ष के प्रति पक्षपात सिद्ध होता है।

मूल सर्वास्तिवादी त्रिपिटक म इन को अलग अलग ही तीन और दो कहा गया है, पर पाली वाङ्मय म मिला कर पाच कर दिया गया। अत मूल सर्वास्तिवादी त्रिपिटक म ज्यादा पुरानी अनुश्रुतिया सुरक्षित रही प्रतीत होती हैं।]

According to *Mahavamsa* Yaśodharā bore two daughters, Māyā and Prajāpati and also two sons, one of whom was Suprabuddha The two sisters Māyā and Parjāpati, became the queens of Suddhodana This king had by his wife Māyā, a son, who was the Buddha Śākyamuni [1]

The name of Śākyamuni was *Gautama* and that of his maternal aunt Prajāpti *Gautami* so the Buddha was called after his mother's clan It appears therefore that in his family there was matrilineal descent and that children were more closely connected with the maternal than the paternal clan

When King Śuddhodana first heard that his son was stopping with Rudraka Rāmaputra he sent three hundred men, and Suprabuddha sent two hundred to wait on the Bodhisattva. But the latter would retain five of them only as his attendants in whose company he lived Two of those sent by Suprabuddha were of the maternal clan and three sent by Śuddhodana were of the paternal clan These attendants at first formed two sets the Two and the Three It was not until later that they became the Five

When after his long fast the Bodhisattva decided to take food, his attendants forsook him and departed to Benares To this city Gautama also came after obtaining enlightenment

---

[1] Mahāvamsa II 18—22 Geiger's translation p 12

The *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* says that in the morning the Buddha imparted his doctrine to the Two while the other Three went to the city to beg. At noon the six persons took food together. In the evening Gautama taught the Three while the other Two went to collect alms. Gautama abstained from eating in the evening because it was forbidden by the Law.[1]

If Gautama chose to instruct first the men of his mother's clan we may assume that he intended to show them honour and reverence, which is in agreement with the fact that in the Buddha's family children were more closely connected with the maternal clan.

In later days, under the influence of Brahmanic culture, ancient rites receded: the supremacy of the maternal clan was forgotten and new rules were settled in the Community to regulate ordination and the dignity of Sthavira. In the absence of Buddha, the Community would have a Dean, a bhiksu ordained previous to the others.[2] Consequently, the first account was completed. *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* adds that Kaundinya was ordained previous to the other four and so became the chief of the community.

In the Pali Vinaya, the earlier statement is no longer preserved. It is here related that the Buddha preached his doctrine to the Five. They were all delighted, but the Venerable Kaundinya alone obtained "the pure and spotless" Eye of the Truth." He received at once the *upasampadā* ordination. Then the six persons lived on the alms the Three brought home from their begging pilgrimage. Finally Mahānāman and Aśvajit received the *upasampadā* ordination.[3]

In brief, by comparing the two Vinaya, we perceive that (1) in the family of the Buddha, men were more closely connected with the maternal clan and showed special reverence to their maternal kinsmen, (2) the *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* preserves ancient data which are no longer discernible in the Pali Vinaya.

---

[1] Tripitaka ed Tokyo, xvii, 3, p 18^b et 25^a

[2] For further particulars about these points, see my "Concile de Rajagrha", third part, chap III.

[3] Cf Mahāvagga I 6 12—38; S B E, xiii, pp 92—100

Note on Takshaśilā and Its Name

प्रो० डा० स्टेन कोनौ, ओस्लो विद्यापीठ, नार्वे

[तक्षशिला प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण नगर था। सर जौन मार्शल ने इस नगर के पुराने खंडहरों को खुदवाया है, उस से तीन पुराने नगरों के भग्नावशेष प्रकट हुए हैं। (१) भिड का टीला, (२) सिरकप (३) सिरसुख। जिन में भिड सब से पुराना है। सिरकप भी कम नहीं, तक्षशिला में यूनानियों की बस्ती से पहले की याद तो यह भी दिलाता है। तक्षशिला नाम इन में से किस का था सो कहना ज़रा कठिन है। अभी तक कम से कम इस का कोई प्रमाण नहीं मिला कि भिड का नाम भी तक्षशिला था। सब से पुराना तक्षशिला नाम से अंकित अभिलेख, जिस से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता, एक ताम्रपत्र पर, मोग के समय का है, उस पर ७८ शक संवत अंकित है और त क्ष शि ल ए न ग रे उ त रे ण प्र चु दे शो खुदा है। पर इसके प्राप्तिस्थान का ठीक पता नहीं। जो कुछ थोड़े बहुत निर्देश मिले हैं उन में सिरकप की ओर ही इशारा है। तथाकथित महल से मिले प्याले और चम्मच पर के अभिलेख—उ त रा रा म त क्ष शि ल ए—से भी यही निर्देश मिलता है। सर जौन मार्शल द्वारा प्राप्त चांदी की पत्री और दीपक पर के अभिलेख भी इसी की पुष्टि करते हैं। पर इस सब से सिवा खोज के लिए एक नई दिशा सूझने के, कुछ सिद्ध नहीं होता।

सर जान के मतानुसार सिरकप हथियाली टीले के पश्चिमी छोर पर बसा था। यह पूरब से दक्खिन पच्छिम को बढ़ी छोटी छोटी पहाड़ियों की परम्परा से अलग कटा हुआ एक टीला है। यदि सिरकप में ही तक्षशिला की समाधि है तो कहना होगा कि कदाचित् नाम के उत्तरार्द्ध शि ला का अभिप्राय है टीला और तक्षशिला = कटा टीला, जो कि साफ़ ही हथियाली टीले पर घटता है। पर क्या वाङ्मय या अन्य कोई प्राचीन प्रमाण भी इस व्युत्पत्ति का पोषक है।

(१) तक्षशिला के अक्षरार्थ पर प्रकाश डालने वाला सब से पुराना उल्लेख लगभग ३०० ई० पू० के एक अरमइक अभिलेख में है। प्रो० एण्ड्रियस के मतानुसार इस रोमदत्त नाम के न ग रू त के नगर सिंह ने अपने कार्यों की प्रशंसा में खुदवाया था, सम्राट् बिन्दुसार के प्रतिनिधि प्रियदर्शी (अशोक) का इस में उल्लेख है। उक्त प्रोफेसर न ग रू त को अरमइक शब्द न गा रू ड का अपभ्रंश मानते हैं। नगार = बढ़ई से इस की व्युत्पत्ति हुई है। अतः इस का अर्थ है बढ़ईगिरी। स्पष्ट ही तक्षशिला का अर्थ तक्षणशील समझ कर यह उस का अरमइक अनुवाद हुआ है। भ्रमवश शि ला और शी ल को मिला दिया गया है।

(२) पुराण, रामायण और रघुवंश के अनुसार भरत दाशरथि के बेटे त क्ष का बसाया होने से इस का नाम तक्षशिला पड़ा।

(३) दिव्यावदान का कहना है कि बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में भद्रशिला के राजा चन्द्रप्रभ थे, जो बड़े दानी थे। उन के रौद्राक्ष नामक एक ब्राह्मण को अपना सिर काट कर (शिर छिन्ना) देने के कारण ही भद्रशिला का नाम तक्षशिला पड़ गया।

उपर्युक्त दोनों कहानियाँ नाम की व्याख्या के लिए पीछे गढ़ी गई हैं सो स्पष्ट है। मगही प्राकृत में श और र का शि ल और त क्ष का त च्छ ई या च च्छ ई हो जाता है। इसी शब्दसाम्य के कारण तक्षशिला से दूर मगध में इस नाम की व्याख्या के लिए यह कहानी चल पड़ी होगी। गांधार के सर्वास्तिवादी दिव्यावदान में इस का समावेश वहीं से ले कर किया गया प्रतीत होता है।

बीस बरस हुए प्रो० सिल्वाँ लेवी ने महामायूरी से उद्धृत कर यक्षों के नामों की एक सूची प्रकाशित की थी। संस्कृत में इस की कई पोथियाँ तथा तिब्बती और चीनी में संघवर्मन इत्सिंग और अमोघवज्र द्वारा इसके अनुवाद और रूपान्तर भी मिलते हैं। हर एक प्राचीन नगर के यक्ष का उसमें उल्लेख है। इसका श्लोक ३२ वां है—

प्रमर्दनश्च गान्धारे तक्षशिलायां प्रभञ्जनः।
खरपोतो महायक्षो भद्रशैले शिलाशिरः॥

इस भद्रशैल और दिव्यावदान में वर्णित भद्रशिला में सम्बन्ध प्रतीत होता है। पर यह मूल पाठ नहीं सो विभिन्न आदर्श पोथियों के मिलान से प्रकट हो जाता है। संभवतः दिव्यावदान के प्रभाव से यह पाठ पीछे कर दिया गया है। इत्सिंग के

सघवर्मा ने अपने अनुवादों में इसके जो रूपान्तर दिये हैं प्रो० कर्लग्रेन के अनुसार इन चिह्नों का सांकेतिक स्वर का जो उच्चारण है वह संस्कृत छ् ड शि ला का रूपान्तर है।

तक्षशिला के पड़ोस में छुडशिला नाम की एक बस्ती वास्तव में थी, यह बात सरकप से तीन मील दक्खिन पूरब मार्गल्ला श्रृङ्खला की उत्तर की बड़ी घाटियों में से एक चपटे टिब्बे पर कल्वान नाम की बस्ति में मिले एक खरोष्ठी अभिलेख से प्रकट है।

छुड का मूल संस्कृत शब्द है छटा = समूह ढेर या पर्वतश्रृङ्खला. छुडशिला यानी पर्वतश्रृङ्खला या ढेर पर बसा नगर। इस के मुकाबले में तक्षशिला का अर्थ कटा हुआ टीला या उस पर बसा नगर। अत हथियाली टीले पर बसे नगर का नाम ही तक्षशिला था।

ईसवी सन् से २०० बरस पहले ही तक्षशिला का असल अभिप्राय भुलाया जा चुका था, यह बात अरमइक अभिलेख से स्पष्ट है। पीछे कुशाणों द्वारा इस नगर के उजड़ने पर पड़ोस में उन के बसाये सिरसुख का भी यही नाम पड़ गया।]

Takshaśilā was an important city in ancient India. It is mentioned by Pāṇini; it was known to the Greeks since the time of Alexander the Great, and it is frequently mentioned in Buddhist literature as a famous seat of learning. In the epics, on the other hand and in later literature it plays a less prominent role.

In modern times the ruins of the old city have been excavated, and more especially Sir John Marshall has brought to light a long series of highly interesting facts bearing on the history of the old city.

Or rather traces have been found of three cities the Bhir Mound, Sirkap and Sirsukh. The Bhir Mound is evidently the oldest one, but also the Sirkap remains take us back to a very early period, before the Greeks began to settle in Takshaśilā [1]

We cannot say for certain whether the designation Takshaśilā was applied to the ancient settlements on the Bhir Mound, or came in use only after the Sirkap site had been occupied None of the inscriptions in which it occurs seems to have been found on the Bhir hill. The oldest is engraved on a copper-plate and is dated in the year 78 of an old Saka era, during the reign of the Saka ruler Moga It was deposited at a place called Kshema, to the north and in the eastern direction, in the town Takshaśilā (*Takhasilaye nagare utarena prachu deśo*). But we do not know where it was found The finder mentioned two places in the Lundi Nālā near the Jandiāl temple, his wife spoke of Gāngu or Chiti, and later on Mr Delmerick was told that the actual find-place was Togkiā in Sirsukh. None of these indications suit the Bhir Mound, but they may all be referred to Sirkap, if the somewhat uncertain description in the plate means that Kshema was situated north-east of Takshaśilā proper.

The inscription on a vase found in Shahpur just below Sirkap speaks of a stūpa in Takshaśilā (*Takhaśilae*), but we do not know where the vase was actually found.

The inscriptions containing the ancient name of the town found by Sir John Marshall, on the other hand, distinctly point to Sirkap Within the walls of the ancient town, at a locality known as the Mahal, situated on high ground in a dip at the western end of the Hathiāl spur, were found some ladees with inscriptions stating that they belonged to the northern ārāma of Takshaśilā (*utararame Takshaśilae* i.e., *uttarārāme Takshaśilake*) Then we have the well-known silver scroll and a lamp found in chapels to the west and south-west, respectively, of the

[1] Cf Marshall, *Annual Report of the Archæological Survey of India*, 1927-28, p 60

Dharmarājikā stūpa on the Chir mound below Sirkap, with inscriptions mentioning the Takshaśilā Dharmarājikā compound (*dhamarae Takshasie, Takshasilami dhamaraie*, i e *dharmarājike Takshasilaye*) Here then is the question of a stūpa compound connected with Takshaśilā and not of Takshaśilā itself

Such indications cannot prove anything but they raise a certain presumption in favour of considering the Sirkap site as the real Takshaśilā

According to Sir John Marshall [1] Sirkap occupies the western spur of the hill of Hathiāl A glance at the map will show that Hathiāl is a well defined hill being separated by a distinct depression from the main ridge of hills stretching across the whole tract from north east by east to south west by west If the oldest town known under the name of Takshaśilā is represented by the Sirkap remains, it would then *a priori* seem likely that *silā*, rock the last component of the name Takshaśilā, bears reference to the hill now known as Hathiāl Such attempts at explaining the meaning of the name as are known from literary sources do not however seem to favour this explanation

The oldest one takes us back to the third century B C, when Aśoka was King Bindusāra's viceroy in the Takshaśilā country, and it is found in the Aramaic inscription which Sir John found at Sirkap [2] According to the late Professor Andreas[3] this record mentions a certain Romedata evidently an Iranian, as town friend of Nagaruta praises his zeal and also gives the name of the governor or viceroy Priyadrasi Priyadarśi is of course the well known designation of the later emperor Aśoka and Romedata must have been his chief official in a place called Nagaruta Andreas explains *Nagaruta* as standing for *Nagarūtha*, a regular Aramaic abstract noun formed from the base *nagār*, carpenter the whole meaning carpentry' It is evident that this is meant as a translation of *Takshasilā taksha* having been identified with the base *takshan* carpenter and *silā* having perhaps being confounded with *sila* custom practice

If Andreas was right as I think he was the Aramaic rendering of the name shows that it was no more immediately intelligible, the final *sila* being wrongly rendered but that it was felt to have some connection with the base *taksh*

The Purāṇas give another explanation of the name According to the Brahmāṇḍa and the Vāyu it was the residence of Taksha, the son of Bharata The same story is told by Kālidāsa Raghuvaṃsa XV, 89 and it has also found its way into the corrupt stanza VII 101 11 of the Bombay edition of the Rāmāyaṇa It is however evident that Taksha has simply been invented in order to explain the name and that the tale is not based on genuine tradition

A third explanation is indicated in the 22nd tale of the Divyāvadāna In bygone days Takshaśilā was called Bhadraśilā In a previous birth the Buddha was king Chandraprabha of Bhadraśilā, who was famous for his liberality and went so far that he cut off his head[1] (*śiroh chhittā*) and gave it to the Brāhmaṇa Raudrāksha

---

[1] *A Guide to Taxila* 2nd ed Calcutta, 1921 p 4

[2] *Guide* pp 77 ff

[3] *Nachrichten von der Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen* 1931 pp ff cf also Herzfeld *Ep Ind* XIX pp 25 ff

It is evident that the story is meant to explain how the name of the town came to be changed from Bhadraśilā to Takshaśilā In its Sanskrit form it does not, however, give any such explanation. We can see that *śirah* is meant to explain *śilā*, and *chhittrā* to explain *taksha* In other words we must think of an original where the word for 'head' might be suggested by *śilā*, and where there was a word meaning 'to cut' which might be connected with *taksha* on one side and *chhid* on the other Now we learn from Hemachandra, IV, 194, that the Prākrit substitutes of the base *taksh* are *tachchhai*, *chachchhai*, etc., and in Māgadhī *śirah* would become *śila*. We are thus led to think of Māgadhī *śilam tachchhittā* as the original form which the Divyāvadāna *śirah chhittrā* has been derived The story must consequently have been originally told in Māgadhī, and in a country far removed from Takshaśilā, and it is based on a complete misunderstanding of the name. Though the Mūlasarvāstivādins, to whose school the Divyāvadāna belongs, were strongly represented *in the north-west, this* particular tale cannot accordingly have had its origin there

The various attempts at explaining the name Takshaśilā do not, as we have seen, help us much. They only show that the meaning of the name must have been lost sight of at a comparatively early time, since the last part *śilā*, could be variously confounded with *śila* and *śirah*

About twenty years ago[1] Professor Sylvain Lévi published the important Yaksha-catalogue contained in the Mahāmāyūrī Here a long series of local names are enumerated, each connected with its special Yaksha The text is found in Sanskrit manuscripts, in Tibetan, and in several Chinese renderings by Sanghavarman (A.D 516), I-tsing (A.D 705) and Amoghavajra.

In vv. 32 f of the text we read

Pramardanaścha Gāndhāre Takshaśilāyām Prabhañjanah
Kharapoṭā mahāyaksho Bhadraśaile nivāsikah.

'Pramardana in Gāndhāra, Prabhañjana in Takshaśilā, the great Yaksha Kharapoṭā residing in Bhadraśaila.'

It is *a priori* likely that Bhadraśaila has something to do with Bhadraśilā, which the Divyāvadāna, as we have seen, gives as the name of Takshaśilā in earlier periods of its existence We are thus left with the impression that Takshaśilā is represented twice, under its names in two different world-periods.

A look at the various readings will, however, at once show that Bhadrasaila cannot be the original reading, but that it has replaced another name, probably under the influence of the Divyāvadāna story

Another Sanskrit manuscript gives *Daśaśaile*, which does not help us Sanghabhadra and I-tsing, on the other hand, give *Ch'o-to-shi-lo*, which Professor Lévi proposes to restore as *Chhardaśaila*, and Amoghavajra's *T'u-shan*, 'vomit-hill', and the Tibetan *Skyugs-pa-yi-ri*, with the same meaning, look like translations of some such form.

[1] Journal Asiatique, xi, v, 1915, pp 19 ff

It seems to be evident that *Ch'o to shi lo* is a rendering of the name which originally stood in the text. There is not, however, anything which points to the existence of a *r* in the name. According to Professor Karlgren, Nos 1219, 1011, 886 and 569 the 7th century pronunciation of the Chinese signs was *Ch'uat d'ā suai lā*, which looks like a rendering of a *Chhadaśilā* or *Chhaḍaśilā*, and I have no doubt that the latter actually stood in the text, and that *chhaḍa* was thought to be derived from the base *chhrd*, to vomit.

My reason for thinking so is that *Chhadaśilā*, is the name of a locality in the neighbourhood of Takshaśilā actually occurs in a Kharoshṭhī inscription which Sir John Marshall has unearthed at Kalawān, a site three miles south east of Sirkap, on one of the flat topped eminences jutting out on the north side of the Margalla hills.

In my edition of this inscription[1] I have shown that Chhadaśilā must have been the name of an old township at the site. And it is evident that Chhadaśilā contains the same element *śilā* rock as Takshaśilā. And since the Margalla hills where Chhadaśilā was situated are a continuous chain while Hathyāl the seat of ancient Takshaśilā is detached from the main range it is tempting to derive *taksha* in Takshaśilā from the base *taksh* to chop and identify *chhaḍa* in Chhadaśilā with the word *chhaṭā* mass lump continuous streak. In this connection it is then of interest that the word *chhaṭā* is of frequent occurrence in Kashmīr works such as the Kathāsaritsāgara and the Rājataraṅgiṇī because we have every reason for assuming that the Prākrit of Kashmir was closely connected with the Takshaśilā dialect.

If then Chhadaśilā means 'range hill' and further, 'town on the range of hills' and Takshaśilā 'chop hill' and, *further*, '*town on or below a detached hill*' *it seems necessary to* draw the inference that the name was originally applied to the Sirkap city which is thus situated. The Aramaic inscription, however, points to the conclusion that the original meaning of the name had already been forgotten in the third century B C. After the sack of Sirkap by the Kushāṇas the old name might therefore easily be transferred to the new capital *i e.*, to the Sirsukh city.

---

[1] J R A S 1932 pp 945 ff

आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प

(श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि)

भारतीय-इतिहास आदिम आर्यकाल से ई० स० ३४८ तक पुराणों में—वायु और विष्णु तथा भागवत में (मत्स्य में २४८ ई० ही तक)—अङ्कित हैं। इस के अनन्तर का लिखित इतिहास आज तक नहीं मिला था।[१] पर अब सौभाग्यवश पूरा इतिहास भगवान् बुद्ध के कुछ काल पहले से मौर्यकाल तक प्रायश: रूपरेखामात्र, और पल्लवितरूप से शकवंश से पालवंश के प्रथम राजा गोपाल के अन्त तक का, संस्कृत में प्राप्त हो गया। यह इतिहास बौद्ध महायान के आ र्य म ञ्जु श्री - मू ल क ल्प नामक तन्त्रग्रन्थ में १००० श्लोकों में दिया हुआ है। अर्थात् कोई २०० ई० पृ० से ८०० ई० तक १६०० वर्षों का इतिवृत्त इस में है। और यह इतिहास ठीक है। एक ही प्रति इस ग्रन्थ की मिली जो त्रिवन्द्रम (अनन्तशयन) राजधानी (त्रावनकोर राज्य) से म० म० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित हुई। १९२५ ई० में इस का तृतीय खण्ड छपा जिस में यह इतिहास रा ज व्या कृ त नाम के अध्याय में है। यह ग्रन्थ ८०० ई० के लगभग गौड़ अथवा मगध में पालों के राज्य में लिखा गया। ग्रन्थ का शब्दश: अनुवाद तिब्बती भाषा में भारतीय पण्डित कुमार कलश ने १०६२ ई० में किया। अब ग्रन्थ के प्रामाणिक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत इस की बौद्धों वाली भाषा प्राकृतमिश्रित है।

मैंने भदन्त राहुल सांकृत्यायनजी की सहायता से तिब्बती ग्रन्थ से पाठ मिला कर इस का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। इस ग्रन्थ से अमूल्य बातें मिलीं जिन से प्राय: सब झगड़े और संशय जिन्हें विन्सेंट स्मिथ आदि इतिहासकारों ने उठा रक्खा था, तै हो जाते हैं। यदि इस का पुराना अनुवाद तिब्बती में न होता तो पाश्चात्य विद्वान् लोग और उन के अनुज अनुयायी कह उठते कि ग्रन्थ आधुनिक है, अब बनाया गया है।

तन्त्रयुक्ति

मञ्जुश्री के राजव्याकृति की तन्त्र-युक्ति इस प्रकार है, पुराना इतिहास बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से, फिर प्रान्तिक इतिहास (उत्तर जावा आदि हिन्दुटापुओं के सहित दक्षिण का, पश्चिम और पूरब के भागों का), तब मध्य-देश के साम्राज्य का, फिर गौड़ वङ्गाल का, तथा समाजनेताओं का ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर। बुद्ध के समसामयिक राजाओं का नाम दे कर काशी के—

ब्रह्मदत्त वंश

की तालिका दी है। कोसल और मगध के अभ्युदय के पूर्व काशीवंश का दर्जा सम्राज् वंश का था। कोसल बुद्ध जन्म के पूर्व काशी के अधीनस्थ था। काशी से ही निकल कर शैशुनाक वंश ने मगध पर राज करना शुरू

(१) 'कलियुग राजवृत्तान्त' एक नया बनाया हुआ अन्य अप्रामाणिक, गढ़न्त मात्र हैं जो युरपीय विद्वानों के विचार की छाया पर लिखा गया है, यथा—काच को समुद्रगुप्त का बड़ा भाई कहा है, इत्यादि। वे विचार अप्रामाणिक थे।

किया। अर्थात् २०० या ३०० वर्ष बुद्ध और प्रसेनजित् ऐन्वाक के पहले, काशी वाले ही कुरुपाञ्चाल की सीमा से (अथवा कुरु भी शायद उन के नीचे आगया था) अङ्ग तक राज्य करते थे। उस समय वङ्ग का कोई राजा पृथक् न था। केवल तीन बड़े राज्य थे और सब म प्रधान काशीराज्य था, (१) काशी, (२) वत्स (चेदि-सहित) और (३) अवन्ति। अवन्ति उज्जयिनी वीतहोत्रों के सुशासन में था और कौशाम्बीस्थ युधिष्ठिर के वंशजों के हाथ म वत्स-चेदि। इन तीन ही महाराज्यों में उत्तरीय भारत बँटा हुआ था। काशी के नीचे अवध तथा उत्तरी दक्षिणी बिहार (मिथिला मल्ल देश तथा मगध अङ्ग) समस्त था। और काशीराज्य वस्तुत उस समय पहला साम्राज्य था। वत्स के राजा को मञ्जुश्री ने सब से कुलीन कहा है।

शैशुनाक और नन्दवंश

पौराणिक शैशुनाक वंश के राजा बिम्बिसार से अजातशत्रु के लड़के उदायी तक का चर्चा इस नवोपलब्ध ग्रन्थ म पाई जाती है। लिखा है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश उदायी के राज्य मे लेखबद्ध किये गय।

नन्द को लिखा है कि वह पहले राजमन्त्री था, बड़ा प्रतापी हुआ और बहुत सुयोग्य शासक था पर उस समय का नीचतम मनुष्य है। वर्णन महापद्मनन्द वाला है। नई बात यह है कि यह पहले मन्त्री था। इस का मन्त्री वररुचि बौद्ध था तथा राजा नन्द वैदिक था। ब्राह्मणों का बहुत मान करता था। पाणिनि इस के मित्र थे। मन्त्रिपरिषद् ने राजा का विरोध किया। पर अपने भाग्यवश वह मर गया। मन्त्रिपरिषद् का उस समय बहुत प्रभाव जान पड़ता है।

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त का कोई ४५ वर्ष की अवस्था के लगभग मरना सूचित होता है। क्योंकि बिन्दुसार नाबालिग म सिंहासन पर बैठा, उस समय विष्णुगुप्त चाणक्य मन्त्री था और परले राज्य अर्थात् अशोक तक कुछ काल मन्त्री रहा। विष्णुगुप्त का हाल दो जगहों में दिया है। एक मौर्यवंश के अन्तर्गत और दूसरे जहाँ बड़े बड़े ब्राह्मणों और बौद्ध सन्यासियों का वृत्त (ग्रन्थ के अन्त में) दिया है, वहाँ, चाणक्य को बहुत न्यायी और योग्य शासक कहा है। केवल उस के क्रोध की निन्दा की है। बिन्दुसार को बहुत अच्छा बोलने वाला (वाग्मी) और दृढ विचार वाला लिखा है।

पुष्यमित्र

इसे गोमि और गोमिषण्ड नाम से पुकारा है और कहा है कि बौद्धधर्म का इस ने लोप किया। बौद्धधर्म के द्रोहियों के नाम बदल कर दिये हुए हैं। यथा मिहिर (सूर्यगुप्त) को 'मह' और शशांक को 'सोम'।

यक्षवंश

बौद्धधर्म का उद्धार यक्षवंशी गम्भीर और उस के पिता शुद्धयक्ष ने किया। यक्ष-भूमि इस ग्रन्थ में, तुरकिस्तान (Central Asia), हिमालय के उस पार के देश को कहा है। यक्षवंश के गम्भीर को मैं क(द्)फीस् (Kaphises) समझता हूँ। ग (द्) भा स् का गम्भीर कर दिया गया है। उस के पिता को महाद्युति कहा है। हो सकता है कि यह महा द्युति (Great Uta) का पर्यायवाचक हो।

प्रादेशिक इतिहास

नेपाल और चीन जिस से तिब्बत का अभिप्राय है ('महाचीन' इस ग्रन्थ में चीन को कहा है और 'चीन' तिब्बत को) तथा खोतन-काश्मीर का प्रान्तिक इतिहास, हर्ष के समय तक का तथा दक्षिण के पल्लव और चालुक्य राजा आदि जो हर्ष के समय में थे उन का तथा भारतीय द्वीपों के उस समय के राजाओं का और पश्चिम मे वलभी-कुल तथा यादवों के गणों का हाल दे कर फिर मुख्य इतिहास का—

मध्यदेश के साम्राज्य-क्रम

का वर्णन शकवंश से ले कर पालवंश तक हमारे बौद्ध इतिहास-कार ने दिया है। यह इतिहास बिलकुल इतिहास रूप मे है, जैसा पुराणो मे राजानुक्रमणिकाएँ दी हुई हैं उसी प्रकार। विशेषता यह है कि बहुतेरे राजाओं का बहुत अच्छा चरित्र-चित्रण है। स्कन्दगुप्त को सर्वश्रेष्ठ गुप्त नृपेन्द्र माना है और समुद्रगुप्त को ऐहिक-सम्राज् मानते हुए लिखा है कि इन के राज्य मे ब्राह्मणों की जय थी और मनुष्य तथा पितरों को सब भोग प्राप्त थे। कमी इस मे यह है कि वंशों का नाम नहीं दिया है। शकवंश और श्रीकण्ठ-स्थाण्वीश्वरवंश को छोड, किसी का वंश नाम नहीं है। और कहीं कहीं केवल नाम को पहले अक्षर मात्र से दिया है, जैसे स का रा दि = स्कन्द ! इस से मुझे इस इतिहास के हल करने मे वही श्रम पड़ा जो कुंजीहीन किसी संकेतित लेख (Code-writing) के पढ़ने में। पर हल हो जाने पर यह इतिहास बहुत ही स्पष्ट हो गया और श्रम मिट गया और उस की जगह सुख का अपूर्व अनुभव हुआ। मैंने समझा, माता सरस्वती ने मेरे ही लिए यह रहस्योद्घाटन रख छोड़ा था। इस का मध्यदेशीय इतिहास ऐसे ठिकाने का है कि विन्सेंट स्मिथ के भ्रम सब दूर हो गए और उन का इतिहास झूठा पड़ गया। मञ्जुश्री के इतिहासकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि एक साम्राज्य आर्यावर्त्त में बराबर लगातार अनवच्छिन्न बना रहा; काशी-राज्य से पाल-राज्य—८०० ई० पू० से ८०० ई० तक—अर्थात् जब तक का इतिवृत्त ग्रन्थ मे अङ्कित किया जा सका है तब तक एक साम्राज्य क़ायम रहा। शकवंश के पहले का हाल सब जानते हैं ! केवल काशी-साम्राज्य का हाल नया था सो हमने दे दिया है। इस अपने इतिहास के अनुसार, शकवंश से ले कर पालवंश तक आर्यावर्त्त-साम्राज्य के अधिकारी निम्नलिखित राजवंश हुए :—

१. शकवंश, जिनका वंश लोप करनेवाले

२. ३. नाग और सेन अथवा नागसेन हुए।

एक स्थान पर इस साम्राज्यतन्त्र की पुनरुक्ति है अर्थात् गौड़ देश के इतिहास मे, जो साम्राज्य-इतिहास के बाद दिया गया है, इस का दुबारा ज़िक्र है। उस मे 'नागसेना' की जगह 'नागराज' लिखा है। ये नागराज भारशिव सम्राट् थे। और इन के समधी और नाती सेन नामधारी प्रवरसेन, रुद्रसेन, आदि वाकाटक ब्रह्मक्षत्रिय राजा हुए जो विन्ध्यशक्ति के वंशज और विष्णुवृद्ध वंश के थे। गौडेतिहास मे नागो के बाद प्रभविष्णु दाक्षिणात्य का राज्य लिखा है। दाक्षिणात्य से मतलब अन्तर्वेद से दक्षिण विन्ध्य से है, क्योंकि विष्णुवृद्ध वाकाटक वंश विन्ध्य से ही राज्य करता था। प्रभविष्णु से तात्पर्य विष्णुवृद्ध से है। नाग और प्रभविष्णु के अधीन गौड़-मगध का शासन लिखा है। प्रभविष्णु ने वहाँ एक उपराज नियुक्त किया था। लेकिन नागों का खास अपना शासन वहाँ (पूरब मे) था। पुराणो मे भी लिखा है कि चम्पावती से नवनाग पूरब का

राज्य करते थे। नवनाग का ही (सरकारी) नाम भारशिव था। नव नाम का पहला सम्राट् या बडा राजा हुआ जिस ने कुषाणों को मार अन्तर्वेद को स्वतन्त्र किया। इस के सिक्के सयुक्तप्रान्त म बहुत मिलत हैं और नव के उत्तराधिकारी वीरसेन के तो पञ्जाब तक पाये जाते हैं।

यहाँ शकों को मध्यदेश का राजा मानना यह सिद्ध करता है कि कुषाण लोगों को ही हमार यहाँ शक कहते थे।

४—चौथा वश गुप्त सम्राजों का है, इन का मूलकल्प ने नृपेन्द्र कहा है अर्थात् Imperial Guptas -समुद्रगुप्त स ले कर बुधगुप्त तक अपने इस इतिहास में सम्राज् माने गय हैं। बुध गुप्त का नाम इस ने उकारादि दिया है और इस कुमारगुप्त (द्वितीय) का उत्तराधिकारी कहा है। कुमारगुप्त द्वि० के बाद बुधगुप्त राजा हुए थे यह शिलालेखों से विदित हैं। उस समय का एक सम्राजी सिक्का है जिस पर 'उ०' लिखा हुआ है, कोइ जानता नहीं था कि यह सिक्का किसका है। अब मालूम हुआ कि यह बुधगुप्त का ही है। इस पर विरुद नाम प्रकाशादित्य है। लिखा है कि उकारादि के बाद गुप्तवश के दो भाग हो गए, एक गौड (बगाल) में और दूसरा मगध म। तब एक शूद्र पश्चिम से हकारादि चढ आया और मगध तक पहुँच गया। यह 'ह०' हूण है अर्थात् तोरमाण। वह काशी में मर गया। उस का लडका जो बडा दुष्ट था घेर कर मार डाला गया। काशी म प्रकटादित्य राजा हुआ और प्रकटादित्य के समय में कामरूप और नर्मदा तक राज्य हुआ। पर विन्ध्य में (मालव में) उस के वश के देव (गुप्त) सिंहराज न अपने को वहाँ का जनता स राजा बनवा लिया। प्रकटादित्य न ५४ वर्ष राज्य किया और इसी के समय में शशांक हुआ जिस का नाम साम कह कर दिया है। प्रकटादित्य का भाई व (वज्र) उस के बाद राजा हुआ। फिर कोई १० वर्ष के अन्दर राज्यवर्द्धन का राज्य हुआ। यह गुप्त-साम्राज्य के टूटने का इतिहास दिया हुआ है। प्रकटादित्य सम्राट् बालादित्य द्वितीय का बेटा था यह सारनाथ के शिलालेख में है। शिलालेखानुसार वह काशी से राज्य करता था। स्मिथ आदि को दूसरे बालादित्य का पता नहीं, उसे पहले बालादित्य से उन नव इतिहासकारों ने मिला दिया है और भ्रान्त हो गए हैं, नतीजा यह हुआ कि गुप्त-साम्राज्य का टूटना उन्हों ने ४०, ५० वर्ष पहले मान लिया।

गुप्तवश हूणों के ध्वस्त होने पर भी फिर नहीं सम्राज् होन पाया। इस का कारण इस इतिहास में यह मिलता है कि प्रकटादित्य कुमारावस्था में कैद किया गया था। इसे गोपराज ने बन्दी किया था। हूण ने इस छोकड को मगध की गद्दी दे बनारस में बिठलाया। पर यह राजा उस समय नहीं बल्कि हूण के बेटे मह (अर्थात् मिहिर) के बाद हुआ। लोगो ने इसे नीच समझ भारत का सम्राट् अन्य का माना जो—

५—विष्णुवर्द्धन था। इसे शिलालेखों में विष्णुवर्द्धन यशोवर्मा कहा है। इस के वश में तीन पीढ़ी तक साम्राज्य रहा। फिर—

६—मौखरिवश वाले सम्राट् हुए। शिलालेखों के अनुसार हिमाद्रि (हिमालय) स ले कर आन्ध्र देश तक और मगध स पश्चिम समुद्र तक मौखरियों का राज्य था। पर यह बात भी स्मिथ आदि की समझ में न आया और उन्हों ने लिखा कि कोइ साम्राज्य हर्ष के पहले ५० वर्ष तक न था। यह बात सब भ्रान्त साबित हो गई।

७—मौखरियो के बाद श्रीकण्ठ स्थाण्वीश्वर का वंश दिया है। लिखा है कि, हर्ष ने गौड़ के बौद्ध-धर्मद्रोही सोम (शशांक) को पराजित किया। पुण्ड्रवर्द्धन पर युद्ध हुआ और शशांक को यह दण्ड दिया गया कि आमृत्यु वह पुण्ड्रवर्द्धन राज्य के बाहर न जावे। शशांक ब्राह्मण था और उस के समय मे वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। बौद्ध मठो के मसालो से शहरवालों के मकान पुण्ड्रवर्द्ध में बने।

८—हर्षवर्द्धन के बाद उस का नाती ध्रुवसेन (तीसरा) आर्यावर्त का सम्राट् हुआ। इस के लड़ाई के जहाज़ भी बहुत थे। ताम्रपत्रो मे यह चक्रवर्त्ती लिखा है। इसके वंश मे कम से कम एक और सम्राट् लिखा हुआ है। फिर—

९—गुप्तवंश की शाखा जो गौड मे थी और गौड़वंश कहलाती थी उस का साम्राज्य हुआ। इन्हे स्मिथ Later Guptas कहते हैं पर ठीक नाम 'गौड़-गुप्तवंश' होना चाहिए। इन मे आदित्यसेन हुआ जिस ने ३ अश्वमेध किए। अपने इतिहास मे उस के ३ वंशजों के नाम दिए हैं; देवगुप्त चन्द्रादित्य द्वादशादित्य। चन्द्रादित्य और द्वादशादित्य के सिक्के मिलते हैं और देवगुप्त का नाम शिलालेखों मे है।

इन के समय मे मगध मे कुछ दिन तक राज्य इन के अधीनस्थ राजा यकारादि का हो गया था। यह य० मेरी समझ मे यशोवर्मा कन्नौजवाला सोमवंशी राजा है।

१०—लिखा है कि द्वादशादित्य के बाद या उस के समय मे बंगाल ने अपना राजा चुनाव से एक शूद्र को बनाया। फिर उस के बाद एक दूसरे शूद्र गोपाल को चुना और उस का वंश चला। इन्हें अब पालवंशी कहते हैं पर इस ग्रन्थ मे 'गोपाला.' नाम दिया है अर्थात् गोपालवंश। यह साम्राज्यक्रम दिया हुआ है। इस मे विष्णुवर्द्धन, मौखरि, वलभी और गौड़वंश के साम्राज्यक्रम का आधुनिक ऐतिहासिको को पता न था। न वे यही जानते थे कि शशांक ब्राह्मण था। उसे वे गुप्तवंशज ही समझते थे। न अब तक पुण्ड्रवर्द्धनवाली लड़ाई का कोई हाल जानता था। यह भी लिखा है कि बंगाल में शशांक के बाद कुछ स्वल्प काल तक एक गणराज्य रहा।

राजाओं की जातियाँ

मानो योरपीय लेखकों से चिढ़कर सरस्वती ने इस ग्रन्थ का उद्घाटन किया है। वे बहुतेरे हिन्दुओ को म्लेच्छ कहते थे। यह उन्हे गाली देना है। वे कहते थे कि वलभी कुलवाले हूण थे। इस सब का जवाब इस ग्रन्थ से मिल गया क्योंकि सब वंशो की "पूर्वी" (असलियत) इस में दी हुई है। वलभी कुल को लिखा है कि ये इक्ष्वाकु वंश के थे। इस विषय मे श्रीयुत वैद्य की बात ठीक निकली और दूसरों की थोथी ठहरी। गुप्तों को क्षत्रिय लिखा है और हर्षवर्द्धन को वैश्य।

इस ग्रन्थ में बहुत सी नई बातें हैं सब का उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। मैंने इस का सारा तत्त्व एक नये ग्रन्थ में लिख दिया है और पाठ तिब्बती से शुद्ध कर संस्कृत मूल भी दे दिया था। यह ग्रन्थ छप रहा है।

Some Rajput Traditions in South India

प्रो० डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, मद्रास

[अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति के साथ जो एक कहानी प्रचलित है, उस की प्राचीनता का पता चलाना बड़ा मनोरंजक होगा। दक्षिण के कुछ प्राचीन राजवंश भी अपने को यज्ञकुण्ड से उत्पन्न अग्निकुलवंशी मानते थे, यह इस लेख के अन्त में दी गई संगम युग की एक प्राचीन तामिल कविता में प्रकट होता है।

इस कविता में पारि नाम के एक वेळ (सरदार) की दो कन्याओं को उसका एक मित्र कपिल नामक ब्राह्मण कवि विवाह के लिए पास के अरयम के एक दूसरे वेळ इरुंगो के पास ले कर जाता है और विवाह के लिए प्रार्थना करता है। इसमें वह कन्या के स्वर्गीय पिता का वर्णन कर के इरुंगो के वंश का वर्णन करते हुए उसे ऋषि की यज्ञाग्नि से उत्पन्न द्वारका के एक राजा का वंशज और उस की ४९ वीं पीढ़ी में उत्पन्न कहता है। तामिल ग्रन्थ विश्वपुराणम् के अनुसार यह ऋषि शम्भु था। पुराणों में इस ऋषि का पता नहीं मिलता पर भागवत में इळा की कहानी में इस की ओर निर्देश प्राप्त होता है। तामिल अनुश्रुति यह है कि अगस्त्य मुनि दक्षिण आते समय अपने साथ द्वारका से विष्णु या कृष्ण से कह कर अपने साथ १८ राजा और बहुत से सरदारों के परिवारों को दक्षिण ले आये थे। इसमें दक्षिण में द्वारका से आये प्रवासियों का आना सिद्ध होता है। कम से कम दक्षिण के राजघरानों में ऐसी अनुश्रुति विद्यमान है। केवल साहित्य से ही अग्निवंश की स्थिति सिद्ध नहीं होती, बल्कि लगभग २०० ई० पू० में नानाघाट वाले नागनिका के अभिलेख में उस के पिता को अ गि कु ल व ध ना कहा है। विद्वानों ने इसे अङ्ग से आया हुआ परिवार समझा है। पर वस्तुतः यह अग्नि का प्राकृत रूप है। तेलुगू भाषा में इसी का अपभ्रंश अग्गि आज भी प्रचलित है। उपर्युक्त वेळ (सरदार) भी उसी स्थान का रहने वाला था जहां नागनिका के पिता के सिक्के पाये गये हैं।

एक दूसरी कविता के अनुसार इसी समय तामिल देश के एक दूसरे काञ्ची के सरदार को विष्णु का वंशधर कहा है। इस के पुरखों में अयोध्या के कुछ एक इक्ष्वाकु राजाओं के नाम हैं। इस के पास के प्रदेश में ही नागार्जुनी कोंडा से हाल में ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख भी मिले हैं। ऐक्ष्वाकुओं का अस्तित्व आन्ध्र अभिलेखों से भी प्रकट होता है। यह सरदार चोल पिता का पुत्र है। बादामी के चालुक्य भी अपने को सूर्यवंशी कहते थे।

उपर्युक्त ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख सन् २५० ई० के पहले के हैं। संगम युग को भी हम ३०० ई० से पीछे का नहीं मान सकते।

It is a fairly well known fact that there is a tradition connected with some of the Rajput families that they belong to a group called Agnikula and a rather fanciful tale has been invented to account for the designation Agnikula. It would be interesting, therefore, to examine how far back this story could be traced and whether there were any other families of rulers, who claim similar association. The enclosed translation of a Tamil poem seems to contain the story of the founder of a royal family appearing from out of the sacrificial fire and thus giving the name to the dynasty, though perhaps the dynasty may for all that we know be altogether unconnected with any of the Rajput families of a later time that lay claim to this ancestry. The story of the fire born family is briefly this.

There was a chieftain by name Pāri whose demesne lay in the region towards the Western Ghats in the distant south of India. He was one among the seven chieftains known to Tamil literary tradition as the last seven patrons of literature. The significance of the tradition is that in the early stages of development of literature it had to depend upon private patronage, that is patronage of individuals as distinct from

foundations for the promotion of learning Among those that have left an impress in this department of patronage a certain number are regarded as pre-eminent, and, obviously on the basis of chronology, they happen to be divided in the Tamil country into the early, middle and later patrons Either as a matter of chance or because the number was fixed by design each one of these groups consisted of seven individuals The following were the seven belonging to the latest group —

1 Pehan	4 Āay.
2 Pāri	5 Adhikan.
3 Kāri	6 Nalli and 7 Ōri

The poem[1] that celebrates these definitely also associates with them the three far-famed kingdoms of the Tamil land, the Chola, the Pāndya and the Chera The general disposition of the Tamil country politically was that there were the three kingdoms in the localities, along the coast region generally associated with them, more or less extensive according to the vicissitudes of their history, and along with them, a certain part of the territory had to be left in the occupation of petty chieftains who had to maintain their authority by the exercise of military power Not being rulers of large enough territory to be dignified by the title king, nor coming of the same kind of illustrious ancestry to enjoy the dignity they are given the smaller title of Vels petty vassal chieftains who owed allegiance to a higher ruler, generally one of the three kings But one feature attaching to them is the characteristic feature of a disinclination to acknowledge authority and remain loyal which seems more or less incidental to the exercise of military authority not the recognised civil authority of ruling sovereigns Being set over rather somewhat intractable lands not as yet brought into full cultivation and civilised rule, these are sometimes described also as kings of inferior lands, having regard to the character of the country, over which they were set to rule ; being under non-regulation territory, the military protection had to be given to the inhabitants as yet in a comparatively rude and but partially agricultural state of civilization They are described sometimes as *Kuru-Nila Mannar*—kings of lands of inferior fertility, or *Salukku-Vendar*—kings of lower standing Otherwise they are generically described as Vels They may be described as a class of noble families, divided into two parts, a small number of ruling families, and the far larger number connected with ruling families and endogamous at least to the extent of girls being accepted for marriage by the ruling families, the families being hypergamous to that extent Therefore they are of the same kind, but of inferior degree The seven chieftains under reference therefore belong to the latter class to attain anon, a large number of them, eminence both by their rule and by their patronage of letters

This particular chieftain Pāri, one among the seven had a life-long friend in the Brahman poet Kapila, a Sangam celebrity After varying fortunes he died, or fell in

[1] Siru-Pānārruppadai

battle leaving behind him two daughters unmarried As the social etiquette demanded the life long friend of the father, the Brahman by birth and a poet assumed a position in *loco parentis* and took the responsibility upon himself of getting the two girls suitably married to discharge his friendly obligation to the late patron In the course of this interesting mission, he took the girls to a chieftain of similar standing ruler over the hill called Araiyam perhaps again in the hilly country of the Western Ghats by name Irungo and requested him to accept the girls from him in marriage the girls who were daughters of Pāri king of Parambil or Parambū nādu In doing so as he was in duty bound he described the parentage of the girls to begin with and addressed the chieftain in flattering terms alluding to his own distinguished ancestry in the course of which he refers to him as a chieftain who came of the family of a king of Dvāraka who came out of the sacrificial fire of a *Rishi* His ancestors counted 49 generations from the founder and in direct descent from him and as coming of that illustrious family, Irungo was therefore eminently worthy of the orphan daughters of his own patron Pāri

The question arises as to who the king of Dvāraka was who came out of the sacrificial fire and founded the long dynasty of 49 I have not as yet been able to trace in Sanskrit literature the actual story under reference or the king referred to or even the name of the *Rishi* But in a Tamil poem known as Viśvapurānasāram [2] there is a reference to a *Rishi* by name Śambhu from whose sacrificial fire a royal family arose This name is referred to in a similar context in a later Tamil poem also I have not come upon a Sambhu Rishi either in the Mahābhārata or in the Vishnu Purāna or in the Bhāgavata but I hope to trace it So far there is a similar reference in the story of Ilā in the nineteenth book of the Bhāgvata This coupled with the reference to Dvāraka seems to indicate that it may be merely a reference to this story of Ila and the forty nine generations may confirm this Tamil tradition [3] of course *it is comparatively later* tradition has it that when Agastya proceeded on his civilising mission to the south he is said actually to have gone to Dvāraka and taken along with him 18 kings and as many families of chieftains of lower dignity than kings called Vels Agastya is said to have obtained these from the long crowned great one who measured the earth apparently meaning of course Vishnu as Krishna The combined result of these seems to justify an emigration southwards from Dvāraka at least there is tradition to that effect among the ruling families of South India A translation of the poem with a few notes to explain is annexed for reference It is not literary references alone that make these allusions to the family of Agni Some of the chieftains contemporary with the early Sātavāhanas particularly one chieftain who was the father of the great queen Nāganika wife of the great Sātakarni and mother of the two princes, whose inscriptions and even representation are found in Nānāghat refers to her father as *Anaia kula Vadhano* in Prakrit

[2] Purananuru Second Ed of Pandit Dr S Iyer p 313

[3] References given on same page as note 2

which put in Sanskrit would be *Āgneya-Kula-Vardhana* *Aggi* in Prakrit for *Agni* is not only correct Prakrit but apparently borrowed through Prakrit, the word is used in classical Tamil, and in a somewhat modified form *Aggi* is used in Telugu and to some extent in Kannada as well So the *Angia-kula-Vadhano* is not exactly a family coming from Anga as was attempted to be explained by Professor Rapson and other numismatists The chieftain is located by his coins as a Mahārati or Mahārashtrika in the region of Mysore where we have to locate this Irungo Vel as well

Before concluding the note I would invite attention to another similar tradition prevalent in the Tamil country rather akin to the Rajput tradition also A contemporary chieftain of the Tamil land who ruled Kānchī is celebrated in another poem[4] of the same group and there he is referred to as "coming of the race of the great one of the long crown, who measured the earth and is of the colour of the sea"—a circumstantial description for Vishnu The chieftain is Ilam Tiraiyan of Kānchī. He is described as coming in descent from the family of Vishnu as being the son of a Chola father, among whose ancestors figure some of the names of the Ikshvāku dynasty ruling in Avodhya which the Pratīhāra dynasty of Rajputs give to themselves in later history Whether the Chola rulers of the south were connected with the Ikshvākus directly or indirectly we cannot be quite certain about But the tradition is there, and several names figure among the Chola genealogies in the legendary part among whom well-known name Sibi is worth mention Not far removed from this chieftain, we have names of a family of Aikshvākavās whose inscriptions have come down to us in number in the excavations at Nāgārjunikonda[5] in the south-eastern part of the Nizam's Dominions and bordering on the Krishna District of the Madras Presidency These Aikshvākavās are also known from certain Andhra inscriptions Naturally when the early Chāḷukyas rose to prominence in Badami (Vātāpi), early in the sixth century they lay claim to come from the Ikshvāku family Therefore then the Sūryavaṁśa and the Chandravaṁśa get associated with ruling families of the south who are generally regarded as Dravidian We shall have to leave it to future research to settle the question whether the ruling dynasties of the south were Aryan or Dravidian ; whether they came from the north or whether they were local, and what exactly is the meaning of their associating with their ancestry this connection with the well-known families of the north, which occur in literature not necessarily Brahmanical, at least not all of them Brahmanical Let us hope that welcome light would come upon us rather sooner than later

In regard to the chronology of these sources the inscriptions of the Ikshvākus, though undated, are all of them referable to the third century A D , and the literature from which the references are taken in the former part is a body called Sangam litera-

[4] Perum-pānarrupadai pp 29—31

[5] Epigraphica Indica Vol XVIII

ture by the Tamils, and is referable to a period not later than A D 300 This is not the place to go into a discussion of the question but it may be stated that the political divisions and the geographical distribution of territory, etc, that this body of literature implies could not be located satisfactorily in the fifth or the sixth or the ninth century, all of which periods are suggested by scholars as the age of the Sangam Not one of those responsible for any of these suggestions has worked it up sufficiently fully to carry conviction Hence the traditions are traditions in both cases referable generally to the early centuries of the Christian era

Puranānūru 201 Addressed by Kapilar to the Chief Vel Irungo of Iraiyam

Dost thou desirest knowing who these are? These be then
Daughters dear of Pāri—of Parambil king who
Gifting away his villages to those who his patronage sought
Bestowed on creeper *Mullai* in abiding grace
His car full equipped—earning thus a never dying fame
Far famed Pāri whose mount the elephant, sounding bells announced
These be daughters mine all his life their father's friend
Brahman born and poet eek I've brought them o'er
Thou art hero victor in war, the great Irungo Vel[1] among Vels
Who springing from the Northern Sage's pit of Sacrifices held sway
In Tuvarai[2] with battlements high of copper wrought in line
Unbroken from father to son counting seven times seven
Possessed of elephants in garlands adorned thou art
Pulikadimāl[3] of flowing garland who in manly duty
With lavish hand bestowed your splendid gifts—

[1] *Vel* is a term applied to a class of people of aristocratic dignity falling into two sections—those that rule and those of lower standing but worthy of giving girls in marriage to ruling families These have nothing to do with Bellālas which so far as we know occurs only as personal name of certain rulers of the Hoysala dynasty—there having been four rulers of this name in historical times

[2] *Tuvarai* is the Tamil equivalent of Dvaraka The late Mr Venkayya suggested a connection with *Dvaravati (Halebid) the capital of the Hoysala* Literary references are generally indubitably to Dvaraka in Gujarat and Halebid itself probably traced its name from the northern city of the Yadu

[3] The term means *the Great one who destroyed a tiger* How the tiger was destroyed is not explained in this case In the story of the origin of the Hoysala the popular derivation is that a sage in penance exclaimed while a tiger was ready to pounce on him, *Hoy*—hit addressing a man standing near by name Sala the two words combining to give the name Hoysala Sala was the founder of the family and the incident is said to have taken place in the Vasantika temple in the village Angadi in the Western Ghats in Mysore It is obvious that the [illegible] attempts to explain the name A more [illegible] interpretation is possible and is not without authority The killing of a tiger is an act of [illegible] [illegible] that [illegible] [illegible] their bravery with a [illegible] [illegible] of [illegible] [illegible]

Accept these of me in marriage-gift bestowed,
Thou valiant one, lord of the sea-girt earth
With the sky for canopy, lord of hills yielding gold,
Lord of the victory-winning spear, thine army striking fear
In thine enemies, Lord of land of extent undiminished.

The Initial Year of the Little Known Eastern Ganga Era

श्रीयुत र० सुब्बाराव, एम०ए०, एल०टी०, आन्ध्र युनिवर्सिटी, राजमहेन्द्री

[उड़ीसा के गंग राजाओं के ताम्रपत्रों और राजशासनों में गां गे य वं श प्र व र्ध मा न वि ज य रा ज्य सं व त् का उल्लेख रहता है। इस संवत् का आरम्भ कब हुआ इस पर विद्वानों में विवाद है। ३४६ से ७२० ई० तक कई तिथियाँ सुझाई गई हैं। लेखक ने इस विषय पर एक लेख १९३० ई० में पटना की छठी प्राच्य-विद्या-परिषद् के अवसर पर पढ़ा था। उस में तथा अपने तेलुगु भाषा के ग्रन्थ कलिङ्गदेशचरित्र में लेखक ने इस संवत् के प्रवर्तन की तिथि ४९३ ई० ठहरायी है। उस के बाद दो ताम्रपत्र और मिलने से सन् १९३१ ई० में लेखक ने एक दूसरे लेख में ४९४ ई० इस की निश्चित तिथि मानी। इस का कारण कदंब राजा धर्मखेडि के, गंग राजा अनन्तवर्मा (२) और उस के पुत्र देवेन्द्रवर्मदेव के समय के दो ताम्रपत्रों में क्रमश: शक सं० ९१३ और गंग कदंब संवत् ५२० का उल्लेख है। इस राजा अनन्तवर्मा का काल इस के पौत्र तथा ५वें उत्तराधिकारी अनन्तवर्मा वज्रहस्त (३) तथा उस के पौत्र चोडगंग के ताम्राभिलेखों की वंशतालिकाओं के आधार पर श० सं० ९०१—३६ सिद्ध हुआ है। उस के लडके देवेन्द्र ने सिर्फ़ आधा ही वर्ष राज्य किया। उस के उत्तराधिकारी गुण्डम का राज्य-काल ९३८—४१ श० सं० है। इसके बाद मधुकामार्णव गद्दी पर बैठा (शक संवत् ९४१—७०)। मधुकामार्णव का ५२६ गं० सं० का अभिलेख मिला है जिस से सिद्ध है कि पहले और पिछले गंग राजा एक ही थे। इस प्रकार गंग सं० ५२० = श० सं० ९३६-३७। अतः गंग संवत् का आरम्भ गुप्त साम्राज्य के पतन के ठीक बाद ४९५-९५ ई० ठहरता है। पर श्री० जे० सी० घोष ने ज्योतिष द्वारा परिगणन करके सुझाया कि इस का आरम्भ ४९५-९६ ई० होना चाहिए, सो ठीक है। क्योंकि गुण्डम का राज्यकाल ९३८ श० सं० है; अत: देवेन्द्र का समय ९३६-३७ श० सं० न हो कर श० सं० ९३७-३८ अर्थात् १०१५-१६ ई० होना चाहिए।]

A paper on *Ganga Era* was presented by me to the Sixth All-India Oriental Conference held at Patna in December 1930,* wherein I pointed out that several attempts were made by several scholars to fix the initial year of the Ganga Era and such years as they fixed ranged between A.D 349 and 720. In my paper I adduced new evidences based on copper-plate inscriptions and fixed the initial year of the Era in 493 A.D. I expressed the same view first in my Telugu work *Kalingadêśa-Charitra* published in 1930

Since that attempt was made, two new Eastern Ganga plates of Ananta Varma and Ananta Varmadêva's son, Madhu-Kāmārṇavadêva, dated Saka year 913 and Ganga Era 526 respectively, were published in 1931 and 1932 in J.B.O.R.S Vols XVII and XVIII After studying the same along with the plates of the Eastern Kadamba King Dharmakhêdi of 520 Ganga-Kadamba Era published in J.A.H.R.S. Volume III, I stated in J.A.H.R.S Volume V (1931) page 274 that the initial year of the Ganga Era

* J.A.H.R.S Vol V Part 3, pp 200—04

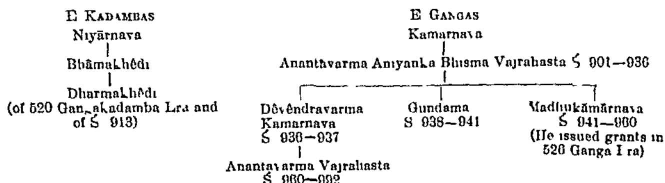
falls in 494 A D for the following reasons —(1) The discovery of the Jirjingi plates[1] of Indravarma of 39 G E has thrown new light On paleographical grounds it is the most important in fixing the Ganga Chronology Its characters are boxheaded and belong to the beginning of the 6th century A D Since the grant is date in 39th G E and since its characters obviously belong to the first quarter of the 6th century A D we get the beginning of the Ganga Era in or about 490

(2) The discovery of Madhukamarnava s plates[2] belonging to the year 526 of Ganga Era is still more important His successor was Vajrahasta III According to the genealogy and chronology contained in all his plates Madhukamarnava ruled from A D 1019 to 1037 If he be supposed to have issued the grant dated 526 G E in the first year of his rule only then the initial year of Era falls in A D 493

(3) The publication of the Simhapura plates[3] of the Kadamba King Dharma Khedi Ganga Kadamba year 520 has led to the solution of this difficult problem The Ganga and the Ganga Kadamba Eras are both one and the same as the E Kadambas were the feudatories of the Eastern Gangas of Kalinga

(4) The publication of the Mandasa plates of Anantavarma of Saka Year 913 has further helped in the solution of this problem

From these newly published copper plates of the Eastern Gangas and Kadamba kings I was able to construct the following Ganga Kadamba Genealogy and Chronology from which we get the initial year of the Era in A D 494 95



From the above table it is clear that 520 G K year or G year corresponds to Saka year 936 37 or the initial year falls in Ś 416 17 or A D 494-495 But since Gundama, came to the throne in Ś 938 and since his predecessor ruled only for half year, his date must be taken as Ś 937 38 or Era A D 1015 16 It is by oversight that I mentioned in my article Ś 936 937 for Ś 937 to 938 and thus gave room to Mr J C Ghosh to

1 J A H R S Vol III Part I pp 49 50
2 C P No 5 in A R on S I E p for 1918-19 Also J B O R S Vol XVIII
3 J A H R S Vol III pp 171—80
4 J B O R S Vol XVII Parts II III
J A H R S Vol X Part 4 p 274

correct me[6] But I am glad that, by astronomical calculations worked out by him. he confirmed my theory which is further supported by Mr D C Sirkar, M.A[7]

Two recently published works, viz, *History of Orissa Vol I* (*1930*) by R D. Banerji and *The Historical Inscriptions of Southern India* (*1932*) by Robert Sewell and Dr S K Iyengar, still assume that the Ganga Era might have begun in A D 778 or 741 and A D 877-78 respectively The author of the former work, while criticising the views of Mr G Ramadas regarding Ganga Era and while stating that the initial year cannot lie in A.D. 349-50 as stated by him, held that the problem of the history and chronology of the Early Gangas of Kalinga and the Era used by them is still far from being solved It is a pity he has not lived to see his desire fulfilled His own assumption that the initial year might have been A D 778 or A D 741 is wrong and baseless[9] Similarly Robert Sewell and Dr S K Iyengar in their work noted already assumed that the Epoch was the year of Kamaranava III's accession, viz, 877-78[8] Similarly, Mr G Ramados stated several times that the initial year falls in A D. 349-50 depending upon astronomical calculations and paleographical evidences[10] While the latter were demolished by the late H D Banerji, the former were made applicable to the year 495-496 also by Mr J C Ghosh Under these circumstances his theory cannot stand The Imperial Guptas who conquered the East Coast up to Kanchi would not have allowed the Gangas to found an Era of their own It was therefore after their fall in A D 495 that the Gangas founded their era The Mankharis of Magadha also did the same at exactly the same year. Hence, it must be clear that the E Gangas started an era of their own after the fall of the Guptas in A D 495-496 "[11]

---

[6] Ind Ant Vol LXI, Dec 1932

[7] J A H R S Vol VII, pp. 229-30

[8] Pages 150, 153, 181, 226 and 239 of his work

[9] Pages 44, 50, 58 and 357 of this work

[10] J B O R S Vol IX, Parts 3 and 4, pp 398—415

[11] J. A H R S. Vol V, Part 4, pp 267—276

३

मध्य काल

New Light on the History of the Gujarat Rāshtrakūtas

प्रो० डा० अल्तेकर, एम० ए०, डि० लिट्, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

[लेखक ने गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं के दो नए ताम्रपत्र ए० इ० में प्रकाशित करने को भेजे हैं। उन से गुजरात के राष्ट्रकूटों के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है।

(१) यह विदित है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष के खिलाफ़ विद्रोह हुआ था, और उसे कुछ काल तक गद्दी से उतरना पड़ा था। अमोघवर्ष का जन्म ८०८ ई० में हुआ और ६ वर्ष की अवस्था में वह गद्दी पर बैठा। गुजरात का शासक उस का चचा कर्क उस का संरक्षक था। ८१६ ई० तक यह विद्रोह नहीं हुआ था, यह कर्क के नवसारी दानपत्र से सिद्ध है। परन्तु सूरत के इस नए ताम्रपत्र में, जो कि ८२१ ई० का है कर्क द्वारा इस विद्रोह के शमन का उल्लेख हुआ है। अतः ८१६-२१ ई० के बीच यह विद्रोह हुआ।

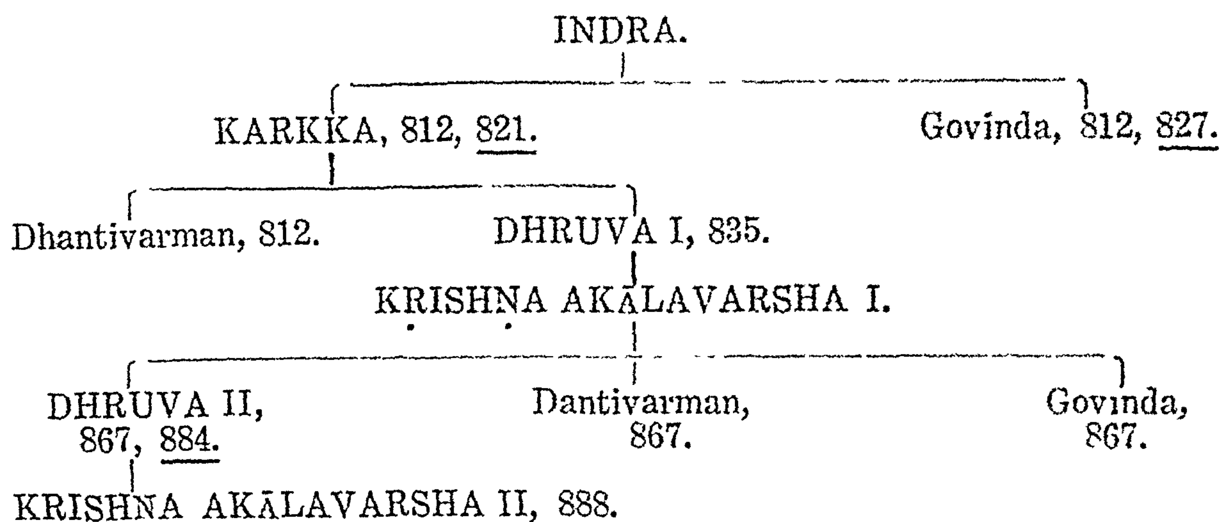
(२) कावीवाले ताम्रपत्र को कर्क के भाई गोविन्द ने निकाला है, यह देखकर फ्लीट और बुह्लर ने अदाज किया था कि गोविन्द ने अपने भाई का राज्य हथिया लिया था। यही कारण है कि गुजरात शाखा के अन्य लेखों में उस का नाम नहीं। पर यह ठीक नहीं। असल में गोविन्द गद्दी पर बैठा ही नहीं। वह तो राजद्रोह को शान्त करने गए हुए अपने भाई कर्क की अनुपस्थिति में उस के प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज्य करता था। कावी शासन में वह अपने भाई की प्रशंसा करता है।

(३) कृष्ण अकालवर्ष (२) किस का लड़का था सो अज्ञात है। अंकुलेश्वर वाले ८८८ ई० के ताम्रपत्र में कर्क तक की वंशावली दे कर आगे उस की पुत्र-कामना प्रकट की गई है। इस श्लोक का चौथा पाद अपूर्ण है। इस के बाद दन्तिवर्मा का जिक्र है और तब कृष्ण अकालवर्ष का। इस के आधार पर यह अनुमान किया गया था कि ध्रुव (२) के बाद उस के दादा ध्रुव (१) के भाई दन्तिवर्मा के, जो कि ८१२ ई० के करीब था, लड़के कृष्ण अकालवर्ष ने राज्य किया। पर ध्रुव (२) का यह नया ताम्रपत्र ८८४ ई० का है अत लगभग ७० वर्ष बाद, अपने भाई के वंश में ३ पीढ़ियाँ राज्य चलने के पीछे दन्तिवर्मा के लड़के का फिर से गद्दी पर बैठना जँचता नहीं।

इस लेख के शुरू में दी गई वंश-तालिका से पता चलता है कि पिछले चार राजाओं में पहले और तीसरे राजा का नाम ध्रुव है तथा दूसरे कृष्ण अकालवर्ष (१) के बारे में हमें निश्चित पता है कि वह ध्रुव (१) का लड़का है। पोते का नाम दादा के नाम पर रखने की प्रथा है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण अकालवर्ष (२) का पिता भी ध्रुव (२) था।]

Recently owing to the kindness of Dr D R Bhandarkar of the Calcutta University, I have obtained for editing two unpublished copper plate grants of two rulers of Gujarat Rāshtrakūta Branch These throw fresh light on the history of this dynasty, I would, therefore, discuss their new data in this article

For facility of reference I first subjoin a genealogical table of this dynasty, giving known dates against each king :—



[*The names of those members of this genealogy, who ascended the throne, are given in block letters. Underlined dates are the new dates supplied by the copper plates under discussion.*]

Fresh light is thrown by these grants on the following new points:

REVOLT AGAINST AMOGHAVARSHA I

It was well-known that the feudatories of Amoghavarsha I had revolted against him, and the Sanjan copper plates of that ruler[1] have recently shown that Amoghavarsha I was actually dethroned for some months during his rebellion. From the same record we further know that Amoghavarsha I was born in c. 808 A.D., and was thus a boy of about 6 at the time of his accession. The actual date of this rebellion against the boy emperor was not known ; the revolt had not taken place in 816 A.D. when the Naosari plates of Karkka[2] were issued in that year. If the revolt had already taken place by that time and Karkka had quelled it, the incident would certainly have been mentioned in that document. On the other hand, we knew that the revolt had taken place sometime before 835 A.D., for it was described in the Baroda grant of Dhruva I of the Gujarat Branch issued in that year[3]. The Surat plates of Karkka, which I have sent for publication to the *Epigraphia Indica*, are dated 821 A.D., and describe the revolt of the feudatories. This new record, therefore, enables us to know that the revolt against Amoghavarsha I had taken place during the short interval between 816 and 821 A.D., when he was a boy of about 10 to 15.

(1) E I, XVIII. 235 (2) J. B. B. R A S., XX, p 133. (3) I A, XIV, p 196

POSITION OF GOVINDA OF THE KĀVI PLATES

Drs Hultzsch and Buhler had held that Govinda, the younger brother of Karkka, who has issued the Kāvi plates in 827 A D, was a usurper against his brother, and so his name is passed over in the other records of the Gujarat Branch[1] This view has now to be abandoned In his Kāvi plates Govinda praises the *administration of his elder brother, Karkka, very highly*, *cf*

सौराज्यजल्पे चलिते प्रसङ्गात्त्रिदर्शनं विश्वजनीनसम्पत् ।
प्रा-प यत्न पूर्वमहा बभूव पितात्रिदानीं तु नृपस्य तस्य ॥ ७ २२

Is it likely that he would go out of his way to praise his brother if he was a rebel against him? Further, the Kāvi plates nowhere state that Govinda, who issued them, had ascended the throne of the Gujarat Branch The fact was that he was a mere regent ruling for his brother Amoghavarsha I was a mere boy at the time of the revolt against him, it was quelled before 821 A D by Karkka During this troublesome period, the administration of the main Rāshtrakūta line must obviously have devolved upon Karkka, the cousin guardian of the boy emperor It thus became necessary for Karkka to remain absent from his patrimony in Gujarat for several years He had to make arrangements for carrying on the administration of Gujarat during his prolonged absence at Malkhed A regent had to be appointed The Baroda plates of 812 A D[2] no doubt show that he had a son, Dantivarman by name, who was grown up enough to be the *dūtaka* of that grant But this Dantivarman did not succeed his father, records of the Gujarat Branch inform us that Karkka was succeeded by his son, Dhruva I, whom he got after a long period of intense anxiety It is, therefore, clear that Dantivarman of Baroda plates was not probably alive, when Karkka was compelled to hand over the administration of Gujarat to a regent during his absence at Malkhed His choice, therefore, naturally fell upon his younger brother, Govinda, who was a mature administrator in c 812 A D His Kāvi plates show that he was also intensely loyal to his brother The later records of the Gujarat Branch pass over his name not because he was a usurper but because he was a mere regent of the collateral line, who had never ascended the throne

KRISHNA AKĀLAVARSHA II

The relationship of this last ruler of the Gujarat Branch with his predecessors is not definitely known We have got only one copper plate issued by him and it is very corrupt This document, the Ankuleshwer grant, dated 888 A D,[3] brings the genealogy down to Karkka, mentions his anxiety for having a son in a verse which remains incomplete in its 4th *pāda*, and then

(1) *Ibid* I A XII p 181 (2) I A XII p 156 (3) *Ibid* XIV, p 67

introduces Dantivarman, who is followed by Krishna Akālavarsha, the grantor of the charter. The passage runs as follows :—

पुत्रीयतस्तस्य महानुभावः कृती कृतज्ञः कृतधैर्य्यवीर्य्यः ।
वशीकृताशेषनरेन्द्रचन्द्रः वभूव सूनुः श्रीदन्तिवर्मणः प्रबलप्रतापः
येन खड्गद्वितीयेन वल्लभनृपस्य पश्यत· । उज्जयिन्यां रिपूञ्जित्वा दूरमुत्तम्भितं यशः ॥
तेन................ ..अकालव (१)

On the strength of this passage it was suggested that Dhruva II was succeeded by a son of Dantivarman, a brother of his grandfather, Dhruva I, who was the *dūtaka* of the Baroda plates of Karkka. The new copper plate of Dhruva II, which I would be soon publishing, is dated in 884 A.D. It supplies a new date for that ruler, and shows that he did not die soon after his Baroda plates were issued in 867 A.D., but continued to rule at least for 17 years more. It, therefore, becomes very doubtful, if a son of Dantivarman, who was grown up enough to become a responsible officer in 812 A.D., could have ascended the throne about 70 years later than that date, when the succession had already passed for three generations in the line of his brother.

The real fact is that the passage in the Ankuleshwer charter quoted above, does not at all prove that the grantor was a son of Dantivarman. There is clear lacuna after the words *babhūva sūnūh* in 1.4. The metre will make it clear even to a child that the words *Śrī Dantivarmanaḥ prabalapratāpaḥ*, which follow, do not belong to that verse. Other documents of this dynasty tell us that the 4th line ran as—

वभूव सूनुर्ध्रुवराजनामा ।

It is, therefore, absolutely certain that there is a break in the record after the words *babhūva sūnūh*. It seems probable that one of the *tāḍapatras*, which commenced with the words *Dhruvarājanāmā* and which described the careers of the next three rulers of the Gujarat Branch, was lost in transit as the Ms. was being carried from the office of the Secretariate to the house of the mason for engraving it on the plates. The extremely corrupt text of the Ankuleshwer plates makes it clear that no responsible officer had revised the document after it was engraved by the engraver. So the omission of the three rulers remained uncorrected. This charter, therefore, does not prove that Krishna Akālavarsha, who succeeded Dhruva II sometime after 884 A.D., was a son of Dantivarman, who was living as early as 812 A.D.

If we cast a glance at the genealogy given at the beginning of this paper, we shall see that in the case of the last four rulers, first and third of them are named Dhruva and are both of them followed by rulers named Krishna Akālavarsha.

(1) The passage is given after carrying out numerous grammatical corrections

We know definitely that the first Akālavarsha was a son of his predecessor, Dhruva I It may eventually be proved that the second Akālavarsha also was a son of his predecessor, Dhruva II It seems that the fashion of naming the grandchild after the grandfather was current at this time in the family, and that the successor of Dhruva II was none other than his eldest son, Krishna Akālavarsha II, who was named after his grandfather If a well preserved charter of Krishna Akālavarsha II is recovered, I feel sure that this conjecture will be borne out by it

कवि धोयी और उसका पवनदूत काव्य

दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी॰ ए॰ अहमदाबाद।

कविवर धोयी ई॰ स॰ की बारहवीं शताब्दी में हुए थे। श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में इस कवि के नाम के १९ श्लोक दिए गए हैं[1]। सैंकडों कवियों के सुभाषितों का प्रस्तुत संग्रह लक्ष्मण सं॰ २७ में अर्थात् ई॰ स॰ १२०५ में किया गया था। संग्राहक कायस्थ वंग देश के राजा लक्ष्मणसेन का महामण्डलेश्वर था। इस के पिता बटुदास राजा बल्लालसेन की उपस्थिति में वरेन्द्र के महासामंत थे। श्रीधरदास सङ्कलित 'सदुक्तिकर्णामृत' के संग्रहकाल के आधार पर, कविवर धोयी का समय, बारहवीं शताब्दी में मैंने नियत किया है।

'सदुक्तिकर्णामृत' में दिए हुए पूर्वोक्त १९ श्लोकों में से एक का उत्तरार्ध पढने पर यह ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य की सभा में अद्भुत स्मरणशक्तिशाली होने से जिस प्रकार वररुचि ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी, उसी प्रकार कविवर धोयी ने भी सेनराज की सभा में ख्याति प्राप्त की थी। और इसी कारण से कविवर धोयी "श्रुतिधर" के विरुद से भी प्रसिद्ध थे[2]। उन के इस विरुद का उल्लेख 'गीतगोविन्द' के प्रारम्भ में उद्धृत सुभाषित में भी किया गया है[3]। कविवर धोयी की ये श्रुतिधरता विषयक आख्यायिकाएँ यदि मौखिक या लिखित रूप में परम्परा से उपलब्ध हो सकतीं तो इस से विद्वानों का मनोरंजन तो होता ही साथ ही तत्त्वजिज्ञासु की शिलोञ्छ वृत्ति को भी पोषण मिलता तथा कविवर धोयी के जीवन संबंधी कुछ कण भी प्राप्त हो जाते।

उद्दिष्ट श्लोक के पूर्वार्ध में कवि ने अपने आप को "कविराजाओं का चक्रवर्ती राजा" विशेषण से विभूषित किया है[4]। यह मिथ्या श्लाघा न होकर वस्तुतः उस के एक उचितर विरुद का अर्थवाद है। धोयी का पवनदूत

1 श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने संस्कृत साहित्य परिषद्-ग्रन्थमाला में पवनदूत संपादित किया है। इस में परिशिष्ट नोट के नीचे जो श्लोक दिए गए हैं, उन में प्रथम १८ श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में से लिए गए हैं, परन्तु उन में एक श्लोक जो नहीं जोड़ा गया था, वह निम्नलिखित रूप में है —

दन्तिव्यूहं कनकलतिकां चामरं हैमदण्डं
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥

2 दे॰ टि॰ १ श्लोक का उत्तरार्ध।

3 दे॰ "वाचः" प्रतीक के श्लोक का चौथा चरण और उसका अन्तिम भाग 'श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः'।

4 दे॰ टि॰ १, श्लोक का दूसरा चरण "कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती"।

काव्य जो बचा हुआ है और प्रकाशित भी हुआ है उसकी पुष्पिका में भी उक्त विरुद दृष्टिगोचर होता है[1]। लक्ष्मणसेन के सभा-मण्डप के शिरोलेख में भी राजसभा के पञ्चरत्नों की गणना करते समय, धोयी के नाम के बदले उसके विरुद अथवा उपनाम कविराज का ही उल्लेख है[2]।

"कविराज धोयी बंगाली वैद्यजाति के थे। 'कविकण्ठहार' और 'चन्द्रप्रभा' आदि में बंगाली वैद्यजाति के ढुहिसेन वा धूयिसेन का नाम पाया जाता है, जो धोयी के सिवा और कोई नहीं हो सकता। कविराज उपपद इन की जाति का बोधक है, क्योंकि बंगाली वैद्यजाति के पुरुष कविराज संज्ञा से ही पहचाने जाते हैं।" कुछ लोगों का कथन इस प्रकार है[3]। परन्तु मेरी समझ से तो यह सब भ्रम ही है, क्योंकि राजसभा वाले शिरोलेख का "कविराज" शब्द विरुद-बोधक है, जातिसूचक नहीं। फिर धोयी ने स्वयं ही "कविनरपति" और "कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती" आदि अनुवाद से विशिष्ट कवित्व का संकेत स्पष्ट कर दिया है[4]। अतः धोयी वैद्यजाति का नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वैद्यजातीय ढुहिसेन वा धूयिसेन नाम के साथ कवि धोयी के नाम-संबंधी साम्य का विचार करना व्यर्थ है।

'धोयी कवि काश्यप गोत्र का राढीय ब्राह्मण था' ऐसा महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादजी शास्त्री का कथन है[5]। 'पवनदूत' की प्रशस्ति से भी इस मत की पुष्टि होती है, इस के दूसरे श्लोक में कवि जन्मांतर में भी गंगा के उपकण्ठ में अर्थात् उस पवित्र नदी पर बसे हुए विजयपुर में ही निवास करने की इच्छा प्रदर्शित करता है। यह नगर सुह्म अथवा राढ देश में था। प्रस्तुत श्लोक पर से कवि किस मत का अनुयायी था, यह भी स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक जन्म में विष्णु भगवान् के चरण-कमलों में ही अपनी प्रीति बनी रहे, यह कवि की मनोकामना है, अर्थात् धोयी विष्णुभक्त था[6]।

'पवनदूत' के कर्ता पर राजा का पूर्ण प्रेम था, जिस से कविराज राजा के ऐश्वर्य के भोक्ता बने थे[7]। घर पर हाथी झूमते थे। कविवर के बाहर पधारने पर छड़ीदार स्वर्ण-निर्मित छड़ी ले कर आगे चलता था। चमरधर सुवर्ण-दण्डघटित चमर डुलाते थे। राज-कवियों की सभा में जो 'कविताचार्य' का गौरवान्वित आसन नियत था सो कविवर धोयी का था[8]।

---

१ "इति श्रीधोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम् ।"

२. यह श्लोक निम्नलिखित रूप में है:—

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

३. दे० चिन्ताहरण चक्रवर्ती—पवनदूत (इंट्रोडक्शन्) पृ० ५।

४. दे० टि० ३ (पृ० ७)।

५. दे० नोटिसेज़ ऑफ़ संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट्स् जि० १, प्रफ़ेस् पृ० २८।

६ यह समस्त श्लोक निम्नलिखित रूप में है.—

गोष्ठीबन्धः सरसकविभिर्वाचि वैदर्भरीति-
र्वासो गङ्गापरिसरभुवि स्निग्धभोग्या विभूतिः ।
सत्सु स्नेहः सदसि कविताचार्यकं भूभुजां मे
भक्तिर्लक्ष्मीपतिचरणयोरस्तु जन्मान्तरेऽपि ॥

७. दे० टि० १ (पृ० ७); श्लोक का पूर्वार्ध।

८ दे० इस पृष्ट की टि० ६; श्लोक का तीसरा चरण।

कविराज का साहित्य-प्रवृत्ति 'पवनदूत' के सौ सवा सौ श्लोकों तक ही परिमित हो सो नहीं[1], क्योंकि इन के रचे दूतकाव्य की प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक में इन के कई एक अमृतस्यन्दी प्रबन्धों का स्पष्ट निर्देश है। उस में 'वाक्प्रबन्धा' पद बहुवचनान्त होने से, तीन अथवा तीन से अधिक प्रबन्ध होने का अनुमान होता है[2]। इस मन्तव्य की पुष्टि 'सदुक्तिकर्णामृत' में दिए "विभ्राणस्तोय०", "यत्र तत्र०", "पश्चात्खुरद्वि०" और "कृतशीकर०" श्लोकों से और भी विशेष रूप से होती है[3]। पहले में जलक्रीडा का, दूसरे में रात्रि के प्रगाढ़ अंधकार का, तीसरे में दो पैरों पर खड़े हो कर अपने सवार को घबरा देता हो ऐसे अश्व का, चौथे में पानी से भीगी अपनी केशावली को कँपा कर पैरों से नदी के जल को हिला कर पानी पीते हुए अश्व का वर्णन है। यह स्रग्धरा, रथोद्धता, वसन्ततिलका, अथवा सुन्दरी वृत्त एक अथवा भिन्न महाकाव्य के अंश होंगे, ऐसा केवल दृष्टिपात करने से ही पहिचान लिए जाते हैं। परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि ये सब नष्ट हो चुके हैं और इन प्रबन्धों के नष्ट हो जाने से, कविवर धोयी की रची हुई अन्य साहित्य समृद्धि का एक विशाल भाग नष्ट हो चुका है।

अवशिष्ट दूतकाव्य की शैली वैदर्भी है[4], इस का नायक बङ्गाल का लक्ष्मणसेन है, जो दक्षिण में विजय प्राप्त करता हुआ दूरावस्थित मलयाचल तक पहुँच जाता है। उस पर्वत पर रहनेवाले एक गन्धर्व की पुत्री कुवलयवती लक्ष्मणसेन के अद्भुत रूप और पराक्रम पर मोहित हो जाती है। सेन राजा चन्दनवृक्षों के प्रदेश में अपने सुयश की सुगन्ध को छोड़ कर वापिस चला आता है। विरहव्याकुला गन्धर्वकन्या वसन्त ऋतु के आगमन

---

१ पवनदूत काव्य १०० श्लोकों वाला है। इसकी प्रशस्ति में ४ श्लोक हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में १९ श्लोक हैं। इस के अतिरिक्त परिशिष्ट नोट के अन्त में दो श्लोक धोयी के नाम से और दिए गए हैं।

२ यह समस्त श्लोक निम्नलिखित रूप में है —

> कीर्तिर्लब्धा सदसि विदुषां शीलिता क्षोणिपालाः
> वाक्संदर्भाः कतिचिदमृतस्य दिनो निर्मितारच।
> तीरे संप्रत्यमरसरित क्वापि शैलोपकण्ठे
> ब्रह्माभ्यासे प्रयतमनसा नेतुमीहे दिनानि॥

यहाँ पहले चरण में उपलब्ध पाठ "शीतलक्षोणिपाला" था, इसमें अर्थ न होने के कारण, मैं ने "शीलिता क्षोणिपाला" ऐसा नया पाठ रक्खा है।

३ समस्त श्लोक अनुक्रम से इस प्रकार हैः—

> विभ्राणस्तोयलग्न वसनमरसनादामनि श्रोणिभारे
> दूरादन्यान्यसाचिस्मितचतुरसखं कामिभिर्वीक्ष्यमाणा।
> उत्तेहस्तीरलेखां विपुलकमलिनीपत्रमीषद्विलग्ना
> वक्षोजाग्रेषु कृत्वा हरिणशिशुदृशो वीतचीनांशुकेषु॥
> यत्र यत्र रतिसज्जबन्धकीप्रीतये मदनशासनादिव।
> नीलकान्तपटतामुपाययौ सूचिभेद्यनिविड निशातम॥
> पश्चात्खुरद्वितयखण्डितभूमिभागमूर्ध्वीकृताग्रचरणद्वयमुग्रहयम्।
> मूर्धावगाहनविहस्तनिशाश्वधारमारोहन परिजहार खलु तुरङ्गम्॥
> कृतशीकरवृष्टिकेशरैरसकृत्स्कन्धमधः धुर धुवन्।
> अपिपत्चरणाग्रताडित तुरगः पङ्किलमापगापयः॥

४ दे० टि० ६ (पृ० ८), श्लोक के पहले चरण का उत्तर खण्ड।

पर पवन को सेन राजा की राजधानी की ओर प्रयाण करते देख[1] उस से विजयपुर जा कर अपनी विरह-दशा का राजा से निवेदन करने की प्रार्थना करती है। वह पवन को मार्ग बतलाती है, जिस में अनुक्रम से, पाण्ड्य देश का उरगपुर, रामसेतु, चोलराज्य की कांचीपुरी, कावेरी के ऊर्ध्व प्रदेश, आन्ध्रदेश का माल्यवान् पर्वत, पञ्चा-सर सरोवर, समुद्रतट की कलिङ्गनगरी, विन्ध्याचल से निकलती हुई नर्मदा, ययाति नगर और अन्त में सुह्मदेश का विजयनगर आता है।

लक्ष्मणसेन का दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख पवनदूत में है[2]। परन्तु धोयी ने इस के विषय मे विस्तार से कुछ भी नहीं लिखा। युवराज अवस्था में तथा राजा होने पर लक्ष्मणसेन ने अपने निकटवर्ती राजाओं पर जो विजय प्राप्त की थी, उस को तो हम जानते हैं[3]। उस ने अपने पिता बल्लाल-सेन की उपस्थिति में गौडदेश के राजा को पराजित कर के अपना वन्दी वनाया था, और उस के राज्य का बहुत सा प्रदेश अपने अधीन कर लिया था, साथ ही साथ कामरूप और कलिंग के राजाओं पर भी इस ने विजय प्राप्त की थी, तथा प्रयाग, वाराणसी एवं पुरी में अपने कीर्तिस्तम्भ स्थापित किए थे। 'पवनदूत' में लक्ष्मणसेन के इन पराक्रमों का विलकुल उल्लेख नहीं। इस में मेरा तो यही अनुमान है कि लक्ष्मणसेन ने दक्षिण में जो विजय प्राप्त की थी, सम्भव है वह उस की कुमारावस्था में ई० स० ११६५ के पूर्व सिद्ध हो।

किंवदन्ती है कि एक वार, विमाता से कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण, लक्ष्मणसेन चुपचाप घर से निकल गए। इस प्रसंग में वंग-धीवरों ने बल्लालसेन को राजकुमार का पता दिया था[3]। उस समय लक्ष्मणसेन की कुमारावस्था थी। अतः लक्ष्मणसेन पिता के घर को छोड़ कर मातामह के घर के अतिरिक्त कहाँ जा सकते थे? यह घटना उसी समय में हुई हो यह संभव है। लक्ष्मणसेन की स्वर्गस्थ माता रामदेवी दक्षिण में कुन्तलदेश के चालुक्यवंश की राजकन्या थी[4], और उस समय इन चालुक्यों की राजधानी कल्याण थी[6]। उन्मनायित युवक राजकुमार वंगाल के सफ़री पोत पर सवार हो कर—जिस मार्ग से कवि विल्हण रामेश्वर से कल्याणपुर आए थे उसी मार्ग से—अपने नाना के घर गए। लक्ष्मणसेन के ग़ायब हो जाने की घटना वंगाल में सर्वत्र फैल चुकी थी। कुछ धीवरों ने—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—दरबार में जा कर लक्ष्मणसेन के पिता बल्लालसेन को सूचना दी कि राजकुमार जल-मार्ग से कल्याण की तरफ गए हैं। यह समाचार सुनते ही कुछ दरबारी कुँवर को समझा बुझा कर घर ले आने के लिए गए होंगे। उस समय लक्ष्मणसेन का वय २० वा २१ वर्ष का मालूम होता है। लक्ष्मणसेन का जन्म ईसवी सन् १११९ में हुआ था। अतः मातामह के यहाँ उनके निवास का समय ११३९-४० सिद्ध होता है। इस साल के आसपास द्वितीय जगदेकमल्ल चालुक्य कल्याण की गद्दी पर

---

१. कुवलयवती संज्ञा से दक्षिण भूमि की राज्यलक्ष्मी संकेतित हो।
२. 'पवनदूत ॥ ६३ ॥ जित्वा देव त्वयि सरभसं दाक्षिणात्यान् क्षितीशान्०'।
३. दे० गीतगोविन्द उपोद्घात, बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन का इतिवृत्त।
४. दे० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ-कृत "भारत के प्राचीन राजवंश" प्रथम भाग, पृ० २०७।
५. दे० लक्ष्मणसेन का मधियानगर-ताम्रशासन।

धराधरान्तःपुरमौलिरत्नं चालुक्यभूपालकुलेन्दुलेखा।
तस्य प्रियाभूद्बहुमानभूमिर्लक्ष्मीपृथिव्योरपि रामदेवी ॥

६. कल्याण अब कल्याणी के नाम से प्रसिद्ध है और निज़ाम राज्य के अंतर्गत है, ऐसा पं० गौरीशंकरजी लिखते हैं।

थे[1] जो बिल्हण के "विक्रमांकदेवचरित" के नायक छठे विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक के पौत्र थे। जिस समय लक्ष्मणसेन अपने नाना के यहाँ रहते थे[2] द्वारसमुद्र के होयशल राजा विष्णुवर्धन उर्फ बट्टिग ने चालुक्यराज्य पर आक्रमण किया। उस के साथ जयकेशी, कुलशेखर, चट्ट आदि नरेश भी थे। परंतु आहवमल्ल के सेन्द्रकवंशीय सामंत पेर्माडी से सामना होने पर, कुलशेखर पराजित हुआ और चट्ट का मस्तक तलवार से रणक्षेत्र में उडा दिया गया। भयभीत जयकेशी और विष्णुवर्धन रणभूमि छोड कर भागे। पराक्रमी पेर्माडी ने इन का पीछा किया और वाहडी की घाटी में वह भागते हुए शत्रु के पास जा पहुँचा। घबराया हुआ होयशल राजा अपने गजदल को छोड कर भागा और द्वारसमुद्र में जा छिपा। इस पर पेर्माडी ने होयशल की राजधानी को जा घेरा। अवरुद्ध राजा प्राण बचाने के लिए राजधानी छोड़ कर भागा। सेन्द्रक सेनापति ने इसका पीछा जारी रक्खा। वेलूर तक उसका पीछा किया। विष्णुवर्धन घाट की पहाडियों मे गायब हो गया। तब कुन्तल का सामन्त युद्ध में प्राप्त विशाल सम्पत्ति को लेकर कल्याण लौट आया[3]।

इस युद्ध में साहसिक कुमार को भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करने का अवसर अवश्य मिला होगा[4]। बाकरगंज के लेखों में, केशवसेन अपने पिता लक्ष्मणसेन का यशोगान गाता है कि दक्षिण समुद्र के किनारे पर बसे हुए प्रदेशों में, जहाँ गदाधारी श्रीकृष्ण और मुसलधारी बलराम निवास कर रहे हैं, लक्ष्मणसेन के प्रथम पराक्रम के कीर्तिस्तम्भ हैं[5], जिनकी स्थापना, मैं कुन्तल देश के किसुकाडु विभाग के किसुवोवल गाँव में मानता हूँ[6]। इस गाँव में वसुदेव के पुत्रों के शिल्पकला के आदर्शभूत मन्दिरों का होना भी सुना जाता है। यह विभाग सेन्द्रक सामन्त पेर्माडी के अधिकार मे था, जिस ने द्वारसमुद्र के राजा पर की हुई विजय के चिह्न-स्वरूप उक्त कीर्तिस्तम्भ स्थापित किए होंगे, और उस में कुन्तल के भानजे के पराक्रमों की प्रशंसा की गई होगी। लक्ष्मणसेन के भुवनविजय का प्रारम्भ कुन्तल और द्वारसमुद्र के विग्रह से होता है। पवनदूत में युवक लक्ष्मणसेन का दाक्षिणात्य क्षितीशों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है[7], जो विष्णुवर्धन जयकेशी कुलशेखर और चट्ट आदि को लक्षित करके कहा गया मालूम पडता है। जयकेशी का समय ई० स० ११३८-३९ दिया गया है[8]। अतः युद्ध में जयकेशी का विष्णुवर्धन के पक्ष में होना हमारे कहे हुए उक्त, कुन्तल और द्वारसमुद्र के युद्ध के, समय को ही पुष्ट करता है।

---

१ दे० प० गौरीशंकर ओझा कृत भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थमाला जिल्द पहला, सोलंकियों का प्राचीन इतिहास।

२ यह मैसूर के हसन जिले में है, जिसका वर्तमान नाम हलबीड है। वेलूर भी मैसूर में है।

३ दे० नरेगल पट्टल गड के कनाड अभिलेख, ज० बं० ब्रा० रा० ए० सो० ११ पृ० २४४-४५, २६६ ७०।

४ दे० ज० ए० सो० बं० जि० ७ पृ० ४० ५०।

५ दे० श्लोक १२ वेलायां दक्षिणाब्धेर्मुसलधरगदापाणिसंवासवेद्यां
येनाक्ष्णै × × × × × × समरायस्तम्भमाला न्यधायि॥

६ दे० ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो० ११ कनाड अभिलेख।

७ दे० टि० २ (पृ० १०)।

८ दे० इस पृष्ठ की टि० ६ वाला कनाड अभिलेख।

कुन्तल देश पर द्वारसमुद्र के राजा की उक्त चढ़ाई के प्रसंग में लक्ष्मणसेन के अग्र भाग लेने का उल्लेख जयदेव ने अपने एक सुभाषित में किया है[1]। उस के पूर्वार्ध में लक्ष्मणसेन को संबोधित कर के कवि कहता है "आप महासागर के तरंग के समान धँसते आते चोलराज के सामने टक्कर लेते हो[2], (स्वयं आगे वढ़ के) कुन्तल सुभटों को अपने पीछे खींचते हो[3] और काञ्चीराज को परास्त करते हो[4], (फिर) अंगराज के साथ रणक्षेत्र में युद्ध[5] मचाते हो।" इस उक्ति में चोल कुन्तल और अंग वंग के साथ के होनेवाले युद्धों का अनुक्रम से निर्देश किया गया है। द्वितीय युद्ध के बारे में पुराविदों को ज्ञात है। राजा लक्ष्मणसेन ५९ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे। उन के राज्यकाल में ई० स० १७६५ के आस पास पड़ोसी गौडदेश का राजा मनराज से विग्रह करता है। पिता के समान ही पराक्रमी वीर लक्ष्मणसेन ने उसे परास्त कर के अपना वन्दी बना लिया, और गौड तथा वंग के वहुत से भाग को अपने अधीन करके गौडेश्वर या गौडेन्द्र का विरुद धारण किया[6]। प्रथम युद्ध मे कुन्तल सुभटों का अग्रेसर होकर यह चोलराज को पराजित करना है। वस्तुत: यह वही युद्ध है जिस का वृत्तांत इस लेख के पूर्व भाग में महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझाजी के 'सोलंकियों का इतिहास' से लेकर मैं दे चुका हूँ। द्वारसमुद्र का राजा विष्णुवर्धन कुन्तल पर हमला करता है, उस के सहायकों मे से कुलशेखर राजा पराजित होता और मारा जाता है। भयभीत विष्णुवर्धन तथा जयकेशी रणभूमि छोड़ कर भाग जाते हैं। ऐतिहासिक ओझाजी का जो कुलशेखर है वही जयदेव कवि के सुभाषितों का चोलराज या काञ्चीराज है। इस कारण अत्रोक्त पहला चोलकुन्तल का युद्ध अंग वंग के दूसरे युद्ध से पूर्व[7], जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, ई० स० ११३९-४० के आस पास है। इस युद्ध मे विजयप्राप्ति की कीर्ति के भागीदार दो थे; कुन्तलसेनापति

---

१. प्रस्तुत श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में है। बारह वर्ष पहले प्रस्तुत विषय पर एक लेख 'जैन-साहित्य-संशोधक' में छपवाया था। उस समय मुझ को यह उपलब्ध नहीं था। निम्नलिखित रूप से है:—

त्वं चोलोल्लोललीलां कलयसि कुरुषे कर्षणं कुन्तलानां
त्वं काञ्चीन्यञ्चनाय प्रभवसि रभसादङ्गसङ्गं करोषि।
इत्थं राजेन्द्र वन्दिस्तुतिभिरुपहितोत्कम्पमेवाद्य दीर्घं
नारीणामप्यरीणां हृदयमुदयते त्वत्पदाराधनाय॥

२. कलयसि पद "टक्कर लेना" ऐसे अर्थ में प्रयुक्त है।

३ काञ्ची चोलदेश की राजधानी थी; अर्थात् काञ्चीराज = चोलराज।

४. "न्यञ्चन" पद का "झुका देना" ऐसा अर्थ किया है।

५. मूल में "सङ्ग" शब्द है जिसका अर्थ 'संग्राम' भी होता है।

६. देo गीतगोविन्द के मेरे गुजराती अनुवाद का उपोद्घात, पृ० ११ और 'सदुक्तिकर्णामृत' ३।११।५।

७ श्लेष अलंकार होने से स्त्रियों के संबंध मे "चोल" अर्थात् कंचुकी के प्रति शत्रु भाव का, "कुंतल" अर्थात् केशपाश के कर्षण का, "काञ्ची" अर्थात् कटिमेखला के अंश का, और "अङ्ग" अर्थात् शरीर के बंध का क्रम अभिमत है। चोल-सुभटरूपी लहरों के प्रभाव का, कुतल-सुभटों को पीछे खींचने का, काञ्ची के राजा को पराजित करने का और अंगदेश के राजा के साथ युद्ध करने का क्रम विवक्षित है। कवि ने शत्रु अर्थ को "उल्लोल" संस्कारित देशी शब्द लिया है।

पेर्माडी और वग-राजकुमार लक्ष्मणसेन। केशवसेन के कहे हुए कीर्तिस्तंभ कुन्तलभूमि म सप्रति विद्यमान हों या न हों—कुछ चति नहीं—दूतकाव्य के रूप में कविवर धोयी की रची हुई प्रशस्ति लक्ष्मणसेन के प्रस्तुत पराक्रम का स्मरण करा रही है[1]।

यहाँ की हुई गणना को स्वीकार करने से "पवनदूत" ई० स० ११४० के पश्चात्, तुरत ही लिखा हुआ ठहरता है। विग्रहोत्तर बुलाने के लिए आए हुए बगाल के दरबारी-मडल के साथ विजयी कुमार पिता और पितामह का अभिनन्दन प्राप्त करने के लिए पुन उत्तरापथ आया होगा। बल्लालसेन और विजयसेन ही नहीं वस्तुत वग देश ने भी विजयी राजकुमार का अभिवादन किया होगा। कुशल राजकुमार को नवद्वीप की जागीर दी गई होगी और दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने की यादगार में नवद्वीप का नाम विजयपुर रखा गया होगा। इसी नाम से 'पवनदूत' में बाल राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी का निर्देश है। पीछे से स्मरण नहीं रहा होगा। इसलिए विजयपुर कहाँ और कौन सा था, इस विषय में शोधकों में मतभेद उत्पन्न हुआ है[2]। कितनेक पुरातत्त्वशोधकों के कथनानुसार राजशाही जिले का विजयनगर ही 'पवनदूत' का विजयपुर है। इस के पडोसी गाँव देवलवाड़ा से विजयसेन का शिलालेख मिला था, परतु उस से यह सिद्ध नहीं होता कि विजयनगर ही लक्ष्मणसेन की राजधानी थी। 'तबकाते नासिरी' में इस की राजधानी का नाम नोदिया दिया गया है। इस को मैं नवद्वीप का रूपान्तर समझता हूँ। अब भी नदिया के पास बामों पुकुर नामक गाँव में बल्लाल ढीवी अर्थात् बल्लाल का टीबा, इस नाम का एक टेकरा है, और उस के पास ही में बल्लाल दीघी नाम का एक सरोवर भी है। ये सब प्राचीन स्थान विजयपुर के सप्तभुवन को[3] राजमहल की और उसके अन्त पुर की क्रीडादीर्घिका[4] की स्मृति दिलाते हैं। लक्ष्मणसेन की तीन राजधानियाँ थीं—नवद्वीप, लक्ष्मणावती और विक्रमपुर। पहली राजधानी का रूपान्तर हो कर नदिया और नोदिया रूप हुआ है। यह नवद्वीप अथवा विजयपुर धोयी का निवासस्थान है, जहाँ कवि ने फिर से जन्म प्राप्त करने के लिए इच्छा प्रदर्शित की थी।

धोयी ने तीन सेन राजाओं के वृद्धिगत होते हुए प्रताप को देखा था[5]। उस ने 'पवनदूत' को विजयसेन के राज्यकाल के अन्तिम भाग में रचा। कविताचार्य का सम्मानित पद वह बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के समय से भोग रहा था। उक्त दूतकाव्य कवि ने अपनी उत्तरावस्था में लिखा था। उस अवस्था में चिरकाल शब्द ब्रह्म की उपासना करते हुए कवि शब्दातीत ब्रह्म के चिंतन म प्रवृत्त होते हैं[6]।

---

१ द्वारसमुद्र, चाल आदि देशों के राजाओं के साथवाले कुन्तल के युद्ध में लक्ष्मणसेन ने जो विजय प्राप्त की थी उस से ऐतिहासिक-वर्ग अनभिज्ञ है। इसी प्रकार बख्तियार खिलजी के पहले एक मुसलमान सरदार को लक्ष्मणसेन ने हरा कर उस के सैन्य का संहार किया था, यह घटना भी अब तक उन्हें अज्ञात है; परन्तु प्रसंग न होने से अभी चुप रहना ही उचित है।

२ दे० चिन्ताहरण चक्रवर्ती-संपादित पवनदूत (इंट्रोडक्शन) पृ० २५ २६।

३ दे० पवनदूत ६३।

४ वही ६४।

५ दे० टि० २ (पृ० ६) श्लोक का पहला चरण और उसका उत्तर खण्ड 'शोभिताः शोणिपाणाः'।

६ उसी श्लोक का उत्तरार्ध।

काव्य का आदर्श महाकवि कालिदास का मेघदूत है। धोयी के स्वर्गस्थ हो जाने पर उस के साथी जयदेव को कविराज की पदवी मिल जाती है[१]।

पूर्व कहा गया है कि बल्लालसेन की सभा में पाँच रत्न थे—उमापतिधर, शरण, गोवर्धन, धोयी और जयदेव। इन में से पहले दो कवियों की प्रबन्धात्मक रचना मेरे देखने में अब तक नहीं आई। गोवर्धन 'आर्यासप्तशती' के मुक्तकों से प्रसिद्ध है। शेष उपलब्ध 'गीतगोविन्द' और 'पवनदूत' जयदेव और कविराज धोयी की देन हैं।

कर्ण सोलङ्की

श्रीयुत रामलाल चुनीलाल मोदी, पाटण।

[गुजरात के चालुक्य राजा बड़े प्रतापी थे। उन की राजधानी पाटण थी। उन की राज्यसीमा कभी दक्षिणी सिन्ध तक पहुँचती थी, सम्पूर्ण राजपूताना और पच्छिमी मालवा उन के अधीन होता था। इस वंश का संस्थापक मूलराज था, जिस की छठी पीढ़ी में कर्ण पैदा हुआ। इस का लड़का सिद्धराज जयसिंह बहुत प्रसिद्ध है। अब तक ऐतिहासिकों ने कर्ण की प्रायः उपेक्षा की है।

कर्ण की शक्ति और प्रसिद्धि का पता इसी से लगता है कि सुदूर गोआ (कर्णाटक) के कदम्ब राजा जयकेशी ने अपनी कन्या मीनलदेवी (मयणल्ला) का विवाह कर्ण से किया था। जयकेशी की दूसरी लड़की का विवाह दक्षिण भारत के चक्रवर्ती कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य छठे से हुआ था। विक्रमादित्य की सहायता से कर्ण ने मालवा के राजा भोज के लड़के को हरा कर मार डाला था।

कर्ण को गद्दी पर बैठ कर राज्य के बहुत से आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों का सामना करना पड़ा; अपने बड़े भाई क्षेम-राज के विद्रोह को शान्त करना पड़ा, मालवा से लड़ना पड़ा तथा नाडोल और सिन्ध के आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। उस के राज्य की सीमा नर्मदा तक फैली थी।

कर्ण के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में दो प्रसिद्ध डाकुओं—झालावाड के कोळी सरदार बाबरा (बर्बरक) और आसावल के भील आसा—के त्रास से काठियावाड़ के तीर्थयात्रियों को मुक्त कर के उस रास्ते को निरापद करना था। कोळी सरदार को उस के मौसेरे भाई हरपाल ने वश में किया। इस का पूरा दमन आगे चल कर कर्ण के लड़के सिद्धराज ने किया था। आसावल के आसा भील का दमन कर के इस ने अपने राज्य के अन्तिम दिनों में आसावल को अपनी राजधानी बनाया और उस का नाम बदल कर कर्णावती कर दिया। पर उस के इस कार्य का बड़ा विरोध हुआ। पाटण में प्रजा ने घोर आन्दोलन किया। तब इस के मन्त्री संपत्कर (सातू मन्त्री) ने बालक सिद्धराज को पाटण की गद्दी पर बिठा कर उसे शान्त किया।

प्र० चि० के अनुसार बालक सिद्धराज की अवस्था इस समय तीन वर्ष की थी। पर यह ठीक नहीं। सिद्धराज के समकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्व्याश्रय काव्य में इस अवसर पर कुमार और राजा में लम्बा संवाद हुआ बताया है। अतः कम से कम उस की उमर १० वर्ष रही होगी।

बिल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' में कर्ण का सिन्ध पर आक्रमण करना लिखा है। असल में सिन्ध से इस वंश की लड़ाई चामुंड के समय से ही चल रही थी। कर्ण के पिता भीमदेव ने सिन्ध की सेना को करारी हार दी थी। गुजरात के इन चालुक्यों ने राजपूताने के चौहानों की तरह ही मुसलमानों को दक्खिन बढ़ने से रोके रक्खा।

---

१. गीतगोविन्द १२, २६।

कर्ण को मालवा के भोज के छोटे भाई उदयादित्य और नाडोल के योजक के हाथों हार खानी पड़ी थी। कर्ण की मृत्यु प्र० चि० के अनुसार कर्णावती आने के तुरत बाद ही हो गई थी। नयचन्द्र सूरि के 'हम्मीर काव्य' में चौहान दुस्सल के हाथों इसकी मृत्यु लिखी है सो ठीक नहीं। ह० का० इसके २०० साल बाद की चीज है। द्वया० का० के अनुसार कर्ण अपनी स्वाभाविक मौत मरा। अन्य प्रमाणों से भी यही सिद्ध है। असल में दुस्सल (दुलभराज ?) कर्ण का समकालीन ही नहीं। उस की मृत्यु १०८८ ई० में हो चुकी थी। *कर्ण का समकालीन विग्रहराज है। कर्ण १०९४ में मरा।*

यह वीर महत्त्वाकांक्षी और बड़ा भारी निर्माता था। कितने ही तालाब, मन्दिर आदि इस ने बनवाए थे। कर्णावती में इस ने मेरुतुङ्ग नाम का एक विशाल प्रासाद बनवाया। बाद में इस का लड़का सिद्धराज अपने वास्तुओं के लिए प्रसिद्ध है। उसे अपने पिता से ही यह प्रेरणा मिली। सिद्धराज की सारी समृद्धि का बीज उस के पिता के समय में ही पड़ चुका था।

इस की रानी मीनलदेवी बड़ी विदुषी थी। नूरजहाँ और जहाँगीर की तरह ये दोनों परस्पर बहुत अनुरक्त थे। नूरजहाँ की ही तरह इस ने भी बालक सिद्धराज के बचपन में सारा शासन भार सँभाल रक्खा था। बालक सिद्धराज पर अपनी माता का प्रभाव, जितना शिवाजी पर जीजाबाई का प्रभाव था, उस से भी ज्यादा पड़ा था। यह उस की ही शिक्षा का फल था कि आगे जा कर सिद्धराज इतना प्रसिद्ध हुआ। उसी की प्रेरणा से कर्ण ने काठियावाड़ का मार्ग निरापद करके यात्रियों का कष्ट निवारण किया था। कर्ण अपने आप को त्रैलोक्यमल्ल कहता था। कर्णसुन्दरी' के अनुसार वह भारत का अधिराज तक बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। ये सब बातें सम्भवत इसी मीनलदेवी की प्ररणा का फल थीं। पिता और पुत्र दोनों के उत्कर्ष में इस महारानी का प्रत्यक्ष या परोक्ष हाथ जान पड़ता है। कहते हैं सोमनाथ पर इस की बड़ी भक्ति थी। उस के मार्ग का उद्धार करने की ही इच्छा से इस ने गुजरात के राजा से विवाह करने का सङ्कल्प किया था। सिद्धराज के समय इस ने सोमनाथ *की यात्रा का तीर्थ-कर भी हटवा दिया था। कला की ओर इसकी बड़ी अभिरुचि थी।*]

गुजरातना इतिहासमां कर्ण नामना बे राजाओ थयाछे। एक सिद्धराज जयसिंहनो पिता अने बीजो *गुजरातनो छेल्लो स्वतन्त्र हिंदु राजा। पहेलो सोलङ्की तरीके अने बीजो वाघेला तरीके ओळखाय छे। कर्ण वाघेलो*

प्रारम्भ

लोकोमां जेटलो जाणीतो छे, तेटलो कर्ण सोलङ्की जाणीतो नथी, कारण के इतिहासकारोए तेना विशे बहु थोडुज लख्युं छे। तेणे अमदावाद पासेना असावलना आशा भीलने हरावी त्यां कर्णावती नगरी वसावी हती एटलाज बाब तेना सम्बन्धी इतिहासमां नोंधाइ छे। परन्तु *तेनां समयनां इतिहासनां साधनोनो जो श्रमपूर्वक अभ्यास करवामां आवे तो जणाय छे के ते प्रतापी राजा हतो।*

समय

प्रबन्धचिंतामणि अने विचारश्रेणि ए बने ग्रन्थोमां मेरुतुङ्गे कर्णनो राज्यकाल सं० ११२० थी सं० ११५० सुधी आपेलो छे। आना विरुद्ध कोइ उत्कीर्ण लेखनुं प्रमाण मळ्युं नथी। तेथी ए समय स्वीकारवामां बांधो नथी।

आंतरविग्रह

कर्णना पिता भीमदेव हतो अने तेनी मातानुं नाम उदयमती हतुं। कर्ण जे वखते गादीए बेठो ते वखते एनो राज्यनी स्थिति डामाडोळ हती। आन्तर् कलह अने बहिर् विग्रह बने तेने माटे तैयार हता। भीमदेवने क्षेमराज नामनो कर्णथी मोटो उमरनो पुत्र हतो। तेने काइ कारणथी भीमदेवे गादी माटे नालायक ठराव्यो हतो[1]। तेणे बळवो कर्यो हशे, परन्तु कर्णनो मामा मदनपाळ जे बहु शूरवीर पुरुष हतो, तेणे ए बळवा समाव्यो हशे। छेवट क्षेमराजना पुत्र देवप्रसादे पाटणथी आठ गाउ उपरनुं सिद्धपुर पासेनुं दधिस्थली (हालनुं देथली) लेइने संतोष मान्यो हतो।

---

1 क्षेमराजनी माता बकुलादेवी एक गणिका हती एम प्र० चि० मां लख्युं छे परन्तु ए वात मानवा जेवी नथी। एम होय तो तेना वंशज कुमारपाळ पाछळथी गादी उपर आवीशक नहि। अने बीजा क्षत्रियो तेना कुटुम्ब साथे लग्न व्यवहार राखत नहि। कुमारपाळनी बहेन सांभर(अजमेर)ना चौहाण राजा अर्णोराजने परणावी हती। वाळ मूलराजनी माता नायिकादेवी महोबाना चन्देल राजा परमर्दिनी पुत्री हती।

वहारना विग्रहोमां प्रथम विग्रह मालवा साथे हतो। आ विग्रह चामुण्डथी आरम्भी सारङ्गदेव वाघेला सुधी चाल्यो हतो। कर्णना पिता भीमदेव तथा चेदि देशना कलचुरि कर्णे भोजनी धारानगरीने घेरो घाल्यो हतो। ए घेरो चालु हतो तेवामां भोजनुं मरण थयु। एथी ए नगरी पडी अने कर्णे तेना उपर पोतानो अधिकार कर्यो। भीमे चित्तोड अने गुजरातने लगतो मालवानो मुलक लीधो हशे। त्यार पछी भोजना पुत्र जयसिंहे दक्षिणना चौलुक्यवंशी राजा सोमेश्वरनी सहायताथी कर्णने मारी नांखी पोतानु राज्य पाछुं मेळव्युं हतु एम विक्रमाङ्कदेवचरितना बे श्लोको उपर थी जणाय छे—

मालव-विग्रह

स मालवेन्दुं शरणं प्रविष्टमकण्टकं स्थापयति स्म राज्ये ॥ १, १०२ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वी भुजंगस्य निरर्गलेन।

संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः ॥ ३, ६७ ॥

आ वखते भीमदेव सिन्धना राजा हम्मुक (हमीर सुमरो) साथे विग्रहमां रोकायो हतो, तेथी तेनाथी मालवा तरफ ध्यान आपी शकायुं नहि होय। परन्तु कर्णे पोताना राज्यनो आर्तविग्रह समाव्या पछी पोताना साढु कर्णाटकना राजा विक्रमादित्य(छट्ठो)नी सहायताथी मालवा उपर चढाइ करी अने जयसिंहने हरावीने मारी नांख्यो हतो, कारण के मालवाना राजा नरवर्मानी नागपुरनी प्रशस्तिमा लख्युं छे के भोजना मरण पछी राज्यमां जे प्रलय थयो तेमा राज्यनो स्वामी डूबी गयो अने कर्ण तथा कर्णाटकना राजाओना हाथमां गएली धरतीनो वराह भगवाननी माफक उदयादित्ये उद्धार कर्यो[1]। कर्णे धारानगरीने घेरो घाल्यो हतो अने तेमा राजाना पुरोहिते तेने मूठ मारी हती ए वात सुरथोत्सवना एक श्लोक उपर जणाय छे[2], सुकृत-संकीर्तनमां पण कर्णना संबंधमां लख्युं छे के कर्ण माळवाना राजाने जीतीने नीलकंठ महादेवनुं बाण लाव्यो हतो[3]।

जयसिंह पछी तेनो काको उदयादित्य गादीए आव्यो। तेणे कर्णने हरावीने गुजरातना राज्यमा मेळवेलो माळवानो मुलक पाछो लीधो हतो। पृथ्वीराजविजय काव्यमा लख्युं छे के शाकम्भरीना चोहाण राजा विग्रहराज त्रीजाए आपेला सारंग नामना घोडा उपर बेसीने उदयादित्ये गुजरातना कर्णने हराव्यो हतो[4]। आ युद्ध आबु पासे थयुं हशे अने माळवाना सैन्यमा उदयादित्यनो पुत्र जगदेव (परमार) पण सामेल हशे, कारण के जगदेवना एक सरदारना दक्षिण हैदराबाद राज्यमां आवेला जुन्नैदमांथी मळी आवेला शिलालेखमां जणाव्युं

---

१. तस्मिन्वासवबन्धुतामुपगते राज्ये च कुल्याकुले
मग्नस्वामिनि तस्य बन्धुरुदयादित्योऽभवद्भूपतिः।
येनोद्धृत्य महार्णवोपममिलत्कर्णाटकर्णप्रभु-
मुर्वीपालकदर्थितां भुवमिमां श्रीमद्वराहायितम् ॥

२. धाराधीशपुरोधसा निजनृपक्षोणीं विलोक्याखिलां
चौलुक्याकुलितां तदत्ययकृते कृत्या किलोत्पादिता ॥ १५, २० ॥

३. जित्वा बलैर्मालवभूमिपालमानीतवान्यः किल नीलकण्ठम् ॥ २, २३ ॥

४. मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नतिः।
सारंगाख्य तुरंगं स ददौ तस्मै मनोजवम्।
जिगाय गुर्जरं कर्णं तमेष चं प्राप्य मालवम् ॥ ४, ७६-७८ ।

छे के गुजरातना वीरपुरुषोनी स्त्रीओ अद्यापि पर्यन्त आबु पर्वतनी गुफाओना द्वारमां रात्रो दिवस चोधार आंसुए रुएछे[1] ।

कर्णने मारवाडमां आवेला नड्डूलना चौहाणो साथे पण युद्ध थयु हतु। एनो उल्लेख सुधा पहाडीना शिलालेखमां छे। आ विग्रह भीमदेवना वखतमां शरु थएलो हशे एम जणाय छे। त्यांना

नाडोलना चौहाणो साथे युद्ध

राजा अणहिल्ले अने तेना भाइ अहिले भीमदेवने युद्धमां हराव्यो हतो अने अणहिल्लना पुत्र बालप्रसादे आबुना परमार राजा कृष्णदेवने भीमना केदखानामांथी छोडाव्यो हतो। ए बालप्रसादना भत्रीजा पृथ्वीपाले गुजरातना राजा कर्णना सैन्यनो नाश कर्यो हतो[2] ।

सिन्धना मुसलमान हाकेम साथे पण युद्धनो प्रसङ्ग कर्णने आव्यो हतो। आ युद्धनी हकीकत बिल्हणनी कर्ण सुन्दरी नाटिकामां आपेली छे। आ युद्धमां कर्ण जाते गयो न हतो, परन्तु पोताना सेनापतिने मोकल्या हतो।

सिन्धना हाकम साथे युद्ध

एणे सिन्धना हाकेमने सिन्धु नदीना तट उपर सख्त शिकस्त आपी हती[3] । कर्णना पिता भीमदेवे पण हम्मुकने सिन्धु नदी उपर सेतु बांधीने हराव्यो हतो। आ विग्रह पण चामुण्डना वखतमां शरु थयो हतो, वडनगरना दरवाजानी प्रशस्तिमां चामुण्डे सिन्धुराजने मार्यानो उल्लेख छे[4] । सिन्धना हाकेमनो छेवटनो पराभव सिद्धराजे कर्यो हतो। सिन्धना मुसलमानोने आगळ वधता प्रथम कनोजना प्रतिहारोए अने दक्षिणना राष्ट्रकूटोए अटकाव्या हता। अने पाछळथी तेमनु पूर गुजरातना सोलङ्कीओ अने राजस्थानना चोहाणोए खाळ्यु हतु।

सिद्धराजना इतिहास उपरथी जणाय छे के तेना राज्यनी हद नर्मदा सुधी पहोंची हती परन्तु ए विस्तार कर्णना समयमां थयो हशे एम लागे छे। कारण के सोमनाथना यात्राळु पासे जे कर लेवामां आवतो ते स्थळ—

राज्यनी दक्षिण सीमा

भालोद शुक्लतीर्थना पास हतु। केटलाक आ स्थळने धोळका पास आवेलु भालोद समजे छे, परन्तु ए कर दक्षिणना यात्राळु पासेथी लेवातो अने तेथी ते राज्यना मध्यमां नहि पण सरहद उपरज लेवाय ए स्पष्ट छे।

---

१ यत्राप्यर्बुदपर्वतादरदरिद्वारेषु रात्रिन्दिवम् ।
क्रन्दद्गुर्जरवीरवर्गवनिताबाष्पाम्बुपूरोमयः ॥

अ० रि० ई० १९२७–२८ ।

२ पृथ्वीपाल इति प्रभुः क्षितिपतिस्तस्याग्रजन्माभवत् ।
प्रायश्चोदनिधि स गुर्जरपते कर्णस्यसैन्यापहः ॥ २२ ॥

पूरणचन्द्र नाहर—जैन लेखसङ्ग्रह (१) पृ० २२२ ।

३ कर्णसुन्दरी नाटिका अंक ४ ।

४ सूनुस्तस्य बभूव भूपतिलक चामुण्डराजाह्वयो ।
यद्गन्धद्विपदानगन्धपवना(पवन)घ्राणेन दूरादपि ।
विध्वस्तमदगन्धभग्नकरिभि श्रीसिन्धुराजस्तथा ॥ ६ ॥

महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर ओझा आ सिन्धुराज ते भोजनो पिता सिन्धुल हतो एम माने छे, परन्तु मने ए बराबर जणातु नथी।

सिद्धराजे जुनागढ़ना खेंगारने हरावी काठीआवाड ताबे कर्यो हतो, परन्तु तेनो केटलोक भाग तो कर्णना वखतमां अणहिल्लवाडना राजाना अधिकार नीचे आवी गयो हतो। काठीआवाडनो झालावाड प्रांत बाबरा (वर्वरक) पासेथी कर्णना मशीआई भाइ हरपाले जीती लीधो हतो। ते झाला रजपुत हतो तेथी ते प्रान्तनुं नाम झालावाड पड्युं। आ बाबरानो पाछळथी सिद्धराजे सम्पूर्ण पराभव कर्यो हतो। हरपाल मूळ कच्छनो राजकुँवर हतो। तेना बाप केसर मकवाणाने सिन्धना हमीर सुमराए हरावीने मार्यो हतो, तेथी ते कर्णना आश्रये आवीने रह्यो हतो[१]।

झालावाडनी प्राप्ति

सोमनाथना यात्रालुओने जङ्गली जातिना बे सरदारोनो त्रास हतो। एक बाबरानो अने बीजो आशानो। बाबरो कोळी जातनो हतो अने आशो भील हतो। बाबरानो त्रास झालावाडमां हतो अने आशानो नळकांठामां। बाबरानो त्रास हरपालनी सहायथी दूर कर्यो अने आशाने पोते जाते हराव्यो। आशानुं गाम अमदावाद पासे असावल हतुं। ए स्थळ तेना राज्यना मध्यभागमां आवेलुं होवाथी तेने कर्णावती नाम आपी पोतानी राजधानी बनावी[२]। परन्तु कर्णावतीने राजधानी बनाव्या पछी थोडा मासमां तेनुं मरण थयुं। सिद्धराजे तो पाटणनेज राजधानी बनावी हती। छेवटे कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने राजधानी फरी बनावी होय तेम लागेछे। तेना वखतमां पण कर्णावती झाझो वखत ए पद भोगवी शकी नहि, केम के अलाउद्दीन खीलजीना हुमलाथी तेने दक्षिणमां नासी जवु पड्युं[३]।

आशा भीलनो पराजय

प्र० चि० मां लख्युं छे के सिद्धराज त्रण वर्षनी उमरनो थयो ते वखते रमतो रमतो राजसिंहासन उपर चढी बेठो। ए जोइने कर्णे अणहिल्लवाडमां तेनो राज्याभिषेक कर्यो अने पोते कर्णावतीने राजधानी बनावी त्यां राज्य करवा लाग्यो। परन्तु मात्र रमतमां सिंहासन उपर चढी जाय एटलाज कारणथी त्रण वर्षना बालकनो राज्याभिषेक करवामां आवे ए वात मानी शकाय एवी न थी। खरुं कारण तो ए छे के कर्णावतीने राजधानी करवाथी अणहिल्लवाडनी प्रजाए विरोध कर्यो हशे। ए विरोध शमावा बालक सिद्धराजनो त्यां राज्याभिषेक कर्यो हशे। आ अनुमानने बिल्हणनी कर्णसुन्दरी नाटिकाथी टेको मळेछे। एमां जणावेली हकीकत रूपक छे। कर्णसुन्दरी एटले कर्णावती नगरी[४]। कर्णनी राणी ते पाटणनी प्रजा, कर्णने कर्णसुंदरी साथे परणवु हतुं। पण तेनी राणी तेम करवा देती न होती, परन्तु सम्पत्कर अमात्य (सान्तू मन्त्री)नी युक्तिथी राजा कर्णसुन्दरीने परणेछे अने तेनी राणी पण छेवटे अनुमति आपेछे। एनो अर्थ ए के कर्णावती ने राजधानी बनाववामां पाटणनी प्रजाए प्रथम विरोध कर्यो हतो, परन्तु सान्तू मन्त्रीए सिद्धराजने गादीए बेसाडी ए विरोध समाव्यो हतो।

कर्णावती राजधानी

सोमनाथना यात्रालुओनो त्रास दूर करवामां प्रेरणा आपनार कर्णनी राणी मयणल्ला (मीनळदेवी) हती। कर्णनी साथे लग्न करवामां तेनो मुख्य हेतु सोमनाथना यात्रालुओना दुःखनुं निवारण करवु ते

---

१. जुओ रासमाला (गुजराती भाषान्तर) बीजी आवृत्ति, पृ० १२३।

२. जुओ प्रबन्ध-चिन्तामणि—सिद्धराजप्रबन्ध।

३. तीर्थकल्पमां लख्युं छे के मुसलमानी लश्करे असावल उपर प्रथम हुमलो कर्यो हतो अने कर्ण त्यांथी नाठो हतो। आथी जणाय छे के कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने फरी थी राजधानी बनावी हशे। (तओ हम्मीर जुवराओ वग्गडदेसे सुहडासयाइं नयराणि भंजिअ आसा वल्लीए पत्तो। कण्णदेव राओ अ नट्ठो।)

४ कर्णसुन्दरीने एक स्थळे कामदेवनी राजधानी कही छे। मूर्ति र्लोकत्रयविजयिनी राजधानी स्मरस्य। १, ४२।

हतो। प्र० चि० मां तेना पूर्व जन्मनी कथा आपवामां आवी छे एनो अर्थ एज थाय छे। ते दक्षिणमां आवेला चन्द्रपुरना कदम्बवंशी राजा जयकेशीनी पुत्री हती एवो द्व्याश्रय काव्यमां उल्लेख छे[1]। कर्णना समयमां कदम्बवंशी राजा जयकेशीनुं राज्य गोवामां हतुं एम अत्यारसुधीमां इतिहासमां जणायुं हतुं, पण हेमचंद्राचार्ये जणावेलुं नाम सत्य हशे के केम ते सबधी शंका हती, केमके चंद्रपुरनो पत्तो लागतो न होतो। डॉ० फ्लीटे तेने बेलगाँव परगणामां आवेलुं चन्दगढ धार्यु हतुं[2], परन्तु त्यां ते समये कदम्बवंशनुं राज्य हतुं नहि, हालमां तेनो पत्तो लाग्यो छे। ए चन्द्रपुर ते गोवानी पासे आवेला सालसेट परगणानुं चन्दोर गाम छे[3]। जयकेशीना पूर्वजोनुं राज्य चन्द्रपुरमां हतुं, परन्तु गोवाने जीती लेइ जयकेशीए तेने पोतानी राजधानीनुं शहेर बनाव्युं हतुं। एना पिताना एक ताम्रपत्रमां चन्द्रपुरनो उल्लेख छे[4]।

मीनळ साथे लग्न

मीनळदेवीनो पिता जयकेशी स० १०३६ मां मरण पाम्यो हतो[5]। तेनुं लग्न तेना पितानी हयातीमां थयुं हतुं एम प्र० चि० अने द्व्या० का० उपरथी जणाय छे। आथी एनुं लग्न स० १०३० मां थयुं हशे। सोमनाथना यात्राळुओनां दुःख सांभळीने तेणे गुजरातना राजाने वरवानो स्वयं निर्णय कर्यो हतो, तेथी लग्न वखते तेनी उमर मोटी होवी जोइए। ते पन्दर वर्षनी धारीए तो तेनो जन्म स० ११२५ मां अटकळी शकीए।

प्र० चि० मां लख्युं छे के कर्णना मृत्युसमये सिद्धराजनी उमर त्रण वर्षनी हती, तेथी तेनो जन्म स० ११४७ मां ठरे। दि० ब० केशवलाल ध्रुव सिद्धराजना जन्मनुं वर्ष स० ११४५ माने छे, ते एवा कारणथी के सिंहासन उपर चढनार बालक पाँच वर्षथी ओछी उमरनो होवो जोइए नहि[6]।

सिद्धराजनो जन्म

परन्तु सिंहासन उपर चढी बेसवाना कारणथी जे बालकनो राज्याभिषेक थाय ए वात मानवा जेवी न थी। द्व्याश्रयमां एम हकीकत छे के पोतानुं शेष आयुष्य हरिस्मरणमां गाळवाना आशयथी कर्ण सिद्धराजने राज्याधिकार धारण करवा कहे छे, पण ते प्रथम ना पाडे छे, परन्तु पिताना अत्यंत आग्रहथी स्वीकारे छे[7]। हवे, पितानी साथे आ प्रमाणे वकभक करनार बालक कइक समजणो तो होवो जोइए। तेथी

१ अथास्त्यां स्परिकाध्यास्त नाम्ना च न्द्रपुरं पुरं।
× × × ×
राजेह जयकेशी य स्तुतो विस्तश्च रोदसी॥
× × × ×
कन्या जयति तस्यैषा मयणल्लति नामतः।
× × × ×
अनया द्योतयामाहे कदम्बकुलमुज्वलम्॥
९–३३, १००, १२३।

२ बॅ० गॅ०, जि० १, भा० १, पृ० ५६८।

३ ग्रेच० एम० मोरेस—कदम्बकुल, पृ० १६१।

४ वही, पृ० १७१।
य प्राप्य चन्द्रपुरमिन्द्रपुरातिरेक श्रीधारक विजनिवासमलंचकार।
पृ० ३१०।

५ वही पृ० १६६।

६ बुद्धिप्रकाश, नवेंबर १९२७।

७ सर्ग १२, श्लो० ६५—१०३।

तेनी उमर दश वर्ष करतां न्हानी न होवी जोइए। ए हिसावे सिद्धराजनो जन्म सं० ११४० मां होवानो वधारे सम्भव छे। आथी ते वखते मीनळदेवीनुं वय २५ वर्षनुं होवुं जोइए। द्व्या० का० मां लख्युं छे के कर्णे श्री महालक्ष्मी देवीनी उपासना करी तेथी पुत्रनो जन्म थयो हतो। एथी पण जणाय छे के मीनळदेवीनी उमर पुत्रजन्म समये मोटी होवी जोइए।

सिद्धराजनो जन्म पालणपुरमां थयो हतो, एम प्रथम फॉर्बस साहेबे रासमाळामां लख्युं हतुं। त्यार पछीना वार्ता अने इतिहास लेखकोए ए वात स्वीकारी छे[1], परन्तु कोइ प्राचीन ग्रन्थमां एनो उल्लेख नथी। परन्तु ए वात खोटी छे, कारण के पालणपुर सिद्धराजना जन्म पछी लगभग सो वर्षे आवुना परमार राजा धारावर्षना न्हाना भाइ प्रह्लादनदेवे वसाव्युं हतुं अने तेना नाम उपरथी ए नगरनुं नाम (प्रह्लादनपुर) पड्युं हतुं[2]। द्व्याश्रय उपरथी जणाय छे के तेनो जन्म पाटणमाज थयो हतो।

कर्णनुं मृत्यु केवी रीते थयुं हतुं ते सम्बन्धी बे मत छे। गुजरातना प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो तेनुं मृत्यु कुदरती रीते थयुं हतुं एम कहे छे, ज्यारे हम्मीर काव्य जणावे छे के कर्णने शाकम्भरी (अजमेर)ना चौहाण राजा दु:शले युद्धमां मार्यो हतो[3]। आ वात केटलाक विद्वानो खरी मानता होय तेम जणाय छे। परन्तु हम्मीर काव्यनी वात मने निर्मूल जणाय छे। एनां कारणो नीचे प्रमाणे छे—

कर्णनुं मृत्यु

(१) हम्मीर काव्य सं० १४६० मां एटले मूळ वनाव पछी त्रण सो वर्ष केडे रचायुं हतुं[4]। प्र० चि० तेना पहेला सो वर्ष उपर (स० १३६१) रचायो हतो अने द्व्याश्रय काव्य तो मूळ वनाव पछी मात्र पोणो सो वर्ष वादज लखायुं हतुं। आ वे ग्रंथो ह० का० करतां प्राचीन होवाथी तेमनी हकीकत तेना करतां वधारे विश्वसनीय गणावी जोइए। आ वे ग्रन्थोमां कर्णनुं मृत्यु कुदरती रीते थयुं हतुं एम स्पष्ट उल्लेख छे।

(२) एम कहेवामां आवे के प्र० चि० अने द्व्या० का० ए ग्रन्थो गुजरातमां रचाया होवाथी तेना कर्ताओए पोताना देशना राजाओने हीणपत लागे तेवी वातो छूपावी हशे। तेना उत्तरमां कहेवानुं के ए वात खरी होय तो चौहाण राजाओना कोइ पण शिलालेखमां तेनो उल्लेख केम नथी। वळी दु:शलना ज वंशना छेल्ला पृथ्वीराजना राजकवि काश्मीरना पंडित जयानके रचेला पृथ्वीराजविजय काव्यमां पण एनो सहेज इसारो सरखोए नथी। ए काव्य चौहाण राजाओनी प्रशंसा करवाना हेतुथी लखायुं हतुं अने ते समयना गुजरातना राजा भीमदेव (बीजो) अने पृथ्वीराजने दुश्मनावट हती, तो ए वात छुपाववाने पृ० वि० का० ना कर्ताने कशुंज कारण न होतुं। ए काव्यमां कर्णनो उल्लेख पण एक जगाए थयो छे[5]। छतां तेनुं मृत्यु चौहाण राजाना हाथे थयानुं लख्युं नथी। तेमां लख्युं छे के मेवाडना राजा

१. रासमाला (गु० भा० बीजी आवृत्ति), पृ० १९३; बं० गै०, जि० १, भा० १, पृ० १७१; गुजरातनो प्राचीन इतिहास (गो० हा० देसाइ), पृ० २६६; महाराणी मयणल्ला (ना० वि० ठक्कुर)।

२. पार्थपराक्रम-व्यायोग-उपोद्‌घात (गायकवाड ओरिएंटल सीरीज)।

३. नाकेशनारीजनगीयमानगीतामृतास्वादवितीर्णकर्णम्।
श्रीकर्णदेवं समरे विधाय तद्राज्यलक्ष्मीं परिणीतवान् य ॥
२, ३१ ॥

४. पं० गौरीशङ्कर ओझा—ना० प्र०, सप्टेम्बर, १९३०।

५. स० ५, श्लो० ७८।

अम्बिकाप्रसादने वाक्पतिराजे कटारथी मार्यो हतो[1], कर्णने मार्यानी वात खरी होत तो ए वात पण ए काव्यमां नोंधाया विना रहेत नहि।

(३) हम्मीरकाव्यना लेखके घणी उटांग वातो लखी छे। चौहाणोना हाथे घणा मुसलमान राजाओ मरायानी वातो तेमां छे, परन्तु एमांनी घणी साबीत थइ शकती नथी। तेमां गुजरातना राजा मूलराजने विग्रहराजे मार्यो हतो एम पण लख्युं छे[2]। आ वात स्पष्ट रीते असत्य छे, केमके विग्रहराज अने मूलराजने युद्ध मूलराजना राज्यना आरम्भकाळमां थयुं हतुं। मूलराजने मार्या सम्बन्धी वात पण चौहाणोना शिलालेखोमां के पृ० वि० का० मां जणावेली नथी। ए काव्यमां तो एटलुंज लख्युं छे के विग्रहराजना हुमलाथी मूलराज कंथा दुर्गमां भराइ बेठो हतो[3]। आटली वात तो खरी छे, केमके प्र० चि० मां पण लख्युं छे के विग्रहराज अने बारपना सामटा हल्लाथी मूलराजने कच्छना कंथकोटना किल्लामां नासी जवुं पड्युं हतुं। ह० का० नी अन्य वातो आ प्रमाणे निर्मूल होय तो, कर्णना मृत्युनी वात पण असत्य होय एमां कइ आश्चर्य नथी।

(४) दुःशलनुं नाम शिलालेखो के पृ० वि० का० मां नथी। ह० का० ना कर्ताए दुर्लभराजने ए नाम आप्युं होय एम जणायछे। कर्ण अने दुर्लभराज समकालीन हता पण नहि, कारण के दुर्लभराजना उत्तराधिकारी विग्रहराज त्रीजानो समय एक प्रमाण थी सं० ११३६ ठरे छे[4]। आथी दुर्लभराज के दुःशलनुं मृत्यु सं० ११३६ पहेलां थयुं हशे ए नक्की छे, हवे जो दुःशल ए वर्ष पछी हयात न होय तो ते सं० ११५० मां कर्णने केवी रीते मारी शके ? पृ० वि० का० उपरथी पण जणाय छे के दुर्लभराज अने कर्ण नहि, पण विग्रहराज अने कर्ण समकालीन हता, केमके उदयादित्यने कर्णना विरुद्ध विग्रहराजे सहाय आपी हती एम तेमां जणाव्युं छे[5]। आ बधां प्रमाणोनो विचार करतां जणाय छे के कर्णना मृत्यु सम्बन्धी ह० का० नी वात असत्य अने निर्मूल छे, प्र० चि० उपरथी जणाय छे के तेनुं मृत्यु कर्णावतीमां थयुं हतुं, अमदावादमां सारङ्गपुर दरवाजा बहार रणमुक्तेश्वर महादेवनुं देवालय छे। एनुं मूल नाम कर्णमुक्तेश्वर हशे अने कर्णने ज्यां अग्निदाह देवामां आव्यो हतो ए जगाए बन्धाव्युं हशे ए दि० ब० केशवलाल ध्रुवनुं धारवुं छे[6]।

---

१ तस्माद्वाक्पतिराजेन सम्भूतमवनीभुजा ।
× × × ×
भिन्नमम्बाप्रसादस्य येनच्छुरिकया मुखम् ॥
५, ५८—६० ।

२ अप्युग्रवीरव्रतवीरवीरसंसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मम् ।
श्रीमूलराज समरे विहत्य यो गुर्जर जर्जरतामनैषीत् ॥
२, ६ ।

३ त्यक्त तपस्विना (स्वच्छं) यशांशुकमितीव यः ।
गुर्जर मूलराजाख्य कंथादुर्गमवीविशत् ॥
५, ५१ ।

४ ना० प्र० पत्रिका भा० १२, अं० ३ पृ० २६२ ।

५ जुओ टिप्पण ४ (पृ० १६) ।

६ गु० प्र० नवेंबर, १९२० ।

सिद्धराजे घणां लोकोपयोगी बांधकाम कराव्यां हता, परन्तु ए काममां प्रेरणा तेने कर्णनां बांधकामोमांथी मळी हती। तेनी माताना नामथी पाटणमां एक भव्य अने विशाल वाव बंधावी हती अने पोताना नामथी एक बहु ऊँचो महेल 'कर्ण-मेरु-प्रासाद' बंधाव्यो हतो। मोढेरा पासे कर्णसागर नामनुं तळाव बंधाव्युं हतुं अने त्यां कर्णेश्वर महादेवनुं मन्दिर कराव्युं हतुं। ए तळावमां रूपेण नदीने वाळीने पाणी लाववामां आव्युं हतुं, परन्तु सं० १८७०नी अतिवृष्टिमां ए नदीमां पुर आववाथी ए तळाव तूटी गयुं हतुं[१]। हालमां ए जगाए कर्णसागर नामनुं गामडुं वसेलुं छे। असावलना विजयना स्मारकमां तेणे अमदावादना कोचरब गाम पासे जयवती मातानुं मन्दिर बंधाव्युं हतुं। अमदावादनुं कांकरीउं तळाव पण तेनुं बंधावेलु हशे एम धारवामां आवे छे।

कर्णनां बांधकाम

कर्णना मृत्यु पछी तुरत मीनळदेवी बालक सिद्धराजने लेइने भरुच पासे शुक्लतीर्थमां गइ हती[२]। कर्णनी उत्तरक्रिया कदाच त्यां करी हशे। त्यां जवामां तेनो आशय सोमनाथना यात्राळुओनो कर काढी नांखवानो हशे। त्यां आ वेला बाहुलोड (भालोद) गाम आगळ ए कर लेवातो हतो। सोमनाथना यात्राळुओने आशो भिल्ल अने बाबरा कोळी ए बे लुंटाराना त्रासमांथी कर्णपासे मुक्ति अपावी हती, पण यात्राळुओना करनी वार्षिक उपज बोतेर लाख रुपीआ जेटली मोटी होवाथी कर्ण ए कर काढी शक्यो न होतो, ते मीनळदेवीए सिद्धराजपासे काढी नंखाव्यो त्यांथी ते सोमनाथनी यात्राए गइ हती।

सोमनाथनी यात्रा

मीनळदेवी सोमनाथनी यात्राए गइ हती ते वखते मारवाडमां आवेला नड्डूलना चौहाण राजा योजके पाटण उपर हुमलो कर्यो हतो अने थोडो समय राजगादी उपर बेठो हतो[३]। आ वखते पाटणनो कारभार सांतू मंत्री ने सोंपेलो हतो। तेणे पैसा आपीने योजकने पाछो काढ्यो हतो। नड्डूलना चौहाणोने गुजरातना राजाओ साथे भीमदेवना समयथी विग्रह चालतो हतो। आ हुमलो करनार मालवानो यशोवर्मा हतो एम प्र० चि० मां लख्युं छे, परन्तु ए वात बरोबर जणाती नथी, कारण (१) यशोवर्मा ते समये मालवानो राजा न हतो परन्तु उदयादित्य के तेनो पुत्र लक्ष्मवर्मा हतो, (२) नरवर्माना सं० ११६२ ना नागपुरना शिलालेखमां के सं० ११६४ना उदयपुरना (मालवानुं) शिलालेखमां आ चढाइनो उल्लेख नथी। जो आ चढाइ मालवाना राजाए करी होत तो पोतानां पूर्वजोनां पराक्रमोना वर्णनमां ए वात नरवर्मा जणाव्या विना रहते नहि, अने (३) जो आ चढाइ थइ होत तो सिद्धराज तेनुं वेर लेवा मालवा उपर तुरत चढ़ाइ कर्या विना रहते नहि। ते तो मालवा उपर घणा लांबा काळे सं० ११८० पछी चढाइ करे छे। सिद्धराजे सोरठ उपर सं० ११७० मां चढाइ करी हती ते वखते मालवाना

योजकनी चढाइ

---

१. रासमाला, पृ० १४७-१४८।

२. श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रार्थना प्रसङ्गमां प्र० चि० मां लख्युं छे के मीनळदेवीनो पिता दिगम्बर जैन धर्मानुयायी हतो अने मीनळदेवी ए धर्मनी पक्षपातिनी हती। आ वात खरी जणाय छे, कारण मीनळदेवीनी सोमनाथ प्रत्ये असाधारण भक्ति हती। तेनो पितामह षष्ठदेव बीजो अने प्रपितामह गुहल्लदेव बीजो सोमनाथनी यात्राए गया हता। एम ए कदम्बकुलनो इतिहास जोतां जणाय छे। जुओ कदम्बकुल, पृ० १७१, ७६।

३. जुओ सुंधा पहाडीनो शिलालेख—

श्रीयोजको भूपतिर्यस्य बन्धुर्विवेकसौधप्रबलप्रताप।
श्वेतातपत्रेण विराजमानः शक्तयाणहिल्लाख्यपुरेपि रेमे ॥ २४ ॥

नरवर्माए के तेना यशोवर्माए पाटण उपर चढाइ करी हशे। प्र० चि० ना कर्ताए स० ११७०नी चढाइ स० ११५०मां थएली गणी छे। आ प्रमाणे स० ११५० मां मालवाना राजाए नहि पण नड्डूलना चाहाण राजाए पाटण उपर चढाइ करयानु ठरे छे। सिद्धराजे सोमनाथथी आव्या पछी तुरत नड्डूल उपर चढाइ करीने योजकने नमाव्यो हशे, केमके योजकनो भाइ आशराज सिद्धराजनो मांडलिक बन्यो हतो एम एज सुधा पहाडोना शिलालेख उपरथी जणाय छे[1]।

आ योजकना हुमलाथी मीनळदेवीने एम लाग्यु हशे के राजधानीना अने बालराजाना रक्षणमाटे नगररक्षक तरीके शूरवीर क्षत्रियनी जरुर छे। तेथी मालवाना उदयादित्यना पुत्र जगदेवने नगररक्षक नीम्यो हतो। जगदेवने अत्यारसुधी ऐतिहासिक व्यक्ति मानवामां आवतो न होतो, परन्तु जुनेदना शिलालेखथी हवे सिद्ध थयु छे के ते मालवाना परमार राजा उदयादित्यनो पुत्र हतो। ते गुजरातमां सिद्धराजना राज्यना छेवटना भागमां आव्यो हतो। एम अटकळ करवामां आवे छे, परन्तु कार्तिकौमुदीना बे श्लोकोमां एम लख्यु छे के सिद्धराजना समयमां ज्यारे जगदेव नगररक्षक हतो अने बाल मूलराजना समयमां प्रतापसिंह राठोड नगररक्षक हतो त्यारे राजधानीमां पेसवानी शत्रुओनी हिम्मत चालती न होती। तेवो कोइ क्षत्रिय बाल भीमदेवना (बीजो) समयमां नहि होवाथी आरम्भमां तेना राज्यमां अन्धाधुन्धी प्रवर्ती हती[2]। आ उपरथी जणाय छे के जगदेव परमार सिद्धराजना राज्यना आरम्भमां गुजरातमां रह्यो हशे[3]। त्यांथी ते दक्षिणमां गयो हशे एम दक्षिणना शिलालेख उपरथी जणाय छे।

जगदेव परमार

आज समयमां काश्मीरी पंडित बिल्हण पाटणमां आव्यो हतो। तेणे कर्णने नायक कल्पीने कर्णसुन्दरी नाटिका लखी छे। तेमां कर्णनी पट्टराणीना विरोध छतां सम्पत्कर महामात्यनी युक्तिथी कर्णनु लग्न गांधर्व कन्या साथे कराव्यु छे। आ उपरथी नटी नमुल्लला उपर प्रेम हतो, मीनळदेवी तरफ प्रथम अभाव हतो, वगेरे कथाओ प्रचलित थइ छे। परन्तु ए बधा खोटी छे। ए नाटिकानो हकीकत कर्णावतीने राजधानी करवा सम्बन्धी रुपक छे। एम आगळ जणाव्यु छे। कर्णसुन्दरी

बिल्हणनुं आगमन

१ आ आशराजनाम्ना समजनि वसुधानायकस्तस्य बन्धु
साहाय्य मालवानां भुवि यदसिकृत वीक्ष्य सिद्धाधिराज ।
तुष्टो धत्ते स्म कुम्भं कनकमयमहो यस्य गुप्यद्गुरुस्थ
त हर्तुं नैव शक्त कलुषितहृदय शेष भूपालयामिभ ॥ २६ ॥

२ सम्निमिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः ।
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्य व्यभज्यत ॥ ६१ ॥
न राष्ट्रकूटा यत्कटमारिः प्रतापमल्लोऽस्ति गृधेकमल्लः ।
गन्धोऽपि मत्तारि मतङ्गजानां गन्धद्विपाच न पत्र सद ॥ ६८ ॥
विना जगद्देवमिमामपरां नीता निरीश्व परांयाद्दम् ।
यत्र स्थिते वप्रिष्वि शक्तिर्न द्विष्ट प्रविष्ट पुरि गुर्जराणाम् ॥ ६९ ॥ स २ ।

३ भाटोनी वातोमां जगदेव सं० ११५२ मां आव्यानु एक दोहरामां जणाव्युं छे जे नीचे प्रमाणे छे—
संवत ग्यार गै। दुगणावन जत मुदी रविवार ।
जगदेव नीज गमदिया धारनगर पवार ॥

नाटिका कर्णना जीवतां रचाइ हती एम बणानुं धारवुं छे। पण हुं तेम मानतो नथी, केमके जो तेम होय तो ए नाटिकानी प्रस्तावनामां ते कर्णना समक्ष अने राजमहालयमांके शिवमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख होत, परन्तु तेमां तो ते सम्पत्कर (सान्तू) मन्त्रीए प्रवर्तावेला जैनमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख छे[1]। एथी मीनलदेवी सोमनाथनी यात्राए गइ हती अने राज्यकारभार सान्तू मन्त्रीने सोंप्यो हतो ते समये ए नाटिका रचाइ हती। गुजरातथी ते सोमनाथ गयानुं जणावे छे, ते मीनलदेवीने मळवाना हेतु थी त्यां गयो हशे एम लागे छे[2]।

सिद्धराजनी सभामां दिगम्बरो अने श्वेतांबरनो शास्त्रार्थ थयो ते वखते दिगम्बर आचार्य मीनलदेवीना पीअरना देशना—कर्णाटकना—होवाथी तेनो विजय थाय एम इच्छती हती। अने राजसभाना सभ्योने एवी

मीनळनी योरयना

भलामण पण तेणे करी हती, परन्तु हेमचन्द्राचार्ये तेने एम कह्युं के, दिगम्बरो स्त्रीओए करेला सुकृतो अप्रमाण ठरावशे, तेथी तेणे तेनो पक्ष छोडी दीधो हतो। आ हकीकतथी जणाय छे के मीनलदेवी सुशिक्षित हती, तेने चित्रविद्यानो शोख हतो एम द्व्या० का० मां स्पष्ट उल्लेख छे। छेक दक्षिणमांथी निकळी गुजरातना राजाने परणवा आवी हती ते उपरथी तेनी असाधारण हिंमत जणाय छे। सोमनाथना यात्राळुओना करनी बोतेर लाख टका जेटली मोटी आवक जती करवामां तेनी लोकोपकार वृत्ति जणाय छे। धोलकामां तळाव बन्धाव्युं ते स्थळे एक गणिकानुं घर हतुं। तळावनो आकार बरोबर बनाववा ए घर तोडी नांखवानी जरुर हती, परन्तु मोमाग्या दाम आपवा छतां ए घर वेचवानी ते गणिकाए ना पाडी, तेथी तळाव ना आकारमां खामी राखी छतां पण ए घर जबरदस्तीथी लीधुं नहि, आ वातथी तेनी न्यायपरायणता तथा उदारचरित जणाय छे।

कर्णने आवी सच्चरिता सहधर्मचारिणी मळवाथी तेना कार्यमां अनेक रीते सहाय मळी हशे। मीनळ मुञ्जालनु जोडु जहाँगिर-नूरजहानना जोडानी याद आपे छे। बंनेमा परस्पर घणो स्नेह हतो। जहाँगिरनी उत्तरावस्थामा नूरजहाने राज्यकारभार चलाव्यो हतो, तेम मीनळे सिद्धराजना बाल्यकालमां राज्यकारभार चलाव्यो हतो।

कर्ण पछी प्रतापी सिद्धराजनुं राज्य थवाथी तेनुं तेज झांखुं लागे छे, परन्तु सिद्धराजनी महत्तानां बीज कर्णना समयमां ववायां हतां। गुजरातने जङ्गली लुंटाराओना त्रासमांथी मुक्त करनार कर्ण हतो। सिन्धना

---

१. न० तस्मिन्नणहिल्लपाटणमुकुटमणौ शान्त्युत्सवदेवगृहे भगवतो नाभेयस्य महामात्यसंपत्करप्रवर्तिते यात्रामहोत्सवे।

२. कष्टावन्धं विदधति न ये सर्वदैवाविशुद्धा-
स्तद्वापन्ते किमपि भजते यज्जुगुप्सापदत्वम्।
येपा मार्गे परिचयवशादर्जितं गुर्जराणां
यः सन्तापं शिथिलमकरोत्सोमनाथं विलोक्य॥
वि० दे० च०, १८, ९७।

आ श्लोकमां गुजरातीओनी निन्दा करेली छे, ए उपरथी जणाय छे के सान्तू मन्त्रीना पारितोषिकथी विल्हणने सन्तोष थयो नहि होय।

मुसलमानोने तेणे जबरी हार खवरावी हती। तेणे पोतानी राजधानी कर्णावतीमा करी हती अने त्रैलोक्यमल्लनु विरुद धारण कर्यु हतु, एथी जणाय छे के तेने पोतानां राज्यनो विस्तार करवानी होश हती। जयकेशीए पोतानी एक पुत्री दक्षिण भारतना चक्रवर्ती विक्रमादित्य छट्ठाने परणावी हती अने बीजी पुत्री कर्णने आपीए हकीकतथी कर्णनी महत्ता समजाय छे। तेने चक्रवर्ती थवानी पण अभिलाषा हती ए वात कर्णसुन्दरी नाटिका उपरथी जणाय छे। सिद्धराजनु नाम महालयो अने महासरोवरो बान्धवा माटे प्रख्यात छे। तेने ए कामोनी प्रेरणाना कर्णनां एवां कामो उपरथी मळी हती, कर्णमेरु प्रासाद उपरथी रुद्रमहालय अने कर्णसागर उपरथी सहस्रलिङ्ग सरोवर बन्धाव्यां हतां। कर्णसागरमां पाणी लाववा जेम कर्णे रुपण वाळो हती, तेम सहस्र-लिङ्गमां सिद्धराजे सरस्वती वाळी हती[1]। कर्ण खरेखर प्रतापी राजा हतो।

कर्णनी योग्यता

सालवारी

कर्णनो राज्याभिषेक	स० ११२०
मीनळदेवी साथे लग्न	स० ११३० (आशरे)
सिद्धराजनो जन्म	स० ११४० (आशरे)
कर्णावतीनी राजधानी सिद्धराजनो राज्याभिषेक कर्णनु मृत्यु	स० ११५०
योजकनी चढाइ	स० ११५०
जगदेवनु पाटण आववु	स० ११५१

---

१ सरस्वती पुराणमां उल्लेख छे के सिद्धराज सरोवरमां सरस्वतीने लाव्यो हतो—

स्ववशपावनार्थं च सिद्धराजः सरस्वतीम्।
तत्सरो ह्यनयद्देवीं गङ्गामिव भगीरथः॥ २१६॥

आ वातने सिद्धराजना कीर्तिस्तम्भना लेखना एक वचनथी पुष्टि मळे छे—

भगीरथस्य त्रिदशापगेव॥ ८७॥
ततः सा पूरयामास सरः सिद्धेशकारितम्।
ष्ठानित सगरेयेव

प्रस्थान, भाद्रपद, १९८७।

महाराजा कुमारपाल चौलुक्य

मुनि हिमांशुविजय, न्यायकाव्यतीर्थ ।

इतिहास के साथ राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजाओं का कार्यक्षेत्र व जीवन-चरित्र विशेष व्यापक होने की वजह से उन के इतिहास से बहुत सी समकालीन घटनाओं का पता लग सकता है।

प्रस्तुत लेख में हम महाराजा कुमारपाल का वृत्तान्त सप्रमाण लिखेंगे, जिन का सम्बन्ध समस्त गुजरात के साथ तो है ही, परन्तु मालवा दक्षिणादि देशों से भी है, और जो चौलुक्यवंश के प्रतापी राजाओं में यशस्वी और अन्तिम राजा हुए हैं।

चावडावंश के भूपाल

विक्रम संवत् ८०२ में चापोत्कटवंशीय वनराज[1] ने गुजरात में जैन मन्त्रों से अणहिल्लपुर (पाटण) की स्थापना की, और वहीं पर अपनी राजधानी क़ायम की। इस प्रदेश की सुन्दरता और सुरक्षितता के कारण क़रीब ६०० वर्ष तक चावडा और चौलुक्यवंशीय राजाओं की यह राजधानी बनी रही। अभी तक यह पाटण[2] हजारों धनी और यशस्वी व्यापारियों का नगर प्रसिद्ध है। इस समय यह शहर महाराजा गा य क वा ड के राज्य में है। महाराजा कु मा र पा ल के वक़्त में इस शहर में १८०० क्रोडपति थे। टॉड साहब का कहना है कि 'उस वक़् भारत के सभी शहरों में यह अधिक समृद्ध था जहाँ पूर्वीय और पाश्चात्य वस्तुएँ मिलती थीं।'

---

१ यह गुजरात और चावडावंश का प्रथम राजा है। शीलगुण सूरि जैनाचार्य ने इस में उत्तम संस्कार डाले थे। दे० प्रबन्ध-चिन्तामणि फार्बससभा, १६३२, पृ० १६।

जैन युग में छपी हुई राजवंशावली में अणहिल्लपुर का स्थापना-काल वि० सं० ८२१ वैशाख सुदि २ रोहिणी नक्षत्र लिखा है। और मेरे पास जो अमुद्रित राजवंशावली है उस में वि० सं० ८०२ लिखा है—

अब्दे युग्मनभोमदालयमिते **चापोत्कटो** भूपतिः
दाताऽभूद् **वनराज** इत्यभिमतो विद्वज्जनैराश्रितः।
षष्ट्यब्दप्रमितं सुराज्यमखिलं भुक्तं च तेनाऽतुलं
व्यक्तश्रीरणहिल्लपत्तनपुरं सन्निर्मितं भूतले ॥ २६ ॥

श्रीमान् तुङ्ग सूरि ने भी **विचारश्रेणि** (जो प्रबन्धचिन्तामणि के पश्चात् लिखी गई है) में वनराज की राज्य-स्थापना वि० सं० ८२१ (ई० ७६४) से लिखी है। और यही साल ठीक है, ऐसा श्रीमान् रा० ब० पं० **गौरीशङ्कर ओझाजी** का मत है।

चापोत्कट, चावडा, चोवरा ये एक ही अर्थ के पर्याय है।

श्रीमान् ओझाजी का कहना है कि चावडावंश परमारों की शाखा है। दे० टॉड-रा० की टिप्पणी।

२ वर्तमान में इस को **सिद्धपुर पाटण** कहते है।

बडे बडे विद्वानों और कवियों ने इस नगर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[1] ।

वनराज के बाद योगराज, क्षेमराज, भूवडराज, वयरसिंह, रत्नादित्य, सामन्तसिंह, ये छ राजा चावडावंश के हुए। इन सातों राजाओं का राज्यकाल १९६ वर्ष है, ऐसा गुर्जरदेश भूपावली[2] से मालूम होता है। टॉड-राजस्थान में १८४ वर्ष लिखे हैं। परन्तु हमें यह ठीक नहीं जँचता।

चौलुक्यवंश का मूलराज वि० स० ९९८ मे गुजरात का पहला राजा हुआ जिस ने ५५ वर्ष पर्यन्त राज्य किया[3] । इस के बाद क्रमश चामुण्डराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीमराज (प्रथम), कर्णराज, ये छ राजा हुए जिन्हों ने गुजरात में राज्य कर के प्रजा का पालन किया।

चौलुक्य श के राजा

कर्णदेव[4] का उत्तराधिकारी गुजरात का राजा उसी का पुत्र सिद्धराज हुआ। इस का राज्याभिषेक वि० स० ११५० पौष वदि ३ को हुआ। यह राजा बडा प्रतापी और विद्वान् था। अतएव पण्डितों का योग्य सत्कार करने का भी इस को पूरा शौक था। इसी शौक के कारण इस ने कई विद्वानों को सहारा दिया और आचार्य हेमचन्द्र जैसे सर्वदेशीय विद्वान् से सङ्गति कर के उन से एक महान् पञ्चाङ्गी व्याकरण बनाने की नम्र प्रार्थना की। आचार्य हेमचन्द्र ने भूपाल की प्रार्थना को स्वीकार कर के "सवा लाख श्लोक प्रमाण सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन" नाम का संस्कृत आदि सात भाषाओं का अद्वितीय व्याकरण बना कर गुजरात का सिद्धराज का और अपना गौरव बढ़ाया[5] । और भी विश्वेश्वरदेवबोध, श्रीपाल, वाग्भट, वादिदेव सूरि प्रभृति जैन विद्वानों के ऊपर उस की बहुत भक्ति थी। इसी कारण यद्यपि पहले उस की जैन धर्म पर रुचि नहीं था परन्तु जैन विद्वानों के समागम से उस ने कई जैन मन्दिर भी अपने खर्चे से बनवाए थे और जैन धर्म पर प्रेम रखता था[6] । सोमनाथ के ऊपर इस की विशेष भक्ति थी।

सिद्धराज जयसि ह

सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए वह हमेशा चिन्ताकुल रहता था कि मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा। इस बात का समाधान कई ज्योतिर्विदों और श्री हेमचन्द्राचार्य से राजा ने पूछा। सब से यही उत्तर

---

१ संस्कृत और प्राकृत द्व्याश्रय काव्य और कुमारपाल प्रबन्ध।

२ श्लो० ३३ यह ग्रन्थ अभी तक छपा नहीं है। मेरे पास इस की प्रेस कापी है।

३ मूलराजस्ततो जज्ञे वसुनन्दाङ्कहायने।
पञ्चपञ्चाशदब्दानां स्वच्छं राज्य चकार सः ॥ गु० दे० भू० ३४ ॥

टॉड महोदय ने मूलराज का राज्यकाल ५८ वर्ष लिखा है। टॉ० रा० पृ ७०१।

चालुक्य चालुक चालुक्य चौलक और सोलङ्की ये पाँचों एक ही अर्थ के वाचक हैं। चौलुक्यों ने पहले अयोध्या में, बाद दक्षिण में और पीछे गुजरात में राज्य किया। प्रथम जयसिंह (ई० स० ५०७) के करीब से सोलङ्कियों का शृङ्खला बद्ध इतिहास मिलता है जो दक्षिण का राजा था। ऐसा श्रीमान् ओझाजी का मत है।

४ इस का राज्यकाल वि० स० ११२० से ११५० तक है। यह भीमदेव का पुत्र था। महाकवि वाग्भट इस का मित्र था। इस ने 'वाग्भटालङ्कार' में सिद्धराज की कई जगह स्तुति की है। इस राजा का सम्पूर्ण इतिहास आचार्य श्री हेमचन्द्र ने संस्कृत द्व्याश्रय काव्य में लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि में इस का प्रबन्ध स्वतन्त्र है।

५ प्रभावकचरित्र में हेमचन्द्र सूरि प्रबन्ध श्लो० ७१ से ११५।

६ प्रभावकचरित्र। टॉड साहब ने और ह्विट्नी ने, जैन बौद्ध को एक मान कर, सिद्धराज को बौद्ध धर्मी माना है। पर यह बात ठीक नहीं है। यह शैव धर्म का पालक था और जैन धर्म का रक्षक व प्रशंसक था। बौद्ध धर्म तो इस समय विलीनप्राय था। भारत के बहुत विद्वानों ने जैन मन्दिर, मूर्ति साधु व राजाओं को बौद्ध मानने की बहुत गम्भीर भूलें की हैं।

मिला कि तुम्हारे पीछे राज्याधिकारी त्रि भु व न पा ल का पुत्र कु मा र पा ल होगा जो बड़ा प्रतापी और न्यायी होगा[1]।

कुमारपाल के पूर्वजों के विषय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के जुदे-जुदे उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्धचिन्तामणिकार भीमदेव का पुत्र हरिपाल, हरिपाल का त्रिभुवनपाल और त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बताते हैं। साथ-साथ यह भी बतलाते हैं कि भीमदेव ने चउलादेवी नाम की वाराङ्गना रक्खी थी, जो सदाचारिणी और नीतिमती थी। उस से हरिपाल का जन्म हुआ। परन्तु यह बात और कहीं देखने में नहीं आती।

महाराजा कुमारपाल

प्र भा व क च रि त्र में लिखा है कि देवप्रसाद, कर्णराज का भाई (भीम का पुत्र) था, उस का पुत्र त्रिभुवनपाल, और उस का पुत्र कुमारपाल राजा के उत्तम लक्षणों से युक्त था। कु मा र पा ल प्र ति बो ध के कर्ता भीम का पुत्र क्षेमराज, उस का पुत्र देवप्रसाद और देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बतलाते हैं[2]। कुमारपाल चौलुक्यवंशी प्रथम भीम के कुल का और त्रिभुवनपाल का पुत्र था। इस में तो किसी का मत-भेद नहीं है।

कुमारपाल छत्तीस प्रकार की शस्त्रकला में प्रवीण, बहादुर, कृतज्ञ और उद्यमी था।

सिद्धराज ने जब सुना कि मेरे सन्तान न होगी और कुमारपाल उत्तराधिकारी होगा तब उस को बहुत दुःख हुआ। कुमारपाल को किसी तरह वह अपने राज्य का मालिक बनाना नहीं चाहता था। सम्भव है कि कुमारपाल के एक पूर्वज के वेश्या से उत्पन्न होने के कारण वह उस को भी नीच समझ कर घृणा करता हो। कुछ भी हो, कुमारपाल को मारने का विचार कर के उसने चारों ओर अपने सिपाही दौड़ाए[3]।

कुमारपाल का भविष्य

जब कुमारपाल को यह मालूम हुआ कि सिद्धराज मुझे मारना चाहता है तब वह पाटण से निकल कर गुप्त वेष में इतस्ततः परिभ्रमण करने लगा। कई बार वह क़रीब-क़रीब दुश्मन के हाथ पड़ गया परन्तु अपनी चालाकी से बचा। कई बार इसे अपने प्राण बचाने को काँटों की बाड़ों और झिभाड़े में छिपना पड़ा। जङ्गलों में एकाकी भूखे-प्यासे घूम कर के इस ने बहुत कष्ट उठाए। पास में ख़र्च को कौड़ी भी नहीं थी। घूमता-घूमता यह खम्भात में उ द य न म न्त्री के यहाँ

कुमारपाल का दुःख-प्रवास

१. 'प्रभावकचरित्र' में लिखा है कि हेमचन्द्र सूरि ने तीन उपवास और ध्यान कर के अम्बा देवी को प्रत्यक्ष किया, और सिद्धराज के उत्तराधिकारी के विषय में पूछा। देवी ने उत्तर दिया कि इस राजा के भाग्य में संतति नहीं है। अतः इस राजा के भाई का पुत्र कुमारपाल, जो पुण्य प्रताप और महिमा से युक्त है, राजा होगा; दूसरे राज्यों को भी अपने अधीन करेगा और जैन-धर्म को पालेगा। श्लो० ३५२।

२. एक राज-वंशावली में **जामेयः सिद्धराजस्य** अर्थात् कुमारपाल सिद्धराज का भाणेज था, लिखा है परन्तु यह बात सत्य नहीं मालूम होती, क्योंकि सभी तत्कालीन प्राचीन ग्रन्थों में कुमारपाल को भीमवंशीय चौलुक्य बतलाया है। और जामेय लिखनेवाला ग्रन्थकार बहुत पीछे का (अर्वाचीन) है। टॉड-राजस्थान के कर्ता कुमारपाल को चौहाणवंशी लिखकर सिद्धराज का उत्तराधिकारी लिखते हैं। और एक जगह पर दत्तक पुत्र लिखते हैं। यह बात किसी पुराने ग्रन्थ में देखने में नहीं आती। सभी प्राचीन लेखक कुमारपाल को चौलुक्य ही बतलाते हैं। **सं० द्व्याश्रय** के टीकाकार अभयतिलक लिखते हैं—सिद्धराज त्रिभुवनपाल का चचा लगता था अतः कुमारपाल का सिद्धराज पितामह हुआ।

३ आचार्य्य हेमचन्द्र ने इस बात का उल्लेख कहीं पर नहीं किया है, परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में कुमारपाल के प्रति, सिद्धराज का कोप स्पष्ट दिखता है। विशेष में जिन मण्डनगणि कुमारपाल-प्रबन्ध में लिखते हैं—कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल को सिद्धराज ने मरवा दिया था। इनके प्रति सिद्धराज के प्रचण्ड कोप का कोई कारण हमारी समझ में अभी तक नहीं आया।

खाने-पीने का कुछ साधन माँगने पहुँचा। उदयन[1] उस समय आचार्य हेमचन्द्र के पास बैठकर धर्म चर्चा कर रहे थे। कुमारपाल वहाँ पौषधशाला में गया। उदयन से बातें हुईं। हेमचन्द्राचार्य ने उस के लोकोत्तर लक्षण देख कर मन्त्री के आगे कहा कि यह बहुत बड़ा राजा होगा। कुमारपाल बहुत थक गया था। निराश भी बहुत हो गया था। हेमचन्द्र सूरि ने विश्वास दिला कर कहा कि यदि वि० सं० ११९९ कार्तिक[2] वदि २ को तुम को राज्य न मिलेगा तो मैं ज्योतिष और निमित्त शास्त्र को देखना छोड दूँगा[3]।

हेमचन्द्राचार्य से भेंट

आचार्य का निर्णय सुन कर कुमारपाल बहुत चमत्कृत हुआ। उस के मन में बडी श्रद्धा हुई। प्रसन्न हो कर उस ने हेमचन्द्र सूरि से कहा—आप की बात सत्य होगी तो आप ही राजा हैं, मैं तो आप का दास रहूँगा[4]। आचार्य ने कहा कि हम तो निःस्पृही हैं। हमें राज्य से कोई प्रयोजन नहीं। कामिनी काञ्चन को हम स्पर्श तक नहीं करते। साहित्य सेवा और धर्मोपदेश हमारा व्यवसाय है। तुम अपनी कृतज्ञता के लिए जैन धर्म और देश की सेवा करने का प्रयत्न करना। आचार्य का वचन बडी श्रद्धा से कुमारपाल ने स्वीकार किया। कुमारपाल और हेमचन्द्र की यह पहली ही मुलाक़ात थी। परन्तु इन में गुरु शिष्य का सम्बन्ध जुड़ गया, जो दिन बदिन इतना बढा कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त की दूसरी आवृत्ति जैसा हो गया।

मन्त्री उदयन ने हेमाचार्य के कहने से कुमारपाल का योग्य सत्कार कर कुछ धन दे कर उस को रवाना किया। कहा जाता है कि हेमचन्द्र भी इस की रक्षा के लिए सावधान रहते थे। कई बार हेमचन्द्र ने अपने उपाश्रय में छिपा कर भी इस को बचाया।

कुमारपाल मालवे में उज्जैन गया। वहाँ कुडङ्गेश्वर[5] मन्दिर में उस ने एक शिलालेख देखा जिस में निम्न गाथा लिखी थी—

पुन्ने वाससहस्से सयम्मिवरिसाण नवनवइअहिए।
होही कुमर नरिन्दो तुह विक्कमराय सारिच्छो॥ १॥

अर्थात् हे विक्रम! ११९९ वर्ष के बाद तुम्हारे जैसा कुमारपाल राजा होगा[6]। कुमारपाल को यह गाथा पढने से साश्चर्यानन्द हुआ और आचार्य हेमचन्द्र के वचन पर विशेष विश्वास हुआ।

---

१ यह मारवाड़ का जैन वणिक् था, पर बड़ा ही वीर, चतुर और प्रतिभासम्पन्न था। इसलिए गुजरात में आकर इस ने बहुत लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त की। यह सिद्धराज और कुमारपाल का मुख्य मन्त्री (महामात्य) हुआ। महाकवि वाग्भट इसी का पुत्र था।

२ जिन मण्डनगणि ने कुमारपाल का राज्यारोहण काल वि० सं० ११९९ मार्गशीर्ष कृष्णा ४ पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न लिखा है। प० शिवदत्तजी ने हेमचन्द्राचार्य के लेख में ११९९ मार्गशीर्ष कृष्णा १४ मालूम नहीं, किस आधार पर लिखा है। प्र० चि० (पृ० १२५) में तो वि० सं० ११९९ कार्तिक कृष्णा २ का उल्लेख है।

३ स पौषधशालामागतमाकर्ण्य तत्रागते तस्मिन्नुदयनेन पृष्टः—श्रीहेमचन्द्राचार्यः प्राह—लोकोत्तराणि तदङ्गलक्षणानि वीक्ष्य सार्वभौमोऽयं नृपतिर्भावीत्यादिशत्। सं० ११९९ कार्तिक वदि २ रवौ हस्तनक्षत्रे यदि भवतः पट्टाभिषेको न भवति तदातः परं निमित्तावलोकसंन्यास इति पत्रमालिख्यैकं मन्त्रिणोऽपरं तस्मै समारोपयत्। प्र० चि० पृ० १२५।

४ यद्यद् सत्यं तदा भवानेव नृपतिः, अहं तु त्वच्चरणरेणुः। प्र० चि० कुमारपाल प्रबन्ध—पृ०१२६।

५ यह महाकाल का मन्दिर होना चाहिए। जैन इतिहास कहता है कि इस का निर्माता जैन था। इस में अवन्ती पार्श्वनाथ की मूर्ति थी, परन्तु ब्राह्मणों ने उस को ढक कर अपनी सत्ता जमा ली। दे० प्रबन्धचिन्तामणि।

६ प्रबन्धचिन्तामणि के अन्तर्गत विक्रम प्रबन्ध में लिखा है कि जब विक्रम ने सिद्धसेन दिवाकर से पूछा कि मेरे जैसा कोई अन्य राजा होगा तब सिद्धसेन ने विक्रम के आगे 'पुन्ने वाससहस्से' गाथा कही थी। दे० विक्रम प्र० पृ० ११।

वि० सं०[1] ११९९ में जब सिद्धराज जयसिंह का स्वर्गवास होने का समाचार कुमारपाल ने सुना, तब वह बड़ी ही शीघ्रता से पाटण में पहुँचकर अपने बहनोई कान्हडदेव के यहाँ जा कर ठहरा, जो सिद्धराज का दस हज़ार घोड़ों का सेनापति था।

राज्य-प्राप्ति

राज्याभिषेक किस का करना ? इसका निश्चय करने के लिए जब सभा हुई तब का न्ह ड दे व, कुमारपाल को स्नान करवा कर वस्त्रादि से अलंकृत कर के राज्य-कचहरी में ले गया। पहले दो क्षत्रिय युवक भी राजा बनने के लिए वहाँ आए थे, परन्तु उन में वीरता और प्रभाव की योग्यता न देख कर लोगों ने उन्हें पसन्द न किया। कान्हडदेव के इशारे से कुमारपाल ऊँचे आसन (स्टेज) के ऊपर चढ़कर अच्छी तरह से दुपट्टे का आसन बिछा कर प्रतापयुक्त नेत्र करके बड़ी कुशलता से तलवार घुमाने लगा। लोगों ने पूछा, राजा हो कर क्या करोगे ? उत्तर में कुमारपाल ने कहा कि पृथ्वी का शासन करूँगा। बस अब क्या था! सब लोगों ने समझा कि यही प्रभावशाली है, अतः राज्य के योग्य है। सब ने एकमत हो कर समारोहपूर्वक कुमारपाल का राज्याभिषेक किया। वि० सं० ११९९ कार्तिक कृष्णा २ को उच्च ग्रहों के आने पर कुमारपाल सिद्धराज की राजगद्दी पर बिठाया गया था। उस वक्त यह करीब ५० वर्ष का था।

कृतज्ञता

आज कुमारपाल की कई दिनों की आशा सफल हो गई। उस ने राज्य प्राप्त कर के जो-जो उस के उपकारी थे, उन को यथायोग्य बदला दे कर कृतज्ञता प्रकट की। उ द य न को मुख्य मन्त्री, वा ग्भ ट को नायब दीवान, निभाडे में छिपाकर रक्षा करने वाले आ लि ङ्ग रा ज को सात सौ गाम वाली चि त्तो ड पट्टि का मालिक, काँटे में छिपा कर बचाने वाले को अङ्गरक्षक, जङ्गल में भोजन देने वाली एक बाई को धोलेरा की स्वामिनी, और अन्न देने वाले एक वैश्य को बड़ोदे का राजा बनाकर कुमारपाल ने प्रत्युपकार किया।

कान्हडदेव, जो कुमारपाल का उपकारी और बहनोई था, मना करने पर भी ऑफ़िसरों के सामने खुल्लमखुल्ला बार-बार कुमारपाल को उपालम्भ देता तथा उपहास करता था। अतः कुमारपाल ने उस का अङ्गच्छेद करवाया, ताकि आयन्दः, अग्नि की तरह, और कोई मेरा अपमान न करे[2]। जो हो, जैसे श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को एकाकिनी जङ्गल में भेज कर अन्याय किया वैसे कुमारपाल ने इस उपकारी के प्रति कृतघ्नता कर के अपने शुभ्र यश में ज़रा कलङ्क लगाया है, ऐसा मेरा मत है।

कुमारपाल के राजगद्दी पर आते ही सिद्धराज के दुश्मन राजा, कुमारपाल को दबाने का और गुजरात के राज्य को छीनने का चारों ओर यत्न करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र के संस्कृत द्व्याश्रय काव्य[3] से पता चलता

---

१ टॉड-राजस्थान में सिद्धराज का राज्यकाल १२०१ विक्रम तक लिखा है, जो प्रमाण से बाधित है।

२. आद्यो मयैवायमदीपि नून न तद्दहेन्मामवहेलितोऽपि।
इति अमादङ्गाल्पर्षणोऽपि स्पृश्येत नो दीप इवावनापः॥ प्र० चि० पृ० १२७॥

३. सिद्धहेम नामक हैम व्याकरण-सूत्रों के उदाहरणार्थ यह ग्रन्थ भट्टिकाव्य की पद्धति का बनाया गया है। इस में श्रीमूलराज से गुजरात का विस्तृत इतिहास निबद्ध है। सोलहवें सर्ग से कुमारपाल-चरित्र का प्रारम्भ होता है। बम्बई गवर्नमेंट सिरीज़ में यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सटीक दो भागों में छपा है। महाराजा गायकवाड ने इस का गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित करवाया है। कुमारपाल का शेष जीवन प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में इन्हीं आचार्य ने लिखा है। यह भी उपर्युक्त 'सिरीज़' से प्रकाशित हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ सोलङ्कियों के विषय में बहुत प्रकाश डालते हैं, क्योंकि ये सिद्धराज और कुमारपाल के जीवन-काल में लिखे गए हैं। सिद्धहेम व्याकरण की ३२ श्लोकों की प्रशस्ति भी सोलङ्की इतिहास के लिए उपयुक्त है।

है कि उधर से सपादलक्ष के आन्न राजा ने शिवद्वार नदी के तटवर्ती छोटे-बड़े राजाओं को साथ ले कर लड़ने की तैयारी की। दक्षिण के राजाओं के साथ अवन्ती के बल्लाल राजा ने पाटण पर आक्रमण करने का विचार किया। कांथकहृद, अरण्यदेश, शिवरूप, पूर्व मद्र, अपरेय, कामग्राम, गोमती, गोष्ट्या, तैक्या, यकृल्लोमन्, पटचर, शूरसेन वाहीकराष्ट्र, रोमकराष्ट्र, नैकेती, काण्व, द्राक्ष, चैकीय, कौशीय राजाओं को भी दुश्मन राजाओं ने अपने पक्ष में कर के कुमारपाल पर आक्रमण करने को उत्तेजित किया। इधर कुमारपाल के चार (गुप्तचर) चारों ओर घूमा करते थे। एक दूत ने कुमारपाल को दुश्मनों की इस तैयारी के हाल कह सुनाए[1]।

शत्रुओं का प्रयत्न

इस तरफ कुमारपाल के कुछ अधिकारी[2] और माण्डलिक (जागीरदार) भी विरुद्ध होने लगे।

इन सब बातों को जान कर कुमारपाल ने क्रोध को दबा कर गम्भीरता से विचार किया। विचार करने के बाद उसने सब शत्रुओं का सामना कर उन का अभिमान मिटाने का निश्चय किया। छोटे बड़े माण्डलिक सामन्तों को एकत्र करके उन की परीक्षा करने के बाद सांकाश्य, फाल्गुनीवह, नांदीपुर आदि के राजाओं को अपने सेनापति के साथ बल्लाल के प्रति युद्ध करने को रवाना किया। ऐरावत, अजिसार, दधि, स्थल, धूम आदि प्रदेशों के राजाओं को और वीर सेना को ले कर खुद कुमारपाल सपादलक्ष के आन्न[3] राजा का दमन करने चला।

दुश्मनों का दमन

समुद्र समान इन की—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—सेना मानों तक फैल गई। मार्ग में जो जो बड़े राजा माण्डलिकादि आते थे उन को साम-दाम दण्ड भेद से अधीन करता गया। कई राजा अपनी अपनी सेना शस्त्रादि सहित कुमारपाल के साथ मिलते गए, जैसे कि सगर राज के साथ गदर के बाद दूसरे राजा मिलते गए थे। कुमारपाल के सामने कौन टिक सकता था? इस तरह चक्रवर्त, युगन्धर, साल्व और कुरु आदि के कई राजाओं का सेना कुमारपाल में मिलने से कुमारपाल को बड़ा खुशी हुई।

इस तरह सर्वत्र विजयी होता हुआ राजा आबू पहाड़ पर आया। वहाँ चन्द्रावती का विक्रमसिंह[4] राजा था। उस ने डर कर के भक्ति-पूर्वक नम्र हो कर कुमारपाल से प्रार्थना कर कहा कि 'यह राज्य आप का ही है। मैं तो आप का सेवक हूँ। आप मेरे मालिक हैं।' राजा ने आबू से सपादलक्ष में जाकर आन्न के साथ युद्ध शुरू किया। आन्न भी अपने गोविन्दराज सरदार और सेना के साथ युद्ध में उतरा। दोनों का घमासान युद्ध हुआ।

1 आचार्य हेमचन्द्र-रचित संस्कृत द्व्याश्रय सर्ग १६ के श्लोक ९ से १६ तक।

2 प्रबन्धचिन्तामणि में लिखा है कि बाग्भट मन्त्री, जिस को सिद्धराज ने पुत्र समान समझा था ईर्ष्या से कुमारपाल के विरुद्ध हो कर सपादलक्षीय राजा के पक्ष में सेनापति हो कर गया था। सं० द्व्याश्रय में भी (सर्ग १९ श्लोक १४) यह बात इशारे से मिलती है। पर यहाँ पर चाहड़ नाम लिखा है, जो बाग्भट का भाई था। दे० प्र० चि० १२१। बाग्भट को कुमारपाल ने अपना दीवान बनाया था। मेरुतुङ्ग लिखते हैं—आनाक राजा गुजरात की सीमा तक युद्ध करने को आ पहुँचा था। पृ० १२८।

3 प्र० चि० में इस का नाम आनाक और प्रभावक-चरित्र में अर्णोराज लिखा है। सपादलक्ष यह सांभर के आस पास के प्रदेश का नाम है।

4 प्रभावकचरित्र के हेमचन्द्राचार्य प्रबन्ध में लिखा है कि चन्द्र ने विक्रमसिंह अर्णोराज के पक्ष में हो गया था और इस ने कुमारपाल को धोखे से मारने की कोशिश की थी। विक्रमसिंह को कुमारपाल ने कैद कर लिया और उस के भाई रामदेव के पुत्र यशोधवल को राज्य दिया। यह प्रमाण वि० १३०० के करीब का है ऐसा श्रीमान् मुनि कल्याणविजयजी का मत है।

आन्न की सेना पीछे हटती गई। सामने के शत्रुओं को हटाता हुआ कुमारपाल हाथी[1] पर चढ़ कर शत्रु राजा आन्न के हाथी के पास जा पहुँचा। बड़ी ही शीघ्रता और कुशलतापूर्वक[2] लोहशर (शस्त्र-विशेष) का प्रहार आन्न के ऊपर कुमारपाल ने किया। आन्न मूर्च्छित हुआ। सब शत्रु-सेना तितर-बितर हो गई। राज-नीति-विरुद्ध होने से कुमारपाल ने कृपया आन्न को जान से नहीं मारा, परन्तु उस के हाथी-घोड़े आदि युद्ध का सामान छीन कर स्वाधीन कर लिया। कुमारपाल की विजय हुई, यह बात चारों तरफ़ फैल गई।

जिस को ज़बरदस्त गर्व था वह आन्न राजा भी कुमारपाल से हार गया। अन्त में आन्न ने दूत भेज कर माफ़ी माँगी। अपने अच्छे-अच्छे हाथी-घोड़े आदि कुमारपाल को भेंट किए और अपनी कन्या का कुमार-पाल से विवाह करने की प्रार्थना की। कुमारपाल ने उस को उदारता से माफ़ी दी और कन्या तथा भेंट पाटण लाने को कहा। समारोहपूर्वक राजा ससैन्य पाटण आया और आ न्न की कन्या से विवाह किया[3]।

ब ल्ला ल[4] की तरफ जो कुमारपाल की सेना भेजी गई थी वह भी अन्ततोगत्वा विजयी हुई। उस के सेनानियों ने बल्लाल को मार डाला, ऐसा वृत्तान्त राजा कुमारपाल ने दूत से सुना। यह सुन कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और दूत को इनाम से शिरपाव दिया[5]।

इस प्रकार जो दुश्मन खड़े हुए थे उन का सम्पूर्ण रीत्या दमन कर के राजा स्वस्थ हुआ।

राज्य मिलने के बाद राज्य का बहुत काम कुमारपाल ख़ुद ही करने लगा। मन्त्रियों का भरोसा कम रखता था इसलिए कुछ मन्त्री आदि अहलकारों ने कुमारपाल का षड्यन्त्र रचा, परन्तु खास सेवकों से मालूम होने के बाद कुमारपाल ने उन सब को कड़ी सजाएँ दीं और मार डाला।

जब आचार्य हेमचन्द्र को यह मालूम हुआ कि कुमारपाल राजा होकर विजयी हुआ है, तब वे अपने दिल में प्रसन्न हुए। अपने शिष्य का पुरुषार्थ जान कर भला कौन ख़ुश न होगा ?

उस वक्त कुमारपाल मालवे में था। जहाँ उस का डेरा था वहाँ पैदल चल कर हेमचन्द्राचार्य पहुँचे। आचार्य ने उदयन द्वारा राजा का समाचार जाना और राजा को पूर्वोपकार का उदयन द्वारा स्मरण करवाया। राजा को सब याद आया। उसने आचार्य का बड़े चाव से सत्कार किया और कहा कि भगवन्[6], मैं धीरे-धीरे आप की सभी आज्ञाओं का पालन

आचार्य और सम्राट् की मुलाकात

१. इस हाथी का नाम **कलहपञ्चानन** था। प्र० चि० में लिखा है कि राजा ने वाग्भट को भी घायल कर दिया और सैनिकों ने उसे पकड़ कर स्वाधीन किया।

२. कुमारपाल ने ३६ प्रकार के शस्त्र पास में रखे थे। आवश्यकतानुसार उन को काम में लाता था। उस की युद्ध-शस्त्र-कला में प्रवीणता प्रसिद्ध थी।

३ हेमचन्द्राचार्य्य का द्व्याश्रय काव्य, १९वाँ सर्ग।

४. अवन्ती का राजा।

५. द्व्याश्रय काव्य, सर्ग १६।

६ भवदुक्तं करिष्येऽहं सर्वमेव शनैः शनैः।
कामयेऽहं परं सङ्गं निधेरिव तव प्रभो ! ॥

'कुमारपाल-प्रतिबोध' में सोमप्रभ सूरि लिखते हैं—

राज्यादि सुख को देने वाले सच्चे धर्म को जानने की कुमारपाल की आकांक्षा हुई। यज्ञादि-हिंसा-धर्मोपदेश से उस की जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। इसलिए वह धर्म का सच्चा तत्त्व जानने का अभिलाषी था। उस के मन्त्री वाग्भटदेव ने राजा को श्रीहेमचन्द्राचार्य्य का परिचय दिया। राजा ने पहली बार यहीं हेमचन्द्राचार्य्य से मुलाकात की और पीछे से सम्बन्ध बढ़ा।

करूँगा, इस के लिए मैं आप का सङ्ग चाहता हूँ। उस के बाद भूपाल की प्रार्थना से आचार्य हमेशा कुमारपाल के पास जा कर धर्म, नीति और राजधर्म समझाने लगे। आचार्य के चारित्र्य और पाण्डित्य का असर कुमारपाल पर बढ़ता गया।

गुजरात आने पर भी इन दोनों का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। इस तरह हेमचन्द्र सूरि की बढ़ती हुई कीर्त्ति को कुछ ईर्ष्यालु अन्ध-श्रद्धालु लोग सहन नहीं कर सकते थे। इस का कारण यह था कि जैन साधु के आदर्श उपदेश को राजा समझेगा तो उन की खुशामद और गपोड़ों की कीमत कम हो जायगी। इसी लिए कई लोगों ने हेमचन्द्र जैसे पवित्र महात्मा की और जैन धर्म की कई बार निन्दा[1] राजा के आगे की, परन्तु राजा समझदार और हेमचन्द्राचार्य का प्राय शिष्य था अत उस का समाधान हेमचन्द्र से ही पूछ लेता था।

एक दिन कुमारपाल ने हेमचन्द्र से पूछा कि मेरा यश विक्रम की तरह चिरस्थायी होने का उपाय बतलाइए। आचार्य ने दो उपाय बतलाए। एक तो विक्रम की तरह जगत् को ऋण से मुक्त करने का, और दूसरा सोमनाथ महादेव के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने का। जगत्प्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर उस वक्त जीर्ण शीर्ण हो गया था, ऐसा प्रबन्धचिन्तामणिकार लिखते हैं[2]। कुमारपाल को इस निष्पक्ष सलाह से हेमचन्द्र के ऊपर बहुत श्रद्धा हुई। उस ने सो म ना थ का जीर्णोद्धार शुरू करवाया। जब तक सोमनाथ के मन्दिर पर ध्वजारोपण न हो तब तक हेमचन्द्र के कहने से राजा ने मांस मद्य का त्याग किया। दो वर्ष में सब कार्य हो गया, ध्वजा चढ़ाई गई। राजा ने हेमचन्द्र से महादेव की स्तुति करने की प्रार्थना की। आचार्य ने खुशी से नई स्तुति बना कर कही। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। मन्दिर में साक्षात् शिवजी ने आकर दर्शन दिए। कुमारपाल ने वहाँ पर यावज्जीवन हेमचन्द्र के उपदेश से मांस का त्याग किया[3]।

कुमारपाल का धार्मिक जीवन

(१) आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने लावारिस का धन लेना छोड़ दिया, जिस की आमदनी एक साल में राज्य भर में ७२००००० बहत्तर लाख रुपयों की थी। इस त्याग की हेमचन्द्र ने इस प्रकार प्रशंसा की है—

---

१ प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध चतुर्विंशिकादि ग्रन्थों में ऐसे कई प्रसंग हैं। सिद्धराज के आगे भी इन लोगों ने हेमचन्द्र की निन्दा करने में कमी नहीं की। इसी झूठी निन्दा के आधार पर अथवा अपनी कपोलकल्पित कल्पनाओं से आज भी कुछ लोग इस आचार्य और जैन धर्म की निन्दा करने की धृष्टता करते हैं। इस में श्रीयुत क० एम० मुंशी और कमार के लेखक मुख्य है। बीसवीं सदी के उदार जमाने में ऐसा काम करना किसी तरह से योग्य नहीं है।

२ मिराते अहमदी', 'आईन अकबरी' प्रभृति—मुसलमानी लेखकों के—ग्रन्थों के आधार पर फार्बस साहब कहते हैं कि उस वक्त तक महमूद सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण कर चुका था। सम्भव है इसी से कुमारपाल ने जीर्णोद्धार करवाया हो। यह मन्दिर प्रभासपाटण में है।

३ सोमनाथ की प्रतिष्ठा का प्रसंग विस्तार से जैन ग्रन्थों में मिलता है। हेमचन्द्र सूरि ने स्तुति की जिस का एक श्लोक यह है—

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥ प्र० चि० १२१।

अपुत्राणां धनं गृह्णन् पुत्रो भवति पार्थिवः ।
त्वं नु संतोषतो मुञ्चन् सत्यं राजपितामहः ॥

प्रबन्ध-चिन्तामणि

(२) कुमारपाल ने शत्रुञ्जय नामक जैन तीर्थ का संघ[1] निकाला।

(३) तारङ्गा नामक जैन तीर्थ में श्री अजितनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया।

(४) मांस, शराब, परस्त्री, वेश्या प्रभृति सातों व्यसनों का त्याग किया और राज्य में भी यथाशक्य त्याग करवाया। यज्ञ तथा देवियों के निमित्त हिंसा बंद करवाई।

(५) अपने राज्य में चौदह वर्ष तक अहिंसा का काफ़ी प्रचार किया[2]।

(६) कुमारपाल ने कई शैव मन्दिर, तालाब, कुएँ, दानशाला और १४४४ जैन मन्दिर बनवाए। राज्य के खर्च से जो मन्दिर बने थे उन का नाम प्रायः "कुमार या कुंवर विहार" होता था। अभी तक दूर-दूर तक इन के मन्दिर मिलते हैं। एक मन्दिर जाबालीपुर (जालोर) मारवाड़ में के जो जोधपुर स्टेट में है, सुवर्णगिरि दुर्ग पर अभी मौजूद है जिस पर यह शिलालेख है—

ओं ॥ संवत् १२२१ श्रीजावालिपुरीयकांचनगिरिगढस्योपरि प्रभुश्रीहेमसूरिप्रबोधितगुर्जरधराधीश्वर-परमार्हतचौलुक्यमहाराजाधिराजश्रीकुमारपालदेवकारिते श्रीपार्श्वनाथमत्क........ बिंबसहितश्रीकुंवरविहाराभिधाने जैनचैत्ये...॥ प्रा ची न जै न ले ख सं ग्र ह शि ला ले ख, नं० ३५२।

(७) कुमारपाल ने विक्रम सं० १२१६ मार्गशीर्ष शुक्ला २ को उत्सवपूर्वक[3] जैन धर्म स्वीकार कर १२ व्रत (धार्मिक नियम) ग्रहण किए।

(८) हेमचन्द्र के जन्मस्थल और दीक्षास्थल पर क़ीमती मन्दिर बनवाए।

(९) हमेशा योग-शास्त्र और वीतराग-स्तोत्र का स्वाध्याय करता था।

जैन होने के बाद कुमारपाल की कीर्त्ति ख़ूब बढ़ी। अच्छे-अच्छे जैन कवियों और विद्वानों ने इस की कीर्त्तिगाथा गाई। व्याकरणादि ग्रंथों में उल्लेख किया। ग्रन्थकारों ने इस को परमार्हत और राजर्षि कहा है।

---

१. बहुत लोगों को एकत्र कर के अपने खर्च से जो लोग तीर्थों में यात्रा करने जाते हैं, उस को जैन लोग संघ कहते हैं, और ले जाने वाले को संघपति। कुमारपाल के इस संघ में हेमचन्द्र सूरि, वादिदेव सूरि, धर्म सूरि, ७२ सामंत, श्रीपाल, आभड, प० सिद्धपाल, राणा प्रह्लादन, राजा का दौहित्र प्रतापमल्ल, रानी भोपालदेवी, राजपुत्री लीलू प्रभृति एक लाख मनुष्य थे, ऐसा राजशेखर सूरि "प्रबन्ध कोष" के हेमचन्द्राचार्य-प्रबन्ध में लिखते हैं।

२. कुमारपाल के आध्यात्मिक जीवन का परिचय देने वाला "मोहपराजय" नाटक बहुत ही अच्छा है। यह ग्रंथ "प्रबोध-चन्द्रोदय" की पद्धति का है। परन्तु इस में किसी धर्म-विशेष का खंडन नहीं है। प्रो० पीटरसन (Peterson) ने डेक्कन कॉलेज में व्याख्यान देते हुए कहा था कि यह ग्रंथ क्रिश्चियन लोगों के 'पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस' पुस्तक जैसा है।

३. कुमारपाल के कुछ शैव और वैष्णव मन्दिरों के शिलालेखों में 'उमापतिवरलब्ध' विशेषण आता है। इस के आधार पर श्रीयुत के० हर्षदराय ध्रुव ने 'प्रियदर्शना' की प्रस्तावना में कुमारपाल का जैन न होना लिखा है, जो ठीक नहीं जँचता; क्योंकि वि० सं० १२१६ के पहले के लेखों में ही वैसा विशेषण दिखता है। तब तक वह जैन नहीं हुआ था। दूसरा कारण यह भी है कि चौलुक्य-कुल के मान्यदेव परंपरा से सोमनाथ महादेव हैं अतः जैन होने के बाद भी उस के लिए 'उमापतिवरलब्ध' कोई लिखे तो अनुचित नहीं है। जैन होने के बाद कुल-परंपरा छोड़ने को जैन धर्म नहीं कहता। जैन साधु होने के बाद भी इन्द्रभूति गणधर ने **गौतम गोत्र** रक्खा था। टॉड राजस्थान के कर्त्ता टोड साहब ने जैन बौद्ध को एक मान कर कुमारपाल को बौद्ध-धर्मी लिखा है। पृ० ७०९।

कुमारपाल में महत्त्वकांक्षा थी, वीरता और प्रताप था। कोंकण के पराक्रमी मल्लिकार्जुन राजा को हरा कर उस का करोड़ों का माल लूटा। इस को परास्त करने के लिए अम्बड सेनापति को भेजा था जो जैन था। दक्षिण में विजयनगर काञ्ची तक कुमारपाल का राज्य हो गया था। कुमारपाल पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशाओं में भी दिग्विजय करने गया। इस दिग्विजय में कुमारपाल को बहुत सफलता मिली। 'प्राकृत कुमारपाल चरित्र' (सर्ग ६) में इस का उल्लेख यों है—

दिग्विजय

(१) सिन्ध के राजा ने इस की आज्ञा मानी।

(२) यवन देश के राजा ने कुमारपाल की आराधना की।

(३) उव्वेश्वर इस का मित्र हुआ।

(४) वाराणसी का स्वामी वश हुआ।

(५) मगध और गौड के राजा ने इस राजा को भेंट दी।

(६) कान्यकुब्ज सेना का इस ने पराभव किया।

(७) दशार्णभद्र देश का राजा इस के भय से मर गया और उस का शहर लूट लिया गया।

(८) चेदि नगर के राजा का इस ने गर्व मिटाया।

(९) मथुरा के राजा ने कुमारपाल से माफी माँगी।

(१०) जाङ्गलपति ने नम्र होकर प्रार्थना की।

मतलब यह कि कुमारपाल की राज्य सत्ता दूर-दूर तक चारों[1] दिशाओं में फैल गई थी। दक्षिण में कोलापुर, उत्तर में जालन्धर, काश्मीर, पूर्व में चेदि, मगध, कुशार्त, दशार्ण और पश्चिम में सिन्ध, पञ्चनद, बाहक, सौराष्ट्र देश तक इस का राज्य हो गया था। सारा मारवाड, मालवा इस की सत्ता में आ गया था। सिद्धराज से इस ने अपनी राज्यसीमा बहुत बढ़ाई। सेना शस्त्रादि में वृद्धि की। बहुत नए राज्यों को अपने पुरुषार्थ से इस ने प्राप्त किया। इस के अधिकारियों में बहुत से जैन धर्मी थे। वे भी बड़े वीर थे। जैन धर्म की अहिंसा को न समझने वाले मानते हैं कि जैन धर्म कायर बनाता है। उन का यह अनुमान सर्वथा झूठा है। जैन धर्म में गृहस्थों के लिए तो इतनी ही अहिंसा है कि बे-गुनहगारों को न मारो[2]। जो देश, धर्म, राज्य और निज के गुनहगार हों उन को मारना श्रावक के लिए निषिद्ध नहीं है। इसी कारण श्रेणिक, कोणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति और कुमारपाल आदि जैन राजाओं ने वीरतापूर्वक भूमि का रक्षण किया है।

अठारह देशों का राज्य कुमारपाल की सत्ता में था। जिनमंडन सूरि ने कुमारपाल की सेना इस प्रकार लिखी है—११०००० घोड़े, ११०० हाथी, ५००० रथ, ७२ सामन्त और १८०००० पैदल सेना थी। मेरे पास जो अमुद्रित गुर्जरराज भूपावली है उस में तो सेना की संख्या बहुत बड़ी लिखी है जो मानने योग्य नहीं दीखती।

कुमारपाल का सैन्यबल

१ श्री महावीरचरित में लिखा है—

स कौबेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिदशापगाम्।
याम्यामाविन्ध्यमावार्धि पश्चिमां साधयिष्यति ॥ १२—२१ ॥

अर्थात् कुमारपाल उत्तर में यवन देश तक, पूर्व में गङ्गा तक, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्यन्त और पश्चिम में समुद्र तक अपनी राज्यसत्ता फैलावेगा।

२ निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्॥ हैम योगशास्त्र।

यद्यपि प्रारम्भ में कुमारपाल सिद्धराज के इतना विद्वान् नहीं था, और मेरे ख़याल से विद्या का उतना व्यसनी भी नहीं होगा, तो भी हेमचन्द्र जैसे सर्व-शास्त्रीय विद्वान् के सङ्ग से उस में विद्या, कला और साहित्य का प्रेम बढ़ता गया। उस के अधिकारियों में कपर्दी मन्त्री बहुत बड़ा कवि और विद्वान् था। वाग्भट्टादि अच्छे कवि थे। एक बार उपमा की जगह औपम्य शब्द बोलने से कपर्दी मन्त्री ने उपहास किया। राजा को अपनी कमज़ोरी मालूम हुई तब उस ने व्याकरण और काव्य-शास्त्र का काफ़ी अभ्यास किया। उसके बाद वह 'विचारमुख', 'कवि-बान्धव' उपाधियों से प्रसिद्ध हुआ। विद्वानों का स्वागत भी अच्छा करने लगा। देवबोधादि भिन्न-भिन्न मत के विद्वान् और संन्यासी उस की राजसभा में अपनी विद्वत्ता दिखलाने आते थे। हेमचन्द्र, रामचन्द्र, श्रीपाल, सिद्धपाल, कपर्दी आदि पण्डितों से उस की पण्डित-सभा[1] विश्व-विख्यात हो गई थी। सोलाक नाम के एक सङ्गीतज्ञ के ऊपर प्रसन्न होकर राजा ने उस को अच्छा इनाम दिया था। शिल्प[2] का भी ख़ूब विकास हुआ था। राजा की प्रार्थना से आचार्य हेमचन्द्र ने "योग-शास्त्र", "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" और "वीतराग-स्तोत्र" की रचना की थी। इसी को राजनीति का ज्ञान कराने के लिए हेमचन्द्र ने अर्हन्नीति ग्रन्थ बनाया जो कौटिल्य-अर्थशास्त्र की पद्धति का है। कई ग्रन्थ-कारों ने इसके राज्य में रहकर ग्रन्थ बनाए हैं। दूताङ्गद नाम का छाया-नाटक भी इसी की यात्रा में बना है।

ज्ञान-कला-प्रेम

कुमारपाल में ख़ुद काम करने की आदत थी। अधिकारियों के ऊपर ही भरोसा रखना वह अच्छा नहीं समझता था। चन्द्रगुप्त सुकुमार और धीरललित था पर कुमारपाल धीरोदात्त था। इस में परस्त्री-पराङ्-मुखता और युद्ध-कुशलता सिद्धराज से बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, ऐसा प्रबन्ध-चिन्तामणि में लिखा है। यह अपनी श्लाघा नहीं सुनना चाहता था। यही कारण है कि यह ख़ुशामदी लोगों का शिकार नहीं हुआ। यह बड़ा कृतज्ञ था।

गुण

जो सम्बन्ध चन्द्रगुप्त का चाणक्य के साथ था वही कुमारपाल का हेमचन्द्र के साथ रहा[3]। विद्वत्ता की दृष्टि से विक्रम और हर्ष के साथ कालिदास और बाण के समान हेमचन्द्र का सम्बन्ध था। अतः यदि हेमचन्द्र का कुछ भी परिचय न दिया जाय तो कुमारपाल का वृत्तान्त अधूरा ही रहता है। हेमचन्द्र का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आचार्य हेमचन्द्र

हेमचन्द्र का जन्म वि० स० ११४५ कार्तिक शुक्ल १५ को धन्धुका में, मोढवश में, हुआ। वि० सं० ११५० में देवचन्द्र सूरि के पास ये जैन साधु की दीक्षा लेकर सर्वशास्त्रों में पारङ्गत हुए। इन की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। न्याय, व्याकरण, काव्यालङ्कार, छन्द[4], कोष, अध्यात्म सभी विषयों पर इन के ग्रन्थ हैं, जिन की श्लोकसंख्या साढ़े तीन करोड़ कही जाती है। प्रबन्धशतकर्ता रामचन्द्र सूरि आदि इन के विद्वान् शिष्य थे। हेमचन्द्र तप-त्याग और ब्रह्मचर्य के अवतार थे। इन की आयु ८४ वर्ष की थी।

---

१. निवसइसुहावयंसा विइया गुरुणो अवीयगुणनिवहा।
निवसन्ति अणेग बुहाजस्सि पुहवीस सलहिज्जे॥ प्रा० द्व्या० सर्ग १—४। इसमें पाटण का उदात्त वर्णन है।

२. अणहिलपुर के राज्य-काल में शिल्प-विद्या की जितनी उन्नति हुई थी उतनी दूसरे किसी काल में नहीं हुई। **टॉड-राजस्थान।**

३. पर कुमारपाल की भक्ति चन्द्रगुप्त से अधिक थी इसका कारण यह है कि हेमचन्द्र एक तपस्वी धर्माचार्य भी थे; परन्तु चाणक्य गृहस्थ थे।

४. मल्लिनाथ की टीकाओं आदि सैकड़ों ग्रन्थो में "इति हैमः" से इन के कोष के उदाहरण दिखते हैं।

सिद्धराज की तरह कुमारपाल को भी कोई पुत्र न था। अपना उत्तराधिकारी बनाने के विषय में उस ने हेमचन्द्र सूरि से सलाह पूछा। आचार्य ने राजा के दौहित्र प्र ता प म ल्ल को राज्याधिकारी बनाने को कहा, और अजयपाल के लिए साफ मना कर दिया, क्योंकि वह मूर्ख, दुराचारी और कायर था। हेमचन्द्र के शिष्य बालचन्द्र ने अजयपाल से ये सब बातें कह दीं। अजय पाल को हेमचन्द्र के ऊपर बड़ा क्रोध आया। वह कुमारपाल का भतीजा लगता था और महिपाल का पुत्र था। अजयपाल के जहर देने से वि० स० १२३० म कुमारपाल की मृत्यु हुई। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास वि० स० १२२९ में राजा के पहले ही हो चुका था। इस से भी राजा को बड़ा आघात पहुँचा था[1]।

कुमारपाल का उत्तराधिकारी या स्वर्गवास

अजयपाल ने वि० स० १२३० म कुमारपाल का राज्य ले लिया। द्वेष और दुष्टता से उस ने हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सम्बन्धियों को घोर यातनाएँ दीं। कपर्दी मन्त्री को तेल के कड़ाह में भूनकर मरवा डाला। रामचन्द्र सूरि को तप्त शिला पर बैठाकर मरवाया। कई 'कुमार विहार मन्दिर' तुड़वाए। दीप के नीचे अँधेरे की तरह यह अजयपाल अयोग्य निकला। इस कुनृपति का राज्य तीन ही वर्ष टिका। इसी के एक प्रतिहारी ने इसे छुरी से मार डाला। अत्युग्र पाप का फल शीघ्र मिलता है।

कुमारपाल सोलङ्कियों का अन्तिम प्रतापी राजा हुआ। उस ने अपने प्रताप से गुजरात की और सोल ङ्कियों की कीर्ति खूब बढ़ाई। अपने पूर्व के सभी सोलङ्कियों से राज्य सत्ता भी खूब फैलाई थी। किन्तु इस के बाद के तीन राजाओं के कमजोर और अयोग्य होने से गुजरात का राज्य गया। कुमारपाल जैनधर्मी था, बाकी सभी वैदिक मत के थे। हमें दुःख है कि कुमारपाल या सोलङ्कियों के विषय में देशी भाषा म कोई सम्पूर्ण प्राप्त ग्रन्थ या लेख किसी ने नहीं लिखा है। गुजरातियों के लिए तो यह शर्म की बात है।

उपसंहार

सङ्कोच से लिखने पर भी, विषय व्यापक होने के कारण, लेख बहुत बढ़ गया है, एतदर्थ पाठक क्षमा करें।

आज्ञावर्त्तिषु मण्डलेषु विपुलेष्वष्टादशस्वादरात्
　　अब्दान्येव चतुर्दशप्रसृमरीं मारि निवार्योजसा।
कीर्त्तिस्तम्भनिभाँश्चतुर्दशशतीसंख्यान् विहारांस्तथा
　　कृत्वा, निर्मितवान् कुमारनृपतिर्जैनो निजैनोव्ययम्॥

---

१ दे० 'प्रबन्ध-कोष' कुमारपाल प्रबन्ध और जैन युग की राज शायजी।

जावा के हिन्दू-साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय एवं उन की ऐतिहासिक उपयोगिता

श्रीयुत बहादुरचन्द्र शास्त्री, लाइडन विद्यापीठ।

रामायण[1], महाभारत आदि तथा बौद्ध-साहित्य के जातक, अवदान आदिक अनेक प्राचीन ग्रन्थों में जावा, सुमात्रा प्रभृति द्वीपों के सम्बन्ध में नाना उल्लेख मिलते हैं सही; परन्तु खेद है कि उन से, उन द्वीपों पर भारत-वासी कब आए, क्यों आए तथा उन्हों ने वहाँ पर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किस प्रकार किया, इत्यादिक ऐतिहासिक विषयों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। तद्विपरीत उन द्वीपों पर आज तक जो प्राचीन ध्वंसावशेष—यूप, स्तूप, मन्दिर, विहार आदिक—प्राप्त हुए हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारत से आर्य लोग वहाँ आए, बसे एवं वणिज-व्यापार और धर्म का प्रचार करते रहे। यह अभी तक निश्चय से नहीं कहा जाता कि सब से पहले भारतवासियों ने इन द्वीपों पर पदारोपण कब किया। हाँ, वहाँ से प्राप्त कई एक संस्कृत के शिलालेखों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी और चौथी ईसवी शताब्दी में हिन्दू लोग वहाँ मौजूद थे। अभी तक यहाँ से जितने भी ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं, उन में से ये शिलालेख ही सब से पुराने हैं, और उन से यही पता चलता है कि दक्षिण भारत से ब्राह्मण लोग[2] यहाँ आए और उन्हों ने शैव मत का प्रचार किया; जहाँ कि आशा यह हो सकती है कि ईसा से २३५ वर्ष पूर्व जब कि सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए देशान्तरों और द्वीपान्तरों में भिक्षुगण भेजे तो कुछ भिक्षु जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में भी आए होंगे। परन्तु यावदुपलब्ध प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी यहाँ वैदिक-धर्मावलम्बियों की अपेक्षा एकाध शताब्दी बाद पहुँचे। किञ्च बौद्ध धर्म यहाँ अधिक मात्रा में और अधिक वेग से फैला—यह बात वहाँ के स्तूप आदि अनेक स्मारकों से स्पष्ट है। यह बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जावा आदि द्वीपों पर शैवों और बौद्धों में, धर्म के विषय में, परस्पर कोई विरोध नहीं था; प्रत्युत आगे चल कर दोनों में दूध और मिश्री का सा सम्मिश्रण पाया जाता है। सिंहसारी का महाराज कृतनगर[3] शिव और बुद्ध दोनों का उपासक था। उस की उत्कट भक्ति के कारण लोग उसे शिव-बुद्ध कहा करते थे। उस की स्मृति में शिव-बुद्धालय

जावा आदि द्वीपों में हिन्दुओं का आगमन

---

१. उदाहरणार्थ—वाल्मीकीय रामायण ४ (किष्किन्धा काण्ड) ४०, ३०। यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्, इत्यादि। कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों मे भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं।

२. "तस्य पुण्यस्य यूपोऽयं कृतो विप्रैरिहागतैः" इत्यादि—दे० फ़ोखल—'दि यूप इस्क्रिप्शन ऑफ़ किंग मूलवर्मन् फ़्राम कुटे (पूर्व बोर्नियो); बीतश्रागन् टट डे टॉल-लंड-एन फ़ल्केन कुंडे फॅन नीदरलंड्स इंडिया (१९१८) भाग ७४, पृ०१६७-२३२। यह लेख अँगरेज़ी भाषा में है।

३. इस के विषय में अधिक विवरण नीचे दिया गया है।

नाम का एक मन्दिर बनवाया गया, जिस में शिव और बुद्ध दोनों की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई। यह मन्दिर अब चण्डी[1] जवी के नाम से प्रसिद्ध है।

बाद में अरब से मुसलमान लोग यहाँ आने लगे, उन्हों ने अपने मत का प्रचार किया। अन्त में यहाँ योरुपीय जाति वालों का आगमन हुआ जो अपना ईसाई मत साथ लाए। फलत आज उन द्वीपों पर उक्त चारों धर्म अथवा चारों मत कई अंशों में मिश्रित और कई अंशों में पृथक् पृथक् विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में जावा आदि द्वीपों का चीन आदि देशों के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और चीन देश का प्राचीन इतिहास भारत के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित दशा में वर्त्तमान है। उस से भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के चिह्न जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली प्रभृति अनेक द्वीपों पर मिलते हैं, किन्तु उन सब में आरम्भ से ही जावा की ही प्रधानता रही है, जैसा कि आज भी राजनैतिक दृष्टि से पूर्वीय द्वीप समूह में जावा ही प्रधान गिना जाता है।

हिन्दू-जावा इतिहास और तदर्थ सामग्री

जावा के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी आज तक कई एक छोटे मोटे ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके हैं। एक सर्वोत्तम और शृङ्खलाबद्ध इतिहास[2] सम्भवत लेयिदन विश्वविद्यालय के सुयोग्य प्रोफेसर डाक्टर एन० जे० क्रोम ने ही लिखा है, और यह डच भाषा में है। अपने इस ग्रन्थ के पहले परिच्छेद में उन्हों ने उक्त इतिहास के निर्माण में यावदुपलब्ध साधनों का विवरण दिया है। सारी सामग्री को उन्हों ने दो वर्गों में विभक्त किया है—आन्तरीय और बाह्य। आन्तरीय' से उन का अभिप्राय उन साधनों से है जो स्वय जावा द्वीप से उपलब्ध हुए हैं, एव 'बाह्य' से वे साधन अभिप्रेत हैं जो भारत, चीन, अरब आदि देशों के इतिहास-ग्रन्थों से जावा सम्बन्धी उल्लेखों के रूप में मिलते हैं। आन्तरीय साधन वर्ग के पुन कई एक अवान्तर भेद किए गए हैं, जैसे—शिलालेख, मन्दिर-स्तूपादि, ध्वंसावशेष, साहित्य इत्यादि। शिलालेख[3] यहाँ सर्वमुख्य और सर्वमान्य प्रमाण हैं। एक तो ये, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सब से पुराने हैं, दूसरे इनमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं उठ सकती, जैसा कि ग्रन्थों के विषय में प्रक्षेप आदि का सन्देह कोई भले ही उठाता रहे। दूसरा नम्बर मन्दिर, स्तूपादि ध्वंसावशेषों[4] का है। यद्यपि ये शिलालेखों के समान सुदृढ़ प्रमाण नहीं तथापि इतने दृढ़ अवश्य हैं, और इन से हिन्दू-जावा इतिहास के निर्माण में बहुत कुछ सहायता मिली है। तीसरा स्थान साहित्य का है और यही प्रस्तुत लेख का विषय है। उस का पूरा परिचय[5] कराना असम्भव है, यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र करायेंगे।

---

१ चण्डी' शब्द का अर्थ मन्दिर अथवा सामान्यत धर्मस्थान है। जावा में प्रत्येक मन्दिर के नाम के पहले इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—चण्डी पाम्बनन चण्डी कालसन चण्डी सारी इत्यादि।

२ डॉ० एन्० जे० क्रोम—'हिंदू जवान्शे गिशीडनिस्' प्रावेनहाग (हेग) द्वितीय संस्करण, संशोधित और परिवर्धित १९३१।

३ दे० फोगल—'दि अर्लियस्ट संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स आफ जावा' पुब्लिकेटीज़ वन डेन आउडहेड कुंडिगेन डींस्ट इन् नीडरलैंड्स इंडिया, भाग १–१९२५। द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ काशी १९३०, पृ० २१६ प।

४ हिन्दू जावा शिल्प" डॉ० क्रोम का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ है जो उन के पहले कहे हुए 'हिन्दू जावा इतिहास" नामक ग्रन्थ की पूर्ति करता है। डॉ० एन् जे० क्रोम—इन्लइडिंग टट दे हिन्दू जवान्शे कुन्स्ट प्रावेनहाग, १९२३। यह ग्रन्थ भी डच भाषा में है। यह तीन जिल्दों में है और ११२ छायाचित्रों और मानचित्रों से युक्त है।

५ लेयिदन विश्वविद्यालय के ही प्रोफेसर डॉक्टर सी० सी० बेर्ग ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिस में उन्हों ने जावा के

शुरू से ही जावा का साहित्य वहाँ के शासकों के अधीन फला-फूला है, और समय-समय पर उन के अध:पतन और अभ्युत्थान के साथ-साथ इस में भी ह्रास-विकास होता रहा है। इस दृष्टि से जावा की राजनैतिक परिस्थिति का एक सिंहावलोकन यहाँ सर्वथा असङ्गत न होगा। किञ्च इस बात का जता देना यहीं आवश्यक प्रतीत होता है कि जावा के शासकों के परस्पर के संघर्ष से वहाँ के साहित्य को भारी हानि पहुँची है, और फलत. दसवीं शताब्दी से पूर्व का साहित्य सर्वथा लुप्तप्राय है। आज वहाँ जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं सब पीछे के हैं।

जावा के राजनैतिक हेर-फेर

रामायण मे जावा पर सात राज्यों का होना लिखा है—सप्तराज्योपशोभितम्—और यथार्थ ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रमाणो से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि जावा कई राज्यों में बँटा हुआ था। तो भी जावा सदा से तीन मुख्य विभागों मे विभक्त रहा है—पश्चिमीय, मध्य और पूर्वीय। पश्चिमीय जावा से कई एक संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। उन में तिथि, संवत् आदि का कोई उल्लेख नहीं; किन्तु लेखन-शैली के आधार पर चौथी, पाँचवीं शताब्दी का अनुमान किया गया है। उन से पता चलता है कि उन दिनों उस प्रदेश मे तारुम नाम का राज्य था और पूर्णवर्मा नाम का शासक। किन्तु इस तारूम राज्य का मध्य जावा और पूर्वीय जावा के साथ क्या सम्बन्ध रहा है—इस विषय में इतिहास अभी तक चुप है। इस के बाद सातवीं शताब्दी मे मध्य जावा मे श्रीविजय नाम के साम्राज्य का होना पाया जाता है। यह राजवंश शैलेन्द्र नाम से प्रसिद्ध है। जगद्विख्यात बर्बुदर के स्तूप एवं अन्य कई बौद्ध स्मारकों की रचना इन्हीं के काल में हुई थी। इन का इतिहास कुछ तो मध्य जावा से प्राप्त इन्हीं के शिलालेखों से और बहुत कुछ चीन देश[1] के इतिहास-ग्रन्थों से मिलता है। किन्तु इन का इतिहास भी अभी अधूरा पड़ा है। इस बात का भी अभी तक ठीक निश्चय नहीं हुआ कि इस श्रीविजय साम्राज्य का मूलस्थान सुमात्रा द्वीप में था अथवा जावा में[2]। नालन्दा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के पालवंशीय देवपालदेव नामक राजा के ताम्रपत्र लेख[3] में तत्समकालीन सुमात्रा के शैलेन्द्रवंशीय बालपुत्र नामक राजा का जो उल्लेख मिलता है, उस से भारत से सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों पर बौद्ध धर्म के प्रचार के विषय मे खूब प्रकाश पड़ता है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस प्रतापशाली साम्राज्य का अध.पतन शुरू हो गया, जिस के कई एक कारण हैं। दक्षिण भारत के चोळवंशीय[4] राजाओं के साथ वैमनस्य भी श्रीविजय के अध पतन मे एक प्रधान कारण है। इसी बीच मे जावा पर कई एक छोटे-बड़े नए राज्य उठ खड़े हुए। समीप-

---

साहित्य और भाषा-विषयक एक सुविस्तृत वर्णन दिया है। सी० सी० बेर्ख—'किडुङ् सुंडायन', इन्लाइडिङ् टट डे स्टूडियवन हेट औड जवान्शे, सूराकर्ता (जावा) १६२८। किञ्च प्रो० बेर्ख का एक लेख अँगरेज़ी भाषा में भी निकला है—'हिन्दू लिटरेचर इन् जावा'; 'इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स', लंदन, न्यू सिरीज, जि० ६, नं० २, १६३२, पृ० १२२–१४१।

१. लियङ-वंश (५०२—५५६), तङ-वंश (६१८—६०६), सुङ वंश (६६०-१२७६), युएन-वंश (१२८०-१३६७), मिङ-वंश (१३६८-१६४३) इत्यादि वंशों का इतिहास यहाँ आलोचनीय है। इन के संक्षिप्त विवरण के लिए दे० डब्ल्यू० पी० ग्रूनेवेल्ट—नोट्स ऑन दि मलाय आर्चीपलेगो ऐंड मलक्का, कंपाइल्ड फ्रॉम चाइनीज सोर्सेज़; 'वाहाडिलिगेन वन हेट बटावियाश गेनूटशप्' ३६ (१८७६), पहले भाग मे।

२. दे० २५ पृष्ठ की एक पुस्तिका—डॉ० डब्ल्यू० एफ़० स्टुटेरहाइम—'ए जावानीज़ पीरियड इन् सुमात्रन् हिस्ट्री'; सूराकर्ता (जावा) १६२६।

३ ए० इं० जि० १७, भा० ७ (जु०, १६२४)।

४ हुल्ट्स, साउथ इंडियन् इंस्क्रिप्शन्स ३, (१६०३) पृ० १६२, १६५, २०५। दे० वीरराजेन्द्र चोळ प्रथम की प्रशस्ति।

वर्ती वाली द्वीप से ऐरलङ्ग नाम के व्यक्ति ने अवसर पाकर जावा का पूर्वीय भाग अपने वश में कर लिया और क्रमश वहाँ एक राज्य स्थापित कर लिया। इस की मृत्यु के अनन्तर इस का राज्य दो हिस्सों में विभक्त हुआ—एक जङ्गल अथवा कौरिपन, और दूसरा दह अथवा दहन अथवा काडरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐरलङ्ग ने इधर वाली द्वीप पर भी अधिकार जमा लिया था। किन्तु बाद में वाली द्वीप वालों ने अपने आप को स्वतन्त्र कर लिया, और इधर पूर्वीय जावा पर कनङ्गक नाम के एक साहसी व्यक्ति ने काडिरी का राज्य दबा लिया। राजा होने पर यह राजस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस की सन्तान म आगे चलकर, तेरहवीं शताब्दी के मध्य में, कृतनगर नाम का प्रभावशाली राजा हुआ, जिस ने सिहसारी नामक राजधानी एव राज्य की स्थापना की। इस ने वाली द्वीप को भी अपने अधीन कर लिया। किन्तु तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जयकतवङ्ग नामक एक अधिकारी के हाथों इस का वध हुआ। जयकतवङ्ग स्वय राजा बनना चाहता था। इधर कृतनगर के दामाद विजय ने चीनी शासकों की सहायता से इस जयकतवङ्ग को मार भगाया। किन्तु इस मुठभेड में सिहसारी का राज्य छिन्न भिन्न हो गया और वाली द्वीप फिर स्वतन्त्र हो गया। विजय ने अब जिस नए राज्य का स्थापना की वह क्रमश मजपहित[1] नाम के साम्राज्य में परिणत हो गया, जो दो सौ साल से अधिक समय तक फला फूला (१२९३-१५२५)। इस में भी पारिवारिक झगडों के कारण कई हेर फेर होते रहे। इस का अन्तिम शासक हयम्वुरुक था। इस ने अपने साम्राज्य का सञ्चालन-भार गजमद नामक अधिकारी के हाथों में दे रक्खा था। इस ने वाली द्वीप पर फिर अधिकार जमाया। अन्त में कइ कारणों से मजपहित का साम्राज्य भी मन्द पड़ गया, और बाद में इसी वश के कुछ अधिकारियों ने मतरम नाम के राज्य का स्थापना की, जिस का तब से प्राधान्य रहा। इन अन्तिम राज्यों तथा साम्राज्यों का मूलस्थान पूर्वीय जावा हो रहा है, किन्तु इन्हों ने मध्य जावा और द्वीपान्तरों पर भी अपना अधिकार जमा रक्खा था। इसी बीच पश्चिमीय जावा और मध्य जावा में अरब से मुसलमान सौदागरों का आगमन हो चुका था। शुरू में इन लोगों का उद्देश्य केवल व्यापार ही था, पर क्रमश ये लोग अपने मत का प्रचार भी करने लगे और जावा के राजनैतिक विषयों म भी हस्तक्षेप करने लगे। बाद में योरुप से पुर्तगीज और डच लोग आने लगे, उन्हों ने भी वैसा ही किया। फलत वहाँ की सभ्यता और सस्कृति में कई परिवर्तन हुए।

जावा के जिन शासकों का अभी तक कुछ परिचय मिलता है उनकी एक सूची नीचे दी जाती है—

जावा के शासक (१२९२ ईसवी से पहले)

पश्चिमीय जावा		मध्य जावा	
देववर्मा (?)	१३२	सिमा	६७४
पूर्णवर्मा	±४००	रके मतराम, सञ्जय	७३२
पश्नोतोकित्म	४२४	,, पणङ्करण	७७८
द्वारवर्मा (?)	४३५	,, पुनङ्गलन	
जय भूपति	१०३०	,, वरक	

१ प्रशस्तियों में इस का दूसरा नाम 'तिक्तविल्व' मिलता है। नागर कृतागम ग्रन्थ में इस के और भी कई नाम मिलते हैं, जैसे श्रीफलतिक्त, तिक्तश्रीफल, तिक्तमालूर इत्यादि। मजपहित सम्भवत यव भाषा का शब्द है, जिस का अर्थ भी 'तिक्तबिल्व' आदि ही है। जावा में के राज्यों के नाम बहुधा राजधानी के नाम से ही प्रसिद्ध है। मजपहित भी वस्तुतः राजधानी का नाम है।

मध्य जावा	
रके गरुङ्ग	८२६ या ८३६
,, पिकतन	८६४ (?)
,, कयुवङ्गि	८७६-८८२
,, वतुहुमलङ्ग	८८६
मध्य और पूर्वीय जावा	
रके वतुकुर, वलितुङ्ग	८६८-६१०
,, हिनो, दच	६१५
,, लयङ्ग, तुलोडोङ्ग	६१६-६२१
,, पङ्कज, वव	६२४-६२८
पूर्वीय जावा	
देवसिंह	...
गजयान	...
अ···नन (?)	७६०
रके हिनो, सिण्डोक	६२६-६४७
लोकपाल	६५०
मकुटवंश वर्धन	...
धर्मवंश अनन्तविक्रम	६६१-१००७
रके हलु, ऐर्लङ्ग	१०१६-१०४२
,, ,, , जुरु (? जङ्गल)	१०६०
जयवर्ष (काडिरी)	११०४
कामेश्वर पहला	१११५-११३०
जयभय	११३५-११५७
सर्वेश्वर पहला	११६०
आर्येश्वर	११७१
क्रौञ्चार्य दीप, गन्द्र	११८१
कामेश्वर दूसरा	११८५
सर्वेश्वर दूसरा, शृङ्ग	११६४-१२००
कृतजय	१२१६-१२२२

सिंहसारी और मजपहित के शासक

राजस	१२२२-१२२७
अनूपपति	१२२७-१२४८
तोहजय	१२४८
विष्णुवर्धन	१२४८-१२६८
कृतनगर	१२६८-१२६२
जयकत्वङ्ग	१२६२-१२६३
कृतराजस, जयवर्धन	१२६३-१३०६
जयनगर	१३०६-१३२८
त्रिभुवना*	१३२६-१३५०
राजसनगर	१३५०-१३८६
विक्रमवर्धन	१३८६-१४२६
सुहिता*	१४२६-१४४७
क्रेतुमपल	१४४७-१४५१

* शासिका

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जावा का अति प्राचीन साहित्य लुप्तप्राय है। शैलेन्द्र वंश के समय में जावा के साहित्य में खूब वृद्धि हुई होगी, किन्तु उस समय के बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं। ऐरलङ्ग के समय से लेकर पूर्वीय जावा में जो साहित्य भाण्डार विद्यमान था उस का बहुत सा हिस्सा आज सुरक्षित मिलता है और वही आज प्राचीनतम गिना जाता है। स्वयं जावा में बहुत से ग्रन्थ नष्ट हो चुके थे, किन्तु पूर्वीय जावा का बाली द्वीप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, इस से जावा का साहित्य बहुत अंश में बाली द्वीप पर भी पहुँच चुका था। इधर पूर्वीय जावा पर राजनैतिक हेर फेरों में जो साहित्य लुप्त हो गया, वह आज बाली द्वीप से मिल रहा है। बाली द्वीप पर साहित्यिक विषय में भी कुछ स्वातन्त्र्य रहा है, और इस के फलस्वरूप एक जावा बाली नाम की भाषा का आविर्भाव हुआ। अन्त में मतरम राज्य के अधीन मध्य जावा में पुनः साहित्य का प्राबल्य हुआ। कई ग्रन्थों के अनुवाद हुए और कई ग्रन्थ नए लिखे गए। भाषा में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका था, जिस से अनुवादों की आवश्यकता हुई। पूर्वीय जावा के भारतयुद्ध आदिक ग्रन्थ अब 'ब्रतयुध' आदि के रूप में आए।

जावा साहित्य की दशा

देश-काल के उक्त परिवर्त्तनों के अनुसार जावा की भाषा भी आजकल तीन मुख्य विभागों में विभक्त की जाती है—प्राचीन यव भाषा जिस का प्रयोग दसवीं शताब्दी से पूर्वीय जावा में होता था और जिस का साहित्य आज सब से पुराना माना जाता है, मध्य यव भाषा जिस में बाली द्वीप की भाषा का भी सम्मिश्रण हो गया था और जिस का प्रयोग तत्कालीन साहित्य में हुआ, नव्य यव भाषा, जो मतरम राज्य के समय से आज तक प्रचलित है, और जिस में प्रायः प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद मिलते हैं।

यव भाषा[1]

इसे ह्रास समझा जाय या विकास, किन्तु जावा के प्राचीन साहित्य में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, और ज्यों ज्यों आगे चलते हैं, त्यों-त्यों या तो संस्कृत शब्दों के विकृत रूपों का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है अथवा संस्कृत शब्दों के स्थान पर स्वयं यव भाषा के शब्दों का। कहीं कहीं संस्कृत शब्दों के आगे पीछे एवं मध्य में कई प्रकार के प्रत्यय और आगम जोड़े गए हैं जिस से संस्कृत शब्द का रूप पहचानना दुष्कर हो जाता है। यव-भाषा में पृथक् क्रियापदों का अभाव है, प्रायः संज्ञावाचक शब्दों के साथ कई तरह आगम जोड़ कर क्रियापदों एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के अर्थों का बोध कराया जाता है, जैसे आकर्षण से काकर्षण=खींचा हुआ, क्षति से कात्ति=देखा हुआ, एवं स्नान से अड्नस, इननमाकन्, पहनम इत्यादि, चय से सचय, चिनन इत्यादि। इससे शब्दों के अर्थ निर्धारण में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अभी तक इस भाषा का कोई अच्छा व्याकरण नहीं लिखा गया। कई डच विद्वानों ने इस विषय में ध्यान दी है और व्याकरण के ग्रन्थ लिखे भी हैं, पर इस विषय में अभी बहुत कुछ करना शेष है। दूसरी कठिनाई यह है कि यव-भाषा का कोई कोष भी नहीं मिलता। ग्रन्थों के परिशीलन से और शब्दों की तुलना के आधार पर डच विद्वानों ने यव-भाषा के कई एक कोष लिखे हैं, पर अर्थों के विषय में बहुधा मतभेद ही है। तीसरी कठिनाई यव भाषा की लेखन प्रणाली है। यहाँ ह्रस्व दीर्घ का कोई विचार नहीं, क और ग, द और ध आदि अक्षरों में परस्पर कोई भेद नहीं किया जाता। श्र के स्थान पर बहुधा ह का प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही कई कारणों से यव-भाषा का अध्ययन टेढ़ी खीर है।

1 जावा की भाषा, संक्षेपार्थ जावा भाषा के लिए यव-भाषा शब्द का प्रयोग किया गया है।

हाँ, संस्कृतज्ञों के लिए यव-भाषा के रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ अपेक्षा बुद्धि से कुछ सुगम हैं, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े उद्धृत किए गए हैं, कहीं एक चरण, कहीं आधा श्लोक, कहीं पूरा श्लोक। शुरू में जो ग्रन्थ यव-भाषा में लिखे गए हैं वे बहुधा संस्कृत ग्रन्थों के शब्दशः अनुवाद हैं, बाद में उन की व्याख्याएँ हुईं और उन के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए, जो अब दुर्बोध हैं। जावा में इन ग्रन्थों का कुल-परम्परा से अध्ययन नहीं होता रहा, और बीच-बीच में वहाँ के राजनैतिक हेर-फेरों से वहाँ की प्रथाएँ भी भग्न होती रहीं, जिस से उक्त ग्रन्थों का अध्ययन आज स्वयं जावा-निवासियों के लिए भी कुछ कम दुर्गम नहीं।

आज जावा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं, उन में से रामायण और महाभारत सब से पुराने हैं। ये गद्यमय अनुवाद हैं, और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन के बीच-बीच में संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े उद्धृत हैं।

जावा-साहित्य का स्वरूप

महाभारत यद्यपि जावा पर सम्पूर्ण विदित था, क्योंकि कई स्थानों पर इस का 'अष्टादश पर्व' से उल्लेख हुआ मिलता है, परन्तु वहाँ से अभी तक इस के आठ पर्व ही मिले हैं—आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। इस के बाद वस्तुतः जावा का अपना साहित्य आरम्भ होता है, जिस के ककविन्, किडुङ्ग, पञ्जी, लुलुङ्गिद, बबद, लकोन इत्यादि कई भेद हैं।

ककविन् का अर्थ काव्य है। 'कवि' शब्द से संस्कृत में जहाँ भाववाचक 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ उसी 'कवि' शब्द से उसी अर्थ में 'ककविन्' शब्द का यव-भाषा में प्रयोग हुआ है। यहाँ ककविन् से अभिप्राय महाकाव्यों से है, क्योंकि ये 'सर्गबन्ध' इत्यादि संस्कृत के महाकाव्यों के लक्षणों का अनुसरण करते हैं। इन में संस्कृत के छन्दों का ही प्रयोग किया गया है।

जावा-साहित्य में बहुत से ककविन् देखने में आए हैं। कुछ का नाम-निर्देश यहाँ किया जाता है—अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मरदहन, रामायण, भोमकाव्य, ब्रह्माण्डपुराण, सुतसोम (अथवा पुरुषादशान्त), सुमनसान्तक, कृष्णायन, रामविजय, रत्नविजय इत्यादिकों में वर्णित विषय तो इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु कई एक ऐसे हैं जिन का वृत्त सर्वथा कवि-कल्पित है, जैसे वृत्तसञ्चय (चक्रवाकदूत, यह वस्तुतः खण्ड-काव्य है), नीतिसार, लुब्धक, कुञ्जरकर्ण, अङ्गवञ्चन, धर्मसवित (धर्मसहित ?) और धर्मशून्य, देवरुचि, मनुक् अभ, सङ्गुतडिस्, पससङ्कलन, नागर कृतागम (यह महाकाव्य की शैली पर ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जा सकता है), चण्डकिरण, उसनबाली, अजडनिरर्थ इत्यादि। इन में से एकाध का परिचय नीचे दिया जायगा।

किडुङ्ग भी वस्तुतः एक प्रकार के महाकाव्य ही हैं। ककविन् से इन का मुख्य भेद यह है कि इन में संस्कृत छन्दों का प्रयोग नहीं, प्रत्युत जावा के अपने छन्दों का प्रयोग किया गया है। किञ्च इन में की भाषा बहुत कुछ अर्वाचीन है, प्रतिपाद्य विषय भी सर्वथा जावा द्वीप से ही सम्बन्ध रखता है।

कुछ मुख्य किडुङ्गों के नाम ये हैं—सुदमल, सुन्द, सुन्दायन, रामायण, नवरुचि, सुमनसान्तक, आदि-पर्व, अर्जुन-प्रलब्ध, दवुहवले अङ्गुङ, कुन्तीम, वड्वड, अस्तुति, भीमस्वर्ग, धर्मजाति, शुद्धमल इत्यादि।

रामायण, सुमनसान्तक आदिक ककविनों में भी आए हैं और यहाँ भी। कथावस्तु वही है किन्तु छन्दोभेद और भाषाभेद के रूप से वे यहाँ भी मिलते हैं। भाषान्तर करते समय लेखक कभी तो मौलिक ग्रन्थ का नाम ही रखता है, कभी नाम बदल भी देता है। अर्जुन-विवाह के कई भाषान्तर किए गए, एक का नाम मित्तराग है, जो किडुङ्गों में गिना जाता है।

पर्वा और लुलुङ्गिद गद्य ग्रन्थ हैं और प्राय पञ्चतन्त्र के समान नीति की कथाएँ इन का विषय है। विविध आख्यान और आख्यायिकाएँ भी इसी के अन्तर्भूत हैं। तन्त्र कामन्दक नाम का मध्य यव भाषा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस का विषय पञ्चतन्त्र का ही है पर कथाओं में बहुत अन्तर है, किञ्च कथामुख सर्वथा भिन्न है।

बबद आदि जावा के मुसलमानों के काल से इतिहास के ग्रन्थ हैं।

नीचे कुछ ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है—

आज तक जावा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उन में से इतिहास की दृष्टि से 'नागर कृतागम' का स्थान सर्व प्रथम है। यह ९८ सर्गों का एक पद्यमय काव्य है। इस का रचना काल आश्विन मास शक सवत् १२८७ (अर्थात् सन् १३६५ ई०) ग्रन्थ के अन्त में ही दिया हुआ है। कवि का नाम प्रपञ्च है। पूर्वीय जावा में मजपहित का साम्राज्य उन दिनों समृद्धि पर था। हयम्बुरुक नाम का राजा राज्य करता था, यद्यपि राज्य का सञ्चालन भार एक गजमद नामी विश्वस्त और निपुण व्यक्ति के सिर पर था। राज्य के अन्यान्य विभागों में एक धर्म विभाग भी था, जिस में शैव और बौद्ध दोनों मतों को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उक्त काव्य का कर्ता प्रपञ्च इस विभाग में बौद्धमत का मुख्य धर्माधिकारी था। इस का उपाधि धर्माध्यक्ष रिड कसोगतन् थी। 'कसोगतन्' शब्द में '-सोगत' से अभिप्राय 'सौगत-' है। कवि होने से प्रपञ्च राजा हयम्बुरुक के विशेष सम्मान का पात्र था। नागर कृतागम एक स्तुतिपरक काव्य है, हयम्बुरुक और उस के पूर्वजों की एव राज्य सञ्चालक गजमद की प्रशंसा करना यहाँ कवि का प्रधान लक्ष्य है। तो भी, जैसा कि इस के प्रतिपाद्य विषय से स्पष्ट है, इस से बहुत सा तत्कालीन एव पूर्ववर्ती एतिहासिक घटनाओं का प्रामाणिक परिचय मिलता है, जो यावदुपलब्ध अन्य साधनों से नहीं मिलता। इस में वर्णित बहुत सी बातें कवि की अपनी आँखों देखी हैं, और जो उस ने सुनी-सुनाई लिखी हैं वे भी, उस की पदवी को ध्यान में रखते हुए, कम प्रामाणिक नहीं। कई अवसरों, उत्सवों और यात्राओं पर कवि राजा के साथ रहा है, नाना अनुभव प्राप्त करता रहा है, और तदनन्तर उस ने *नागर कृतागम* की रचना की है, और प्राय उन्हीं अनुभूत घटनाओं का इस में वर्णन दिया है, इसी से अन्तिम सर्ग में कवि ने इस काव्य का दूसरा नाम 'देशवर्णन' दिया है।

नागर कृतागम

संक्षेप से ग्रन्थ का विषय इस प्रकार है—पहले सर्ग में, मङ्गलाचरण के बाद, राजा हयम्बुरुक के जन्म (१३३४ ई०) का वर्णन है, जहाँ कवि ने उसे भट्टार गुरु का अवतार मान कर उस की स्तुति की है। २-७ सर्गों में राजा के पूर्वजों का वर्णन है। ८ १५ सर्गों में राजधानी मजपहित का विस्तृत वर्णन एव मजपहित साम्राज्य के वशवर्ती जावा और द्वीपान्तरों पर के राज्यों का वर्णन दिया है। सोलहवें सर्ग में शैव और बौद्ध मतों के धर्म प्रचार के कार्य का विवरण दिया है। १७ ७० सर्गों में राजा की विविध यात्राओं का वर्णन है। कवि राजा के साथ है। कई मठ मन्दिर स्तूप विहार एव अन्यान्य धर्मस्थानों के दर्शन होते हैं। उत्सव मनाए जाते हैं। दान पुण्य किया जाता है। कई जीर्ण स्थानों का उद्धार होता है और कई नए स्थानों का निर्माण। एक बार यात्रीगण राजा के पूर्वजों का (कृतनगर का) राजधानी सिंहसारी में पहुँचते हैं, जहाँ कवि को (३८ वाँ सर्ग) एक ८३ साल के बूढ़े मठाधीश आचार्य रत्नांश नाम बौद्ध भिक्षु से मिलने का अवसर मिलता है। कवि की प्रार्थना पर आचार्य रत्नांश राजा के पूर्वजों के इतिहास का वर्णन करता है। फलत आगे के कुछ सर्ग (४० ४९) एकान्त [illegible] ना सकते हैं। आगे चल कर ([illegible] में)

राजा की पितामही—कृतनगर की पुत्री और राजा विजय की पत्नी—का श्राद्धोत्सव मनाया जाता है (६३-६७ सर्ग)। सन् १३६४ ई० मे पति गजमद की मृत्यु हो जाती है। वह अकेले सारे कार्य-भार को बड़ी निपुणता से सँभाले हुए था, उसी कार्य-भार को सँभालने के लिए उस के स्थानापन्न अब कई कर्मचारी भी समर्थ नहीं हो सकते—इस बात का आश्रय ले कर तत्कालीन शासन-प्रणाली का सुविस्तृत वर्णन किया गया है (७२-८२ सर्ग)। अन्त मे कई प्रकार के वार्षिक उत्सवों का वर्णन दे कर (८३-९८ सर्ग) ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से १७-७० सर्ग विशेष महत्त्व के हैं। इन मे वर्णित धर्मस्थान अब भी खण्डिताखण्डित रूप मे विद्यमान हैं। ताम्रपत्र और शिलालेखों से अन्यान्य घटनाएँ भी सत्य सिद्ध हो रही हैं।

ग्रन्थ के अन्त मे प्रपञ्च कुछ अपने विषय मे भी लिखता है। धर्माध्यक्ष का पद ग्रहण करने से पूर्व उस का नाम म्पु[1] विनाद था। नागर कृतागम के अतिरिक्त उस ने कई एक अन्य ककविन् और किडुङ्ग भी लिखे थे, जो अभी तक नहीं मिले, नागर कृतागम मे ही उन का नाम-निर्देश मिलता है।

स्वय नागर कृतागम भी जावा से लुप्त हो चुका था। बाली द्वीप से यह ग्रन्थ सुरक्षित मिला है। इस का मुद्रण पहले-पहल बाली भाषा के अक्षरों मे और बाद मे रोमन अक्षरों मे भी किया गया। डच भाषा मे इस के दो-एक अनुवाद[2] भी हुए हैं, किन्तु इस मे अभी तक कई स्थल विवाद-ग्रस्त हैं।

पररतोन्

नागर कृतागम की कोटि का ही दूसरा ग्रन्थ पररतोन् है, किन्तु यह गद्यमय है। यह एक ऐतिहासिक आख्यान है। नागर कृतागम का नायक हयम्वुरुक है, और उस मे प्राय: उसी से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन है, परन्तु पररतोन् मे कनङ्ग्रक, कृतनगर, विजय, गजमद आदि कई व्यक्ति प्रधान पात्र हैं। इस ग्रन्थ का पूरा नाम सरत् पररतोन् है। सरत् यव-भाषा का शब्द है जिस का अर्थ है पत्र अथवा वृत्तान्त-पत्रिका। रतु शब्द का अर्थ राजा है, इसी का तद्धित रूप पररतोन् है जिस का अर्थ है राजवंश, राजावली अथवा राज-परम्परा। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'कतुतुरनिर कनङ्ग्रक' है अर्थात् 'कनङ्ग्रक उपाख्यान'।

इस के कर्त्ता के विषय मे कुछ मालूम नहीं। हाँ, इस की भाषा नागर कृतागम की भाषा से अर्वाचीन है, और इस में सन् १४८१ ई० तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जिस से इस के रचना-काल का कुछ अनुमान हो सकता है।

पररतोन् मुख्यत: दो भागों में विभक्त है। पहला भाग प्राय: आख्यानमय है और दूसरा प्राय: इतिहासमय। दूसरे भाग के पुन: चार हिस्से किए जा सकते हैं—एक कनङ्ग्रक का उपाख्यान तथा तत्सम्बन्धी दन्त-कथाएँ; दूसरा सिंहसारी के राजाओं का वर्णन, तीसरा दो मुख्य कथाएँ, जिन मे कई एक छोटी-छोटी कहानियाँ ओत-प्रोत हैं, एक में विजय की प्रधानता है और दूसरी मे गजमद की, चौथा मजपहित के राजवंश-सम्बन्धी समाचार।

---

१. पण्डित अथवा श्रीयुत आदि उपाधियों के मुकाबले में जावा में 'म्पु' शब्द का प्रयोग किया जाता था, इस का प्रयोग केवल धार्मिक व्यक्तियों के नामों मे ही सम्बद्ध था।

२. 'हेट औड-जवान्श लुफ्तिरत नागर कृतागम' वन प्रपञ्च (१३६५ ई०) टेक्स्ट, व्देर्तालिङ् एन विस्प्रेकिङ् वन प्रो० डॉ० कर्न, मेत आन्तिकेनिंगेन वन डॉ० एन्० जे क्रोम, ग्रावेनहागे, १९१९।

कनडूमक एक तरुण साहसिक लुटेरा है। कई विचित्र चालें चल कर वह तुमापल के राज्य में सरदार का पद प्राप्त कर लेता है, और अन्त में सारा राज्य अपने कब्जे में कर स्वय राजा बन जाता है। तब से यह राजस नाम से प्रसिद्ध होता है। इस का जीवन साहसमय घटनाओं से पूर्ण है। यह कई आपत्तियों से साफ बच निकलता है, जिस से लोगों पर इस का खूब प्रभाव छाया हुआ था। ग्रन्थकार ने इसे विष्णु का अवतार मान कर इस की स्तुति की है। यही कनडूमक अथवा राजस सिंहसारी राज्य का जन्मदाता और बाद के मजेपहित के राजाओं का वंश-कर्त्ता है। इस के काल में तुमापल राजधानी थी। यह राज्य भी तुमापल राज्य से प्रसिद्ध रहा। बाद में कृतनगर ने सिंहसारी को राजधानी बनाया, सो राज्य भी सिंहसारी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिंहसारी का अन्तिम राजा कृतनगर ही था। इस की मृत्यु के बाद इस का राज्य छिन्न भिन्न हो जाता है। इस के दामाद विजय ने एक नए राज्य की स्थापना की, जो मजपहित के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और जो गजमद के शासन-काल में उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा।

यह सारा इतिहास पररतोन् में विस्तारपूर्वक वर्णित है। प्रत्येक घटना का तिथि संवत् स्थान आदि सब साथ दिया हुआ है, इस दृष्टि से पररतोन् स्वय एक इतिहास ग्रन्थ ही है। इस की कई हस्त लिखित प्रतियाँ मिल चुकी हैं। विद्वानों को इस ग्रन्थ का बहुत दिनों से पता था, किन्तु इस की ऐतिहासिक महत्ता अब मालूम हो रही है। इस ग्रन्थ के आधार पर डच भाषा में कई ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके हैं। ग्रन्थ का अनुवाद—व्याख्या आदि समेत—डच भाषा में किया गया है। सब से पहले डॉ० जे० एल० ब्रांडस ने इस ग्रन्थ का अनुवाद सहित मूल पाठ प्रकाशित किया था। इस की द्वितीयावृत्ति कई अन्य विद्वानों की सहकारिता से डॉ० क्रोम द्वारा हुई है, जो कई अंशों में संशोधित, परिवर्धित और स्पष्टीकरणों से सम्पन्न है।

अर्जुन विवाह

यह ३६ सर्गों का एक महाकाव्य है। कवि का नाम म्पु कण्व ग्रन्थ के अन्त में ही दिया गया है, जहाँ पर यह भी लिखा है कि राजा ऐरलङ्ग ने इस काव्य की बड़ी प्रशंसा की। ऐरलङ्ग का समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। कवि म्पुकण्व राजा ऐरलङ्ग का समकालीन ही सिद्ध होता है। इस से अर्जुन विवाह का रचना काल १०३५ ई० से पूर्व है। इस दृष्टि से यह प्राचीन यव भाषा का—रामायण, महाभारत आदि को छोड़ कर—सब से पुराना ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का विषय वही है जो भारवि के किरातार्जुनीय का, अर्थात् महाभारत के विराटपर्व में दिया हुआ अर्जुन का उपाख्यान। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने जाता है, इन्द्र इस की परीक्षा के लिए अप्सराएँ भेजता है, अर्जुन विचलित नहीं होता बाद में अर्जुन किरातरूप भगवान् शिव से युद्ध करता है और उस से दिव्य अस्त्र प्राप्त करता है, निवात-कवचों से युद्ध करता है। कवि ने शेष कथा में कुछ हेर फेर किया है। अर्जुन इन्द्र के भवन में पहुँचाया गया है, जहाँ वह अप्सराओं से विहार करता है और अन्त में रत्नप्रभा नाम अप्सरा से विवाह कर लेता है, इसी घटना को लेकर ग्रन्थ का नाम कवि ने अर्जुन विवाह रक्खा है।

काव्य की दृष्टि से यह एक अत्युत्तम ग्रन्थ है और जावा में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इस की प्रसिद्धि का अनुमान इसी से हो सकता है कि वयङ्ग अर्थात् जावा के प्रसिद्ध छाया नाटकों में इस का अभिनय किया जाता है, चण्डी जगो आदि मन्दिरों की भित्तियों पर इस में के वर्णित विविध प्रसङ्ग मूर्तियों के रूप में उत्कीर्ण हैं, तथा इस ग्रंथ के वृत्त के आधार पर कई किदुङ्ग लिखे गए जिन में से मिन्तराग एक है। मिन्तराग 'वीतराग' शब्द का

विकृत रूप है और यह नाम अर्जुन को दिया गया है, जो तपस्या करते समय इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं द्वारा विचलित नहीं हो सका।

इस ग्रंथ के विषय में भी डच भाषा में बहुत कुछ टीका-टिप्पणी हुई है, क्योंकि इस के द्वारा भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इस का मूलपाठ अनुवाद और व्याख्या सहित जावा-निवासी डॉ० पूर्वचरक द्वारा प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद आदि डच भाषा में ही हैं।

स्मरदहन

अर्जुन-विवाह के समान यह ४० सर्गों का एक महाकाव्य है। इस का कवि म्पु धर्मज है, जिस ने काडिरी के नरेश कामेश्वर (प्रथम अथवा द्वितीय ?) की प्रशंसा में यह काव्य रचा है, इस से इस का रचना-काल लगभग सन् ११५० ई० है।

इस का विषय क़रीब-क़रीब वही है, जो कालिदास के कुमारसम्भव का। किन्तु यहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य कामेश्वर की स्तुति है, इस से कथा मे बहुत कुछ अन्तर है। काम और रति दोनों शिव की नेत्राग्नि से भस्मसात् होते हैं। शिव और उमा का विवाह हो जाता है। उमा की प्रार्थना पर शिव काम और रति को पुनर्जीवित करने का वचन देता है। तदनुसार ही कवि के आश्रयदाता राजा कामेश्वर के रूप में काम और उस की रानी के रूप में रति पृथ्वी पर अवतार लेते हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा महत्त्वशून्य नहीं। कामेश्वर के राज्य का विस्तार, सीमाएँ और उस के शासन-सम्बन्धी बहुत सी बातों का कवि ने विशेष रूप से वर्णन किया है।

वृत्तसञ्चय

इसी (± सन् ११५० ई०) समय का यह एक खण्ड-काव्य है। इस का कवि म्पु तनकुड है, और यह भी प्रथा है कि यह म्पु तनकुड म्पु धर्मज का भाई था। लुब्धक आदिक कई एक अन्य ग्रन्थ भी इसी के लिखे माने जाते हैं। वृत्तसञ्चय का दूसरा नाम चक्रवाकदूत है। इस मे विविध जाति के ११२ श्लोक हैं।

कवि का मुख्य उद्देश्य संस्कृत के छन्दों का स्पष्टीकरण है। प्रत्येक श्लोक में उस की संज्ञा, लक्षण और उदाहरण सब कुछ आ जाता है। साथ-साथ कथा-प्रसङ्ग भी चलता जाता है। किन्तु कथा यहाँ गौण रूप से है।

एक राजकुमारी अपने प्रेमी के विरह में आतुर बैठी है। एक चकवे को देख वह अपना दुखड़ा उसे सुनाती है और उसे अपने प्रियतम के पास भेजती है। चकवा जाता है और राजकुमार को खोज लाता है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलाप हो जाता है।

चक्रवाकदूत कालिदास के मेघदूत का स्मरण दिलाता है। भारतवर्ष में भी मेघदूत की नक़ल पर हंसदूत आदि कई एक खण्ड-काव्य रचे गए थे। यहाँ अन्तर यह है कि नायिका नायक को सन्देश भेजती है, किन्तु मेघदूत मे नायक नायिका को।

प्रो० कर्ण द्वारा डच भाषा से इस काव्य का भी अनुवाद आदि हो चुका है।

अमरमाला

शैलेन्द्र-वंश के समय का—अर्थात् सातवीं, आठवीं शताब्दी का—यही एक ग्रन्थ मिलता है। चन्दकरण नाम का एक हस्त-लिखित ग्रन्थ मिला था, जिस मे तीन टुकड़े थे। पहला छन्दःशास्त्र के विषय में और तीसरा फिर कोष के विषय में और मध्य में अर्थात् दूसरा टुकड़ा अमरमाला है। यह एक संस्कृत कोष की व्याख्या प्रतीत होती है। एक ओर संस्कृत के शब्द दिए हुए हैं और सामने यव-भाषा के पर्याय दे कर उन का अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस का वर्गीकरण अमरकोष के समान ही है अर्थात्

पहले स्वर्ग और देवताओं के नाम। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह उन दिनों संस्कृत का अध्ययन होता था।

यह भी प्राचीन यव-भाषा के काव्य ग्रन्थ अर्थात् ककविन् हैं। भारत-युद्ध में ५२ सर्ग हैं। इस के कवि का नाम म्पु सडह है जिस ने उक्त काव्य का आरम्भ सन् ११५७ ई० अर्थात् काडिरी के राजा जयभय के समय में किया था। म्पु सडह इस काव्य को समाप्त नहीं कर पाया। समाप्ति इस की म्पु पनुलुह नामक दूसरे किसी कवि ने की है जो स्वयं घटोत्कचाश्रय और हरिवंश आदि काव्यों का कर्त्ता है।

भारतयुद्ध, हरिवंश, घटोत्कचाश्रय

उक्त तीनों काव्यों का विषय, जैसा कि इन के नामों से स्पष्ट है, महाभारत से लिया गया है। कथाओं में कहीं-कहीं बहुत भेद है, परन्तु सामान्यतः मूल महाभारत का ही अनुसरण किया गया है।

ऊपर जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वे 'मुख्य' इसी दृष्टि से कहे गए हैं कि अभी और ग्रन्थों का पता नहीं। जावा साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ अभी ऐसे ही पड़े हैं जिन्हें किसी ने खोल कर भी नहीं देखा कि उन में धरा क्या है।

यद्यपि जावा-साहित्य संस्कृत साहित्य के समान अनन्त होने का गर्व नहीं कर सकता, तो भी अपने स्थान पर यह कुछ कम नहीं। किन्तु संस्कृत साहित्य को जहाँ यह गौरव प्राप्त है कि उस के पढ़ने वालों की संख्या पर्याप्त है, उस के हस्त लिखित ग्रन्थों की सूचियाँ तैयार की गई हैं, उस के हजारों ग्रन्थ छप चुके हैं, वहाँ जावा-साहित्य की दशा इस के सर्वथा प्रतिकूल है। इस के हस्त लिखित ग्रन्थों का कई जगह संग्रह मिलता है, जैसे—बटावियाश् गेनूट्शप् वन कुन्स्टन् एन्, वेटेन्शॉप्पेन, बटाविया, लाइडशे विद्यापीठ लाइडन् कलोनियाल इन्स्टीटूट आम्स्टरडम, कोनिंगलिक इन्स्टीटूट वोअर डि टाल लॅण्ड एन वल्क कुंड वन नीडरलडश इंडिया, इंडिया ऑफिस लंडन इत्यादि इत्यादि अनेक संस्थाओं के पुस्तकालयों में एवं जावा और बाली आदि द्वीपों के कई घरानों में निजी पुस्तक-संग्रह। इन में अभी लयिदन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के संग्रह का सूची तैयार हुई है दूसरे संग्रह अभी योंही पड़े हैं।

जावा-साहित्य के हस्त लिखित ग्रन्थों का संग्रह

इस उपेक्षा का कारण विद्वानों की रुचि का अभाव है। अभी तक जो कुछ भी जावा के साहित्य के अन्वेषण में कार्य किया गया है उस में सब से अधिक श्रेय डच विद्वानों को है। किन्तु उन के ग्रन्थ प्रायः सारे डच भाषा में लिखे होने से भारतीय विद्वान् विद्यार्थी उन का पूरा उपयोग नहीं उठा सकते। कुछ भी हो, भारत में जहाँ आज राष्ट्रीयता का उन्मेष हो रहा है वहाँ भारतवासियों का यह भी कर्त्तव्य है कि द्वीपान्तरों में फैली हुई अपने पूर्वजों की कीर्ति—सभ्यता और संस्कृति — का परिशीलन करें और वहाँ के साहित्य के अन्वेषण और इतिहास के निर्माण में पूरा सहयोग दें।

अन्त में मैं लयिदन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डॉक्टर जे० एन्० क्रोम एवं प्रोफ़ेसर डॉक्टर सी० सी० बर्ग के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन के निबन्धों और ग्रन्थों के आधार पर मैं इस लेख के रूप में कुछ शब्द लिख सका हूँ।

ओड़िशार मध्ययुग राजवंशादिर परिचय

श्रीयुत परमानन्द आचार्य, बी० एस्-सी०, मयूरभञ्ज।

[पिछले कुछ वर्षों में पाए गए नए अभिलेखों से गङ्गवंश से पहले के उड़िया इतिहास के ज्ञान में बहुत कुछ वृद्धि हुई है।

मदलपञ्जी (जगन्नाथ के मन्दिर में सुरक्षित पञ्जिका) में केवल केशरीवंश के राजाओं के, जिन्हों ने ४७४ ई० से ११३२ ई० तक राज्य किया, नाम पाए जाते हैं। किसी और वंश का नाम उल्लिखित नहीं है पर ताम्रपत्रों से पता चलता है कि ६०६ ई० में मानवंश का राज्य वहाँ था। ६१९-२० में शैलोद्भववंश के शशाङ्कदेव का राज्य वहाँ था। ह्निउएन-च्वाङ् की जीवनी से पता चलता है कि शशाङ्क के बाद हर्षदेव ने वहाँ राज्य किया और महायान धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न किया। इस के पश्चात् कोङ्गोद (गञ्जाम ज़िला) में शैलोद्भव-वंश के राजा शक्तिशाली हो गए। उन्हों ने छठी शताब्दी ई० के मध्य से लेकर नवीं शताब्दी ई० के मध्य तक राज्य किया। उन का राज्य-विस्तार कलिङ्ग और कोङ्गोद में था। उस समय वहाँ संस्कृत का बहुत प्रचार था। राजा ब्राह्मण्य धर्म का आदर करते थे। ताम्रपत्रों से पता चलता है कि कोङ्गोद में उन की भी प्रभुता रही; परन्तु भौम और शैलोद्भव-वंशों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। सोमवंश के राजा और शैलोद्भव-वंश के धर्मराज में आठवीं शताब्दी के पिछले अंश में युद्ध हुआ। उस समय का इतिहास धुँधला है।

भौमवंश—मदलपञ्जी में भौमवंश का कोई उल्लेख नहीं है। इस वंश के राजा बौद्ध थे, परन्तु उन के राज्य में हिन्दू और बौद्ध दोनों वृद्धि कर रहे थे। इन राजाओं का चीन-सम्राट् से भी सम्बन्ध था। इन के राजत्व-काल में वास्तु और मूर्तिकला की बहुत उन्नति हुई। ऐसा जान पड़ता है कि धर्म-प्रचार की ओर उन का अधिक ध्यान रहा। नगरों में बड़ी समृद्धि थी, तथा उन का परले हिन्द के द्वीपों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। शासन दृढ़ था तथा प्रजा सुखी थी। भौमवंश का उल्लेख किसी समकालीन राजवंश (तुङ्ग-नन्द इत्यादि) के ताम्रपत्रों में नहीं है, अतएव उन का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है।

तुङ्गवंश—यह वंश रोहतास गढ़ से आया तथा जमगर्त्त में इस ने अपना अधिकार जमा लिया।

नन्दवंश—इस के दो ताम्रपत्र मिले हैं। उन से पता चलता है कि उन का राज्य महानदी के दक्खिन तट पर था, तथा उस की राजधानी जयपुर थी। राजा बौद्ध थे।

शुल्कीवंश—इन के ९ ताम्रपत्र मिले हैं। सब कोदालक से, जो कि ब्राह्मणी के तट पर था, दिए गए हैं। ढेंकानाल रियासत का कोराग्राम गाँव ही शायद वह कोदालक है।

भञ्जवंश—इस के २६ ताम्रपत्र पाए गए हैं। उन में से कुछ आधुनिक अनगुल जिले से और कुछ खिञ्जली (आधुनिक बौद-सोनपुर, दशपल्ला राज्य और गञ्जाम जिलान्तर्गत घुमुसर) से जारी किए गए हैं। उन की राजधानी पहले धृतिपुर थी; बाद को दो विभिन्न राजधानियाँ हो गईं—धृतिपुर और विजंलवक। एक बौद की, दूसरी घुमुसर की। पीछे बौद की राजधानी गन्धर्ववाडी हो गई। दशपल्ला की स्थापना कैसे हुई सो स्पष्ट नहीं है। यद्यपि भञ्जवंश का गोत्र मयूरभञ्ज के गोत्र से भिन्न है, परन्तु सम्भवतः वे एक ही देश के हैं।

ये भञ्ज राजा अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते हैं। प० विनायक मिश्र ने बड़ी खोज के बाद सिद्ध किया है कि वे मौर्यवंश के हैं। हंटर के मतानुसार यह वंश २००० वर्ष का पुराना है। जो भी हो, नेट्टवंश के ताम्रपत्रों से इतना निश्चित है कि वे आठवीं शताब्दी से राज्य कर रहे हैं। रेने ग्रोसे ने जिसे मयूरभञ्ज-शैली कहा है उस शैली की मूर्ति और वास्तु-कला के नमूने अब भी गन्धर्ववाडी और खिचिङ्ग में पाए जाते हैं।

केशरीवंश—मदलपञ्जी के अनुसार केसरीवंश का राज्य ४७४ से ११३२ ई० तक रहा तथा केशरीवंश के अन्तिम राजा सुवर्णकेशरी को गङ्गवंश के चोड़ गङ्ग ने हरा कर राज्य छीना।

फ्लीट ने सिद्ध किया है कि (ए ई० भा० २ में) केशरीवंश के राजा वास्तव में सोमवंशी थे। उद्योतकेशरी के नरसिंहपुर राज्य तथा रत्नगिरि के ताम्रपत्रों से यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो जाती है। उस समय के त्रिकलिङ्ग में कलिङ्ग, कोगण्ड और उत्कल सम्मिलित थे। तोषल का निश्चित उल्लेख नहीं है। इसलिए यह सम्भव है कि उत्तर तोषल उत्कल था और दक्षिण तोषल कोगण्ड। कोगण्ड के राजा की हार के पश्चात् यह प्रदेश कलिङ्ग में मिला लिया गया।

इस वंश के जनमेजय की राजधानी कटक के पास चवद्वार में थी। इस वंश की राजधानी सोमपुर में भी थी।

गङ्गवंश के राजदेव ने उत्कल को १०७५ ई० में अधीन कर लिया। कर्णकेशरी की हार हुई। यह कर्णकेशरी शायद मदलपञ्जी का सुवर्णकेशरी हो।]

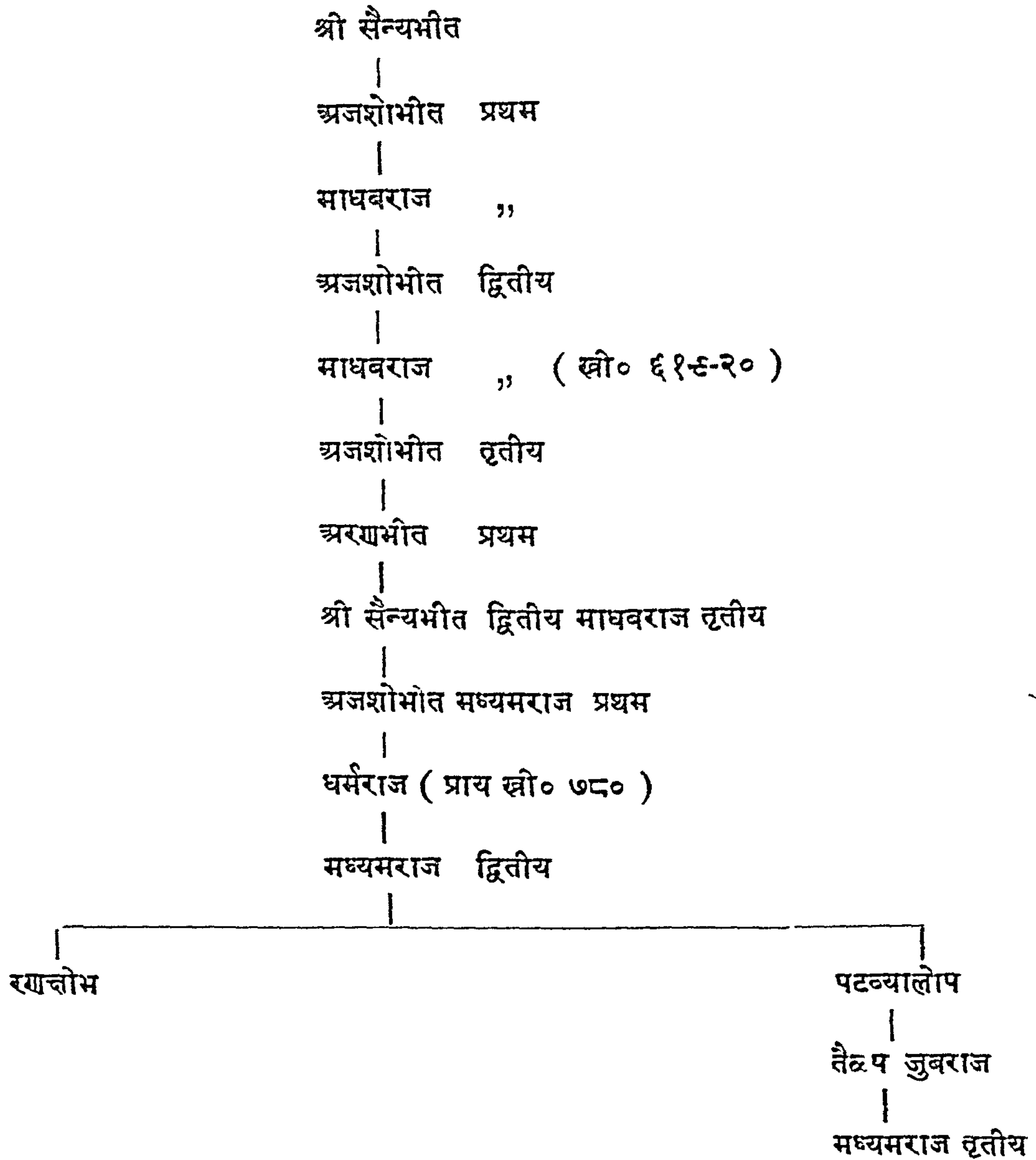
महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाङ्क अभिनन्दन करिबार आयोजन अतीव प्रशंसनीय। महामहोपाध्यायङ्कर जीवन यापी ऐतिहासिक गवेषणार फेबल जे भारतबासी ताङ्कठारे ऋणी ताहा नुहे, ताङ्कर 'भारतीय लिपिमाळा' पुस्तक द्वारा भारतवर्षर जावतीय लिखित भाषा मध्य ताङ्कठार चिरकाळ ऋणी रहिब। भारतवर्षर सर्वजन समादृत हिन्दी भाषारे ताङ्कर समस्त ग्रन्थ लिखित होइ थिबारु 'भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेळन' पक्षरु ताङ्क प्रति सम्मान प्रदर्शन करिबा जथाविहित व्यवस्था होइअछि।

'भारतीय प्राचीन लिपिमाळा' रे ओड़िआ लिपिकु स्थान देइ से ओडिया भाषार मर्य्यादा बढाइ अछन्ति। लिपि तत्त्व विशारद महामहोपाध्यायङ्कर एहि ग्रन्थ प्रकाशित हेबापरे ओड़िशारु बहु ताम्रशासन दानपत्र आविष्कृत होइअछि ओ सेगुडिकर पाठद्वारा ओड़िशार गङ्गवंश पूर्ववर्त्ती इतिहास सम्पूर्णरूपे परिवर्त्तित होइअछि। 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री' नामक पुस्तकरे (२५ पृष्ठा) पण्डित ओझा लेखिअछन्ति जे "इस के बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्व के राजाओं का नामावली तो अधिक अशुद्ध है।" एहि अनुमान आजि सत्य बोलि प्रमाणित होइ महामहोपाध्यायङ्कर इतिहास अनुधावनर सूक्ष्म दृष्टिर सम्यक् परिचय देउअछि। एणु ताङ्कर एहि सम्बर्द्धनार जोग देइ ओडिशार मध्ययुगर राजवंशावळि सम्बन्धे पण्डितप्रवरङ्कर माहात्म्य स्मरण करि जत्किञ्चित् आलोचना करुअछि।

(१) मानवंश, गौडेश्वर शशाङ्क ओ श्रीहर्ष—शैलोद्भववंशी सामन्त राजवृन्द

मादळापाञ्जिरे ख्री० ४७४ ठारु ख्री० ११३२ पर्य्यन्त समय मध्यर क्रमरे ४४ जण केशरीवंश राजा मानङ्कर नाम ओ राजत्वकाळ वर्णित अछि। एहि दीर्घ सार्द्धपञ्चशताधिक वर्षमध्यर अन्य कौणसि राजवंश ओडिशार राजचक्रवर्त्ती होइथिबार कथा मादळापाञ्जिर उल्लेख थिबार जणाजाए नाहिँ। पक्षान्तर कटक निकटवर्त्ती पटिआकिल्लार मिळिथिबा शिवराजङ्क ताम्रशासनरु जणा जाए जे ख्री० ६०६ रे मानवंशी राजा ओड़िशार राजचक्रवर्त्ती थिले। तत्परे शैळोद्भववंशी माधवराजङ्क ताम्रशासनरु जणाजाए जे ख्री० ६१९-२० रे गौडेश्वर शशाङ्कदेव उत्कळर राजचक्रवर्त्ती थिले। पुनश्च हुएँसाङ्ग जीवनचरितरु जणाजाए जे शशाङ्कदेवङ्क पर हर्षदेव ओड़िशार राजचक्रवर्त्ती होइथिले ओ बौद्धधर्मर महाजान शाखार प्रचार लागि विशेष जत्न करिथिले।

तत्परे कोङ्गदरे शैळोद्भव वंशीय राजामाने प्रबल पराक्रान्त होइथिले। एहि वंशर राजामानङ्कर नाग ताम्रशासन गुडिकरु जाहा मिळुअछि, ताहा तळे विवृत हेला। एहि राजवंशर राजत्वकाळ षष्ठ शताब्दिर मध्य-भागरु नवम शताब्दिर मध्यभाग पर्य्यन्त धरा जाइपारे।



एहि राजामानङ्कर राजत्व कोङ्गद श्रो कळिङ्गरे निवद्ध थिला। आधुनिक गञ्जाम जिलार उत्तरार्द्ध श्रो पुरी जिलार दक्षिणार्द्ध वेनि प्राचीन कोङ्गद राज्य विस्तृत थिबार प्रमाणित हेउ अछि। हु ँसाङ् एहि कोङ्गद राज्य श्रो कोङ्गद नगरर कथा वर्णना करिअछन्ति। पुरी श्रो गञ्जाम अञ्चळरे आर्य्य सभ्यता किपरि प्रचळित थिला ताहा एहिवंशर ताम्रशासन गुड़िकरु वेश बुझाजाए। सबु तम्बापटा गुड़िकरु उच्चाङ्ग संस्कृत साहित्यर चर्च्चा थि-वार प्रमाण मिळुअछि। दानग्रहिता मने ब्राह्मण थिबारु राजा माने ब्राह्मण्य धर्म्मर समादर करुथिबार सूचना मिळुअछि। कौणसि राजाङ्कर राजचक्रवर्ती-सूचक विरुद नाहिँ। माधव राजाङ्कर ताम्रशासनरु जणाजाए जे गौडेश्वर शशाङ्कर सामन्त नृपति थिले। तोषळर भौमवंशी राजामानङ्कर ताम्रशासनादिरु जणाजाए जे कोङ्गद राज्य सेमानङ्कर वश्यता स्वीकार करिथिला श्रो सेमाने कोङ्गद मण्डळरे भूमिदान करिथिले। मात्र

भौमवंशी राजामानङ्क सहित शैलोद्भववंशी राजामानङ्कर किपरि राजनैतिक सम्बन्ध थिला ताहा समसामयिक लिपिरु बुझा जाउ नाहिँ । पुनश्च धर्मराजङ्कर ताम्रशासनरु देखाजाउ अछि जे ताङ्क सहित दक्षिण कोशळर सोमवंशी राजा तिवरदेवङ्कर युद्ध होइथिला । तिवरदेव ख्रिष्टीय अष्टम शताब्दिर शेषभागर लोक बोलि प्रमाणित होइअछि । एहि सबु नूतन तथ्य शैलोद्भववंशी राजामानङ्कर ताम्रशासनरु मिळुथिबा सत्त्वे ओड़िशार तत्कालिन राजनैतिक इतिहास स्पष्टरूपे आम्भमानङ्कर हृदयङ्गम हेउ नाहिँ । विशेषत से समयर मूर्त्ति-मन्दिरादिर सम्यक् आलोचना होइ न थिबारु आम्भमानङ्कर इतिहास चर्चा केवळ काळनिरूपण ओ वंशवृत्त प्रभृति केतोटि वाह्यक विषयरे समाप्त होइअछि ।

(२) भौमवंश

भौमवंशी राजा माने सार्वभौम नृपति थिले मध्य मादळापाञ्जिर लिखित विवरणर सेमानङ्कर नामोल्लेख नाहिँ । एहि वंशीय राजामानङ्क मध्यरु काहारि काहारि परम सौगत वा परम तथागत विरुद थिबार ताम्रशासनरे देखा जाउ अछि । एणु सेमाने बौद्ध धर्मावलम्बी थिले, मात्र दानमहिता सबु ब्राह्मण थिले । एथिरु एहा धरा जाइ पारे जे अष्टम ओ नवम शताब्दिरे बौद्धधर्म ओ ब्राह्मण्य धर्म मध्यरे कौणसि विरोध भाव न थिला । फरासी पण्डित सिलवाँ लेव्हो देखाइ अछन्ति जे एहि वंशीय राजा—the king who does what is pure lion —शान्तिकरदेव (?) चिन सम्राटङ्कु ख्री० ७९७ रे स्वहस्तलिखित 'अवतंसक' ग्रन्थर शेषाध्याय *'गण्डव्यूह'* पुस्तक बौद्ध *श्रमण* पुञ्जङ्क हस्तरे उपहार स्वरूप पठाइथिले । एथिरु एहिवंशीय राजामानङ्कर विशेषत्व उपलब्धि करा जाइ अछि । एहि राजामानङ्क राजत्व समयरे स्थापत्य ओ भास्कर्य्यर विशेष उन्नति साधित होइथिला । कटक जिलार उदयगिरि, ललितगिरि ओ रत्नगिरिरे जेउँ सबु कीर्त्तिर भग्नावशेष देखा जाए से सबु एहि राजवंश राजामानङ्कर राजत्व समयरे निर्मित होइथिबार अनुमित हुए । भुवनेश्वरर परशुरामेश्वर प्रभृति कतेक मन्दिर ओ जाजपुरर केतेक कार्त्ति एहि समयरे निर्मित होइथिला । खण्ड गिरि ओ धउळ गिरिरे एहिवंशर राजामानङ्कर शिळालिपि थिबारु मने हेउअछि जे धर्मचर्चा लागि राजामाने विशेष तत्पर थिले । ह्युएँसाङ् वर्णित ताम्रलिप्ति ओ चेळिताळो वा चरित्र प्रभृति बन्दरगुडिक भौमराजामानङ्क राजत्वरे विशेष समृद्धिशाळी थिबार मध्य अनुमित हेउअछि । भारत महासागरर द्वीपपुञ्जर कार्त्तिरु प्रतिपन्न हेउअछि जे उत्कळर लोकमानङ्क सहित से स्थानर लोकमानङ्कर भाव आदानप्रदान चळुथिला ।

भौमवंशीय राजामानङ्कर ताम्रशासन गुड़िकरु देशर आभ्यन्तरीण अवस्था अनेकटा बुझाजाए । राजामानङ्कर कीर्त्तिकळापर वर्णनारु जणाजाए जे देशर लोकमाने सुखशान्तिरे काळातिपात करथिले । राजा मानङ्करदक्ष पात्र मन्त्री आदि थिले ओ सामरिक शक्ति प्रबळ थिबारु वैदेशिक आक्रमणरु सहजरे देशरक्षा होइ पारुथिला ।

अद्यावधि एहि वंशर राजामानङ्कर १४ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि । अधिकांश तम्बापटारे जउँ सबत् व्यवहृत होइअछि ताहा हर्षसंवत् बोलि पण्डित विनायक मिश्र स्थिर करिअछन्ति । एहि राजामानङ्कर राज्य तोषळबोलि कथित हेउथिला ओ ताहा उत्तर ओ दक्षिण भेदरे विभक्त थिला । राजशेखरङ्कर 'काव्यमीमांसा' रे प्राच्यदेश मध्यरे तोषळ राज्यर नामोल्लेख अछि । एमानङ्कर राजधानी गुहदेव पाटक आधुनिक जाजपुर निकटरे थिलाबोलि स्थिरीकृत होइअछि । समस्त तम्बापटा गुड़िकरु निम्नलिखित नामावलि मिळुअछि बोलि पण्डित विनायक मिश्र स्थिर करि अछन्ति । (Dynasties of Medieval Orissa, p 101)

महाराजा क्षेमङ्करदेव वनाम नृगातपं

महाराजा शिवकरदेव प्रथम—महिषी जयावळी देवी

महाराजाधिराज शुभाकरदेव प्रथम वनाम उन्मटसिंह—महिषी माधवी देवी (खी० ६६०—६१)

महाराजाधिराज शुभकरदेव द्वितीय (खी० ६७६-८०)

महाराजाधिराज शान्तिकरदेव प्रथम वनाम गयाड़ वा ललितहार प्रथम (खी० ६६६—७००)

तस्य महिषी—महाराजाधिराज परमेश्वरी त्रिभुवनमहादेवी (खी० ७१६–१७)

महाराजाधिराज शुभाकरदेव द्वितीय वनाम सिंहकेतु वा कुसुमहार प्रथम (खी० ७०६—७१०)

महाराजाधिराज शान्तिकरदेव द्वितीय वनाम गयाड़ प्रथम वा लोणभार, महिषी—हीरामहादेवी

महाराजाधिराज शुभकरदेव द्वितीय वनाम कुसुमहार द्वितीय (खी० ७४७–४८)

महाराजाधिराज शुभकरदेव तृतीय वनाम ललितहार द्वितीय (खी० ७७३–७७४)

महाराजाधिराज शान्तिकरदेव तृतीय महिषी—धर्म्मा महादेवी

महाराजाधिराज शुभाकरदेव चतुर्थ

तस्य महिषी

तस्य सुता महाराजाधिराज परमेश्वरी दण्डी महादेवी (खी० ७८७–६४)

एहि राजामानङ्कर राजत्वकाळरे शैळोद्भव, (ए वंश सम्बन्धे पूर्वे बोला जाइ अछि) तुङ्ग, नन्द, शुळ्की, भञ्ज प्रभृति वशर राजामानङ्कर ताम्रशासन गुड़िकरे शशाङ्कदेवङ्क परि भौमवंशीय राजामानङ्कर नामोल्लेख न थिवारु सार्वभौम राजामानङ्क सहित सेमानङ्कर सम्बन्ध किपरि थिला बुझा जाउ नाहिं। केवळ ढेंकानाळरु मिळि थिवा जयसिंहङ्कर तम्बापटारु जणा जाउ अछि जे जयसिंह एक भौम राजाङ्कठारु 'पञ्चमहाशब्द' सामन्त पदवी पाइ जमगर्त्तमण्डळरे 'सकळ गोन्द्रमाधिपति' होइथिले। अन्यान्य राजवशीय नृपतिमाने एपरि वश्यता स्वीकार करि-थिवार कथा कौणसि ताम्रफळकरे उल्लेख नाहिँ।

(क) तुङ्गवंश

तुङ्गवंशीय राजामान रोटासगड़रु (रोहितास गिरि) आसि जमगर्त्तमण्डळरे 'अष्टादश गोन्द्रमाधिपति' होइथिले। पूर्वे बोला जाइ अछि जे जयसिंह एहि जमगर्त्तमण्डळरे 'सकळ गोन्द्रमाधिपति' थिले। रोहितासगिरिरु आगत शाण्डिल्य गोत्र जगतुङ्ग उक्त जयसिंह सहित एक थिबार अनुमान सहज। एहि वंशर तिनि खण्ड तम्बापटारु जेउँ नामावळि मिळुअछि तळे ताहा दिआ गला।

जगतुङ्ग बा खड्गतुङ्ग
|
राणक विनीततुङ्ग
|
सालणतुङ्ग
|
गयाड़तुङ्ग

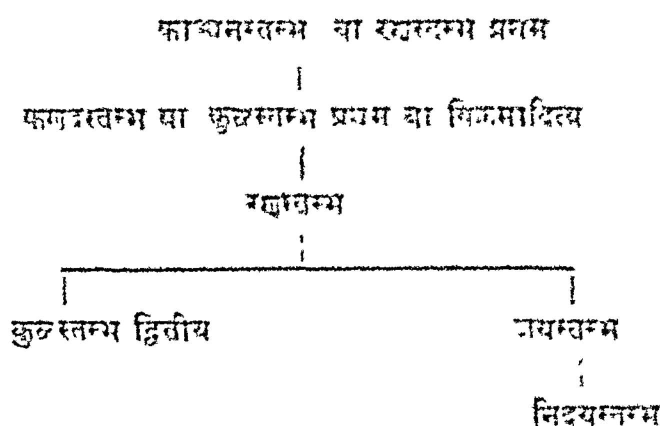
(ख) नन्दवंश

नन्दवंश राजामानङ्कर दुइ खण्डिमात्र ताम्रशासन मिळिअछि। एमाने ऐरावट्ट मण्डळरे राजत्व करुथिले एमानङ्कर राजधानी जयपुर थिला। ऐरावट्ट मण्डळ महानदीर दक्षिण तीरवर्त्ती बाँकि, नयागड़, रणपुर प्रभृति अञ्चळरे बिस्तृत थिबार अनुमान पण्डित विनायक मिश्र करिअछन्ति। एहि वंशर राजामाने "गोन्द्रमाधिपति" बोलाउथिले। एहि राजामाने बौद्ध थिबार टाङ्कर "परमसौगत" बिरुदरु प्रतिपन्न हेउअछि। तम्बापटा गुड़िकरु निम्नलिखित नामावळि मिळे।

जयानन्ददेव
|
परानन्ददेव
|
शिवानन्ददेव
|
देवानन्द बा ध्रुवानन्ददेव

(ग) स्तम्भ बा शुल्कीवंश

एहि वंशर राजामानङ्कर सर्वसुद्धा ९ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि। सबुगुड़िक कोदाळक नगररु दिआ जाइथिला। 'कोदाळक' मण्डळ ब्राह्मणी नदीर कूळे कूळे बिस्तृत थिबार प्रमाण मिळे। ढेंकानाळ राज्यर अन्तर्गत 'कोआळु' ग्राम प्राचीन 'कोदाळक' थिबार अनुमित हुए। तळे राजामानङ्कर नामावळि दिआ गला।

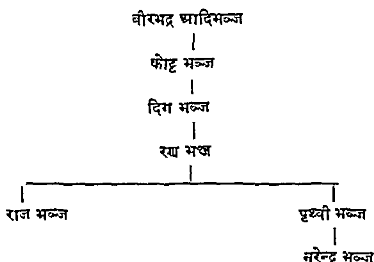


(ग) भञ्जवंश

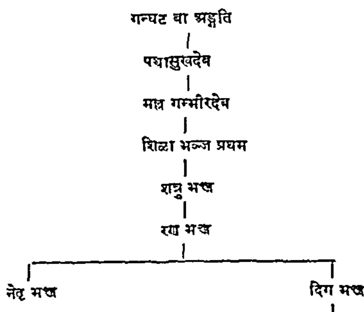
अद्यावधि भञ्जवंशीय राजामानङ्कर २६ खण्ड तम्बापटा मिळिअछि । सर्व प्राचीन भञ्ज महाराजा नेट्ट भञ्ज अनगुळ पत्तन (आधुनिक अनुगुळ)रु ताम्रशासन दान करिथिले । एहि तम्बापटार समय खी० ७०३ साल्दरे पडु-अछि तत्परे २२ खण्ड तम्बापटारे खिञ्जळि मण्डळर राजामानङ्कर दानोल्लेख अछि । आधुनिक गञ्जाम जिल्लार घुमुसर ओ बौद-सोनपुर ओ दशपल्ला ष्टेट घेनि खिञ्जळि मण्डळ विस्तृत थिला । एहि खिञ्जळि मध्य "उभय खिञ्जळि" वोलि कथित हेउथिला । सम्भवत: प्रत्येक खिञ्जळिरे गोटिए करि भञ्जराजवंश स्थापित होइ बौद ओ घुमुसर राज्य सृष्ट होइथिला । खिञ्जळि मण्डळर राजधानी प्रथमे "धृतिपुर" थिला । परे प्रत्येक-खिञ्जळिर राजधानी 'धृतिपुर' ओ 'वञ्जुळ्वक' हेला । 'धृतिपुर' बौद अञ्चळरे ओ वञ्जुळ्वक' घुमुसर अञ्चळरे थिवार अनुमित हुए । परे बौदर राजधानी 'गन्धर्बवाडि'रे ओ घुमुसरर राजधानी 'कोलाड'रे होइथिला । दक्षिण ओड़िशार अन्यतम भञ्जराज्य दशपल्ला किपरि स्थापित होइथिला ताम्रशासनादिरु ताहार कौणसि विवरण मिळे नाहिँ । बौद, घुमुसर ओ दशपल्ला एहि तिनोटि राजवंशर गोत्र काश्यप । कनक भञ्जङ्क ताम्रशासनरु देखा जाए जे ताङ्कर गोत्र काश्यप थिला । ओड़िशार समस्त भञ्जवंश एकवंश-सम्भूत हेले मध्य गोत्र प्रभेदर कारण बौद राजवंशर किम्वदन्तीरे उल्लेख अछि । दक्षिण ओड़िशारु प्राप्त भञ्ज ताम्रशासनरे भञ्जवंश "अण्डजवंश प्रभव" थिवार कथा उल्लेख अछि । किम्वदन्तीरु जणा जाए जे बौद भञ्जवंश मयूरभञ्जर भञ्जवंशर शाखा-विशेष । एणु मयूरभञ्जर भञ्जवंशर गोत्र वशिष्ट हेले मध्य अण्डजवंश प्रभव हेवार कथा । मयूरभञ्जर ब्राह्मण घाटीरु मिळिथिवा । ताम्रशासनरु देखा जाए जे वीरभद्र आदिभञ्ज 'मयूराण्डोद्भव' ओ 'वशिष्ठ मुनि प्रतिपाळित' नृपति थिले । मयूरभञ्जरु जेउँ तिनोटि तम्बापटा मिळि अछि से गुड़िक खिजिङ्गकोट्ट (आधुनिक खिचिङ्ग) राजधानीरु दिआ जाइथिला ।

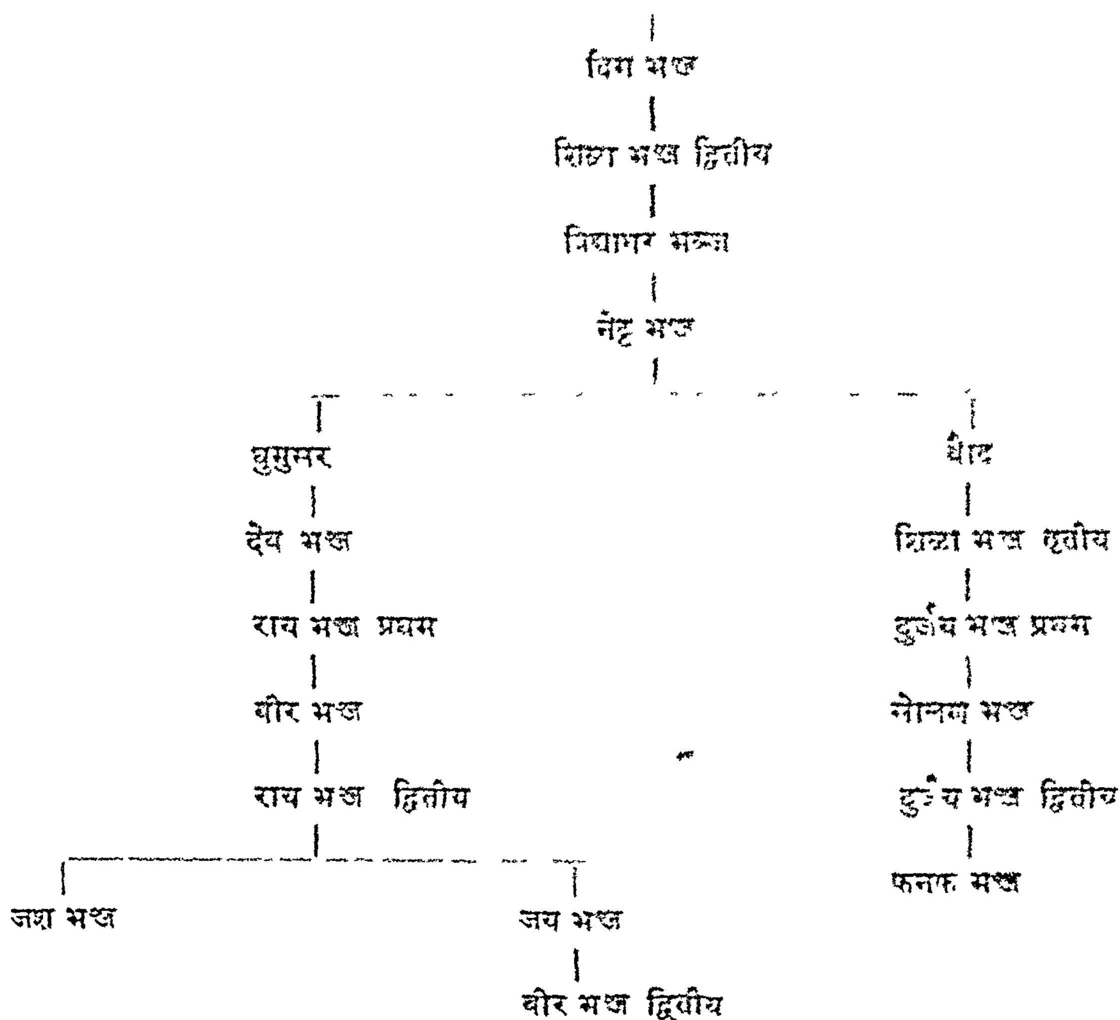
ओड़िशार भञ्जवंशीय राजामाने सूर्यवंशीय क्षत्रिय वोलि परिचित । भारतप्रसिद्ध मौर्यवंश सूर्यवंश थिवार ओ मयूराण्डोद्भव थिवार प्रमाण वळरे पण्डित विनायक मिश्र एहि सिद्धान्तकु आसिअछन्ति जे ओड़िशार भञ्जवंश मौर्यवंश-सम्भूत । हंटर साहेवङ्क लिखित इतिहासरु जणाजाए जे मयूरभञ्जर राजवंश २००० वर्ष पूर्वे स्थापित होइथिला । से कथा जाहा हेउ वा न हेउ नेट्ट भञ्जङ्क ताम्रशासनरु वेश वुझा जाउ अछि जे ओड़िशारे भञ्जवंश अष्टम शताब्दि ठारु निरवच्छिन्न राजत्व करि आसु अछन्ति ।

भञ्जराजा मानङ्कर राजधानी गुडिक मध्यरु खिचिङ्ग ओ गन्धराढी वा गन्धर्वबाडीरे बहु प्राचीन कीर्त्ति थिबार जणा जाइ अछि। रणभञ्जङ्क खिचिङ्गरु प्रदत्त ताम्रशासनटि नवम शताब्दिर शेष भागरे अर्थात् खी० ८९४—९५ रे लिखित होइथिला। खिचिङ्गर प्राचीन स्थापत्य ओ केवळ भास्कर्य्य ओड़िशा काहिँकि भारतवर्षरे मध्य *स्थान पाइआछे। रेने ग्रोसे* (*Rene Groset*) कर *"प्राच्य सभ्यता"* र (Civilization of the East) पुस्तकरे खिचिङ्गर भास्कर्य्यकु "मयूरभञ्ज कळा" (Mayurbhanj school) आख्या दिआ जाइअछि। गन्धराढीर मन्दिरादि मध्य अष्टम शताब्दिर कार्य्य बोलि स्थिरीकृत होइअछि। समसामयिक भौमराजामानङ्क व्यतीत अन्य कौणसि राजवंश ओडिशारे एपरि स्थापत्य वा भास्कर्य्य कीर्त्तिर पृष्ठपोषक थिबार जणाजाउ नाहिँ। निम्न लिखित राजामाने खिचिङ्गरे राजत्व करुथिबार ताम्रशासनरे उल्लेख अछि।



निम्नलिखित राजामाने खिञ्जळि मण्डळरे राजत्व करुथिबार कथा ताम्रशासन गुडिकर उल्लेख अछि—





(३) सोमवंशी केशरीवंश

पूर्वे वोला जाइअछि जे मादळापाञ्जि अनुसारे केशरीवंश राजामाने खी० ४७४ ठारु खी० ११३२ पर्य्यन्त राजपण करिथिले। तदनुसारे केशरीवंशर शेष राजा सुवर्ण्ण केशरीङ्कु पराभूत करि गङ्गवंशी चोड़गङ्गदेव ओड़िशार राजचक्रवर्त्ती होइथिले।

एपिग्राफिया इंडिका पुस्तकर तृतीय भागरे मुद्रित "कटकर सोमवंशी राजवृन्द" प्रवन्धरे स्वर्गीय फ्लिट साहेव सर्वप्रथम प्रमाणित करिथिले जे मादळापाञ्जिरे लिखित केशरीवंशीय राजामाने प्रकृत पत्तरे ताम्रशासनोक्त सोमवंशी राजगण अटन्ति। मात्र ताङ्कर एहि सिद्धान्त सत्यरूपे गृहीत हेवार केतेटि अन्तराय थिला। 'रामचरित' र 'उत्कळेश कर्ण केशरी' ओ भुवनेश्वरस्थ ब्रह्मेश्वर मन्दिरर शिळालिपिर उद्योत केशरी ओ खण्डगिरि शिळालिपिर उद्योत केशरी नामरु केशरी वंशर स्वतन्त्रता मध्य धरा पड़ुथिला। सोमवंश ओ केशरीवंशर ऐक्यसूचक कौणसि लिपि मिळि नथिवारु दक्षिण कोशलर सोमवंशी राजामानङ्कु उद्योत केशरीङ्क पूर्वपुरुष वोलि ग्रहण करिवा पक्षे जथेष्ट सन्देह जात हेउथिला। सौभाग्यक्रमे नरसिंहपुर स्टेटरु उद्योत केशरीङ्क खण्डिए तम्वापटा वाहारि सोमवंश सहित केशरीवंशर ऐक्य स्थापन करि देइअछि। एपर उद्योत केशरीङ्कर आउ खण्डिए अपूर्ण्ण तम्वापटा रत्नगिरिठारु मध्य वाहारि अछि। भौमवंशर आलोचना सदृश केशरीवंशर

आलोचना करि जावतीय ऐतिहासिक जटिळता दूर करिथिबारु पण्डित विनायकङ्क नाम उत्कळर इतिहासरे चिर-स्मरणीय हेब। एहि मधुर आलोचनार देखा जाउ अछि जे माद्ळापाञ्जिरे लिखित राजामानङ्क राजत्वकाळ ठीक न थिले मध्य केउँवंश परे कउँवंश राजत्व करिथिले ताहार धारावाहिक विवरण लिखित थिबार अनुमित हुए। ताम्रपटा गुडिकरु ओ शिळालिपिरु प्राप्त एहि वंशर राजामानङ्कर नाम दिआ गला।

जनमेजय महाभव गुप्त प्रथम

कोशल राजवंश — उत्कळ राजवंश

(कोशल राजवंश)
जजाति महाशिवगुप्त प्रथम
भीमरथ महाभवगुप्त द्वितीय
धर्मरथ महाशिवगुप्त द्वितीय (अपुत्रिक)

(उत्कळ राजवंश)
विचित्रवीर

उत्कळ ओ कोशळ राजा अभिमन्यु

कोशल राजवंश — उत्कळ राजवंश

(कोशल राजवंश)
नघुष महाभवगुप्त तृतीय वा चण्डीहार

(उत्कळ राजवंश)
जजाति द्वितीय, महाशिवगुप्त तृतीय
उद्योत केशरी महाभवगुप्त चतुर्थ

जनमेजय महाभवगुप्त प्रथमङ्कर ३१ सबत्सर (एपिग्राफिया इंडिका तृतीय भाग) ताम्रशासनरे देखा जाए जे से 'त्रिकळिङ्गाधिपति' ओ 'कोशळेन्द्र' थिले। आउ महाशिवगुप्त जजाति द्वितीयङ्कर मुरजमरा ताम्रशासनरु (विहार ओड़िशा रिसर्च जर्नल—द्वितीय भाग) देखा जाए जे से 'कलिङ्ग—कोङ्गदोत्कल स्वयम्भर प्रसिद्ध' ओ कोशळेन्द्र थिले। एथिरु 'कोशळ' बाद देले कळिङ्ग, कोङ्गद ओ उत्कळ घेनि से समयर त्रिकळिङ्ग राज्य अभिहित हेउ थिबार अनुमान करा जाइ पारे। एथिरे किन्तु भौमराजामानङ्कर तोषळ राज्यर उल्लेख नाहिँ। तेणु बोधु हेउअछि जे उत्तर तोषळ उत्कळ ओ दक्षिण तोषळ कोङ्गद नामरे परिचित हेउथिला। एहि जनमेजयङ्कर राजत्वकाळर आरम्भ दशम शताब्दिर प्रारम्भरे धरा जाइ पारे। भौमवंशर दण्डी महादेवीङ्कर राजत्व हर्षाब्दमतरे धइलेर नवम शताब्दिर प्रथम पादर शेष पर्यन्त धरागले मध्य उभयङ्क मध्यरे प्राय १०० वर्षर व्यवधान थिबार देखा जाउ अछि। जदि भौमवंशर राजामानङ्कर सम्बन्ध हुए सम्बन्ध न हुए, तेबे अनुमान करा जाए जे स दण्डी महादेवी वा ताङ्कर परवर्ती केहि दुर्बल राजा जनमेजयङ्क द्वारा पराभूत हाइथिले। कारण एहि समय मध्यरे अन्य कौणसि राजवंशवर्ती वंशर अस्तित्वर निदर्शन एपर्यन्त मिळिनाहिँ।

जनमेजय त्रिकळिङ्ग अधिकार करि कटक निकटवर्त्ती चउद्वार ठारे राजधानी स्थापन करिथिले कारण चउद्वारर स्थापयिता जनमेजयङ्क नाम अद्यापि जनश्रुतिरु ओ मादळापाञ्जिरु जणाजाए। चउद्वारर कपालेश ग्रामरु जनमेजयङ्कर खण्डिए ताम्रशासन-मध्य मिळिअछि। चउद्वार ओड़िशार पञ्चकटक मध्यरु गोटिए कटक।

एहि सोमवंशी केशरीवंशर राजामानङ्कर राजधानी मध्यरु 'सुवर्णपुर' आधुनिक सोनपुर बोलि निर्णीत होइअछि। एठारु जनमेजय प्रथमे ताम्रशासन दान करि थिले। ताङ्कर अन्यान्य ताम्रशासन गुड़िक 'विजय स्कन्धावार' वा 'विजय कटक' रु दिआ जाइथिला। जजाति प्रथम प्रथमे 'विनीतपुर' रु ओ शेषरे 'जजाति नगर' रु दान करिथिले। किन्तु जजाति द्वितीय सुवर्णपुररु दान करि अछन्ति। उद्योत केशरीङ्क ताम्रशासन जजाति नगररु मध्य प्रदत्त होइथिला। रायबाहादुर हीरालाल सोनपुर राज्यर आधुनिक बिङ्का नदीकु ताम्रशासनोक्त विनीतपुर वा जजातिनगर एक बोलि कहि अछन्ति। विनीतपुर बिङ्का होइपारे, मात्र जजातिनगर कदापि बिङ्का होइ न पारे। जजातिनगर कु सम्बलपुर अञ्चळरे वा कोशळरे न खोजि समुद्र उपकूळवर्त्ती ओड़िशारे अन्वेषण करा सङ्गत। भौमवंशी राजा मानङ्कर राजधानी 'गुहदेव पाटक' जाजपुर ठारे थिला बोलि पण्डित विनायक मिश्र स्थिर करि अछन्ति। बोध हुए केसरीवंशर राजा मानङ्कर 'जजातिनगर' परे 'जजानगर' होइ 'जाजनगर' हेला ओ वर्त्तमान 'जाजपुर' होइअछि। मुसलमान ऐतिहासिक माने ओड़िशाकु जाजनगर नामरे अभिहित करु थिले।

गङ्गवंशर राजराजदेव ९९३ शकाब्दरे (खी० १०७१ रे) उत्कळ अधिकार करन्ते। रामचरितर 'उत्कळेश कर्णकेशरी' रामपाळङ्कर वश्यता स्वीकार करि रक्षा पाइ थिले मध्य शेषरे राजराजङ्क ठारे पराभूत होइथिबार अनुमान हेउअछि। एहि कर्णकेशरी कि मादळापाञ्जिर सुवर्णकेशरी ?

मादळापाञ्जि अनुसारे जजातिकेसरी सोनपुररु प्रोथिन जगन्नाथदेवङ्कर मूर्त्ति उद्धार करि पुरीरे पुनः प्रतिष्ठा करिथिले। वर्त्तमान देखा जाउअछि जे जजाति द्वितीयङ्कर सुवर्णपुर वा सोनपुररे राजधानी थिला। ओड़िशा अधिकार परे सोनपुर ठारे जगन्नाथदेवङ्कर मूर्त्ति पोता थिबार शुणि मूर्त्ति उद्धार करिबारे मन बळाइबा जजातिङ्क पक्षरे स्वाभाविक। मात्र एथिपूर्वे केउँ जवन आख्याधारी राजा समुद्रपथरे ओड़िशा आक्रमणकरि शताधिक वर्ष राजत्व करिथिले ? बौद्धधर्मावलम्बी भौमवंशर राजामानङ्कु कि मादळापाञ्जिर लेखकमाने जवन आख्या देइअछन्ति ? परमसौगत शुभाकर प्रथम कोङ्गद अधिकार न करि कदापि कळिङ्ग अधिकार करि न थिले। तेवे सेहि अभिजानरु रक्षा करिबा लागि जगन्नाथदेवङ्क मूर्त्तिकु कि पुरीर पण्डामाने सोनपुररे नेइ पोति पकाइथिले ? एहि सबुर समाधान न हेबा जाएँ मादळापाञ्जिर किम्बदन्ती किम्बदन्ती आकाररे रहिथिब। मात्र समसामयिक लिपिरु सप्तम शताब्दि ठारु द्वादश शताब्दी पर्य्यन्त समय मध्यरे ओड़िशार राजनैतिक इतिहासर सामग्री जाहा मिळिअछि, तद्‌द्वारा ओड़िशार ५०० वर्षर इतिहास मादळापाञ्जिर विवरण ठारु एकाबेळके नूतन होइअछि।

How Scholars Were Honoured in Ancient India

श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती, कलकत्ता ।

[प्राचीन भारतवर्ष में विद्वानों का सम्मान करना राजाओं का एक कर्तव्य समझा जाता था। राजशेखर की काव्य मीमांसा के 'कवि चर्या' और 'राजचर्या' नामक प्रकरण इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। राजशेखर ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह विद्वानों और कवियों का आदर सत्कार करे। उन्हें दान दक्षिणा दे कर विद्या का प्रसार करने में सहायता पहुँचावे तथा अपनी राजसभा में इस प्रकार के कवियों और विद्वानों को इकट्ठा करे। सभा मण्डप में बैठ कर उन से काव्यालाप करे; विदेशों के भी बड़े बड़े विद्वानों को अपने यहाँ निमन्त्रित किया करे। यह राजशेखर की कल्पना ही नहीं उस ने कितने ही ऐतिहासिक उदाहरण भी दिए हैं, जैसे वासुदेव सातवाहन, शूद्रक साहसाङ्क आदि। उज्जैन और पाटलीपुत्र में कवियों और शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी। उस का उल्लेख भी राजशेखर ने किया है। राजशेखर की यह बात दूसरे आधारों से भी पुष्ट होती है।]

The practice of giving public reception and honour to distinguished scholars is not a new institution of modern civilisation Scholarship thrived in ancient India under the patronage of kings and wealthy men of society, who occasionally honoured them publicly and made valuable presents to them Attempts were made by kings and landlords to secure at their courts reputed scholars, who were maintained in right royal fashion Valuable gifts were offered to scholars on the occasion of funeral ceremonies and festive observances by all rich men, many of whom even maintained schools where students not only received free education but free boarding and lodging as well Innumerable copper plates that have already been brought to light record the grant of tracts of land to Brahmin scholars by kings for the increase of their fame and religious merit These acts served as sources of great encouragement to the growth and development of scholarship in the land It is true some of the rich men of the present day also follow, to some extent at least, in the foot steps of their forefathers, but their number is unfortunately dwindling

Rendering all possible help and giving encouragement to scholars were regarded as part of the duties of kings and wealthy men Rājaśekhara, in his *Kāvyamīmāṁsā* (in the section entitled *Kavicaryā* and *Rājacaryā*), thus indicates the duties of a king with respect to poets and scholars

"A king," says he, "should found an Association of Poets He should have a hall for the examination of poetical works Here he should be seated at ease

and introduce poetic discourses and tests. The scholars at his court should be satisfied (by the honour shown by him) and maintained (at his cost). Deserving people should be awarded rewards. Exceptionally good poems or their authors should be properly honoured. A king should make arrangements for establishing contact with scholars come from other lands, and show honour to them as long as they stay in his dominions. Scholars eager for some stipends should be persuaded to stay at his court, for the king, like the ocean, is the sole repository of jewels. Subordinates of the king should also imitate him in this matter as in others."

There is no reason to suspect that Rājaśekhara has only given the picture of an imaginary state of things, that he has referred to an ideal king and the duties indicated by him existed only in his imagination. He has himself mentioned the names of several historical kings like Vāsudeva, Sātavāhana Śūdraka and Sāhasāṅka, who are stated to have made gifts to, and honoured, scholars. He has recorded a tradition regarding the examination of poets at Ujjain where Kālidāsa, Mentha, Amara, Rūpa, Sūra, Bhāravi, Haricandra and Candragupta are stated to have been examined. He has recorded one more tradition regarding the examination of scholars at Pāṭaliputra (Patna) where Upavarṣa, Varṣa, Pāṇini, Piṅgala, Vyāḍi, Vararuci and Patañjali were examined. and earned fame.

Besides, we have more than one reference in old works of the actual state of affairs. Reference has already been made in general to the grant of tracts of land and other kinds of help rendered by people in affluent position to persons engaged in the laudable task of the pursuit and dissemination of knowledge. We shall give here some definite instances. A systematic study of the topic would yield valuable information regarding the cultural life of the country in general and many a king in particular. It may be stated seriously that there scarcely was a scholar who did not enjoy the patronage of some rich men. Here we shall refer to the type of honour shown and the kind of presents made to scholars.

Vaidyanātha Pāyaguṇḍe in his commentary on the *Sūryaśataka* records how Harṣavardhana presented to Mayūra the poet, who composed the *Sūryaśataka*, elephants, horses, villages, cloths, ornaments, swings,[1] buildings and other things. Dhoyī, court poet of Lakṣmaṇasena of Bengal, states in one of the concluding verses of his *Pavanadūtam*, how he received from the king a number of elephants,

(1) Swings were much in use in ancient India among fashionable people and poets, who were greatly fashionable as appears from the description of their mode of life by Rājaśekhara in the *Kavicaryā* section of his Kāvyamīmāṃsā.

golden *chowrie*, and golden stick[1] Bhoja of Dhārā is reported in the *Bhojaprabandha* to have given to poets a lac for each letter of a poem composed by them This is undoubtedly an exaggeration, so common to royal portages, but there is no doubt that here we have an eloquent testimony to the fact that he was really a great patron of learning

Bṛhaspati Rāyamukuta, a versatile scholar, who flourished at the time of the son of Rājā Ganesa Jelaluddin of Bengal, records[2] how he received from the king a bright necklace bedecked with brilliant jewels, two bright ear rings, ten bright bejewelled rings on ten fingers, two umbrellas, horses, and, along with auspicious baths seated on elephant, the dignified title of Rāyamukuta

The poet Śrī Harṣa mentions in his *Naiṣadhacarita* how he had the honour of being the recipient of a pair of betels and a seat from the king of Kānyakubja[3]

Jīdeva, probably of the court of king Pratāparudra Gajapati of Orissa, refers in the prologue of his drama, the *Bhaktivaibhava*, the receipt by him, from the king, of eight golden *chowries*, a golden umbrella and a resounding tabor[4]

There are numerous other instances of the honour done to scholars by kings and wealthy men, a systematic study of which is reserved for the future

---

1 दन्तिस्पृहं कनककलितं चामरं हैमदण्डं
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती । (Verse 101)

2 ज्योतिष्मन्मणिपुञ्जरञ्जनरुचिं हारं ज्वलत्कुण्डले
रत्नौघस्फुरिता दशाङ्गुलिगताः शाचिष्मतीर्मुद्रिकाः ।
यः प्राप्य द्विरदाधिरूढकलशस्नानानि च नृपा
च्छत्रे द्वे तुरगांश्च रायमुकुटाभिख्यामभिख्यावतीम् ॥

Descriptive catalogue of Sanskrit Ms. in the India Office Library—Vol II No 934

3 ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् (Canto concluding verse)

4 अष्टौ हाटकचामराणि कनकच्छत्रं जगड्डिण्डिमं
यो लब्ध्वा प्रथितः प्रतापविभवश्रीरुद्रदेवेश्वरात् ॥

A Ms of this work is in the Library of the Asiatic Society of Bengal

लङ्कावे राजपुतजनया

श्रीयुत पर्णवितान, पुरातत्त्व-विभाग, सिंहल।

उतुरु इन्दियावे राजपुतजातिकयन् हा लङ्काव अतर एतैम् कालवलदी किसियम् सम्बन्धकम पैवतिवैवू पेनेन्नट तिबे। मे सँदहा मे वनतुरु दैनगन्नट लैबीतिबेन करुणु संग्रहकोट दैक्वीम मे लिपियेहि अदहस वे।

महावंशय आदी लङ्कावे इतिहासग्रन्थयन् हि राजपुतजनयन् सँदहन्वी तिबेन्ने आर्ययन नामयेन्य। मे नामय राजपुतजनयन्नट व्यवहारकरनु लैबीय किया पळमुवेन् पेन्वादुन्ने लङ्कावे इतिहासय सम्बन्ध श्रेष्ठ दैनीमक् ऐति एच्० डब्लिव्० कोड्रिन्टन् महता विसिन्य। आर्य यन नामयेन् सामान्यवशयेन् उतुरु इन्दियावे जनयन् गतहैकि नमुत् मेय सँदहन्वेन बोहोतैन्हिम राजपुतजनयन् सम्बन्ध वैवू निश्चय किरीमट करुणु तिबे। सिंहल-जनयोद आर्यवर्गयट अयत्य। एतकुदुवूवत आर्य यन नामय पसुकालयेदिवृ लङ्कावे लियविलिवल उतुरु इन्दियावे जनयाट पमणक् व्यवहारकिरीम, द्रविडयन्गे व्यवहारय अनुव वीययि सितिय हैकिय। आर्य हेवत् राजपुतजातिकयेक् पळमुकोट लङ्काइतिहासये सँदहन्वन्ने एकळोसवैनि शतवर्षयेदीय। मे कालयेहिदी सिंहलराज्यय सोळीन् विसिन् विनाशकरन लदुव लङ्काद्वीपयेन् बैडिकोटसक् चोळराज्ययट नगैगत्र पैवैत्तेय। मेसे पवतना अतर रामरजहुगे वंशयेन् पैवतएन जगतीपाल नम् क्षत्रिययेक् अयोध्यापुरयेन् लङ्कावट अवुत् एवकट लङ्कावे प्रदेशयक अधिपतिकम् कळ विक्रमपण्डु नम् द्रविड रजेकु समग युद्धकोट ओहु नसा रुहुणुरट सतर हवुरुद्दक् राज्यय कळ ववद, इन्पसु सोळीन् ओहु मरा ओहुगे मेहेसियद दूकुमरियद धनयद सोळीरटट गेनयनलद ववद महावंशयेहि सँदहन्वे। दकुणु इन्दियावे शिलालिपिवलद मे प्रवृत्तिय मीट मँदक् वेनस्व दकूवा तिबे। उतुरु इन्दियावेन् लङ्कावट आ कुमारया जगतीपाल नोव वीरशलामेघन् नम् वीययिद ओहु आवे कान्यकुब्ज नगरयेन् ययिद एहि सँदहन्वे। सोळीन् विसिन् ओहु पराजयकळ अयुरुद, मेहेसिय हा दुव सोळीरटट गेनगिय सँटिद महावंशये कियनलद प्रकारम मणिमङ्गलम् नम् स्थानयेहि वू राजाधिराजनम् सोळी-रजुगे शिलालिपियेक किया तिबे। महावंशयेहि सँदहन् जगतीपाल दकुणु इन्दियावे लिपिवल एन वीरश(ा)ला-मेघन्य यनु आचार्य हुल्टष् महतुन्गे मतयवे।

मे कालयेदी कान्यकुब्ज (कनवुज्) नगरयद अयोध्यानगरयद राजपुतजातिक क्षत्रियन्नट अयत्व तिबू-हेयिन् लङ्काद्वीपयट मे प्रदेशयेन् अवुत् रजकळ जगतीपाल हेवत् वीरशलामेघन् राजपुतवंशिकयेक् विययुतुयि।

क्रि० व० १०५८दी विजयवाहुनम् सिंहल कुमारयेक् लङ्कावेन् सोळीन् नेरपा मे द्वीपयेहि आधिपत्यय नैव-तत् सिंहल रजुन् सन्तक कळेय। विजयवाहु रज राज्यकरन कल सोळीरट सिट जगतीपाल रजहुगे मेहेसिय हा दूकुमरिय सोळीन् अतिन् मिदी लङ्कावट पेमिणियेय। विजयवाहु रज ओवुन्गे वंशप्रवृत्तिय असा उतुम् वंशयेहि उपन्नन् ववदैन लीलावती कुमरिय तमागे मेहेसिय कळेय। ए मेहेसियगेन् विजयवाहुरजुट यशोधरानम् दुवक् विय। ओतोमो वीरवम्मनम् कुमरेकुट सरणपावादेनलदिन् लीलावती हा सुगलानम् दून् देदेनेकु वैदुवाय।

लीलावती कुमरिय विक्रमबाहु रजुटद सुगलानम् कुमरिय सिरिवल्लभ कुमारयाटद विवाहकरदेनलद्दोय। सुगला देवियगे पुत्वू माणाभरण कुमारया रुहुणु रटट अधिपतिव पराक्रमबाहुरजुट विरुद्धव योद्धा सटन्कळेय। सिरिवल्लभ कुमरहुगे पुत्रयो आर्यवंशयट अयत्वूवोययि महावंशयेहि सँदहन्वे। सिरिवल्लभ कुमारया जगतीपालनम् आर्य वंशिक द्वेवत् राजूपुत्जातिक क्षत्रिययेकुगेन् पैवतएुन कुमरियक् विवाह करगत् हेयिन् ओहुगे पुतुन् आर्यवंशिकयन् वूवोययि सितिय हैकिय। मे कालयेदी लङ्कावे राजकुमारवरु स्वकीय भवगे वंशयेन् प्रकटवूवोययि सितीमट करुणु तिबेत्। मेय कसेवेतत् मे कालये लङ्कावे अधिपतिकम् कळ रजदरुवन् आर्य द्वेवत् राजूपुत्वंशिकयन्ट सम्बन्ध तावयक् एतिवू वव निश्चयवे।

विजयबाहुरजहुगे पुत् विक्रमबाहुरजु कालयेदी आर्यदेशयेहि उपन्, पलन्दीपनम् प्रदेशयट अधिपतिवू, वीरबाहु नम् अयेक् लङ्काद्वीपय अत्पत्करगनु कैमेत्तेन् महत्वू भटसेनावक् सहितव महतोटट गोडवैसूसेय। विक्रम बाहुरज ओहु हा युद्धकरनु सँदहा मन्नारमट गियेय। मेहिदा हटगत् युद्धयेन् विक्रमबाहुरजु पैरदियेन् वीरबाहु पोळोन् नरुपुरयट गोस् एय अत्पत्करगत्तेय। विक्रमबाहुरजु हस्तसार वस्तून्द रैगेन कोटसर नम् दनवूवट पळागियेय। विक्रमबाहुरजु लुहुबैंद गोस् वीरबाहु महाकर्दम दुर्गयेकूहि सिंहळरजु हा युद्धकोट पैरद जीवितक्षयटद पैमिणियेय। मेहि सँदहन् वीरबाहु आर्यदेशयेहि उपन्नेकूययि कियन लद्देय एहेयिन् ओहु उतुरु इन्दियावे सिट पैमिणियेक् विययुतुयि। एतकुदुवूवत् ओहु राजूपुत्वंशिकयेकैयि निश्चय करगैन्मट तरम् कारणयक् नोमेतियि। ओहुगे आधिपत्यय पैवति पलन्दी पनम् प्रदेशय कुमक्दैयि तीरणय करगैन्मद नुपुलुँवन।

मिन्पसुव आर्य द्वेवत् राजूपुत्जनयन् लङ्काइतिहासयेहि सँदहन्वन्ने दँवदेनि राजधानिय समयेहिदीय। दँवेनि पराक्रमबाहुरजहुगे पुत सतरवेनि योसत् विजयबाहुरजु सिंहासनारूढवी दँवुरुद्दक् गियपसु मित्र नम् राजद्रोहि सेनाधिपतियेकुविसिन् ए मिहिपलूहेमे मरवनलद्देय। रजहुगे मलूवू भुवनेकबाहु कुमारया सतुरन् अतिन् मिदी लुहुवैंद एन्ननट असुनोवी यापवू दुर्गयट गोस् वन्नेय। इन्पसु मित्र नम् सेनाधिपतिया राजाभरण येन् सेरही रजमालिगाव तुळट गोस् सिंहासनारूढव सेनावट तमा दैकूवीय। सेनावट पडिदामेन तमाट पक्ष-पात करगनु सँदहा पळमुकोट आर्यभटयन्ट पडिदीमट सैरसुणेय। ठकुरक नम् ओवुन्गे नायकया पडि प्रति क्षेपकोट पळमुकोट सिंहलसेनावन् वेतनदानयेन् सम्ब्रहकटयुतुयि पिळ्तिुरुदुन्नेय। सिंहलभटयन् किसित् नोकिया पडि पिळिगत् पसु नैवतत् आर्यभटयन्ट पडिदीमट सैरसुणुकल ठकुरकवेमे नैवतत् प्रतिक्षेप कलेय। मीट कारणा कवरेदैयि विचारनलदिन् रजु इदिरिये कियमूहयि कीकल ठकुरक प्रधानकोट पति आर्यभटयो सिंहासना-रूढवू मित्र सेनाधिपतिया इदिरियट गेनयनलद्दोय। ठकुरकवेमे मित्रसेनेवियया इदिरिपिट बुहुमन् सहितवमेन् मोहोतक् सिट तमागे भटयन्ट सञ्ञाकोट तियुनुवू कडुव एद एकपहरिन्म मित्रसेनेवियागे हिस कपाहेरोय। एविट महत् अरगलयक् हटगत्तेय। “मे पा पीवू कियाव कुमट कलेदै”यि कियमिन् सिंहलसेनावो ठकुरकयाट तर्ज-नय कळोय। निर्भयवू ठकुरकवेमे यापहुनुवर सिटिना भुवनेकबाहुरजहुगे नियोगयेन् करनलदैयि कीय। मिन्-पसु सिंहलसेनावोद ठकुरक प्रधान आर्यभटयन्ट एकतुव यापहुनुवरट गोस् भुवनेकबाहु कुमारया राज्ययट पत्कोट अभिषेक कळोय।

मेहि सँदहन् आर्ययो राजपुतजातिकयोययि पळमुवेन् पैन्वादुननें फोडूरिटन महतविसिन्‍य। आर्य-भटयिन्गे नायकयाट ठकुरक यननामय महावंशयेहि दीतिवे। मे नामय हिन्दी वङ्ग आदी उतुरु इन्दियावे भाषा-वल पवतुना "ठकूर्" यन पदय ववट सैकनैत।

मेहि दैक्वू प्रवृत्तियेन् पेणेन्ने मे कालयेदी सिंहलरजहुगे युद्धसेनावेहि राजपुतजातिकयन् सेवाकम् कळ-ववय। आर्य हेवन् राजपुतभटयो स्वामिपक्षपातव स्वकीय जीवितयद नोतका क्रियाकर तिबेन वैव् मे प्रवृत्तियेन् पेणे। सिंहलसेनावन्द राजद्रोहियाट पक्षव पवतुना वेलावेदी तमन्ट अवटपत लाभयद प्रतिक्षेपकोट मित्रसेने-वियाट पक्षपातवूवन्गेन् वियहैकि अन्तरायद नोसलका तमन्गे स्वामियागे वंशयेहिवू कुमारयाट राज्यय गेनदीमट शौर्यवीर्य्य गति दकूवा ठकुरक सह ओहुगे आर्यभटयो क्रियाकळोय। मेहिदीपेनुवनलद उदारगु गुणयन् गेण राजपुत-जातिकयो सुप्रकटह। मे कालयेदी राजपुतजनयन् लङ्कावट पैमिण सिहल रजुट सेवाकम् करनु सैदहा पतुवीमट हेतुव महमतजातिकरजुन् विसिन् बोहो राजपुतजातिक राज्ययन् अतपत् करगेनीमययि सितियैहेकिय।

स्वकीय रूपलावण्ययेन् हा पतिव्रतागुणयेन्द लोकय विस्मयट पतूकळ पद्मिनी नम् कुमरिय लङ्कावेहि सिटि चौहान् राजपुतवंशिक कुमरेकुगे दुवणियक् बव राजस्थानये इतिहास प्रवृत्तिवलिन् पेणे। पद्मिनी कुमरियगे कथाप्रवृत्तिय नोदन्ना यमेक एतैयि सितियनोहैकि हेयिन् एय मेहिदी विस्तर कटयुतु नोवे। पद्मिनी कुमरियगे कालयद वोसत्विजयबारजहुगे कालयट समीपवैविन् आर्यहेवत् राजपुतजनयो लङ्कावे विसुवोययि सिंहलइतिहासयेन् दैनगनट लैबेन प्रवृत्तियद राजस्थानये वगकथावन्हि दकूवनलद प्रवृत्तिद एकिनेकट संसन्दनय वेत।

पद्मिनी कुमरियगे जन्मभूमियवू लङ्काव मे द्वीपय नोव राजस्थानयट असल प्रदेशयकुयि महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझातुमा विसिन् मैतदी प्रकटकरनलद लिपियेक दकूवा तिवे। राजस्थानये इतिहासय हा पुरावृत्तव पिळिबँदव अद्वितीय दैनुमक् ऐति मे पंडितुमागे मतय सैमअतिन्म गरुकळयुतुयि। एतकुदुवूवत् लङ्कावे राजपुतजनयन् पिळिबँदव मेहि दकूवन करुणु हा संसन्दनयकोट मे प्रश्नय कल्पना किरीमट ए पंडितुमाट गौरवसहितव आराधना करमि।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धयट साक्षिवशयेन् दैक्वियहैकि तवत् करुणक् पस-ळोस्वैनि शतवर्षयेदो रचनाकरनलद काव्यशेखर नम् सिहल काव्ययेहि एतुतेय। वरणेसनुवर सिट तकूसला-नुवर दकूवा मार्गय वर्णनाकरन काव्यशेखर कर्तृ, गङ्गानदिय दिगे प्रयागतीर्थयट गोस् एतैनिन् वटहिर अतट हैरी गोवर्धनपर्वतय पसुकोट मालवदेशयेहि सिप्रानदिय एतरव तकूसलानगरयट पैमिणिसैटियट दकूवा तिवे। मेयिन् पेणेन्ने काव्यशेखर कर्तृगे तकूसलाव गन्धार देशयहि एनमिन् सुप्रकट पुरय नोव राजस्थानयेवू नगरयक् ववय। राजस्थानये इतिहासय सह पूर्वतत्व गैन कर्नल् टोड् महतुन् विसिन् लियनलद सुप्रकट ग्रन्थयेहि चितोर्नगरय तकूसला यन नमिन् पूर्वकालयेहि प्रसिद्धवू ववक् दकूवा एतुतेय। काव्यशेखरये तकूसलानग-रय पिहिटियेययि दकूवन प्रदेशयद चितोर्नगरय असल हेयिन् राजस्थानये तकूसलानगरयक् पसळोस्वैनि शतवर्षये सिंहलयन् दैनसिटि वैव् निश्चित वे।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धयट साक्षिभूतवू तवत् करुणक् वैगदो एळिदरवूवी तिवे। अनुराधपुरये रुवन्वैलि महास्तूपये हतरस् कोटुवे तिबी मैतदी सम्भवू निदन् वस्तु अतर राजपुतदेशये पुराण

तँबकासि विसूसक् पमणविय। मे कासिवल एकू पैत्तक गोन् रूपयकूद अनित् पैतुव अश्वारोहकयकुगे रूपयकूद वेत्। नागरीअत्तरवलिन् ए कासि निकुत्कळ रजुन्गे नम् सँदहन्कोट तिबेत्। कासि बोहोसे गेवीगोस् तिबेन निसा मेनम् सम्पूर्णलेस कियवागैनम उगहटयि। मे वर्गये कासि इन्दियावे पुराण कासि गैन कनिहँम्, विन्सन्ट् स्मित् आदि पँडिवरुन् विसिन् लियनलद पोतूवल विस्तरकोट ऐत। रुवन्वँलिसैय मेकासि हा समग तिबू अनित् वस्तून्द दहतुन्वेनि शतवर्षयट पमण अयत् वूबो वेत्। मे राजपुत् कासिद ए कालयटम अयत्य। राजस्थानयेन् लङ्कावट पैमिणि जनयन् विसिन् मे कासि गेनएन्ट एतैयि अनुमान कटहैकिय।

राजस्थानये इतिहासय गैन करुणु सोयामट स्वकीय जीवितय सम्पूर्णयेन् गतकोट इन्दियावे पमणक् नोव विदेशयन्हिद स्वकीय पण्डितत्वय पतळकोट गरवुहुमन् लत् महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझा पँडितुमाट गौरव किरीम पिणिस सङ्ग्रहकरनुलबन पोतट लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धय गैन मे सुँलुलिपिय एवीमट हैकिवीम इतासतुटट कारणयकि। मेहि दक्वनलद ऐतैम् करुणु निश्चयवशयेन् तवमत् कियहैकि नोवू नमुत् राजस्थानये इतिहासय सम्बन्ध विशारद दैनीम् एति पण्डितवरुन्गे कल्पनावट गोचरवेत्वयि बलापोरोत्तुवेमि।

[अनुवाद*]

उत्तरी भारत के राजपूतों और लङ्का के बीच किसी समय कुछ सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। इस विषय में अब तक जिन बातों का पता लगा है उन का एकत्र कर दिखाना इस लेख का उद्देश्य है।

'महावंश' आदि लङ्का के ऐतिहासिक ग्रन्थों में राजपूत आर्य नाम से उल्लिखित हैं। यह नाम राजपूतों के लिए प्रयुक्त किया गया है, इस बात को सब से प्रथम बता देने वाला, लङ्का इतिहास का पूर्ण विद्वान् श्री० एच्० डब्ल्यू० कोड्रिंग्टन् है। सामान्यतः आर्य शब्द से उत्तर भारतीय लिए जा सकते हैं। तो भी इस का उल्लेख बहुत स्थानों में राजपूतों से सम्बन्ध रखता है। इस बात को निश्चित करने के लिए पर्याप्त सामग्री भी है। सिंहली भाषा भी आर्यवर्ग में है। फिर भी लङ्का के प्राक्कालीन लेखों में आर्य शब्द केवल उत्तर भारतीयों के लिए प्रयुक्त है। माना जा सकता है कि यह प्रयोग द्राविड़ों की व्यवहार शैली के अनुकरण पर प्रचलित हुआ होगा। ग्यारहवीं शताब्दी में आर्य या राजपूत जाति के एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। यह लङ्का इतिहास में प्रथम ही प्रथम उल्लेख है। इन दिनों में चोळदेशियों ने सिंहल राज्य का विनाश किया और द्वीप का अधिकांश चोळ राज्य के अधीन हो गया था। इस स्थिति में जगतीपाल नामक एक राजवंशीय क्षत्रिय का अयोध्यापुरी से लङ्का में आना, विक्रमपण्डु नामक लङ्का के प्रादेशिक द्रविड़ राजा को युद्ध में मार कर रुहुणु राष्ट्र में चार वर्ष राज्य करना, तत्पश्चात् चोळों का उस को मार कर उस की महिषी, पुत्री और धन ले कर चोळ देश में चला जाना महावंश में वर्णित है। दक्षिण भारत के शिलालेखों में भी यह बात इस से अंशतः भिन्न दिखाई गई है। उत्तर भारत से लङ्का में आने वाला जगतीपाल नहीं है वहाँ उस का नाम वीरसलामेघन् है और वह कान्यकुब्ज नगर से आया है। चोळदेशियों ने जिस तरह उसे हराया उस की महिषी और पुत्री को वे कैसे अपने देश ले गए—यह बात जिस प्रकार महावंश में वर्णित है, उसी प्रकार मणिमङ्गलम् स्थान के राजाधिराज नामक चोळराज के एक शिलालेख में भी उस का उल्लेख है। आचार्य श्री कुलटुङ्ग का मत है कि महावंश में उल्लिखित जगतीपाल दक्षिण भारत के लेखों का निर्दिष्ट वीरस(ला)मेघन् है।

उन दिनों में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर एवं अयोध्यापुरी दोनों राजपूतों के हाथ में थे। इसलिए इस प्रदेश से लङ्का में आ कर राज्य करने वाला जगतीपाल या वीरसलामेघन् राजपूत वंश में से हो सकता है।

१०५८ ई० में विजयबाहु नामक एक सिंहली राजपुत्र ने चोळों को लङ्का से भगा कर इस द्वीप का आधिपत्य फिर से सिंहली राजाओं के अधीन कर दिया था। राजा विजयबाहु के राज्य काल में जगतीपाल की रानी और लड़की चोळों से छूट कर चोळ देश से लङ्का में आईं। राजा विजयबाहु ने उन के वंश का समाचार सुना और उन्हों ने उन का कुलीन समझ कर

* अनुवादक—श्री अमरसिंह पेरेरा शास्त्री।

कुमारी लीलावती को अपनी महिषी बना लिया। उस महिषी से राजा विजयबाहु के यशोधरा नाम की एक पुत्री हुई थी। वीरवर्म्मा (वीरवम्म) नामक राजपुत्र को वह ब्याही गई। उस के लीलावती और सुगला नाम की दो पुत्रियाँ हुईं जिन में से कुमारी लीलावती का विवाह राजा विक्रमबाहु के साथ और सुगला का कुमार सिरिवल्लभ के साथ कर दिया गया था। सुगला देवी का पुत्र मानाभरण रुहुणु राज्य का अधिपति हो कर राजा पराक्रमबाहु के विरुद्ध खूब लड़ा। कुमार सिरिवल्लभ के पुत्र आर्यवंश के अन्तर्गत हैं ऐसा महावंश का कहना है। आर्यवंशी या राजपूत-परम्परागत जगतीपाल की वंश-परम्परा में उत्पन्न एक कन्या के साथ सिरिवल्लभ का विवाह होने के कारण उन के पुत्र आर्यवंशी हो गए ऐसी कल्पना हो सकती है। इन दिनों में लङ्का की राजवंशावली अपने मातृवंश से प्रकट होती रही है। इस बात की कल्पना करने में हेतु भी है। चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इस काल में लङ्का के शासक क्षत्रियों का सम्बन्ध आर्यों या राजपूतों के साथ रहा है।

राजा विजयबाहु के पुत्र विक्रमबाहु के राज्य-काल में आर्य देश में उत्पन्न, पलन्दीप नामक स्थान के अधिपति वीरबाहु लङ्का को लेने की इच्छा से भारी सेना के साथ जाकर महातीट (महावाट) पर उतरे थे। उन के साथ युद्ध करने के लिए राजा विक्रमबाहु मन्नार (वर्तमान तलेई मन्नार—रामेश्वर के सामने उस पार) पर पहुँच गए थे। उस युद्ध में विक्रमबाहु का पराजय होने के कारण वीरबाहु ने पोळोन्नरपुर जा कर उस को अपने हाथ में कर लिया। जितनी हो सकीं उतनी चीज़ें अपने साथ ले कर विक्रमबाहु कोटसर नामक प्रदेश (जनपद) में भाग गया था। विक्रमबाहु का पीछा करते हुए वीरबाहु अन्त में कर्दमदुर्ग (एक पङ्कमय दुर्ग ?) में सिंहल राजा से युद्ध में हार कर मारा गया। इस वीरबाहु का आर्य देश में जन्म होना बताया गया है। इसलिए उत्तर भारत से इस का आगमन हुआ होगा। ऐसा होने पर भी यह राजपूत-वंश का है इस बात का निश्चायक कोई हेतु नहीं है। उसी तरह यह भी निश्चित नहीं हो सकता कि वीरबाहु का शासित पलन्दीप प्रदेश कैसा और कहाँ है।

इस के अनन्तर दँबदेनि राजधानी के काल में आर्य या राजपूतों का नाम लङ्का इतिहास में आता है। पराक्रमबाहु दूसरे के पुत्र राजा बोसत् विजयबाहु चौथे के दो वर्ष गद्दी पर बैठने के बाद मित्र नामक एक राजद्रोही सेनाधिपति ने उस राजा का वध करवा डाला। राजा का छोटा भाई भुवनेकबाहु कुमार शत्रुओं के हाथ से छूट कर, पीछा करने वालों से बच कर, यापहू दुर्ग में जा छिपा। उस के बाद सेनाधिपति मित्र राजवस्त्र पहन कर महल में गया और सिंहासन पर बैठ कर अपने को सेना के सामने दिखलाया। वेतन देकर सेना को अपने पक्ष में करने के ख़याल से उस ने सब से पहले आर्य सैनिकों को प्रथम वेतन देना चाहा। ठकुरक नामक उन के नायक ने वेतन लेने से इनकार कर प्रथम सिंहल सैनिकों को वेतन दे कर उन का आदर करने को कहा। सिंहल सैनिकों के मानपूर्वक वेतन लेने के बाद उस ने फिर आर्य सैनिकों को वेतन देना चाहा। परन्तु ठकुरक ने फिर इनकार कर दिया। इस का कारण पूछा जाने पर उस ने कहा कि मैं राजा के सामने बताऊँगा और वह अपने सैनिकों समेत गद्दी पर बैठे हुए राजा के सामने पहुँचाया गया। सेनाधिपति मित्र के सामने मुहूर्त भर विनयपूर्वक खड़े रहने के बाद ठाकुर ने आर्य सैनिकों को इशारा किया और अपनी तेज़ तलवार खींच कर मित्र का सिर धड़ से अलग कर दिया। उस समय एक भारी उपद्रव उठ खड़ा हुआ। "यह अधर्म कर्म तूने क्यों किया है" ऐसा प्रश्न करते हुए सिंहल सैनिक उस को धमकाने लगे। निर्भीक ठाकुर ने कहा कि यापहु नगर में बैठे हुए राजा भुवनेकबाहु की आज्ञा से यह काम किया गया है। इस के बाद सिंहल सैनिकों ने भी ठकुरक प्रमुख आर्य भटों के साथ यापहु जा कर कुमार भुवनेकबाहु का अभिषेक किया और उस को गद्दी पर बैठाया।

ये लोग राजवंशी हैं इस बात को सर्व-प्रथम बता देने वाला मि० कोडूरिंग्टन् है। आर्य सैनिकों के नायक का महावंश ठकुरक नाम से उल्लेख करता है। यह नाम हिन्दी, बङ्ग आदि उत्तर भारतीय भाषाओं में प्रचलित "ठकूर" शब्द ही है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि इन दिनों में सिंहल-राजा की फ़ौज में राजपूत अपनी भरती करा लेते थे। स्वामिभक्त आर्य या राजपूत अपने जीवन तक की उपेक्षा करते हुए स्वामी का काम करते थे, यह भी इन बातों से प्रतीत होता है। राजद्रोही के पक्ष में सिंहल सैनिकों के रहते हुए, हस्त-प्राप्त लाभ (धन) को छोड़ कर, 'मित्र' के पक्षपातियों से सम्भव दुर्गतियों की भी उपेक्षा करते हुए, अपने स्वामि-वंशी एक राजकुमार को राज्य दिलाने के उद्देश से ठकुरक और उस के सैनिकों ने शूरवीरता-पूर्वक ही काम किया था। इन उदार गुणों के लिए राजपूत प्रसिद्ध है। यवन राजाओं द्वारा राजपूतों का बहुत सा राज्य छीन लिया जाना ही लङ्का में आकर सिंहली राजाओं के आश्रित इन दिनों में इन के रहने का कारण हो सकता है।

अपने रूप-सौन्दर्य और पातिव्रत धर्म से दुनिया को चकित करने वाली पद्मिनी लङ्का के एक राजपूत चौहान की पुत्री रही है, ऐसा राजस्थान के इतिहासों से पता लगता है। पद्मिनी की कहानी से अपरिचित कोई न होगा, इसलिए उस के बारे में

यहाँ लिखना अनावश्यक है। कुमारी पद्मिनी का समय राजा विजयबाहु के निकट होने के कारण लङ्का में राजपूतों की स्थिति सम्बन्धिनी सिंहल इतिहास से ज्ञात बातें, राजस्थान की वंशकथाओं में दिखाई हुई बातों से परस्पर मेल खाती हैं।

कुमारी पद्मिनी का जन्मस्थान लङ्का, यह द्वीप नहीं है वरन् वह राजस्थान के निकट एक प्रदेश है, ऐसा कुछ काल पहले महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर ओझा लिखित एक लेख में बताया गया है। राजस्थान के इतिहास और पुरावृत्तों के विषय में अद्वितीय ज्ञान रखने वाले इस विद्वान् का मत हर तरह से आदरणीय है। तो भी लङ्का में राजपूतों के सम्बन्ध में यहाँ दिखाई गई बातों को मिला कर इस प्रश्न पर फिर से विचार करने के लिए मैं उक्त पण्डितजी से आदर पूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा हुआ काव्यशेखर नामक सिंहल काव्य में लङ्का और राजस्थान के बीच रहे सम्बन्ध को पुष्ट करनेवाली एक और बात मिलती है। बनारस से तक्षशिला (तक्सला) तक का मार्ग वर्णन करने वाला काव्यशेखर का रचयिता गङ्गा के किनारे प्रयाग तक जा कर पुनः वहाँ से पश्चिम की ओर हो कर गोवर्धन पर्वत होता हुआ मालव देश की सिप्रा नदी को पार कर तक्षशिला में आना बताता है। इस से मालूम होता है कि उस कवि का तक्षशिला गान्धार देश में तक्षशिला नाम से प्रसिद्ध शहर नहीं है प्रत्युत राजस्थान का एक शहर है। राजस्थान के चित्तोड़ की पूर्वकालीन प्रसिद्धि तक्षशिला नाम से रही थी ऐसा राजस्थानीय इतिहास और पुरावृत्तों का लेखक श्री कर्नल टॉड् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में बताता है। यह निश्चित है कि राजस्थान में तक्षशिला नामक एक स्थान पन्द्रहवीं शताब्दी में सिंहलियों को ज्ञात रहा क्योंकि काव्यशेखर की तक्षशिला का स्थान भी चित्तोड़ के समीप है।

लङ्का और राजस्थान के बीच सम्बन्ध की द्योतक (साक्षीभूत) एक और बात कुछ दिन पहले प्रकट हो गई है। अनुराधपुर के स्वर्णमालि स्तूप (रुवन्मैलि) के मध्य चतुष्कोण घेरे में से प्राप्त प्राचीन चीजों के बीच राजपूत देश की प्रायः बीस प्राचीन ताम्रमय मुद्राएँ भी हैं। इन मुद्राओं में एक ओर बैल का और दूसरी ओर अश्वारोहक (घुड़सवार) का चित्र है। इन मुद्राओं का चलाने वाले राजाओं के नाम उन में नागरी अक्षरों से लिखे हैं। अधिक घिस जाने के कारण ये नाम अच्छी तरह पढ़े नहीं जा सकते। भारतीय प्राचीन मुद्राओं के बारे में कनिंघम्, विन्सन्ट् स्मिथ की लिखी पुस्तकों में इन मुद्राओं का परिचय दिया गया होगा। स्वर्णमाली स्तूप की इन मुद्राओं के साथ प्राप्त अन्य वस्तुएँ भी लगभग तेरहवीं शताब्दी की हैं। राजपूत मुद्राएँ भी उस समय की हैं। राजस्थान से लङ्का में आए हुए लोग इन मुद्राओं को लाए होंगे, ऐसा अनुमान होता है।

राजस्थानीय ऐतिहासिक अन्वेषण में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण करने वाले, भारतवर्ष एवं विदेशों में भी अपनी विद्वत्ता से कीर्ति प्राप्त महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर ओझा के गौरवार्थ संगृहीत अभिनन्दन ग्रन्थ में 'लङ्का और राजस्थान'' के सम्बन्ध में लिखा गया यह छोटा लेख भेंट करना अति हर्षप्रद है। इस में लिखी हुई कुछ बातें—अभी तक निश्चित न होने पर भी—राजस्थानीय इतिहास के विषय में विशाल ज्ञान रखने वाले पण्डितों के विचार का विषय हो जायँगी, ऐसी आशा है।

माधवाचार्य और अमात्य माधव

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

दक्षिण भारत के इतिहास में विजयनगर का राज्य विशेष महत्त्व रखता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में यही एक स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र था जो वैभव तथा शासन के विषय में प्रभावशाली मुग़ल साम्राज्य के सामने खड़ा हो सकता था। इस के विपुल वैभव को देख कर, सुशासन से उत्पन्न होने वाले आर्य-सभ्यता के विस्तार तथा विद्या के प्रसार को अवलोकन कर, विदेशी यात्रियों को चकित होना पड़ा था। वास्तव में, उत्तर भारत के विधर्मी यवन आततायियों के निर्दय उत्पीड़न से दक्षिण की हिन्दू प्रजा को बचाने के लिए विजयनगर के राजाओं ने जो कार्य कर दिखलाया वह इतिहास में अत्यन्त श्लाघनीय है तथा सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक़ है।

चौदहवीं सदी की बात है। आजकल के मैसूर राज्य तथा समग्र दक्षिण भारत के ऊपर 'होयसल' नामक राजवंश राज्य करता था। यह राजवंश अपने समय में (तेरहवीं सदी में) अत्यन्त प्रतापी तथा प्रसिद्ध था, परन्तु चौदहवीं सदी के आरम्भ में ही उत्तर भारत के उत्साही पठान आक्रमणकारियों के आक्रमण से इस की शक्ति क्षीण हो चली थी। १३१० ई० में मलिक काफ़ूर ने चढ़ाई की। इस वंश का राजा बल्लाल तृतीय उस समय राज्य करता था। वह पहले पकड़ लिया गया परन्तु पीछे छोड़ दिया गया। पठानों की सदा यही अभिलाषा रही कि समग्र दक्षिण भारत पर शासन करने वाला होयसल राज्य उन की अधीनता में आ जाय। १३२७ ई० में इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए मुहम्मद तुग़लक़ ने फिर चढ़ाई की। होयसल राज्य को हानि उठानी पड़ी तथा उस की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। मुहम्मद तुग़लक़ अपनी राजधानी को लौट गया, परन्तु उस का आतङ्क सारे दक्षिण भारत पर छा गया[1]। वहाँ के वीर सरदारों को यह साफ़-साफ़ मालूम पड़ गया कि अल्पप्राण होयसल नरेशों के हाथ में दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता निरापद् नहीं है। १३४३ ई० तक बल्लाल तृतीय ने राज्य किया। उस के अनन्तर बल्लाल चतुर्थ को राज्य मिला, परन्तु केवल तीन वर्षों तक राज्य कर होयसल-वंश के अन्तिम सम्राट् ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की। १३४६ ई० दक्षिण भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष हरिहर ने अपने भाइयों—बुक्क, मारप्प तथा कम्पण—की सहायता से दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विजयनगर राज्य की स्थापना की। बल्लाल नरेशों के समय में हरिहर राज्य का प्रधान अधिकारी था। मारप्प मैसूर के पश्चिम भाग में तथा कम्पण पूर्व भाग में राज्य के विस्तार करने में लगे थे। अतः कर्नाटक में स्वतन्त्रता के लिए सब से अधिक प्रयत्न करने वाले इन चारों भाइयों ने १३४६ ई० में तुङ्गभद्रा के तीर पर विजयनगर राज्य की स्थापना की[2]। इस कार्य में उन को विशेष सहायता देने

१. आ० स० इ० १९०७–८, पृ० २३५।

२. रायबहादुर कृष्ण शास्त्री आदि विद्वान् विजयनगर की स्थापना १३३६ ई० में ही मानते थे, परन्तु नवीन ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होने से यह मत ठीक नहीं जँचता। प्राचीन मत की आलोचना तथा उपरिलिखित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए दे०—इं० हि० क्वा०, जि० ६, पृ० ५२१-३३।

वाले थे माधवाचार्य नामक विद्वान् । इसी नैष्ठिक ब्राह्मण के उपदेश का यह सुपरिणाम था कि आर्य संस्कृति को जीवित रखने, हिन्दू धर्म को विधर्मियों से बचाने तथा वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार करने में विजयनगर के सम्राटों ने विशेष रूप से हाथ बँटाया।

माधवाचार्य अपने समय के बडे भारी विद्वान् थे। विजयनगर के प्रथम महाराजाधिराज हरिहर के ये प्रधान मन्त्री थे। महाराज हरिहर अत्यन्त स्वातन्त्र्य प्रेमी तथा वैदिक धर्म के स्थापक क्षत्रिय नरेश थे। माधवाचार्य भी आदर्श विद्वान् थे। इस प्रकार ब्राह्म तथा क्षात्र तेज के दुर्लभ योग से विजयनगर का राज्य चमक उठा तथा सदा के लिए भारतीय इतिहास में हिन्दू राज्य का एक आदर्श बन गया। इन्हीं माधवाचार्य के विषय म नाम-साम्य से उत्पन्न होने वाली कुछ मिथ्या बातों के निराकरण के लिए यह छोटा लेख लिखा गया है।

कहा जाता है कि माधवाचार्य ने विजयनगर के राज्य विस्तार के लिए कई देशों पर चढाई की थी तथा उन्हें जीत कर राज्य में मिलाया था। इन्होंने सेनापति का भी काम किया था। परन्तु यह वर्णन वास्तव में सत्य नहीं है। जो स्वय एक बडे भारी विद्वान् थे तथा अन्त म सन्यासी बन कर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हीं शान्तचित्त ब्राह्मण का क्षत्रियोचित सेनापति का पद ग्रहण करना उतना उचित नहीं प्रतीत होता। इस प्रसिद्धि का कारण यह मालूम पडता है कि हरिहर के एक दूसरे मन्त्री, शत्रुओं के विनाशक तथा गोवा के शासक का नाम भी माधव था। अत माधव की विजयवार्ता, नाम की समता के कारण, माधवाचार्य के ऊपर आरोपित की गई है, परन्तु ये दोनो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। इन के वश, गुरु तथा रचनाओं की परीक्षा करने पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं।

अनन्तभोगससक्तो द्विजपुङ्गवसेवित ।
सचिव सर्वलोकाना त्राता जयति माधव ॥

सायणस्य।

माधवाचार्य के जीवन चरित के विषय में उन के तथा उन के भाइयों के लिखे ग्रन्थों से ही सहायता नहीं मिलती, बल्कि तत्कालीन विजयनगर के राजाओं के शिलालेखों तथा शासनों से भी विशेष रूप से सहायता प्राप्त होती है। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपने माता पिता तथा अपने गुरुओं का नामोल्लेख किया है। उन के अनुज प्रसिद्ध वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्य ने भी अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में अपने वश का सक्षिप्त परिचय प्रदान किया है। विजयनगर के प्रधान मन्त्री होने के कारण उस समय के राजकीय शासनपत्रों में भी इन का उल्लेख हुआ है। इसी सामग्री से हम माधवाचार्य का एतिहासिक वृत्त सङ्कलन कर सकते हैं।

माधवाचार्य के पिता का नाम मायण था। माता का नाम था श्रीमती। इन के दो छोटे भाई थे। उन म जेठे का नाम सायण था तथा छोटे का भोगनाथ। उन का सूत्र बौधायन सूत्र था, वेद कृष्ण यजुर्वेद तथा गोत्र भारद्वाज था। 'पराशरमाधवीय' के उपोद्घात से ये बाते मालूम होती हैं—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्ति मायण पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ॥ ६ ॥
यस्य बौधायनं सूत्र शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाज कुल यस्य सर्वज्ञ स हि माधव ॥ ७ ॥

'यज्ञतन्त्रसुधानिधि' के आरम्भ में सायणाचार्य के निम्नलिखित श्लोकों से इसी बात की पुष्टि होती है—

तस्याभूदन्वयगुरुस्तत्त्वसिद्धान्तदेशिता ।
सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः ॥ ७ ॥
उपेन्द्रस्येव यस्यासीत् इन्द्रः सुमनसां प्रियः ।
महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः ॥ ८ ॥

इस श्लोक की उपमा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि माधवाचार्य सायण के जेठे भाई थे। अन्य ग्रन्थों में व्यक्त रूप से ही सायण ने माधव को अपना जेठा भाई लिखा है। 'अलङ्कारसुधानिधि' की पुष्पिका में सायण ने अपने को 'माधवाचार्यानुजन्मनः' तथा 'प्रायश्चित्तसुधानिधि' की पुष्पिका में 'माधवभोगनाथसहोदरस्य' लिखा है जिस से माधवाचार्य के जेठे होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता।

माधवाचार्य के अनुज सायणाचार्य को हम चारों वेदों के भाष्यकार के रूप में भली भाँति जानते हैं, परन्तु सायण ने केवल वेदभाष्य ही नहीं लिखा प्रत्युत यज्ञ, धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा अलङ्कार-सम्बन्धी उपयोगी अनेक ग्रन्थों की भी रचना की। इन के नाम ये हैं—(१) सुभाषितसुधानिधि, (२) प्रायश्चित्तसुधानिधि, (३) अलङ्कारसुधानिधि, (४) धातुवृत्ति, (५) पुरुषार्थसुधानिधि तथा (६) यज्ञतन्त्रसुधानिधि। इन ग्रन्थों में अलङ्कारसुधानिधि बड़े महत्त्व का है। इस में अलङ्कारों के उदाहरण सायणाचार्य ने अपने ही विषय में दिए हैं। ग्रन्थ अधूरा ही है, परन्तु फिर भी इस की ऐतिहासिक महत्ता अधिक है[1]। इस के अवलोकन से जान पड़ता है कि सायण के तीन पुत्र थे—कम्पण, मायण तथा शिंगण। कम्पण सङ्गीत-शास्त्र के विशेषज्ञ थे; मायण कवि थे—गद्य-पद्य-रचना में बड़े प्रवीण थे। शिंगण वैदिक थे—घनान्त वेद का इन्हों ने अभ्यास किया था—

तत् संव्यञ्जय कम्पण व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय ।
शिक्षां दर्शय शिङ्गण क्रमजटाचर्यासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः संमोदते सायण ॥

माधवाचार्य के दूसरे अनुज का नाम भोगनाथ था। इन के ग्रन्थों के नष्ट हो जाने के कारण हम इन के विषय में बहुत कम जानते हैं, परन्तु ये भी अपने समय के एक बड़े सहृदय कवि थे। इन्हों ने कम से कम इन छः काव्य-ग्रन्थों की रचना अवश्य की थी क्योंकि इन का उल्लेख हम सायण के 'अलङ्कारसुधानिधि' में पाते हैं। इन के नाम ये हैं—(१) रामोल्लास, (२) त्रिपुरविजय, (३) उदाहरणमाला, (४) महागणपतिस्तव, (५) शृङ्गार-मञ्जरी तथा (६) गौरीनाथाष्टक। काव्य-कला में निपुण होने के कारण इन्हें तदनुरूप पद भी मिला था। ये महाराज सङ्गम द्वितीय के नर्म सचिव थे। इन की कविता बड़ी सरस होती थी।

माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपने तीन गुरुओं का बड़े आदर से स्मरण किया है। इन के नाम थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ। ये उस समय के प्रधान विद्वान् तपस्वी यतियों में गिने जाते थे। 'कालमाधव' में गजानन की स्तुति के अनन्तर माधवाचार्य ने एक ही पद्य में इन तीनों गुरुओं का एक साथ स्मरण किया है—

सोऽहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमाम्नायतीर्थं परं
मज्जन् सज्जनसङ्गतीर्थनिपुणः सद्वृत्ततीर्थं श्रयन् ।

---

[1] इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के संक्षिप्त वर्णन के लिए दे० इं० ऐ० भाग ४५ (१९१६), पृष्ठ २२–२३ ।

लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रा भा र ती ती र्थ-तो
वि द्या ती र्थ मुपाश्रयन् हृदि भजे श्री क ण्ठ मव्याहतम् ॥

इन में भारतीतीर्थ उस समय शृङ्गेरी मठ की गद्दी पर विराजमान थे। १३४६ ई० में समस्त शत्रुओं को जीत कर महाराज हरिहर ने अपने भाइयों के साथ शृङ्गेरी की यात्रा की थी। इस विजय के उपलक्ष में उन्हा ने नौ गाँवों का दान शृङ्गेरा में रहने वाले ब्राह्मणों तथा तपस्वियों को दिया[1]। उस शासनपत्र में भारतीतीर्थ श्रीपाद का नाम आदर से लिया गया है। आप उस समय के एक पहुँचे हुए महात्मा थे। माधवाचार्य ने अपने 'न्यायमालाविस्तर' में यतीन्द्र भारतीतीर्थ की कृपा से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

स भव्याद् भा र ती ती र्थ यतीन्द्रचतुराननात्।
कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवत् ॥

विद्यातीर्थ स्वामी उस समय के एक सिद्ध पुरुष थ। आप श्री परमात्मतीर्थ के शिष्य थ तथा 'रुद्रप्रश्न भाष्य' नामक ग्रन्थ के प्रणेता भी। विजयनगर के प्रतापी नरेश भी आप की कृपा के भिक्षुक बने रहते थे। आप की बड़ी प्रतिष्ठा थी। माधव ने इन्हें अपना मुख्य गुरु कहा है—

अन्त प्रविष्ट शास्तेति योऽन्तर्यामिश्रुतीरित।
सोऽस्मान् मुख्यगुरु पातु वि द्या ती र्थ महेश्वर ॥

आप सायणाचार्य के भी गुरु थे। वेदभाष्यों के आरम्भ मे सायणाचार्य ने विद्यातीर्थ महेश्वर की जो श्लाघनीय स्तुति की है उस में इन की ओर भी गूढ़ सकेत किया गया है तथा इन्हें महेश्वर का अवतार माना है[2]।

तीसरे गुरु श्रीकण्ठ या श्रीकण्ठनाथ के विषय मे विशेष पता नहीं चलता। ये कोई शैव महात्मा जान पड़ते हैं। भोगनाथ ने अपने ग्रन्थों में इन का सादर उल्लेख किया है जिस से जान पड़ता है कि भोगनाथ इन्हें अपना गुरु मानते थे[3]। काञ्ची के एक शिलालेख में श्रीकण्ठ सायण के भी गुरु कहे गए हैं।

सारांश यह कि भारतीतीर्थ, विद्यातीर्थ तथा श्रीकण्ठ—ये तीनों महापुरुष माधवाचार्य तथा उन के दोनों अनुजों के गुरु थे।

माधवाचार्य ने बहुत से धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का रचना की है जिन में ये ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) पराशरस्मृति व्याख्या या पराशरमाधव, (२) व्यवहारमाधव, (३) कालमाधव, (४) जीवन्मुक्ति-विवेक, (५) जैमिनीयन्यायमालाविस्तर तथा (६) पञ्चदशी। अन्तिम ग्रन्थ का रचना विद्यारण्य स्वामी ने की थी। कुछ लोग माधवाचार्य तथा विद्यारण्य को भिन्न भिन्न व्यक्ति मानते हैं[4], परन्तु पण्डितों की सार्वत्रिक प्रसिद्धि तथा पीछे के ग्रन्थों के निर्देश से दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। पण्डितों का यह विश्वास है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक भी जँचता है कि माधवाचार्य ही सन्यास लेने पर विद्यारण्य के नाम से

१ ई० हि० क्वा० वर्ष ६ सं० २ (जून १९३३), पृ० ४२२।

२ यस्य निःश्वसित वेदा यो वेदेभ्योऽखिल जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

३ श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतम्।
भक्ताधीनभयांश्च दैवतमहा सर्वेऽप्यमी देवताः ॥ महागणपतिस्तव।

४ द० ई० हि० क्वा० जि० ६, सं० ४, पृ० ७०१—१०।

प्रसिद्ध हुए तथा शृङ्गेरी मठ के अधिपति हुए[1]। पञ्चदशी उसी समय का ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ पहले की रचनाएँ हैं।

इस प्रकार माधवाचार्य चतुर्दश शताब्दी के एक बड़े भारी शास्त्रवेत्ता विद्वान् ठहरते हैं। विजयनगर के महाराजाधिराज हरिहर तथा बुक्क के समय में वैदिक धर्म का जो पुनरुद्धार तथा प्रतिष्ठा हम देखते हैं उस के लिए सब से अधिक श्रेय माधवाचार्य को है। वैदिकमार्गप्रतिष्ठापक हरिहर की आज्ञा से माधवाचार्य ने चारों वेदों का भाष्य अपने अनुज सायणाचार्य से लिखवाया। इस कार्य के लिए हम लोग आप के अतीव अनुगृहीत हैं। यदि आज सायणभाष्य उपलब्ध न होता, तो वेदों का जो कुछ थोड़ा-बहुत अर्थ तथा रहस्य हम समझ पाते हैं, वह भी असम्भव हो जाता। अतः विद्वत्समाज सदा के लिए इस महापुरुष का ऋणी रहेगा।

तस्यास्ति शस्तयशसो नयशौर्यमुख्यैः
ख्यातो गुणैर्जगति माधव इत्यमात्यः।
यो ब्रह्म जिह्मदमनाधिकृत पवित्र
क्षत्र च जैत्रमभयाय भुवो बिभर्ति ॥

कस्यचित्।

माधव नाम के एक दूसरे विद्वान् ब्राह्मण ने, विजयनगर के अनेक महाराजों के समय में मन्त्री का काम करते हुए, राज्य-विस्तार करने में अधिक सहायता पहुँचाई थी। ये महाशय मन्त्री थे। अतः माधवाचार्य से इन की भिन्नता दिखलाने के लिए शिलालेखों तथा शासन-पत्रों में ये माधव मन्त्री या माधव अमात्य कहे गए हैं।

इन के पिता का नाम चावुण्ड भट्ट तथा माता का माचाम्बिका और गोत्र आङ्गिरस था[2]। इन के गुरु का नाम काशीविलास क्रियाशक्ति था जो एक महान् शैवाचार्य प्रतीत होते हैं[3]। माधव मन्त्री का जहाँ कहीं उल्लेख है वहाँ इन के गुरु का भी नाम आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। माधव अमात्य अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक थे। शिलालेखों में लिखा है कि उस समय अद्वैत मत—उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित वेदान्तमार्ग—छिन्न-भिन्न हो गया था। माधव ने उसे फिर उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कराया। इसी लिए इन की उपाधि 'उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्य' थी। इस उपाधि-धारण से इन की विपुल वेदान्ताभिज्ञता का पता चलता है। उपनिषत् मार्ग को परिष्कृत करने की उच्च भावना से प्रेरित हो कर ही अमात्य माधव ने स्कन्दपुराण के अन्त-

---

१ दे० इ० आ० जि० ४५, पृ० १८—१९, इ० हि० क्वा० जि० ८, स० २, पृ० ६११—१४।

२ गोत्रे येऽङ्गिरसा प्रचण्डतपसश्चावुण्डपृथ्वीसुर-
प्रष्ठादुद्भवमेत्य नीतिसरणौ दत्तां धियं धैषणीम्।
सूरिः सन्नपि सर्वदानवमनःप्रह्लाददानोचितां
यद् भूयः कविता व्यनक्ति तनुते नो कस्य तेनाद्भुतम् ॥

३. क्रियाशक्तिर्गुरुः साक्षात् तेजसा श्रोत्रियम्बकः।

क्रियाशक्ति चतुर्दश शताब्दी के सिद्ध शैवाचार्य थे। कहीं-कहीं ये विजयनगर के महाराज हरिहर द्वितीय के कुलगुरु कहे गए हैं—विरूपाक्ष साक्षात् कुलपरमदैवं कुलगुरुः
क्रियाशक्त्याचार्यः कलिकलभकण्ठीरवयशाः ॥

इं० आ० ४६, पृ० १८।

र्गत ब्रह्मज्ञान प्रतिपादिका सूतसंहिता की 'तात्पर्यदीपिका' नामक विशद व्याख्या की है। इस टीका का अनुशीलन करने से स्पष्ट पता लगता है कि माधव मन्त्री एक बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ में भी माधव ने अपने गुरु का सादर स्मरण किया है[1]। विद्वान् होने के साथ-साथ ये शिव के बड़े भारी उपासक थे। कितने ही स्थानों में इन्हों ने शिव-मन्दिरों की स्थापना की थी।

अब माधव की क्रियाशीलता पर दृष्टिपात कीजिए। १३४७ ई० में जब हरिहर प्रथम के अनुज मारप्प अपरान्त प्रदेश पर शासन कर रहे थे, तब माधव उन के मन्त्री थे। कुछ काल के अनन्तर हरिहर के पीछे बुक्कराय विजयनगर के शासक हुए। तब माधव उन्हीं के अमात्य बन कर वहीं निवास करने लगे। इतिहास के देखने से पता चलता है कि इसी समय मुसलमानों ने जा कर गोवा पर कब्जा कर लिया तथा पूरे पश्चिमी घाट पर अपना शासन जमाया। इन दुष्टों को उखाड़ने के लिए माधव मन्त्री भेजे गए। इन्हों ने अपने प्रबल प्रताप तथा सैन्यबल से विधर्मी यवनों का समूल नाश किया तथा हिन्दू देवताओं की पूजा प्रतिष्ठा को फिर से आरम्भ किया[2]। महाराज ने प्रसन्न हो कर १३६८ ई० के आसपास इन्हें बनवासी प्रान्त (जयन्तीपुर) का शासक बनाया। माधव ने बहुत दिनों तक यहाँ शासन किया तथा अपनी नीतिकुशलता से विजयनगर के सम्राट् की समृद्धि में योगदान दिया। १३९१ ई० में माधव मन्त्री की मृत्यु हुई। शिलालेख में माधव 'भुवनैकवीर' कहे गए हैं जिस से इन के विपुल शौर्य तथा क्षात्रतेज से सम्पन्न होने की बात सहज में ही जानी जा सकती है।

ऊपर माधवाचार्य तथा माधव अमात्य के विषय में ज्ञात घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस वर्णन से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि सायण तथा श्रीमती के पुत्र, विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ के शिष्य, सायण तथा भोगनाथ के ज्येष्ठ भ्राता, हरिहर प्रथम तथा बुक्कराय के सलाहकार तथा गुरु 'कालमाधव' 'न्यायमाला-विस्तर' आदि ग्रन्थों के रचयिता, सन्यास ग्रहण करने पर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध होने वाले माधवाचार्य चावुण्ड भट्ट तथा माचाम्बिका के पुत्र, क्रियाविलास क्रियाशक्ति के शिष्य, सूतसंहिता की 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या के रचयिता, अपने बल से गोवा से तुरुष्कों को मार भगाने वाले, बनवासी के शासक, उपनिषन्मार्ग-प्रवर्तकाचार्य माधव अमात्य से सर्वथा भिन्न हैं। अतः माधव मन्त्री की विजय वार्ताओं का माधवाचार्य पर आरोप करना नितान्त अनुचित है।

---

१ श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना।
श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥ २ ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहितायां विधीयते ॥ ३ ॥
आनन्दाश्रम-संस्कृत ग्रन्थमाला २५।

२ आशान्तविश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशां जिगीषुर्महता बलेन।
गोवाभिधां कोङ्कणराजधानीमन्येन मन्त्र्यस्य परोधयन्॥
प्रतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कसङ्घान् उत्पाट्य दोर्ष्णा भुवनैकवीरः।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां च ॥
ए० क० रा० व० भा० ४, पृ० ११२।

आहोम राज्यर शासन-प्रणाली

श्रीयुत मथुराप्रसाद गोस्वामी, गुवाहाटी (गौहाटी, आसाम)।

[आसाम के आहोम-वंशी राजाओं ने लगातार ६०० वर्ष सफलतापूर्वक राज्य किया है। उन की शासन-प्रणाली का अध्ययन करना तथा आसाम की तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति से उस का सामञ्जस्य कर के देखना इस लेख का उद्देश्य है।

इन आहोम राजाओं का विरुद स्वर्गदेव था। युद्ध, सन्धि और कानून बनाने का सब अधिकार इन के हाथ में था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राजा स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश थे। शासन में उन के अधिकार समसामयिक मुग़ल-सम्राट् अकबर या औरङ्गज़ेब की अपेक्षा बहुत कम और सीमित थे। पर आसाम के गोहाँइयों (मन्त्रियों) के हाथ में बहुत शक्ति थी। मुख्य तीन गोहाँइयों की सलाह से ही राजा का चुनाव होता था। आहोम राजा वंश-परम्परागत न होते थे। कुछ निश्चित घरानों (फइत) के सब से योग्य राजकुमार में से ही राजा चुना जाता था। राजा के दुष्कर्मी या अत्याचारी होने पर मन्त्रियों को उसे गद्दी से उतार देने का भी अधिकार था। आसाम के इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण दिए जा सकते हैं। योग्य शासक न मिलने पर कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल मिल कर स्वयं भी शासन करता था। एक बार इसी तरह गोहाँइयों ने राजा सुकाफ़ा के बाद उस के पुत्र ताउगिलाई को गद्दी न दी, और भी कोई योग्य कुमार उन की नज़र में न था, अत: उन्हों ने कुछ काल (१३११—२० ई०) तक स्वयं ही शासन चलाया। लोरा राजा ने बहुत अनाचार और उत्पीड़न आरम्भ कर दिया था। तङ्ग आ कर गोहाँइयों ने परस्पर सलाह की और उसे उतार कर कामरूप के एक कुमार गदापाणि को राज्य सौंप दिया।

इस प्रथा के कारण कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल के विभिन्न सदस्य अपने अनुकूल कुमारों को गद्दी देने का जतन करते थे। ऐसे मौक़ों पर ख़ूब षडयन्त्र रचे जाते थे। पर इन सब का स्पष्ट प्रभाव देश की सार्वजनिक शान्ति पर कभी देखने में नहीं आया। सरदारों में ही ये बातें चला करतीं, प्रजा से इन का कोई सम्पर्क न था। आहोम शासन-तन्त्र एक वैध शासन-प्रणाली थी। राजा भी शासन-तन्त्र का एक मुखिया मात्र था। यों कहने को तो सम्पूर्ण शक्ति उस के पास थी; पर उसे राज्य की चली आती हुई प्रथाओं का पालन करना पडता था। उस के विरुद्ध चलने या नई प्रथा चलाने का सामर्थ्य उस के पास न होता क्योंकि उस की कोई अपनी स्थायी सेना न होती थी। रुपए का चलन भी वहाँ प्राय: नहीं था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राज्य की सामरिक शक्ति कम थी। यदि ऐसा होता तो आसाम ६०० साल तक लगातार अपनी स्वतन्त्रता क़ायम न रख सकता। इस सम्पूर्ण समय में मरान, कछाड़ी और मुसलमानों के उपद्रवों और आक्रमणों का सामना उन्हें करना पड़ता रहा। मुसलमानों ने १३ बार आसाम पर आक्रमण किया, पर हर बार उन्हें असफल होना पड़ा। बिना एक सशक्त सैनिक बल के किसी भी राज्य का उस अवस्था में चिरकाल तक बना रहना असम्भव होता।

आहोमों की सामरिक अवस्था बडी उत्तम थी। उनके शत्रु मुसलमानों ने उन के अनुशासन और रणकुशलता की बड़ी प्रशंसा की है। गोहाँई, फुकन, बरुआ, हजारिका, सैक्या, बडडा, सब उन के सैनिक अधिकारियों के नाम हैं। इन का युद्ध के अवसर पर ससैन्य युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित रहना अनिवार्य था। साधारण सैनिकों को पाइक अर्थात् पदाति कहते थे। ये सब साधारण प्रजा में से होते थे। इन्हें वेतन-स्वरूप २ पूरा (८ बीघा) जमीन मिलती थी। हर चार पाइकों में से एक को राजसेवा में उपस्थित रहना आवश्यक था। उस की अनुपस्थिति में उस की भूमि आदि का प्रबन्ध शेष तीन पाइकों को करना पड़ता था। इस २ पूरा ज़मीन पर पाइकों का स्वाभाविक अधिकार था। एक नियत आयु के बाद उसे पाने का अधिकार हरएक पाइक को था। शान्ति के समय इन पाइकों का काम राजा के घर के काम करना, सडकें बनाना, तालाब खोदना और शस्त्र आदि बनाना होता था। सरदारों और उच्च पदाधिकारियों को वेतन-स्वरूप राज्य से पाइक मिलते थे, जो उन के खेतों में तथा अन्य

काम करते थे। साधारणतया हम इसे सामन्त पद्धति कह सकते हैं, पर यूरोप की सामन्त पद्धति से इस में फर्क था। वहाँ रैयत सामन्तों के अधीन रहती थी। पर आहोम शासन प्रणाली के अनुसार हरएक व्यक्ति पर राजा का सीधा अधिकार था। सामन्तों को राजा की ओर से परिचर आदि मिलते थे। अतः इन का उपयोग राज-शक्ति के खिलाफ़ नहीं किया जा सकता था। भूमि और मनुष्य दोनों पर राजा का एक समान अधिकार समझा जाता था। सुव्यवस्था के लिए पाइकों को कई जत्थों में बाँटा जाता था। जत्थेदार को बड़ा और सैकिया कहते थे। छोटे छोटे अपराधों का फ़ैसला ये ही लोग करते थे। इन्हें चुनने का अधिकार पाइकों को था। वे जब चाहते उन्हें पदच्युत कर अपने में से ही किसी दूसरे को इन पदों पर नियत कर लेते थे। बड़े बड़े अपराधों के मुकदमे राजधानी के बरुआ फुकन आदि उच्च पदाधिकारियों के पास जाते थे।

आहोम राजाओं ने अपने यहाँ रुपए का चलन न होने से व्यापार पर कभी ध्यान नहीं दिया। उन की नीति सदा कृषि की उन्नति की ओर रहती थी। सड़कें बनाना, तालाब खुदवाना, तथा अन्य प्रकार से खेती की उन्नति करना, यही उन की आर्थिक नीति थी।]

सामाजिक आरु राजनैतिक अनुष्ठान विलाक चिरकाल एके दरे ना थाके। अवस्था आरु कालभेदे सेइ विलाक लरचर करा आवश्यक हय। जि जातिये पुरनि अनुष्ठान विलाकते सदाय खामोचमारि धरि थाकिब खोजे, सेइ जातिर अधःपात हबलै बरि दिन ना लागे। आहोम विलाके ज छ'श' बछर काल आसामत अति सुख्यातिरे राजत्व करिब पारिले, तार एटा कारण तेओँलोकर उदार आरु गुणग्राही स्वभाव। धर्म आरु समाज सम्बन्धीय आहोमर भालमान निजा अनुष्ठान आछिल। आसामत किछुदिन थकार पिछत सेइ विलाक एरि दि आहोम विलाके नाना ठाइत हिन्दू अनुष्ठान ग्रहण करिले। राखिले मात्र तेओँलोकर राज्यशासन प्रणाली। चुकाफा आसामलै आहि एइ देशत जि शासन प्रणाली चलाले, चन्द्रकान्तसिंहस्वर्गदेवओ प्राय सेइ एके प्रणालीरेइ राजकार्य चलाइछिल। छ'श' बछर स्वच्छन्दे चलि अहा एइ शासन प्रणालीटोना कि, तार लगत आमार सामाजिक आरु राजनैतिक अवस्था खाप खाइछिल नाइ—ताक आलोचना करा आमार प्रबन्धर उद्देश्य।

आहोम-रजा स्वर्गदेव आहोम शासन प्रणालीर अधिपति आछिल। समर, सन्धि, आइन-कानून आदि राज्यर यावतीय काम स्वर्गदेवर आज्ञा मते हैछिल। डाङरीया आदि विषया सकलक स्वर्गदेवे पातिछिल, आरु जगर पात तेओँलोकक स्वर्गदेवे भाङिबओ पारिछिल। एइ बुलि ज आहोम रजा स्वेच्छाचारी आछिल, तेने न हय। मोगल सम्राट् आकबर वा औरङ्गजेबर तुलनात आहोम रजार अधिकार नानाप्रकार सीमाबद्ध। मोगल सम्राटर इच्छार विपरीत चलिब परा विषया मोगल राज्यत नाछिल। मन्त्री सकल सम्राटर अनुग्रहापेक्षी साधारण कार्यकारक (Secretaries) मात्र। तेओँलोकर निज बुद्धि आरु विवेचना मते राज्यर कोनो कामक करिबपरा क्षमता मोगल मन्त्री-सकलर नाछिल। आजिकालिर आमेरिकार युक्त-प्रदेशर सेक्रेटरी-सकल मोगलमन्त्री-सकलर अनुरूप। आहोम गोहाँइ तिनिजना एओँलोकर तुलनात बर क्षमताशाली विषया। एकगोट हेतु तेओँलोके रजा भङ्गा पता करिब पारिछिल, आरु उपयुक्त कोँवर ना पाले राजकार्यक चलाइछिल। आसामर बुरञ्जी लिखक गेइट चाहाबे एइ नियम विलाक केवल नामत है थका बुलि कय। प्रतापसिंह आरु गदाधरसिंहर दरे पराक्रमी आरु लरा रजा आरु कमलेश्वरसिंहर दरे दुर्बल रजार दिनत शासन नियमर व्यतिक्रम घटिछिल बुलि तेखेत कैछे। एने व्यतिक्रम मानुहे थाके सकलो देशर शासन बुरञ्जीत पोवा जाय। इंग्लण्डत यथा अष्टम हेनरीर दिनत प्रचण्ड प्रतापी पार्लामेंट सभाको अति वशवर्ती अवस्थात देखा जाय। किन्तु सेइ पार्लामेंट सभाइ प्रथमवार शासनतन्त्रर बलत निज प्रभाव देखुवाइ प्रथम रजार प्राणदण्ड विधान करि

छिल। आमामतो सेइ दरेइ सबल रजार हातत परि दुर्बल मन्त्रीर निज क्षमता केतियाबा केतियाबा नलपरा एको आचरित हब लगीया कथा न हय। किन्तु एने व्यतिक्रम थका बुलिये आहोम रजा स्वेच्छाचारी वा मइमत बुलिले भूल हब।

मन्त्रीर हातत रजा भङ्गापता क्षमता थकाटो भारतर इतिहासत एको नतुन कथा न हय। भङ्गाटो एरिलेओ रजा पतार उदाहरण पुरनि भारतर हिन्दु राज्य-बिलाकत अनेक देखा जाय। अध्यापक जायसवालर 'हिन्दु पोलिटि' नामर ग्रन्थत रजा निर्वाचन सम्बन्धे बहलाइ आलोचना करा हैछे। प्राचीन भारतत रजा बछा मन्त्रीसकलक राजकृत बुलिछिल। पालीभाषार कोनो एक सूत्रमते राजकृत शब्दर अर्थेइ मन्त्री बुलि जायसवाले लिखिछे।

बाछनि प्रथा आछिल बुलि गोहाइ-सकले जेरे तेरे परा टेका आनि रजा पातिब नोवारिछिल। गोहाइ-दियेक निर्दिष्ट फैदरपरा कोवँर आनि सदाय राजपाटत बहुवा हैछिल। सेइ फैद केइटार कोवँर-सकल भितरत जाके उपयुक्त बुलि गोहाइ-सकले सेवा करिछिल, तेवे सिंहासन पाइछिल। योग्य कोवँर नापाले मन्त्री-सकले निजे राज्य चलाव परा विधान आछिल। अध्यापक सूर्य्यकुमार भुञादेवे सम्पादन करा स्व० हरकान्त बरुवार 'आसाम बुरञ्जीर' १७ पृष्ठात एइ दरे कैछे। "पाछे मन्त्रीसकले आरो भाल ना पाइ चतुर्थ सुखाङफा राजार राजनीर गर्भत जात ताओचुलाइ कोवँरक रजा ना पाति १३११ शकर परा १३२० सकलैके राज्यशासन करि आछिल।" एइ धरणर मन्त्रिशासन आहोम राजत्वत केइबा बारो हैछिल। देशर सुशासनर निमित्ते मन्त्री-सकलर हातत एने असाधारण क्षमता दि आहोम गणतन्त्रइ एटा डाङर काम करिछिल। एने दिहा नथका हले दुर्बल रजाइ पाइ आहोम राज्य काहानिबाइ चारखार करिलेहेँतेन। अनुपयुक्त आरु दुर्बल कोवँ-रक राजपाट निदियार उपरिओ अत्याचारी आरु अयोग्य रजाक भाङि न रजा पता क्षमता मन्त्री सकलर आछिल। लरा रजार अविचार आरु उत्पीडन सहिब नोवारि डाङरीया-सकले केनेकै गदापाणि कोवँरक राजपाट दिले एइ विषयेओ हरकान्त बरुवार बुरञ्जीत लिखा आछे। "लरा रजाइ अनेक कोवँर-सकलक धरि धरि आनि दण्डबन्ध करि अनेक अनीति कर्म करिब धरिले। सेइ देखि बुढ़ागोहाँइ प्रभृति डाङरीया-सकले मनत बिरक्त है अन्य एक जनके रजा पाति लबर मनस्थ करिले, जेहेतु राज्य भङ्गापता करार भार डाङरीया-सकलर आछिल। पाछे डाङरीया-सकले रजा हबर योग्य लोक नेदेखि गदापाणि कोवँर कामरूपत थका शुनि तेवेँइ बइ रजा हबर उपयुक्त हेन जानि रजा पातिलै जावर कारणे बरफुकन प्रभृतिलै लिखात......बन्दर बरफुकने सकलो फुकन राजखोवार परामर्श करि गदाधर कोवँरके योग्य हेन जानि रजालोवा स्थिर करि.. रजा हांवा बुलि सेवा करिले।" (पृष्ठ ५६)

सकलो समयते उपयुक्त कोवँर पोवा ना जाय। केतियाबा-केतियाबा प्राय सकलो कोवँरर गाते एटा न हय एटा दोष थाके। एने स्थलत काक एरि काक धरिब डाङरीया-सकलर एटा समस्या है परे। स्वभावते प्रत्येक जनेइ आपोनार मनेरे मिला कोवँर एजन राजपाटत पाले भाल पाय, कारण तेतियान रजाइ तेओँक आन दूजन गोहाँ-इतकै वेचि अनुग्रह देखुवाव, आरु मन्त्रीसभात तेओँर क्षमता आरु प्रतिपत्ति बहुत गुणे बाढ़िव। गतिके समान गुनी कोवँर केवाजनो थाकिले गोहाँइ-सकले निज निज स्वार्थर अनुरोधत राजपाटर कारणे कलिकन्दल करे। एने कन्दलत साधारण प्रजार कोनो सम्बन्ध नाछिल, डाङरीया आरु विषया-सकलेहे एइ-बिलाकत योग दिछिल। समूह प्रजार सहायेरे देखादेखि युद्धत राजपाट लोवार आशा नेदेखि कोवँर-सकले गोहाँइ-सकलर लगत योग है दलादलि करि नाना अभिसन्धिर सूत्रपात करे। एने धरणर अभिसन्धि आहोम राजत्वत अनेक बार हैछिल, आरु

অনেক বাৰ এনে চক্ৰান্তত পৰি কোৱঁৰ আৰু ডাঙ্গৰীয়া সকলে অনাদৃকত চকু, কাণ, আনকি সময় সময় প্ৰাণ পৰ্য্যন্ত হেৰুৱাইছিল।

নিৰ্বাচন নীতি থকা কাৰণে সিংহাসন লৈ প্ৰতিযোগিতা হোৱাটো স্বাভাৱিক। এনে অৰিয়াঅৰি আজিকালিও হয়, কিন্তু দলবদ্ধ ৰাজনৈতিক মত নথকা কাৰণে আহোম ৰাজ্যৰ প্ৰতিযোগিতা ডাঙ্গৰীয়া আৰু কোৱঁৰৰ ভিতৰত আবদ্ধ আছিল। পৰাজিত দলক দমাই ৰাজ্য নিৰাপদ কৰিবৰ নিমিত্তে ন ৰাজা আৰু তেওঁৰ দলে গুৰু ব্যৱস্থা কৰিব লগা হৈছিল। বাস্তৱিকতে শাসন তন্ত্ৰ-মতে চলিব খোজা ৰজাই সেই দিনত এনে নীতি অৱলম্বন ন কৰি নোৱাৰেও। গোহাঁই-সকলৰ সন্মতি বিনে জেতিআ ৰজাই কোনো কাম কৰিব নোৱাৰ, সেই গোহাঁই-সকলৰ ভিতৰত জাতে ৰজাৰ বিৰুদ্ধপন্থা কোনো ডাঙ্গৰীয়া না থাকে তালৈ চোৱা ৰজাৰ ঘাই কৰ্ত্তব্য। নতুবা শাসন বিষয়ত সদায় ঐক্য মত পোৱা টান হয়, আৰু আনকি সিংহাসনেই নিৰাপদ ন হয়। সেই কাৰণে প্ৰত্যেক আহোম-ৰজা শিঙ্গৰীঘৰত উঠিয়েই আগৰ বিষয়া ভাগি নিজৰ বাছনি মত বিষয়া পাতিলোৱা দেখা যায়। ৰাজদ্ৰোহ আদি গুৰু অপৰাধৰ চেক থকা পুৰনি বিষয়াৰ বিষয়সম্পত্তি কাঢ়ি আনি, প্ৰাণদণ্ড শাস্তি দিয়াৰো উদাহৰণ আছে। দায়িত্বপূৰ্ণ ইঙ্গমাজ শাসনপ্ৰণালীত একালত এই দৰেই মন্ত্ৰীৰ দোষ বিচাৰ কৰি প্ৰাণদণ্ড দিয়া হৈছিল। আধুনিক ৰাজনীতিএ মাত্ৰ প্ৰাণদণ্ডৰ ব্যৱস্থা গুচাইছে।

অভিষেকৰ সময়ত ৰজাক নীতিবাক্য শুনুৱা নিয়ম আছিল। তুংখুঙীয়া বুৰঞ্জীৰ ৪১ পিঠিত বুঢ়া গোহাঁয়ে ন ৰজাক শুনুৱা উপদেশ খিনি এই দৰ দিছে—"তোমাক মহাপ্ৰভু ৰাজপদক দিলে। সন্তক পালন, দুষ্টক দণ্ডি, প্ৰাণীৰ সুখ দুখ বিচাৰ তোমাৰ ইহে ধৰ্ম, আৰু ডাঁগৰ বৃক্ষৰ আশ্ৰয়ত জেনে কৈ তাপ আদিক নাপায়, ককাই ৰজা-দেৱৰ আশ্ৰয়তে তেনকৈ দেৱকা দেৱকো দেশৰ প্ৰজাৰ দোষ গুণে না পাইছিল। আজি ধৰি পৰমেশ্বৰ দোষ গুণৰ আশ্ৰয় কৰালে। জি কাৰ্য্যৰ পৰা দোষ হই, জি কাৰ্য্যৰ পৰা গুণ হই আকো স্বৰ্গদেৱে নিয়ম কৰিব লাগে। আৰু তোমাৰ তিনটি ভাই আছে, ই নাৰকো পুত্ৰবত প্ৰতিপাল কৰিব লাগে। ই-বোৰেয়ো পিতৃবোধে সেৱা কৰিব লাগে। পাছ লৈকো বৰ-মৰু ক্ৰমে প্ৰবৰ্ত্তিব লাগে। আৰু তিপাম ৰজাকো নেৰিবা, পুত্ৰবত স্নেহ দয়া কৰিবা।" বুঢ়া গোহাঁইৰ এই উপদেশতে ৰজাৰ ঘাই কৰ্ত্তব্য খিনিৰ এটা আভাস পোৱা যায়। উপদেশৰ ভাব লৈ ঘাই আহোম ৰজাক স্বৰ্গদেৱ বুলিলেও তেওঁৰ জে কোনো দেৱদত্ত অধিকাৰ থকা বুলি স্বীকাৰ কৰা ন হৈছিল, সেই বিষয় কোনো সন্দেহ নাথাকে। স্বৰ্গদেৱ উপাধিটো হিন্দুৱে দিয়া, আহোম ৰজা-সকল আদিৰ পৰা দেৱবংশী বুলি ঘোষণা কৰিছিল, আৰু হিন্দু-বিলাকেও আহোম ৰজাক দেৱঅংশী বুলি কৈ স্বৰ্গদেৱ উপাধিৰে বিভূষিত কৰিছিল। কিন্তু সিংহাসনত উঠাৰ দিনৰে পৰা স্বৰ্গদেৱে প্ৰজাৰ দোষ গুণৰ ভাগী হব লাগে। দেৱতাত উৎপত্তি হলেও স্বৰ্গদেউ এফে বাৰেও দায়িত্ব-ৰহিত ন হয়। দেৱদত্ত অধিকাৰ থকা হলে আহোম ৰজাক সিংহাসনৰ পৰা নমায় পৰা ক্ষমতা মন্ত্ৰী-সকলক দিব নোৱাৰিলে হেঁতেন, কাৰণ দেৱতাৰ পৰা অধিকাৰ পোৱা ৰজাই মন্ত্ৰীৰ বশ হৈ চলিব নোৱাৰে। কিন্তু আহোম শাসনতন্ত্ৰই দেৱদত্ত অধিকাৰ না মানিছিল, আৰু সেই কাৰণেই মন্ত্ৰী বিলাকৰ হাতত বিশেষ ক্ষমতা দি ৰজাৰ হাত ভৰি বান্ধি দিছিল।

আহোম শাসনবিধিমতে ৰাজসিংহাসনত জাৰো কাৰো বাপতীয়া অধিকাৰ নাছিল, ৰাজক্ষমতাও সেই দৰে কোনো ৰজাৰ ব্যক্তিগত স্বত্ব বুলি ধৰা ন হৈছিল। পুৰনি হিন্দু ৰাজ্যৰ নীতিমত ৰাজক্ষমতা চুক্তিবদ্ধ অধিকাৰ। ৰাজভাৰ পাই ৰজাই নিজ স্বাৰ্থ এৰি প্ৰজাৰ হিতৰ নিমিত্তে চেষ্টা কৰিব লাগে। আহোম বিলাকৰ মতও ৰাজপদ ঠিক পুৰনি হিন্দুযুগৰ দৰে গচ্ছিত বিশ্বাস কৰি দিয়া ভাৰ। নিয়ম-মত বহন কৰিব নোৱাৰিলে কোনো নৃপতিয়েই এই

ভাৰ চিৰকাল দাবী কৰিব নোৱাৰে। অনুপযুক্ত জন দেখিলে ডাঙৰীয়া-সকলে এজন ৰজাৰ গুৰুৰ পৰা খহাই নি ৰাজভাৰ আন জনৰ হাতত দিয়াটো আহোম ৰাজতন্ত্ৰৰ এটা অতি স্বাভাৱিক ফল বুলি ধৰিব লাগিব। যথাৰ্থতে আহোম শাসন-প্ৰণালীৰ ৰাজ্যৰ শেষ অধিকাৰ (soveıeignty) ৰজা, নাইবা গোহাঁই-সকলৰ হাতত নাছিল। আমেৰিকাৰ যুক্ত-প্ৰদেশৰ দৰে এই অধিকাৰ শাসনতন্ত্ৰতে নিবদ্ধ। গোহাঁই-সকলে শাসনতন্ত্ৰৰ পৰাহে ৰজা ভঙা পতা ক্ষমতা পাইছিল, আৰু ৰজাযো শাসনতন্ত্ৰৰে অঙ্গ হিচাবেহে ৰাজকাৰ্য্যত প্ৰধান ক্ষমতা চলাব পাৰিছিল। ৰাজ্যৰ সুশাসনৰ নিমিত্তে শাসনতন্ত্ৰত বন্ধা ছটা নিয়ম আছিল, সেই নিয়ম উলঙ্ঘা কৰিলে ৰজাযো ৰাজক্ষমতা চলাব নোৱাৰিছিল আৰু মন্ত্ৰী-সকলেও ৰজা ভঙা পতা কৰিবলৈ বল পাইছিল। এতেকে আহোম মতে ৰজা, মন্ত্ৰী, ডাঙৰীয়া সকলো সমানে শাসনতন্ত্ৰৰ অধীন।

আহোমৰ এই কটকটীয়া শাসনতন্ত্ৰ লিপিবদ্ধ অৱস্থাত নাছিল। দেশ দস্তুৰ আৰু পূৰ্ব্বাপৰ আচাৰ মতে ৰাজকাৰ্য্য ও চলোৱা হৈছিল। এই আচাৰ-বিলাকৰ সকলো দেশৰ মানুহৰ মাজতেই অদ্ভুত ক্ষমতা দেখা যায়। জনসাধাৰণে সহজে আগৰ ধৰণ কৰণ এৰি নতুন নীতি নিয়ম লব নোখোজে, আৰু ৰজাই কিবা কাৰণে ন প্ৰথা সুমাব খুজিলেও অশেষ চেষ্টাৰ ফলত হে সেই প্ৰথা চলাব পাৰে। আহোম ৰাজ্যৰ নীতি-নিয়ম-বিলাক প্ৰায় সদায় একেই আছিল। তাৰ কাৰণ এটা এই যে আহোম ৰজাৰ সৈনিক-বল এনে নাছিল যে সহজে কোনো এটা পুৰনি নিয়ম গুছাই বলেৰে প্ৰজাৰ মাজত নতুন নিয়ম চলাব পাৰে। আহোম ৰাজ্যত স্থায়ী ফৌজ ৰখা ৰিহা নাছিল, আৰু স্থায়ী ফৌজ না ৰাখিলে ৰজাৰ ক্ষমতা স্বততে সীমাবদ্ধ।

স্থায়ী ফৌজ ৰখাৰ ৰিহা নাছিল যদিও আহোম-বিলাকৰ ৰাজ্য ৰক্ষাৰ নিমিত্তে এটা অতি সুশৃঙ্খল সামৰিক ব্যৱস্থা আছিল। তেওঁলোকে ৰাজ্য লবৰে পৰা শেষলৈকে প্ৰায় সকলো সময়তে দেশত এটা ন হয় এটা উৎপাত আছিল। মৰাণ, কছাৰী, মছলমান আদিৰ উপদ্ৰৱৰ মাজত দেশত শান্তিৰক্ষা কৰি প্ৰজাক সুখে সন্তোষে ৰখা সাধাৰণ শক্তিৰ কাম ন হয়। এবাৰ ন হয় দুবাৰ ন হয় চৈধ্য বাৰ মছলমানে আসাম আক্ৰমণ কৰে, আৰু এই চৈধ্যবাৰেই আহোম-বিলাকে শত্ৰু লগত যুজি দেশৰ স্বাধীন জীৱনৰক্ষা কৰিছিল। মছলমান-সকলে নিজে অসমীয়া সেনাক শলাগি গৈছে। আচল কথা, আসামৰ সামৰিক ব্যৱস্থা এনে পৰিপাটী আৰু টান আছিল যে ইঙ্গিততে গোটেই জাতিটোৱেই কাচিপাৰি যুজলৈ যাব পাৰে। সেই কাৰণেই দেখা যায় যে আগৰ পৰা গুৰি লৈকে গোটেই আহোম বিষয়া-বিলাক সামৰিক মৰ্য্যাদাৰ অধিকাৰী। গোহাঁই, ফুকন, বৰুৱা, হাজৰীকা, শইকীয়া, বড়া সকলোটি সামৰিক কৰ্মচাৰী। যুদ্ধৰ সময়ত তেওঁলোকে ভাগে ভাগে সেনা লৈ যুদ্ধক্ষেত্ৰত উপস্থিত হব লাগে। এই সেনাৰ পৰিমাণ অনুসাৰে উপৰুৱা কৰ্মচাৰী-সকলৰ মান-মৰ্য্যাদাও কম-বেচ হয়। সেনা-বিলাকক পাইক বোলা হৈছিল। পাইক শব্দৰ অৰ্থ পদাতিক। পাইক-বিলাকৰ ভিতৰত সকলোৱে সদায় যুজ কৰিবলৈ যাব না লাগে। আচলতে পাইক-বিলাক সাধাৰণ ৰায়ত। আজিকালিৰ দৰে সেই দিনত ধনৰ ব্যৱহাৰ কম থকাকাৰণে ৰজা ঘৰৰ কাম কৰিবলৈ মানুহ পোৱা টান আছিল। গতিকে ৰজাই ৰায়তৰ পৰা মাটিৰ কৰ ন লয়। খাজনাৰ সলনি প্ৰত্যেক চাৰিজন পাইকৰ ভিতৰত এজনে গৈ ৰজাঘৰত কাম কৰি দিয়া নিয়ম আছিল। ৰজাঘৰত খাটি দিয়াবাবে পাইকে পতি দুপুৰাকৈ মাটি পাইছিল। জি জন পাইক ৰজাঘৰত খাটিবলৈ যায় তেওঁৰ মাটি বাৰি, খেতিবাতি বাকী তিনিজনে চায়। শান্তিৰ সময়ত ৰজাঘৰৰ কাম সহজ আছিল। খেতিবাতি কৰা, আলি-পদুলী তোলা, পুখুৰী খনা আদিয়েই পাইকৰ বাই কাম। জি-বিলাক পাইক ৰজাক না লাগে, সেই-বিলাকে গৈ ডাঙৰীয়া আদি বিষয়া-বিলাকৰ ঘৰত কাম কৰি দিয়া ব্যৱস্থা আছিল। গতিকে ডাঙৰীয়া-সকলে-আজিকালিৰ উচ্চ কৰ্মচাৰীৰ

दरमहा ना पाइछिल। तेओँलोकर पारिश्रमिक हिचाप यावतीय काम करिबर निमित्ते रजाघरर परा किछुमान नतुवा पाइछिल। एइ नतुवा बिलाकेइ युद्धर समयत माजिपारि निज निज विषयार अधीन गै जुज करिब लागिछिल।

माटिर स्वाजनार मलनी रजा वा राजकर्मचारीर घरत काम करा नियमटो इंग्लण्डत एकालत आछिल ताक "फिउडलिज्म्" बोलिछिल। किन्तु आसामर पाइक बिलाक इंग्लण्डर "भिलन" प्रजार अनुरूप यथार्थत नाछिल। इंग्लण्डर "भिलेन" रायत बिलाक सेइ देशर डाङर डाङर डाङ्‌राया वा लर्ड-बिलाकर प्रजा। लर्ड बिलाकर आज्ञामते तेओँलोके जुज करिबलै जाब लागिछिल। तेओँलोके जि माटि खाइछिल सि लर्ड बिलाकर सम्पत्ति। किन्तु असमीया पाइक बिलाक आरु आसामर माटि उभयेइ असमीया रजार निजा सम्पत्ति। "सि-सकलर मत (आहोमर मत) रजा ज केवल भूमिर अधिकारी एने न हय, मानुहरो अधिपति। उभयक दान आरु हस्तान्तर करिब पारिछिल।" आसाम बुरञ्जी—गुणाभिराम बरुवा—२७३ पृ०। पाइक बिलाकर निजा भागर माटि टुपुरा पोवा एटा स्वत्व बुलि रजाइ स्वीकार करिछिल, आरु सेइ कारणे पाइक प्रजाइ निर्दिष्ट वयसत भरिदिलेइ स्वलर विषयार परा निजर भागर माटि दावी करिब पारिछिल, रबिनछन चाहाब तेओँर 'एकाउण्ट अव् आसाम' नामर किताबत लिखिछे।

आसामर एइ "फिउडल" प्रणालीर एटा डाङर गुण ए ज आछिल ज एइ देशर प्रजा बिलाक सदाय रजार अधीनइ आछिल। इयारापर फिउडल राज्यर डाङरीया सकलर दरे असमीया पाइकक कोनो डाङरीयाइ रजार विरुद्धे तुलि देशत उत्पात करिब नोवारिछिल। कालक्रमे जतिया धनर प्रचलन हल गा खाटनिर ठाइत धन दि माटि खोवा नियम चलिल।

पाइक प्रणाली थकार कारणे आहोम आसामत राजकोषर अवस्था कोनो समयते दुर्बल हवलै ना पाल। देशर दुर्योगर समयत आहोम रजाइ प्रजाक करकाटलर चपा निदि प्रजार हतुवाइ राज्यर यावतीय काम कराइछिल। शिल्प, वाणिज्यर बहुल विस्तारलै बाट बनोवा आहोम रजाइ जयसागर, शिवसागरर दरे पुखुरी, चउनी, धादर आलीर दरे गड आरु नाना दौल, देवालय कराइ राज्यर समृद्धि सराय पारिछिल। आनफाले रजा आरु प्रजार भितरत सदाय घनिष्ठ सम्बन्ध आछिल। राज्यर यावतीय कायत प्रजार स्वार्थ थका बुलि प्रजाइ सहज अनुसार करिब पारिछिल, सेइदे विपदर समयत आहोम रजाइ गोटेइ प्रजार अकपटीया सहाय आरु समर्थन पाइछिल।

चलावा-करवार सुविधार कारणे पाइक बिलाकक खेले खेले भगाइ दिछिल। खेल गेले बरा, शइकीया आदि पाइकर उपरत विषया आछिल। साधारण अपराधी बिलाकर दोषादोष विचार करि एइ कर्मचारी बिलाकेइ दण्ड विहिब पारिछिल, किन्तु डाङर अपराधीर विचार आरु दण्डकरार भार बरफुकन आदि राजधानीर विषया-सकलर हातत। कोनो खेलर विषया अत्याचारी है पाइकर उपरत उपद्रव करा जानिब दिलेइ पाइक बिलाक एकमत है तेओँक आद्धि न विषया पातिब पारिछिल, एइ धरणर निर्वाचित क्षमता आजिकालिर अति उन्नत गणतन्त्र प्रधान देशतो विरल। बरा, शइकीया, हाजरिका आदि विषयार हातत खेलर आपराधयावतीय क्षमता दिया थाक, तार विषयाक जि शासनतन्त्र सह प्रजाइ आद्धि पातिब पारिछिल सेइ शासनतन्त्रर श्रेष्ठता सम्बन्धे किवा सन्देह थाकिब पारे? सारकथा एये आहोम शासनतन्त्रत गणतन्त्रर सकलो लक्षणेइ विद्यमान आछिल। देशर सुशासन आरु प्रजार व्यक्तिगत स्वाधीनतार कोनो प्रकार हानि नोहोवाकै जिमान दूर स्वायत्त-शासन दिब पारि, आहोम शासनतन्त्रत सेइ दूर दिया व्यवस्था आछिल। एने एटा व्यवस्थित शासनप्रणालीर जि जातिये छ' श' बछर कोनो गवर राज्य सुचारुरूपे शासन करिछिल, सेइ जातिर राजनैतिक प्रतिभा सकलोरे गौरवर विषय।

श्री चैतन्यदेव कोन् शके अन्तर्हित हन ?

अध्यापक श्रीयुत दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य, चट्टग्राम ।

[श्री चैतन्यचरितामृत नामक गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के सुविख्यात ग्रन्थ में वर्णित है कि शक संवत १४५५ में, ४८ वर्ष की अवस्था में, श्री चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु हुई । जयानन्द तथा लोचनदास उन की मृत्युतिथि आषाढ़ शुक्ल सप्तमी, रविवार बताते हैं । परन्तु शक संवत १४५५ में आषाढ शुक्ल सप्तमी को रविवार नहीं था । इस में, संवत में ही भूल मालूम पड़ती है, तिथि में नहीं । दूसरा संवत १४५८ बताया जाता है परन्तु उस में भी यही कठिनाई आ पड़ती है । यह संवत् १४५४ (शक) होना चाहिए क्योंकि उस वर्ष आषाढ शुक्ल सप्तमी रविवार को थी । बालकवि कर्णपूर के 'श्री चैतन्यचरितामृत' में श्री चैतन्यदेव का वय ४७ वर्ष दिया है तथा उसी लेखक के 'श्री चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक द्वारा भी संवत १४५४ की ही पुष्टि होती है ।]

प्राचीन वङ्गसाहित्ये इतिहास ओ जीवनी-ग्रन्थ अति दुर्लभ । कतिपय 'चरित'-ग्रन्थ पाओया गेलेओ, महापुरुषगणेर जन्म-मृत्युर तारिख-निर्णय करा एक प्रकार असाध्य । एइ साधारण धारणार वशवर्ती हइया आमरा जखन गौडीय वैष्णवाचार्यगणेर विवरणीते पाश्चात्य धरणे लिखित बहुतर जन्ममृत्युर शकाङ्क प्रथम देखिते पाइ, तखन वस्तुतइ आनन्दलाभ हय । सम्प्रति कौतूहल-वशत: ऐ रूप कतिपय शकाङ्क विशेषभाव आलोचना करिया आमरा एककाले हताश हइयाछि । एकमात्र श्रीचैतन्यदेवेर जन्म-शकाङ्क व्यतीत, 'वङ्गभाषा ओ साहित्य' प्रभृति ग्रन्थे गृहीत वैष्णवाचार्यगणेर तारिखगुलिर एकटीओ अभ्रान्त वलिया प्रतिपन्न हय किना सन्देह । आमरा वङ्गीय साहित्यिकवृन्दके अनुरोध करितेछि, पवित्र वैष्णव-इतिहासेर एइ कलङ्क जेन ताँहारा विज्ञान-सम्मत प्रणाली अवलम्बने अपनोदन करेन । आमरा वर्तमान प्रवन्धे देखाइते चेष्टा करिव जे स्वयं महाप्रभु कोन् शके अन्तर्हित हइयाछिलेन से विषये यथेष्ट विचारेर अवकाश रहियाछे ।

श्री चैतन्यचरितामृत ग्रन्थे स्पष्टाक्षरे लिखित आछे, १४५५ शके ४८ वत्सर वयसे महाप्रभुर अन्तर्धान हय । अन्य कोन ग्रन्थे वोध हय अन्तर्धानेर कोन शकाङ्क स्पष्ट करिया लिखित नाइ । चरितामृत ग्रन्थ महाप्रभुर अन्तर्धानेर अनेक परे रचित । ग्रन्थशेषे ग्रन्थसमाप्तिकाल एइरूप पाओया जाय —

"शाके सिन्ध्वग्निवाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे ।
सूर्ये ह्यसितपञ्चम्या ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गत. ।।"

लिपिकारेर दोषे पाठान्तर घटाय, वहुकाल यावत् तारिखटी सन्दिग्ध अवस्थाय रहियाछे । अथच गणित ज्योतिषशास्त्रेर साहाय्ये अकाट्यरूपे इहा निर्णय करा चले । आमरा गणना करिया देखियाछि, १५३७ शकाव्दे (७३ मे १६१५ खी०) ८-इ ज्यैष्ठ रविवार (चान्द्र वैशाखेर) कृष्णा पञ्चमी तिथि ३९-५० पल पर्यन्त छिल । सुतरा इहाइ चरितामृतेर प्रकृत रचनाकाल । "सूर्याहे सितपञ्चम्या" पाठ भुल, कारण ऐ शके 'असित' अर्थात् कृष्णा सप्तमी मङ्गलवार पड़े, एवं शुक्ला पञ्चमी ज्यैष्ठ मासे सोमवार एवं शुक्ला सप्तमी वुधवार पड़े । "शाका-

मिबिन्दुबाणेन्दौ" पाठटी एकेबारेइ भुल एव कल्पित—१५०३ शके (२३शे मे १५८१ खृ०) २५ शे ज्यैष्ठे (चान्द्र-ज्येष्ठेर) कृष्णा पञ्चमी ४ । १० पल पर्ज्जन्त छिल, किन्तु से दिन मङ्गलवार, रविवार नहे । ऐ मासेइ कृष्णा सप्तमी बुधवार । गौड़ीय वैष्णवेर सम्प्रदायविशेष दीर्घकाल जावत् एइ भ्रान्त एव कल्पित रचनाकाल (१५०३ शक) प्रचार करिया आसितेछेन । प्रेमविलासेर एक अभिनव विलासे एव बनविष्णुपुरेर एक पुँथिते (बङ्गीय कवि २८-९ पृ०) नाकि एइ तारिख पाओआ जाय ।

जाहा हउक, महाप्रभुर अन्तर्धानेर ८२ वत्सर परे रचित एकमात्र ग्रन्थेर उपर निर्भर करिया १४५५ शक ताँहार तिरोभाव अविसम्बितरूपे ग्रहण करा जुक्तिजुक्त नहे । चरितामृते शकाङ्क भिन्न मासादिर उल्लेख नाइ। जयानन्द ओ लोचनदासेर मते रथजात्रार अव्यवहित परवर्ती आषाढेर शुक्ला सप्तमीते महाप्रभुर तिरोधान हय एव से दिन रविवार छिल । बहुकालपूर्वे पुरातन "श्री श्रीविष्णुप्रिया पत्रिकार" द्वितीय वर्षे (७२ पृ०) जनैक लेखक एइ तारिखटी गणना करिया देखियाछिलेन । १४५५ शके ३१ शे आषाढ रविवार शुक्ला अष्टमी ४८।४१ पल छिल (आमादेर गणनाय ४६।३३ पल), किन्तु से दिन शुक्ला सप्तमी पाओआ जाय ना। उक्त लेखक महोदय १४५५ शकाङ्क अभ्रान्त धरिया तिथिटाइ भुल साव्यस्त करियाछिलेन । आमरा किन्तु मने करि तिथि अपेक्षा शकाङ्कटाइ भुल हओआर अधिक सम्भावना । चरितामृते लिखित शकेर ठिक एक वत्सर पूर्वे १४५४ शकाब्दे १२ इ आषाढ रविवार (९ इ जुन, १५३२ खृ०) शुक्ला सप्तमी ५१।५४ पल पाओआ जाय एव इहाइ महाप्रभुर तिरोधानेर प्रकृत तारिख हइवे । एतद्भिन्न १४५८ शकेओ ७७ शे आषाढ रविवार (२५ शे जुन १५३६ खृ०) शुक्ला सप्तमी ५५।१० पल छिल । महाप्रभुर जीवनीपञ्जी विभिन्नग्रन्थे विभिन्नप्रकार, चैतन्यभागवते ताँहार नीलाचले वास अधिकांश पुँथिते "अष्टाविंशति वत्सर" लेखा आछे (सशोधन करिया "अष्टादश सवत्सर" लिखित हइयाछे) । जयानन्दओ तिन बार लिखियाछेन (पृ० १३७, १४९-५०) २८ वत्सर । दुइ जनेर मते ऐक्य देखिया आमरा प्रथमत १४५८ शकइ अवधारण करिते प्रवृत्त हइयाछिलाम । कृष्णदासेर मत २४ वत्सरे सन्यास, १८ वत्सर नीलाचले वास एव ६ वत्सर विभिन्नस्थाने भ्रमण । ६, १८, २४ सख्यागुलि गणिताङ्केर हिसावे एवइ विशुद्ध एव निर्दोष जे स्वभावतइ ए स्थले निपुण हस्तेर परिचालना आशङ्कित हय । चैतन्येर चरितावलीमध्ये सर्वापेक्षा प्राचीन एव प्रामाणिक ग्रन्थेर दोहाइ दिया आमरा उक्त उभय मतइ परित्याग करिते बाध्य हइयाछि ।

इहा नितान्त कलङ्केर विषय जे गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायेर कीर्त्तिस्तम्भ बालकवि कवि कर्णपूरर "चैतन्य चरितामृत" महाकाव्य ए जावत् समुचित आदरलाभे बञ्चित रहियाछे । जगतेर साहित्ये १६ वत्सरेर बालक-रचित महाकाव्य अति विरल । एइ ग्रन्थेर शेष श्लोके "वेदा रसा श्रुतय इन्दुरिति " रचनाकाल निबद्ध रहियाछे—१४६४ शक ज्यैष्ठ मास कृष्णा द्वितीया सोमवार । एइ तारिखटी गणितशास्त्रेर साहाज्ये विशुद्ध प्रतिपन्न हय । १४६४ शके ५ इ ज्यैष्ठ सोमवार (१ ला मे १५४२ खृ०) कृष्णा द्वितीया २२।१० पल छिल । सम्प्रति ढाका-विश्वविद्यालये एइ काव्येर एक मूल्यवान् हस्तलिखित प्रतिलिपि सगृहीत हइयाछे—ताहाते प्रतिलिपिकारक ४टा श्लोके निजेर परिचयादि ज्ञापन करियाछेन । ताँहार नाम विष्णुदास गोस्वामी एव तिनि स्वय रूपगोस्वामीर शिष्य छिलेन । (ढाकार पुँथिखानि विष्णुदासेर स्वहस्तलिखित पुँथिर अपेक्षाकृत आधुनिक एकखानि नकल मात्र हइवे ।) तृतीय श्लोकटी मूल्यवान् ।

चैतन्यचन्द्रचरितामृतमद्भुतार्थैर्यद्भिर्विरचितं कविकर्णपूरैः ।
रूपाख्यमत्प्रभुवरैः स्वकराम्बुजाभ्यां शाके हयर्तुभुवने लिखितं पुरा यत् ॥

इहा हइते जाना जाय अद्भुतकर्मा कविकर्णपूर मात्र १६ वत्सर वयसे (२८ वत्सर नहे—मूलकाव्ये ओ द्वितीय सर्ग ६० श्लोके "दृव्यष्ट" १६ अर्थे प्रजुक्त हइयाछे) एइ महाकाव्य रचना करेन एवं रचनार मात्र तिन वत्सर परे १४६७ शके स्वयं रूपगोस्वामी स्वहस्ते एइ ग्रन्थ नकल करियाछिलेन। रूपगोस्वामीर करकमलाङ्कित ग्रन्थेर प्रामाण्यविषये वोध हय मतद्वैध हइवे ना। एइ महाकाव्येर शेष सर्गे पाओआ जाय (४० श्लोके) महाप्रभुर २४ वत्सरे संन्यास, ३ वत्सर श्रीक्षेत्रेर वाहिरे नानादेशे जाताजात एवं २० वत्सर श्रीक्षेत्रवास (१८ सर्ग, ६१ श्लोक द्रष्टव्य)। परवर्ती ४१ श्लोके स्पष्ट भाषाय ४७ वत्सर लीलाकालेर उल्लेख रहियाछे। एतदनुसारे १४५५ (किंवा १४५८) शक छाड़िया १४५४ शकाब्देइ अन्तर्धान अवधारित हय। शास्त्रमते आयुर्गणना मावनमाने करिते हय। १४५४ शके तिरोधानकाले ताँहार वयःक्रम ठिक ४६ वत्सर ११ मास कएकदिन उत्तीर्ण हइयाछिल। तर्कच्छले सौरमान धरिया परवत्सर (१४५५ शके) ओ वय.क्रम स्थूलतः ४७ वत्सर पाओआ जाय वटे, किन्तु शुक्ला सप्तमी तिथि ओ रविवारेर सम्मिलन घटे ना। तद्भिन्न १४५४ शकाब्द आरेकटी निदर्शन द्वारा सूचित हय।

कविकर्णपूरेर परिणतवयसेर रचना चैतन्यचन्द्रोदय नाटकेर दशम अङ्के नीलाचले एक वत्सरेर महामहोत्सव विशेषभावे चित्रित हइयाछे। अङ्केर शेषे अद्वैत ओ महाप्रभुर जे कथोपकथन लिपिवद्ध हइयाछे ताहा आलोचना करिले निःसन्देह प्रतिपन्न हय जे से वत्सरइ महाप्रभुर लीलावसान हइयाछिल। 'लोकान्तरे' किंवा 'वपुरन्तरे' महाप्रभुर सङ्ग प्रार्थना एवं 'अवतारान्तरे' प्रतिश्रुति दान अन्यथा अर्थहीन हइया पड़े। एइ शेष वत्सरेर महोत्सवेर शेष दिन होरापञ्चमी छिल—इहाओ जयानन्देर ओ लोचनदासेर उल्लिखित तिथिर परिपोषक वटे। एइ शेष वत्सरटी गणितेर साहाज्जे वाहिर करिया लओआर एकटी प्रकृष्ट चिह्न अज्ञातभावे विद्यमान रहिआछे। दशमाङ्केर १३ श्लोक हइते जाना जाय से वत्सर "महाज्येष्ठी जोग" सङ्घटित हइआछिल। एइ जोग स्मृतिशास्त्रोक्त एकटी दुर्लभ ग्रह-समावेश। रघुनन्दनेर तिथितत्त्वे एइ जोगसङ्घटनेर नानाविध शास्त्रीय प्रकार प्रदर्शित हइयाछे। महाप्रभुर नीलाचल-वासकाले दुइ वार मात्र एइ महाज्येष्ठी जोग गणना द्वारा पाओआ जाय। १४४३ शके एवं १४५४ शके। १४५४ शके २१शे ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी ४।२९ पलेर पर पूर्णिमा; अनुराधा नक्षत्र ४५।१ पल पर्ज्जन्त, वृहस्पति अनुराधा नक्षत्रे (७।५।४७।२४) एव रवि अनुराधा नक्षत्र हइते ठिक पञ्चदश रोहिणी नक्षत्रे वर्तमान छिल। तिथितत्त्वधृत व्याघ्रभूति-वचनानुसारे किंवा तृतीय मतानुसारे इहाइ "महाज्येष्ठी जोग" वटे।

सुतरां श्रीचैतन्यदेवेर अन्तर्धान घटियाछिल १४५४ शकाब्दे १२इ आषाढ़ रविवार शुक्ला सप्तमी तिथिमध्ये—१५३२ खृष्टाब्दे ९इ जुन तारिखे।

मध्ययुग मे राजस्थान और बङ्गाल के बीच साधना का सम्बन्ध

श्रीयुत क्षितिमोहन सेन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

भारतवर्ष में आज आधुनिक शिक्षा दीक्षा का इतना विस्तार हुआ है और हम लोग विराट् भारतीय संस्कृति और सार्वभौमिकता की बँधी-सधी इतनी बोलियाँ रटा करते हैं, फिर भी हमारी सङ्कीर्ण प्रान्तीयता का अन्त नहीं।

अच्छी तरह देखने से मालूम होता है कि हमारी उदारता का अर्थ यही है कि दूसरे लोग उदार हो कर हमारी सारी प्रादेशिक वस्तुएँ निर्विवाद स्वीकार कर लें पर हमें अपनी सीमा छोड कर जरा भी बाहर न जाना पडे।

प्राचीन काल में, सम्भवत, इस तरह की बँधी सधी बोलियाँ नहीं थीं, पर ज्ञान, धर्म और संस्कृति का लेन देन कितना स्वाभाविक था। बाहर की दुनिया के साथ भी इन सब विषयों के साथ योग रहने में भारतवर्ष को कोई बाधा नहीं थी। और रेल, स्टीमर, तार, डाकघर आदि के बिना ही उन दिनों में भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में जो योग था वह बडा ही विस्मयजनक है।

मैं गौड (बङ्गाल) का हूँ और ओझाजी राजस्थान के। यद्यपि इतनी दूर से आज मैं अपनी अन्तर् की निर्मल श्रद्धाञ्जलि निवेदन करने जा रहा हूँ, फिर भी आजकल बहुतों के लिए इस प्रदेश भेद का भूल जाना सम्भवत कठिन होगा। पर उन दिनों में इस व्यवधान से कुछ आता जाता नहीं था।

शङ्कराचार्य, रामानुज आदि दक्षिण भारत के निवासी थे पर आज समूचे भारतवर्ष में उन का स्थान है। जयदेव बङ्ग देश के थे पर भारतवर्ष में कहाँ उन का गान आदर के साथ नहीं गाया जाता? लीलाशुक बिल्वमङ्गल तामिल देश के रहने वाले थे पर आज का बङ्गाली भी, प्रत्येक गृह में, यही समझता है कि वे उस के अपने देश के ही आदमी हैं।

उन दिनों सारे भारतवर्ष में ऐक्य योग के कितने ही साधन थे। सारे भारत में फैले हुए तीर्थ थे, इसी लिए अन्यान्य प्रान्तों के लोगों की भाँति ही बङ्गाली के प्रत्येक घर में उस का चित्त राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र के दर्शन के लिए व्याकुल रहा करता था। राजस्थान के जैन साधु, दल बाँधकर, बङ्ग देश के पारसनाथ आदि नाना जैन तीर्थों का दर्शन करने आया करते थे।

साधु लोग अपने शिष्यों के साथ, दल बाँध कर, तीर्थ-दर्शन और अन्य कई उद्देश्यों से नाना प्रदेशों में भ्रमण किया करते थे। चातुर्मास्य और वर्षाकाल के उपलक्ष में बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर वास भी करते थे। इसी लिए अनेक प्रकार से प्रत्येक प्रान्त में पारस्परिक भावों का आदान प्रदान चलता था इसी लिए एक प्रान्त की संस्कृति (culture) दूसरे प्रान्त में फैल पाती थी।

किसी एक प्रान्त में एक धर्म या संस्कृति का उदय होता तो उस धर्म और संस्कृति के साथ ही साथ उस प्रदेश की भाषा भी अन्यान्य प्रान्तों में समादृत होती थी।

संस्कृति और धर्म के साथ ही भाषा का भी विस्तार और प्रचार हुआ करता, तथा प्रत्येक प्रदेश में आपस का परिचय भी घनिष्ठ हो जाया करता था। नाना-प्रदेश-विस्तृत भाषा पर नाना स्थानों की छाप पड़ा करती थी।

मध्य भारत में प्रचलित संस्कृत की बात छोड़ देने पर भी देखते हैं कि जो पाली भाषा बौद्धों की इतनी भक्ति और श्रद्धा का धन थी वह क्या बाद में केवल उत्तर मागधी मात्र रह सकी? दिनों-दिन वह शौरसेनी-धर्माक्रान्त हो गई। जैन-मागधी में ही क्या अन्त तक मगध का वह रूप टिक सका था?

'कल्चर' (संस्कृति) के प्रयोजन से परवर्ती काल में भी, देखा जाता है, अपभ्रंश भाषा नाना स्थानों में व्याप्त हो गई। अवश्य ही प्रान्तभेद से उस में कुछ रूप-भेद भी हुआ था। "बौद्ध गान ओ दोहा" में जिस प्रकार का अपभ्रंश पाया जाता है, प्रायः उसी तरह का अपभ्रंश, ज़रा-ज़रा प्रादेशिक विशिष्टता के साथ, कर्नाटक से बङ्गाल तक फैला हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भक्त और साधक लोग उस समय एक-दूसरे के गान और भजन समझ सकते थे।

बङ्गाल के नाथ और योगियों के पद, मैनामती और गोपीचन्द के गान सारे उत्तर भारत—यहाँ तक कि सिन्ध, कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक—में भी गाए जाते थे। मैं ने राजपूताने के योगियों में, यहाँ तक कि कच्छ दीनोधर में भी—बङ्गाल के नाथ और योगियों के अनुरूप वाणी का प्रचलन देखा है। गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के गान, नाथ और योगी-पद बङ्गाल, राजपूताना इत्यादि सब जगह प्रचलित थे। जयदेव की भाषा यद्यपि संस्कृत है फिर भी वह काफ़ी मात्रा में प्राकृतधर्मी है। फिर भी, उन का गान काश्मीर से कुमारी तक सर्वत्र समान भाव से समादृत था। यह ठीक है कि इस तरह का विस्तार होने में काफ़ी समय लगा था; किन्तु आज के इस वैज्ञानिक सुयोग के काल में भी वैसा होना सहज नहीं है।

दिल्ली के बादशाह के सेनापति हो कर राजा मानसिंह बङ्गाल आए थे, फलतः यशोहर (जैसोर) की देवी गईं राजपूताने के आमेर में। साथ ही साथ यशोहर की देवी के पुजारियों को भी आमेर जाना पड़ा। आज भी वहाँ उस देवी की पूजा भक्ति के साथ होती है और देवी के उन बङ्गाली सेवकों का दल आज भी उस की पूजा को चला रहा है।

वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सात प्रधान ठाकुर थे। श्री श्री गोविन्द को श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था; श्री श्री मदनमोहन को श्री सनातन गोस्वामी ने और श्री श्री राधामोहन को श्री जीव गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। किसी-किसी का मत है कि इन्हें श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। श्री श्री गोपीनाथ की प्रतिष्ठा श्री भूगर्भ गोस्वामी और श्री मधु पण्डित ने की थी। श्री श्री श्यामसुन्दर उत्कल देश के भक्त श्री श्यामानन्द के प्रतिष्ठित थे। श्री श्री राधाविनोद की प्रतिष्ठा श्री नरोत्तम ठाकुर ने, श्री श्री गोकुलानन्द की प्रतिष्ठा श्री लोकनाथ गोस्वामी ने और श्री श्री राधारमण की प्रतिष्ठा श्री गोपाल भट्ट ने की थी। श्री श्री राधाविनोद और श्री श्री गोकुलानन्द की सारी सेवा एक ही साथ होती है।

उत्कलवासी भक्त श्री श्यामानन्द के स्थापित श्री श्री श्यामसुन्दर के सेवक उड़िया हैं, और बाक़ी ६ ठाकुरों के सेवक बङ्गाली हैं। "गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन" इन तीन ठाकुरों की ही प्रतिष्ठा ज़्यादा है। उन में भी गोविन्द की प्रतिष्ठा सब से अधिक है।

अन्त तक श्री गोपाल भट्ट के प्रतिष्ठित श्री श्री राधारमण का विग्रह ही वृन्दावन में टिक सका। दिल्ली के अत्याचार से श्री श्री गोविन्द, राधा-दामोदर, गोपीनाथ, श्यामसुन्दर, राधाविनोद, गोकुलानन्द इन कई

विग्रहों को राजपूताने के जयपुर में चला जाना पड़ा और श्री श्री मदनमोहन को जयपुराधीश ने अपनी ससुराल करौली में भेज दिया। जयपुर-नरेश के साले करौली के राजा गोपालसिंह ने सन् १७४० ई० के आस-पास करौली में मदनमोहन का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। कहा जाता है कि भक्त सूरदास वृन्दावन में इन्हीं मदनमोहन के बडे उपासक थे।

वृन्दावन में गोविन्दजी का जो मन्दिर था वह जैसा मनोरम था वैसा ही विशाल भी। इस मन्दिर की दीवाल में जडे हुए एक अस्पष्ट प्रस्तर-फलक के पाठ से जाना जाता है कि आमेर-नरेश मानसिंह ने अकबर के चौंतीसवें राज्याब्द में, श्री रूप सनातन के तत्त्वावधान मे, गोविन्दजी की प्रतिष्ठा कराई थी। मुल्तान के कृष्ण दास वणिक् ने भी इस में काफी सहायता दी थी। यह मन्दिर बाद को मुसलमानों के हाथ से विकृत हो गया। जो थोड़ा सा बच रहा है उसे देख कर ही अचरज में पड जाना पडता है। गोपीनाथ का मन्दिर भी शेखावाटी (राजपूताना) के रायसिंह का बनवाया हुआ था। ये सम्राट् अकबर के सभासद थे। इस समय यह मन्दिर जीर्ण हो गया है।

वृन्दावन के सात विग्रहों मे से छ तो गए राजपूताने म। वहाँ जाने पर भी छ मे से पाँच के सेवक बङ्गाली हैं, उन का विवाहादि सम्बन्ध आज भी बङ्गालियों में ही होता है।

दिल्ली के अत्याचार से राजपूताना बचा था। इसी लिए केवल देवता या देवविग्रह ही नहीं, अनेकानेक स्वाधीन मत और सम्प्रदायों के उपदेष्टाओं ने भी अपने अपने पोथी पत्रों के साथ राजस्थान में आश्रय ग्रहण किया। नाना स्थानों से सेठों का दल भी आ कर वहाँ आश्रित हुआ था। इसी लिए उन दिनों में राजपूताना नाना धर्मों, भावों और ऐश्वर्यों से समृद्ध हो उठा था।

छ-छ गौडीय ठाकुर अपने सेवकों सहित राजस्थान में प्रतिष्ठित हुए। इस के फल स्वरूप गौडीय मतवाद राजस्थान में विशेष रूप में सम्मानित हुआ। आज भी गीजगढ के सरदार खुशहाल सिंह क समान विद्वान् और भक्त लोग गौडीय गुरु के शिष्य हैं। आप एक बार जयपुर के हाईकोर्ट के न्यायाधीश थे।

वृन्दावन में गौडीय ठाकुर का मन्दिर बनवा कर और कुसमय म छ ठाकुरों को आश्रय दे कर तथा उन की सेवा के लिए व्यय की व्यवस्था कर के राजपूताने के—खास कर जयपुर के—राजा लोग बङ्गाल के चिर कृतज्ञता के पात्र हुए हैं।

नाना कारणों से जयपुर के साथ बङ्गाल का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्राचीन जयपुर नगर की जो नगर-प्रतिष्ठान व्यवस्था (Town Planning) इतनी सुन्दर है वह बङ्गाली विद्याधर भट्टाचार्य की बनाई हुई है।

अँगरेज राजत्व के प्रारम्भ म राज काज के लिए और विशेषत अँगरेजी शिक्षा देने के लिए जो बङ्गाली राजपूताने म गए थे, आज उन की चर्चा नहीं करूँगा, साथ ही राजपूताने से कलकत्ते में तथा सारे बङ्गाल में जो राजस्थानी, मारवाडी व्यवसायियों का दल वास करके दिन दिन स्वदेश को समृद्ध कर रहा है उस की बात भी आज नहीं करूँगा। क्योंकि यह बात इस नए युग से सम्बन्ध रखती है। हमारा वक्तव्य उस मध्य युग से है जब नाना प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करने म धर्म और 'कल्चर' का तकाजा छोड़कर अन्य कोई स्थूल वैषयिक तकाजा हो नहीं था।

आज कलकत्ते का बडा बाजार देखने से जान पड़ता है कि कोई राजस्थान का ही महानगर है। प्राचीन काल में भी व्यवसाय क लिए मुर्शिदाबाद, जियागञ्ज प्रभृति स्थानों में अनेक राजस्थानी जैन सेठ आ कर वास करने लगे थे।

जो हो, राजनैतिक और वैषयिक सम्बन्ध कभी भी ऐसा विशुद्ध नहीं होता। इसी लिए राजपूताने और बङ्गाल में जो विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है उसी को मैं आज श्रद्धा-सहित स्मरण कर रहा हूँ।

राजपूताने के पास ही हैं वृन्दावन और मथुरा। श्री श्री वल्लभाचार्य के मत को पुष्टि-मार्ग कहते हैं। इन का स्थान मथुरा-गोकुल मे था, वृन्दावन में नहीं। इन को भी अन्त में नाथद्वारा में जा कर आश्रय लेना पड़ा। वृन्दावन गौड़ीय भक्तों की साधना और राजपूत राजाओं की सहायता से ही गठित हो उठा था।

सनकादि सम्प्रदाय से उद्भूत होने पर भी वृन्दावन का राधावल्लभी सम्प्रदाय गौड़ीय मत से, विशेष कर नित्यानन्दी भाव से, प्रभावान्वित था। इसी लिए वे पुरुष की अपेक्षा प्रकृति को ही प्रधान मानते हैं। उन की राधा आगे हैं कृष्ण पीछे। इस सम्प्रदाय के साथ गौड़ीय महाप्रभु के सम्प्रदाय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि नागरीदास राधावल्लभी कहे जाते हैं पर बहुत लोग उन्हें गौड़ीय सम्प्रदाय के ही समझते हैं।

सोलहवीं शताब्दी के शेष भाग में वृन्दावन मे हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इन में भी गौड़ीय भावों का प्रभाव पाया जाता है। इस सम्प्रदाय में विट्ठलविपुल, विहारिणीदास, सहचरीशरण प्रभृति विख्यात लोगों ने जन्म ग्रहण किया। विख्यात कवि शीतल स्वामी का जन्म भी इसी टट्टी सम्प्रदाय में हुआ था। इन सब महापुरुषों के लेख और प्रभाव से भी राजपूताने मे गौड़ीय भावों का बहुत प्रसार हुआ है।

भक्त और साधिका मीराबाई राजस्थान की कन्या हैं, यह बात बङ्गाल के भक्त कभी मन में भी लाते हैं? मीराबाई तो उन के अपने घर की हैं; उन की जीवनी, उन का गान तो बङ्गाली भक्तों की अपने अन्तर की वस्तु है!

मीरा के साथ गौड़ीय साधकों का घनिष्ठ परिचय हुआ था, बहुत कुछ गौड़ीय प्रभाव भी उन के जीवन में घटा था। फिर मीरा के गान ने भी बङ्गाल के भक्तों को कम सरस नहीं किया था। वे तो मीरा को अपना स्वजन ही समझते थे।

उन दिनों में भी देखते-देखते किस प्रकार एक प्रदेश का उत्तम काव्य और साहित्य दूसरे प्रदेशों में फैल जाता था, इस बात को हम मलिक मुहम्मद जायसी (१५४०) के 'पदुमावती' काव्य के प्रसार को देख कर समझ सकते हैं। जायसी एक ओर तो चिश्ती सम्प्रदाय के मुहीउद्दीन के शिष्य थे और दूसरी ओर अलङ्कारादि शास्त्रों मे ब्राह्मण पण्डितगण उन के गुरु थे। अमेठी के हिन्दू राजा उन के भक्त थे। उन्हों ने ही जायसी की दरगाह बनवा दी थी।

इस पदुमावती की रचना के कुछ ही दिन बाद बङ्गाल मे भी उस की ख्याति फैल गई।

सुदूर अराकान तक जब इस की ख्याति फैल गई तो वहाँ के मुसलमान राजा मगन ठाकुर के अनुरोध से कवि अलावल ने पदुमावती का बँगला अनुवाद किया। कहाँ जायसी का देश और कहाँ अराकान! इस पदुमावती काव्य से ही बङ्गाली के घर-घर में भीमसिंह और पद्मिनी की कथा प्रसिद्ध हो गई। इसी लिए पुरानी बँगला कहानियों में पुष्कर की अपेक्षा चित्तौर का नाम अधिक सर्वजन-परिचित है। चित्तौर की इस कथा के कारण सारा राजस्थान उन की अपने घर की चीज़ हो गई।

उस समय साधारण जनता उदयपुर का नाम बहुत कम जानती थी। त्रिपुरा राज्य में एक उदयपुर के स्थापित होने पर भी राजा-रईसो को छोड़ कर साधारण लोग उदयपुर का नाम कुछ अधिक नहीं जानते थे।

वर्तमान युग में प्राचीन भारत की वीरता के प्रति भक्ति दिखाने के लिए राजपूताने के इतिहास ने सम्भवत बँगला साहित्य में ही पहले पहल अत्यन्त मुख्य स्थान ग्रहण किया था। किन्तु हमारा विषय है मध्य युग की साधना का परिचय। इसी लिए आज इन बातों के उल्लेख का कोई हेतु नहीं है।

केवल हिन्दुओं के द्वारा ही बङ्गाल और राजपूताने का सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हुआ। मुसलमान साधकों के द्वारा भी यह सम्बन्ध दिन दिन घनिष्ठ होता गया है।

साधक शिरोमणि मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने अपनी साधना का पीठ अजमेर को बनाया। इसी लिए बङ्गाल के ठेठ देहात के मुसलमान भी मक्का की भाँति पवित्र समझ कर अजमेर में तीर्थ यात्रा को जाते हैं। हिन्दू साधकों में से भी अनेक साधकों ने चिश्ती के साधना स्थान तक तीर्थ यात्री की भाँति श्रद्धा सहित यात्रा की है। १६२५ ई० के आस पास श्रीहट्ट के विथङ्गल मठ के संस्थापक साधक रामकृष्ण अपने शिष्य कृपालदास को ले कर वहाँ गए थे और वहाँ कुछ दिन रह कर बहुत से साधकों से परिचित हुए।

सुप्रसिद्ध फ़ैजी और अबुलफजल के पिता का नाम था मुबारक नागोरी। ये यद्यपि भारतवर्ष के बाहर से आए थे फिर भी आ कर जोधपुर के अन्तर्गत नागोर नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसी लिए इन की उपाधि 'नागोरी' हुई। कुरान हदीस इत्यादि शास्त्रों पर मुबारक की विशेष आस्था नहीं थी। वे स्वाधीन 'कल्चर' के उपासक थे। इसी लिए वे यूनानी अर्थात् ग्रीक दर्शन और नव अफलातूनी (Neo Platonic) ज्ञान के अगाध पण्डित थे। भारत में इतना स्थान रहते हुए भी क्यों ये राजपूताने में ही आ कर रहने लगे, यह समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। जो राजस्थान चिर काल अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए युद्ध करता आया था वही स्वाधीनता के साधकों का आश्रय स्थान था और था स्वाधीन चिन्ता का उपयुक्त साधना पीठ। इसी लिए देखा जाता है कि मध्य युग में राजस्थान में अनेकानेक स्वाधीन मतवाद का प्रादुर्भाव हुआ है और बाहरी अत्याचार से पीडित अनेक मतवाद इसी राजस्थान में आश्रित हुए हैं।

अकबर जब अपने उदार धर्म के प्रचार के लिए उद्यत हुए उस समय नागोरी मुबारक के पुत्र सुप्रसिद्ध फैजी (१५४७) और अबुलफ़ज़ल (१५५१) ही उन के दाहिने हाथ थे। मुबारक ने अपने पुत्रों को भारतीय शास्त्र, दर्शन और कल्चर (संस्कृति) में सुपण्डित बनाया था। फ़ैज़ी वेदान्त के गम्भीर पण्डित थे। उन्हों ने अच्छे अच्छे वेदान्त ग्रन्थों, महाभारत, रामायण आदि का अनुवाद किया था।

जब मध्ययुग के उदार धर्म साधकों ने साधना में हिन्दू और मुसलमानों का अध्यात्म विद्याओं का समन्वय करना चाहा तो उस समय भारतीय संस्कृति ने वेदान्त विद्या को तथा मुसलमानों द्वारा समादृत यूनानी 'कल्चर' न नव अफलातूनी (Neo Platonic) मत को आगे किया। इन दोनों मतों ने दो दिशाओं से आ कर बीच में मिलन सेतु की रचना की थी। वास्तव में ये ही दो मत ऐसे थे जिन में इतना प्रसार गुण था कि इस कार्य को कर सकते थे। मध्ययुग के भारतीय असाम्प्रदायिक उदार साधकों में, विशेष कर बङ्गाल के आउलबाउलों में, इस भारतीय नव अफलातूनी मत को 'नागोरी विद्या' नाम दिया गया है। खूब सम्भव है कि मुबारक नागोरी के नाम पर ही यह नामकरण हुआ हो।

दरिया साहब नाम के दो साधकों ने साधना के द्वारा इस नागोरी मत का विशेष रूप से प्रतिष्ठित और विस्तृत किया था। एक थे दरिया साहब मारवाडी (१६७६-१७५८)। इन का जन्म मुसलमान माता से धुनिया वंश में हुआ था। बहुत लोग इन्हें दादू का अवतार समझते हैं। दादू की ही भाँति इन के उपदेश

१५ अङ्गों में विभक्त हैं। इस मत मे हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के शिष्य हैं। ये लोग राम, परब्रह्म आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। इन के यहाँ ब्रह्म परिचय है, और हैं योग की गम्भीर बातें।

और एक दरिया साहब विहारी थे। उज्जयिनी के राजवंश की एक धारा आ कर बक्सर के पास जगदीशपुर मे राज्य करती थी। उसी क्षत्रिय-वंश मे साधक पीरनशाह ने जन्म ग्रहण किया था। सूफ़ी साधना से आकृष्ट हो कर पीरन साहब सूफ़ी हो गए। इन्हीं पीरन साहब के पुत्र थे दरिया साहब। कबीर के द्वारा ही विशेष रूप से आप अनुप्राणित हुए थे। आप भगवान् को 'सत्यनाम' कहा करते थे।

ये लोग लिखित किसी शास्त्र, व्रत, तीर्थ, आचार, बाह्य विधि आदि के क़ायल नहीं हैं। विग्रह-मूर्त्ति या अवतार की पूजा भी ये लोग नहीं करते। जाति-भेद भी नहीं मानते। मत्स्य-मांस और जीव-हिंसा का इन के यहाँ निषेध है। इन के ३६ प्रधान शिष्य थे। चार स्थानों पर इन के चार प्रधान अखाड़े हैं। मनुआ चौकी के अखाड़े के अलखशाह पूर्व देश में गए थे। गौड़ वरेन्द्र हो कर, मैमनसिंह और अष्टग्राम होते हुए, ये दक्षिण मे शाहबाज़पुर तक गए थे। हिन्दू और मुसलमान सब को ये योग और मैत्री का उपदेश सर्वत्र करते फिरे। इन्हीं के उपदेश के फल-स्वरूप नागोरी मत विशेष रूप से बङ्गाल में प्रचारित हुआ और आउल-बाउल, दरवेश आदि सम्प्रदायों में फैल गया। पूर्व बङ्ग के मदन प्रभृति पद-रचयिताओं में, दक्षिण शाहबाज़-पुरी और अष्टग्रामी बाउलों में और रङ्गपुर के पश्चिम भाग के सोनाउल्लाशाह के सम्प्रदाय आदि में यह नागोरी मतवाद इसी तरह प्रतिष्ठित हुआ।

अलवर राज्य में अट्ठारहवीं शताब्दी मे रसूलशाह नामक एक फ़क़ीर रहते थे। बङ्गाल के एक तान्त्रिक साधक के निकट वे तान्त्रिक साधना के रहस्यों से अवगत हो कर तान्त्रिक साधना मे प्रवृत्त हुए। बाद को वे एक मशहूर तान्त्रिक हुए और उन्हों ने इस मत का प्रचार किया। यह मत पञ्जाब तक फैल गया। ये लोग तान्त्रिकों की तरह चक्र मे बैठते हैं और वीराचार से साधना करते हैं। ये लोग षट्चक्र-भेद कर के सहस्रार सुधा का पान करते हैं। लौकिक मद की भी ये लोग उपेक्षा नहीं करते। ये लोग अलौकिक क्रिया कर सकते हैं और रसायनविद्या मे बड़े पटु होते हैं। काव्य-साहित्य के रसास्वादन में भी इन की प्रतिष्ठा है*।

इन के एक शिष्य थे शाहअली। ये बङ्गाल में आ कर उत्तर बङ्ग के भोटमारी में गए और सहज साधक रूपचन्द गोसाईं के साथ साधन में युक्त हुए। उस समय वहाँ तीन सहज मत के साधकों के सम्प्रदाय थे। कमलकुमारी, माझवाड़ी और मध्यमा। कमलकुमारी मत के साधक माला-विग्रह आदि ग्रहण करते थे, इसी लिए शाहअली की उन के साथ विशेष घनिष्ठता नहीं हो सकी। माझवाड़ी सम्प्रदाय के साधकगण उदार और "अव्यक्तलिङ्गाचार" थे। ये माला, विग्रह, तुलसी, गङ्गाजल आदि की विशेष पूज्यता नहीं मानते। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि भी इन मे कुछ वैसी नहीं थी। इसी लिए इन्हीं के साथ शाहअली का योग हुआ। रूपचन्द गोसाईं के शिष्य खेपा (=पागल) गोसाईं नीलफामारी के अन्तर्गत बेलपूकुर ग्राम में १५-१६ वर्ष पहले मरे हैं। उस समय उन की अवस्था शायद ७५ वर्ष की थी। उस प्रदेश के हिन्दू-मुसलमान बाउलों में आज भी उन की साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

---

* यह लेख लिखा जा चुका था, मैं भेजने की व्यवस्था कर रहा था, कि मेरे एक गुजराती मित्र ने काठियावाड़ में पाई गई बँगला की एक प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक दिखाई। यह पुस्तक बङ्गाल के रसूलशाही तान्त्रिक मत की है। पुस्तक जैन पुस्तकालय मे पड़ी थी। मालूम होता है, भूल से यह पुस्तक राजपूताने का सफ़र करती हुई जैन साधुओं के साथ काठियावाड़ पहुँची।

जयदेव के गीतगोविन्द का ही नाम प्रसिद्ध है। किन्तु साधकों में उन के अनेक सहज पद भी प्रचलित हैं। केवल सिक्ख लोगों के ग्रन्थ साहब में ही नहीं, दादू पन्थी साधकों प्रभृति ने भी अत्यन्त समादर के सहित उन सब पदों को अपने संग्रह ग्रंथों में ग्रहण किया है। ये पद असल में बँगला में लिखे गए थे, किन्तु पञ्जाब, राजपूताना प्रभृति प्रदेशों तक पहुँचने म उन्हें कोई बाधा नहीं थी। यद्यपि उन स्थानों में जा कर इन पदों में बहुत रूपान्तर हो गया है। उन दिनों राजस्थान और पञ्चनद के साधक जयदेव को अपने घर का ही आदमी समझते थे, यह बिलकुल नहीं समझते थे कि वे एक भिन्न प्रदेश के आदमी हैं।

रामानन्द के बहुत से शिष्य थे। उन में बहुतों का जन्म राजस्थान में हुआ था। कुछ लोग ऐसे भी थे जो साधना की सुविधा के लिए वहाँ जा बसे थे। रामानन्द के शिष्यों में धन्ना जाट जाति के थे। पीपा राजपूत थे और एक छोटे से राज्य के अधिपति थे। अपने कुल धर्म शाक्त-साधना को छोड़ कर भक्ति के पथ में आए और राज्य ऐश्वर्य त्याग कर बाहर निकल पडे। उन की एक रानी भी उन के साथ चलीं। द्वारका के पास पीपावट में वे बहुत दिनों तक रहे। वहाँ पीपा के भक्तों का एक मठ है।

पूर्व बङ्ग के विख्यात विथङ्गल मठ के स्थापयिता प्रसिद्ध साधक रामकृष्ण १६२५ ई० के आसपास तीर्थ यात्रा के लिए पीपावट म गए और कुछ दिनों तक वहीं रहे भी। इसी लिए रामकृष्ण के स्थापित विथङ्गल मठ और ढाका फरीदाबाद के मठ में भी उन दिनों पीपा पन्थी साधुओं का प्रचुर यातायात हुआ करता था। रामकृष्ण के भक्त भी राजस्थान और द्वारका के पीपा भक्तों के मठ में जाया-आया करते थे। वे लोग जयपुर गलता के अनन्तानन्द के मठ में भी जाया-आया करते थे। अनन्तानन्द रामानन्द के ही एक शिष्य थे। जयपुर में खाकी सम्प्रदाय का एक मठ है, वहाँ तक भी बङ्गाल के भक्तों की गति विधि थी।

साधक रैदास जाति के चमार थे। एक समय राजपूताने में उन का यथेष्ट प्रभाव था। राजस्थान के अनेक कुलीन और राजवंशियों में भी उन के भक्तों का अभाव नहीं था। बङ्गाल में भी बहुत रैदासी थे। इसी लिए वे लोग चिर दिन से ही राजस्थान की प्रीति के साथ स्मरण करते आए हैं।

अलवर के लालदास का जन्म उस मेव-वंश में हुआ था जिन का व्यवसाय ही लूट पाट था। भक्तों में यह बात प्रसिद्ध है कि एक गौडीय वैष्णव साधक की प्रेम साधना देख कर ही ये भजन कीर्तन के अनुरागी हुए थे। अलवर के डेहरा ग्राम में भक्त चरणदास का जन्म हुआ था। दिल्ली के आस पास इन के बहुत भक्त हैं। बिहार और बङ्गाल में भी इन के भक्त बीच बीच में दिखाइ दे जाते हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवतक सन्तराम या रामचरण का जन्म जयपुर के सुरासेन ग्राम में हुआ था। उत्तर पश्चिम प्रदेश से ले कर गुजरात तक उन के अनेक मठ हैं। बङ्गाल में भी उन के भक्त कहीं कहीं थे।

कहा जाता है कि दादू और उन के कई शिष्य देश पर्यटन करते करते बङ्गाल और जगन्नाथ तक आए थे। दादू के शिष्य सुन्दरदास भी बङ्गाल में रहे थे। १५९६ ई० में, धौसा नगर में, सुन्दरदास का जन्म हुआ था। कविरूप से सुन्दरदास की खूब ख्याति है।

भक्त दादू का (१५४४–१६०३) नाम और साधना स्थान राजपूताने में मशहूर है। बङ्गाल के बाउल भी उन का नाम अति श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। इन्हीं बङ्गाल के बाउलों के गान में ही मुझे प्रथम बार सन्धान मिला कि दादू पहले मुसलमान थे और उन का नाम था 'दाऊद'। बाउलों के गान में हा सुना था—
"श्रीगुरु 'दाऊद' वन्दि 'दादू' यॉर नाम।"

(श्री दाऊद गुरु की वन्दना करते हैं जिन का नाम है. दादू।) वाद को अनेक राजस्थानी ग्रन्थों में भी मैंने इस बात का समर्थन पाया था।

कहा जाता है कि दादू ने देश-परिक्रमा करते समय वङ्गाल में आ कर यहाँ के भक्तों और साधना के साथ घनिष्ट भाव से परिचय स्थापन किया था।

दादू-पन्थी अनेक पुरातन संग्रह-ग्रन्थों में नवनाथों के नाम और उन के पद पाए जाते हैं। मैंने इस प्रकार का एक बृहत् संग्रह-ग्रन्थ जयपुर के एक वृद्ध दादू-पन्थी साधु के पास देखा था। उन के शिष्य शङ्करदासजी हमारे परिचित थे। ग्रन्थ सन् १७०६ ई० का लिखा था। बाबा ईश्वरदास ने अपने शिष्य वैरागी सन्ता से इसे लिखवाया था। ग्रन्थ का लेखन कुतुबखाँ की मढ़ी में बाबा गोकुलदासजी की कुटिया में वैशाख कृष्ण ११ को समाप्त हुआ था। यह एक संग्रह-ग्रन्थ है। इस में एक नाथ-पद है—

"अदेख देखिबा देखि विचारिबा,
आकृष्ट राखिबा बाचिया...
पाताल गङ्गा स्वर्गे चढ़ाइबा"—इत्यादि।

वङ्गाल के नाथ-पन्थियों में ये पद अति परिचित हैं।

दादू बानी के माया अङ्ग में है—

"ऊभा मारं, वैठ विचारं, सम्भारं जागत सूता।
तीन लोक तत जाल विडारण तहाँ जाइगा पूता।" (१३६)

और पूर्व वङ्ग के नाथ योगियों में पाया जाता है—

"उठ्या सारन, वैठ्या सारन, सामाल जागत सूता।
तिन भुवने विछाइना जाल कइ यावि रे पूता"

राजस्थान के नाना ग्रन्थों में माया और गोरखनाथ का संवाद पाया जाता है। उस में देखा जाता है कि माया कहती हैं कि—

ऊभा मारुं वैठा मारुं, मारुं जागत सूता।
तीन भवन भग जाल पसारूं, कहाँ जायगा पूता।

और पूर्व वङ्ग के नाथपन्थियों के पद में देखते हैं—

उठ्या मारुम वैठ्या मारुम, मारुम जागत सूता।
तिन धामे* काम जाल विछाइमू कइ जावि रे पूता।

राजस्थानी दादू-पन्थी पोथी में देखते हैं तो गोरखनाथ इस के उत्तर में कहते हैं—

ऊभा खण्डूं वैठा खण्डूं, खण्डूं जागत सूता।
तीन भवन ते भिन ह्वै खेलू तो गोरख अवधूता।

वङ्गाल के योगियों के पद में देखते हैं—

उठ्या खण्डुम वैठ्या खण्डुम खण्डुम जागत सूता।
तिन भुवने खेलुम आलग तय तो अवधूता।

---

* "तिनभवे भगजाल विछाइमू" पाठ भी है।

नाथ-योगियों के पद की यह भाषा पूर्व बङ्गाल की नितान्त परिचित ठेठ ग्राम्य भाषा है।

इस से क्या यह नहीं मालूम होता कि राजस्थान और बङ्गाल के साधकों की घनिष्ठता कितनी गहरी और एकान्त थी ?

नराना, आमेर और साँभर में दादूजी के साधना-स्थान, धौसा में जगजीवनजी और सुन्दरदासजी का स्थान, सांगानेर और फतेहपुर में रज्जबजी का स्थान, जोधपुर के गूलर ग्राम में माधोदासजी का स्थान, डीडवाणा और फतेहपुर में प्रयागदासजी विहाणी का स्थान, बूशेरा में शङ्करदासजी का स्थान, सांगानेर में मोहनदासजी का स्थान, आन्धी में जनगोपालजी का स्थान—ये सब स्थान बङ्गाल के साधको के निकट भी अपरिचित नहीं हैं। आजकल के शिक्षित विद्वद्वृन्द इन सब घनिष्ठताओं की कोई खबर नहीं रखते, फिर भी इन दो देशों के निरक्षर दीन दुखी साधकों के दल कितने प्राचीन काल से ही परस्पर में घनिष्ठता-स्थापन करते आ रहे हैं।

४

अर्वांचीन काल.

भारतीय दुसरा रणसंग्राम

अथवा

विजयनगरचें शेवटचें युद्ध

श्रीयुत वा० सी० बेन्द्रे, पुणें

[विजयनगर के युद्ध का कारण धार्मिक नहीं था। उस का वास्तविक कारण यह था कि रामराजा के राज्य काल में विजयनगर का उत्कर्ष तत्कालीन दक्षिण भारतीय मुसलमान राजाओं को असह्य था। वास्तव में यह युद्ध दक्षिण भारत के उत्तरी और दक्षिणी अंशों का युद्ध था, न कि हिन्दुओं और मुसलमानों का धार्मिक युद्ध। धर्म का कारण तो पीछे से अली आदिलशाह को अपनी ओर मिलाने के लिए जोड़ा गया। सर्वप्रथम अली आदिलशाह रामराजा के पक्ष में था, तथा उन दोनों में पूर्ण मित्रता थी। रामराजा ने अली आदिलशाह का बाल्यावस्था में पालन किया था; उन दोनों में विरोध का कोई कारण नहीं था। विजयनगर के युद्ध की पहली दो लड़ाइयों में—जिन में से दूसरी लगातार साढ़े चार दिन तक होती रही—रामराजा की विजय रही, तथा यदि एकाएक अली आदिलशाह धोखा दे कर उस पर धावा न कर देता तो शत्रु-सैन्य का पूरा पराभव हो जाता। अली आदिल ने धोखे से रामराजा को पकड़ लिया तथा उसी के कहने से उस का शिरच्छेद कर डाला।]

हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत 'विजयानगरच्या साम्राज्याला' महत्वाचें स्थान प्राप्त झालेलें आहे। हें महत्व त्या साम्राज्याच्या क्षेत्रमर्यादेवरून मिळालेलें नसून तें विजयानगरचा ऱ्हास व त्यावेळीं झालेला अतुल रणसंग्राम यामुळें मिळालें आहे। हा रणसंग्राम इ० स० १५६५ त झाला व त्यानंतर थोडक्यांच अवधींत विजयनगरचें साम्राज्य लयास गेलें।

सोळाव्या शतकाच्या सुरुवातीस विजयनगरच्या सम्राटपदावर तुळूव वंशीय कृष्णदेवराय आला होता। यानें मोठा दिग्विजय करून मुसलमानी राज्यांतील बराचसा मुलुख काबिज केला। कृष्णदेवराय इ० स० १५२९ त मरण पावला तेव्हां त्याचा सावत्रभाऊ अच्युतराय गादीवर आला। हाही इ० स० १५४२ त मरण पावला। नंतर त्याचा मुलगा व्यंकटदेव व नंतर सदाशिवराय गादीवर बसले। कृष्णदेवरायाच्या कारकीर्दींत त्याचा जांवई आळीय रामराजा हा शूर व कर्तृत्ववान असल्यानें प्रबळ झाला होता। कृष्णदेवरायानंतर यानेंच सर्व कारभार पाहिला व आपल्या बाहुबलानें पुंडपाळेगारांचा मोड करून व शेजारच्या बराच मुलुख जिंकून आपलें राज्यक्षेत्र वाढविलें आणि सर्वांवर चांगलाच दरारा बसविला, शेजारील उत्तरकडील पादशाहाहि चिंताक्रांत होऊं लागले। रामराजाचा उत्तरोत्तर होणारा उत्कर्ष व त्याचें चढाईचें वर्तन त्यांस असह्य वाटत होतें। अशा विजयानगरच्या भरभराटीच्या परिस्थितींत हा रणसंग्राम घडून आला।

इतिहासांत या रणसंग्रामाचें असें कारण देण्यांत येतें कीं, रामरायानें आदिलशाहाच्या एका दरकाराच्या नांवावर इस्लामी धर्माचा गौणपणा सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला। त्यामुळें सर्व पातशाहांना त्यानें चिडवून

लढाईच्या भरीस पाडले। खास आदिलशाहावर कांहींच परिणाम झाला नाहीं। परंतु जालनापूर येथें जमलेले कुत्बशाहा, निजामशाहा, व इमाद-उल्-मुल्क अल्लाउद्दीन अकबर रागावले व त्यांनीं संघनमन करून कर्नाटकच्या स्वारीचा वेत ठरविला। या रणसंग्रामांत सामील झालेल्यांत एकीकडे मुख्यत चारहि पादशाहा व दुसरीकडे रामराजा असल्याने या युद्धात इस्लामी व हिंदू धर्मांचा लढा असावा असें वाटणें अगदीं साहाजिक आहे। परंतु इस्लामी पादशाहीं तर्फे जसा सैन्याचा मोठा भाग व मांडलिक हिंदू होते त्याचप्रमाणें देहार्पण करण्यास सिद्ध झालेला इस्लामी समाज हिंदू रामराजाकडे लढत होता। इतकेंच नव्हे तर या हिंदू राज्याचा शेजारी आदिलशाहा अगदीं शेवटच्या दिवसापर्यंत रामरायलूचीच मैत्री अभिलाषित होता। साराश, धर्मातील लढा हें कारण अगदींच गौण दिसतें। मुख्य व खरें कारण म्हणजे रामरायानें केलेली कर्तबगारी व साम्राज्याची आकांक्षा धरून केलेली राज्याची वाढ हे होय।

रामराजाचा मोड करण्याची मूळ कल्पना इमाद उलमुल्क अल्लाउद्दिन अकबराची। तिला बाहरी निजामशाहा व इब्राहिम कुत्बशाहा यांनीं पुष्टि देताच ती मूर्त स्वरूपास आली। परंतु रामराजावर चालून जाण्याचा मार्ग आदिलशाहींतून। तेव्हा त्याला वश करून घेणें जरूर। परंतु अली आदिलशाहाचा ओढा प्रथमपासूनच रामराजाकडे। अर्थात् त्यानी इस्लामी बंधुत्वाची मात्रा देऊन त्याला आपलेकडे मिळवून घेतले। परंतु त्याला जरीया कारणपरंपरेचा फोलकटपणा स्पष्ट दिसत होता तरी त्याच्यांत या तिघां पादशाहांच्या विरुद्ध जाण्याची शक्ती नव्हती। म्हणून त्याने आपल्या इस्लामी बंधूस मिळण्याचें ठरविले। मात्र रामराजास आपल्या निष्ठेबद्दल खात्री देऊन आंतून मदत करित होता। यावरून हा रणसंग्राम इस्लामी धर्मासाठी झाला नसून इस्लामियांची राजसत्ता रामराजानें डळमळविली होती ती कायम राखण्याकरितां व विशेषत. रामराजाच्या आगामी धोरणास प्रतिबंध देण्यासाठीं झाला असे म्हणणे अधिक संयुक्तिक दिसते। अली आदिलशाहाने हा कट रचला असे काहींचे म्हणणे दिसते। परंतु तत्कालीन माहितीवरून हे खरें वाटत नाही। बहुध. हा कट म्हणजे हुसेन बहिरी निजामशाहा व कुत्बशाहा यांचेच हें कारस्थान असावें व हे कारस्थान इ० स० १५६४ च्या एप्रिल-मे मध्यें शिजलें असावें।

ह्या कटाची बातमी रामराजा किंवा राजा भूवर यांस दसऱ्याचें पूर्वी म्हणजे इ० स० १५६४ च्या सप्टेंबरांत आली। विजयादशमीच्या दरबारांत त्यानें ती जाहीर केली व या मुसल्मानी पादशाहांत तोंड देण्यासाठी पुढें चालून जाण्याचें ठरविलें। आपली व मांडलिकांची सर्व सेना एकत्र जमवून विजयानगराहून कूच केलें। आदिलशाहानीं आपल्यास मिळावें म्हणून रामराजाप्रमाणे पादशाहांच्याहि खटपटी चालल्या होत्या। शेवटीं आदिलशाहाने पादशाहीच्या सैन्यास वाट देण्याचें व त्यात शामील होण्याचें ठरवून गुप्तपणें रामराजाला मैत्रीचें व निष्ठेचें अभिवचन दिलें। पादशाही सैन्यहि कूच करून कर्नाटकावर चालून येऊ लागलें।

या सैन्याची मोजदाद बरीचशी अतिशयोक्तीने दिली आहे। मात्र या सर्वांची सैन्ये बरींच अफाट होती व तयारी ही चांगली होती असे मानण्यास हरकत दिसत नाही। रामराजाकडील सैन्याच्या तळाने तुंगभद्रेच्या उत्तरेकडे कृष्णा नदीपर्यंतचा बत्तीस कोसाचा मुलुख व्यापला होता। निजामशाहाचे सैन्य भीमानदीवरील फरुखाबादेजवळील सुलतानपुराच्या आश्रयानें उतरलें होते इमादचे सैन्य इब्राहिमाबरोबर राहिले। आदिलशाहा व कुत्बशाहा कृष्णेवर जमालगडाजवळ राहिले। येथून मुसलमानी सैन्याने कृष्णेच्या दक्षिणेकडील मुलुखात लुटालुट करण्याचा आरंभ केला। तेव्हा राजा भूवरनें दहा हजार घोडे स्वार व वीस हजार पायदळ त्या भागात पाठवून पळून जाणाऱ्या प्रजेस धीर दिला। इ० स० १५६५ च्या एप्रिलच्या सुरुवातीस रामराजानें आपल्या सैन्याचा तळ

दलविला। रक्कसगा तगडगाजवळ जाऊन लढाईस सज्ज राहण्याचा हुकुम दिला। नवकारच तें सैन्य आपल्या युद्धसामग्रीनिशी जाऊन आपापल्या जागीं उभे राहिलें। नतर रामराजानें सर्वांस निरनिराळा नजराणे वगैरे देऊन प्रोत्साहित केलें। पातशाहांना ही बातमी समजतांच त्यांनींहि आपलें लष्कर हालविलें व राजा भूवरवर चालून जाण्याचे हुकुम दिले। रामराजाच्या रक्कसगा तगडाच्या मुक्कामाजवळ चार कोसावर पातशाही सैन्य उतरलें। येथें सर्व पादशाहाचा पुन्हा शपथविधि झाला।

निजामशाहानें गढा बांधून लढण्यास [१२एप्रिल] सुरुवात केली। इमाद उल् मुल्कहि सज्ज होऊन कर्नाटका सैन्यावर चालून येऊं लागला। रामराजानेंहि आपले सरदार पाठविले। तोफांस सरबत्ती दिली। जेजाळा, सुतरनाळा वगैरे अस्त्रें मारून संहार करूं लागली। दोन्ही बाजूंच्या सैन्यांत सारखा हातघाईची लढाई चालू झाला। तीन दिवस पर्यंत सारखी धुमश्चक्री माजून राहिली। निजामशाहा व कुत्बशाहा यांना मोठ्या धैयानें व निकरानें लढून चांगलाच पराक्रम दाखविला। परन्तु त्यांचें बरेंच सैन्य नाश पावलें। रामराजाच्या सैन्यानें फारच चांगलें शौर्य दाखविलें व शत्रु सैन्याचा मोड [१४ एप्रिल] केला। यावेळी अली आदिलशाहा व बहिमनमुल्क यानी या लढाईत मुळींच भाग घेतला नाहीं। या तीन दिवसांत निजामशाहा व कुत्बशाहा यांचे कडील जे मुख्य मुख्य सरदार कामास आले त्यांत, अळूय मुकुंद देव, जमादार तुळाजाराव, केदारजी सुरावत, चद्राजा कोंडकर, भुनबलराव, सुलतानखान, बडखान, मुल्कसाहेब, हसनखान, हुसनखान, अकबर वीरखान, कहुमलखान, मुकर अलाखान, महमद अलाखान, जाफरखान, रसूलखान, सिद्दा मुर्तुजाखान, भुजगराव, सुभानराव, वकूराव, शावराव, हिन्दुराव, भुरारा घोरपडे व रामराव हे ठार झाले, आणि शिवाजी राजा, नागाजी भोंसला, निंबाजी काळा, विनूजी पूरा, सूरराव, अकुशराव, हसाजी, इब्राहिमखान, फरादखान, हिरूतखान, सुगलखान, बिलालखान, मुर्तुजा बेग, मिर्झा हयातउल्ला, इनायतखान, दाउदखान, अव्वलखान, हजरतखान, अबाजीराव, ढवळोजाराव, सुजाराव व नागाजी तुकदेव हे जखमी झाले। कैद केलेल्यांत अली नाईक, महिपतराव नाईक, अबदुल नाईक व पार नाईक असे चौघे मुख्य होते। रामराजाकडे रघुवीर नाईक, कुमारराव अवधूतराव, शिवाजाराव, अकुशराव, परांडराव, जगपताराव, महादजीराव, भुजगराव, अलोजीराव, तिम्म नायक, देवराव व सत्यराज सालुका हे ठार झाले। सालरखान, सैद अली लाला, सुलतानजी हिरूजीराव, कृष्णाजीराव, दौलतसिंग, राजा अकुश, राजा भीमसेन, भास्करराव, सोमण्णा दळवा जगपती, गोपालराव, राजा कुमार शंकरराव, राजा गोपाल, राजा हसाजी, सेनापती रघुवीर नायक दुळळा, शर्मेद शारगाव व तकुळगुठी वीराप्पा नायक हे जखमी झाले। सीतळ नायक, पास नायक, मल्ल नायक, नागाजी नायक व तिम्म नायक हे धरले गेले। अशा तऱ्हेनें या रणसंग्रामाचा पहिली फेर उडाला व जरी दोन्हींहि बाजूंच्या सैन्याचा बराच नाश झाला तरी पातशाही सैन्याचा मोड झाला व त्यांचें सैन्य रण सोडून आपापल्या तळाकडे निघून गेले।

यानंतर दोन्हीही बाजूचे आदिलशाहाच्या मदतीकडे डोळे लागले। आदिलशाहा पहिल्या रणसंग्रामांत सामील झाला नाही हें पाहून दळवी वीराप्पा नायक व पावशा नायक यांचे बरोबर रामराजानें निरोप पाठविला कीं तुला लहानपणीं मांडीवर खेळविलें व तुझ्या दुधभाताकरितां रायचूर मुद्गल व मुदाना हे प्रान्त दिले। तुला आजपर्यंत हरतऱ्हेची मदत केली व तूंहि आजपर्यंत माझे इच्छेनुरूपच वागत आला आहेस। तरी आतां जे तीन पादशाह माझा नाश करण्यास उद्युक्त झाले आहेत त्यांस तूं मिळणें तुला योग्य आहे कां? आदिलशाहानें उत्तर पाठविलें कीं, 'मी शत्रूंस यास अंत करणपूर्वक मिळालो नाहीं। या तीन पादशाहांनीं आपली सैन्यें जबरदस्तीनें माझ्या मुलुखांत घुसविलीं। झाडपानांचा जंगलांचा वगैरे बराच नाश केला।

जुलमामुळेच मला त्याचेबरोबर यावे लागले। मी तुमच्या मांडीवर खेळलो आहे व आद्यापिहि तुमचा पुत्र आहे असेच मानित आहे। आपणांस दिलेल्या आभिवचनात यत्किंचित अंतर करणार नाही। मी तुमचा आहे। जरी मी शत्रू बरोबर असलो तरी माझ्या विषयीं शंका घेण्याचे कारण नाहीं। परंतु ही बातमी पादशाहांस लागतांच त्यांनीं आदिलशाहास तोंडी निरोप पाठवून विचारले की, 'ही लपंडावी व फितुरी तुम्हीं करित आहांत हे योग्य नाहीं। आम्हीं तुमचेवर अवलंबून नाहींत। रामराजाचा आम्ही नाश करणारच। परंतु तुम्हीं जर या लढाईत आमच्या बरोबरीनें मेहनत केली नाहींत तर प्रथम तुमचाच नाश करणें आम्हांस भाग पडेल। आदिलशाहा या दटावणीस घावरला व 'तुम्ही ज्याप्रमाणें सांगता त्याप्रमाणे आजपर्यंत करीत आलों आहे व पुढेही करीन, शंका नसावी असे त्यानीं कळविलें। आदिलशाहाचें या पूर्वीचें वर्तन व आश्वासन यावर रामराजाचा विश्वास बसला असल्यास नवल नाहीं।

नंतर रामराजानें आपली सेना रक्कसगी-तंगडगीच्या उघड्या मैदानांत नेली। तेथे रणगढी बांधून रणस्तंभही उभारला व त्यासभोंवतीं आपले सैन्य ठेवून शत्रूवर हल्ले करण्यास सुरुवात केली। दोन दिवस [१७-१८ एप्रिल] अशा तऱ्हेनें गेले। इमादच्या सैन्यानें आपला मोर्चा तालीकोट येथील चाळीस घरांच्या मागे नेला व तेथें बारगीर, वजीर व मराठे सरदारासह तळ दिला। राजा भूवरनेंही आपलें मुख्य सैन्य रक्कसगीच्या मैदानांत ठेवून तो कांहीं निवडक निवडक सैन्यानिशी तालीकोटकडे गेला। अशा रितीनें या दुसऱ्या फेरीचा वेळीं हें रणक्षेत्र रक्कसगी ते तालिकोट पर्यन्त पसरले गेले होतें। रक्कसगीच्या सैन्याचें अधिपत्य राजा कोंडवरूकडे दिलें होते।

उजाडताच [ता० २० एप्रिल] पादशाही सैन्य कर्नाटकी सैन्यावर चालून आलें। राजा कोंडवरू व इतर सरदार त्यास तोंड देण्यास पुढे गेले। सकाळपासून दुपारीं तीन वाजेपर्यन्त निकराचें युद्ध झालें। दोन्हींहि बाजूंकडील बरेच लोक कामास आले। पादशाही सैन्याचा जोर दिसतांच राजा कोंडवरूने राजा भूवरकडे निरोप पाठविला की 'तीनही पादशाहा आमचेवर तुटून पडत आहेत। तरी त्याचे पाठीवर सैन्य पाठवावे। असे केल्यास त्यांच्या सैन्याचा नाश होईल व आपणास जय मिळेल। आदिलशाहा व इमाम नायक हे अद्यापि युद्धांत शामील झाले नाहींत। त्यावरून असें वाटतें कीं ते आपले विरुद्ध लढणार नाहींत। परंतु ते आपली कदाचित ऐनवेळीं फसगतहि करतील। तरी त्याचे बोलण्यावर विश्वसून चालणार नाही। जर आपण आदाजी नायकाबरोबर दहा हजार घोडदळ व वीस हजार पायदळ रवाना केलेत तर आमची फत्ते होईल व शत्रूची धूळधाण उडेल। रामराजाला हा बेत पसत पडला व त्याने तावडतोब कुमक रवाना केली। इकडे युद्ध चालूंच होते। इमादचे सैन्य व निजामशाहा धीर धरून लढत होते। कुत्वशाहानें तर माघार घेतली व आश्रयाची जागा पाहून तेथें जाऊन राहिला। या धुमश्चक्रींत राजा भूवरचेहि बरेच सैन्य कामास आले। हे पाहून रामराजाने त्या दोन्ही पादशाहावर तुटून पडण्यास सांगितले। खास रामराजाही आपल्या अमृत गजावर आरूढ होऊन लढाई करीत होता व हुकुम देऊन सैन्य लढवित होता। अशा तऱ्हेने तीन दिवस व चौथ्या दिवशीं नऊ तास युद्ध झाले। तेव्हां शत्रूपक्षाचे बरेच लोक मारले गेले व शत्रुसैन्य सैरावैरा जंगलांत पळूं लागले। शेवटी त्या तीन्हींहि पादशाहांनी माघार घेऊन दोन कोस मागे तळ घेतला। अशा रीतीने रामराजाला हा दुसरा विजय मिळाला व रामराजाचें सैन्य आनन्दभरित होऊन गाफिल राहिलें।

पातशाही सैन्याचे झालेलें नुकसान व या विजयाने त्याची झालेली मानहानी यामुळें ते सर्व चिडून गेले। त्यानी पुन्हां एकदा जोराचा हल्ला देण्याचे ठरविले। त्यानी आदिलशाहास निकराचा निरोप धाडला की, 'तुम्ही आतापर्यंत आम्हांस काहीच मदत केली नाहींत। उलट शत्रु आमच्या सैन्याचा नाश कसा करीत आहे हे पाहाण्यांतच आपण मग्न आहात। आपली इच्छा। आम्ही धैर्यानें पुन्हां एकदा निकराचा प्रयत्न करूं आणि आमच्या विश्वासू सरदारांच्या

साहाय्यानें इस्लामी धर्माचा अब्रू सांभाळू।" हा निरोप गेला त्यावेळीं दुपारचे तीन वाजले होते। पातशाही सैन्य शत्रूवर हल्ला चढविण्यासाठीं तयारी करीत होतें व असा आदिलशाह निमाज पढत होता। त्यानें तो निरोप ऐकून इस्लामीयांची अब्रू वाचविण्याबद्दल व त्यास शत्रूवर विजय मिळविण्याबद्दल परमेश्वराचा करुणा भाकला। एकदम आपल्या सैन्यास हुकूम दिले व राजा भूवरच्या गाफिल असलेल्या सैन्यावर तो तुटून पडला। रामराजाचा सैन्याचा दाणादाण उडाली व लोक लढण्यास तयार होण्यापूर्वीच त्यांचा नाश केला गेला। चिजवस्तु लुटली। आदिलशाहाच्या लोकांनीं राजा भूवर यास वेढा घातला व त्याला पकडून आदिलशाहापुढें नेले। तेव्हां राजा भूवर बोलला कीं, "आतापर्यन्त तुला मी माझा मुलगा म्हणून समजत आलों। शेवटीं तू मला असा हा दगा दिलास। हें तुझ्या असून माजमें आहे काय? थोर मनुष्य आपल्या पितृस्थानीं मानलेल्या माणसाला असें फसवितात कां? माझ्याबद्दल म्हणशील तर अशा तऱ्हेनें माझी प्रजा व सैन्य विश्वासघातानें बळी पडल्यानंतर मला या जगांत कांहीं मिळवावयाचें राहिले नाहीं। तू कृतघ्नपणें जरी असा विश्वासघात केला आहेस तरी मी तुझ्याजवळ शेवटची मागणी करीत आहे कीं माझें शीर शत्रु सैन्याच्या हातीं पडण्यापूर्वी तू आपल्या तरवारीनें काप व नंतर तुझ्या जातीचा, धर्माचा व राज्याचा उदंड उपभोग घे। शेवटीं रामराजानें परमेश्वराची प्रार्थना केली व पुन्हां एकदां आदिलशाहास शीर कापण्यास सांगितलें व आदिलशाहानें रामराजाचें शीर धडापासून वेगळें केलें। ही बातमी इतर पादशाहांस समजतांच त्यांनीहि हल्ले चढविले। कर्नाटकी सैन्याचा संहार व लुटालूट केली। अशा तऱ्हेनें या भारतीय दुसऱ्या रणसंग्रामाचा शेवट झाला।

नंतर ते पादशाही सैन्य त्यास विजयानगरावर चालून गेलें व तें शहर लुटलें। आदिलशाहानें त्यास मराठा देऊन त्यांचा गौरव केला। राजा भूवरचें शीर काशीस पाठविलें। विजयानगरचें शहर लुटलें तेव्हां राजधानी पेनकोंड्यास नेली होती। तेथें आदिलशाहानें वेढा दिला व पेनकोंडा नंतर दोह मन्दिराशी म्हणजे जून्या सुरवातास ताब्यांत घेतलें। विजयानगरचें साम्राज्य मोडलें। इस्लामी पादशाहांस या दुसऱ्या भारतीय रणसंग्रामांत मिळालेल्या यशानें आपलीं राज्यें चिरस्थायी करतां आलीं।

रामराजा रक्ताक्षी संवत्सरीं (गत) शालिवाहन शके १४८७ (चालू १४८६) वैशाख मासीं वद्य अष्टमी व सोमवार रोजीं श्रवण नक्षत्रीं (२३ एप्रिल १५६५ अथवा २० रमजान ९७२ हिजरी) सारंकोटावर मारला गेला।

वरील हकीकतीला मुख्य आधार म्हणजे समकालीन रामाजी हरकारा नांवाच्या गुप्त रामराजाच्या नोकरानें लिहिलेला हकीकतनामा होय। या रणसंग्रामाला धर्मयुद्धाचें स्वरूप [illegible] कारण नव्हतें। हा रणसंग्राम हिंदू मुसलमानांतील नसून कर्नाटकचें साम्राज्य व उत्तरेकडील राज्यें यांच्यांतील असावा। रामराजा इस्लामी पादशाहांत आपसांत दुसऱ्या [illegible] करीत होता व त्या सर्वांस नाश करण्याचें त्याचें सामर्थ्य होतें। आदिलशाहाचें व त्याचें [illegible] नसून वाट त्याचा अपमान झाला। मात्र आदिलशाहानें एकदम निजामशाह, कुतुबशाह इत्यादि पादशाहांच्या हातांशीं मिळून, केल्यामुळें रामराजा तालीकोट येथें पकडला गेला व त्याचें शिर मारला गेला आदि [illegible] रविवारीं ह [illegible] महाराष्ट्र [illegible] [illegible] हा हिंदुस्थानच्या इतिहासांतील दुसरा मोठा भारतीय रणसंग्राम हिंदू साम्राज्याच्या नाशास कारणीभूत झाला।

हीरविजय सूरि की तरफ आकर्षित होने का तथा उन को बुलाने का यही खास निमित्त था।

बाद मे अकबर ने एक पत्र मानुकल्याण और थानसिंह नामक जैन गृहस्थों तथा धर्मसिंह पन्यास से लिखवाया और एक खत खुद लिखा।

उस समय गुजरात का सूबेदार था शहाबखां (शहाबुद्दीन अहमदखां)। बादशाह ने इस सूबेदार को लिख दिया कि 'हीरविजय सूरि को हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे आदि ठाट व इज्जत के साथ भेजो।' ये पत्र बादशाह ने दो मे व डा ओ के साथ भेजे। 'ही र सौ भा ग्य का व्य' मे इन मेवडाओं के नाम मौदी और कलाम दिये गये हैं।

हीरविजय सूरि इस समय गंधार में थे। दोनों पत्र हीरविजय सूरि के पास पहुँचने पर अहमदाबाद, खभात, गंधार आदि के जैन गृहस्थ लोग इकट्ठे हुए। हीरविजय सूरि को जाना चाहिए या नहीं ? इस विषय मे बहुत परामर्श हुआ। गृहस्थ लोगों ने, अकबर के निमंत्रण पर अनेक तर्क वितर्क कुतर्क कर के सूरि जी को जाने से मना किया, परन्तु अन्त मे सूरि जी ने अपनी ओजस्वी भाषा मे सब को उत्तेजित कर के वस्तुस्थिति समझाई, और अकबर के पास जाने का निश्चय किया।

वि० स० १६३९ के मार्गशीर्ष कृष्णा ७मी के दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी के लिए प्रस्थान किया। लबी मुसाफरी थी। अपना पुस्तक, वस्त्र, पात्र आदि सब सामान कधे पर उठा कर पैदल चलना था। ग्रामानुग्राम भिक्षावृत्ति करते हुए जाना था। इन कारणों से भक्त जनों को आचार्य जी का गुजरात छोड़ना बहुत खटकता था, दु खकर होता था, परन्तु भविष्य मे होने वाले लाभ पर दृष्टिपात करते हुए सूरि जी ने इन सारे कष्टों को तुच्छ समझा।

हीरविजय सूरि के साथ इस समय ६७ साधु थे, जिन में प्रधान विमलहर्ष उपाध्याय, शान्तिचंद्र गणि, प० सोमविजय, पं० सहजसागर, प० सिंहविमल, पं० गुणविजय, प० गुणसार, पं० कनकविजय, प० धर्मसी ऋषि वगैरह थे।

हीरविजय सूरि, अपनी इस मडली के साथ ज्येष्ठ शुक्ला १२ (स० १६३९) को फतहपुर सीकरी पहुँचे। उन्हों ने गधार से चचोला, जंबूसर, सोजींत्रा, मातर, वारीसाणा, कड़ी, महसाना, पाटन, सिधपुर, रोह, आबू, सिरोही, सादड़ी, बान्ता, बगडी, जयताण, फलोदी, सांगानेर, हिंडवण, और बयाना होते हुए फतहपुर सीकरी मे प्रवेश किया था। आखरी मुकाम उन्हों ने अमीरामाबाद[1] मे किया।

---

१. ट्रिगनोमेट्रिकल नकशे में यह ग्राम (अमिरामाबाद) नहीं है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि हीरविजय सूरि ने आखिरी मुकाम अमिरामाबाद में किया था। ऋषभदास कवि ने हीरविजय सूरि रास में लिखा है—

"बयाना नई अमिरामाबाद गुरू आवंतां गयो विषवाद।
फतेपुर भणी आवइ जसिय अनेक पंडित पूंठि तस्यइ" ॥४४॥ पृ० १०८।

अर्थात् बयाना के बाद अमिरामाबाद आये थे।

हरिसौभाग्य काव्य मे लिखा है—

"पवित्र 'स्तीर्थं इवाध्वजन्तून्पुरेऽभिरामादाऽस्नि।
यावत्समेत' प्रभुरेत्य तावद् द्रागवाचवेन्द्रेण नतः स तावत्॥

सर्ग १३, श्लो० ४४।

हीरविजय सूरि का प्रवेशोत्सव बड़े आडम्बर के साथ किया गया। जैनों के साथ राज्य के सहकार ने इस उत्सव की शोभा बहुत बढ़ा दी।

'ही र वि ज य सू रि रा स' के कर्त्ता ऋषभदास कवि का कथन है कि जिस दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी में प्रवेश किया, वे फतहपुर सीकरी के एक सामन्त जगन्मल्ल कच्छवाह[1] के महल में ठहरे थे। जगन्मल्ल कच्छवाह ने बड़े आदर के साथ सूरि जी की भक्ति की।

दूसरे दिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १३ के दिन हीरविजय सूरि की मुलाकात सम्राट् अकबर से होने वाली थी। अकबर के पास पहुँचने के पहले हीरविजय सूरि अबुलफजल के यहाँ कुछ समय ठहरे[2] और उन्हीं के द्वारा इस प्राथमिक मुलाकात का समय निर्णय किया गया।

बादशाह के महल में सूरि जी बुलाये गये। सूरि जी अपने १२ शिष्यों के साथ महल में पधारे, अर्थात् कुल १३ साधु इस प्रथम मुलाकात में थे। अपने तीनों पुत्रों (शेखूजी, पहाड़ी (मुराद) और दानियाल), अबुलफजल एवं बीरबल आदि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों सहित अकबर ने, सूरि जी का स्वागत किया। प्रारम्भ में बाहर के दालान में अनेक सुख वार्त्ताओं की पृच्छा होने के पश्चात् अकबर ने महल की चित्रशाला में पधारने के लिये प्रार्थना की। परन्तु अन्दर के कमरे में गालीचा बिछा हुआ था। सूरि जी ने इस पर हो कर चलने के लिये अपने साधु धर्मानुसार इन्कार किया। अकबर ने कारण पूछा। सूरि जी ने साधु धर्म सिखलाते हुए 'दृ ष्टि पू त न्य से त पा द म्'—'दृष्टि से पवित्र बनी हुई जगह पर पैर रखना चाहिए।' इत्यादि बातें समझाईं। यहाँ आश्चर्य जनक घटना यह हुई कि सूरि जी को अन्दर ले जाने के लिये ज्योंही अकबर ने गालीचे का एक पल्ला उठाया, उस ने देखा कि हजारों चींटियाँ फिर रही हैं। इस पर अकबर को बड़ा आश्चर्य हुआ और सूरि जी पर श्रद्धा अधिक बढ़ी। बाद में निर्दोष स्थान में बैठक रक्खी गई और सूरि जी से बादशाह ने उपदेश सुना।

इस प्रथम मुलाकात में हीरविजय सूरि ने देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझाया।

इस मुलाकात के प्रसंग पर बादशाह ने अपने पर लगी हुई शनि की दशा के खराब असर को दूर करने के लिए तावीज जैसी कोई चीज बना देने की प्रार्थना भी की। परन्तु सूरि जी ने 'मंत्र तंत्रादि करना साधु का धर्म नहीं है' ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया।

हीरविजय सूरि के सम्बन्ध में कई ऐसी दन्त कथाएँ, दन्तकथाएँ ही नहीं, बल्कि कुछ संस्कृत ग्रन्थों में भी ऐसा पाया जाता है कि उन्होंने अकबर को उस के पिछले पूर्वज बताये, टोपी उड़ाई, एक फकीर को इस पर उस से प्रा जीव दिखाये, इत्यादि कई चमत्कारिक बातों का वर्णन पाया जाता है। और ऐसा कर के हीरविजय सूरि की अस्वाभाविक महिमा बढ़ाई गई है। परन्तु यह बात बिलकुल गलत है। हीरविजय सूरि ने कोई चमत्कार नहीं दिखाया। बल्कि जब कभी अकबर ने ऐसे प्रश्न किये, तब बिलकुल इन्कार कर दिया। हाँ, इतना अवश्य कहा—'आप जीवों पर रहम कीजिये, जीवों की रक्षा कीजिये, प्रजा के दुःखों का निवारण कीजिये। आप का भला होगा। आप दुःखों से मुक्त होंगे।'

१ जगन्मल्ल कच्छवाह जयपुर के राजा बिहारीमल का छोटा भाई था। विशेष के लिये देखो 'आईन-ए-अकबरी' के प्रथम भाग का, ब्लोकमन कृत अँग्रेजी अनुवाद पृ० ४२९।

२ बिन्सेंट स्मिथ लिखता है:—

बादशाह को उन से (हीरविजय सूरि से) वार्तालाप करने का अवकाश मिला, तब तक वे अबुल फजल के पास बिठाये गये। अकबर पृ० १६७।

शान्तिचन्द्र जी के बाद भानुचंद्र जी और सिद्धिचंद्र जी अकबर के पास रहे थे। इन दोनों का संबन्ध गुरु शिष्य का था। इन दोनों ने अकबर के पास रह कर अच्छी ख्याति प्राप्त की। भानुचन्द्र जी पर बादशाह बहुत प्रसन्न था। बादशाह जब कभी फतहपुर सीकरी किंवा आगरा छोड़ कर बाहर जाता, भानुचन्द्र जी को अवश्य साथ ले जाता। भानुचन्द्र जी अपने साधुधर्म के नियमानुसार पैदल ही जाते थे। बादशाह को विश्वास हो गया था कि इन महात्मा के वचनों में सिद्धि है। इस के उसे कई प्रमाण भी मिल गये थे।

इतिहासकारों के कथन से यह बात स्पष्ट है कि बीरबल के अनुरोध से, अकबर प्रतिदिन सूर्य की पूजा करता था। बदाउनी लिखता है —

दूसरा यह हुक्म दिया गया था कि—सवेरे, शाम, दुपहर और मध्यरात्रि में—इस प्रकार दिन में चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिये। बादशाह ने भी सूर्य के १००१ नाम जाने थे। और सूर्याभिमुख होकर भक्ति पूर्वक उन नामों को बोलता था।

सूर्य के ये १००१ नाम किस के द्वारा प्राप्त किये थे? यह किसी ने नहीं बताया। जैन ग्रंथों में इस के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिखी गई हैं। ऋषभदास कवि ने 'हीरविजयसूरि रास' में लिखा है —

"पातशाह काश्मीरें जाय, भाणचंद पुंठे पणि थाय,
पूछइ पातशा ऋषि ने जोड़, खुदा नजीक कोने वली होई? ॥ १९ ॥
भाणचंद बोल्या ततखेव, नजीक तरणी जागतो देव।
ते समया करि बहुमार, तस नामि ऋद्धि अपार ॥ २० ॥
हुओ हुकम ते तेणीवार सँभलावे नाम हजार।
आदित्य ने अरक अनेक आदि देवमा घणे विवेक" ॥ २१ ॥

इस से मालूम होता है कि—बादशाह जब कश्मीर गया था तब भानुचन्द्र ने सूर्य के सहस्रनामों का स्तोत्र[1] सुनाया और सिखलाया था। भानुचंद्र जी के उपदेश से सिद्धाचल जी की यात्रा पर जाने वाले लोगों से जो 'कर' लिया जाता था वह बादशाह ने बन्द कर दिया, और उस का फरमान पत्र लिख कर हीरविजय सूरि के पास भेज दिया।

भानुचन्द्र जी को जैन संघ ने 'उपाध्याय' पद दिया, उस में भी बादशाह का ही अनुरोध था।

भानुचन्द्र जी के शिष्य सिद्धिचंद्र जी बड़े विद्वान् और शतावधानी थे। सिद्धिचंद्र जी की शक्ति से प्रसन्न हो कर बादशाह ने उन्हें 'खुशफहम' का पद दिया था।

भानुचन्द्र जी और सिद्धिचन्द्र जी अकबर विजयसेन सूरि की प्रशंसा किया करते थे। विजयसेन सूरि हीरविजय सूरि के प्रधान शिष्य थे, पट्टधर थे। अकबर ने हीरविजय सूरि को पत्र लिख कर विजयसेन सूरि को अपने पास बुलाया। वि० सं० १६४९ में विजयसेन सूरि राधनपुर (गुजरात) से प्रस्थान करके लाहौर में अकबर से जा

---

[1] इस स्तोत्र की एक हस्त लिखित प्रति आगरे के श्री विजय धर्म लक्ष्मी ज्ञान मंदिर में है, उसका आदि श्लोक यह है—

'नमः श्री सूर्यदेवाय सहस्रनाम धारिणे।
कारिणे सर्व लोकानां प्रकाशानुगतेऽस्तु ॥

मिले। इस समय अकबर लाहौर में रहता था। विजयसेन सूरि और अकबर की प्रथम भेंट लाहौर के 'कश्मीरी महल' में हुई। नंदिविजय जी जो कि विजयसेन सूरि के शिष्य थे, अष्टावधान कर बादशाह को प्रसन्न किया। बादशाह ने उन्हें 'खुशफहम' का पद दिया।

विजयसेन सूरि की विद्वत्ता और चारित्र पर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। विजयसेन सूरि के उपदेश से अकबर ने गाय, भैंस, बैल और भैंसो की हिंसा बन्द करा दी। एवं मृत मनुष्य का 'कर' लेना बन्द करा दिया।

अब तक के वृत्तान्त से यह स्पष्ट होता है कि—हीरविजय सूरि, शान्तिचन्द्र उपाध्याय, भानुचन्द्र उपाध्याय, और विजयसेन सूरि ने अकबर के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव डाला था। 'जजिया' कर उठवाना, सिद्धाचल, गिरिनार, तारंगा, आबू, ऋषभदेव, राजगृह के पहाड़ और सम्मेत शिखर आदि श्वेताम्बर तीर्थों के परवाने लेना, सिद्धाचल का कर बन्द करवाना, मृत मनुष्यो के धन ग्रहण करने का रिवाज बन्द करवाना, पक्षियों को पिंजरों में से छुड़वाना, गाय, भैंस, बैल, भैंसो की हिंसा रुकवाना आदि अनेक कार्य उपर्युक्त जैन महात्माओं ने करवाये थे और जैन साधुओ के उपदेश से अकबर ने मांसाहार भी बहुत अंशो में बन्द कर दिया था। इन बातों का उल्लेख 'अबुल-फजल' ने 'आईन-ए-अकबरी'[1] में एवं 'बदाउनी' ने भी अपनी पुस्तक में किया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ भी अपनी अकबर नामक पुस्तक के ३३५वे पृष्ठ में लिखता है :—

विद्वानों का मत

"मांसाहार पर बादशाह की बिल्कुल रुचि नहीं थी, और अपनी पिछली जिंदगी में तो जब से वह जैनो के स मा ग म मे आया तभी से उसने इसका सर्वथा ही त्याग कर दिया।

स्मिथ यह भी लिखते हैं :—

"मगर जै न सा धु ओ ने वर्षो तक अकबर को उपदेश दिया था। बादशाह के कार्यों पर उन उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्हों ने अपने सिद्धान्त उससे यहां तक मनवा दिये थे कि—लोग उसे जैनी समझने लग गये थे।

विन्सेंट स्मिथ ने अपने 'अकबर' नामक ग्रन्थ के २६२वे पृष्ठ मे पिनहरो (Pinheiro) नामक एक पुर्तगाली पादरी के पत्र के एक अंश को उद्धृत किया है जो उपर्युक्त बात को प्रमाणित करता है, उस में कई जैन सिद्धान्तो का उल्लेख करने के साथ यह भी लिखा है।*

अन्त में लिखा है:—

"इति सूर्यसहस्रनामस्तोत्र सम्पूर्णम् ॥ अमुं श्री सूर्य सहस्र नाम स्तोत्रं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वीपति कोटीरकोटि संघटित पदकमल त्रिखंडाधिपति दिल्लीपति पातिसाह श्री अकब्बरसाहि जलालदीन. प्रत्यहं शृणोति, सोऽपि प्रतापवान् भवतु ॥ कल्याणमस्तु॥"

कादम्बरी की टीका, विवेक-विलास की टीका और भक्तामर की टीका आदि अनेक ग्रन्थों में भानुचन्द्र जी के नाम के पहले सूर्य सहस्र नामाध्यापकः विशेषण का प्रयोग आया है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि भानुचन्द्र जी ने ही अकबर को सूर्य के सहस्र नाम सिखलाए थे।

१. आईन्-ए अकबरी, ब्लेखमैन द्वारा अनुवादित, जि० १, पृ० ६१-६२; अलबदाउनी, डब्ल्यू० एच० लौ द्वारा अनुवादित, जि० २, पृ० २६४, ३३१।

* "अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी है।"

यह पत्र उस ने लाहोर से ता० ३ सितम्बर १५९५ के दिन लिखा था। यह वही समय है जब कि विजयसेन सूरि लाहोर मे अकबर के पास थे।

धर्म सभा के सदस्य

इतिहासज्ञों से यह बात छिपी नहा है कि अकबर ने सन् १५७९ म 'दीन-ए इलाही' नामक स्वतत्र धर्म की स्थापना की थी। और एक धर्म सभा भी कायम की थी। इस धर्म सभा में प्रारम्भ म तो मुसलमान मोलवियो को ही सम्मिलित किया था। परन्तु बाद मे ईसाई पादरी, पारसी मोबेद, हिन्दू ब्राह्मण, और जैन साधु भी सदस्य बनाये गये। इनम कुल मिलाकर १४० सदस्य थे। 'आईन ए अकबरी' (अङ्गरेजी अनुवाद) के दूसरे भाग के तीसरी 'आयत' मे इन सदस्या की सूची दी गई है। इस धर्म सभा को पाँच श्रेणियों मे विभक्त किया गया था। प्रथम श्रेणी म वे सदस्य रखे जाते थे जो इस लोक और परलोक का ज्ञान रखते थे। जिन जैन महात्माओं द्वारा अकबर के जीवन की काया पलट कर देने का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमे से तीन महात्मा अकबर की इस धर्म सभा के सदस्य थे ऐसा 'आईन ए अकबरी' की उपर्युक्त सूची से प्रकट होता है। वे तीन हैं—हीरविजय सूरि, भानुचन्द्र जी और विजयसेन सूरि। इन मे हीरविजय सूरि का नाम है प्रथम श्रेणी मे, और विजयसेन सूरि तथा भानुचन्द्र जी का नाम है पाँचवीं श्रेणी मे। हीरविजय सूरि का नाम है १६ वें नम्बर म और विजयसेन सूरि तथा भानुचन्द्र जी का नाम है १३९,१४० में। ये तीनों नाम अङ्गरेजी अनुवादक ने इस प्रकार लिखे हैं हीरजी सूर, विजयसेन सूर, और भानचन्द।

उपसंहार

अब इस लेख को पूर्ण करने के पहले एक बात का यहाँ विचार करना आवश्यक समझता हूँ। यह तो निश्चित हो चुका है कि अकबर के दरबार में जैन साधुओं का प्रवेश हुआ था, और उन जैन महात्माओं ने अकबर के जीवन पर प्रभाव डाला था। इतना ही नहीं, परन्तु उन्हों ने अकबर से लोकोपकार के व जीवदया के अनेक कार्य करवाये थे, तथापि इस का क्या कारण है कि—विन्सेंट स्मिथ के पहिले किसी भी इतिहासकार ने अकबर के जीवन चरित्र को लिखने के समय जैनों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा ?

मैं इस के तीन कारण समझता हूँ। (१) उन ग्रन्थकारों ने जैन साहित्य को देखा ही नहीं। (२) मूल फारसी ग्रन्थों म 'यति' 'सेवडा' 'व्रति' आदि शब्द आये हैं, ये कौन हैं ? इस बात को अनुवादक लोग नहीं समझ सके। (३) 'आईन ए अकबरी' में उपर्युक्त तीन जैन महात्माओं के नाम पढ़ने में गलती हुई। इन तीन कारणों स अकबर और जैनों का सम्बन्ध इतिहासकारों स गुप्त रहा।

जैन साहित्य ज्यों ज्यों प्रकाश में आया और विद्वानों के हाथ में आता गया, त्यों त्यों अब विद्वानों को यह बात ज्ञात हुई कि हीर सौभाग्य-काव्य, विजयप्रशस्ति-काव्य, जगद्गुरु काव्य, कर्मचन्द्र चरित्र, गुर्वावली, कृपा रसकोश, सोमसौभाग्य-काव्य, तथा कई पट्टावलियां आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में तथा हीरविजय सूरि रास, लाभोदय रास, कर्मचन्द्र चौपाई, तीर्थमालाएँ, विजयतिलक सूरि रास, अमरसेन-वयरसेन आख्यान, मल्लिनाथ रास, पद्मप्रभ रास, दुर्जनशाल बावनी, परब्रह्म प्रकाश, विनय चिन्तामणि स्तोत्र आदि कई प्राचीन गुजराती साहित्य ग्रन्थ हैं, जिन में अकबर और जैनाचार्यों के सम्बन्ध का काफी वर्णन पाया जाता है।

दूसरी बात जैन पारिभाषिक शब्दों का न समझना। 'यति' और 'सेवडा' शब्द मूल फारसी ग्रन्थों म लिखा गया है। ये शब्द 'बौद्ध' साधुओं के लिये नहीं, परन्तु जैन साधुओं के लिये ही है। आज भी

मुसलमान लोग अकसर कर के जैन साधुओं को 'से व ड़ा' कहते हैं। पञ्जाब में तो आमतौर से 'से व ड़ा' नाम से ही पुकारे जाते है। जैन साधुओं को प्राचीन समय मे 'श्र म ण' कहते थे। सम्भव है यही 'श्र म ण' 'से व ड़ा' के रूप मे आगया हो। डॉ० स्मिथ के कथनानुसार सब से प्रथम भूल मि० चैलमर्स ने 'अकबर नामा' के अंग्रेजी अनुवाद करने मे की, बाद मे इलियट और डाउसन ने भी वही भूल की। इन तीनो की भूल ने वाननोअर को भी भूल मे डाल दिया। इसी प्रकार भूल होती आई।

सत्य बात तो यह है कि अकबर के दरबार मे कोई 'बौ द्ध सा धु' गया ही नही। विन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं:—

"अकबर की बौद्धों के साथ न कभी भेंट हुई थी और न उस पर उन का प्रभाव ही पडा था। न बौद्धों ने कभी फतहपुर सीकरी की धर्म सभा मे भाग लिया था और न कभी अबुलफजल के साथ ही किसी बौद्ध साधु की मुलाकात हुई। इस से बौद्ध धर्म के विषय में उस का (अकबर का) ज्ञान बहुत ही कम था। धार्मिक परामर्श सभा में भाग लेने वाले जिन दो-चार लोगों के लिये बौद्ध होने का अनुमान किया गया है, वह भ्रम है। वास्तव मे वे गुजरात से आये हुए जैन साधु थे।"

स्वय अबुल फजल 'आईन-ए-अकबरी' में लिखता है "चिरकाल से बौद्ध साधुओं का कहीं पता नहीं है। बेशक पेगु, तनासिरम और तिब्बत में ये लोग कुछ हैं। बादशाह के साथ तीसरी बार स्वर्गीय काश्मीर की मुसाफरी मे जाते वक्त इस मत के (बौद्ध मत के) दो चार वृद्ध मनुष्यो से मुलाकात हुई थी, मगर किसी विद्वान से भेंट नही हुई।"[1]

इन बातों से स्पष्ट है कि—अकबर की धर्म सभा में कोई 'बौद्ध साधु' नही थे—नही गये थे।

तीसरी बात यह है कि—अकबर की धर्म सभा के सदस्यो मे तीन जैन साधुओं के नाम अवश्य हैं, परन्तु इसके पढ़ने वालों ने ग़लत पढ़ा और गलत पढ़ने पर भी उस पर परामर्श नही किया कि—ये कौन होंगे? हीरविजय सूरि के स्थान मे हरि जी सूर, विजयसेन सूरि के स्थान मे विजयसेन सूर, और भानुचन्द्र के स्थान मे भानचन्द—ऐसा अनुवाद किया गया है।

इस प्रकार वि० स० १६३९ से वि० सं० १६५१ तक अकबर के साथ जैन साधुओं का सम्बन्ध लगातार रहा था। उस के बाद जब तक अकबर जीवित रहा उस को और उस के बाद उस के लड़के जहाँगीर को भी जैन साधु मिलते और धर्मोपदेश देते रहे थे।

---

१ दे०—आईन्-ए अकबरी (जेरिट कृत अंग्रेज़ी अनुवाद), जि० ३, पृ० २१२।

राजपूत और मराठे

श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेराव, ग्वालियर

श्रद्धास्पद श्रीयुत गौरी शंकर जी ओझा महोदय पुरातत्त्व विशारद हैं, संशोधक हैं, भारतीय प्राचीन लिपियों के विज्ञ हैं और हैं कई ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रणेता, पर आप का सब से अधिक महत्त्व का और स्थायी कार्य है राजपूताने के इतिहास की सामग्री का संशोधन, सङ्कलन और सम्पादन। यद्यपि प्राचीन काल से ले कर आज तक के हमारे देश के इतिहास के साधन तो यत्र-तत्र बिखरे हुए विपुल रूपेण पाए जाते हैं, किन्तु अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित होने के पूर्व किसी भारतीय पण्डित ने सुसूत्र रूपेण भारतीय, प्रान्तीय या जातीय इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेज़ी राज्य के आरम्भ काल में कुछ उदाराशय पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास की प्राचीन सामग्री एकत्र करना आरंभ किया और एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल जैसी बड़ी संस्थाएँ भी स्थापित हुईं, साथ ही व्यक्तिगत रूप से ग्राण्ट डफ़ ने मराठों का इतिहास लिखा, फॉर्बस ने रास माला अर्थात् गुजरात के इतिहास का सम्पादन किया, टॉड ने राजपूताने का इतिहास लिखा तथा मालकम ने मध्यभारत का, कनिंघम ने सिक्खों का, पॉगसन ने बुंदेलों का, ब्रिग्ज़ ने निज़ाम का, विल्क्स ने मैसूर का तथा उन कार्यकर्ताओं के अन्तिम प्रतिनिधि डॉक्टर विन्सेण्ट स्मिथ ने भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास लिखा। यद्यपि भारतीय दृष्टिकोण से उक्त इतिहासों में कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं—उस समय इतने साधन भी उपलब्ध नहीं थे और न एक व्यक्ति को इतनी सामग्री मिल ही सकती थी, तथापि तात्कालिक परिस्थिति को देखते उन आरंभिक कार्यकर्ताओं ने जो कुछ किया, वह तो अवश्य ही श्रेयस्कर है। आज दिन तक कई भारतीय विद्वानों ने उक्त कृतियों की आलोचनाएँ एवं प्रत्यालोचनाएँ भी कीं, किन्तु अब तक बहुत कम विद्वानों ने तत्सदृश स्वतन्त्र इतिहास ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया है। श्रद्धेय ओझा जी जैसे भाग्यवान इतिहासकार तो उंगली पर गिने जाने योग्य भी न मिलेंगे, जिन्होंने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का केवल खण्डन-मण्डन ही नहीं किया वरन् राजपूतों का स्वतन्त्र और सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिख कर अपनी कृति को एक मात्र अधिकारपूर्ण रचना कहलाने का सुयश प्राप्त किया है। अतएव जब तक राजपूत जाति और हिन्दी भाषा जीवित रहेगी, तब तक ओझा जी का राजपूताने का इतिहास ही एकमात्र सन्दर्भ ग्रन्थ माना जायगा। यों तो सर देसाई ने भी महाराष्ट्र का वृहत् इतिहास लिख कर ग्राण्ट डफ़ के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं रक्खी, किन्तु ओझा जी की नाईं जंगलों, पहाड़ों, खोहों, गुफाओं आदि विकट स्थानों पर स्वयं घूम कर सामग्री बटोरने जैसा प्रचण्ड प्रयत्न सिवा राजवाड़े के अन्य किसी भारतीय विद्वान ने न किया, राजवाड़े भी कोई सुसूत्र इतिहास न लिख सके, अतएव श्री ओझा जी की कृति सर्वथा अद्वितीय है। हिन्दी का अहोभाग्य है कि उस के एक सपूत ने अपनी कृति के बल पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की, अतएव स्मृति ग्रन्थ के द्वारा उन का अभिनन्दन किया जाना सर्वथा आवश्यक था। अस्तु।

श्री ओझा जी का प्रधान विषय है राजपूतों का इतिहास। वास्तव में मराठे भी राजपूत ही हैं और इस बात को श्री ओझा जी ने भी अपने इतिहास के प्रथम खण्ड में स्वीकार कर लिया है। महाराष्ट्र के प्राचीन विभाग दण्डकारण्य में बसी जनता के साथ उत्तरीय भारत के क्षत्रिय और ब्राह्मण ही यहाँ पर उपनिवेशित हुए थे और इन दोनों भागों में पारस्परिक दृढ़ सम्बन्ध था। मध्य युग में भी [illegible] के [illegible] एवं [illegible] के कारण दृष्टव्य। शिवा जी महाराज के पूर्वज तथा अन्य अधिक [illegible] राजपूतों में दक्षिण के [illegible] दिन [illegible]

महाराष्ट्र मे स्थायी रूप से वस जाने के कारण मराठे कहलाये; किन्तु आश्चर्य की बात है कि एक ही रक्त-मांस-पिण्ड के होने पर भी उन दोनो के विभिन्न दृष्टि कोण होने के कारण अनन्तर उन मे पारस्परिक मनो मालिन्य हो गया। जिस से कई रण-संग्राम हुए और पारस्परिक भलाई बुराई की बाते भी इतिहास मे अकित हुई। निर्बल राजपूत यवन सत्ता के पोषक और प्रशसक बने तो मराठो ने पुरुषार्थ और बाहुबल द्वारा यवनो को हेय सिद्ध कर अपना अधिराज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस सघर्ष मे राजपूत मराठो मे खूब ठनी, जिस का वर्णन श्री ओझा जी को भी अपने इतिहास मे लिखना पड़ा है। राजपूतो के इतिहास लेखक मराठो का दोषाविष्करण करते हैं और महाराष्ट्र के इतिहास-कार राजपूतो की भूले बताते है, अतएव उक्त उभय समाजो के प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक पारस्परिक सम्बन्ध, उन के राजनैतिक प्रमाद आदि विषयो का सशोधन, मनन तथा विवेचन, की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी से तत्सम्बन्धी अल्प विवेचन, इस लेख के द्वारा, करने की चेष्टा की जाती है।

मराठे और राजपूत एक ही वश के है, इस मे कोई संदेह नहीं। राजपूतो के पंचकुल और छत्तीस कुलो की नाई प्रान्तिक उपभेदो के कारण मराठो के ९६ कुल माने गये हैं और तत्सम्बन्धी पर्याप्त साधन भी उपलब्ध हैं। मराठों के कुल, क्षत्रियो की नाई, सूर्य, चन्द्र, शेषवंश और यदुवश मे विभाजित है। उदयपुर के गोहिल, सीसोदिया, सक्तावत, चूड़ावत राणावत आदि उपकुलो की नाई महाराष्ट्र वासियो के एक ही कुल या वंश के विभिन्न उपनाम (आडनाम) पाये जाते हैं। राजपूत सोलंकी, परमार, प्रतिहर और चौहान की नाई मराठो मे चालके अथवा सोलखे, पोवार अर्थात् पवार, चव्हाण तथा प्रतिहार है। राजपूत और मराठो के कुलो की समानता निम्नलिखित विवेचन से भी सिद्ध है। यथा :—

मराठा कुल	राजपूत कुल
सूर्यवशी, सुरोशी, सुरवे ...	सूर्य
सोम वशी ...	सोम
यादव उर्फ जाधव ...	यदु
पँवार, पोवार ...	परमार
चालके, सालुङ्के ...	सोलङ्की
चव्हाण ...	चौहान
चावरे ...	चावडे
रहाठो ...	राठौर
शेलार, सेलार ...	सिलार
सैन्द्रक, शिन्दे ...	सिन्दा
धामपाल ...	धमपाली
अभीरे ...	अभीर
अनङ्ग	अनङ्ग
प्रतिहार ...	प्रतिहार
कलिचुरे	कलचुरके
मोरे ...	मोरी
तुवार (शिरके-फालके) ...	तँवर

गोरे	गोर
गूजर	बड गूजर, वीर गूजर
काटे	काटी
परिहार	परिहार

महाराष्ट्रीय विभिन्न राजपूत कुलों के कुल, गोत्र और आडनामों म भी बडा फर्क पड गया है, जिस स एक ही गोत्र के विभिन्न कुल नाम पड गये हैं। यथा—

गोत्र	मराठा कुल	मराठी कुल नाम
चोहान	चव्हाण	लाड, तावड माहिते, कालभोर, रणदिव, हम्मार राव
,,	लाड़ कुल	लाड
,,	तावड	तावड, साँगल, जामले
,,	मोहिते	चाँड, काँटे, कामर आदि।

इसी प्रकार एक गोत्र के कई मराठा कुल और प्रत्येक मराठा कुल के कई आडनाँव पाये जाते हैं, किन्तु वंशों के चिन्ह, छत्र, कुल, देवता, वर्ण, ऋषि, ध्वजा का रंग, वेद, मुख्य स्थान आदि बातें निश्चित हो जाने से उनके मुख्य कुल का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ सोमवंशी राजा चव्हाण, नगर मेवाड, अवन्तीपुरा, श्वेत सिंहासन श्वेत छत्र, श्वेत निशान, श्वेत घोडा, ध्वज पर चन्द्र, कुल—देवता, ज्वालामुखी भवानी, हल्दी, सोना, रूई का उपयोग, गुरु वसिष्ठ, गोत्र चव्हाण, वेद ऋग्वेद त्रिपदा गायत्री छन्द, कुल—लाड तावड मोहिते आदि इसी प्रकार चालके उर्फ चालुक्य कुल का तख्त गद्दी बदामी दूसरी गद्दी कल्याण, सफेद सिंहासन, सफेद छत्र, निशान घोडा, ध्वज पर गणेश जी, गुरु दालभ्य, गोत्र चालुक्य, गायत्री मन्त्र, नील वर्ण ये मुख्य चिन्ह बतलाये गये हैं।

मराठों के उपनामों की भी विचित्र रूप से उत्पत्ति हुई। किन्हीं कुल में तो वे ही उपनाम चले आते हैं जो आदि में थे यथा—यादव, पवार, चौहान, तौर आदि, किन्तु कोई कोई नाम विशेषघटनाओं के कारण बदल गए। घुरपडे वास्तव में सिसोदिया राजपूत हैं, किन्तु उनके पूर्वजों ने घुरपड अर्थात् गोह की सहायता से एक किले की दीवार को फांदा था, अतएव यही उनका वंश नाम भी हुआ। फालके असल में तँवर राजपूत हैं। गोलकुण्डा राज्य में इस वंश के दो भ्राताओं में से एक पर प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे पोशाक अता की। तब उन दोनों भाइयों ने उसका बटवारा कर लिया, जब वे दरबार में पहुँचे और उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि पोशाक के "दोन दोन फाड केले" अर्थात दो दो टुकड़े कर लिये जिससे बाद को वे फाडक फालके कहलाये। कुछ मराठे अपने ग्राम नामों से प्रसिद्ध हुए यथा पाटणकर मालेकरी राजपूत हैं निम्बालकर पवार हैं आँमेवाडी से आँमे, माहुरग्राम से माहुरकर आदि, किन्हीं किन्हीं के वास्तविक नाम दक्षिणी भाषा में बोले जाने के कारण परिवर्तित हो गये हैं। जैसे राणा से राने, मौर्य से मोरे, चालुक्य से चालके आदि। महाराष्ट्र के शासक भी राष्ट्रकूट चालुक्य, यादव आदि राजपूत वंशज ही थे। छत्रपति शिवा जी के पूर्वज मेवाड के अधीश्वर महाराणा अजीत सिंह के पुत्र सज्जन सिंह और क्षेम सिंह थे, जो सम्वत १३६७ में दक्षिण में जा कर बसे, जिनकी १२ वीं पीढ़ी में छत्रपति का जन्म हुआ था। प्राचीन समय में इन विभिन्न प्रान्तीय क्षत्रियों में—पारस्परिक विवाह भी होते थे। कल्याण के नैमिह चालुक्य के पुत्र मूलराज ने अनहिल पट्टण के राजा भोजराज चावडा की कन्या से विवाह किया था तथा पृथ्वीराज चौहान का जहाभालम ,

अर्थात् देवगिरि के यादव भिल्लम की कन्या से विवाह होने का भी पता चलता है—पर अनन्तर प्रान्त, भाषा, व्यवहार-वर्ताव आदि भेद तथा प्रवास की असुविधा के कारण पारस्परिक व्यवहार का लोप हो गया। अस्तु।

महाराष्ट्र में क्षत्रियों की बस्ती क्यों और कब हुई? इस विषय की स्वर्गीय डाक्टर भण्डारकर राजाराम शास्त्री भागवत, स्वर्गीय राजवाड़े जी भारताचार्य वैद्य जी आदि ने काफी चर्चा की है। इतिहासाचार्य राजवाड़े जी का तत्सम्बन्धी प्रयत्न अवश्य ही अभिनन्दनीय है। आपने महाराष्ट्र के वर्तमान काल के विषय में ग्रामनाम, प्राणी नाम, पर्वत, नदियाँ आदि की काफी खोज-भाल करके यह सिद्ध किया है कि नन्दकुल का अन्त होने पर यहाँ के क्षत्रिय चातुर्वर्ण्य की रक्षा के लिये इंग्लैंड के प्युरिटन फादर्स अथवा फ्रांस के हैनो की नाईं उत्तरीय भारत से प्राचीन दण्डकारण्य में जा बसे हैं, अतएव उत्तरी भारत तथा महाराष्ट्र के क्षत्रियों के एक ही कुल होने, उनके महाराष्ट्र में उपनिवेशित होने का समय आदि विषयों की विशेष खोज तथा विवेचन की अत्यन्त आवश्यकता है। अस्तु।

मराठों के मध्य कालीन इतिहास का प्रारम्भ देवगिरि के यादव-राज्य-पतन से आरम्भ होता है—महाराष्ट्र में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने पर वहा के क्षत्रियों ने आर्य सभ्यता की रक्षा के लिये सुदूर प्रदेश कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य स्थापित किया। उस राज्य में और बहमनी तथा उसकी पांच मुसलमान शाखाओं के आश्रय में भी मराठों ने अपने बाहुबल पर बड़ा पुरुषार्थ दिखाया। उस समय भी राजपूताने के क्षत्रियों ने दक्षिण की ओर जाकर अपना भाग्य निर्माण किया जिसके कई प्रमाण उपलब्ध हैं। हाल ही में सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डाक्टर बालकृष्ण जी ने छत्रपति शिवाजी के पिता शाह जी का चरित्र प्रकाशित किया है उसमें मुधोल राज्य के पूर्वजों का शाही फर्मानों के आधार पर सीसोदिया वंशज होना, १४ वीं शताब्दी में उनका दक्षिण में बसना तथा दक्षिण के बहमनी बादशाहों द्वारा जागीर प्राप्त करना आदि बातें लिखी हैं। श्री ओझा जी ने भी अपने इतिहास में तत्सम्बन्धी उल्लेख किया है। शिवा जी के पिता शाह जी महाराज के दर्बार में जयराम पिण्डे नामक एक कवि हो गया है, जिसका लिखा राधा माधव विलास चम्पू नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें स्पष्ट रूपेण उन्हें सीसोदिया वंशज लिखा है। शाह जी के दर्बार में विभिन्न भाषा भाषी लगभग ३५ कवि मौजूद थे, उनमें से एक कवि ने लिखा है कि—

जाणा छौं शाहराज, राणा जी रो भाई छे जी।
देश छे जी चित्रोड, कुल जात राणा री॥

छत्रपति शिवाजी के दर्बारी कवि वीर रसाचार्य भूषण ने लिखा है—

\+ \+ लियो विरद सीसोदिया × × ×
भूमिपाल तिन मे भयो \+ ×
रत्न भूसिला सु भौंसला × × × ×

उक्त अवतरणों से भी छत्रपति का सीसोदिया होना सिद्ध है। महाराज शिवाजी का राज्याभिषेक करने वाले पण्डित वर्य गागा भट्ट जी ने भी कहा है कि—

यः क्षात्रधर्मस्य नवावतार.

महाराष्ट्र के तत्कालीन पुराण मत वादी ब्राह्मण छत्रपति शिवा जी को क्षत्रीय स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे, अतएव छत्रपति ने अपना मुख्त्यार उदयपुर भेज कर महाराजा जी से स्वयं को सीसोदिया वंशज होने का प्रमाण पत्र प्राप्त किया और पण्डित वर्य गागा भट्टजी को काशी से निमन्त्रित कर उनके द्वारा वेदोक्त पद्धति से निज के उपनयन तथा राज्याभिषेक संस्कार करवाये महाराज शिवा जी का मुगलो से संघर्ष होने के कारण तत्कालीन राजपूत राजा और

सर्दारों से, जिन्हों ने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी, परोक्ष अपरोक्ष रूप से सम्बन्ध हुआ था। उन में से जोधपुर के महाराजा यशवन्तसिंह तथा जयपुर के महाराजा मिर्जा राजा जयसिंह से विशेष सम्बन्ध हुआ। शिवाजी का उन उभय सर्दारों से जो पत्र व्यवहार हुआ, वह पूर्णतया अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है, किन्तु बहुत संभव है कि जयपुर तथा जोधपुर के दफ्तरी रेकार्ड से भविष्य में उस का पता चल जाय। महाराजा शिवाजी मुसलमानी सत्ता के बदले स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे और मुगल सर्दारों के नाते जयसिंह तथा जसवन्तसिंह का उद्देश्य शिवाजी को दबा कर उन्हें मुगलों के आधीन कराना था। वास्तव में शिवाजी का उद्देश्य कहीं ऊंचा और अभिनन्दनीय था और कई नाटकों व उपन्यासों में तत्सम्बन्धी कई मनोरंजक बातें भी लिखी गई हैं, किन्तु आश्चर्य है कि राजपूताने के भाट चारणों ने मराठा और राजपूतों के सम्बन्ध में मराठों को सर्वदा हेय बतलाने की ही चेष्टा की है। एक भाट ने तो यहां तक लिख मारा है कि "राजपूतों की तलवारों के आगे मराठों के भाले मोच खा गये" वह कवित्त निम्न है—

गजर सभ्रम लिया, गनीमा तातणांनी गढ़।
हुई खग तणी, भाला तणी हार ॥

अर्थात् गजसिंह के पुत्र जसवन्त ने अपने गनीम—शत्रु—मराठों के किले जीत लिये, राजपूती तलवारों के आगे मराठों के भालों की हार हुई।

यों तो महाराजा शिवाजी का बुंदेला नरेश महाराजा छत्रसाल, रामसिंह, उदैभान राठौड़ आदि कई प्रमुख राजपूत सर्दारों तथा राजाओं से परिचय तथा निकट सम्बन्ध हुआ था, पर महाराज के राजनैतिक कार्य में प्रमुखतया जयसिंह, जसवन्तसिंह, रामसिंह तथा छत्रसाल ही विशेष उल्लेखनीय हैं, अतएव उस सम्बन्ध पर ही अब हम विचार करें।

सन् १६६५ में मिर्जा राजा जयसिंह को औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाया था, पर बीजापुर की सेना से पराजित होने के कारण सन् १६६७ में औरंगजेब ने उन्हें हटा दिया और शाहजादा मुअज्जम को सूबेदार बना कर महाराजा जसवन्तसिंह को उस की सहायतार्थ दक्षिण भेजा। मिर्जा के साथ रामसिंह सीसोदिया, राजा सुजानसिंह बुंदेला, पुत्र कीरतसिंह पूरणमल बुंदेला आदि राजपूत सर्दार भी थे। मिर्जा जी ने युक्ति प्रयुक्ति से महाराज को दिल्ली चलने तथा किसी प्रकार का धोखा न होने का वचन दिया, जिस के विषय में उन दोनों में बहुत कुछ पत्र व्यवहार हुआ, जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। जयसिंह ने समय समय पर जो पत्र बादशाह की ओर भेजे उस का बहुत सा अंश तो प्रकाशित हो चुका है किन्तु उस की दूसरी बाजू, महाराष्ट्र के तत्कालीन पत्र, अभी हिन्दी या अंग्रेजी में प्रकाशित नहीं हुए, अतएव तत्कालीन मुगलों का इतिहास अथवा महाराजा जयसिंह की जीवनी लिखने के लिये मराठी साधनों के अध्ययन की आवश्यकता है। जयसिंह के पुत्र रामसिंह की सहायता से महाराजा शिवाजी का बादशाह की कैद से निकल जाना भी प्रसिद्ध है किन्तु तत्सम्बन्धी अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। सन् १६६८ से १६७१ तक जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह भी मुगल दरबार से दक्षिण के प्रबन्ध के लिये भेजे गये थे और उनका महाराजा शिवा जी से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था, अतएव तत्सम्बन्धी महाराष्ट्र तथा राजपूताने की सामग्री एकत्र करने से ही तत्कालीन वास्तविक घटनाओं का पता चल सकता है। महाराजा छत्रसाल बुंदेला महाराज छत्रपति शिवा जी से दक्षिण जा कर मिले थे, जिस का उल्लेख लालकवि ने 'छत्रसाल प्रकाश' में भी किया है पर इस विषय के

यथेष्ट प्रमाण अभी नहीं मिले हैं। उदैराज, उदैभान राठौड़, राजा कर्ण, कीरतसिंह कछवाहा, पूरणमल बुँदेला, मौहकमसिंह, मोहनदास, रामसिंह सीसोदिया, खुमानसिंह, सुजानसिंह, सुभानसिंह आदि राजपूत राजा तथा सर्दारों का युद्ध, सन्धि, व्यवहार आदि विविध कारणों से महाराजा शिवाजी से परिचय हुआ था, अतएव उन के विषय की दोनों प्रान्तों की सामग्री का सङ्कलन करना आवश्यक है। तत्कालीन महाराष्ट्र की मुसलमान सत्ता बीजापूर से शाहजहाँ तथा औरंगजेब के युद्ध हुए थे और उन में मुगलों के सर्दारों के नाते रतलाम के महाराजा रामसिंह राठोड़ आदि कई राजपूतों ने भाग लिया था। उन के विषय की भी बहुत सी सामग्री महाराष्ट्र में मिल सकती है। छत्रपति शिवाजी के पुत्र सभाजी से वीरवर राठोड़ दुर्गादास का घनिष्ट परिचय और सम्बन्ध हुआ था। संभाजी के दीवान कान्यकुब्ज कविकलश उत्तर भारत निवासी थे तथा महेशदास नामक उन के एक दरबारी कवि का होना भी पाया जाता है। कोई उसे भाट बतलाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी ने कविकलश सम्बन्धी एक पत्र प्रकाशित किया था। उस से सिद्ध होता है कि सभाजी को बादशाह के द्वारा मरवाने में उस का भी हाथ रहा हो, इसी से उसे विश्वासघातक मान कर बहिष्कृत कर दिया गया था। इस उदाहरण से भी सिद्ध है कि उभय प्रान्तों की सामग्री का संशोधन करने से राजपूत और मराठा दोनों जातियों के इतिहास की बहुत सी अप्रकाशित बातें ज्ञात हो जावेंगी। अस्तु।

महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर वाले के पुत्र अजीतसिंह गुजरात के सूबेदार थे और वे उस प्रान्त को हड़पना चाहते थे, इसी से उन्हों ने अपने प्रतिस्पर्धी मराठा सर्दार पिलाजीराव गायकवाड—वर्तमान बड़ौदा राज्य के स्थापक—को मरवा डाला था। उस का लड़का अभयसिंह भी गुजरात में रहा और वास्तव में उसी ने सन १७३२ में डाकार में पिलाजी का खून कराया उस का बदला पिलाजी के भाई महादजी और लड़के दमाजी ने जोधपुर को लूट कर लिया। मराठी में तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है। सवाई जयसिंह के सेनापति कृपाराम नादिरशाह की लूट के समय दिल्ली में थे और मराठों से उस का भी सम्बन्ध था। बाजीराव के भाई चिमाजी ने मालवे पर चढ़ाई कर सन् १७२४ में वहाँ के मुगलों के सूबेदार गिरधर बहादुर को मार डाला तथा सन १७३१ में स्वयं बाजीराव पेशवा ने राणोजी सिंधिया, मल्हारराव होल्कर उदाजीराव पवार तथा अन्य मराठा सर्दारों की सहायता से मालवे के सूबेदार दयाबहादुर को तिरला के रणक्षेत्र में मार कर मालवा में मराठा शाही स्थापित की। मालवा पर चढ़ाई कर के उस प्रान्त को मुगलों के चङ्गुल से छुड़ाने के लिए इन्दोर के जमींदार रावनन्दलाल मण्डलोई ने सवाई जयसिंह के द्वारा पेशवा बाजीराव को निमंत्रित किया था। तत्सम्बन्धी बहुत सी सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और भविष्य में और भी मिल सकती है, विशेष रूपेण सवाई जयसिंह की मराठों सम्बन्धी उदारता तो कभी भुलाई नहीं जा सकती। महाराजा सवाई जयसिंह तथा प्रथम बाजीराव पेशवा में जो पत्र-व्यवहार हुआ था उस में से एक संस्कृत पद्य-मय पत्र पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। पत्र के आरम्भ में बाजीराव ने जयसिंह की बड़ी प्रशंसा की है और 'राजाधिराज' 'महाराज' जैसे विशेषणों से युक्त पत्र लिखा है, साथ ही अपने पुरुषार्थ से धमकाया भी है। उसी पत्र में निम्नश्लोक है।

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणाम्
सुत्राम्ण\ त्रास भाजां त्रिदशिविटपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव।
गाम्भीर्यं\ तच्च तादृक त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्
सर्वोपायेन\ मैत्रावरुणमुनिकृपादृष्टयः कांक्षणीयाः॥ १॥

इस श्लोक में राजा जयसिंह को समुद्र की उपमा दे कर कहा है कि तेरा उदक प्राशन करके मेघ चारों ओर गर्जना करते हैं, इन्द्र से पीडित पर्वतों का तू रक्षक है, देववृक्ष अथवा कल्पवृक्ष की जन्मभूमि भी तू है, तेरी गभीरता भी अगाध है, इन सब गुणों के होते हुए भी सूचित किया जाता है कि सभी उपायों से मित्रावरुण के पुत्र अगस्त्य मुनि की कृपादृष्टि के आकांक्षी बने रहो। इस रूपक का अर्थ यह है कि तेरे सामर्थ्य के आश्रय से अन्य राजा तथा सर्दार अपना बड़प्पन टिकाए हुए हैं, तू मुसलमानों से पीडित लोगों का अभयदाता है, तू हमारी इच्छापूर्ण कर सकता है, किन्तु अगस्त्य मुनि अर्थात् मुझ बाजीराव पेशवा का कृपाकांक्षी बना रह, अन्यथा तेरा नाश होगा। इस का उत्तर जयसिंह ने निम्नलिखित श्लोक से दिया—

चन्तव्या द्विजजातय परिभवऽप्येतद्धच पालनात्।
पीत कुम्भ समुद्भवेन जलधि कि जातमेता वता।
मयादा यदि लघयेद्विधिवशात् यस्मिन्क्षणे वारिधि।
त्रैलोक्य सचराचर प्रमति चेत कस्तत्र कुम्भोद्भव॥

महाराजा सवाई जयसिंह उक्त श्लोक में स्वय को समुद्र स्वीकार कर के कहते हैं कि यदि प्रसग वश ब्राह्मण क्षत्रियों का अपमान भी करे तो भी वह क्षम्य ही है, इसी वचन का प्रतिपालन हम करते हैं। कुभ (घडे) से उत्पन्न अगस्त्य मुनि ने समुद्र शोषण किया था यह सच है, किन्तु यदि दैव योग से समुद्र अपनी मर्यादा का उलंघन कर तो वह तत्क्षण ही चराचर सहित त्रैलोक्य का डुबो देगा, फिर अगस्त्य मुनि की तो बात ही क्या है? इस रूपक म जयसिंह ने यह बतलाया है कि ब्राह्मणों की रक्षा करना हमारा धर्म है, अतएव हम को उस के लिये कष्ट भी उठाने पडे तो भी हम तुम पर कृपा भाव ही बनाये रखेंगे, पर इस से तुम हम को निर्बल मत समझना। यदि मैं कोपित हुआ तो सारे देश का बण्टाढार कर दूंगा, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है? सवाई जयसिंह के पास व्यंकाजी नामक बाजीराव का वकील रहा करता था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठों का पत्र व्यवहार बहुत कम प्रकाशित हुआ है। सन् १७३७ में निजाम से साथ मराठों का भोपाल के निकट जो युद्ध हुआ, उस में कोटा के राजा दुर्जनसाल भी मराठों से लडे थे और तभी से मराठों का ध्यान उस राज्य की ओर आकर्षित हुआ।

बाजीराव पेशवा ने महाराजा छत्रसाल बुँदेला को मुहम्मदखाँ बगश की चढाई के समय जो सहायता दी, वह इतिहास में कभी भुलाई नहीं जा सकती। तत्सम्बन्धी—

जा गति ग्राह गजेन्द्र की, सो गति भई है आज।
बाजी जात बुँदेल की, राखो बाजी लाज॥

यह दोहा प्रसिद्ध है ही। उस उपकार के उपलक्ष्य में पेशवा को ३॥ लाख की जागीर बुँदेलखण्ड में महाराजा छत्रसाल ने दी थी। छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक सुन्दर यवन युवती बाजीराव को भेट की थी। उसी के वशज बांदे के नवाब कहलाये। छत्रसाल के पुत्र हृदयशाह तथा जगतराज से भी साथ पेशवा ने भैयाचार का नाता खूब निभाया। सवाई जयसिंह के वकील दीपसिंह, शिवसिंह, सभाचन्द, सभासिंह आदि अन्य सर्दारों से भी मराठों का सम्पर्क हुआ था। उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंह, बाजीराव पेशवा तथा प्रसिद्ध मराठा सर्दार श्रीपतिराव प्रतिनिधि को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ महाराणा के उन्हें लिखे हुए दो संस्कृत पत्रों में से यहाँ पर एक पत्र उद्धृत किया जाता है।

श्री एक लिंगः (ता. २ । ४ । १७२९)

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंह नृपवर्यादेशात स्नेहसंदोहसदनेषु स्वामिकार्यैकनिष्ठान्तःकरणप्रवृत्तिषु मुख्यामात्य राजश्री बाजीरावजी बल्लाळेषु सुप्रसादो लिख्यते। यथा श्रीमत्कृपया शमिह भवदीय मीनशमविच्छिन्नमनितरसाधारणमेधमानमीहा महे। श्रीमतोऽत्रत्य भाविकेषिणोऽकृतिमतया यादृगन्योन्य प्रेम वर्तते तदधिक वृद्धिमुपयातु अपरच्च चतुः शास्त्रिणो राजगुरीयमुकुन्दपण्डिता वीरेश्वर भट्टा विवादार्थं दक्षिणप्रान्ते यास्यन्ति भवन्मेलनानन्तरमेतां पथि निष्प्रत्यूहं गमनागमने भवन्तस्तथा विधास्यन्ति । श्रीमत. किमधिकम सुविज्ञेषु। संवते रसवसु मुनीन्द्रसंख्ये मध्वमेचक पूर्णायाँ चन्द्रेप्रगे रचितोय वर्णचरः ॥
मुख्यायात्म राजश्री बाजीराव बल्लाळेषु योग्य मदः पत्रम ।

बालाजी बाजीराव पेशवा ने अर्जुन सिंह धधेरे की भी बड़ी सहायता की थी। इसी समय सिंधिया और होल्कर ने बुँदेलो का जैतपुर किला जीत लिया था। तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो चुकी है। सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह और माधोसिंह में जयपुर की गद्दी हस्तगत करने के लिए जो झगड़ा हुआ, उसमे मराठो ने बहुत कुछ योग दिया। ईश्वरसिंह बडा पुत्र था, पर माधोसिंह उदयपुर की राजकन्या का पुत्र होने के कारण राणा जी ने पेशवा को १५,००,००० रुपया नजर देने का वचन देकर माधोसिंह के सहायक होने का आग्रह किया, पर सिंधिया होल्कर ने ईश्वरीसिंह को सहायता करके माधोसिंह तथा उसके सहायक महाराणा जगतसिंह को हरा दिया। कोटा और बूँदी के राजाओं ने भी माधोसिंह को सहायता दी थी, अतएव सिंधिया ने उन दोनो राज्यो पर चढाई करके खूब द्रव्यसञ्चय किया, यह देख कर होल्कर को भी द्रव्य-लोभ छूटा और माधोसिंह ने ६५,००,००० लाख रुपये देने का वचन देते ही होलकर ने पिछली कार्यवाही को भूल कर ईश्वरी सिंह पर चढ़ाई कर दी। अन्त मे पेशवा स्वयं राजपूताने मे पहुँचे। जब ईश्वरी सिंह ने पेशवा और होलकर दोनों को माधो सिंह का सहायक पाया, तब उसने और द्रव्य पेशवा को देना कबूल कर लिया, पर, पूरी रकम न मिलने से पुनश्च उस पर चढ़ाई की गई। अन्त मे ईश्वरीसिंह ने आत्म-हत्या कर ली और माधोसिंह को राज-गद्दी मिली। उसी माधोसिह का दिया हुआ परगना रायपुर अभी तक होलकर के कब्जे मे है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि जयपुर के झगड़े मे मराठो ने लोभवश अकारण उठाई धराई की। उन्होंने कभी ईश्वरीसिह और कभी माधोसिंह का पक्ष ले कर राजपूतो से सदा के लिए शत्रुता कर ली और स्वयं राजनीति तथा इतिहास मे सर्वदा के लिए कलंकित हो गये। ता० ७ मार्च सन् १७४७ का पेशवा का लिखा हुआ एक मराठी पत्र प्रकाशित हो चुका है। उसमे लिखा है कि 'राणा जी के वकील १५,००,००० रुपये नज़र देने के लिए तैयार है; इसलिए माधोसिह को २४ लाख की जागीर दिला दो और माधोसिंह से भी १२-१५ लाख या जितना अधिक हो सके, वसूल करो। इससे दोनो तरफ से लाभ होगा।"—आश्चर्य की बात है कि पेशवा ने ही सबसे पहले ईश्वरीसिह को गद्दी पर बिठाने की राय दी थी, पर मल्हार राव होल्कर ने मौधोसिंह को सहायता देकर पेशवा को भी अपनी ओर मिला लिया। अनन्तर ३० अप्रेल सन् १७४८ को पेशवा स्वयं राजपूताना पहुँचे और ईश्वरीसिंह तथा माधोसिह दोनो से ३१ लाख और १० लाख रुपया क्रम से वसूल करने की सन्धि की। कहना नही होगा कि इस बे-पैंदी की नीति से मराठो की बहुत कुछ बदनामी हुई और तभी से राजपूत और मराठो मे पारस्परिक द्रोह उत्पन्न हुआ। बुँदेलखण्ड पर चढाई कर के जैतपुर का किला हस्तगत करने और उसे पुनश्च जगतराज बुँदेला को देने की मराठो की कार्यवाही पर भी अभी प्रकाश पडने की आवश्यकता

है। ?तिया के राजा पर चढाई करने के विषय में २२ अक्तूबर सन् १७४६ को पेशवा ने जो पत्र लिखा था, उसे पढ कर तो अँगरेजों की कूटनीति का स्मरण हो आता है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वेलज़ली ने मराठा को जीतने मे जिन उपाया का अवलम्बन किया था, वे ही उपाय पेशवा ने अपने सरदारा को सुझाये थे। माधवसिंह जयपुर वाले के सहायक महाराणा जगतसिंह का पेशवा से जा पत्र व्यवहार हुआ, वह भी अभी प्रकाशित नही हुआ है। सवाइ जयसिंह ११ मई सन १७४१ को धौलपुर में पेशवा से मिले और उसी समय परस्पर सहायक रहकर, ६ मास के अन्दर, मालवा की सनद पेशवा को दिलाने का अभिवचन, सवाई जी ने दिया था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठा के विशेष सम्बन्ध पर प्रकाश डालनेवाले पत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। सन १७४२ मे आरछा के राजा मे बरवासागर के निकट मराठो का युद्ध हुआ। उसम राणो जी सेंधिया क पुत्र ज्योतिबा और मल्हारकृष्ण अलगीवाले मारे गये थे। तत्सम्बन्धी विशेष खोज की भी आवश्यकता है। सन १७४७ में सिन्धिया ने कोटा पर चढाई की थी। उसी समय से राजा जालिमसिंह का मराठों से सम्पर्क हुआ, जो मराठा शाही के नष्ट होने तक बना रहा।

जालिमसिंह की राजनैतिक हलचलें मराठों के इतिहास म विशेष महत्व का स्थान रखती हैं और राजपूतों के इतिहास पर भी उसके व्यक्तित्व की छाप जमी हुई है, अतएव तत्सम्बन्धी दोनों प्रान्तों से सामग्री इकट्ठी की जाना चाहिये। इनके अतिरिक्त जानकी राम, राजा दुर्लभराय, हरीराम, सभासिंह, घासीराम आदि लोगा का भी मराठों के तत्कालीन इतिहास मे उल्लेख पाया जाया जाता है। मारवाड के राजा अजीतसिंह के अभयसिंह और बख्त सिंह नामक दो पुत्र थे। सन् १७५० मे अभयसिंह की मृत्यु होने पर उसके पुत्र रामसिंह से बख्तसिंह ने राज्य छीन लिया। रामसिंह ने जगन्नाथ पुरोहित तथा सामन्तसिंह द्वारा जयाप्पा सिंधिया से सहायता चाही, किन्तु बख्त सिंह को अन्य राजपूत राजा तथा जाटा का सहायता थी, पर शीघ्र ही बख्तसिंह की मृत्यु विष खिलाने से हो गइ। कर्नल टॉड ने लिखा है कि यदि बख्तसिंह जिन्दा रहता तो मराठों की पटली राजपूताने में कभी न जमती। बख्तसिंह के पुत्र विजयसिंह ने रामसिंह को निर्बल और व्यसनाधीन समझ कर उसके राज्य का बहुत सा अंश हस्तगत कर लिया अतएव रामसिंह ने अपने वकील चेतराम को जायाप्पा सेंधिया के पास सहायता पाने के लिए भेजा। उस समय सिंधिया होलकर ने सूरजमल जाट पर चढ़ाई की थी। सूरजमल ने जयपुर के ईश्वरीसिंह की सहायता की थी, तभी से मराठों की उससे चढ़ा चढ़ी हो गई थी। मराठों का उत्तरीय भारत से चौथ वसूल करना भी सूरजमल को अखरा था, तब उससे उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर बादशाह को अपने कब्जे में करना चाहा। इसी से वजीर मीर शहाबुद्दीन ने सूरजमल को धर दबाने का मराठों से आग्रह किया था, तब सिंधिया, होलकर और पेशवा, राघोबादादा ने भरतपुर राज्यान्तर्गत कुम्हेरी के किले पर चढाई कर दी। उस युद्ध में मल्हारराव के इकलौते पुत्र अहिल्याबाइ के पति खण्डेराव मारे गये, तब मल्हारराव ने जयद्रथ-वध जैसी जाटा का निपात करने की भीषण प्रतिज्ञा की। मल्हारराव की यह प्रतिज्ञा सुनकर सूरजमल ने अपने वकील रूपराम कटारे के पुत्र तेजराम कटार द्वारा जयाप्पा सेंधिया की ओर, पगडी बदला, भैयाचारा स्थापित करने के विचार से, अपनी पगडी भेज दी। उधर सिंधिया होलकर में पहले से मनामालिन्य हो ही चुका था, अतएव जयाप्पा सेंधिया ने होलकर का अकेला छोड़ कर रामसिंह की सहायतार्थ राजपूताने की ओर कूँच कर दिया। तब होलकर को भी विवश होकर १७ मई १७५४ को ६० लाख रुपये कर लेकर जाटों से सुलह करनी पड़ी। उधर विजय सिंह ने भी ५०-६० हजार फौज इकट्ठी करके मराठों से सामना किया। मल्हारराव की सहानुभूति विजयसिंह की ओर थी। सिंधिया ने नागोर के किले में विजय सिंह को महीनों तक घेर रखा। तब विजय सिंह न

केसरी सिंह खोखर नामक एक राजपूत को भिखारी के वेष में भेज कर जयापा को नहाते समय छुरी से मरवा डाला।

वास्तव में केवल नैतिक भय से होल्कर अपनी फौज सहित विजयसिंह के सहायक नहीं हो सके, किन्तु उनके उकसाने से ही जयपुर के माधौसिंह तथा अन्य राजा विजय सिंह के सहायक हुए थे। बाद को जयापा के भाई दत्ताजी ने विजयसिंह को धर दबाया। अन्त में मारवाड़ राज्य के तीन भाग किये जाकर एक हिस्सा विजयसिंह तथा एक एक रामसिंह और पेशवा को देने की सुलह हुई और २ करोड़ रुपये दर्बार-खर्च विजयसिंह से लेना ते पाया। जयपुर वालों से भी गुनहगारी वसूल की गई। इसी समय से कृष्णा जी जगन्नाथ नामक एक मराठा का वकील विजयसिंह के दर्बार में रहने लगा, जिसके लिखे हुए सैकडों अखबार (Newsletters) उपलब्ध हुए हैं। और उनसे तत्कालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मारवाड़ के युद्ध के अनन्तर ही रामसिंह हाड़ा बूँदी नरेश की मृत्यु हुई; अतएव उनकी रानी ने अपने अल्पायु लड़के को गद्दी पर बिठाने में सिंधिया से मदद चाही, जिससे दत्ताजी सिंधिया को ४० लाख रुपये सहज ही में मिल गये। पानीपत के युद्ध के समय देवीदत्त नामक एक दिल्ली निवासी कायस्थ शुजाउद्दौला की ओर से सदा शिवराव भाऊ के पास रहता था। लाला कृपाराम नामक एक कायस्थ सवाई जयसिंह का दरबारी था और उसी के द्वारा बाजीराव तथा जयसिंह में मित्रता हुई थी। बाजीराव पेशवा ने उसको तथा उसके पुत्र तुलजाराम को राजपूताने में अपना वकील नियत किया। तुलजाराम के पुत्र सेवकराम ने भी जयपुर में तथा १७७७ से १७९३ तक कलकत्ता में बहैसियत मराठों के वकील की नौकरी की थी। उसके बहुत से अखबार उपलब्ध हुए हैं। सूरजमल जाट ने पानीपत के युद्ध में तथा उसके अनन्तर पराजित मराठों को आत्मीय भाव से जो सहायता दी, वह अद्वितीय थी। मराठा जाति उस के उस उपकार को कदापि भूल नहीं सकती। तत्सबंधी बहुत सी सामग्री मराठी में उपलब्ध है।

सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने मल्हारराव होल्कर की सहायता से दिल्ली पर चढ़ाई करके नजीबखाँ रुहेले को धर दबाया था; किन्तु १७६७ के लगभग जवाहरमल मराठों के विरुद्ध हो गया। गोहद के जाट वास्तव में पेशवा के ही बनाये हुए राजा थे। पर, पानीपत के युद्ध के बाद उन्होंने मराठों से मुखालिफत की; तब राघोबा पेशवा ने गोहद पर चढ़ाई कर १५ लाख रुपया खिराज १७६७ उनसे वसूल किया।

काशी के राजा चेतसिंह का मराठों से गहरा सम्पर्क रहा था। वारन हेस्टिंग्ज ने उसके साथ जो कुछ अन्याय किया था, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु महाद जी सिंधिया ने उसे आश्रय देकर ५ लाख की जागीर दी थीं। पेशवा तथा नाना फडनवीस से भी चेतसिंह का परिचय था और उनका पत्र-व्यवहार भी उपलब्ध हो चुका है। इसी प्रकार अनूप गिरि उर्फ हिम्मतबहादुर नामक गुसाँई सैनिक का मराठों की उत्तर-भारतीय-राजनैतिक हलचलों में विशेष उल्लेख पाया जाता है। आरंभ में वह तथा उसका भाई उमराव गिरि शुजाउद्दौला के पास नौकर थे और वे पानीपत के युद्ध में मराठों के विरुद्ध लडे भी थे। जाटों और मराठों के युद्ध में भी उन्हों ने जाटों का साथ दिया था। जब दिल्ली के वजीर मिर्जा नजफखाँ ने उन्हे अपने पास रख लिया, तब उनका मराठों से विशेष सम्बन्ध हुआ। महाद जी सेंधिया का दिल्ली पर अधिकार स्थापित होते ही उन्होंने अनूपगिरि की सहायता से दिल्ली के सर्दारों की भीतरी बातें और द्रव्य प्राप्त करने के साधन जानने चाहे, किन्तु २-३ वर्ष बाद महाद जी के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का पता सिंधिया को चलते ही उन्होंने गुसाँई को कैद कर लिया और उनकी जागीर भी जब्त कर ली। तब उसने सेंधिया के विरुद्ध बलवा किया और वह महाद जी के प्रतिस्पर्धी तुकोजी होलकर तथा बाँदा के नवाब

अलीबहादुर से जाकर मिला। सिंधिया तथा अनूपगिरि गुसाँई के झगडे के सैकडों कागजात मराठी मे उपलब्ध हैं।

सन् १८०३ मे अनूपगिरि ने अङ्गरेजो का साथ दे कर बुँदेलखण्ड मे अङ्गरेजों की सत्ता स्थापित कराई थी। हिन्दी के कवि पद्माकर जी ने "हिम्मत बहादुर विरदावलि" नामक ग्रन्थ भी लिखा है। अस्तु, जब मराठा ने सन् १७८३ मे गोहद के राणा छत्रसाल पर चढाई की, उस समय राना माणिक्पाल करोली वाले ने जाट को आश्रय दिया था, किन्तु अनन्तर उसने महाद जी के आग्रह और दबाव स राणा को सकुटुम्ब महाद जी को सौंप दिया। १७७८ में जयपुर के राजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु हुई, किन्तु उसका पुत्र नाबालिग होने से उसका भाई प्रतापसिंह ही शासन प्रबध करता था। माचोडी के राव राजा प्रतापसिंह महाद जी के मित्र थे, जो मराठों की कृपा के कारण ही अलवर राज्य क सस्थापक कहलाये। वह जयपुर राज्य मे अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे, अतएव उन्हों ने महाद जी को सुझाया कि जयपुर का शासक प्रतापसिंह नालायक है, अतएव यदि पृथ्वीसिंह के लडके मानसिंह को उसकी ननसाल किशनगढ से लाकर गद्दी पर बिठायेंगे तो आप को ५० लाख रुपये दिलाऊगा तब जयपुर के प्रधानमन्त्री खुशालीराम बोहरा जयपुर वाले प्रतापसिंह का सदेश लेकर महाद जी के पास गया, किन्तु महाद जी ने साढे तीन करोड रुपया, पिछले कर की बकाया, माँगी। पर खुशालीराम ने इतनी रकम देने में असमर्थता प्रकट की। तब राव राजा ने ६३ लाख रुपये म झगडा निपटवा दिया। उस समय ११ लाख रुपया नक्द तथा शेष रकम की वसूली के लिए मुल्क देना क़रार पाया। पर जब यह नक्द रकम भी नहीं मिली, तब सिंधिया ने फोज भेजकर जयपुर के कई मुहालों पर कब्जा कर लिया। उस समय प्रतापसिंह का साथ विजयसिंह जोधपुर वाले ने दिया और खुशालीराम का मराठों का मित्र समझकर वह मार डाला गया। सन् १७८७म जयपुर पर महाद जी सिंधिया ने चढाइ की। उस समय मुहम्मदबेग हम्दानी जो दिल्ली का सर्दार था और मराठों से कुढ़ता था, राजपूतो मे जा मिला था। उस के षडयन्त्र मे ही राजपूत मराठों में—लालसोट नामक स्थान पर—भीषण युद्ध हुआ, किन्तु मराठा पलटनों की विश्वासघातकता के कारण महाद जी को वापिस लौट जाना पडा। जयपुर के उक्त युद्ध सम्बन्धी सैकडा असली पत्र मराठी में प्रकाशित हो चुके हैं और अभी सैकड़ों अप्रकाशित पडे हैं, अतएव कहना नहीं होगा कि बिना उस सामग्री का अध्ययन किये राजपूतों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

राघोगढ के खीची राजा पर बाजीराव पेशवा ने चढ़ाइ कर उनसे वार्षिक कर लेना निश्चित किया था। नागोर के युद्ध में बलभद्र सिंह खीची न जयाप्पा सिंधिया की सहायता भी की थी, किन्तु अङ्गरेजों के प्रथम युद्ध में अङ्गरेजों ने खीची को मराठा से फोड कर अपनी ओर मिला लिया था, अतएव महाद जी ने राघोगढ पर चढ़ाई करक बलवन्त सिह को क़ैद कर लिया, बलवन्त सिह, उसके पुत्र जयसिह, दुर्जनसाल आदि खीची सम्बन्धी मराठी साहित्य भी अध्ययन करने योग्य है। महाद जी को सन् १७८५ में आर्थिक सहायता की आवश्यकता हुई। उसी समय बाँदा के गुमानसिंह के पुत्र मधुकरशाह तथा खुमानसिह में राजगद्दी के लिए झगडा उठ खडा हुआ, तब महाद जी ने अपने सेनापति खण्डेराव हरी को भेज कर मधुकरशाह की सहायता की। अप्पा खण्डेराव ने पन्ना, ओरछा, चोरवा तथा दतिया से भी कइ झगडे तै कर के उन से सन्धियाँ की थीं। खण्डेराव हरी इन रियासतों के लगभग से पूर्व न थ, अतएव उस के संग्रह मे बुँदेलखण्ड तथा लालसोट सम्बन्धी बहुत सी अप्रकाशित हिन्दी मराठी सामग्री मौजूद है। उदयपुर के राणा के निर्बल होने से रावत भीमसिह सर्जी ही राज्य की दबा बैठा था तब महाद जी ने जालिमसिंह कोटे वाले की—सहायता से चित्तौर का किला जीतकर उदयपुर पर अपना प्रभाव स्थापित किया और सुलह की। मराठों को राजपूतान

पर अधिकार स्थापित करने मे जालिमसिंह ने बहुत सहायता की, इसके अतिरिक्त जवाहरसिंह, नवलसिंह, रणजीतसिह जाट, प्रताप सिह माचौड़ीवाले, विजयसिह जोधपुर वाले, महाराणा भीमसिह उदयपुर वाले, किसनगढ़, बीकानेर आदि राज्यो से मराठो का महादजी के समय युद्ध, सन्धि, राजनीति आदि मे बहुत कुछ सम्बन्ध रहा। सम्बन्धी विपुल सामग्री भी उपलब्ध है। इसी समय महाराणा रणजीतसिह जाट का भी मराठो से सम्पर्क हुआ। हम यह तो नही कह सकते कि मराठो से राजनैतिक प्रमाद नही हुए, किन्तु यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि ज्योही मराठे साम्राज्य-सत्ता धारी—अर्थात् दिल्ली के स्वामी—बन बैठे, त्योही राजपूतो ने उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया। जिससे पारस्परिक संघर्ष हुआ और अन्यो की दृष्टि मे वे दोनो हेय सिद्ध हुए। इस प्रकार राजपूत और मराठे दोनो सर्वदा के लिए निर्बल हो जाने से ही विदेशीय अङ्गरेजो का आधिपत्य यहाँ स्थापित हो गया, पर यदि मराठे और राजपूत एक होकर अपनी शक्ति को बढ़ाते तो आज भारतवर्ष का मानचित्र किसी और ही रग का होता।

महादजी के दत्तक पुत्र दौलतराव का उनकी माताओ से झगड़ा हो गया था। इस गृह-कलह ने बडा भीषण रूप धारण कर लिया था। दतिया के महाराज छत्रजीत तथा भरतपुर के सर्दार दुर्जनसाल ने उन स्त्रियो की सहायता की थी; तत्सम्बन्धी सामग्री जुटाने की भी आवश्यकता है। गोहद के महाराणा कीरत सिंह तथा अङ्गरेजो मे जो सन्धियाँ हुई, वह भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। यशवन्तराव होल्कर ने जोधपुर के राजा की सहायता से अङ्गरेजो से युद्ध प्रारभ किया और मुकुन्दरा के दर्रे मे अङ्गरेजी सेना को बुरी तरह से हराया। यद्यपि कोटा के मन्त्री राजा जालिमसिह की अप्रत्यक्ष रूप से अङ्गरेजो को सहानुभूति थी, पर यशवन्तराव की समर्थ सेना के आगे अङ्गरेजो की कुछ न चली। अन्तिम बाजीराव पेशवा ने भी अङ्गरेजो के युद्ध मे जालिमसिह से सहायता चाही थी। सिधिया, होल्कर तथा पेशवा का जालिमसिह से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह बड़ा महत्व-पूर्ण होगा, इसमे कोई सन्देह नही। रणजीतसिंह जाट भरतपुरवाले तथा यशवन्तराव ने भरतपुर की चढ़ाई मे अङ्गरेजो के छक्के छुड़ा दिये थे। वह एक चिरस्मरणीय ऐतिहासिक घटना है। यशवन्तराव के दीवान बालाराम, सेनापति रामदीन तथा वकील लाला भवानीशंकर, महाराजा दौलतराव के दीवान गोकुल पारख, साहूकार खुशालचद और मुन्शी कमलनयन, लाहौर के महाराजा रणजीतसिह का अङ्गरेजो के विरुद्ध होल्कर को सहायता देने का पत्र-व्यवहार, जोधपुर के राजा तख्तसिंह, जयपुर के जगत सिंह, अलवर के राव राजा माचौड़ी वाले, भरतपुर के रणजीतसिंह आदि राजाओ का मराठो से सम्बन्ध-विच्छेद और सेनापति लेक से १८०३ सुलह करना तथा सन् १८१७ मे उदयपुर, राजगढ़, रतलाम आदि राज्यो को ईस्ट इडिया-कम्पनी से सम्बन्ध विषयक सामग्री से मराठे और राजपूत दोनो के इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। दौलतराव ने जयपुर से संधि की थी और चदेरी, भदावर, शिवपुर आदि छोटे-छोटे राजपूत राज्यो को परास्त किया था। इन्दौर, ग्वालियर, धार, देवास बड़ौदा आदि महाराष्ट्र राज्यो के अधीन अब भी कई प्राचीन राजपूत राजा जागीरदार और सर्दार हैं, तत् सम्बन्धिनी ऐतिहासिक सामग्री से भी कई ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ सकेंगी।

अङ्गरेजी इतिहासकारो ने लिखा है कि "समस्त राजपूत राजाओ ने स्वेच्छा से अपने हथियार अंग्रेजों को सौप दिये।" किन्तु यह कथन वास्तविकता से परे हैं। हमको सन् १८१७ का अजमेर के सूबेदार बापूशिदे का एक पत्र जिसमे उदयपुर के महाराणा जी के एक पत्र को उद्धृत किया है प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि

सन १८१७ मे राजपूत राजा अङ्गरेजा से सुलह करने के लिये तैयार नही थे, किन्तु सिंधिया होलकर की उदासीनता, तटस्थ नीति तथा पिण्डारियों की गडबडी के कारण उन्हे सुलह करनी पडी। साराश, मराठा और राजपूतों का लगभग ३ शताब्दियों तक प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से जो राजनैतिक सम्बन्ध रहा, तत्सबन्धी अभी तक बहुत कम खोज या चर्चा हुई है और इसी से दोनों प्रान्तों के इतिहास म कई भ्रमात्मक बातें अंकित हुई हैं, अतएव सच्चा और निपक्ष इतिहास लिखे जाने के लिये उभय प्रान्तो के इतिहास लेखको को पारस्परिक विचार विनिमय एव आदान-प्रदान की नीति का अवलम्बन करने की अत्यत आवश्यकता है।

स्थानाभाव एव विस्तार भय से इस सक्षिप्त लेख द्वारा हम अधिक विवेचन नहीं कर सके, तो भी इस लेख के द्वारा प्रमुख व्यक्ति, ऐतिहासिक घटनाएँ तथा समय का उल्लेख कर दिया गया है। राजपूताने म तो केवल स्वर्गीय मुसिफ देवी प्रसाद जी, टेसी टोरी, रामकर्ण जी, रेऊजी तथा ओझा जी आदि इन पाँच महोदयो ने ही ऐतिहासिक खोज का कार्य किया, किन्तु महाराष्ट्र मे तो गत ६० वर्षों मे १००।५० विद्वानों ने ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की, जिससे अब तक लगभग १ लाख असली कागजात प्रकाशित हो चुके हैं और इसस दूनी सामग्री अभी अप्रकाशित पडी है। पूना का भारत इतिहास-सशोधक मण्डल, धूलिया का राजवाड सशोधन मन्दिर, सितारे का पारसनीस म्यूजियम तथा इन्दोर, धार, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थानो के व्यक्ति-गत सग्रहों में राजपूताना संबन्धी बहुत सी सामग्री पडी है, जो जिज्ञासुओ की बाट जोह रही है अतएव यदि इस लेख को पढकर किसी सज्जन की उस दिशा मे कार्य करने की स्फूर्ति हुइ, तो मै अपना श्रम सफल समझूँगा।

The Author of the First Grammar of Hindustani

प्रो० डा० फ़ोखल, लइदन विद्यापीठ

[सर जार्ज ग्रियर्सन ने भा० भा० प० मे दर्ज किया है कि हिन्दुस्तानी का सर्वप्रथम व्याकरणकार केट्लर था। इसी के विषय मे कुछ विशेष टिप्पणियाँ यहाँ दी जाती है।

यह व्याकरण ओलंदेज (डच) भाषा में १६९० व १६९८ ई० के बीच लिखा गया। केट्लर का जन्म पूर्वी प्रशा मे एल्बिंग नामक स्थान पर २५ दिसम्बर सन् १६५९ ई० को हुआ था। वह जोशुआ केट्लर नामक जिल्दसाज़ का लडका था। सन् १६८२ ई० मे उसने डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे नौकरी कर ली तथा भारत मे आया। यहाँ पर उसने काफी पैसा कर लिया। उसकी मृत्यु ईरान मे हुई।]

In his *Linguistic Survey of India*,[1] Sir George Grierson has given a brief account of the first Hindustani Grammar written by John Joshua Ketelaar, a servant of the Dutch East India Company Sir George Grierson says "He wrote a grammar and a vocabulary of the 'Lingua hindostanica,' which were published by David Mill in 1743, in his *Miscellanea Orientalia* We may assume that they were composed about the year 1715"

In the present commemoration volume composed in honour of Mahamahopadhyaya Pandit Gauri Shankar Ojha, who, by his excellent works on the archæology and history of Rajputana, has done so much to promote the *lingua franca* of India, it will not be out of place to publish some further particulars regarding the author of the first Hindustani Grammar

As regards the grammar itself, it is true that it was published in Latin by David Mill (or Millius), Professor of Oriental languages in the University of Utrecht, in his *Miscellanea Orientalia* (Leyden, 1743) The original, however, was written by Ketelaar in the Dutch language, a manuscript copy is preserved in the State Record Office ('Rijks Archief') at the Hague It contains a grammar and vocabulary both of the Hindustani and Persian languages I here give the Dutch title in English translation *Instruction or tuition in the Hindostani and Persian languages, besides their declension and conjugation, together with a comparison of the Hindostani with the Dutch weights and measures, likewise the significance of sundry Moorish names, etc By John Joshua Ketelaar, Elbingensem And copied by Isaac van der Hoeve, of Utrecht At Leckenauw Ao. 1698*"

---

[1] *Linguistic Survey of India*, Vol IX (Calcutta, 1916), Part I, pp 6—8

From this title it is evident that Ketelaar must have composed his grammar between A.D 1682, the year in which he came to India and A.D 1698 the date of the Lucknow copy As he can hardly have undertaken a work of this description in the first years of his Indian career we may perhaps assume that he wrote it between 1690 and 1698

It further appears that Ketelaar was born at Elbing a town in East Prussia, situated on the coast of the Baltic Sea not far from Danzig His real family name was Kettler, and it was only after he had entered the service of the Dutch East India Company that it was changed to Ketelaar this form being the Dutch equivalent of the German *Kettler*

He was of humble extraction,[2] being the eldest son of a bookbinder Joshua Kettler by name The date of his birth was the 25th December 1659 In certain books on the local history of Elbing we find some particulars regarding young John Joshua which go to show that he was not exactly a promising and well behaved or even an honest youth He had been apprenticed to a master bookbinder named John Schwechausen Now it happened again and again that the latter missed small sums of money He did not know who was the culprit but at last he caught young Kettler in the act and gave him a sound scolding The apprentice then hired a horse and bolted to Marienburg His master went after him and brought him back to his house This compulsion evidently raised the young man's fury He made an attempt to poison his master by secretly putting some arsenic in his jug of beer The worthy master bookbinder was saved from imminent death only by a considerable dose of liquid butter, administered to him by his neighbour the apothecary Michael Wulf This happened on the 5th October 1680 when John Joshua had nearly reached the age of twenty one years Curiously enough he received no further punishment but was simply dismissed The same evening the young man left for Danzig where he found employment with another bookbinder without however mending his ways After a few days he forced his new master's money chest stole three rix dollars and absconded by sea to Stockholm the capital of Sweden

For one year and a half we lose sight of John Joshua Kettler In the spring of the year 1682 we find him at Amsterdam the capital of Holland He had taken service with the Dutch East India Company Like so many of his countrymen he was probably allured by the tales of India's boundless wealth which unscrupulous crimps were in the habit of relating in order to entice poor Germans into the bondage of the powerful Company

From this moment it is the Company's well kept and carefully preserved records which supply us with information regarding the further adventures of John Joshua

[2] For the information here published I am greatly indebted to the Keeper of the Municipal Records of the town of Elbing to whom I here wish to express my obligation

Ketelaar, as henceforth he was called by his newly adopted Dutch name [3] A remarkable career it was on which he now entered, and certainly a more honourable one than his early escapades would have led one to expect

In May, 1682 Ketelaar sailed from Texel on board the Company's ship "t Wapen van Alkmaar" belonging to the Amsterdam 'Chamber' of the Company It was as a common soldier that he started on his Indian career From the muster-rolls we find that in 1691 he served under the Directorate of Surat and was stationed at Broach in the capacity of 'Assistant' In 1695 he was 'Assistant' at Agra, in 1699 book-keeper of the factory at Ahmadābād, and in 1700 when he was transferred to Agra he bore the title of book-keeper and provisional 'Chief'

We may perhaps assume that in the course of his first sojourn at Agra he also visited Lucknow We have seen above that the copy of his Hindustani Grammar now preserved at The Hague was prepared at Lucknow in A D 1698 In all probability it was made under Ketelaar's personal instructions and supervision

In the year 1710 it was resolved to send an embassy under Mr. Cornelius Bezuijen, Director of the Dutch factories in Gujarat and Hindostan, to Shāh Ālam Bahādur Shāh who had succeeded his father 'Ālamgīr (Aurangzeb) in 1707 But in October 1710 the ambassador elected died at Surat after a lingering illness Some time previous to his demise he recommended Ketelaar, then Chief Merchant, to be his successor both as Director of the Dutch factories and as Head of the proposed embassy [4]

In the following year, 1711, the embassy started from Surat and travelling by way of Agra, arrived on the 10th December of that year at a distance of 6 kos from Lahore where the Emperor was encamped The ambassador was still at Lahore waiting for his *firmān* when Bahādur Shāh suddenly died on the 28th February, 1712 The diary of the embassy gives a vivid account of the confusion that followed the death of the Emperor The Dutch ambassador was even solicited by the Wazīr Zulfiqār Khān to take an active part in the struggle for the throne on behalf of the eldest son of the deceased monarch; but he politely declined the invitation under the plea of ill-health When Jahāndār Shāh had come out victorious, negotiations for the *firmān* were continued with his court They had not yet had the desired effect when on the 9th May the Emperor moved camp and with his whole army started for Delhi It should be remembered that his nephew Farrukhsiyar was making preparations in Bengal to dispute his uncle's possession of the crown The Dutch ambassador and his suite accompanied the Imperial Court on the march to the capital which was carried out under conditions of extreme discomfort in the hottest time of the year On the 24th June Delhi was reached Here the rest of the summer was passed with continuous solicita-

[3] I wish here to record my indebtedness to Dr R Bylsma, Keeper of the State Records, The Hague, for the information kindly supplied by him

[4] An English translation of the journal of Ketelaar's embassy has been published in the *Journal of the Panjāb Historical Society*, Vol X (1929), pp 1—94

tions to obtain the desired privileges from the Imperial Court. It was not until the 9th of October that after endless delays on the part of the Emperor and his officials the Dutch ambassador having attained his object could leave Delhi.

The return journey to Surat by way of Agra, Gwalior, Narvar, Sarangpur, Ujjain, Jhabua, Godhra and Baroda took four months and was attended with grave dangers and great difficulties, as all along the road the country was infested with robbers, while the petty Rajas of Malwa made it their business to levy blackmail from the caravans passing through their territories. When at last Surat was reached on the 17th February 1713 the first news which greeted the ambassador was that Jahāndar Shah had been defeated and killed by his nephew Farrukhsiyar. This meant that the privileges granted by the former for the trade of the Dutch had become absolutely valueless and all the exertions and perils sustained had been in vain.

All through this difficult enterprise Ketelaar had shown extraordinary ability. The prolonged negotiations with the Moghul Court required an uncommon degree of patience and tact, and on the long and dangerous journey from Lahore to Delhi and from Delhi to Surat no small amount of courage and firmness was needed. What strikes us most in the account of Ketelaar's embassy is that singleness of purpose and devotion to duty which pervades it in the curious garb of its antiquated matter-of-fact and sometimes humorous style.

The Dutch East India Company was in the habit of sending an embassy to the Shāh of Persia every twenty years. It is not surprising that when in 1716 the time for this embassy had arrived again it was Ketelaar who was chosen to be its Head. We possess a detailed account of this Persian embassy composed by a German soldier, Johann Gottlieb Worms by name, who belonged to the ambassador's suite during this expedition. The writer was evidently a man of little education but a shrewd observer who has faithfully recorded his experiences. In the beginning of his narrative he relates that Ketelaar was a Lutheran by religion and had then been in India for thirty years. This is not far from the truth, as we have seen that he had sailed for India in the year 1682.

Apparently Ketelaar was then at Batavia from where the embassy sailed towards the end of July 1716. The ambassador's suite consisted of two Senior Merchants, two book-keepers, three Assistants and twelve soldiers, the latter attired in brand new uniforms which Worms, who was one of them, describes with evident satisfaction. The embassy was moreover attended by a French periwig maker, a tailor and four or five musicians. According to the fashion of the period the gentlemen wore wigs!

The Company's ship *Beversaard* which conveyed the ambassador and his suite,

---

Johann Gottlieb Worms, *Ost-Indian- und Persianische Reisen*, etc., Dresden and Leipzig [illegible], pp. 217—306. The official journal of Ketelaar's Persian embassy is preserved in the Record Office at The Hague. It covers 500 pages in manuscript.

* In English travels of the period the name is spelt *Gombroon*.

arrived at Gamron[6] (the same as Bandar Abbās), the well-known port of the Persian Gulf, after a voyage of eight weeks Thirty days later there arrived two other ships from Ceylon, carrying six elephants which were intended as a present for the king of Persia from the Dutch East India Company Worms expatiates with obvious delight on the tricks which some of these elephants could perform, an accomplishment which was no doubt calculated to render them more acceptable to the royal recipient

The journey from Gamron to Ispahan, which was performed on horses provided by the Persian authorities took eight weeks On the way the famous ruins of Persepolis were duly inspected The solemn entry of the embassy in Ispahan is described by Worms in great detail and is moreover, illustrated by a quaint engraving. The six Ceylonese elephants headed the procession and were followed by ten horses likewise intended as a present for the King Next came two trumpeters and ten soldiers, all on horseback The ambassador followed by the gentlemen of his suite, all of them mounted on Persian steeds formed the centre of the pageant while a group of Persian attendants and more than a hundred camels and mules loaded with the embassy's requisites and presents for the Shāh brought up the rear.

It was the policy of the Dutch East India Company to display great pomp in dealing with Oriental potentates The ruler of Persia at the time of Ketelaar's visit to Ispahan was Shāh Husain who, according to Worms was then fifty years old He was the last unworthy scion of the renowned Safawi dynasty who sat on the Persian throne The wretched condition of the population clearly betrayed misrule under the nominal authority of the weak and effeminate king The country was famine-stricken so that the poor died in the streets of the capital The carcasses of camels horses and mules were devoured by the starving people Worms relates that, while the wealthy Persians showed no compassion, the Dutch ambassador distributed bread and wine among the poor

Another trait, incidentally recorded by the honest German soldier, shows Ketelaar's interest in the eastern nations with which he came into contact During his prolonged stay at Ispahan he caused large pictures to be made showing a man and a woman of each of the various nationalities to be met with in the Persian capital, including the fire-worshippers, every one of these wearing the dress peculiar to them. These pictures which were intended to be presented to the East India Company must have formed an interesting collection It is not known what has become of them

About this time a military expedition was directed against the Georgians and Khurasanians who had risen in rebellion against the central government Worms witnessed the Persian army starting on this warlike enterprise—a force of some 100,000 men including the camp followers He was struck by the want of order and discipline which characterized these proceedings

Regarding the negotiations carried on by the ambassador with the Court we find very little in the narrative of the German soldier Presumably his humble position precluded his being initiated in these weighty affairs We may assume that the Envoy,

while staying in the Persian capital, had to bear up against the same kind of procrastination which he had experienced in the course of his Indian mission. This may be inferred from the fact that his sojourn at Ispahan took no less than six months. At last the return journey to the coast could be undertaken.

When the party had travelled as far as Shiraz, the ambassador received letters from the Dutch Director at Gamron conveying the alarming news that two ships manned with Arab soldiers had arrived before Hormuz[7] with the object of wresting that important fortress from the Persians. It was apprehended that they might also attack Gamron. On account of this eventuality the ambassador ordered the twelve soldiers under his command to proceed to Gamron with all possible speed. Riding day and night they covered the distance in twelve days, during which time they enjoyed only twelve hours sleep. Their arrival at Gamron was hailed with great joy by the Europeans belonging to the Dutch factory.

The ambassador himself arrived a fortnight later. In the meantime the Persian authorities had despatched some 1,000 men under a colonel to Gamron. The ambassador did not fail, on his arrival, to call on the military commander in his camp outside the town. On this occasion the latter demanded that the Company's ships which was to convey the members of the embassy back to Batavia should, together with the Dutch sailors, be placed at his disposal in order to carry troops to Hormuz and relieve that place. This request, which was repeated on the following day through an officer deputed by the Persian commander, was met with a firm refusal. Ketelaar declared that being himself a servant of the Company he had no right to dispose of the Company's ship in this manner. He declined to assume this responsibility.

The Persian commander now resorted to such measures as might coerce the ambassador to comply with his wishes. He posted some hundreds of his soldiers around the Dutch factory. Neither fresh water nor victuals were allowed to enter the building. The discomfort caused by this measure was extreme. Fresh water used to be brought daily on camels from the mountains, as the water in the local cisterns was unfit for drinking purposes. Only one cask of drinkable water was available in the factory besides a limited amount of dried provisions. Even in this distress Ketelaar did not yield. When the blockade had lasted two days the ambassador was attacked by a violent fever to which he succumbed after three days. The Persian commander, startled by this result of his high-handed action, now withdrew his soldiers.

The mortal remains of the ambassador were buried in great state in the Dutch cemetery, which was situated half a mile outside the town of Gamron, not far from the English graveyard. The chief mourner was Samuel Cruttner, a nephew of the deceased, who evidently had served under him. The same relative caused a grand monument to be erected over the grave of his uncle at the cost of 600 guilders. It is described in Worm's

[7] Spelt *Ormus* in Worm's account.

itinerary as "a pyramid, 30 cubits high, more costly than any of the sepulchres at that place" Presumably we shall have to imagine a rather clumsy, obelisk shaped pile like the contemporaneous monuments still extant on the Dutch cemetery of Surat

From information kindly supplied by the British Consul at Bandar Abbās it appears that the tomb in question has disappeared In a letter dated 13th March, 1933, that officer writes that "there used to be a very old ruin in the shape of a monument situated on the border of the oldest part of the town (once Gambroon) which was known as "Goor-i-Ferangh" (Europeans' grave), but this ruin, and others in close vicinity to it, were demolished about twenty-five years ago, when it was decided to build new houses on the site"[8]

From the fortune amassed by Ketelaar considerable endowments were bequeathed by him to the various Protestant churches in his native town The church "zum Heiligen Leichnam (i e Corpus Christi) spent the money on the purchase of a new organ which is still in use Not far from it on the southern wall of the church there is a painted portrait of the donor It shows a full face with ample forehead a long straight nose, a resolute mouth and chin He wears no beard or moustache, but a large periwig according to the fashion of the time It is a face expressive of fortitude and sagacity

---

[8] In 1900 the monuments in question were still extant, although in a ruinous condition Cf *The Geographical Journal*, Vol XVI (1900), p 212, where a sketch of them will be found

चौथ आणि सरदेशमुखी

श्रीयुत यशवंत वासुदेवशास्त्री खरे, मिरज

[चौथ व सरदेशमुखी की माग सर्वप्रथम शिवाजी ने सन् १६६२ ई० में औरङ्गजेब के सम्मुख रखी थी। जिस समय दिलावर खाँ तथा मिर्ज़ा राजा जयसिंह की सेना ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तथा वहाँ पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ किया तब शिवाजी ने उनसे सुलह करने में ही अधिक दूरदर्शिता समझी। अन्य इतिहासकारों का यह कहना कि उस समय शिवाजी ने यह समझ कर कि वे मुग़ल सैन्य का पराभव न कर सकेंगे संधि कर ली, असत्य है। यह संधि केवल उन का एक राजनैतिक दाँव था तथा वह पूर्ण सयुक्तिक भी था। उस संधि की शर्तों के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। शिवाजी ने इस संधि द्वारा मुग़ल साम्राज्य में अपनी टाग अड़ा दी तथा ऐसा करने में अंगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने की उन की नीति थी। यद्यपि इन शर्तों को औरङ्गजेब ने नहीं माना परन्तु आगे चलकर यह नीति बहुत काम आई। मराठों की भविष्य की सारी नीति इसी पर केंद्रित थी। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने सैय्यद बन्धुओं के राजत्वकाल में स्वराज्य तथा चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया। उसमें विशेषता यह था कि यह वसूल सरकारी दफ्तरों में दर्ज उन सूबों की सब से अधिक आय पर लिया जाता था। इस प्रकार मराठी साम्राज्य की पहिली सीढ़ी बनाई गई। तदनन्तर इसी मार्ग पर चढ़ने से मराठों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। अङ्गरेज़ों की सहायक नीति भी तात्त्विक दृष्ट्या यही थी। सन् १७४३ ई० की दूसरी सनद के अनुसार मराठों को मालवा तथा नर्मदा व चम्बल नदियों के मध्य प्रदेश की चौथ व सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त हो गया। तीसरी व अन्तिम सनद से उन्हें मुल्तान पञ्जाब ठट्टा सिंध अतवद रुहेलखण्ड व राजपूताना इत्यादि प्रदेशों में ये ही अधिकार प्राप्त हो गए। परन्तु इससे मराठों का उत्तरदायित्व बढ़ गया तथा इसी समय गृहकलह प्रारम्भ हो जाने से वे उसे पूर्णतया सँभाल न सके। इसी कारण सन् १७६१ ई० में उन्हें हार खानी पड़ी।]

राजकारण हा एक बुद्धि आणि शक्ति या दोन साधनांनीं खेळावयाचा डाव आहे। या दोनी साधनांचा पूर्णपणें मिलाप झाल्याशिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट सिद्धीस जात नाहीं। सतराव्या आणि अठराव्या शतकांत मराठ्यांनीं स्वराज्याच्या राजकारणाचा एक मोठा डाव मांडला होता। मराठ्यांनीं विशेषेंकरून बुद्धि बळाच्या जोरावरच हा डाव जिंकला होता असें मराठी इतिहासावरून दिसून येतें। मोंगल, रोहिले, पठाण, रजपूत जाठ हे लोक शरीरसामर्थ्यानें मराठ्यांपेक्षां कांकणभर जास्तच होते। या सर्व लोकांचा पाडाव करण्यांत मराठ्यांना जें वेळोवेळ यश आलें त्याचें श्रेय बहुतांशीं त्यांच्या मुत्सद्दीपणाला—बौद्धिक श्रेष्ठतेलाच दिलें पाहिजे।

चौथसरदेशमुखीचा हक्क ही मराठी इतिहासांतील गुरुकिल्ली होय। या हक्काच्या अभ्यासानेंच मराठी इतिहासांतील बहुतेक कोडीं सुटतात। मराठ्यांच्या लष्करी हालचाली आणि कारस्थानी डावपेंच—त्यांचे हर्षामर्षाचे प्रसङ्ग—त्यांनीं सोसलेल्या आपत्ति किंवा मिळविलेले विजय यांचें मर्म समजून घेण्यासाठीं चौथ सरदेशमुखीच्या हक्काचा मंत्र नेहमीं दृष्टीपुढें ठेवावा लागतो। अशा या महत्त्वाच्या विषयाचें त्रोटक विवेचन आणि त्रोटक इतिहास आम्ही या लेखांत देणार आहों। तसें करण्यापूर्वीं पुढील विवेचनांत उल्लेखिल्या जाणाऱ्या व्यक्ति व स्थळ यांसम्बन्धीं थोडीशी प्रास्ताविक माहिती प्रथम नमूद केली पाहिजे।

दहाव्या शतकाच्या अखेरीस मुसलमानांच्या भरतखंडावर स्वाऱ्या सुरू झाल्या। पहिलीं दोनशे वर्षे ते पञ्जाब व दिल्ली प्रान्त यात धुमाकूळ घालीत होते। तेराव्या शतकांत ही परकी सत्ता सर्व हिन्दुस्थान भर पसरली, आणि तिने दक्षिणेस नर्मदा ओलांडून कृष्णानदी पर्यन्त मजल गाठली। तेराव्या शतकांतच दक्षिणेत बहामनी पातशाही ची स्थापना झाली। सोळाव्या शतकांत उत्तरेकडे मोठी राज्यक्रांति होऊन मोगल पातशाहीची स्थापना झाली। अर्वाचीन हिंदुस्थानच्या इतिहासांत या मोगल पातशाहीचे नांव चिरस्मरणीय होऊन राहिलें आहे। पहिल्या पन्नास वर्षांतच मोगलानी सर्व उत्तर हिन्दुस्थान व्यापले आणि नन्तर त्यानीं दक्षिणेकडे मोर्चा वळविला। मोगल दक्षिणेत येण्यापूर्वीच बहामनी पातशाही नष्ट होऊन तिच्या जागी अहमदनगरची निजामशाही, विजापूरची आदिलशाही, आणि गोवळकोंडयाची कुतुबशाही अशी तीन मोठीं मुसलमानी राज्यें झालीं होतीं। मोगलानी दक्षिणेत येऊन प्रथम निजामशाही बुडविली आणि नन्तर ते विजापूरच्या आदिलशाहीच्या राशीला लागले। परतु याच वेळी दक्षिणेत स्वराज्य संस्थापक श्री शिवाजी महाराज यांचा झपाट्यानें उत्कर्ष होत गेला त्यामुळे मोगलांच्या सत्तेस कायमचा पायबंद बसला। महाराजांचा जन्म इ० स० १६३० च्या फाल्गुन महिन्यांत झाला। वयाच्या बाराव्या तेराव्या वर्षीच त्यानीं बारा मावळे काबीज करून स्वराज्य संस्थापनेस प्रारंभ केला। पहिली सतरा अठरा वर्षे मराठी सत्ता सह्याद्रीच्या दुर्गम पठारांतूनच वावरत होती। त्या मुदतीत महाराजानीं विजापूरवाल्याचा अनेकदा पराजय करून त्यांचा दम बराच मोडला। स० १६६० चे सुमारास मराठी सत्ता बद्धमूल होऊन महाराजाचा जयदुंदुभी चौमुलखी गर्जू लागला आणि त्यांच्या प्रतापाची झळ सोलापूर अहमदनगर, नाशीक, खानदेश. गुजराथ या मोगलाच्या प्रांतास लागणार असा सुमार दिसूं लागला आणि स० १६६१।६२ पासून मराठे व मोगल यामधील खऱ्याखुऱ्या झगडयास सुरवात झाली।

मोगल व भोसले याची शत्रु या नात्याने जानपछान दोन पिढयांची होती। शिव छत्रपतींचे वडील शाहाजी राजे हे पूर्वी निजामशाहीत मोठया मान्यतेचे सरदार होते। मलिकंबर वजीरानें जहांगीर व शहाजहान या मोगल पातशहाशी अनेक युद्धे केली त्यांतून शहाजी राजानी मोठा पराक्रम गाजविला होता। मलिकंबराच्या मृत्युनंतर शहाजी राजाचा लौकिक व दरारा अतिशय वाढला आणि त्यांच्या इच्छे प्रमाणे आदिलशहा व निजामशहा यांच्या दरबारांचीं सूत्रे हालू लागली। शहाजी राजे हे स्वपराक्रमाने प्यायाचे फर्जी झाले होते आणि त्यांच्याएवढा प्रताप शाली पुरुष त्यावेळी दक्षिणेंत कोणी ही नव्हता। इंग्रज इतिहासकार त्यांना किंगमेकर अशी पदवी देतात ती सार्थ आहे। स० १६३१ साली त्यानी एक अल्पवयी मुलगा निजामशाही तख्तावर बसविला आणि त्याचा नांवावर शहाजी राजानी मोगलाशी उघड वैर आरंभिले हे युद्धसुमारे सहा वर्षे चालू होते आणि त्या मुदतीत मराठे व मोगल यांमध्ये अनेक रणसंग्राम होऊन शहाजीराजानी पुष्कळ वेळां मोगली फौजांची दाणादाण उडवून दिली पुढे आदिलशाहा मोगलाना मिळाले त्यामुळे शत्रूचे पारडे पुष्कळ जड झाले। तथापि शहाजी राजानी हिंमत खचू ने देतां आदिलशहा व मोगल या दोनी शत्रूशी मोठ्या मर्दुमकीने टक्कर दिली। शेवटी प्रतिकूल परिस्थिती मुळे शहाजीराजाना हार खावी लागली आणि शेवटी त्याना निजामशाही राज्य मोगलांच्या स्वाधीन करावे लागले। स० १६३६ साली शहाजी राजे आदिलशहांचे जहागीरदारदार बनून कायमचे कर्नाटकांत गेले आणि तिकडे ही त्यानी मोठे राज्य संपादन केले। याप्रमाणे दक्षिणेंत मराठयांचें वर्चस्व प्रस्थापित करण्याचा शहाजी राजांचा प्रयत्न फसला तथापि त्यांच्यापराक्रमाचे महत्व कोणत्याही प्रकारे कमी होत नाही। कार्थेजच्या इतिहासांत हानिबालच्या पराक्रमाने त्याच्या पित्याचे म्हणजे हॅमिल्कार याचें कर्तृत्व झाकले गेलेले दिसते त्या प्रमाणे मराठी इतिहासांत महाराजांच्या अलौकिक प्रतापामुळे शहाजी राजांचे कर्तृत्व

चांगलेसे नजरेंत भरत नाही। वस्तुतः महाराजांनीं प्रारंभीं ज्या चळवळी केल्या आणि अल्पावधींत जें मोठें यश मिळविलें त्याचें बरेचसें श्रेय शहाजी राजानाच दिलें पाहिजे। शहाजी राजांच्या कर्तृत्वामुळें पुढील दोन परिणाम घडून आलेले स्पष्ट दिसतात। ते असे—(१) मराठे सेनापतींनां तयार केलेलें मराठी सैन्य हिंदुस्थानांतील नामांकित मुसलमानींसै यांचा पराजय करूं शकतें ही गोष्ट शहाजी राजांनां प्रथमच सिद्ध केली त्यामुळें मराठ्यांचा आत्मविश्वास वाढला आणि त्या मानानें मोंगलांच्या लौकिकाचा भ्रम कमी झाला। या आत्मविश्वासाच्या बळावरच महाराजाना आपल्या कारकीर्दीच्या प्रारंभींच मराठी राष्ट्राचें स्वातंत्र्य जाहीर करण्याचें धारिष्ट उत्पन्न झालें। महाराजांनीं वयाच्या चौदाव्या वर्षीं म्हणजे स० १६४४,४५ सालीं आपल्या नांवाचा शिक्का करविला त्यांत पुढील मजकूर आहे—

प्रतिपच्चंद्र लेखेव वर्धिष्णु विश्ववंदिता।
शाहसुनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते॥

या मुद्रेंतील 'प्रतिपच्चंद्रलेखेव वर्धिष्णु' आणि 'विश्ववंदिता' हे दोन शब्द अतिशय अर्थपूर्ण आहेत। पहिल्या शब्दानें महाराजांचा आत्मविश्वास व्यक्त होतो आणि दुसऱ्यानें त्यांच्या महत्त्वाकांक्षेची मर्यादा समजते। (२) शहाजी राजांनीं पंधरा वीस वर्षे मोंगलाशीं राजकीय प्रतिस्पर्धी या नात्यानें सामने दिले त्यामुळें महाराजांना मोंगलांच्या गुणदोषांची पारख उत्तम प्रकारें करता आली। मोंगल लोकांची कृष्ण कारस्थानाबद्दल मोठी ख्याति होती। छद्मवेषधारण, खोटीं पत्रें तयार करणें, भूलथापा देऊन शत्रूची दिशाभूल करणें, विश्वास दाखवून शत्रूचा नाश करणें खोट्या आणाशपथा घेणें वगैरे अनेक दुर्गुण मोंगली राजनीतींत प्रामुख्यानें वावरत होते। मोंगलांच्या या दुर्लौकिकामुळेंच कोणत्याही दगलबाजीच्या कृत्याला 'मोंगली कावा' असें मराठा बखरींतून नांव दिलेलें आढळतें। महाराजांनीं 'शठंप्रति शाठ्यं' या न्यायानें मोंगलाशीं वागतांना असे धूर्तपणाचे डावपेंच लढविले कीं, त्यामुळें मोंगलांची ही दगलबाजीची अक्कल शेवटीं गुंग होऊन गेली। मराठ्यांच्या या धूर्तपणाला मोंगलांनीं 'गनिमीकावा' असें नांव दिलें आणि तो शब्द अजूनही मराठी भाषेंत त्याच अर्थानें रूढ आहे। गनिमीकाव्याचें उत्कृष्ट उदाहरण म्हणजे चौथसरदेशमुखीची कल्पना हें होय।

महाराजांनीं प्रारंभींच आपलें स्वातंत्र्य जाहीर केलें तथापि कालवळ ओळखून आणि स्वपक्षबलाबल जाणून ते या स्वातंत्र्याच्या कल्पनेंत फरक करावयास तयार असत। स० १६६० पर्यंत महाराजांचीं विजापूरकराशीं युद्धें झालीं त्यांतून आदिलशाहाचें अवसान ओळखून महाराजांनीं शत्रूशीं बरोबरीच्या नात्यानें सामने दिले आणि शत्रूचा पुरा मोड केला। पुढें मोंगलाशीं गांठ पडली तेव्हां मोंगली साम्राज्याचें सामर्थ्य ओळखून महाराजांनां स्वातंत्र्याची भव्य कल्पना उराशीं बाळगून शत्रूशीं कायमचें वैर धरण्याची इच्छा धरली नाहीं। त्यांनीं प्रथम 'चौथसरदेशमुखी' या नांवाखालीं आपली एक नवीनच कल्पना मोंगल बादशहापुढें मांडली। या कल्पनेचा उल्लेख मराठी इतिहासांत प्रथम स० १६६५ सालीं झालेला आढळतो, तो प्रसंग असा—

त्या सालीं जयपूरचा मिर्झा राजा जयसिंग आणि दिलेरखान हे दोन मोंगल सरदार महाराजांवर चालून आले। प्रथम महाराजांना वठणीवर आणून त्यांचा कायमचा बंदोबस्त करावा आणि नंतर विजापूरच्या आदिलशाहाला तंबी देऊन त्यांना कबूल झालेला सालाबाद खंडणी वसूल करावी असे दोन मुख्य कामें या मोंगल सरदारांना सांगण्यांत आलीं होतीं। एप्रिल महिन्यांत (स० १६६५) मोंगली फौजा पुणें प्रांतीं येऊन सिंहगड व पुरंदर या किल्ल्यांना वेढा दिला। महाराज त्यावेळीं आठ आरमार बरोबर घेऊन मालवणप्रांतीं गेले होते। तिकडे त्यांनीं गोव्यापासून बासिलोर, कुमठा, हनावर, गोकर्ण पर्यंत मुलूख लुटून मोठी लूट मिळविली। या आरमारी स्वारीला मराठी

इतिहासांत 'वसनूरची स्वारी' असें नांव दिलेले आढळते। महाराज या स्वारीहून रायगडावर परत येतात तोंच त्यांना मोगलांची बातमी समजली। महाराजांच्या गैरहजेरीत नेताजी पालकर आणि काडतोजी गुजर या मराठे सेनापतींनी मोगलाशी टक्कर दिली। परन्तु तीत त्याना यश आले नाही। मोगलांचा दिवसे दिवसें विजय होत चालला आणि त्यांच्या अघाडीच्या टोळयानी खुद रायगडापर्यंत मजल गांठली तेव्हां पुढील मसलतीची चर्चा करण्या करितां प्रमुख मराठे सरदार व मुत्सद्दी महाराजां जवळ रायगडावर जमा झाले। या लोकांच्या सभेत काय चर्चा झाली याची हकीगत कोठेही दिलेली नाही। परिणामावरून या चर्चेचे अनुमान बांधावयाचे तर मराठी राष्ट्रपुरुषांची ही सभा चिरस्मरणीय समजली पाहिजे। या सभेत पुढील दोन गोष्टी निश्चित करण्यांत आल्या। त्या अशा—(१) मोंगलांची फौज आली आहे तिच्याशी लढून व्यर्थ नुकसान करून घेण्यापेक्षांपुढील फायद्यावर नजर देऊन तूर्त शत्रूशीं सलोखा करावा। तहाच्या निमित्ताने आपली नोकरीची कल्पना मोगल दरबारांत कितपत रुजते याचा एकदां ठाव घ्यावा। एकदां नोकरीच्या निमित्ताने मोगली राज्यांत चंचुप्रवेश झाला म्हणजे पुढे मुसलप्रवेश करून शत्रूचें राज्य आपल्या काबूत आणतां येईल। (२) मोगली राज्याशी आपले पुढील धोरण निश्चित ठरेपर्यंत तहाच्या निमित्ताने लढाई बंद ठेवावी आणि मोगली फौजेचे लचाड आपणावर आले आहे ते तूर्त विजापूरच्या आदिल शहावर परभारे सोडून द्यावे। मोगलाना मिळून आदिलशाही मुलूख लुटण्यांत आपला तूर्त फायदाच आहे। याप्रमाणे राज्यांतील प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांन्या विचारे भावी धोरण निश्चित केल्यावर महाराज पुढील उद्योगास लागले। राजा जयसिंग आणि दिलीरखान पैकी दुसरा केवळ आडमुठा पठाण सरदार होता। राजा जयसिंह हा मात्र दिल्ली दरबारांतील नामांकित मुत्सद्दी व सरदार होता। दोन्ही सरदारांचे पातशहांशी विशेषसे रहस्य नव्हते। विशेषतः जयसिंगाबद्दल तर औरंगजेबाला विशेषच अविश्वास वाटत होता। जयसिंग व पातशहा यांमध्ये हे जे थोडेसे वैमनस्य होते त्याचा महाराजानी तावडतोब फायदा घेतला। रघुनाथपंत न्यायमंत्री यांच्या मार्फत त्यानी जयसिंगाशी सख्यजोडले आणि नंतर त्याच्या मार्फत मोगलाशी तह घडवून आणला। या तहात मुख्य कलमें अशी होती—

१ निजामशाही राज्यापैकी महाराजानीं मोगलाकडून अलीकडे मुलूख जिकला होता त्यापैकी सिंहगड, पुरंदर वगैरे वीस किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा तीन लक्ष होनांचा मुलूख महाराजानी मोगलास परत द्यावा बाकीचे बारा किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा एक लक्षहोनांचा मुलूख महाराजानी स्वतःकडे ठेवून घ्यावा। हा एक लक्ष होनांचा मुलूख आणि महाराजांच्या ताब्यांत असलेला इतर मुलूखही सर्व पातशहा कडून महाराजां कडे चाललेली जहागीर समजावी।

२ सभाजी राजांच्या नावे पातशाही फौजेत पांच हजार फौजेची मनसबदारी मिळावी। महाराजानी ही फौज घेऊन मोगलाना विजापूरचा मुलूखघेण्यांत मदत करावी।

३ मोगली मुलखावर महाराजाना पांच लक्ष होनांची चौथ सरदेशमुखी मिळावी। चौथ सरदेश मुखीचा वसूल महाराजानीं स्वतंत्रपणे परभारे घ्यावा सरदेश मुखीच्या हक्काबद्दल मराठयानी मोगली रयतेचे चोरदखडे खोरापासून सरक्षण करावे। मराठयानी स्वतः ही मोगली रयतेस उपद्रव देऊं नये। चौथाईच्या हक्काबद्दल मराठयानी फौज ठेवून पातशहा ची चाकरी करावी।

४ चौथ सरदेश मुखीच्या हक्का बद्दल पातशहास दर साल तीन लक्ष होन या हॅत्या प्रमाणे चाळीस लक्ष होनांचा नजराणा द्यावा। तह होतांच मराठे व मोगल यानी एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर स्वारी करावी।

या तहाच्या अटी उभयपक्षी पाळल्या जातील याबद्दलची जामीनदारी जयसिंगानें पतकरली होती। या तहामुळे एक गोष्ट तावडतोब घडून आली। ती गोष्ट म्हणजे तह होताच मराठीआणि मोगली फौजा एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर चालून गेल्या आणि लढाईचा सर्व हंगामा परभारें आदिलशाही मुलखात पडला ही होय। तह झाल्यानंतर महाराजानी आपली राजनिष्ठा आणि नम्रता व्यक्त होईल अशा दरबारी भाषेत पातशहाकडे एक लाललचक पत्र पाठविले। साराश, या तहप्रकरणी आपल्या नोकरी पेशास अनुरूप अशी नम्रता महाराजानी या प्रसंगी धारण केली होती।

महाराजाचे राजकीय डाव नेहमीं खोल आणि दूरदर्शी असत। या तहात महाराजानां तीन लक्ष होनाचा मुलूख देऊन मोंगलाची ताबेदारी पतकरली ही गोष्टच प्रथमदर्शनी ठळकपणे नजरेंत भरते परन्तु तहातील सर्व कलमाची फोड करून त्यातील कार्यकारण भाव आणि परस्पर सम्बन्ध लक्षात घतले तर हा तह म्हणजे मोगलाना फसविण्याकरिता महाराजानीं योजलेली एक 'गनिमी काव्याची' क्लृप्ती होती एवढाच तात्पर्यार्थ शिल्लक राहतो। आमचें म्हणणे स्पष्ट करण्याकरिता महाराजानीं या तहात मागितलेल्या चौथ सरदेशमुखीचें स्वरूप आणि तहाच्या सर्व कलमातून व्यक्त होणारे राजकारणाचे डावपेंच याचा उलगडा आम्ही येथे करतों।

स र दे श मु खी—मोगली मुलखावर दर शेकडा जादा दहा टक्के प्रमाणें मराठयाना वसूल करावे। म्हणजे एखाद्या प्रांताचें उत्पन्न शभर रु० धरले तर सरदेशमुखीमुळे तें उत्पन्न एकशे दहा रु० समजावे। शभर मोंगलाचे आणि वरच दहा मराठयाचे। या हक्काच्या मोबदल्यात मराठयानीं मोंगली रयतेचे संरक्षण करावें अशी तहामध्यें अट होती। आपल्या प्रजेचें संरक्षण करण्याचा हक्क मराठयास देणें म्हणजे त्या प्रांतापुरते मराठयाचें वर्चस्व पातशहानें मान्य करणें असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

२ चौ थ अ थ वा चौ था ई—सरदेशमुखी वजा जाता प्रांताचा वसूल शिल्लक राहील त्यापैकीं पंचवीस टक्के वसूल मराठयानींघ्यावा। तहा मध्ये पाच लक्ष होनाचा चौथाईचा हक्क महाराजानीं मागितला होता। याचा सरळ अर्थ असा कीं, वीस लक्ष होन वसूल येणाऱ्या मोंगली मुलखा पैकीं पधरा लक्ष होन मोगलानीघ्यावे आणि पाच लक्ष होन मराठयानींघ्यावे। चौथाईच्या हक्काबद्दल महाराजानां फौज बाळगून पातशहाची चाकरी करावी। चौथाईचा वसूल मराठयानीं मोंगल अमलदारास न विचारता परभारें स्वतंत्र रीतीने रयतेपासून घ्यावा अशी महाराजानीं तहा मध्यें अट घातली होती ती या बाबतींत विचारात घेतली पाहिजे। मराठयाचा असला चौथाईचा हक्क मान्य करणें म्हणजे त्या प्रांतापुरता मराठयाचा एक चतुर्थांश मालकी हक्क पातशहानें मान्य करणें असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

३ तहामध्ये महाराजानीं मोंगलास तीन लक्ष होनाचा मुलूख दिला तोही एक लपंडावीचा प्रकार होता। या मुलखाच्या मोबदल्यात पाच लक्ष होनाचा चौथाईचा हक्क म्हणजे पर्यायानें वीस लक्ष होन उत्पन्न येणाऱ्या मोगली मुलखात संचार करण्याची मुभा महाराजानीं या तहात पातशहाजवळ मागितली होती ही गोष्ट या बाबतींत विचारांत घतली पाहिजे। साराश, आवळा देऊन कोहळा काढण्या पैकीच हा सर्व प्रकार होता।

४ तहामध्यें दरसाल तीन लक्षहोन नजराणा भरण्याची अट होती तोही असाच लपंडावीचा प्रकार होता। तीन लक्षहोन म्हणजे त्यावेळच्या धारणी प्रमाणे सुमारें दहा अकरा लक्ष रुपये होतात। संभाजी राजाना पातशहानें पाच हजार फौजेची मनसब दावी असें एक या तहात कलम होतें तें या ठिकाणीं विचारांत घेतलें पाहिजे। मनसबदार हे नेहमीं इतलाखी असत। म्हणजे फौजेच्या खर्चाबद्दल त्याना सरकारी खजिन्यातून नक्त रुपये मिळत असत। संभा जी

राजांच्या पांच हजार फौजेच्या वार्षिक खर्चाची बेरीज तत्कालीन हिशेबाप्रमाणे सुमारे दहा बारा लक्ष रुपये होत होती। महाराजानीं पातशहाकडे भरावयाचा नजराणा आणि सभा जी राजाना फौजेच्या खर्चाबद्दल पातशहा कडून मिळावयाची रक्कम यांची वजावाट केली तर मराठे व मोगल यानीं एकमेकास कांहीं देऊ घेऊ नये असा सरळ हिशेब होत होता।

सारांश, प्रजेचे संरक्षण आणि पातशहाची नोकरी या गोड दरबारी नांवाखालीं आपल्या वर्चस्वाचें आणि मालकीहक्काचे उंटाचे पिल्लूं शत्रूच्या मुलखांत हळूच सोडून द्यावे एवढाच हा तह ठरविण्यांत महाराजांचा हेतु होता असे स्पष्ट दिसते। एखादा राजा अडचणींत सांपडून सर्वस्वी नाडला गेल्याशिवाय तो असली शिरजोरपणाची नोकरी कधीही कबूल करणार नाही। मोंगली राज्य त्यावेळीं अत्यंत बलिष्ठ होतं। त्यांतून औरंगजेब हा महाधूर्त आणि पाताळयंत्री पातशहा होता। *तो महाराजांची असली ही नोकरी कसची मान्य करता? जयसिंगाने मराठ्यांशीं ठरविलेला* तह पातशहाने थोडासा फरक करून मंजूर केला। दरबारी रिवाजाप्रमाणे औरंगजेबाने महाराजां कडे मानाचा पोषाक, तरवार वगैरे सरंजामही पाठविला। पातशहाकडून महाराजांच्या पत्राचे उत्तर आले त्यात महाराजाना उत्तेजन वाटेल असा बराच मजकूर होता। चौथ सरदेशमुखीच्या हक्काचा मात्र पातशहा ने आपल्या उत्तरांत उल्लेखसुद्धां केला नव्हता। मग तो हक्क मान्य करण्याचे दूरच राहिले।

या तहा संबंधी आम्ही आतां पर्यंत थोडीशी जास्त विस्तारपूर्वक हकीगत दिली आहे त्याचे कारण चमूद केले पाहिजे। शिवचरित्रा पैकीं ज्या गोष्टींचा अजून नीटसा उलगडा झाला नहीं त्यापैकींच हें तहप्रकरण आहे। याप्रसंगी मोंगलाची चहूंकडून जबरदस्ती झाली आणि मराठे सेनापतीचे चहूबाजूंनी उपाय थकले—सर्व राज्य गमावण्याचा प्रसङ्ग प्राप्त झाला तेव्हां महाराजानी भवानींदेवीला कौल लाविला–नन्तर शत्रूशी यासमयीं कसा तरी समेट करून बचाव करून घे असा देवीने दृष्टांत दिला त्यामुळे महाराजानी मोंगलाशीं हा तह केला अशी वस्तुस्थितीचा विपर्यास करणारी एक भाकडकथा मराठी बखरीतून दिलेली आहे। मि० ग्रांट डफ, न्यायमूर्ति किंकेड, राव, सरदेसाई वगैरे अलीकडील मराठी इतिहास लेखकानी ही भाकडकथा खरी मानून किंवा आपल्या कल्पनेने एखादा असंबद्ध कार्यकारणभाव कल्पून या प्रसंगाची हकीगत आपापल्या ग्रन्थातून लिहून ठेविली आहे। शिवचरित्राचे रहस्य समजून घेण्याचा किंवा वस्तुस्थितीचा बोध लक्षांत घेण्याचा आतांपर्यन्त कोणाही लेखकाने प्रयत्न केला नाही त्यामुळे शिवचरित्रापैकी या महत्वाच्या प्रसंगाच्या बाबतीत हकीगत आणि मांडणी या दृष्टीनेमोठा विपर्यास घडून आलेला आहे। न्यायमूर्ति रानडे यानी मात्र हा तह करण्यांत महाराजांचा काही तरी कारस्थानीपणाचा डाव असला पाहिजे असा शेरा या प्रसंगासम्बन्धे लिहून ठेवला आहे। परन्तु तो डाव कोणता हे त्यानाही उलगडून सांगता आले नाही। असो जयसिंगाची स्वारी आणि तहानन्तर घडलेल्या गोष्टी यांची माहिती आतां पर्यन्त प्रसिद्ध झाली आहे तीवरून आमच्या मते पुढील दोन गोष्टी स्पष्ट दिसतात (१) पहिली गोष्ट अशी की, महाराजांचा सर्वस्वी निरुपाय झाला आणि कशी तरी वेळ मारुन नण्याकरितां त्यानी पड खाऊन शत्रूशीं हा तह केला असा सर्व लेखकानी निष्कर्ष काढला आहे तो चुकीचा आहे। जयसिंग एप्रिल महिन्यांत (१६६५) पुणे प्रांती दाखल झाला। पुढे दोन महिन्यानी महाराजानी हा तह घडवून आणला। त्या मुदतीत चार दोन किरकोळ लढायांतून मोगलाची सरशी झाली होती। मोठी लढाई होऊन मराठे व मोगल यांच्या बलाबलाचा निर्णय लागण्याचा प्रसङ्ग महाराजांनी या स्वारीत आणलाच नाही। या तह प्रकरणाचे मर्म बखरकारांना नीट समजले नाही त्यामुळे महाराजानी मुलूख देऊन मोगलांची नोकरी पतकरली ही गोष्ट साजरी दिसण्याकरिता त्यांनी याप्रसङ्गी महाराजाना पडलेले

संकट आणि भवानीदेवीचा दृष्टांत वगैरे काल्पनिक मजकुरानें हा प्रसंग सजविला आहे। महाराजांना स्वतः मोंगलाच्या सामर्थ्याची पर्वा कधींच वाटली नाहीं आणि त्यांच्या पिंडाला भय हा विकार माहीतच नव्हता। शिवाय औरङ्गजेबासारख्या कट्टया दुष्मानाशीं सख्य केलें असता संकटकालीं आपला बचाव होईल असें मानण्याइतका अप्रबुद्धपणा महाराजांच्या ठायीं खास नव्हता। या तहापूर्वी दोन वर्षे त्यांनीं शाहिस्तेखान आणि राजा जसवंत सिंग या मोंगल सेनापतींची अगदीं दाणादाण उडवून दिली होती। तहाच्या आदल्या वर्षींच त्यांनी सुरत शहर लुटलें होतें आणि मक्केचे मुसलमान यात्रेकरू झोडपले होते। या तहाचा बेरंग झालेला दिसताच पुढेंही महाराजांनीं मोंगली फौजाची वेळोवेळ अशीच दुर्दशा केलेली दृष्टीस पडते। महाराज व औरङ्गजेब हे दोघेही एकमेकांचें वर्मकर्म पूर्णपणें जाणून होते आणि दोघेही महाधूर्त पाताळयंत्री मुत्सद्दी होते। या सर्व गोष्टी ध्यानांत धरल्या म्हणजे महाराजांनीं एक मोठा राजकारणाचा डाव पोटांत ठेवूनच तहाचें बोलणें सुरू केलें—जय सिंगानें बलाबलाचा विचार पाहूनच हा तह पतकरला आणि औरङ्गजेबानें काण त्या तरी निमित्तानें एकदा महाराजांना हाताखालीं घालून ठेवावें एवढयाच हेतूनें हा तह तूर्तातूर्त मंजूर केला—या गोष्टी स्पष्ट होतात। (२) मोंगलासारख्या बलाढय सरकाराशीं मराठी राज्याचें भावी धोरण काय रहावें आणि त्या धोरणाची अमलबजावणी करता करता शत्रूचें राज्य आस्ते आस्ते आपल्या काबूंत कसें आणावें या गोष्टींची रूपरेषा महाराजांनीं प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांच्या विचारानें या प्रसंगीं निश्चित ठरविली होती असें स्पष्ट दिसतें। पूर्वानुसंधान असल्या शिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट एकाएकी घडून येत नाहीं। पेशवाई अखेरपर्यंत सर्व मराठयांनीं मोंगल पातशाहाशीं जें एक ठराविक विशिष्ट धोरण ठेविलें होतें आणि चौथसरदेशमुखी-च्या हक्काबद्दल मराठयांनीं शेवट पर्यंत जो एवढा अट्टाहास घेतला होता त्याचें मूळ महाराजांच्या या धोरणांतच हुडकलें पहिजे। ह्या धोरण आणि त्याची मांडणी याचा पहिला प्रयोग या दृष्टीनेंच महाराजांनी मोंगलाशीं हा तह घडवून आणला होता। महाराजांचें या प्रसंगाचें वर्तन या दृष्टीनें त्यांच्या सर्व चरित्राशीं कसें सुसंगत ठरतें हें दर्शविण्याकरिताच आम्ही थोडासा विषयांतराचा दोषपतकरून या तहप्रकरणाची हकीगत इतकी विस्तार पूर्वक दिली आहे।

तहांतील कलमें आणि त्यांतून व्यक्त होणारें राजकीय धोरण याचा विचार करता महाराजांनीं संभाजी राजांच्या नावावर पांच हजार फौज घेऊन मोंगलांना विजापूर चा मुलूख घेण्यांत मदत करावी आणि तिच्या मोबदल्यांत त्यांना चौथसरदेशमुखीच्या नांवाखालीं मोंगली राज्यांत एक चतुर्थांश मालकी हक्क मिळावा एवढाच तात्पर्यार्थ शिल्लक राहतो। नोकरी आणि मालकीहक्क याची अशी ही सांगड घालण्यातच महाराजांचें अलौकिक बुद्धिकौशल्य प्रगट होतें। मोंगलांच्या नाशाकरिता महाराजांनीं हा एक राजकारणाचा सापळा तयार केला होता। सामान्य लोकांना महाराजांच्या नोकरीचें दूधमात्र दिसावें आणि दुधापाठीं मागें उभा असलेला त्यांचा मालकीहक्काचा बडगा मात्र सहसा कोणाच्याच लक्षांत येऊं नये अशी या कल्पनेत मोठीसोय होती। मोंगली राज्य त्यावेळीं अत्यंत बलसंपन्न होतें आणि पूर्वेस बंगाला पश्चिमेस कंदाहार, हिराल आणि उत्तरेस हिमालय दक्षिणेस नर्मदा नदी एवढया मोठया विस्तीर्ण भूप्रदेशावर तें राज्य पसरलें होतें। अशा बलाढय राष्ट्राशीं कायमच वैर न साधता नोकरी करण्याच्या मिषानें त्या राज्यांत प्रथम आपला स्थानमा मालकीहक्काचा चंचु प्रवेश करावा-मोंगल सुखासमाधानानें न ऐकतील तर जबरदस्ती करून आपल्या मालकी हक्काच्या नोकरीचें खोगीर त्यांचवर लादावेंपुढें पादशाही सत्ता जसजशी दुर्बल होत जाईल किंवा मराठी सत्ता जसजशी प्रबल होत जाईल त्या मानानें आपला

मालकीहक्कजास्त जास्त विस्तृत करून मोगली राज्य पादाक्रांत करावे-पादशाही नष्ट होई पर्यंत आपल्या नोकरीचा नम्र मुजरा पादशहाच्या डोळ्यासमोर सतत धरावा असे महाराजानी या प्रसंगी धोरण निश्चित केलें होतें। महाराजांचे हे धोरण त्यांच्या पश्चात सर्व मराठयानी पेशवाई अखेर पर्यंत चालविले आणि त्याधोरणाच्या बळावरच पुढे मराठयानी सर्व मोगली राज्य पादाक्रांत केले। महाराजांच्या हयातीत मात्र या धोरणाला व्यवस्थित आणि निश्चित स्वरूप प्राप्त झालें नाही। या राजकारणाच्या बोलण्यासाठीं महाराज पुढें जयसिंहाच्या मध्यस्थीने पातशहाच्या भेटीसाठी आग्र्यास गेले होते। तेथे औरंगजेबाच्या अवकृपेत सापडून ते कसे नजरकैदेत पडले आणि मिठाईच्या पेटाऱ्यांतून त्यानी कैदे तून कशी सुटका करून घेतली हा सर्व मजकूर इतिहास प्रसिद्धच आहे। कैदेतून मुक्त होतांच महाराजानी मोगलांस दिलेला मुलूख परत काबीज केला आणि मोगली मुलखावर स्वाऱ्या करकरून चौथ सरदेशमुखीचा वसूल जबरदस्तीने घेण्यास सुरवात केली। पुढे गोव्याचे फिरंगी आणि विजापूरचा आदिलशहा यांच्या मुलखांतूनही महाराज या हक्काचा वसूल सक्तीने घेऊ लागले।

स० १६८० साली महाराज कैलासवासी झाले। नतर सर्वदक्षिण काबीज करण्याकरितां औरंगजेब स्वतः एक लक्ष फौज घेऊन दक्षिणेत आला। मोगलानी पहिल्याच सपाट्यांत विजापूरची आदिलशाही आणि गोवळकोंड्याची कुतुबशाही ही दोनी मुसलमान राज्ये समूळ बुडविलीं। नतर ते मराठी राज्याच्या राशीला लागले। मराठे व मोंगल यांमधील हा घनघोर सग्राम सतत सत्तावीस वर्षे चालू होता। त्या युद्धांत शेवटी मोगलांचा पुरा मोड झाला आणि अपेशाने भग्नहृदय होत्साता औरंगजेब स० १७०७ साली औरंगाबादेस मृत्यु पावला। तो पातशाहा मराठयांचा कट्टा द्वेष्टा होता। त्याने मराठयांच्या चौथ सरदेशमुखीस उर्फ मालकी हक्काच्या नोकरीस कधीही मान्यता दिली नाही इतकेच नव्हे, तर तो मराठी राष्ट्राचे स्वतत्र राजकीय अस्तित्व सुद्धा कबूल करावयास तयार नव्हता। औरंजेबाच्या पश्चात् दिल्ली दरबारात बेबंदशाही माजली आणि मराठ्यानी हातपाय पसरण्यास सुरवात केली। गुजराथेत खंडेराव दाभाडे, वऱ्हाडांत परसोजी भोसले, खानदेशांत नेमाजी शिंदे, विजापूर प्रांती उदाजी चव्हाण, कर्नाटकांत सिदोजी घोरपडे असे अनेक मराठे सरदार जागजागी प्रबळ होऊन बसले। औरंगजेब मरून पुरती दहा वर्षे झालीं नाहीत तोंच मराठयानी नर्मदे अली कडील मोगली मुलखावर आपला चौथ सरदेशमुखीचा अंमल बसविला।

मराठ्यांची अशी जबरदस्ती पाहून जागोजागचे मोगल अमलदार त्यांच्या या हक्कास मान्यता देत परतु पातशाही सनदेशिवाय मराठ्यांच्या या आक्रमणास राजमान्यता येण्यासारखी नव्हती। मराठ्यांस ही राजमान्यता उर्फ पातशाही सनद मिळण्याचा सभव स० १७१८ पासून स्पष्ट दिसू लागला। त्यावेळीं फरुकशेयर पातशहा दिल्लीच्या सिंहासनावर होता आणि सय्यदबधु या नांवाने ओळखले जाणारे दोन उमराव त्याचे प्रधान होते। पातशहा आणि दरबारांतील इतर उमराव यांचे सय्यद बंधूशीं वितुष्ट होते आणि पातशहा तर त्यांचा नाश करण्या करिता संधीच पहात होता। सय्यद बधूनी मराठयाशी राजकारण केलें त्यावरून बाळा जी विश्वनाथ पेशवे हे शाहूछत्रपतीच्या आज्ञेवरून मोठी मराठी फौज बरोबर घेऊन दिल्लीस गेले आणि त्यानी दिल्ली-दरबारांत सय्यदबंधूंचे वर्चस्व पुनः प्रस्थापित केले। सय्यदानीं मराठयांच्या साहाय्यानें फरुकशेयर यास पदच्युत करून त्याच्या जागी महमदशहास गादीवर बसविले मराठ्यांच्या या कामगिरी बद्दल सय्यदानी स० १७१९ च्या मार्च महिन्यांत महंमदशहाकडूनमराठयांस स्वराज्य चौथ आणि सरदेशमुखी अशा तीन हक्कांच्या सनदा देवविल्या। स० १७१९ हे साल मराठीइतिहासांत सुवर्णाक्षरानी लिहून ठेवण्याइतके महत्वाचे आहे। स० १६६५ साली शिवाजी महाराजानीं जो राजकारणाचा डाव टाकला होता त्याचा पहिला हप्ता पुढे पन्नास वर्षानी पेशव्यांनीं या सनदा मिळवून मोंगलाकडून उगवून

घेतला । जिवंत राष्ट्रांत राजकीय धोरणाचा निश्चितपणा आणि एकसूत्रीपणा दिसून येतो त्याचें हें प्रत्यंतर होय । डाव टाकण्यांत ज्याप्रमाणें पहिल्या छत्रपतींचें म्हणजे शिवाजी महाराजांचें अलौकिक बुद्धिवैभव प्रत्ययास येतें त्याप्रमाणेंच त्या डावाचा पहिला हप्ता उगवून घेण्यांतही पहिल्या पेशव्याचें म्हणजे बाळाजी विश्वनाथ पेशव्याचें तसेंच अलोकिक बुद्धि-कौशल दिसून येतें । महाराज हे ज्याप्रमाणें मराठी राजकारणाचे जनक होत त्याप्रमाणेंच पेशवे हे मराठी राजकारणाचे संरक्षक होत । महाराजांनीं गुरुस्थानीं बसून मराठ्यांना थोडेसे राजकारणाचे मंत्र शिकविले आणि शिष्यांनी पुढें त्या मंत्राचा मननपूर्वक अभ्यास आणि तर्कशुद्ध आचार करून राजकारणांतील महत्पद प्राप्त करून घेतलें असें मराठी इतिहासावरून दिसून येतें । असो, स० १७१९ सालीं पातशाही सनदांमुळें मराठ्यांस काय मिळालें आणि मिळालेल्या हक्काचा पुढें मराठ्यांनीं स्वराज्यसंवर्धनाकडे कसा उपयोग करून घेतला हें आतां आधानचा सांगित-लें पाहिजे ।

स्वराज्याची सनद—औरंगजेब पातशहा मराठी राज्याचें स्वतंत्र राजकीय अस्तित्वसुद्धां मानावयास तयार नव्हता हें पूर्वी सांगितलेंच आहे । मोंगली दप्तरांत मराठी राज्याची औरंगाबाद सुभ्यांत आतांपर्यंत गणना केली जात असे । या स्वराज्याच्या सनदेनें मराठी राज्याचें राजकीय स्वातंत्र्य पातशहानें मान्य केलें एवढाच या सनदेचा राजकीय अर्थ आहे । या सनदेच्या व्यवहारांत प्रत्यक्ष मुलूख देण्याघेण्याचा कांहींच संबंध येत नव्हता । या सनदेंत उल्लेखिलेला मुलूख पूर्वीपासून मराठ्यांच्याच ताब्यांत होता । इतकेंच नव्हे, तर सनदेंत ज्याचा उल्लेख केलेला नव्हता असा पुष्कळच मुलूख मराठ्यांनी आगाऊच बळकाविला होता । इतर उन्नत्युन्मुख राष्ट्रांप्रमाणें मराठे लोक हा नवीन मुलूख जिंकतांना तो आपल्या स्वराज्यापैकीं आहे किंवा परराज्यापैकीं याचा विधिनिषेध कधींही बाळगीत नसत. स्वराज्याविषयीं मराठ्यांची कल्पना प्रारंभीं अगदींच संकुचित स्वरूपाची आणि अल्प प्रमाणावर होती । शहाजी राजे आणि शिवाजी महाराज यांनीं संपादन केलेल्या मुलुखासच मराठे लोक प्रारंभीं स्वराज्य समजत असत । या शिवकालीन स्वराज्यापैकीं सर्व मुलखाचा पातशाही सनदेंत उल्लेख केलेला नव्हता । सामान्यतः जव्हारपासून गोव्यापर्यंत कोंकणपट्टी आणि घाटमाथ्यावरील पुण्यापासून कऱ्हाड मानरागीपर्यंत मावळप्रांत आणि तुंगभद्रेच्या उत्तरतीरीं असलेले कोपळ, गदग वगैरे तालुके एवढ्याच मुलखाचा पातशाही सनदेंत समावेश केलेला होता । तुंगभद्रेपलीकडे शिरें, बाळापूर, हासकोटें, बिदनूर, बंगलोर, कोलार वगैरे फार मोठा मुलूख शहाजी राजांनीं मिळविला होता । तो मुलूख या वेळीं मोंगल किंवा मराठे यापैकीं कोणाच्याच प्रत्यक्ष ताब्यांत नव्हता पुढें हैदरअलीनें तो मुलूख जिंकून घेतला आणि मराठ्यांना हा शिवकालीन स्वराज्याचा भाग पुन्हा कधीं आपल्या ताब्यांत घेतां आला नाहीं । असो, स्वराज्याबरोबर चौथ सरदेशमुखीच्याही सनदा मिळाल्या त्यामुळें पेशव्यांनीं स्वराज्याची कल्पना पुष्कळच व्यापक बनविली । शिवछत्रपतींचा मुलूख आणि त्यांनीं मोंगलाकडे मागितलेला चौथ सरदेशमुखीचा हक्क यांस मराठे लोक यापुढें स्वराज्य म्हणूं लागले । मराठ्यांच्या स्वराज्याच्या कल्पनेंत या हक्कांचा समावेश झाला होता ही गोष्ट मराठी इतिहास वाचतांना नेहमीं लक्ष्यांत ठेवावी लागते । कारण जुन्या ऐतिहासिक पत्रव्यवहारांतून स्वराज्य आणि मोंगलाई असे शब्द येतात त्या ठिकाणीं स्वराज्याचा अर्थ चौथ सरदेशमुखीचा वसूल असाच नेहमीं घ्यावयाचा असतो । चौथ सरदेशमुखीच्या हक्कास म्हणजे मोंगली राज्यावरील चोथाई मालकीहक्कास आपल्या स्वराज्याच्या कल्पनेंत अंतर्भाव करण्यांत पेशव्यांच्या जयिष्णु राजकारणाचें मर्म सांठविलेलें आहे । स्वराज्याच्या या व्यापक कल्पनेप्रमाणें दक्षिणेंतील मोंगली मुलखावर स्वराज्य आणि मोंगलाई असे दोन अंमल पातशाही सनदांनीं यावेळीं प्रस्थापित झाले । याचा अर्थ असा कीं, परगणे कसब्या पुरते मराठी अंमलदार आणि पाऊणशे टक्क्यापुरते मोंगली अंमलदार असा दुहेरी अंमल मोंगली मुलखावर बसला ।

या प्रमाणें मराठे हे एका दृष्टीने पातशाही सत्तेत भागीदार होऊन बसले। ही भागीदारी केवळ कल्पनेतच न राहतां प्रत्यक्ष व्यवहारांत तिची अमलबजावणीहोऊ लागली आणि प्रत्येक प्रांताच्या राजकीय व्यवहारांत स्वराज्य आणि मोगलाई असा स्वतंत्र हिशेब कागदोपत्रीं होऊं लागला। एखादे बलिष्ठ सरकार उलथून पडण्याकरितां पाश्चात्य देशांतून हल्ली Parallel Government स्थापन करण्याची युक्ति निघाली आहे तिचाच एक सुंदर आणि व्यवस्थित नमुना त्यावेळी मराठयानी आगाऊच निर्माण केला होता असे स्पष्ट दिसते। एका म्यानांत दोन तरवारी ज्याप्रमाणे नांदू शकत नाहींत त्याप्रमाणेंच परस्परांच्या शत्रु स्थानी असणारी दोन सरकारे एका प्रांतांत एका वेळी नांदू शकत नाहीत हा इतिहासाचा अनुभव आहे। राजसत्ता हा कधी भागीदारीचा विषय होऊ शकत नाही। मराठयाना अशी भागीदारी देऊन पातशहाने आपल्याच हाताने मोगली राज्यास पुरण्याकरितां एक खड्डाच तयार करून ठेवला होता। कारण पातशाही सनदेने निर्माण झालेले हे दोन अमल हेच पुढे मोठे भांडणाचे मूळ होऊन बसले आणि त्या भांडणांत मोगली सत्तेचे हळू हळू उच्चाटण होत गेले। स्वराज्याची सनद मिळवून आणि स्वराज्याची कल्पना व्यापक करुन पेशव्यानी मोगली मुलखावर आपल्या Parallel Government च्या कल्पनेचे खोगीर ठेवले होते हे वरील विवेचनावरून वाचकांच्या आतां लक्षांत येईल।

चौथ सरदेश मुखीची सनद—दक्षिणेतील मोगली राज्याचे औरंगाबाद, वऱ्हाड, बेदर, विजापूर, हैदराबाद आणि खानदेश असे सहा सुभे होते। या सहाही सुभ्यावर चौथ सरदेशमुखी वसूल करण्याचा हक्क मराठयांस या पात शाही सनदेमुळे प्राप्त झाला या हक्कांच्या स्वरूपाचे विवेचन या पूर्वी करण्यांत आलेच आहे। पातशहाकडून सनदा मिळवितांना पेशव्यानी त्यांत एक कारस्थानीपणाची मेख मारून ठेविली होती ती मेख म्हणजे या हक्कांचा वसूल मराठयांनी तनख्याच्या उत्पन्नावर करावा असा त्यानी पातशाही सनदांतून उल्लेख करवून घेतला होता ही होय। तनखा हा शब्द जमाबंदी पैकी आहे। एखाद्या प्रांताचे वसुली उत्पन्न आणि तनख्याचे उत्पन्न यांच्या अर्थात महद्तर आहे। एखाद्या प्रांताचा आजमितीस जो प्रत्यक्ष वसूल येत असेल किंवा येण्यासारखा असेल तें त्या प्रांताचे वसूली उत्पन्न होय। एखाद्या प्रांताचा कधीकाळी जास्तीत जास्त वसूल आलेला सरकारी दप्तरांत नमूद असेल ते त्या प्रांताचे तनख्याचे उत्पन्न होय। या दृष्टीने एक लाख तनख्याच्या उत्पन्नाचा मुलूख आजमितीस कांही अस्मानी सुलतानी मुळे फक्त दहा हजार वसूली उत्पन्नाचा असू शकेल किंवा कदांचित् तो ओसाड मैदानही असू शकेल। त्या प्रांताचे वसुली उत्पन्न कितीही येवो सरकारी दप्तरांत मात्र त्या प्रांताचे तनख्याचे उत्पन्न एक लाख रुपयेच समजले जाते। असे मोंगलांच्या दक्षिणेतील सहा सुभ्यांचे तनख्याचे उत्पन्न अठरा कोट रुपये ठरविलेले होते। या अठरा कोटी पैकीं साडेचार कोट रुपये चौथाई आणि अठरा कोटीवर दहा टक्केप्रमाणे एक कोट ऐंशी लक्ष रुपये सरदेशमुखी एकूण सुमारे सव्वा सहा कोट रुपये मराठयांस या सनदामुळे मिळावयाचे होते। वस्तुतः मोगलांचा हा तनखा म्हणजे एक पोकळ आणि अगडबंब आकडेमोड होती। मोगलांच्या या सहा सुभ्यांत ज्याचा समावेश करण्यांत आला होता तो मुलूख आतांपर्यंत मोगलांच्या निर्वेधपणे कधीही ताब्यांत आलेला नव्हता त्यामुळे काहीं तरी ऐकीव माहिती जमेस धरून मोंगलानी हा तनखा ठरविलेला होता। सर्व मुलूख मोगलांच्या निर्वेधपणे ताब्यांत आला असता तरी सुद्धां या सहा सुभ्यांचे वसुली उत्पन्न अठरा कोट रुपये येण्यासारखे नव्हते। त्यांतून स० १६८० पासून पुढे चाळीस वर्षेपर्यंत दक्षिणेत मोंगल आणि मराठे यांमध्ये प्रचंड झगडा चालू होता प्रत्येक प्रांतांत दंगे, लूट आणि लटाया यांचें साम्राज्य पसरले होते—अशा लष्करांच्या पायमल्लीमुळे बहुतेक सर्व प्रांतउध्वस्त झाला होता त्यामुळे अठरा कोट रुपये तनख्याच्या या मोंगली मुलखांतून धड दोन कोट रुपये सुद्धांवसूल येण्यासारखा नव्हता। अशा स्थितीत मोंगलअंमलदारानीं या दोन कोटीतून मराठयांस सव्वा सहा कोट रुपये द्यावे कुठून

आणि मराठी अमलदारानी ते वसूल करावे कसे ? पातशाहानें वसुली उत्पन्नापैकीं मराठ्यांस चौथाई दिली असती तर हा घोटाळा झाला नसता। परंतु घोटाळा करण्याकरिताच पेशव्यानीं ही तनख्यावरील वसुलीहक्काची राजकारणाची मेख जाणून बुजून मारली होती। त्यामुळे मोंगली अमलदारांच्या दृष्टीनें ही चौथ सरदेशमुखीची सनद म्हणजे एक अशक्य सनद होऊन बसली। मोंगलानीं आपखुषीनें कितीही दिलें किंवा मराठ्यांनी जबरदस्तीन कितीही मिळविलें तरी शेवटीं मराठ्यांचीच बाकी मोंगल अमलदाराकडे निघावी अशी पेशव्यानीं सनदा मिळविताना आगाऊच सोय करून ठेविली होती।

मोंगली प्रांतांत मराठी अमलाचें उंटाच पिल्लू शिरणें ही गोष्ट स्वभावत च मोंगली सत्तेला नाशकारक होती। त्यातून मराठी पक्षास या तनख्यावरील वसूली हक्काची जोड मिळाल्यामुळे मराठ्याचें पारडें जास्तच जड झालें। पेशव्यानीं पुढें चौथसरदेशमुखीचा आपापसांत वाटणी केली तींतही त्याचें धूर्त आणि दूरदर्शी राजकीय धोरणच प्रत्ययास येतें चौथसरदेशमुखीमुळें पाऊणशे टक्के मोगलाई आणि पसतीस टक्के स्वराज्य अशी दक्षिणेंतील मोंगली उत्पन्नाची वाटणी झाली हे पूर्वी सांगितलेंच आहे। पाऊणशे टक्के मोंगलाईंत दोन वाटण्या होत्या। पन्नास टक्के जहागीर आणि पचवीस टक्के फौजदारी। जहागीरच्या उत्पन्नाची मालकी मोंगल पातशाहा कडे होती। फौजदारींचें उत्पन्न स्थानिक खर्च आणि बंदोबस्त यासाठीं राखून ठेवलेल असे। पेशव्यानीं स्वराज्याची वांटणी ठरविली ती अशी—सरदेशमुखी हे छत्रपतींचें वतन ठरविण्यात आलें। चौथाई पैकीं पचवीस टक्के राजबाबती, सहा टक्के साहोत्रा आणि तीन टक्के नाडगौडी असे आणखी तीन हक्क छत्रपतींना देण्यात आले। बाकीच्या सासष्ट टक्क्यांचा हक्क मोकासा या नावाखालीं निरनिराळ्या राजपथकी सरदाराना देण्यांत आला। उदा—एखाद्या प्रांताचा तनखा चारशे रुपये धरला तर सरदेशमुखीमुळें ते उत्पन्न चारशे चाळीस समजण्यात येत असे या चारशे चाळीस रु० ची पहिली वाटणी म्हणजे तीनशे रु० मोंगलाई आणि तनख्यापैकीं चौथाई शंभर रु० आणि तनख्यावरील सरदेशमुखी चाळीस एकूण एकशे चाळीस रु० स्वराज्य ही होय। मोंगलाई व स्वराज्य यांच्या पुढील वाटण्याचे कोष्टक असें मांडता येईल —

मोंगलाई		स्वराज्य	
२००	जहागीर	४०	सरदेशमुखी
१००	फौजदारी	२५	राजबाबती
३००		६	साहोत्रा
		३	नाडगौडी
		६६	मोकासा
		१४०	

मोंगलांची वांटणी मोठी असूनही तींत त्यांचे फक्त दोनच हक्कदार असत। मराठ्यांची वाटणी छोटी असूनही तींत पंरा त्यांनी पाच हक्कदार घातले होते। स्वराज्याच्या सदरखालील पहिले चार हक्क छत्रपतींचे होते। गांवचे दहा दहा गट पाडून आणि या चारी हक्कांबद्दल निरनिराळे अमलदार नेमून छत्रपती या हक्कांचा वसूल घेत असत। मोकासा ज्यांना वाटून दिलेला होता अशा राजपथकी सरदारांची संख्या तर शेकडों हजारोंनी मोजण्याइतकी मोठी होती। अशा या हक्कांच्या वांटण्या पाडण्यांत पेशव्याचा एक खोल राजकीय डाव होता। मोंगली मुलखांतून या हक्कांचा वसूल

सुवेगाने येणार नाही हे जाणून मराठी पक्षाचे मनुष्यबळ शक्य तेवढे वाढविण्याकरितांच पेशव्यानी हा सर्व खटाटोप केला होता। पेशव्यांच्या या व्यवस्थेमुळे कोणी छत्रपतीच्या एखाद्या हक्काचे अमलदार किंवा वतनदार या नात्याने तर कोणी मोकाशांत वांटणी असलेले सरदार या नात्याने अशा निरनिराळया नात्यानी महाराष्ट्रांतील बहुतेक सर्व कर्तृत्ववान माणसांचे हितसंबध हक्कांच्या प्रकरणांत गुंतले गेले आणि राजकीयदृष्टया स्वार्थ आणि परमार्थ यांचा उत्कृष्ट मिलाफ होऊन मोगलाशी लढण्याचा प्रसग पडला म्हणजे हजारो मराठे एका निशाणाखालीं आपोआपच जमू लागले। पेशव्यानी नुस्त्या राष्ट्राभिमानाच्या कल्पनेवरच विशेषशी भिस्त न ठेवतां व्यवहारिक दृष्टीने हजारों मराठयांचे हितसबंध या हक्कांच्या वसुलीत गुंतविले त्यामुळे मराठी पक्षास यापुढे मनुष्यबलाची कधीही वाण पडली नाही।

शिवाजी महाराजानी मोगली राज्यांत दुहेरी अमलाचा चचुप्रवेश करण्याची कल्पना काढली त्यावेळी ती अगदीच ओबड धोबड स्वरूपाची होती। मोगल सरकार त्यावेळी जबरदस्त होते त्यामुळे या कल्पनेस विशेष से व्यवस्थित मूर्त स्वरुप येण्याचा त्यावेळीं फारसा संभव नव्हता। पुढे मोगली राज्याची उतरती कळा लक्षांत घेऊन पेशव्यानी या कल्पनेस व्यवस्थित मूर्त स्वरुप दिले आणि तनख्यावरील वसुली हक्काची जोड देऊन आणि सर्वांचे हित सबध या कल्पनेत गुतविले जावेत या दृष्टीने या हक्कांचे क्षेत्र जास्तीत जास्त व्यापक करुन हा चौथ सरदेश मुखीचा हक्क म्हणजे एक राजकीय शस्त्रच बनविले। हक्कांची मांडणी करताना पेशव्यानी अशी सोय तीत करुन ठेविली होती की जीमुळे मोगलाचे हातपाय सर्व बाजूनी आपोआपच बांधले जावेत आणि मराठयांचे हातपाय सर्व बाजूनी आपोआपच पसरले जावेत। मूळ कल्पना जशी अपूर्व होती त्याप्रमाणेच पुढे तिची मांडणीही अपूर्वच करण्यात आली। या दृष्टीने या कल्पनेचे मूळ जनक शिवाजी महाराज आणि संस्थापक बाळाजी विश्वनाथ पेशवे या दोघांच्याही बुद्धीची करामात सारखीच प्रत्ययास येते आणि क्षणभर असा संदेह उत्पन्न होतो की, या बाबतीत गुरुची करामत अधीक का शिष्याची करामत अधीक। शिवाजी महाराजांसारखे राजकारणाचे गुरु जसे विरळा त्याप्रमाणेच बाळाजी विश्वनाथासारखे शिष्यही विरळाच होत आणि म्हणूनच चौथ सरदेश मुखीच्या बाबतीत पहिले छत्रपति आणि भट घराण्यापैकी पहिले पेशवे ही गुरुशिष्यांची जोडी मराठी इतिहासांत अजरामर होऊन बसली आहे।

बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानी या पातशाही सनदा मिळवून मराठी इतिहासास निराळे वळण लाविले आणि त्यानीं पुढे या हक्काची व्यवस्थित आणि व्यापक मांडणी केली त्यामुळे मराठयांच्या कर्तृत्वास भरपूर वाव सापडला। आतांपर्यंत मराठी सत्ता सह्याद्रीच्या दुर्गम पठारांतून किंवा कर्नाटकांतील ओसाड आणि निर्जल प्रदेशांतूनच वावरत होती। राजसत्तेचे खरे सुख आणि वैभव मराठयानी आतांपर्यंत अनुभविले नव्हते। इतकेच नव्हे, तर पाहिलेसुद्धा नव्हते। पेशव्यांच्या या कामगिरीमुळे मराठी राजकारणाने यापुढे दक्षिणेकडे पाठ करून उत्तर हिंदुस्थानाकडे तोड वळविले। त्या प्रांतांतील अनेक विलासानी संपन्न असलेले पातशाही राजवाडे, अनेक सुख साधनानीं सपन्न असलेली मोठमोठीं शहरे, धनधान्याने सपन्न असलेले मोठमोठाले भूप्रदेश हे सर्व मराठी राजकारणाच्या यापुढे सतत दृष्टीसमोर दिसू लागले मराठयाची स्वराज्याची कल्पना यापुढे सह्याद्रीच्या पठारांपुरतीच मर्यादित न राहतां तिनें यापुढे विराट रुप धारण करून पूर्वेस बगाल्यापासून पश्चिमेस कंदाहार—हिरात पर्यंत मजल गांठली। उद्योगास क्षेत्र मिळाले म्हणजे उद्योग करणारी माणसे आपोआपच निर्माण होतात। मराठी माधुमन आणि शिवाजी महाराज यांच्या लोकोत्तर शिकवणीवरून महाराष्ट्रांत नवजीवनाचा सचार आमूलाग्र झाला

होता आणि महाराष्ट्राकडे जिकडे तिकडे उत्साह आणि पराक्रम यांचे पाट जागजागीं फुटले होते। नदी मुखानें समुद्रात प्रवेश करावा त्याप्रमाणें चौथसरदेशमुखीच्या रूपानें मराठ्यांची पातशाही राजकारणात प्रवेश झाला त्यानंतर या नवजीवनाच्या शक्तीस नवीन क्षेत्र मिळालें आणि हजारों नवीन नवीन माणसें निर्माण होऊन त्यांनीं हां हां म्हणता सर्व मोगली राज्य ग्रासून टाकलें। मराठी इतिहासातील या महत्त्वाच्या स्थित्यंतराचें सर्व श्रेय बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानाच दिलें पाहिजे।

चौथ सरदेशमुखी या विषयाचें तात्त्विक विवेचन हाच या लेखाचा मुख्य विषय आम्ही कल्पिलेला आहे। आणि त्या दृष्टीनें या हक्काचें स्वरूप आणि त्यातील राजकारणाचे धागेदोरे याचेच द्योतक विवेचन आम्हीं आतापर्यंत केलें आहे। एकदा या हक्काचें स्वरूप आणि मांडणी निश्चित झाल्यावर व्यावहारिक दृष्टीनें त्या कल्पनेचा विस्तार कसकसा होत गेला या माहितीचा समावेश या लहानशा लेखात होण्याजोगा नाहीं। कारण चौथ सरदेशमुखीचा विस्तार आणि स० १७२० पुढील मराठी राज्याचा इतिहास या गोष्टी परस्परांहून फारशा भिन्न नाहींत तथापि या कल्पनेचा पुढील विस्तार लक्षात घेतल्याशिवाय वाचकांना या विषयाचें महत्त्व नीटपणें अजमाविता येणार नाहीं। सबब विषयाच्या पूर्ततेसाठीं त्या दृष्टीनें आम्ही थोडीशी माहिती येथें संक्षेपानें नमूद करतो।

बाळाजी विश्वनाथानीं पातशाही सनदा मिळविल्या त्यात दक्षिणेत मराठी अमलाचें वर्चस्व प्रस्थापित करावें हाच त्याचा प्रधान हेतु होता। परंतु या हक्काचें स्वरूप आणि मांडणी या गोष्टी मुळातच अशा स्वरूपाच्या होत्या कीं, प्रत्यक्ष प्राणावर बेतल्याशिवाय कोणताही मोंगल सुभेदार त्या कबूल करावयास तयार नव्हता। त्यावेळीं निजामुन्मुल्क नावाचा दक्षिणेंत मोंगल सुभेदार होता। हा निजामुन्मुल्क आणि त्याचा मुलगा निजामअल्ली यांचा मराठी इतिहासाशीं निकटचा संबंध येतो। हे पितापुत्र स० १७२० पासून स० १८०३ पर्यंत दक्षिणेंत मोंगल सुभेदार होते आणि त्यांनीं त्या मुदतींत पहिल्या बाळाजी विश्वनाथापासून शेवटच्या रावबाजीपर्यंत सातीं पेशव्यांच्या कारकीर्दी पाहिल्या। दोघेही धोरणी मुत्सद्दी आणि पराक्रमी सरदार होते त्यामुळें त्यांजवर या हक्काचा अंमल जारीनें ठेवताना पेशव्यांना बहुत प्रयत्न करावा लागला। मराठे व निजाम यामधील हा लढा स० १७२० पासून स० १७६० पर्यंत विशेष जोरानें चालू होता। त्या मुदतींत मराठ्यांनीं निजामावर वेळोवेळ स्वाऱ्या करून आणि नाना प्रकारचे करार करून दक्षिणेंतील अनेक मोंगली मुलूख जिंकून घेतला। स० १७६० पुढेंही निजामास मराठ्यांचा बहुत त्रास सोसावा लागला शेवटीं निजामानें या त्रासास कंटाळून इंग्रजांचा आश्रय केला त्यामुळें त्याचा बचाव होऊन 'निजामाचें राज्य' या जुन्या नांवाखालीं मोंगलाईचा थोडासा अवशेष अजूनही दक्षिणेंत शिल्लक राहिला आहे।

बाळाजी विश्वनाथानीं पातशाही सनदा मिळविल्या त्यावेळीं माळवा आणि गुजराथ या प्रांतांची चौथ सरदेशमुखी मराठ्यांस देण्याचें पातशहा आणि सय्यदबंधु यांनीं कबूल केलें होतें। या बाबतींत बोलणें करण्यासाठीं पेशव्यांनीं देवराव हिंगणे नांवाचा वकील आपल्या पाठीमागें दिल्लीत ठेविला होता। पुढें दिल्लीत सय्यदबंधूंचें उच्चाटण झालें त्यामुळें त्यावेळीं या प्रांतावरच्या पातशाही सनदा मराठ्यांस मिळू शकल्या नाहींत। परंतु बाजीराव पुढें निघताना मराठे पातशाही सनदांना थोडेच महत्त्व देत होते। पहिल्यानें मुलूख प्रथम काबीज करावा आणि नंतर त्याबद्दल साधेल तेव्हां आणि साधेल तशा पातशाही सनदा मिळवाव्या असा मराठ्यांचा नेहमीचा पायंडा पडलेला होता। त्याप्रमाणें स० १७२० पूर्वींच मराठ्यांनीं अनेक गुजराथ प्रांत आणि माळवा व्यापून टाकला होता। पुढें दक्षिणेकरिता पातशाही सनदा मिळाल्यावर मराठे माळवा प्रांतांत शिरले आणि स० १७२४ पासून स० १७२९ पर्यंत अवघ्या आठ वर्षांत राजा गिरिधर आणि दयाबहादर हे दोन मोंगल

सुभेदार बुडवून मराठ्यानी त्या प्रांताचा पूर्णपणें कबजा मिळविला। स० १७३३।३४ सालीं मराठ्यांचा बुंदेलखंडांत अमल बसला। या प्रमाणे दिल्लीच्या मार्गावरील माळवा आणि बुंदेलखंड हे दोन प्रांत मराठी अमलाखालीं आल्यावर मल्हारराव होळकर, राणोजी शिंदे, उदाजी पवार, नारोशंकर राजेबहादुर, विठ्ठल शिवदेव विंचूरकर, अंताजी माणकेश्वर, गोविंदपंत बुंदेला वगैरे मराठे सरदारानीं स० १७३४ पासून पुढें तीन वर्षे पर्यंत राजपुताना, जाठवाडा, खेचीवाडा, आहिरवाडा, अयोध्या, दुआब, अंतर्वेदी वगैरे दिल्ली सभोवतालच्या प्रांतांतून स्वाऱ्या चालवाल्यून मोठी धूम उडविली आणि तीमुळें जागोजागचे मोंगल सुभेदार आणि मोंगली रयत यांची पांचावर धारण बसली। बाजी-राव पेशव्यानी तर स० १७३७ साली खुद्द दिल्ली प्रांतावर स्वारी केली आणि पातशाही फौजेस कुकांड्या देत देत पेशव्यांची स्वारी मार्च महिन्यांत एकेदिवशी दिल्लीच्या वेशीजवळ उभी राहिली तेव्हां तर पातशहा आणि पातशाही उमराव यांची भीतीने चोवडीच वळली। पातशहाने पूर्वी कबूल केल्याप्रमाणे सनदा द्याव्यात या हेतूनेच मराठ्यानी ही सर्व भालेराई चालविली होती।

चौथ सरदेशमुखीची दुसरी सनदः—मराठ्यांचा हा त्रास चुकविण्या करितां पातशहाने स० १७४३ साली जुलै महिन्यांत मराठ्यांस चौथ सरदेशमुखीची दुसरी सनद दिली। या सनदेवरून माळवा, नर्मदा व चम्बल या नद्यामधील मुलूख या प्रांताचा दुतर्फा अमल मराठ्याकडे आला। म्हणजे मोंगलाई आणि स्वराज्य असे दोनी अंमल या प्रांतापुरते मराठ्यांस या सनदे मुळे प्राप्त झाले। शिवाय बाकीच्या पातशाही मुलखांतूनही चौथ सरदेशमुखी वसूल करण्याचा हक्क या सनदेत पातशहाने मराठ्यांस दिला। सारांश या दुसऱ्या सनदेने दिल्लीची मोंगल पातशाही मराठ्यांच्या सर्वस्वीं आहारी सांपडली ही गोष्ट उत्तरेकडील तमाम राजेरजवाडे आणि अमीर उमराव यांस समजून चुकली।

या प्रमाणे नर्मदेपलीकडे मराठी सत्तेची अपूर्व भरभराट होत चाललेली पाहून रजपूत व जाठ राजे. अंतर्वेदी व दुआब प्रांतातील रोहिले व पठाण सरदार आणि दिल्ली प्रांतातील मोगलिये हे सर्व पातशहा विरुद्ध खळवळले। विशेषत: रोहिले पठाणानीं तर पातशहा विरुद्ध बडच पुकारले। अयोध्येचा नबाब सफदरजंग हा त्यावेळी पातशहाचा वजीर होता आणि निजामुल्मुलूखाचा नातू गाझीउद्दीन हा सेनापति होता। या दोघांचेही मराठ्याशी चांगले सख्य होते। पातशहा, वजीर व सेनापति या तिघानीही हे पठाणाचे बंड मोडण्याकरितां आपली शिकस्त करून पाहिली परंतु त्या प्रयत्नांत त्याना यश आले नाही। दिवसेंदिवस हा रोहिले—पठाणांचा पक्ष प्रबल होत चालला। नजीबखान रोहिला नांवचा एक पाताळयंत्री सरदार या पक्षाचा मुख्य सूत्रधार होता। त्याने सूत्रे खेळवून सर्व उत्तर हिंदुस्थान मराठ्यांविरुद्ध उठविले। त्याच्याच प्रेरणे वरून काबूलचा अहमदशहा अबदाली याने पातशाही मुलखावर स्वाऱ्या शुरू केल्या। पुढे पुढे तर या नजीबखानाने पातशहाची सावत्र आई मलका जमानी बेगम आणि वजीर सफदरजंग यांसही आपल्या पक्षाकडे वळविले।

चौथ सरदेशमुखीची तिसरी व शेवटची सनदः—या प्रमाणे काबूल कंदाहारपासून प्रयागापर्यंत सर्वत्र बंडाचा वणवा उठलेला पाहतांच गाझीउद्दीन याच्या सल्ल्यावरून पातशहाने मराठ्यास तिसरी चौथसरदेशमुखीची सनद दिली। या नवीन सनदेने मुलतान, पंजाब, ठट्टा, सिंध, अंतर्वेदी, रोहिलखंड आणि रजपुताना एवढ्या विस्तीर्ण प्रदेशावरील चौथाईचा हक्क मराठ्यांस प्राप्त झाला। अहमदशहा अबदाली, रोहिले—पठाण सरदार, रजपूत राजे आणि सिंधचे अमीर याना तंबी पोचवून मराठ्यानी पातशाहीचे संरक्षण करावे ही मुख्य अट पातशहानें या सनदेत घातली होती। मराठ्यानीं ही अट पतकरली आणि पातशहास आपल्या संरक्षणाखालीं घेतले। याप्रमाणे

सर्व पातशाही मुलखावर मराठी अमल प्रस्थापित करण्याचा सुयोग मराठ्यास आता दिसू लागला। या सनदे प्रमाणे पाहिलें तर दिल्ली शेजारचा पाच पन्नास मैलाचा टापू आणि शहानशहा ही भपकेबाज पदवी एवढेंच वैभव आता दुर्दैवी दिल्लीच्या पातशहाजवळ शिल्लक राहिले होते। पातशहाकडून ही तिसरी सनद स० १७५० सालीं मराठ्यास प्राप्त झाली।

या सनदेमुळे मोंगल पातशाहीचें डोईजड ओझें मराठ्यानी डोक्यावर घेतलें ते मात्र त्याना नीट्से पेपता आलें नाही आणि त्या उद्योगात मराठे आणि रोहिले—पठाण याचें हाडवैर जुपलें। ही सनद हातां पडताच स० १७५१ सालाजयाजी शिंदे आणि मल्हारराव होळकर यानीं दुआबात शिरुन एकाच स्वारींत साठ सत्तर हजार रोहिले-पठाणाची फोज उडविली। रघुनाथराव पेशव्यानांही स० १७५४, ५५ साली आणि १७५७, ५८ सालीं अशा उत्तरप्रातां दोन स्वाऱ्या केल्या पहिल्या स्वारीत मराठ्यानां रजपूत व जाठ राजे आणि अतर्वेदीतील पठाण सरदार याना नरम केले, दुसऱ्या स्वारीत तर मराठ्यानी अफगाणिस्थाना पर्यंत मजल गाठून अटके पर्यंत भगवा झेंडा नाचविला। याप्रमाणे मराठ्यांच्या स्वाऱ्या चालू होत्या तरी त्यांच्या विशेषसा उपयोग होत नसे। कारण मराठे स्वारीहून परत दक्षिणेत येतात तोंच त्यांच्या पाठोपाठ अबदालीही दिल्ली प्रातात येत असे आणि मराठ्यानी केलल्या सर्व कार्याचा विध्वस करीत असे। अबदालाचा हा त्रास चुकविण्याकरिता स० १७५७ सालीं दत्ता जी शिंदे साठ सत्तर हजार फोज बरोबर घेऊन पजाब आणि अतर्वेदी या प्रातात गेले। या स्वारांत अफगाण, रोहिले आणि पठाण यानीं एकजूट करून शिंद्याचा मोड केला आणि दिल्लीशेजारां बदाऊ घाटावर उभयपक्षात मोठी लढाइ झाली तींत दत्ता जी शिंदे आणि हजारों मराठे याचा शत्रूकडून कत्तल झाली। शिंद्यान्च्या या स्वारीचे अपेश धुवून काढण्या करितां सदाशिवराव पेशवे एक लाख फोज बरोबर घेऊन स० १७६० साली दिल्लीप्रांती दाखल झाले। पेशव्याची ही स्वारी 'पानिपतची मोहीम' या नावानें मराठी इतिहासात प्रसिद्ध आहे। या मोहिमेंतही मराठ्याना भयंकर अपेश आलें आणि बहुतेक मराठी फौज या स्वारात गारद झाली।

याप्रमाणें मोंगल पातशाही ताब्यात घेण्याच्या प्रयत्नात मराठ्याना द्रव्य आणि मनुष्यबल याची भयंकर हानी सोसावी लागली तथापि चिकाटी धरून त्यानीं हातीं घेतलेला उद्योग सोडला नाहीं। माधवराव पेशव्यांच्या कारकार्दीत स० १७६९, ७० साली रामचन्द्र गणेश कानडे आणि विसाजी कृष्ण विनीवाले हे दोने सरदार पन्नास साठ हजार फौज घेऊन पुन दिल्ली प्रातां आले आणि शहाआलम याची तख्तावर स्थापना करून त्यानां दिल्ली दरबार हातीं घेतलें। मराठ्याचें ह दिल्लीवरील वर्चस्व फार दिवस राहिले नाहीं कारण स० १७७३ सालां दक्षिणेंत नारायणराव पेशव्याचा खून झाला आणि पुढे मराठ मंडळात गृहकलहाची यादवी माजला त्यामुळें मराठ्याना दिल्लीतून आपोआपच पाय काढून घ्यावा लागला मराठ्यातील हा गृहकलह स० १७८२ सालां समाप्त झाला आणि लागलीच महादजी शिंद्यानां ही दिल्लाची मसलत पुन हातीं घेतली। शिंद्यानी आठ दहा वर्ष सक्त मेहनत करून दिल्ली प्रांतातील रोहिले—पठाण सरदाराचा असा बीमोड करून टाकला कीं, मराठ्याना विरोध करण्यास यापुढें त्यापैकीं कोणी शिल्लकच राहिला नाहीं। शिंद्यान्च्या या पराक्रमामुळें मराठ विरुद्ध रोहिल पठाण या तंटयाचा कायमचा निकाल लागला आणि पातशहा मराठ्यान्च्या कायमचा हातीं सापडला। शिवाजी महाराजानीं स० १६६५ साला जो राजकारणाचा डाव मांडला होता तो पुढें सवाशें वर्षानी महादजी शिंद्यानीं याप्रमाणें सिद्धीस नेला त्यामुळें मराठी इतिहासात त्याचें नाव चिरस्मरणीय होऊन राहिले आहे।

वरील विवेचना वरून मराठी राज्याच्या वाढीत चौथसरदेशमुखीच्या कल्पनेचा केवढा मोठा संबंध होता हे आतां वाचकान्च्या लक्षांत येइल। या विवेचनावरुन आणखीही एक गोष्ट स्पष्ट होते। ती अशी कीं, राजकारणात महत्त्व प्राप्त

करून घ्यावयाचे तर मुत्सद्याची बुद्धि आणि वीरांची तरवार याचा पूर्णपणे मिलाफ व्हावा लागतो। मुत्सद्यांच्या बुद्धीची करामत केवढीही मोठी असली तरी तिचा अमल मनगटाच्या भरवशावरच असतो। व्यवहारांत त्या करामतीची अमलबजावणी नेहमी मनगटाच्या जोरावरच करावी लागते। मराठयांची बुद्धि जशी व्यापक आणि पल्लेदार होती त्याप्रमाणेच त्यांचे मनगटही तसेच बळकट आणि खंबीर होते आणि त्यामुळे च सह्याद्रीच्या पठारांतून वावरणाऱ्या कंगाल मराठयाना स्वराज्य आणि स्वधर्म यांचा उद्धार करून हिंदुपदपातशाही स्थापन करतां आली। चौथ सरदेशमुखीचे आम्ही आतांपर्यंत विवेचन केले आहे त्यावरून मराठे केवळ लुटारू होते—त्यांच्या हालचालींत शिस्त नव्हती—त्यांना राजकीय धोरण माहीतच नव्हते—त्यांच्यांत माणुसकीचा गंधसुद्धां नव्हता—मराठी राज्य म्हणजे वस्तुस्थितीच्या ओघांतील एक वाऱ्याचा फुगारा—तो आपोआपच वाढला आणि आपोआपच फुटला—अशा प्रकारची विधाने मुसलमान आणि इंग्रज इतिहासकारानी लिहून ठेविली आहेत ती किती द्वेषमूलक असत्य आणि खोटी आहेत हेही वाचकास दिसून येईल। सतराव्या आणि अठराव्या शतकांत मराठयानी स्वराज्याचा झगडा चालविला होता तो सर्व हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत केवळ अपूर्व होता आणि त्या झगडयांत स्वराज्य आणि स्वधर्म यासाठी ज्यानी देह झिजविले आणि प्रसंगी प्राणसुध्दां अर्पण केले त्या पुण्यात्म्याना जेवढे धन्योद्गार यावेत तेवढे थोडेच ठरणार आहेत।

चौथ सरदेशमुखीच्या कल्पनेत नोकरी आणि मालकीहक्क यांची जी मुळांत सांगड घालण्यांत आली आणि त्या कल्पनेची पुढें जी मांडणी करण्यात आली त्याला तोड दुसऱ्या कोणत्याही इतिहासांत सांपडत नाही राजकारणांत असली ही अघटित घटना घडवून आणण्याचा पहिला मान मराठी इतिहासानेच पटकावला आहे आणि त्या गोष्टीतच शिवछत्रपति आणि बाळाजी विश्वनाथ पेशवे यांच्या बुद्धिवैभवानें अपूर्वत्व मांडविलेलें आहे। पुढे हिन्दुस्थानचे राज्य जिंकताना इंग्रजानी मराठयांच्या या चौथसरदेशमुखीची नक्कल अंमलांत आणलेली दिसून येते। इंग्रजानी पुढे या नांवाखाली ही कल्पना अमलांत आणून अनेक लहान मोठी राज्ये घशांत टाकलीं। या कल्पनेला पगारी मैत्री असे नांव देतां येईल। मराठयानीं मालकीहक्काची नोकरी करतां करतां साम्राज्य उभारले तर इंग्रजानीं पुढे पगारी मैत्री करतां करतां सर्व हिन्दुस्थान जिकले। मराठयांची चौथ सरदेशमुखी उर्फ मालकी हक्काची नोकरी आणि इंग्रजांची पगारी मैत्री या दोनी कल्पनांतून मूलभूत तत्व, साध्य आणि साधनें या दृष्टीने विलक्षण साम्य आहे। मराठयांची मूळ कल्पना जास्त व्यापक आणि गुंतागुंतीची होती। इंग्रजानी नक्कल करताना कल्पनेचा व्यापकपणा बहुतांशीं कायम ठेवला आणि गुंतागुंत मात्र बरीच कमी केली। इंग्रज व मराठे यांच्या राजनीतींत मात्र बराच फरक दृष्टीस पडतो। इंग्रज हे व्यापारी होते त्यामुळे त्यांची ही पगारी मैत्री म्हणजे केवळ एक ताकापुरते रामायण होतें। फायद्याचा प्रसंग दिसला म्हणजे ते मैत्रीच्या जोरावर हात पुढें करीत आणि नुकसानीचा प्रसग दिसला म्हणजे मात्र ते मैत्री गुडाळून ठेवून खाका वर करीत। निजामाने इंग्रजाशी ही मैत्री केली परंतु खडर्याचे लढाईत इंग्रजानी त्याला तोंडघशी पाडले। रजपूत राजानी ही पगारी मैत्री पतकरली परतु नुकसानीचा प्रसंग पडतांच लॉर्ड कार्नवालिस याने वचन भंग करून त्या रजपूत राजाना शिंदे होळकरांच्या भक्ष्यस्थानी खुशाल सोडून दिले। अयोध्येचा नबाब सुजाउद्दौला याने या पगारी मैत्रीचा आश्रय केला परन्तु पुढे सुजाचा मुलगा असफउद्दौला याच्या हातीं भिकेची झोळी देऊन आणि सुजाची बायको व आई यांची द्रव्यासाठी बेअब्रू करून वॉरन हेस्टिंग्सने या मैत्रीचें चीज कसें करून दाखविले हे इतिहास प्रसिद्ध च आहे। सारांश, इंग्रजांच्या पगारी मैत्रींत अंत:करणाचा ओलावा नव्हता। मराठे हे राजे होते त्यामुळे त्यांच्या राजनीतीत जास्त सौजन्य दिसून येते। त्यानी शत्रु ताब्यांत सांपडला असतां त्याची विटंबना केली नही किंवा मैत्रीच्या मिषानें त्यांनी कोणाची वंचना केली नाहीं। मराठयानी नोकरी करताना

आपना प्रामाणिकपणाही कधीं सोडला नाही। मोंगल रियासतींतील मुसलमान उमरावानींच दिल्लीच्या मुसलमान पादशहाची वेळोवेळ अप्रतिष्ठा करण्यात पुढाकार घेतल्याच दिसून येतें। सय्यदबंधूनी फरुक्शेयर पातशहाचा खून केला गाजीउद्दीन वजीरानें अहमदशहा आणि अलमगीर या दोन पातशहाचे पाठोपाठ खून केले। गुलाम कादराने तर शहाआलम पातशहाचे डोळे काढून आणि पातशाही बेगमावर अत्याचार करुन पातशाही राजवाडयात नंगा नाचच घातला। मराठे हे पातशहाचे शत्रु असताही त्यानी पातशहा पदाची कधी अप्रतिष्ठा केली नाही। उलट पातशहाचे अनूसाठी मराठयानी अनेक हालअपेष्टा आणि नुकसानें सोसली आणि पानिपताचा दुर्धर प्रसंग आपल्या राष्ट्रावर ओढवून घेतला। या सर्व गोष्टी लक्षात घेता इंग्रजान्च्या पगारी मैत्रीपेक्षा मराठयाची मालकीहक्काची नोकरी जास्त प्रामाणिक स्वरूपाची होती असें स्पष्ट म्हणावे लागतें।

पंडित गौरीशंकर ओझा याचा इतिहासाचा व्यासंग दांडगा आहे। मराठी इतिहासापैकीं या महत्वाच्या विषयावर आमचे विचार प्रदर्शित करून आम्ही पंडितजींची एक नम्र सेवा केली आहे। पंडितजीन्च्या वयाला सत्तर वर्षे पुरीं झालीं असताही त्याचा उद्योग अजून अखंड चालू आहे। दीर्घायुष्य आणि दीर्घोद्योग याचा असा हा मेळ कचितच दृष्टीस पडतो। पंडित महाशयाना दिवसेदिवस आयुरारोग्य लाभो आणि त्यान्च्या हातून उत्तरोत्तर वाङ्मयसेवा घडो असें चिंतून आम्ही हा लेख पुरा करता।

हिंदुस्थानचा लष्करी इतिहास

जनरल नानासाहेब शिंदे, बडोदा

वैदिककाळीं आर्य लोक हिंदुस्थानांत आले त्यावेळीं ते हिंदुस्थानातील अनार्य लोकापेक्षा, युद्धकलेमध्ये व शस्त्रास्त्रात जास्त निष्णात होते, हे कबूल करावें लागतें। त्यावेळीं चारी वर्णाची स्थापना झालेली नव्हती। लढाई करीत ते क्षत्रिय, व देवताची पूजाअर्चा करीत ते ब्राह्मण, अशी त्यावेळी समाजाची रचना होती। हिंदुस्थानातील रानटी लोकास घोडयाची माहिती नव्हती

वैदिक काल

आर्य लोकांबरोबर दधिक्रा म्हणजे घोडे होते, व त्या घोडयावर बसून अगर रथात बसून ते लढत असत, त्यामुळें पायदळापेक्षा त्याचा वेग जास्त असला पाहिजे। त्यास भिऊन अनार्य लोक पराभव पावत व पळून जात असत। अनार्य लोकान्च्या तुमरया तीरकमठयोपेक्षा आर्यलोकाचीं लढाईचीं हत्यारे जास्त सुधारलेलीं होतीं। बाण, तीर, तूणीर, ढाल तरवार, भाला, परशु वगैरे हत्यारें आर्यलोक लढान्त वापरीत असत। याशिवाय दुष्मनान्च्या तीरापासून शरीराचे रक्षण करण्याकरिता चिलखत व शिरस्त्राणही वापरण्यात येत असे। दुष्मनावरजास्त वगानें व जोराचा हल्ला करण्याकरितां घोडयाचा व रथाचा उपयोग केला जात असे। त्यान्च्या बाणास हरणाची अणकुचीदार शिंगें अगर लोखंडाचीं पातीं लावलेलीं असत। त्याप्रमाणें आर्यलोक जुटीनें शत्रूशीं लढत असत। या कारणानें या मूठभर आर्य लोकानीं अनार्यलोकाचा लढाईत पराभव करून, त्यान्च्या मुलखात आपली कायमची वसाहत करून तेथें लहान लहान राज्यें स्थापन केलीं। त्यागमीन रायफल असलेली व शिस्त शिकलेली शंभर शिपायाची एक

कंपनी, ठासण्याच्या बंदुका असलेल्या चीन शिस्तीच्या हजार लोकांसही भारी असते, असा अर्वाचीन युद्धकलेचा अनुभव आहे । यावरून ज्यांची शस्त्रास्त्रे उत्तम व शिस्त चांगली, ते लढाईंत विजयी होणार हा नियम सिद्ध होतो ।

भारतीय युद्ध

२ भारतीय युद्धाचे वेळीं भरतभूमीचे लष्करी वैभव अगदी शिखरास पोचलें होते, व युद्ध कलाशास्त्र अगदी पूर्णत्वास गेले होते, असे म्हटले असता अतिशयोक्ती होणार नाहीं । परंतु मोठ्या दुःखाची गोष्ट ही आहे की, ह्या युद्धकलेचा उपयोग स्वतःच्या कुळाचा व इतर क्षत्रिय कुळांचा संहार करण्याकडेसच करण्यांत आला। राष्ट्रवृद्धि करण्याकडेस ह्या कलेचा उपयोग झाला नाहीं । त्याकाळीं सुद्धां लढाईचे काम मुख्यतः क्षत्रिय वर्गासच करावे लागत असे । घोडदळ, पायदळ, हत्ती व रथ असे फौजेचे मुख्य चार भाग असत । ह्याशिवाय ट्रान्सपोर्ट. नौका, हेर, इंटेलिजन्स डिपार्टमेन्ट (शत्रूंची माहिती ठेवणारे खाते) अशी चार निरनिराळी खाती होती । ही फौजेची रचना व व्यवस्था अर्वाचीन काळच्या अगदी सुधारलेल्या फौजेप्रमाणेच होती । तोफखान्याचे काम रथ करीत असत । विमानाची कलाही त्यावेळीं माहित होती व तिचा उपयोग द्वारकेच्या वेढ्यांत करण्यांत आला होता । विमानातून बाँबच्या ऐवजीं त्यावेळी दगड व बाण फेकण्यात येत असत । तोफांचा उपयोग किल्यावरून करण्यात येत असे, असे वर्णन आहे । परंतु त्यावेळीं तोफेची व बंदुकीची दारू माहित होती की नाहीं याबद्दल संशय आहे । त्यावेळच्या तोफा म्हणजे दगडी गोळे फेकण्याची विशिष्ट प्रकारची एका तऱ्हेची यंत्रे होती असे मानण्यांत येते । बंदुकीचे काम धनुष्यबाण करीत असत ।आर्यलोकांनीं ही कला फार उन्नतीला नेली होती । बाणाचा पल्ला एका मैलपर्यंत जात असे । हत्तींची योजनाही लढाईंत करण्याची चाल होती, परंतु या गजसेनेपासून कधी कधी स्वपक्षाचेही नुकसान होत असे । मंत्रविद्येचाही उपयोग लढाईंत करण्यांत येत असे । परंतु हल्लींच्या सुधारलेल्या विसाव्या शतकांत, ह्या मंत्रविद्येस कोणी महत्व देईल कीं काय ह्याचा संशयच आहे । अशक्य कोटीतच या विद्येची गणना हल्ली करण्यांत येईल ।

भारतीय युद्धाच्या कालीं फौजेची रचना

३ कंपनी, बटालियन, ब्रिगेड, डिव्हीजन, आर्मीकोर वगैरे हल्लींच्या सुधारलेल्या फौजे प्रमाणें त्यावेळच्या फौजेची रचना होती व तीवर हल्ली प्रमाणेच निर निराळ्या दर्जाचे अंमलदार नेमण्यांत येत असत । निरनिराळ्या प्रकारची, शत्रुसंहार करण्यांची हत्यारे वापरण्यांत येत असत । प्रत्येक राजाजवळ कांहीं ठराविक खडी फौज असे । सक्तीची लष्करी नोकरी त्यावेळी अमलांत नव्हती । फौजेस वेळेवर पगार देण्यांत येत असे ।

भारतीय युद्धाची हल्लींच्या महायुद्धा बरोबर तुलना

४ किल्याला वेढा पडला म्हणजे कशी व्यवस्था करण्यातयेत असे, ह्याचे द्वारकेच्या वेढ्यांत फारच चांगले वर्णन केले आहे । हल्लींच्या महायुद्धांतील लीज, नामूर, अँटवर्प वगैरे प्रसिद्ध किल्यांचे वेढे असेच होते । त्यावेळीं धर्मयुद्ध करण्याकरितां फार सक्तीचे नियम करण्यांत आले होते, ते हल्लींच्या सुधारलेल्या राष्ट्रांच्या नियमासारखेच होते । या नियमास जर्मनीने जसे सध्याच्या महायुद्धांत धाब्यावर बसविले, तसे त्यावेळी कोणी केल्यास, त्यास फार हीन मानीत असत । लढाईच्या वेळी निरनिराळे व्यूह करण्यात येत असत । हल्लीही घोडदळ, पायदळ व तोफखाना कसा लढवावा याजबद्दल निरनिराळे व्यूह ठरलेले आहेत लढाईला उत्तम वर्षा काळ कोणता व लढाई कोणत्या जाग्यावर द्यावी ह्याजबद्दलही नियम ठरविलेले असत। फौजेच्या तळावर धासदाण्याचा, हत्याराचा वगैरे पुरवठा करण्यांत येत असे । जखमा बांधण्याकरितां शस्त्रवैद्यही बरोबर असत । लेबरकोर (मजूर) चे लोकही बरोबर ठेवीत असत। भारतीय युद्धांत एकदर ६६ लक्षांवर लोक मारले गेले असे स्त्रीपर्वांत म्हटले आहे । हल्लींच्या महायु-

द्धात इतके लोक एकसमयावच्छेदेकरून मारले गेले नाहीत, म्हणून आजपर्यंतच्या सर्व युद्धात भारतीय युद्ध महायुद्ध ठरलें। भारतीय युद्ध फक्त १८ दिवसच चाललें होतें, परंतु हल्लीचे युद्ध चार वर्षांवर चाललें होते। भारतीय फौजेला उभें राहण्यास जितकी जागा लागली असेल तितक्या टापूतच हें युद्ध झाले, परंतु हल्लींच्या युद्धाच्या रणांगणाची रुंदी पांचशें मैलांच्या वर होती। हल्लींच्या महायुद्धातील सेनापति पिछाडीस मागें असे व त्याला तरवारही चाळवावी लागत नसे, परंतु भारतीय युद्धाच्या सेनापतीस स्वतः मनुष्यप्राण घेऊन रोज लढावें लागत असे। हल्लींच्या सेनापतीस हातातील शस्त्रापेक्षां स्वतःच्या डोक्याचाच फार उपयोग करावा लागतो। लढाईच्या प्रदेशाचे नकाशे, तारायंत्रें, टेलिफोन, विमानें, वगैरेंच्या साह्याने हल्लींच्या सेनापतीस शेकडो मैलांच्या अंतरावरून लढाई चालवावी लागते। ही सुधारणा भारतीय युद्धाच्या वेळी नव्हती। बाकी इतर गोष्टींत भारतीय युद्धाच्या वेळीं हिंदुस्थानातील युद्धकलाशास्त्र व शिस्त हल्ली प्रमाणेंच होती असें म्हटलें असतां अतिशयोक्ति होणार नाही। फौजेची रचना, घटना व व्यवस्था अगदी सुधारलेल्या पाश्चिमात्य राष्ट्राप्रमाणें होती। या युद्धांत सामील झालेल्या १८ अक्षौहिणी सैन्यापैकी फक्त १० इसम जिवंत राहिले, बाकीची सर्व फौज ठार झाली। अठरा दिवसांत इतका मोठा मनुष्य संहार झाल्याचें जगाच्या इतिहासात एकही उदाहरण सांपडणार नाहीं। हें महायुद्ध म्हणजे क्षत्रिय कुलाचा—लढवय्याचा निःपात असेंच म्हणावें लागतें।

बौद्ध व पौराणिक काल

८ बौद्ध व पौराणिक काळामध्यें लष्कराची रचना, व्यवस्था व शिक्षण सुधारण्याकडेस राजे लोकांचे फारसें लक्ष होतें असें दिसत नाहीं। पूर्वी जें चालत आलें होते, तेंच चालू ठेवण्यांत आलें। बौद्ध व हिंदु धर्माच्या भांडणा मध्यें राजे लोकांचा बहुतेक काळ जात होता असें दिसतें। आर्य लोक या काळांत मनुष्याच्या उंची इतकें मोठें धनुष्य वापरीत होते। तीन हात लांबीची तरवार दोन्ही हातांत धरून मारण्यांत येत असे। घोडेस्वाराजवळ दोन भाले असत, त्याचा उपयोग ते एकदम कसा करीत असत हें समजणें कठीण आहे। घोड्याच्या तोंडांत लोखंडी लगाम न देता नुसती ओंठाळीं देऊन ते लोक घोड्यावर बसत असत। धावण्याच्या वेळी हे घोडे त्यांच्या काबूंत कसे रहात असत हें नवल आहे. अफगणिस्तानामध्यें ह्या प्रमाणेंच अद्याप अरब लोक घोड्यावर बसतात, व एका लगामीच्या इशाऱ्यानें ते आपल्या घोड्यास वाटेल त्या ठिकाणीं उभा करितात अगर वळवितात। हे लोक घोड्यावर बसण्याच्या कामांत फार पटाईत म्हणून ह्यांची ख्याती आहे। लढाईच्या वेळीं शत्रूस्त्र्यास उभयपक्षांकडून कोणत्याही प्रकारचा त्रास पोंचत नसे, चंद्रगुप्ताच्या वेळीं फौजेच्या सहा भागांची देखरेख तीस अमलदारांचें कौन्सील नेमून त्याच्या मार्फतीने ठेवण्यांत येत असे। अशोक राजापासून "अहिंसा परमो धर्म" हें बौद्धधर्मांचें आस्तित्व अमलांत आल्यानें बहुतेक लढाया बंद पडल्या। अर्थात लष्कराचें महत्वही कमी झालें। लष्करी उन्नतिपेक्षां आत्मिक उन्नतीकडे सर्वांचें लक्ष लागलें। उत्तर हिंदुस्थानांत प्रख्यात राजा हर्षवर्धन हा झाला। या चक्रवर्ती राजानें ३५ वर्षेपर्यंत लढाया सुरू ठेवून सर्व उत्तरहिंदुस्थान एक छत्राखालीं आणिलें। ह्यानें आपल्याजवळ फार मोठी खडी फौज ठेविली होती, रथाचा लढाईत उपयोग होत नसे, म्हणून ह्या राजानें रथ ठेवण्याचें प्रथम बंद केलें। मनुनें लढाईसंबंधी बरीच माहिती आपल्या ग्रंथांतून दिलेली आहे। किल्ले कसे असावे, त्यांचा बंदोबस्त कसा करावा, लढाई कोणत्या ऋतूंत सुरू करावी। लढाईमध्यें फौजेची मांडणी कशी करावी, दुष्मनाच्या फौजेंत फंदफितूर कसा करावा वगैरे बद्दलचीं ठाकठोक धोरणें त्यानें नमूद केलेलीं आहेत। या काळांत निरनिराळ्या प्रकारचीं मनुष्यसंहारक हत्यारें वापरण्यांत येत असत। परन्तु बंदुकीच्या दारूचा शोध लागला

होता असे दिसून येत नाही। अग्निअस्त्र विश्वकर्म्यानें शोधून काढीलें म्हणून म्हटलें आहे, परन्तु तें अस्त्र म्हणजे दारूचे फेकण्याचे बाण असावेत असें वाटतें।

६ महमुदाच्या वेळची हिंदुस्थानची स्थिति मात्र शोचनीय दिसते। अनेक प्रसंगी रजपूत राजे एकत्र होऊन महमुदाशी लढण्यास आले त्यांच्या फौजेची संख्या अगणित होती। असे असतां एकाही प्रसंगीं त्यांस यश मिळालें नाही। युद्धाची शिस्त अगाऊ ठरवून ठेवणें हें जें युद्धकलेचें महत्त्व, तें हिंदु लोकांनी कधीही पाळिलें नाही। अनेक प्रसंगीं जयप्राप्ती होण्याच्या अगदी बेत गर्दीत, सेनापति

हिंदु राजांचा काल

पडला अगर त्यास हत्तीवेऊन पळाला, किंवा निशाण दिसेनासें झालें, की हिंदु फौज भयभीत होऊन समर सोडून पळून जाई। महमुदानें परमेश्वराची आराधना करावी म्हणजे जय ठेविलेला असें त्याचें लोकांस वाटे, पण शौर्यवीर्यादि गुणांमध्यें पुरातन काळापासून नावाजलेल्या रजपूत लोकांच्या हातून, महमुदाच्या यःकश्चित फौजेचा मोड एकदांही होऊ नये हें मोठें नवल आहे। एकदरीत हिंदु राज्यांचा वृद्धापकाळ झाला होता, लोकांचे शौर्याचे व पराक्रमांचे दिवस गेले होते, कोण आला व कोण गेला याची चाड राहिलेली नव्हती। अंगांतील सत्व निघून गेल्यामुळे जुजुमास्तव हातपाय हालवावे, अशांतली त्यांची स्थिति झाली होती। ह्याच्या उलट महमुदाची स्थिति होती। महमुदाचे राज्यास नुकता आरंभ झालेला; मुसलमानी धर्माची भरभराटी. परदेशीं गेल्या शिवाय स्वदेशी राहून काम भागणारें नव्हतें। तेव्हां अर्थात मुसलमानांचा तीव्र वेग वृद्ध हिंदूंस सहन झाला नाही।

७ त्या वेळच्या मानानें रजपुतांचे युद्धकलेचें ज्ञान परिपूर्ण नसून, त्यांनी नवीन युक्त्या किंवा नवीन पद्धति स्वीकारल्या नाहीत। ते जुन्यांचाच आश्रय धरून राहिले। शस्त्रास्त्रांच्या व युद्धकौशल्याच्या बाबतींत ते मुसलमानांहून फार मागे होते। युक्तीचा किंवा काव्याचा ते आश्रय करीत नसत। युद्धाच्या वेळीं ऐन प्रसंगी ते आळशी राहत। हेर पाठवून शत्रूच्या हालचालींची बातमी आणून त्यांजवर नजर ठेवणे, रात्रीचे छापेघालणे, हुलकावणी दाखवून शत्रूस पेचांत आणणे, असल्या गोष्टींचा त्यांनी अवलंब केला नाही; तसेच अनेक बारीक बाबतींची तजवीज अगाऊ लावून ठेवणे जरूर असते। आयत्यावेळीं विपरीत प्रकार झाल्यास त्याच्या प्रतिकाराचा विचार अगाऊ ठरवून ठेवावा लागतो। हे काम हिंदू राजांनी केल्याचे दिसत नाही। त्यांच्या फौजांत सर्व प्रकारचा गोंधळ व अव्यवस्था असे। गज्नवी महमूद, महमद घोरी, अल्लाउद्दीन खिलजी, तयमूरलंग, बाबर, हे सर्व कसलेले योद्धे असून तत्कालीन युद्धकलेत पूर्णपणे वाकब होते। त्यांच्या तोडीचा एक ही पुरुष हिंदूंच्या बाजूस दिसून आला नाही। रजपूतांचे युद्धकलेचे ज्ञान हजारो वर्षांचे जीर्ण झालेले होते। आपसातल्या युद्धांत त्यांस त्या ज्ञानाचा कितीही उपयोग होत असला, तरी परकीयाशी त्यांचा सामना झाल्याबरोबर ते फिके पडले। युद्धकलेचा तरी बारबार अनुभव पाहिजे। बाह्य जगाशी वरचेवर युद्धप्रसंग येऊन राष्ट्र कसत गेले पाहिजे। तसे प्रसंग हिंदु लोकांस पूर्वीं फार दिवस आले नसल्याने, मुसलमानाशी त्यांची एकदम गांठ पडली तेव्हां त्यांचा निभाव लागला नाही।

नवीन युद्धकलेचा रजपुतां मध्ये अभाव होता

८ युद्धकले संबंधी आणखी दुसरा एक मुद्दा असा आहे कीं. रजपुतांनी केवळ स्वसंरक्षणापुरताच विचार पाहिला, आपण होऊन शत्रूवर स्वाऱ्या करून त्यांस त्यांच्या मुलखात जेरीस आणण्याचा प्रयत्नच कोणी केला नाही। संरक्षणात्मक व अभिघातात्मक अशी युद्धाची दोन अंगे आहेत। एकदा युद्ध सुरू झाल्यावर जरूरी प्रमाणें ह्या दोन ही अंगाचा अवलंब करावा लागतो। शत्रूच्या मूळठिकाणावर प्रहार केल्याशिवाय त्याचा निःपात होत नाही। गज्नवी महमूद किंवा

रजपुतांची युद्धकला संरक्षणात्मक होती।

महमद घोरी ज्याप्रमाणें हिंदुस्थानावर स्वाऱ्या करीत होते, त्याचप्रमाणें जयपाळ किंवा पृथ्वीराज यांनीं अफगाणिस्तानावर स्वाऱ्या केल्या पाहिजे होत्या। त्यांनीं पुष्कळदा मोठमोठे जमाव करून मुसलमानांशीं टक्कर मारली, पण किल्ल्याचा आश्रय करून ते शत्रूंच्या हल्ल्याची वाट पहात स्वस्थ बसत। अशा पद्धतीनें मुसलमानांचा नुकसान होणारें नव्हतें। त्याचा पराभव झाला, तरी डोंगरापलीकडील त्यांचें स्वतःचें राज्य सुरक्षित असे। हिंदुस्थानांत इस्लामांनी आपली राज्यस्थापना ज्या पद्धतीवर केली, तीचें उदाहरण प्रस्तुत विवेचन करितांना ध्यानांत ठेवण्याजोगें आहे।

रासो ग्रंथ काय सांगतो

९ ह्या काळीं आमच्या रजपूत क्षत्रियांची कशी दुर्दशा झाली होती, हे समजण्यास तत्कालीन रासो ग्रंथ फार उपयोगी पडतील। विशेषतः चंद भाटाचा ग्रंथ विस्तृत व वाचनीय आहे। निरनिराळ्या राजघराण्यांतील परस्पर वैमनस्यें, पैशाच्या लोभानें मुसलमान शत्रूस बातमी पोचविणाऱ्या राष्ट्रद्रोही लोकांमुळे सुळसुळाट, रजपूत फौजांची अव्यवस्थित रचना, शत्रूकडील बातमी मिळविण्याविषयीं आळस, त्या वीर पुरुषांनीं केलेली हयगय, जातिभेदाच्या व्यवस्थेमुळे फक्त क्षत्रियांवरच पडलेला युद्धाचा सर्व बोजा, आणि इतर वर्गांच्या ठिकाणीं असलेली स्वदेश संरक्षणाविषयीं अनास्था, इत्यादि कारणांमुळेंच इतक्या दूर असलेल्या गझनी मुसलमानांचा शिरकाव हिंदुस्थानांत कसकसा झाला त्याची कल्पना ह्या रासो ग्रंथावरून पटणारी आहे। येथील शेतकरी व कामकरी कामकरी वर्ग इतक्या निरुत्साहावस्थेत पडला होता कीं, ब्राह्मणांस व क्षत्रियांस ते शत्रुसमान समजत, आणि त्यांच्या जाचणुकीतून सुटका होईल तर बरी असे त्यांस वाटूं लागलें होतें अशा स्थितीत मुसलमानांशीं लढण्याची सर्व भिस्त केवळ क्षत्रिय वर्गावर पडली, आणि ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र हे वर्ग अलिप्त राहिले। त्यांस युद्धशिक्षण व शस्त्रास्त्रांचा उपयोग ठाऊक नव्हता। "देशाचें काहीं का होईना, कसा तरी आपला बचाव झाला म्हणजे बस" एवढीच भावना ब्राह्मणांच्या ठिकाणीं राहिली होती वैश्यांना द्रव्यार्जनाच्या नादीं लागून आपला धनसंचय राष्ट्ररक्षणास दिला नाहीं शूद्रांस तर परचक्राच्या आगमनानें आनंद वाटला। आपसांतील वैमनस्याचा सूड घेण्याकरितां जयचंद राठोड वगैरे क्षत्रिय राजांनीं पाठवळ मुसलमानांस दिलें। कनोजच्या फौजेंत मुसलमानांची भरणा होता। पृथ्वीराजाच्या हालचालींच्या सविस्तर बातम्या महमद घोरीस जयचंदाकडून समजत होत्या।

रजपुतांनीं 'क्षात्र धर्म' कधीं टाकिलें नाहीं

१० पूर्वापार चालत आलेले रजपुतांचे युद्ध संप्रदाय व शौर्याचीं बिरुदावली मर्यादा अनेक वेळां त्यांसच बाधक झाले आहेत। असे संकेत लढणाऱ्या दोन्ही पक्षांनीं पाळिले, तरच त्यांचा हेतु सफल होतो। नाहीतर एकाच्यानेच पाळिले असतां ते पाळणारास बाधक होतात। उदाहरणार्थ, समरांगणीं पराभव झाला असतां शत्रूस पाठ दाखवून परत यावयाचें नाहीं अथवा शरण आलेल्या शत्रूचा पारिपत्य करावयाचें नाहीं, हे रजपुतांचे सर्व प्राचीनकाळीं त्यांस कितीही सन्मान्य वाटले, तरी मुसलमानांशीं लढण्यांत त्यांपासून रजपुतांचें नुकसान झालें आहे हे जयपाळ पृथ्वीराज इत्यादि यांच्या गोष्टींवरून व्यक्त होऊं लागलें होतें असें वाटतें। त्यावेळीं त्यांस जर पूर्वापार चालत आलेल्या संप्रदायाचा त्याग केला असता, तर पुढील भयंकर प्रसंग त्यांवर आले नसते। एकवार पराभव झाला असतां माघार घेतल्यानें अव्यवस्थित फौजेस परत आणून, पुन्हां सज्ज करून तत्काल आपण लढण्यास तयार असल्याचें शत्रूस दिसावें, हें साधून रजपुतांनीं आपल्या सन्मान्य संकेतांस अनुसरून प्रसंगीं सापळ्यामुळेंची चाल करून भागनिर्धार साधला असता तर किती बरें झालें असतें। पहिला पाठ घेतला असतां पुढील लढ्यांत दक्ष राहून कावेबाजपणानें शत्रूस जिंकण्याचा उपाय मार्ग आरंभीं आरंभीं तरी रजपुतांनीं स्वीकारिला नाहीं। उदाहरण म्हणून पाहिलें तर, तराईं प्रकारचा सामना

वाला असेल तरच फायदेशीर होते, नाहीं तर प्रसंग पडेल शीच तजवीज ठेवणें भाग आहे। रणजितसिंगाचा सेनापति हरिसिंग ललवा याने अफगाणिस्तानांत गोमांसाचे, डुकराचे मांस कसे करून दाखविले याजबद्दलची हकीकत शीखलोकांच्या प्रकरणांत दिलेली आहे। त्याप्रमाणें जशास तसें वर्तन ठेवल्याशिवाय अशा कार्मी निभावणूक नसते।

११ आरंभीच्या शंभर दीडशे वर्षांत विजयनगरच्या राजांची सत्ता व ऐश्वर्य बहामनी राज्याच्या मानानें फारच मोठें होते। पण ह्या हिंदु राज्याच्या पायास न्याय व नीति ह्यांचा भर नव्हता पुष्कळसा धनसंचय करून ऐषआराम व चैन करावी, इकडेच बहुतेक राजांची व दरबारी मंडळीची विशेष प्रवृत्ति होती। सभोंवारची परिस्थिति ओळखून तदनुसार आपली राजव्यवस्था करण्यास लागणारी उदार व उन्नतर दृष्टि राजकर्त्यांपैकी कोणाच्याच ठायी असलेली दिसत नाहीं। बहुतेक राजे विषयी व छीलपट होते। त्यांचे लक्ष सदा चैन करण्याकडे असे। प्रांतिक कामदारांस नेहमी असे हुकूम दिलेले असत कीं, कोठेही सुंदर किंवा विशेष देखणी मुलगी आढळून आली कीं, लगेच तीच्या आईबापांच्या संमतीने ती राजाकडे पाठवून द्यावी. हा प्रघात राज्यात विशेष जाचक झाला असेल हे सांगणे नकोच। राज्यांतील बन्याचशा व लढायांवबहुतेक भानगडी अशा स्त्रीविषयक कारणानीं उद्भवलेल्या होत्या बायकामुलांची मानहानि सहन करण्यापेक्षां लढूत जीव गेलेला बरा, अशा प्रकारची उत्तरेतील रजपुतांची उच्च भावना, दक्षिणेतील ह्या राजांच्या मनास कधी शिवली नाहीं। पुष्कळसें द्रव्य दिलें म्हणजे आपणांस पाहिजे ती गोष्ट अनुकूल करून घेतां येईल, अशीच त्यांची नेहमी समजूत होती।

विजयनगरच्या राजाची स्थिति

१२ शीख फौजेची शिस्त व लष्करी तयारी रणजितसिंगाच्या वेळी कंपनी सरकारच्या फौजेसारखीच्या होती। पायदळाचे खरे महत्व ह्यास चांगले समजले होते। यूरोपियन अमलदार नेमून आपल्या फौजेस ह्याने नवीन तऱ्हेचें लष्करी शिक्षण दिले होते। इंग्रज सरकारची दोस्ती ठेवण्यांतच आपल्या राज्याची बळकटी आहे, हे रणजितसिंगास पक्के माहित होते। महाराजा रणजितसिंग मरण पावतांच फौजेत गोंधळ सुरू झाला। युरोपियन अमलदारांस फौजेतून कमी करण्यांत आले। पराक्रमी, करारी व धोरणी राजा अगर सेनापति नसल्ययाने फौज शिरजोर झाली। इतक्या उदयास आलेली शीख फौज, पुढे चांगल्या राजाच्या व सेनापतीच्या अभावी बेलगामी झाली। कोणाचा पायपोस कोणाच्या पायांत राहिला नाहीं। राजवाड्यांत चालू असलेल्या नीतिमत्तेच्या अभावाचा परिणामही शीख फौजेवर झाला। महाराजा रणजितसिंगाने स्थापन केलेले शीख लोकांचे राज्य फौजेच्या बेहुकमीपणामुळेच लयास गेले। शीख शिपाई उत्तम लढवय्या, ह्याची जाणीव कंपनी सरकारास होती म्हणून शीखाचे राज्य खालसा करतांच शीख लोकांस आपल्या फौजेत त्यांनी दाखल केलें। तयार असलेल्या साधनांचा इंग्रजांस पुढे फार फायदा झाला। रणजीतसिंगाने केलेल्या प्रयत्नाचे फळ इंग्रजांस मिळाले। इंग्रजी फौजेमध्यें शीख शिपायांची गणना उत्तम लढवय्यांत करण्यांत येत असते। बेलगामी शीख शिपाई इंग्रजी फौजेत शिस्तीचा दास बनला। सर्व अकलेचे काम।

शीख शिपाई

१३ हिंदुस्थानांत मुसलमानाचे राज्य, गुलामवंशांतील कुत्बुद्दीन ह्याने प्रथम स्थापन केले व दिल्ली ही त्याने आप राजधानी केली। गुलामवंशानतर खिलजी घराणे दिल्लीच्या तख्तावर आले। या घराण्यांत अल्लाउद्दीन खिलजी, हा प्रख्यात व शूर सुलतान झाला। ह्याने देवगिरीच्या लुटीत मिळविलेल्या द्रव्याचा उपयोग आपल्या फौजेची सुधारणा करण्याकडेस केला। मोगलांच्या स्वारीस टक्कर देऊन त्याने त्यांस पळवयांस लाविले। पद्मिनीकरितां ह्याने चितोडगडास वेढा घालून चितोडगड घेतला, परतु पद्मिनी मात्र मिळाली नाही। दिल्ली येथे ह्याने एक मोठा किल्ला बांधला।

मोगल बादशहाशिवाय इतर मुसलमान राजांचा काल।

मोगलांच्या स्वारीपासून हा पुष्कळ अक्कल शिकला। नवीन तोफा ओतण्याचा व हत्यारं तयार करण्याचा कारखाना ह्याने सुरु केला। फौजेचे पगार कायम केले, व धान्याचे भावही नक्की ठरवून दिले होते। खिलजी घराण्यानंतर तुघलख घराणे दिल्लीच्या तख्तावर आले। या घराण्यातील "अचाट कल्पनांचा" बादशहा महमद तुघलख हा प्रसिद्ध आहे। चीनवर स्वारी करण्याकरिता ह्याने एक लाख फौज पाठविली होती, परंतु त्यापैकी फक्त १० इसमच परत आले, तसेंच तुर्कस्थान व इराण जिंकण्याकरिता याने मोठी फौज तयार केली होती। ह्याच्या पदरीं नऊ लाख घोडदळ होतें असे म्हणतात। तुर्की घोडदळाचे घोड उत्तम जातीवंत होते। फौजेची हजरी बादशहा स्वतः घेई, व, सर्व फौजेस पगार सरकारी तिजारीतून मिळत असे। तुघलख घराण्यानंतर दुसरे बादशहा झाले, परंतु ते सर्व दुर्बल होते। दक्षिणेमध्ये मुसलमानांचें बहामनी राज्य उदयास आलें। ह्या सुलतानाजवळ फार मोठी खडी फौज रहात असे। फौजेस पगार इंग्रजी फौजेच्या पगारपेक्षा जास्त मिळत असे। गुजराथमध्येंही महमद बेगडा व बहादुरशहा हे फार शूर सुलतान झाले। गुजराथच्या सुलतानाच्या फौजेंत ढाल, दोन तरवारी, खंजीर, गदा व तुर्की तीरकमठे बापरीत असत। शिपाई लोक अंगात चिलखतें अगर कापूस घालून शिवलेले जाड कोट घालीत असत। ह्या सुलतानां जवळ उत्कृष्ट तोफखाना होता व तोफा ओतण्याचा कारखानाही होता। दक्षिणेमध्यें बहामनी सुलतानानंतर हैदरअल्ली व टिपू सुलतान हे प्रख्यात मुसलमान राजे झाले। हैदरअल्लीनें क्वायती फौज ठेविली होती, व त्याच्या मुलानें ह्या फौजेची फारच सुधारणा केली होती। त्यानी आपल्या फौजेंत फ्रेंच अमलदार नोकरीस ठेविले होते। ह्यांच्या लढाईच्या युक्त्या फारच सुधारलेल्या होत्या। टिपू सुलतानने परेड क्वायतीचें एक पुस्तक तयार केलें होते। क्वायतीचे फ्रेंच शब्द बदलून ते पर्शियन व तुर्की केले होते। तोफा ओतण्याचा कारखानाही काढिला होता। हिंदुस्थानातील इतर राजाप्रमाणें तरवारीवर व भाल्यावर भिस्त ठेवणारा टिपू सुलतान नव्हता तोफाचेंत। बंदुकाचें खरे महत्व त्यास समजलें होतें। त्याच्या तोफखान्यात हाविट्झर जातीची ताफही होती। तीन नळी व तीन नळी बंदुकाही त्याचा कारखान्यात तयार होत असत। बंदुकीची गोळी आरपार जाऊ नये अशा प्रकारच्या ढालीही तयार करण्यात येत असत।

१४ मोगल बादशहानी युद्धकला हिंदुस्थानात ऊर्जित दशेस आणिली। पूर्वी चे हिंदु राजे सेनाचे मालक होते, पण नायक नव्हते। लाखो लोकाची फौज व्यवस्थितपणें वागवून व तिजवर हुकमत चालवून काम घेणे, ही गोष्ट मोगल बादशहानींच केली। खरें युद्धकलानैपुण्य दाखविण्याचे प्रसंग बादशहांसच आले। बहुधा प्रत्येक बाबतात मोगल लष्कराची व्यवस्था परिपूर्ण होती। लष्कराच्या सोयीचे रस्तेही सर्व देशभर मोगलानीच बांधीले, तसेच शहरासभोंवती मजबूद तटबंदी करून बंदोबस्त करण्याची पद्धत, जरी पूर्वी येथें ठाऊक असली, तरी ती तत्कालीन सुधारणानां परिपूर्ण करण्याचें काम मोगलानींच केलें। आग्रा, दिल्ली, अहमदाबाद, सुरत, लाहोर, अलाहाबाद इत्यादि वाटेल तितक्या शहराची उदाहरणें ह्यासंबंधां देता येतील। मोगल बादशहाच्या वेळां घोडेस्वाराचे माहात्म्य वाढून, पायदळ फौज निकामी ठरली। हिंदुस्थानांत प्रथम तोफांच्या उपयोग बाबरनें केला। मुसलमान लोकास तोफांच्या व बंदुकीच्या दारूची माहिती झालेली होती। ह्यांच्या लष्कराची शिस्त फारच उत्तम होती। शिपायाप्रमाणे हाही बंदीवाऱ्यात पडून रहात असे। त्याने आपल्या फौजेस उच्च प्रतीचें लष्करी शिक्षण देऊन तयार केले होतें। अकबर बादशहानें लष्करची रचना व व्यवस्था फारच उत्तम रीतीनें ठेविली। बादशाही फौजेमध्यें मुसलमानाची व रजपुताची, असा दोन्ही जातीच्या फौजा होत्या। बादशाही मनसबदारी मध्यें व उमरावामध्य दोन्ही जातीचे लोक होते। रजपूत राजेलोकाशीं शरीर संबंध करून, त्यास त्यानां आपलेसें केलें होतें। शिपायापासून मनसबदारा पर्यंत सर्वांचे पगार नक्की करण्यात आले होते। मोठमोठाया

मोगल रियासतीचा काल

मनसबदारांस जहागिरी देण्याची पद्धत याच बादशहाने सुरू केली। अशा जहागिरी रजपूत मनसबदारांस फार देण्यांत येत असत। कित्येक मुसलमान मनसबदारासही जहागिरी देण्यात येत असत। या जहागिरींच्या पद्धतीनेंच मनसबदार पुढे बलाढ्य झाले, व मोगल बादशाहीच्याउत्तरत्या काळांत स्वतंत्र झाले। फौजेंतील सर्व घोड्यांस बादशाही डाग देण्यांत येत असे। मानाच्या पदव्या देण्याची चाल मोगल बादशाहीच्या वेळीं अमलांत होती। घोडदळ, पायदळ व तोफखाना. ह्याप्रमाणे फौजेचे तीन प्रकार होते। तरी लढाइमध्ये सर्व भिस्त घोडदळावरच असे। घोडदळाचा मान पायदळांपेक्षा फार होता। या तिन्ही प्रकारच्या फौजेमध्ये हल्ली प्रमाणे रेजिमेंट ब्रिगेड, डिव्हीजन असे ठरीव भाग नव्हते। मनसबदार लोक खोटी हजरी दाखवून पगार उपटीत असत। तोफा तयार करण्याचा कारखाना अकबर बादशहा- ने ठेविला होता। पुढे पुढे फ्रेंच, पोर्तुगीज वगैरे लोकांकडून सुद्धां तोफा विकत घेण्यात येत असत। तोफांस बहुतकरून बैलांच्या जोड्या जोडीत असत। कांही हलक्या तोफा असत त्यांस घोडे जोडीत असत।

मोगलफौजेचे लष्करी शिक्षण

१५ प्रथम सुरवातीस लढाइमध्ये हत्तीचा उपयोग करीत असत परन्तु पुढे हत्तींचा उपयोग मुख्य सेनापतीस बसण्याकरिता व राजझेंडे नेण्याकरिताच करू लागले। बादशाही जनाना व सामान नेण्याकरितांही हत्तीचा उपयोग करीत असत। बंदुकांचा उपयोग लढाईत होऊं लागल्यापासून हत्तीस कोणीही लढाईत नेत नसत। निरनिराळ्या जातीचे लोक आपआपल्या रिवाजाप्रमाणे पोषाख करीत असत। आपली फौज सोडून दुष्मनाच्या फौजेस मिळणाऱ्या लोकांस देहांत शासन देण्यात येत असे। शिपायास कोणत्याही प्रकारचे कवायतीचे शिक्षण दिले जात नसे परन्तु प्रत्येक शिपाई स्वतंत्रपणे कसरत करून आपल्या शरीराची जोपासना करीत असे। लढाईमध्ये सापडलेल्या लोकांची कत्तल करून त्यांच्या शिरकमलावर मनोरे बांधण्याची दुष्ट चाल मोगल बादशाहीत होती।

मोगल बादशाही रसातलास जाण्याची कारणें

१६ आरंभी मोगल लोक हे साहसी व स्वोन्नति प्रित्यर्थ झटणारे होते. परन्तु त्यास स्वास्थ्य मिळूं लागल्या बरोबर ते चैनी व आळशी बनले। बाबर बादशहा दोन दिवसांत घोड्यावर १६० मैल मजल करून गंगानदीतून दोन वेळ पोहून गेला। त्याच्याच पांचवा वंशज औरंगजेब तक्तावर असतां दरबारच्या लोकांस मृदु मलमलीचा पोषाखसुद्धां जड वाटे। बादशहाच्या स्वारीबरोबर प्रवासांत असतां ते लोक पलंगावर निजून ऱ्हात व नोकर त्यास पलंगासकट वाहून नेत। आणि मुक्कामावर पोचल्या बरोबर भोजन त्यांची वाट पाहात तयार असे। अश्या ऐदी व मिजासी लोकांची दक्षिणेमध्ये कांदा भाकर खाणाऱ्या चपळ मराठ्यानी त्रेधा उडवून दिली यात कांही नवल नाही। मराठ्याचा छापा आला म्हणजे जामानिमा घालण्यांत व दाढी मिशीची कंगई करण्यांतच या लोकांचा पुष्कळ वेळ जात असे। “अल्ला, अल्ला. या तोबा, ये मराठे कैसे सैतान है” असे म्हणून घोडयावर स्वार होईपर्यंत मराठे निघून ही जात असत। मोगल बादशाही नाही- शी होण्यास मुख्य कारण फौजेची बरोबर तयारी नव्हती व फौजेमध्ये शिस्त बिलकुल राहिली नव्हती। फौजेमध्ये राजनिष्ठेचा अभाव होता व स्वाभिमान अगर देशाभिमान बिलकुल नव्हता, कांही मुसलमान फौजचे बादशाही तक्तावर प्रेम होते, परतु मोठी सख्या हिन्दूची असल्याने वरील प्रेमाचा कांही एक उपयोग झाला नाही। औरंजेबानंतर कोणीही खंदा बादशहा दिल्लीच्या तक्तावर बसला नाही। त्यामुळे मोगल बादशाही लवकरच उबाघईस आली। प्रत्येक स्वारास आपला घोडा भरावा लागत असल्याने तो त्याची फार काळजी घेत असे। घोडा लढाईत मेला की आपले कायमचे त्यास माहित असे। म्हणून तो शूर शिपाई असला तरी अपला घोडा बचविण्याकरितां लढाईत

कुचराइ करीत असे। लष्करी शिक्षण व शिस्त याचा अभाव व सरंजामी पद्धत यामुळेंच मोगल बादशाही रसातळास गेली असेंही कित्येकाचे म्हणणे आहे।

१७ श्री छ० शिवाजी महाराजानीं मराठी राज्याची स्थापना केली। पूर्वीच्या हिंदु राजाची व यवना बादशहाचा पद्धत लक्षांत घेऊन व त्यांत स्वत च्या अनुभवानें योग्य त्या सुधारणा करून, महाराजानी आपल्या फौजेची रचना व व्यवस्था केली होती। त्यान्या फौजेचे घोडदळ व पायदळ असे दोन मुख्य भाग होते। तोफखाना त्याचेजवळ फार थोडा होता। गनिमी काव्यानें, डागराळ मुलखात त्यास लढावे लागत असल्याने त्याना तोफखान्याची जरुरीही भासत नसे। डोंगरी किल्ल्यावर मात्र तोफा ठेवण्यात आल्या होत्या। तोफा बहुतकरून, इग्रज, फ्रेंच व पोर्तुगीज व्यापाऱ्याकडून खरेदी करण्यात यत असत। तोफा अगर बदुका तयार करण्याचा कारखाना नव्हता। सुरवातीस मावळे लोकाच्या पायदळ फौजेवर लढाईचें काम भागत असे, परतु पुढे राज्यवृद्धी जास्त झाल्यावर व मुसलमानाच्या मोठमोठ्या फौजाबरोबर सामने करण्याचे प्रसग येऊं लागले तेव्हां, घोडदळ ठेवणें भाग पडलें। घोडदळांत बारगीर व शिलेदार असे दोन प्रकार होते। हीच पद्धत हल्लीच्या इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेंतही आहे। घोडेस्वारास चागला पोषाख देण्यात आला होता। तरवार भाला व ढाल हीं घोडेस्वाराची मुख्य हत्यारें असत। हत्यारें ज्यानी त्यांनी आपल्या पदरचीं आणावी असा नियम होता, दारूगोळा मात्र सरकारांतून मिळत असे, सक्शन, ट्रूप, स्क्वॉड्रन, रेजिमेंट, ब्रिगेड ह्या अर्वाचीन लष्करी पद्धतिप्रमाणें घोडदळाची रचना होती, व त्यावर लहान मोठे अमलदार मुकर केलेले असत। प्रत्येकाच्या पगाराचा अक नक्की केलेला असे। पायदळात मावळे आणि हेटकरी हेच लोक नोकर असत। प्रत्येक पायदळा जवळ ढाल, तरवार व बदुक हीं तीन हत्यारें असत। पायदळात सुद्धा लहान मोठ्या तुकड्या असून त्याच्यावर नाईक, हवालदार, जुमलेदार, हजारी वगैरे अमलदार असत। ह्या लष्कराशिवाय महाराजाच्या खास जिलबीची फौज निराळी होती। फौजेत भरती महाराजाच्या पसतीनें केली जात असे, व प्रत्येक इसमानें जुन्या शिपायाची जामीनकी घ्यावी लागत असे।

श्री छ शिवाजी महाराजांचा काल

१८ महाराष्ट्रातील लढाईच्या सैन्यरचनेच्या कसबाची सर्व मदार डोंगरी किल्ल्यावर असे, म्हणून अशा डोंगरी किल्ल्यावर महाराजानीं फारच उत्तम व्यवस्था ठेविली होती। पावसाळा पुरा झाला की, घोडदळास परमुलखात स्वारी करण्यास पाठविण्यात येत असे। ह्याचा हेतु हा असे कीं, घोडदळाचा आठ महिन्याचा खर्च, परभारे शत्रूच्या मुलखातील लुटीवर भागविण्यात यावा व फौज नेहमीं लढाइच्या कामीं तयार रहावी। स्वारीस जाणाऱ्या लष्करा पैकी कोणीही इसमानें आपली बायको, बटीक किंवा कलावंतीण बरोबर घेऊ नये व स्वारी बरोबर फराळ नसावे अशी सक्त ताकीद असे। हा नियम तोडणाराम देहात शासन देण्यात येत असे किती सक्त शिस्त। स्वारीस निघण्यापूर्वी सर्व फौजेची महाराज स्वत तपासणी करीत असत। स्वार, घोडा व त्याचें सामान बरोबर आहे की नाहीं हें पाहण्यांत येत असे। हल्लींच्या मोबिलीझेशन इन्स्पेक्शन सारखीच ही तपासणी होती। जहागिरी देण्याची पद्धत महाराजांनीं अगदीं बंद केली होती। सर्वांस लायकीप्रमाणे रोकड पगार देण्यात येत असे। वंश परंपरा एकाच हुद्यावर कोणासच ठेवण्यात येत नसे। कर्तबगारी दाखवावी आणि बढती मिळवावी असा प्रकार होता। प्रत्येक किल्ला, व छावणी व स्वारी यांतील अधिकाऱ्यावर नजर ठेवण्याकरिता हेर ठेविले होते। शत्रूकडील बातमी काढण्याकरिताही इंटेलिजन्स डिपार्टमेन्ट होतें। महाराज स्वत उत्तम लढवय्ये होते। दोन्ही हातात पट्टे चढवून लढाईच्या अगदीं गर्दीत ते घुसत असत। यामुळें

शिवाजी महाराज फौजेचा उपयोग कसा करीत असत

त्यांच्या फौजेची त्यांच्यावर नेपोलियन बोनापार्टी प्रमाणें भक्ति होती। महाराज बक्षिसें देण्यांत ज्याप्रमाणें उदार होते, त्याच प्रमाणे कोणाही कामांत कसूर केली तर त्यास सक्त शासन देण्यांत ते पुढेमागे पहात नसत।

१९ डफ व एलफिस्टन यासारखे मराठेशाहीचे इतिहासकार, यांचे म्हणणे असे होतें कीं, मराठयांचा उदय सह्याद्रि पर्वतावरील वाळलेल्या गवतात अकस्मात उद्भवणाऱ्या वणव्याप्रमाणे होता। या वणव्याचा ज्याप्रमाणें आधीं कांहीएक मागमूस नसतो, पण तो एकदम पेट घेतो व त्याचा क्षणार्धात जिकडेतिकडे फैलाव होतो व तो वणवा लवकरच विलयास जातो। तीच तऱ्हा मराठयांच्या राजकीय उदयाची आहे। शिवाजीपासून या राजकीय उदयास एकाएकी प्रारंभ झाला। थोडयाच काळांत मराठेशाहीचा सर्व हिंदुस्थानभर विस्तार झाला व थोडयाच काळांत त्याचा विलयही झाला। डफ साहेबांचें हे मत त्यावेळी सर्वसंमत असे समजले जात असे, पण न्यायमूर्ती रानडे यांनी आपल्या "मराठयांच्या सत्तेचा उदय" या ऐतिहासिक ग्रथांत मत खोडून काढिले आहे।

मराठ्यांचा उदय कसा झाला

२० पेशवाईच्या अमदानीत, श्री० छ० शिवाजी महाराजांनी केलेली लष्कराची रचना व व्यवस्था पुढें चालविण्यांत आली नाही। सातारकर राजेपेशव्यांचे मालक न राहता त्यांच्या कैद्या सारखे राहिले। पेशव्यांसवस्त्रे देण्यापुरतीच त्यांची नांवाची सत्ता राहिली, बाकी सर्व सत्ता संपुष्टात येऊन पेशवेच सर्व मराठी राज्याचे मालक बनले। पेशव्यांनी सरजामी पद्धत सुरू करून आपल्या हाताखालील सरदारांस मोठमोठया जहागिरी दिल्याने ते स्वतन्त्रपणे वागूं लागले। भोसले, शिंदे, होलकर, गायकवाड, पवार वगैरे मोठमोठे सरदार मोठमोठया लढाऊ फोजा बाळगून मुलूखगिरी करीत असत। पेशव्याची खडी फौज अशी दहापाच हजारांवर नव्हती। मराठी फौजेत पायदळापेक्षा घोडदळाचा भरणा अधिक होऊं लागला। गनिमी काव्याने मैदानांत लढण्याच्या पद्धतीला घोडदळाचाच उपयोग जास्त होऊं लागला, त्यामुळें पायदळ मागे पडले। खडी पायदळ फौज व पागा ही बारमहा नोकरीत असे, परंतु शिलेदार वगैरे इतर फौज तात्पुरती जमविलेली असे। तिच्या नोकरीस ठराविक मुदत नसे। मुलुखगिरीवर फौज निघाली म्हणजे हे लोक येऊन सामील होत व मुलुखगिरी संपून फौज परत फिरली म्हणजे हे लोक आपआपल्या गावी परत जात। यांच्यामध्ये शिस्त बिलकूल नव्हती। भरतीकरितां केव्हांही माणसांची अगर घोडयांची खोट नसे। शिपाईगिरी हा त्यावेळच्या मराठयांचा पेशाच झाला होता। बंदुका व तोफा मराठे करीत असत, परन्तु त्या चांगल्या होत नसत। ही हत्यारे इग्रज फ्रेंच व पोर्तुगीज व्यापाऱ्यांकडून विकत घेत असत। तोफांची व बंदुकांची दारूही चांगली होत नसे। मराठ्याच्या स्वारी बरोबर तोफखाना असे, परन्तु त्यांची सारी भिस्त घोड्दळावर असे। कवायती पायदळचा व तोफखान्याचा उपयोग प्रथम पानिपतच्या लढाईत मराठ्यांनी केला। पुढे कवायती फौजेची ही पद्धत, महादजी शिंद्याने तर चांगलीच यशस्वी करून दाखविली। महादजीने ही कला यूरोपयन लोकांपासून उचलली। त्याची महत्वाकांक्षा मोठी असल्याने लष्करी सामर्थ्याचे हे साधन त्याने तावडतोब उपयोगांत आणले, व डिबॉइनच्या हाताखाली त्याने कवायती कपू तयार करविले। हत्यारे व तोफा ओतण्याचा कारखाना शिंद्याने आग्रयास काढिला। वडगांव व खर्डा येथील लढायांत या कवायती कपूंचा उपयोग विशेष झाला। या कंपूंत मराठ्यांशिवाय अठरापगड जाती होत्या। "मराठ्यांच्या खालचा घोडा ज्या दिवशी निघून गेला, त्या दिवशीच त्यांचे राज्य गेले" असे एकाने म्हटले आहे। मराठयांनी गनिमी काव्याची युद्धपद्धति टाकून कवायती पद्धति स्वीकारली ही गोष्ट त्यांच्या फायद्याची झाली नाही असे पुष्कल लोकांचे म्हणण आहे। मुख्य सत्ता कमजोर

पेशवाइच्या अमदानीचा काल

झाल्यानें सरदार स्वतंत्र झाले। जो तो आपआपल्या पुरतें पाहूं लागला, यामुळें मराठी साम्राज्याचे तुकडे तुकडे झाले। श्री० छ० शिवाजी महाराज, पहिले बाजीराव पेशवे व महादजी शिंदे यांच्या मराठी साम्राज्य स्थापनेच्या ज्या महत्त्वाकांक्षा होत्या त्या रसातळास गेल्या। इंग्रजासारख्या परकीयाचा प्रवेश हिंदुस्थानांत होण्यास एकट्या मराठ्यांचाच काय तो अडथळा होता तो अडथळा मराठा साम्राज्याचे तुकडे झाल्यानें नाहींसा झाला।

मराठ्यांची मर्दुमकी

२१ मराठा शिपायांनीं आपला दरारा सर्व हिंदुस्थानभर बसविलेला होता। त्यानें मोंगल पातशाही नामधारी पातशाही केली, अफगाणांना खडे चारून अटकेपार घालवून दिले, रोहिल्यांची रग जिरविली, आणि शूरपणामध्यें साऱ्या जगांत गाजलेले जे रजपूत, त्यांस आपल्या तडाख्याखालचा मांजर बनविलें। रजपूत कधीं कपटानें लढणारे नव्हते, परंतु मराठ्यांशीं लढतांना ते इतके जेरीस आले कीं, त्यांना आपली धर्मयुद्धाची परंपरा सोडून जयाप्पा शिंद्याचा कपटानें मारेकऱ्याकडून खून करविला। मराठे गनिमी काव्यांत पटाईत होते, तसेच समोरासमोर दोन हात करण्यांतही कोणाला हार जाणारे नव्हते। त्यांच्या तरवारीचें पाणी व भाल्याची फेंक यांना अफगाण व रजपूत हे चांगल्या रीतीनें ओळखीत असत। फिरंग्यांनाही मराठ्यांच्या शौर्याची ओळख वसईच्या वेढ्यांत व अन्य प्रसंगीं चांगल्या रीतीनें पटली होती। परंतु मराठेशाहीचा अंत झाल्यावर मराठ्यांना वाईट दिवस आले। त्यांच्या तरवारीला गंज चढूं लागला व त्यांच्या शौर्यतेला प्रोत्साहन मिळेनासें झालें। पुढें इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेंत मराठे नोकर राहूं लागले मुंबई सरकारचे चीफ सेक्रेटरी मि० पी० आर० कॅडल यांनीं "मराठा शिपाई सरदार" तारीख २६ फेब्रुवारी सन १९१९ मध्यें अन्थ्रॉपॉलॉजिकल नांवाच्या मुंबईतील वजनदार संस्थेपुढें एक निबंध वाचला। त्यामध्यें त्यांनीं मराठा शिपायाची फारच तारीफ केली आहे। मराठा शिपाई देखणा म ढब्बू नाहीं। तो पठाण किंवा शीख शिपायाप्रमाणें धिप्पाड किंवा मजबूत बांध्याचा दिसत नाहीं। त्याला पोषाखाचे भपके फार नसतात। 'जी हुजूर' "जी गरीब परवर" अशी लाचारी थाटाची अदबशीर हिंदुस्थानी मिठास भाषा तो बोलत नाहीं, म्हणून इंग्रजी फौजेमध्यें मराठ्यांची भरती कमी करण्याकडे कल होऊं लागला। चालू महायुद्धांत "मरेन पण हटणार नाहीं व "मराठा" हें नांव खरें करीन," अशा प्रतिज्ञेनें तो रणांगणावर लढला। महाराष्ट्रांत सैन्य भरतीचें काम जारीनें सुरू झालें तेव्हां पुन्हा मराठे सार्वभौम सरकारास मदत करण्यास पुढें आले। मोठमोठे लष्करी अंमलदार मराठा शिपायाच्या पराक्रम धाडस, हुषारी, कायदानपणा, काटकपणा, चिकाटी, इमान इत्यादि विषयीं वाखाणणी करीत आहेत। फ्रान्स, मेसापोटेमिया, ईस्ट आफ्रिका, इजिप्त, पॅलेस्टाईन वगैरे देशांतल्या रणांगणामध्यें मराठ्यांनीं आपलें शौर्यतेज प्रत्ययाला आणून दिलें। जर्मनीला आणि तुर्कांना जेरीस आणण्याच्या कामीं मराठ्यांनीं उत्कृष्ट साहाय्य केलें। मराठ्यांच्या लष्करी बाण्याची परंपरा फार जुनी आहे। त्यांच्या शौर्याबद्दल नुसती कागदावर अगर भाषणांत वाखाणणी करून त्यांचें समाधान होणार नाहीं। म्हणून सरकारास जर या लष्करी बाण्याच्या लोकांचा खरा उपयोग करून घेणें असेल तर त्यांनीं सुशिक्षित मराठ्यांस लष्करी कॉलेजमध्यें शिक्षण देऊन सरकारनें या तरुण मराठ्यांस लायक करून सढळ हातानें फौजेमध्यें वरिष्ठ अंमलदारांच्या जागा देऊन, त्यांचीं पूर्ण कदर करणेंच योग्य होईल। प्रत्येक मराठा जातीनें शिपाई आहे। लष्करी पेशा हा मराठ्यांचा आवडता पेशा आहे। त्यांच्या नैसर्गिक गुणांचें चीज होण्यास त्यांना संधी व उत्तेजन मात्र दिलें पाहिजे।

शिवाजी का क्षत्रियत्व

प्रो० बालकृष्ण एम० ए०, पी-एच० डी०, कोल्हापुर

वृहत्तर महाराष्ट्र के संस्थापक शाहजी भोसले का वंश सीसोद के सूर्य वंश से जुड़ा हुआ है। राजपूताना में चित्तौड़ और उदयपुर तथा दक्खन में कोल्हापुर और मुधोल के राजाओं का परस्पर रिश्ता था और वह सम्बन्ध अब तक भी चला जाता है। मुधोल के सरदारों को बहमनी और आदिलशाही बादशाहों से जो फारसी सनदें मिली थीं, उन में भोंसलों का मूलतः राजपूत होना निःसंशय रूप से सिद्ध हो गया है। सात पीढ़ियों तक वे 'राणा' नाम से प्रसिद्ध थे। यह उपाधि १४७१ ई० में भीमसिंह के समय में राजा नाम से बदल दी गई। उस साल से मुधोल के शासकों ने 'राजा घोरपड़े बहादुर' यह विरुद धारण किया और दूसरी शाखा; देवगिरि जागीर के जागीरदार, भोंसले नाम से प्रसिद्ध रहे। भोंसले शब्द ही उन का भास्वत कुल या सूर्यवंशी होना सूचित करता है। दक्षिण में उन्हों ने प्रचण्ड पराक्रम और उग्र वीरता के काम किए थे; इस लिए भी उन को 'भृशबल' व भोंसले कहते थे। पुराणों ने यह सिद्धांत प्रचारित किया कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण हैं—एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र; क्योंकि सच्चे क्षत्रिय और वैश्य विलुप्त होगये हैं। इस कारण दक्खन में क्षत्रिय भोंसले ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार शूद्र हो गये। ब्राह्मणों के इस बद्धमूल विश्वास ने शिवाजी को क्षत्रिय राजा की तरह वैदिक रीति से राज्याभिषेक कराने के अयोग्य ठहरा दिया। यह प्रचलित विश्वास तात्कालिक एक डच-पत्र में प्रकट होता है। उस में लिखा है कि "राज्याभिषेक से ८ दिन पहले २९ मई १६७४ ई० को शिवाजी को क्षत्रिय बनाया गया। उसी दिन वे ब्राह्मणों के समान हो गये; क्योंकि अन्य ब्राह्मणों के विरोध करने पर भी गागाभट्ट ने उन के सामने वेदमन्त्रों का पाठ किया।" यह स्मरण रखना चाहिए कि १७ वीं सदी के ब्राह्मणों का राजपूतों को क्षत्रिय मानने से इनकार करना उन के वास्तविक ऐतिहासिक पूर्व-पीठ़ी और उच्च-वंश को नहीं बदल सकता। शिवाजी के मूल पुरुष भोंसलों का सम्बन्ध सीसोदिया से है और इस कारण वे राजपूत कुलों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

शिवाजी की पूर्व पीठिका

शिवाजी महाराज के पूर्वज किस वंश के थे, इस की खोज में कई ऐतिहासिकों ने मनगढ़न्त कल्पनाओं और कहानियों का सहारा लिया है। इस रोग से मुसलमान, पुर्तगाली डच और अंग्रेज ऐतिहासिकों में से कोई भी अछूता नहीं बचा है। मुगल साम्राज्य और बीजापुर की आदिलशाही के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी शिवाजी को नीच वंश का सिद्ध करने में मुस्लिम ऐतिहासिकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। शिवाजी के महत्त्व को कम करने और उन को एक साधारण किसान का लड़का सिद्ध करने के उद्देश से उन्हों ने निराधार काल्पनिक कहानियाँ गढ़ी हैं। अज्ञानवश कुछ लोगों ने इन निराधार बातों को तथ्य के रूप में मान लिया और अपनी पुस्तकों में भी इसी मत को स्थान दिया। जैसे फादर नवराट (१६७०) ने शिवाजी को एक मुगल लिखा है। इसी तरह Relation ou Journal d'un voyage fait aux Indes Orientales एक फ्रेंच लेखक ने भी महाराज शिवाजी को मुगल-सम्राट् का रिश्तेदार बनाया है। गार्डी लिखता है कि शिवाजी बसीन शहर के पास के विरार गांव के स्वामी मेनेजेज़ का लड़का है। थेवनो ने भी यह गलती की है और वह लिखता है कि शिवाजी बसीन में पैदा हुए थे। भीमसेन ने 'नुशक्-ए-दिलकशा' नामक अपने रोजनामचे

ऐतिहासिकों की भ्रान्त धारणा

में शिवाजी के पूर्ववंशजों के विषय में एक कल्पित मत प्रचलित किया है। उस का लिखना है कि राणा भीम सिंह का एक दासी पुत्र पहले खानदेश आया और वहाँ से बाद को पूना चला गया। इस में जो वंशावलि दी गई है, वह सर्वथा असम्बद्ध है। इस लिए यह विश्वास-योग्य नहीं है। मनूची भी इसी बात पर विश्वास कर के लिखता है कि राणा का एक दासी पुत्र मेवाड से भाग कर बीजापुर के दरबार में आया और उस को दरबार के चौल, खम्भात, वसीन और बम्बई का इलाका जागीर में मिला। खाफीखां और फरिश्ता ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। ये चारों ऐतिहासिक मुगल-सम्राटों और मुसलमान शासकों के यहाँ नौकर थे। इस लिए इन लोगों का शाहजी और शिवाजी के पूर्वजों के वृत्तान्त को पक्षपात रहित हो कर लिखना सम्भव नहीं था। अब यह बात निर्विवाद मान ली गई है कि शिवाजी और उस के पूर्वज सीसोद और चित्तौड के शासक विशुद्ध और सर्वोच्च सूर्यवंशी राजपूतों के वंशज थे।

सर यदुनाथ सरकार का भ्रम

राजा जसवन्तसिंह ने शिवाजी के साथ पूना में गुप्त सन्धि करते समय उसे राजपूत माना था। यह घटना राज्याभिषेक से नौ साल पहले की है। पर यह आश्चर्य-जनक है कि प्रो० यदुनाथ सरकार ने अपने चरित्र-नायक की महत्ता पर सब से बडी चोट लगाई है, क्योंकि उस के बारे में लिखा है कि "शूद्र का लडका हो कर भी उसने क्षत्रियों के लिए उचित अधिकार और सम्मान की इच्छा की है।" सरकार के मतानुसार भोंसले न तो क्षत्रिय थे और न द्विज, पर एक खेती करने वाले किसान थे। प्रायः सब स्मृतिकार खेतिहरों को वैश्यों के अन्तर्गत मानते हैं और वैश्य द्विजों के अन्तर्गत हैं। इस पर भी सरकार भोंसलों को द्विजों से बाहर रखते हैं। सरकार बाबाजी को चिटनीस और दूसरे लेखकों की बखरों के आधार पर किसान बताते हैं। पर वस्तुतः शिवाजी के पूर्वज सेनापति और दक्खन के राज्यों के सामन्त थे। चिटनीस के बखर में शिवाजी के आदि-पूर्वजों के जो नाम दिये हैं, वे दक्खन के बादशाहों द्वारा दी गई सनदों से पुष्ट होते हैं, इस लिए वे पूर्ण रूप से प्रामाणिक हैं। सरकार एक ओर गागाभट्ट को उस समय का सब से बडा धर्मशास्त्री, वाग्मी, चारों वेदों और छओं शास्त्रों का पूर्ण विद्वान् बताते हैं। हिन्दू जाति में गागाभट्ट उस समय का व्यास और ब्रह्मदेव के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु दूसरी ओर यह लिख कर कि, "रुपयों के लोभ में पड कर उस समय के व्यास और ब्रह्मदेव ने शिवाजी को क्षत्रिय उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वह वस्तुतः क्षत्रिय नहीं था। इस तरह इस ब्रह्मदेव ने अपनी अन्तरात्मा को स्वर्ण के टुकडों पर बेच दिया।" इस प्रकार गागाभट्ट पर यह लाञ्छन लगा कर उस को साधारण लोगों की नजरों में भी सरकार ने गिरा दिया। इस के अतिरिक्त उन का यह भी कहना है कि भोंसले वंश की वंशावली चतुर मन्त्री बालाजी आवाजी और दूसरे कर्मचारियों ने जाली बनाई है। पर सरकार का यह आरोप ठीक नहीं है। क्योंकि चिटनीस घराने और बखरों का वंश-वृत्त अधिकांश में सनदों से प्रमाणित हो चुका है। शिवाजी के चतुर मन्त्रियों की यह जालसाजी नहीं है, पर वस्तुतः सरकार की यह चातुरी है कि बिना कोई कारण दिये उन्हों ने वंश-वृत्त को कल्पित बना दिया है।

साहित्यिक साक्षियाँ

शिवाजी क्षत्रिय कुलोत्पन्न सूर्यवंशी और सीसोदिया वंश के हैं इस बात पर शिव-काल में किसी को सन्देह ही नहीं हुआ था। उस समय या उस के बाद के साहित्य में शिवाजी को सूर्यवंशी क्षत्रिय सब ने स्वीकार किया है। स्थालीपुलाक न्याय से हम कुछ साक्षियां नीचे देते हैं—

१ 'शिवभारत' लिखता है कि मालोजी और शाहजी सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं—

न सूर्यवंशमनघं कथ्यमानं मयाधुना ।
सर्वेऽप्यवहितात्मनः शृण्वन्तु शृण्वतां वराः ॥
दक्षिणस्यां दिशि श्रीमान् मालवर्मा नरेश्वरः ।
बभूव वंशे सूर्यस्य स्वयं सूर्य इवौजसा ॥

शि० भा० अ० १.४१-४२

एक जगह अन्यत्र शिवभारत का कर्त्ता लिखता है कि सूर्यवंशी लोग डरे हुए पर अपना पराक्रम नहीं दिखाते, इस कारण शिवाजी ने भागती हुई रुस्तम की सेना को पकड़ा नहीं -

तदनु शिव नृपस्तं प्राप्तभंगं पुरस्तात्
प्रसभमपसरन्तं रुस्तुमं त्रस्तमुन्यैः ।
निकटगमपि नैव न्यग्रहीन्निग्रहज्ञः
न हि विदधति भीते शूरता सूर्यवंश्याः ॥

शि०भा०अ०२४,७४

२. 'परनाल पर्वत ग्रहणाख्यान' शिवाजी का सीसोदिया वंश बताता है ।

३. शिवाजी के राज्याभिषेक के समय हुई उन के वंश की खोज का परिणाम लिखते हुए 'सभासद' लिखता है—

"गागाभट्ट ने राजा के वंश की खोज कर के कहा कि राजा शुद्ध क्षत्रिय सीसोदिया वंश के उत्तर से दक्षिण में आये एक घराने में है। उत्तर में क्षत्रियों के जिस प्रकार संस्कार होते हैं उसी प्रकार राजा का संस्कार कराओ।"[1]

४. शवाजी के दरबारी, वीर-रस के हिन्दी-कवि भूषण ने शिवाजी को सूर्यकुलवंशोद्भव लिखा है—

सूर सिरोमनि सूरकुल सिव सरजा मकरंद ।
भूषन क्यों औरंग जितै कुल मलिच्छ कुल चंद ॥ १६३ ॥

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है ।
भूषन भनत कुल सूर कुल भूषन है दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर जोर जाके संग बानर हैं सिंधुर हैं बांधे जाके दल को न पारु है ।
तेगहि कै भेटै जौन राकस मरद जानै सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है। १६६

(श्री शिवराज-भूषण)

राजवंश का वर्णन करता हुआ राज-कवि लिखता है—

राजत है दिन राज को वंश अवनि अवतंस ।
जा में पुनि पुनि अवतरे कंस मथन-प्रभु-अंस ॥ ४ ॥
महावीर ता वंस में भयो एक अवनीस ।
लियो विरद "सीसोदिया" दियो ईस को सीस ॥ ५ ॥

---

१ पृष्ठ ८२ ।

ता कुल में नृप वृंद सब उपजे बखत बुलंद।
भूमिपाल तिन में भया बडो "भाल मकरंद" ॥ ६ ॥

(श्री शिवराज भूषण)

५ शाहजी ने ६-७-१६५७ ई० को कर्णाटक से बीजापुर के सुलतान अली आदिलशाह के नाम एक पत्र लिखा था, जिस में उस के व्यवहार की शिकायत करते हुए उसे निम्न शब्दों में चेतावनी दी थी—"मैं सुलतान को स्मरण कराना चाहता हूँ कि मैं राजपूत हूँ। आज तक मैंने चार बादशाहों की नौकरी की है, पर कहीं भी बेइज्जती और गैर मेहरबानगी की नौकरी नहीं की है।"

६ ग्रांट डफ की हिस्ट्री ऑफ डक्कन के बुन्देला प्रकरण पृ० ४ में शिवाजी को सीसोदिया राजपूत लिखा हुआ है।

७ खफी खाँ ने लिखा है कि शिवाजी चित्तौड के राणा के वंशज हैं।

८ रामचन्द्र पंत आमात्य को, जो शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम के समय में मन्त्री पद पर काम करता रहा, शिवाजी के विषय में पूर्ण ज्ञान था। वह अपने एक राजकीय आदेश में शिवाजी को 'क्षत्रिय-कुलावतंस' लिखता है।

९ शिवाजी के पिता शाहजी के दरबार के राज कवि 'जयराम' ने अपने 'राधा माधव विलास चम्पू' नामक ग्रन्थ में, जो उस ने १६५४-५८ ई० में लिखा था, शाहजी को सूर्यवंशी और सीसोदिया राजपूतों का वंशज बताया है—

सुनियतु करन बलि भोज यों करन—
माहे सम साता को मनता कोहि करतु है।
शील औ सुरत बस उन में न एको अंस—
सि सो दि या अ व त स महजु धरतु है ॥४७॥

महीन्द्रा महद्रा सवे मुख्य राणा।
व (र) ली पास त्याचे कुला जन्म जाणा॥
त्याचे कुळीं 'भाल' भूपाल झाला।
जयाने जलें शंभु संपूर्ण केला ॥ ८५ ॥

इन्द्र भयो सब हादुन को अरु आयु स्समान यों छत्र कियो है।
ज्यों हि गोवर्धन कृष्ण धर्यो तर गोकुल व लोक जियो है॥
साहि गुमान को दान कहा विधि कैसें कयो निधि मोल लियो है।
कारनियां कह्यो करतार नें सी सो दि य कु ए सी सो दि यो है ॥ १०४ ॥

पुन्दन भान्कु आवर के नर दान लयो गुन कौन किये ते।
भान कहे नृप साह निदार सि सो दि यो दत्त असीस दिये ते ॥१०८॥
शाह महीसुर फौज चलें महामडल दान चल हले।
गढ़ मढ दप्प दव हुहले जैसे समठ निपिट्ठि मत्ते।
रुद्र रूप भूप जस तज सुचन्नु सु भन्नु कित्ते।
निक्कम कमिवीस उमीर सीसोदिये रैस जित्तिलिले ॥ ११५ ॥(८७० पृ०)

१०. प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत गौरीशंकर हीराचद ओझा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' प्रथम भाग (पृ० ५१४) मे लिखा है—"इस पर उस (अजयसिंह) के दोनो पुत्र—सज्जनसिंह और क्षेमसिंह—अप्रसन्न हो कर दक्षिण चले गये। मेवाड़ की ख्यातो के कथनानुसार इसी सज्जनसिंह के वंश मे मरहटो का राज्य स्थापित करने वाले प्रसिद्ध शिवाजी उत्पन्न हुए।"

११. उदयपुर राज्य के 'वीर-विनोद' नामक बृहत् इतिहास मे शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश मे होना लिखा है। (वीर-विनोद, खड २। पृ० १५८१-८२) इस पर टिप्पणी करते हुए श्री ओझा ने लिखा है कि--

"शिवाजी और उन के वशज मेवाड़ के सिसोदिया राजवश से निकले होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई सतान न होने से उस ने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिए दत्तक लेना चाहा था।"

१२. २८ नवम्वर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र मे शिवाजी को "एक महान् राजपूत लिखा है।"[१]

१३. १० दिसम्वर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र मे लिखा है कि "राजपूत इतर हिन्दुओ से अलग समझे जाते हैं।"[२]

१४. टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास के प्रथम भाग मे शिवाजी का वश-वृक्ष दे कर उन को अजयसिंह व अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह का वशज वताया है[३]।

१५. कास्ट एण्ड ट्राइब्स के लेखक मि० रसल ने (भा० ४०, पृ० २००) लिखा है कि—"मि० एनथोवन ने १८३६ ई० मे लिखा है कि पवित्र राजपूत घराने के शिरोमणि उदयपुर के महाराणा ने अपने एक कर्मचारी द्वारा जाँच करा कर स्वीकार किया कि भोसले और अन्य कुछ घराने राजपूत होने का हक रखते है।"

१६ वश की जांच का परिणाम दो पत्रो मे मि० डोगरे कृत 'सिद्धान्त विजय' मे प्रकाशित हुआ था। एक पत्र महाराणा उदयपुर का और दूसरा उन के राजगुरु अमरेश्वर के पुरोहित का, सतारा के महाराजा श्री प्रतापसिंह के नाम लिखा हुआ है। उन मे लिखा है कि—"आप हमारे निकट के सम्बन्धी हैं। उस वात के लिए कोई भेद-भाव नही है। हम इस वात को सदा अपने हृदय मे स्थान देंगे। मूलतः हम दोनो एक है।"

१७. कर्नल जी० वी० मालसन (१८७५) ने अपनी पुस्तक हिस्टॉरिकल स्केचेज ऑफ दि नेटिव स्टेट्स (पृ० २५४-२५५) मे लिखा है—"मराठा अनुश्रुति के अनुसार शिवाजी उदयपुर के उस राजकीय परिवार के वशज है, जो डुंगरपुर मे राज्य करता था। इस राजघराने के राज्याधिकार से वचित १३ पुत्रो मे से एक अपने पैतृक घर को छोड़ कर वीजापुर के दरवार मे आया और उस की सेवाओ के वदले उसे दरवार से मुधोल जिले मे ८४ गांवो की जागीर और 'राजा' की उपाधि मिली। इस व्यक्ति का नाम सज्जनसी था और इस के चार पुत्र थे, जिन मे सव से छोटे पुत्र सूगाजी का शिवाजी को सीधा वंशज वताया जाता है।"

लेखक का Shivaji the Great Vol I. P. 54

---

१. डॉ० बालकृष्ण—शिवाजी दि ग्रेट, जि० १, पृ० ५४

२. वहीं, पृ० १५१।

३. टा० रा० जि० १०, पृ० ३१४।

१८ मि० क्लून्स ने Historical Sketch of the princes of India (पृ० १३०) में लिखा है—

"उनमें से 'सज्जन सी' नाम का एक व्यक्ति दक्खन में आया और बीजापुर राज्य की सेवा में भरती हुआ, जिसने उसे मुधोल जिले के ८४ गाँव और राजा की पदवी दी। सज्जनसी के चार पुत्र थे—बाजीराजे, जिसके घराने में मुधोल की जागीर है, दूसरा नि सन्तान मर गया, चलवसी से कपिशा के घारपडे उत्पन्न हुए हैं। सब से छोटे सूगा जी के भोसा जी नाम का एक लड़का था, जिससे भोंसले शाखा की उत्पत्ति हुई है। इसके दस पुत्र थे, जिनमें से मन से बड़ा पाटूस के समीप देउलगड में जाकर बसा, जिस गाव का पटेल मालो जी था। वह अहमदनगर के सुलतान के आधीन कर्तृत्ववान पुरुष था और जिसको सुलतान की ओर से एक जागीर मिली थी, जो उसके बाद उसके पुत्र शाह जी को मिली। बाद में वह बीजापुर के सुलतान के नीचे एक प्रधान मराठा सरदार हुआ। उसने अपनी जागीर में सतारा पूना—जितने का आजकल पूना जिले में समावेश होता है—और सतारा जिले का कुछ भाग मिला लिया। इन्हीं घाटियों मे उसके पुत्र शिवाजी ने उसकी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की कल्पना को पूर्ण किया।"

इस उद्धरण में बहुत सी बातें अशुद्ध हैं, पर मुख्य बात कि शिवाजी राजपूत थे, निर्विवाद और सन्देह रहित है।

इस में एक बात ध्यान देने की है कि 'शिवभारत' 'परनाल पर्वत ग्रहणाख्यान' 'राधामाधव विलास चम्पू' और 'शिवराज भूषण' शिवाजी के राज्याभिषेक से पहले या कुछ काल बाद उन्हीं के जीवन-काल में ही लिखे जा चुके थे, और वे सब मानते थे कि शिवाजी क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय कुलावतंस उदयपुर के सीसोदिया राणा के वंशज हैं। इस कारण यह कथा कि शिवाजी के राज्याभिषेक के समय यह प्रश्न उठा कि शिवाजी क्षत्रिय हैं या नहीं और गागा भट्ट ने उन्हें क्षत्रिय उद्घोषित किया, सर्वथा कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इस की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सब जानते थे और मानते थे कि शिवाजी क्षत्रियकुल शिरोमणि सूर्यवंशी हैं। इस में यदि कुछ सच्चाई का अंश है, तो इतना ही है कि दक्खन में ब्राह्मणों के सिवाय और तीनों वर्णों के संस्कार शूद्रों के समान होते थे। इस कारण सम्भव है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने यह प्रश्न उठाया हो कि शिवाजी का राज्याभिषेक किस विधि से किया जाय और इस विषय में गागा भट्ट का निर्णय मान कर उन का राज्याभिषेक-संस्कार उत्तर के क्षत्रिय राजाओं के समान किया गया। इस के अतिरिक्त इस प्रचलित कथा में और कुछ सच्चाई नहीं मालूम होती।

यह ऊपर दिखाया गया है कि शिवाजी सूर्यवंशी राजपूत और महाराणा उदयपुर के वंशज थे। पर शिवाजी और भोसले वंश को क्षत्रिय मान लेने में ही सारा काम नहीं समाप्त हो जाता। इस के लिए यह भी आवश्यक है कि सज्जनसिंह से ले कर शिवाजी तक का वंश-वृक्ष पेश कर के वंशावलि द्वारा सिद्ध किया जाय

प्राप्त वंशावलियाँ

कि शिवाजी क्षत्रिय थे। इस समय चार वंशावलियाँ—कोल्हापुर दरबार, टॉड राजस्थान, चिटनीस की बखर और सतारा म्युज़ियम और तंजौर का शिला-लेख प्राप्त हैं। इन के अनुसार शिवाजी का वंशवृक्ष आगे दिये वंश-वृक्षों के अनुसार होगा —

शिवाजी के पूर्वजों का वंश वृक्ष

कोल्हापुर दरबार	टॉड राजस्थान	चिटनीस की बखर और सतारा का म्युज़ियम	तंजौर का शिलालेख
१ लक्ष्मणसी १३०३ (मृत्यु)	१ अजयसी	१ लक्ष्मणसिंह	१ येकोजी
२. सज्जनसिंह १३१० में महाराष्ट्र में आया	२ सज्जनसी	२ सज्जनसिंहजी	२ शरभजी

कोल्हापुर दरबार	टॉड-राजस्थान	चिटनीस की वखर और सतारा का म्युज़ियम	तंजोर का शिलालेख
३. दलीपसिंह	३. दलीपजी	३. दलीपसिंहजी	३. महासेन
४. शिवाजी	४. शीश्रोजी	४. सिंहजी	४. एकशिव
५. भोसाजी	५. भोरजी	५. भोसाजी	५. रामचन्द्र
६ देवराजजी	६. देवराज	६. देवराजजी	६. भीभारी
		१४१५ ई० में दक्षिण में आये	
७. उग्रसेन	७. उगरसेन	७ इन्दुसेनजी	७. एकोजी
८. माहुलजी	८ माहलजी	८. शुभकृष्ण	८. वराह
९ खेलोजी	९ खेलूजी	९. रूपसिंहजी	९. एकोजी
१०. जनकोजी	१०. जनकोजी	१० भूमीन्दुजी	१०. ब्रह्मजी
११. सम्भाजी	११. सत्तुजी	११. धापाजी	११. शाहजी
१२ वाबाजी	१२. सम्भाजी	१२. वरवटजी	१२ अम्बाजी रेवायु
१३. भालोजी	१३. शिवाजी	१३. खेलकर्ण व खेलोजी	१३. परसोजी
१४. शाहजी		१४. कर्णसिंह व जयकर्ण	१४ वाबाजी रेवायु
१५. शिवाजी		१५. सम्भाजी	१५. भालोजी उभा
		१६. वावाजी	१६. शाहजी
		१७. भालोजी	१७. एकोजी
		१८. शाहजी	

तंजौर-शिला लेख मे दी गई वशावली सर्वथा अशुद्ध अप्रामाणिक और अनुपयोगी है। कोल्हापुर और चिटनीस के दिये वश-वृक्ष मे लक्ष्मणसिंह के पुत्र सज्जनसिंह के पिता अजयसिंह व अजयसी का उल्लेख नही है।

ये अग्राह्य हैं　चौथी पीढ़ी मे इन मे क्रमशः शिवाजी और सिंहजी लिखा है जो दोनो अशुद्ध है। सनदो मे इस को सिधोजी लिखा है। ७वी पीढ़ी में चिटनीस ने उग्रसेन के स्थान पर इन्दुसेन लिखा है। हस्त लिखित मुधोलवखर (पृ० ८८) मे लिखा है कि इन्द्रसेन शत्रु के हृदय मे अपना भय और आतंक बिठाने से उग्रसेन के नाम से प्रसिद्ध था। वह उग्रसिंह के नाम से भी मशहूर था, पर हमने उग्रसेन को स्वीकार किया है क्योंकि सनदों मे उसका यही नाम मिलता है। ८वी पीढ़ी का नाम चारो वंश-वृक्षो मे भिन्न भिन्न है। पर अन्तिम तीन नाम वावाजी, भालोजी और शाहजी पांचो वशावलियो मे एक ही हैं। शिवाजी के इन तीन पूर्वजो के नाम वहुत से हस्तलिखित पत्रो मे मिलते हैं। वीच के नाम उस समय तक सन्देहास्पद रहेगे, जब तक कि कोई सनद या पत्र न मिले। अब तक ज्ञात शुद्ध वंशावली नीचे दी जाती है —

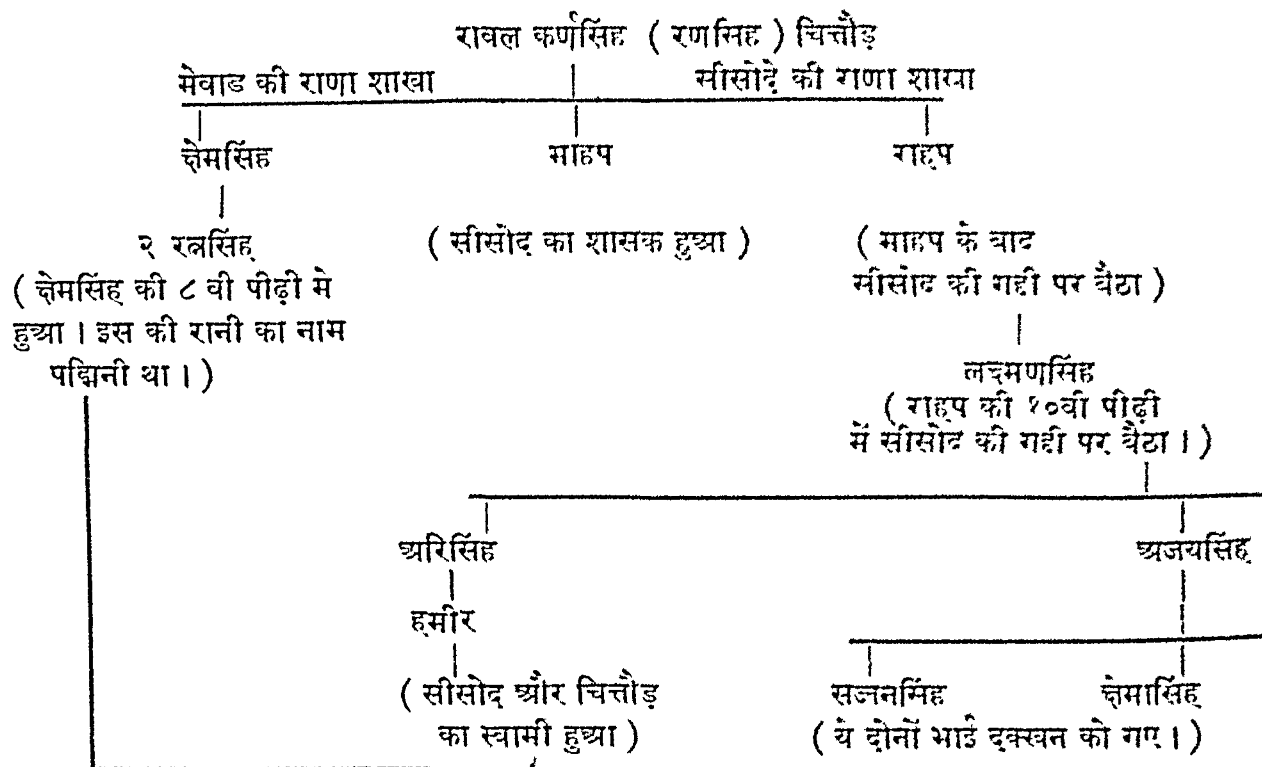
शिवाजी के पूर्वजों की शुद्ध वंशावली

सनदों के आधार पर	१ लक्ष्मणसिंह २ अजयसिंह ३ सज्जनसिंह—१३२० ई० के लगभग दक्षिण के लिए प्रस्थान किया। ४ दलीपसिंह ५ सिधोजी ६ भैरोंजी व भोसाजी ७ देवराजजी ८ उग्रसेन ९ शुभकृष्ण
पुस्तकों के आधार पर	१० रूपसिंह ११ भूमेन्दुजी १२ धोपाजी १३ बारहटजी १४ खेलोजी १५ परसोजी
पत्रों के आधार पर	१६ बाबाजी १७ मालोजी १८ शाहजी १९ शिवाजी

शिवाजी का आदिपुरुष उपर्युक्त वंशावलियों में सज्जनसिंह दिखाया गया है, और वस्तुत वही था भी। यह अजयसिंह व अजयसी का ज्येष्ठ पुत्र था। इस के पूर्वज चित्तौड़ और सीसोद के शासक थे। इसे निम्न वंश-वृक्ष में दिखाया गया है—

शिवाजी के पूर्वज

सज्जनसिंह के पूर्वजों का वंशवृक्ष १



उक्त दो पीढ़ियाँ सज्जनसिंह और उस के पिता का नाम नवम्बर १३५२ मे सज्जनसिंह के पुत्र राणा दिलीपसिंह को मिले हुए फर्मान से पुष्ट होते हैं और यह भी पता लगता है कि देवगिरि या दौलताबाद के प्रान्त मे उन को दस गाँव इनाम मे दिये गये थे । दिलीपसिंह के पुत्र राणा सिधोजी ने गुलबर्गा के बहमनी बादशाहों को बहुत सहायता दी और इस के बदले मे उसे 'मीर नौबत' की उपाधि दी गई, ऐसा फरिश्ता का कथन है । सिधोजी के पुत्र भैरोजी ने भी बादशाह की सेवा मे कुछ कसर बाकी न रक्खी । इसलिए इस राणा को १३९८ ई० में मुधोल का नगर और उसके पास के ८४ गाँव इनाम मे दिये गये । यह फीरोजशाह की दी हुई सनद से पता लगता है । उसके पुत्र देवराज ने १६ वर्ष तक बादशाह की सेवा की । फिर उसके पुत्र उग्रसेन ने अलाउद्दीन अहमदशाह बहमनी की जान बचाई । इस असाधारण सेवा के बदले मे उसे १४२४ ई० मे फर्मान दिया गया; जिसमे चार पीढ़ियो के नाम स्पष्ट रूप से दिये गये हैं । वे ये हैं—

राणा सिधोजी, भैरोसिंह जी, राजसिंह देवराणा और उसका पुत्र राणा उग्रसेन । राणा उग्रसेन का नाम इन्दुसेन भी प्रसिद्ध है । यह अपने भाई प्रतापसिंह के साथ कोकणपट्टी को जीतने मे लगा रहा । एक बार वह विशालगढ़ या खेलना के शिर्के सरदारो के हाथ मे पड़ गया । परन्तु कुछ मुद्दत बाद उस के बहादुर पुत्रों ने उसे छुड़ा लिया । सनदो से ऐसा प्रतीत होता है कि १४५४ ई० तक इन सीसोदिया भोंसलो को देवगिरि, मुधोल, रायबाग और वाँई जैसे दूरस्थ इलाकों मे जागीरे मिली हुई थीं । उग्रसिंह की मृत्यु के पश्चात् उस के दो पुत्रो कर्णसिंह और शुभकृष्ण में परस्पर वैमनस्य हो गया । इस पर छोटा भाई शुभकृष्ण अपने चाचा प्रतापसिंह के साथ देवगिरि की जागीर पर १४६० ई० के करीब चला गया और इस तरह इन दो भाइयों के अलग अलग होने पर भोंसलों की दो शाखाएँ

---

१ विशेष के लिए देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का राजपूताने का इतिहास भाग १. पृ० ४२२

हो गईं। बड़ी शाखा मुधोल में राज्य करती रही और उस के सम्बन्ध में बहुत से फर्मान राजा मोहन मुधोल के पास मौजूद हैं।

दूसरी शाखा देवगिरि की जागीर पर कुछ काल तक सन्तुष्ट रही। परन्तु उन्हें भी निजामशाही के बाद शाहों ने अपना सरदार बनाया और पूना के आस पास की जागीर उन्हें इनाम में दी। बाबाजी, मालोजी और शाहजी के सम्बन्ध में बहुत से हस्तलिखित पत्र मिलते हैं, जिन में पता लगता है कि उन्हों ने बहुत बहादुरी के काम कर के यश प्राप्त किया।

इस बात को सिद्ध करने के लिए कि देवगिरि की शाखा मुधोल के राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती थी, दो सनदें मौजूद हैं। एक १४९४ ई० में कर्णसिंह और रामकृष्ण नामक दोनों भाइयों को बाई में जागीर दी गई। इस में से कुछ हिस्सा शाहजी ने घोरपडों से वापिस लिया। इस बात को बताने के लिए १६२६ई० की एक सनद मौजूद है, जिस में दोनों शाखाओं का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर बताया गया है[1]। इस की पुष्टि उस पत्र से भी होती है जो शिवाजी ने बाजीराव के पुत्र मालोजी घोरपडे को लिखा था[2]।

इस तरह बीच के थोड़े से नामों को छोड़ कर पहले और पिछले वंशजों के नाम सनदों, हस्तलिखित पत्रों आदि से पुष्ट होते हैं। उन साक्षियों से सिद्ध होता है कि शिवाजी के पूर्वज सूर्य वंशकुलोत्पन्न थे और सीसोद और चित्तौड के राणाओं के वंशज थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तत्कालीन सनदों और अन्य बातों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि सतारा और कोल्हापुर के शासक और उन के रिश्तेदार मुधोल कापशी आदि घोरपडे शासक सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं और चित्तौड और उदयपुर के राणा के खानदान हैं। इस लिए न्याय पूर्वक वे अपना सम्बन्ध ऐतिहासिक महाकाव्य काल के श्री रामचन्द्र से जोड़ सकते हैं। महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी, शिवराम, शिवराज व शिव छत्रपति का नसों में राजपूतों का विशुद्ध रक्त प्रवाहित हो रहा था। उन के पूर्वज शूद्र किसान न थे, बल्कि सुलतानों के नीचे १३५०ई० में एक विशाल प्रदेश के शासक थे। इस के अतिरिक्त माता की ओर से देवगिरि के यादवों के वंशज होने का वे गौरव कर सकते थे। बहुत से लोगों ने शिवाजी को तुच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उन्हों ने स्थापित मुसल्मानी राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। सब से अधिक शक्तिशाली प्रतापी मुगल-सम्राट् औरंगजेब को नीचा दिखाया, ७०० वर्षों के राष्ट्रीय पतन का प्रतीकार किया, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म की महिमा और गौरव को फिर से स्थापित किया और मुगल-साम्राज्य और दक्खन के सुलतानी राज्यों के भग्नावशेषों पर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

सिंहावलोकन

1 शिवाजी दि ग्रेट जि० १, पृ० २०० ।

2 वहीं, जि० २, पृष्ठ २८१

राजपूताने में प्राचीन शोध

दीवानबहादुर हरबिलास सारदा, अजमेर

भारतवर्ष के इतिहास मे सदा से राजपूताने का महत्व-पूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल मे ही नही, किन्तु मुसलमानो के समय मे भी इस प्रान्त के निवासी उन से लड़ने अथवा उन के सहायक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए। इस देश मे अनेक वीर, विद्वान् एव कुलाभिमानी राजा, सरदार आदि हुए, जिन्हों ने अनेक युद्धों मे अपने प्राणो की आहुति दे कर अपनी कीर्ति को अमर किया। क्षत्रिय जाति सदा से वीरता के लिए प्रसिद्ध रही है। चित्तौड, कुंभलगढ, मांडलगढ, अचलगढ़, रणथभोर, गागरौन, भटनेर (हनुमानगढ़), बयाना, तहनगढ़, मंडोर, जोधपुर, जालोर, आम्बेर आदि किलो तथा अनेक प्रसिद्ध रण-खेतों मे कई बड़े-बड़े युद्ध हुए, जहाँ अनेक वीर क्षत्रियो ने वहाँ की मिट्टी का एक एक कण अपने रक्त से तर किया। कई स्थानो मे वीर क्षत्राणियो तथा क्षत्रिय बालाओ ने अपने धर्म तथा सतीत्व की रक्षा के लिए वीरता के साथ जौहर की धधकती हुई आग मे कूद कर अपने प्राण दिये। इतना ही नही, किन्तु कई जगह उन्हो ने तलवार चमका कर लड़ाइयाँ भी लड़ी थी। राजपूताने मे ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से भ्रमण करनेवालो को स्थान-स्थान पर ऐसे स्मारक मिलेगे, जिन्हे देखने से मालूम होगा कि वहाँ अनेक वीर पुरुषो ने शत्रुओ से लड़ कर अपने प्राण दिये थे। कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताने के ऐसे अनेक स्थल देख कर यही लिखा है—

"राजस्थान मे कोई छोटा-सा राज्य भी ऐसा नही है, जिस मे थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिडास जैसा वीरपुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

इस वीरभूमिके भिन्न-भिन्न भागो मे समय-समय पर अनेक राजवशो ने अपना अधिकार जमाया, अनेक बाहरी आक्रमणो से—विशेषतः मुसलमानो की चढ़ाइयों तथा उन के साथ की लडाइयो के कारण यहाँ के प्राचीन इतिहास के साधन नष्ट हो गये। अपनी प्राचीन पुस्तके नष्ट हो जाने के कारण भाटो ने कई पुस्तकें लिख डाली, जिन मे उन्हो ने इस देश पर राज्य करने वाले वर्तमान राज-वशो के पिछले नाम, जो उन्हे मिल सके, दर्ज किये और पुराने नामो मे से जिन-जिन प्रसिद्ध राजाओ के नाम परम्परा से सुनने मे आते थे, वे ही लिखे। अपनी पुस्तको को पुरानी बतलाने के लिए उन्हो ने अनेक कल्पित नाम और झूठे सवत लिखे। जिन प्राचीन वंशो ने यहाँ राज्य किया, उन मे से कई एक के नाम तक उन को मालूम न हो सके। उन की पुस्तके, जो बहुत अशुद्ध लिखी जाती है और जिन मे उन को दिये हुए इनाम-इकराम का हाल अतिशयोक्ति के साथ लिखा रहता है, इतिहास की पुस्तके समझी जाने लगी। उन्हे भी वे किसी को बतलाने मे, अपनी जीविका के चले जाने के विचार से, बहुधा संकोच करते रहे। ऐसी स्थिति मे राजपूताने का प्राचीन इतिहास अंधकार मे ही पड़ा रहा और जिन प्रसिद्ध राजाओ के नाम जन-श्रुति से सुनने मे आते थे, वे कब हुए और उन्हो ने अपने जीवनकाल मे क्या-क्या किया, यह सब प्रायः अज्ञात ही रहा।

भारत मे अङ्गरेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् विद्या का फिर प्रचार बढ़ा और पश्चिमी शैली पर अङ्गरेजी के साथ संस्कृत तथा अन्य भाषाओ की पढ़ाई आरभ हुई। अपने विद्या-प्रेम के कारण कई अङ्गरेज विद्वानो ने संस्कृत का अध्ययन प्रारभ किया और सर विलियम जोन्स ने महाकवि कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का अङ्गरेजी

अनुवाद प्रकाशित किया, जिसे देख कर पाश्चात्य विद्वान् चकित हो गये और शेक्सपियर की तरह कालिदास का आदर करने लगे।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य की महत्ता का परिचय संसार के विद्वानों को होने लगा। शनैः शनैः यूरोप में संस्कृत का पठन पाठन आरंभ हुआ। ई० सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स के प्रयत्न से एशिया के इतिहास, शिल्प, साहित्य आदि के शोध के लिए कलकत्ते में एशियाटिक-सोसाइटी ऑव्-बंगाल नाम की संस्था स्थापित हुई और ई० सन् १७८८ में उक्त संस्था के द्वारा 'एशियाटिक रिसर्चेज़' नामक प्राचीन शोध सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। यूरोप के सब देशों में उस की ख्याति फैली और उस का फ्रेंच अनुवाद भी होने लगा। उक्त पत्रिका की २० जिल्दें छपने के पश्चात् ई० सन् १८३२ से उसी संस्था द्वारा उस के स्थान में 'जर्नल ऑव् दी एशियाटिक-सोसाइटी ऑव् बंगाल' नाम का त्रैमासिक पत्र प्रकाशित होने लगा। यूरोप में भी इस विषय की बहुत-कुछ चर्चा आरंभ हुई और ई० सन् १८२३ के मार्च में लन्दन में भी उसी उद्देश्य से 'रॉयल एशियाटिक-सोसाइटी' की स्थापना हुई और उस की शाखाएँ बम्बई और सिलोन (लंका) में भी खुलीं। इसी तरह समय समय पर फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोपीय देशों में तथा अमेरिका एवं जापान में भी एशिया सम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयों के शोध के लिए संस्थाएँ स्थापित हुईं। उन के मुख पत्रों में भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर अनेक लेख प्रकट हुए और अब तक हो रहे हैं। ई० स० १८४४ में 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' ने भारत सरकार द्वारा इस कार्य का होना आवश्यक समझ कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से निवेदन किया और ई० सन् १८४७ में लॉर्ड हार्डिज के प्रस्ताव पर 'बोर्ड ऑव् डाइरेक्टर्स' ने इस काम के लिए खर्च की मंजूरी दी। ई० स० १८६१ में युक्त-प्रान्त के मुख्य इंजीनियर कर्नल ए० कनिंगहम ने इस विषय की योजना तैयार कर लॉर्ड केनिंग की सेवा में पेश की, जो स्वीकृत हुई और सरकार की ओर से प्राचीन शोध के निमित्त 'आर्किऑलॉजिकल सर्वे (पुरातत्त्व विभाग)' नाम का महकमा कायम हुआ। फिर जनरल कनिंगहम ने उत्तरी भारत में और डॉ० जेम्स बर्जेस ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्राचीन शोध का कार्य प्रारंभ किया। ई० स० १८७२ में इसी उद्देश्य से 'इंडियन् एंटिक्वेरी' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। वह अब तक बराबर निकल रहा था। ई० स० १८८८ से आर्कियॉलॉजिकल सर्वे की ओर से एपिग्राफ़िया इंडिका नाम की त्रैमासिक पत्रिका निकलने लगी, जिस की अब तक २० जिल्दें छप चुकी हैं। भारत के इतिहास के लिए उस का बहुत महत्त्व है। इस प्रकार अनेक विद्वानों के श्रम तथा सरकार के प्रयत्न से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत-कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, जिस में राजपूताने के इतिहास के भिन्न भिन्न भागों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। निम्न पंक्तियों में हम राजपूताने के इतिहास के अनेक अंगों की पूर्ति के लिए यत्न करने वाले विद्वानों का कुछ परिचय देते हैं।

महाराणा कुंभा

मेवाड़ के सुप्रसिद्ध एवं प्रतापी महाराणा कुंभा बड़े वीर, विद्वान्, शिल्प और संगीत के अद्वितीय ज्ञाता तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। अपने वंश के इतिहास की तरफ़ उन की विशेष रुचि थी, परन्तु उस समय उन के पूर्वजों की शुद्ध नामावली तथा उन का चरित्र तक उपलब्ध नहीं था जिस से उक्त महाराणा ने अपने राज्य में मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखों का संग्रह करवाया और उन के आधार पर अपनी वंशावली ठीक की, इतना ही नहीं, किन्तु यथासाध्य उन का वृत्तान्त भी एकत्र किया। उन्हों ने एकलिंग महात्म्य का 'राजवर्णन' नाम का अध्याय स्वयं सम्पूर्ण किया और वह भी अपनी कल्पना के अनुसार नहीं, किन्तु अनेक प्राचीन शिलालेखों के आधार पर। उन्हीं के समय की

कुंभलगढ़ की बड़ी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरंभ में जन-श्रुति के आधार पर उन के पूर्वजों का वर्णन है, फिर 'राज-वर्णन' प्राचीन प्रशस्तियों के आधार पर लिखा गया है। इस 'राजवर्णन' का अधिकांश नष्ट हो गया है, थोड़ा-सा अंश बचने पाया है; परंतु उक्त महाराणा के एकलिंग-माहात्म्य के 'राजवर्णन' नामक अध्याय से नष्ट हुए सारे अंश की पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार महाराणा कुंभा को राजपूताने का सर्व-प्रथम प्राचीन शोधक कहना चाहिए।

कर्नल टॉड ई० सन् १७९९ के मार्च मास में भारत में आये। उस समय उन की आयु १७ वर्ष की थी। ई० सन १८०० में वे १४ नंबर की देशी पैदल सेना में लेफ्टनेंट के पद पर नियत हुए। इंजीनियरी के काम में कुशल होने के कारण दूसरे ही वर्ष दिल्ली के पास की पुरानी नहर की पैमाइश का काम उन के सुपुर्द हुआ। चार वर्ष के अनंतर वे दौलतराव सिन्धिया के दरबार के सरकारी राजदूत और रेजिडेंट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकड़ी के अध्यक्ष नियत हुए। उस समय सिंधिया का मुकाम मेवाड़ में होने से उन्हें आगरे से उदयपुर पहुँचना था। मार्ग में ही टॉड ने पैमाइश शुरू कर दी और कुछ लोगों को उस का काम सिखला कर जहां वे स्वयं न जा सके वहाँ अपने ही खर्च से उन्हें भेज कर नकशे तैयार करवाए और उन की जांच कर सब से पहले राजपूताने का नकशा उन्हों ने ही तैयार किया। ई० सन १८१८ में गवर्नमेण्ट ने राजपूताने के राजाओं से सन्धि आरंभ की और कर्नल टॉड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी, सिरोही और जैसलमेर राज्यों के पोलिटिकल-एजंट नियुक्त हुए और १८२२ की जून तक वे इस पद पर बने रहे। फिर वे स्वदेश को चले गये।

कर्नल जेम्स टॉड
(ई० सन् १७८२—१८३५)

वीर जातियों के इतिहास से उन्हें बड़ा प्रेम था, इस लिए उन्हों ने राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संग्रह करना प्रारंभ किया और उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी तथा सिरोही राज्यों में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिला-लेख, दान-पत्र, सिक्के आदि का बड़ा संग्रह कर लिया। जिन राज्यों में वे न जा सके, वहाँ का इतिहास उन्हों ने उन राज्यों से—अथवा अन्य प्रकार से—प्राप्त किया। स्वदेश जाते समय वे उदयपुर से गोगूंदा, बीजापुर आदि स्थानों में होते हुए सिरोही और वहाँ से आबू पहुँचे। तत्पश्चात् परमारों की प्रसिद्ध राजधानी चंद्रावती के प्राचीन खँडहरों का निरीक्षण कर गुजरात होते हुए वे खंभात से काठियावाड़ और कच्छ को पहुँचे। वहाँ से जल-मार्ग द्वारा बम्बई पहुँच कर इंगलैंड को प्रस्थान किया। राजपूताने में रहते समय उन के साथ रहने वाले सरकारी सिपाहियों के अफसर कप्तान वाव (Waugh) चित्रकला में बड़े निपुण थे। कर्नल टॉड जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ वे उन के साथ रहते और प्राचीन मंदिरों मूर्तियों आदि के चित्र उन के लिए तैयार करते। इसी तरह जब से वे आये, तब से उन के प्रस्थान के समय तक यति ज्ञानचंद्र बराबर उन के साथ रहे। उन को टॉड अपना गुरु मानते थे और वही उन्हें पृथ्वीराज रासौ आदि भाषा-काव्यों का अर्थ सुनाते और शिला लेख आदि पढ़ते थे। कर्नल टॉड राजपूताने से संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रन्थ, २० हजार प्राचीन सिक्के, कई शिलालेख तथा अन्य सामग्री अपने साथ विलायत ले गये। लंदन पहुँचने के बाद उन्हों ने राजपूताने का कीर्तिस्तम्भ रूप ऐनल्स-ऐंड-ऐंटिक्विटीज ऑव् राजस्थान, नाम का एक बृहद् ग्रन्थ लिख कर ई० स० १८२९ में उस की पहली जिल्द और १८३२ में दूसरी जिल्द प्रकाशित की, जिस से पहले पहल यूरोप वालों को राजपूतों की वीरता, उदारता आदि गुणों का परिचय हुआ। उस के पश्चात् उन्हों ने उदयपुर से प्रस्थान कर बंबई तक की अपनी यात्रा का वर्णन "ट्रेवल्स-इन-वेस्टर्न-इंडिया" नाम के एक बृहद् ग्रन्थ में लिखा, जो उन की मृत्यु के पीछे ई० सन १८३९ में प्रकाशित हुआ।

आधुनिक काल के राजपूताने के प्राचीन शोधकों में कर्नल टॉड सब से पहले थे। उन्हों ने सैकड़ों शिलालेख, अनेक ग्रन्थों, ख्यातों तथा फरिश्ता आदि की फारसी तवारीखों के आधार पर राजपूताने का जो इतिहास लिखा, वह पहला एवं असाधारण ग्रन्थ है। उन के समय में राजपूताने में रेल, तार, डाक सड़कें आदि न थीं ऐसी दशा में उन्हों ने घोड़ा, हाथियों, ऊँटों आदि पर हजारों मील की यात्रा कर जो कार्य किया, वह उन की असाधारण गवेषणा, अथाह परिश्रम और कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है। राजपूताने की प्राचीन, शोध सम्बन्धी जो बातें इस समय ज्ञात हुई हैं वे बहुधा उस समय अज्ञात थी और अधिक प्राचीन शोध करने के साधन न थे, जिस से उन के ग्रन्थों में कहां कहीं परिवर्तन करने की अब आवश्यकता हुई है, तो भी उस समय के उन के अगाध परिश्रम और गवेषणा को देखते हुए राजपूताने के इतिहास से प्रेम रखने वाला कोई भी विद्वान् उन की सराहना किये बिना नहीं रह सकता।

यति ज्ञानचन्द्र

ज्ञानचन्द्र जयपुर के खरतरगच्छ के यति अमरचंद के शिष्य थे। भाषा-कविता के अच्छे ज्ञाता होने के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था, इस कारण कर्नल टॉड उन को अपना गुरु मान कर सदा अपने साथ रखते —टॉड के राजस्थान तथा ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इंडिया में जितने शिला-लेखों और ताम्र पत्रों का उल्लेख मिलता, वे सब इन्हीं ने ही पढ़े थे। वे ई० सन् की १० वीं शताब्दी के आस पास के शिला लेखों को पढ़ लेते थे, परन्तु प्राचीन शिलालेख उन से ठीक नहीं पढ़े जाते थे। संस्कृत का ज्ञान भी साधारण होने के कारण कहीं कहीं उनमें त्रुटियाँ रहगईं, जो टॉड के ग्रन्थों में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। कर्नल टॉडने महाराणा भीमसिंह से सिफारिश कर उन को बहुत-सी जमीन दिलाई। उन का उपासरा माँडल नामक कस्बे में है, जहाँ टॉड के समय की कई एक पुस्तकें, चित्र तथा शिला-लेखों की नकलें विद्यमान हैं।

अलेग्ज़ेंडर किलोक फ़ोर्ब्स
(ई० सन् १८२१ १८६५)

जिस प्रकार कर्नल टॉड ने राजपूताने के इतिहास के लिए प्रशंसनीय प्रयत्न किया, उसी तरह किलोक फॉर्ब्स ने गुजरात के इतिहास का उद्धार किया। पाटन आदि स्थानों में गुजरात से संबंध रखने वाले कई प्राचीन, संस्कृत ग्रन्थ मिल जाने से इन्हों ने बड़ी खोज के साथ रा स मा ला नामक गुजरात का बृहद् इतिहास लिखा। उस के सम्बन्ध में उन्हों ने आबू की यात्रा की और वहाँ के कई शिला-लेखों की नकलें कीं और देलवाड़े के दोनों जैन मन्दिरों की कारीगरी की उत्तमता के विषय में बहुत-कुछ लिखा है।

अलग्ज़ेंडर कनिंगहम
(ई० सन् १८१४-१८९३)

अलग्ज़ेंडर कनिंगहम इन्जीनियर थे और कई लड़ाइयों में रहे थे। ई० सन १८६१ में भारत सरकार ने आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित कर इन्हें उस का अध्यक्ष नियत किया। उन्हों ने चीनी यात्रियों के यात्रा विवरणों को मूल आधार मान कर सारे उत्तर-भारत में प्राचीन शोध का काम किया। राजपूताने में वैराट्, आमेर, जयपुर, अजमेर, चन्द्रावती (झालरापाटन), कोलवा की गुफाएँ (झालावाड़ राज्य), कोटा, भरतपुर, कामा, बयाना, विजयमन्दिरगढ़, तहनगढ़, खानवा, तिजारा, बहादुरपुर, अलवर, राजगढ़, पारानगर आदि स्थानों का निरीक्षण कर वहाँ के शिलालेख, शिल्प आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला। उन के समय तक अशोक के जितने शिला-लेख ज्ञात हुए, उन की उन्हों ने एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस में वैराट (जयपुर राज्य) का लेख और भाबू वाला अशोक का संघ के नाम का पत्र भी प्रकाशित हुआ है। इन्हों ने पुरातत्व सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे और भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के सम्बन्ध

मे एं श्यं ट जि ऑ ग्र फी ऑ व इं डि या नाम की बृहद् पुस्तक लिखी, हजारों सिक्के एकत्र किये और उन पर चार ग्रन्थ लिखे। महाराणा कुम्भा के चतुरस्र बड़े सिक्के को पहले पहल उन्हों ने ही प्रकाशित किया। उन के सिक्कों के ग्रन्थों में राजपूताना से सम्बन्ध रखने वाले भी कई सिक्के छपे हैं। उन की रिपोर्टों की २३ जिल्दें तथा अन्य ग्रन्थ राजपूताने के लिए ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष के प्राचीन शोध के लिए बड़े महत्त्व के हैं। उन के अगाध परिश्रम और अध्यवसाय का परिचय उन के ग्रन्थों से ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार ने आप को सी. एे. इ. के सी. ऐ. इ. की उपाधियाँ दी थी।

मि० कार्लाइल जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्हों ने राजपूताने मे खेडा, रूवास, बयाना, विजयमंदिरगढ़, माचेडी, बैराट्, धौसा. नाई, चाट्सू, शिवडूंगर, टोड़ा, बघेरा, वीसलपुर, कर्कोटकनगर (जयपुर राज्य), नगरी (मध्यमिका. उदयपुर राज्य), मोरा. बिजोल्यो आदि स्थानो में भ्रमण कर वहाँ का विवरण लिखने के अतिरिक्त कई शिला-लेखो का पता लगाया और बहुत से सिक्के सग्रह किये। कर्कोटकनगर मे मिलने वाले मालवो तथा शिवि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड़) के सिक्के और मेवाड़ के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सब से पहले उन्हीं को मिले थे। ई० सन १८७१ से १८८० तक की जनरल कनिंगहम की आर्कियॉलॉजिकल सर्वे की रिपोर्टों में कई जगह इन के राजपूताना-सम्बन्धी अनुसंधानो का विवरण मिलता है।

ए० सी० एल० कार्लाइल

मि० गैरिक भी जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्हो ने बैराट्, आंबेर. जयपुर, अजमेर, नागौर, मडोर. जोधपुर, पाली, नाडौल, जूना खेडा नाथद्वारा, चित्तौड, निमटोर. चन्द्रावती (झालरापाटन) खटकड और भीमगढ़ आदि स्थानो का निरीक्षण किया और कई शिलालेखो का पता लगाया। वे चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ की बची हुई दो शिलाओं तथा रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० के चित्तौड़ के शिलालेख का चित्र सर्व-प्रथम प्रसिद्धि मे लाये।

एच० बी० डब्ल्यू गैरिक

डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी जूनागढ़ के रहने वाले प्रश्नोरा नागर थे। रासमाला के कर्ता किलोक फॉर्ब्स की सिफारिश से वे बबई के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० भाऊदाजी के असिस्टेंट नियत हुए। उन्हों ने भाऊदाजी के साथ रहते समय काठियावाड़, दक्षिण आदि के अनेक शिलालेख संग्रह किये और उन्हे पढ़ा। उड़ीसा की प्रसिद्ध हातीगुम्फा वाले राजा खारवेल के शिलालेख को सर्व-प्रथम प्रसिद्ध मे लाने का श्रेय भी उन्ही को है। उन्हों ने नेपाल में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिला-लेख सग्रह किये। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशमे दौरा कर मथुरा के प्रसिद्ध सिहध्वज का, जिस पर खरोष्ठी लिपि मे क्षत्रपों के कई लेख खुदे हुए थे, पता लगा कर उसे प्राप्त किया। कामा की मसजिद के स्तंभ पर खुदे हुए शूरसेन वंशी यादवो के ई० सन् की ७ वी शताब्दी के लेख को शुद्धतापूर्वक पढ़ा और प्रकाशित किया। मि० कैम्बेल की अध्यक्षता मे प्रकाशित होने वाले बम्बई गैजेटियर की पहली जिल्द के लिए गुजरात का प्राचीन इतिहास भी आपने ही लिखा, जिस मे राजपूताना के बहुत से भागपर राज्य करने वाले सोलंकियो का विस्तृत इतिहास भी है। अन्य अन्य सिक्को के सिवा आपने क्षत्रप राजाओ के सिक्कों का बहुत बड़ा सग्रह किया जिसे अपनी मृत्यु के समय उपर्युक्त मथुरा वाले सिंहध्वज के साथ ब्रिटिश-म्यूजियम को भेट कर दिया। उन की शोधक-बुद्धि, विद्वत्ता और गवेषणा अपूर्व थी। लयिडन की युनिवर्सिटी की तरफ से आप को 'डाक्टर ऑव् फिलॉसफी, की उपाधि मिली थी। ई० स० १८८८ के १६ मार्च को उन का स्वर्गवास हुआ।

डा० भगवान लाल इन्द्रजी

ये दधवाड़िया गोत्र के चारण थे। उन के पूर्वज रूण के साँखले राजाओं के पोलपात थे। साँखलों का रूण का राज्य छूट गया, तब वे भी अपने स्वामी के साथ मेवाड़ में आ रहे। यहाँ समय समय पर उन्हें महाराणाओं की तरफ से कई गाँव मिले। कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महाराणा शम्भुसिंह और सज्जनसिंह के विश्वासपात्र रहे। महाराणा सज्जनसिंह ने अपने राज्य का बृहद् इतिहास प्रकाशित करने का निश्चय कर उस के व्यय के लिए एक लाख रुपये स्वीकृत किये और यह कार्य कविराजा के सुपुर्द किया। आपने अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत जानने वाले विद्वानों को अपने इतिहास कार्यालय में भर्ती किया और मेवाड़ तथा बाहर के राज्यों में पंडितों को भेज कर अनेक शिलालेखों की छापें तयार करवा कर उन का संग्रह किया। उन्होंने विस्तार पूर्वक उदयपुर राज्य का और राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का, जिन का किसी न किसी प्रकार उदयपुर से सम्बन्ध रहा, संक्षिप्त इतिहास लिखा। जिन मुसलमान सुलतानों और बादशाहों का मेवाड़ से युद्ध आदि के रूप में संबंध रहा, उन का भी इतिहास इस ग्रंथ में लिखा गया। उक्त बृहद् ग्रंथ का नाम 'वीर विनोद' रक्खा, जिस में अनेक शिलालेखों, दान पत्रों, सिक्कों, राजकीय पत्र-व्यवहार, बादशाही फरमान आदि का बहुत अच्छा संग्रह हुआ है। यह उपयोगी ग्रंथ छप तो गया, परन्तु राज्य की तरफ से प्रसिद्ध न किया गया। इस से उन का सारा श्रम वस्तुतः जैसा होना चाहिए, वैसा सफल न हो सका और विद्वत्समाज को उस का यथेष्ट लाभ न पहुँच सका। उनका देहान्त वि० सं० १९५१ तदनुसार ई० स० १८९४ में हुआ।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास ई० सन् (१८३६—१८९४)

मुंशी देवीप्रसाद जाति के कायस्थ थे। पहले वे टोंक राज्य में नौकर थे, फिर उन्हों ने जोधपुर राज्य की सेवा आरंभ की। वे फारसी के अच्छे विद्वान और इतिहास के प्रेमी थे। उन्हों ने अनेक फारसी ग्रन्थों के आधार पर बाबरनामा, हुमायूँनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा, शाहजहाँनामा, औरंगजेबनामा, खानखानानामा आदि पुस्तकें लिख कर हिन्दी पाठकों के लिए मुसलमान-कालीन इतिहास जानने का अच्छा साधन उपस्थित कर दिया। अपने इतिहास प्रेम के कारण उन्हों ने उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर आदि के कई राजाओं के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित किये। मुंशी जी जहाँ जाते, वहाँ के शिला लेखों की छाप तैयार करते और अपने इतिहास प्रेमी मित्र गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास भेज कर उन्हें पढ़वाते। उन्हों ने प्रतिहार राजा बाउक और कक्कुक के शिला-लेख और दधिमति माता के मन्दिर के गुप्त संवत् २८९ (ई० सन् ६०८) का तथा जालौर आदि के शिला लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया। वे निर्भीक इतिहास-लेखक थे। उन की पुस्तकों की राजपूताने में बहुत शुद्ध प्रशंसा है। उन का देहान्त ता० १५ जुलाई ई० सन् १९२३ (वि० सं० १९८०) में हुआ।

मुंशी देवीप्रसाद (ई० सन् १८४८—१९२३)

भावनगर राज्य के स्वामी रावल तख्तसिंह जी को इतिहास का अधिक प्रेम होने के कारण उन्हों ने ई० सन् १८८१ में अपने राज्य में आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित किया और कई विद्वानों द्वारा काठियावाड़ से मिलने वाले मौर्यों, क्षत्रपों, गुप्तों, वलभी के राजाओं, सोलंकियों और गोहिलों के शिला-लेखों तथा दानपत्रों का संग्रह करवाया और उदयपुर के सूर्यवंश से अपने वंश का निकास होने के कारण उदयपुर, चित्तौड़ एकलिंगजी, नागदा, आबू, राणपुर, नारलाई, नादड़ी, राजनगर आदि स्थानों से मिलने वाले मेवाड़ के सूर्यवंशी राजाओं के भी कई एक शिला-लेख अपने पंडितों द्वारा एकत्र करवाये।

रावल तख्तसिंह जी (ई० सन् १८५८—१८९६)

ई० सन् १८८५ मे भा व न ग र-प्रा ची न-शो ध-सं ग्र ह नामक बृहद् ग्रन्थ का प्रथम भाग, जिस में उक्त राज्य की ओर से सूर्यवंशियों (मेवाड़ के गुहिल वंशियों और काठिवाड़ के गोहिलो) से सम्बन्ध रखने वाले कई एक शिलालेख उन के गुजराती और अङ्गरेजी भाषान्तर सहित—विजयशंकर गौरीशङ्कर ओझा के द्वारा संपादित एवं प्रकाशित हुए हैं। उक्त ग्रन्थ के अंत मे काठियावाड़ और राजपूताना के कई सौ अन्य शिलालेखो की तालिका उन के संक्षिप्त परिचय सहित दी गई है। यह ग्रन्थ इतिहास-प्रेमियो के लिए बड़ा उपयोगी है। इस के अतिरिक्त ए क लै क्श न ऑ व प्रा कृ त एं ड सं स्कृ त इ न्स्क्रि प्श न्स" नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी महाराजा ने प्रकाशित किया, जिस मे काठियावाड़ से मिलने वाले मौर्यवंशी राजा अशोक, क्षत्रपो, गुप्तवंशी स्कंदगुप्त और वलभी के राजाओं, मेवाड़ के गुहिल वंशियों, काठियावाड के गोहिलो और गुजरात के सोलंकियों के ६४ शिला-लेख एवं दान-पत्र अंग्रेजी अनुवाद और उन के चित्र-सहित छापे हैं।

उक्त महाराजा का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय है।

डॉ० बूलर जर्मनी के हेनोवर नगर के रहने वाले थे। उन्हो ने हेनोवर, गॉटिंगेन, पेरिस, ऑक्सफर्ड आदि नगरो मे रह कर जर्मन, अङ्गरेजी और संस्कृत की शिक्षा पाई और ई० सन् १८८० मे बंबई के एल्फिंस्टन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर और फिर उस विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन को बम्बई गवर्नमेंट ने कई बार हस्तलिखित संस्कृत और प्राकृत पुस्तकों के संग्रह करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो मे भेजा। उन्हो ने लगभग ५००० संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त किये। उन्होंने भी दौरा किया और जैसलमेर के प्रसिद्ध जैन भडारों के संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थो को राजपूताने के कुछ भाग मे देखने के लिए ऊँट की सवारी कर मरुभूमि मे वहाँ तक की यात्रा की। वे ही पहले विदेशी विद्वान थे, जिन्हो ने वहां के भडारों को देखा। इसी तरह उन्हो ने कश्मीर में जा कर वहाँ की पुस्तकों की खोज की और अनेक प्राचीन पुस्तकें प्राप्त की, जिनमें शारदा (कश्मीरी) लिपि में भोज-पत्र पर लिखी हुई जयानक रचित पृ थ्वी रा ज-वि ज य म हा का व्य की पुस्तक उल्लेखनीय है। यद्यपि यह पुस्तक अपूर्ण है, तथापि राजपूताने के इतिहास के लिए इस का विशेष महत्त्व है। उन्होने संस्कृत ग्रन्थों की खोज के अतिरिक्त अनेक प्राचीन शिला-लेखों का इंडियन आटिक्वेरी, एपिग्राफिया इंडिका आदि पत्रिकाओ मे सम्पादन किया। प्राचीन भारत के इतिहास के लिए यह बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। उन्होने एन्साइक्लोपीडिया ऑव इन्डो-आर्यन-फाइलॉ-लॉजी नामक भारतीय खोज-संबधी कई जिल्दो का ग्रन्थ तैयार करवा कर प्रकाशित करने का सराहनीय प्रयत्न किया, किन्तु उस की थोड़ी ही जिल्दें उन की जीवित दशा में छप सकी। प्राचीन लिपियो के संबध मे उन्हों ने उसी मे Mdisohe Palaeographie नामक ग्रंथ ई० सन् १८९४ में जर्मन भाषा में प्रकाशित किया, जिस का डॉक्टर फ्लीट ने अंग्रेजी अनुवाद किया इन में भारतीय प्राचीन लिपियों के ९ नकशे हैं, जिन की सहायता से प्राचीन लिपियाँ पढ़ी जा सकती हैं। डॉक्टर बूलर बड़े विद्वान् और पुरावृत्त के खोजी थे। उन्हों ने कई संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किये। कई एक का उन्हो ने अनुवाद भी किया। ई० सन १८९८ ता० ८ अप्रेल को जर्मनी की कोन्स्टन्स नामक झील मे सैर करते समय किश्ती के उलट जाने से उन की खेद-जनक मृत्यु हुई।

डा० जॉन जॉर्ज बूलर (ई० सन् १८३७–१८९८)

डॉ० कील हॉर्न प्रशिया (जर्मनी) के गोटिंगेन नगर के रहने वाले संस्कृत के असाधारण विद्वान और संस्कृत व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। उन्हों ने प्रो० मेक्समूलर को सायण की टीका सहित ऋग्वेद के प्रकाशन मे बहुत कुछ

सहायता की थी। ई० स० १८६६ में वे हिन्दुस्तान में आये और पूना के डेक्कन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उन्हों ने पतंजलि का संपूर्ण महाभाष्य चार जिल्दों में सम्पादित किया और व्याकरण के अन्य ग्रन्थों के विषय में भी बहुत कुछ लिखा। भारत के प्राचीन इतिहास की ओर उन का विशेष ध्यान होने से उन्हों ने अनेक शिला-लेख और दान पत्र "इंडियन ऍटिक्वेरी, "एपिग्राफिया इंडिका" आदि में सम्पादित किए।

डॉक्टर फ्रैंज कील हॉर्न
(ई० सन् १८४० १९०८)

राजपूताने से सम्बन्ध रखने वाले कई शिला लेखों का उन्हों ने सम्पादन किया, जो गुहिल, चौहान, परमार, प्रतिहार आदि वंशों के प्राचीन इतिहास के लिए विशेष महत्व के हैं। उन्हा ने अपने समय तक के उत्तरी और दक्षिणी भारत के प्रकाशित शिला-लेखों और दान पत्रों की सार-सहित सूचियाँ "एपि ग्राफिया इंडिका" में छापीं। ये राजपूताने की ही नहीं, किन्तु भारत भर के इतिहास प्रेमियों एवं पुरातत्ववेत्ताओं के लिए परमोपयोगी हैं। उत्तरी भारत की सूची को काशी की ना० प्र० सभा के मंत्री रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्राचीन 'लेख मणिमाला' नाम से हिन्दी में प्रकाशित की थी।

प्रो० पीटर्सन ने एडिनबरा और ऑक्सफर्ड की युनिवर्सिटियों में अँग्रेजी के साथ संस्कृत की शिक्षा पाई और सन १८७३ में वे बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर नियत हुए। बम्बई सरकार की तरफ से उन्हों ने संस्कृत एवं प्राकृत की प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए गुजरात और राजपूताने में कई बार दौरे किए। राजपूताने में उदयपुर, कोटा, बूँदी आदि राज्यों में भ्रमण कर उन्हों ने कई पुस्तकों का पता लगाया, जिन में राजपूताना के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कई संस्कृत काव्य भी हैं। उन्हों ने कोटा के पास वाले कणस्वा के मन्दिर के वि० सं० ७९५ (ई० सन ७३८) के शिलालेख का, जो कर्नल टॉड के समय ठीक ठीक नहीं पढ़ा गया था, शुद्धतापूर्वक सम्पादन किया। डॉ० पीटर्सन ने संस्कृत पुस्तकों की खोज सम्बन्धी ६ रिपोर्टें प्रकाशित कीं, जिन में राजपूताने की इतिहास-सम्बन्धी बहुत सामग्री है। इन के सिवा उन्हों ने अलवर राज्य के पुस्तक भंडार का एक बृहद् एवं महत्त्वपूर्ण सूचीपत्र भी ई० सन १८९२ में प्रकाशित किया।

प्रो० पीटर पीटर्सन
(ई० सन् १८४७ १८९९)

डॉ० वेब बीकानेर तथा उदयपुर के रेजिडेन्सी सर्जन रह थे। सिक्के एकत्र करने का शौक होने के कारण उन्हों ने राजपूताने के हिन्दू राज्यों के सिक्कों का अच्छा संग्रह कर ई० सन १८९३ में "दि करन्सीज ऑव् दि हिन्दू स्टेट्स ऑव् राजपूताना" नामक एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस में उक्त राज्यों के प्रचलित उपलब्ध सिक्कों का चित्र-सहित विवरण दिया गया है। यद्यपि इस में राजपूताने के सब प्राचीन सिक्कों का विशेष वर्णन नहीं मिलता, तो भी उन्हों ने जो संग्रह किया है उतना एक पुस्तक के रूप में अन्यत्र मिलना कठिन है। इसलिए उन की यह पुस्तक भी राजपूताने के इतिहास के लिए उपादेय है।

डब्ल्यू डब्ल्यू० वेब

श्वेताम्बर संप्रदाय के जैनाचार्य विजयधर्म सूरि संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित, जैन आदि दर्शन शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता और जैन इतिहास के शोधक विद्वान थे। वे जहाँ जहाँ चातुर्मास करते, वहाँ के शिलालेखों का संग्रह बराबर किया करते थे। उदयपुर राज्य का देलवाड़ा नामक स्थान जैन-मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ तथा उस के समीपवर्ती प्राचीन नागदा नगर में उपलब्ध होने वाले जैन-लेखों का संग्रह "देवकुल पाटक" नाम की पुस्तिका में उन्हों ने प्रकाशित किया है। उन के संग्रह किए हुए सैकड़ों शिला-लेखों में से ५० शिला-लेखों का एक अलग संग्रह प्राचीन

विजयधर्म सूरि
(ई० सन् १८६८ १९२२)

लेख-सग्रह भाग १ के नाम से मुनिराज श्री विद्याविजय जी ने ई० सन् १९२९ मे उन के स्वर्गवास के अनतर प्रकाशित कराया। ये लेख राजपूताना के इतिहास क लिए बड़े उपयोगी हैं।

डॉक्टर जॉन फ़ेथफ़ुल फ्लीट (ई० सन् १८४७—१९१७)

डॉ० फ्लीट इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर सन् १८६७ मे बम्बई पहुँचे। ई० सन् १८८३ मे गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट के पद पर नियत हुए। उन्हे इतिहास से बहुत प्रेम एव शिला-लेखो को पढ़ने तथा उन की खोज की लगन थी। उन्हो ने ई० सन् १८८८ मे "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स" नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिस मे गुप्तो और उन के समकालीन राजाओं के उस समय तक के ज्ञात ८१ शिला-लेख और ताम्र-पत्र चित्रों और अग्रेजी अनुवाद के साथ छपे है। इस मे गगधार (झालावाड़ राज्य) से मिला हुआ वि० स० ४८०का, विजयगढ़ (विजयमदिरगढ़, भरतपुर राज्य) से मिला हुआ यौधेयो का तथा वि० स० ४२८ का विष्णुवर्द्धन का लेख प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ मे राजपूताने के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले कई अन्य लेख भी प्रकाशित हुए है। उन्हो ने 'डायनेस्टीज़ ऑव दि केनारीज़ डिस्ट्रिक्ट' नाम का बम्बई प्रान्त से सबध रखने वाले प्राचीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो मि० केम्बेल द्वारा सम्पादित बम्बई गैजेटियर की पहली जिल्द के दूसरे भाग मे प्रकाशित हुआ है। उन्हो ने "इंडियन ऑटिक्वेरी" तथा "एपिग्राफिया इंडिका" मे अनेक शिलालेखो और दान-पत्रो का सम्पादन किया है, जिन मे से कई एक राजपूताने से सम्बन्ध रखते हैं। वे "इडियन ऑटिक्वेरी" के ई० सन् १८८५ से १८९१ तक संपादक भी रहे।

सेसिल बेंडाल

आप ने लदन और केम्ब्रिज मे अध्ययन किया। सस्कृत के आप अच्छे ज्ञाता और ब्रिटिश म्यूजियम के प्राच्य-देशीय (oriental) पुस्तक-विभाग के अध्यक्ष थे। उन्हो ने बौद्ध धर्म-सम्बन्धी प्राचीन पुस्तको की खोज के विचार से नेपाल की यात्रा की और वहाँ अनेक अज्ञात ग्रन्थो का पता लगाया। वे राजपूताने मे जयपुर, उदयपुर, चित्तौड़ आदि मे इसी उद्देश्य से गये थे। उन्हो ने आंबेर के किले मे सूर्य-मदिर के वि० सं० १०११ के शिला-लेख का तथा उदयपुर की पुरानी राजधानी आहाड़ के शक्तिकुमार के शिला-लेख का पता लगाया और उन्हे अपनी 'जर्नी ऑव् लिट्रेरी ऐंड ऑर्कियॉलॉजिकल रिसर्च इन् नेपाल ऐंड नॉर्दर्न इडिया' (१९१८) नामक पुस्तक मे चित्र-सहित प्रकाशित किया।

डॉक्टर टेसिटोरी

डॉ० टेसीटोरी इटली देश के निवासी थे। उन को राजस्थानी और डिंगल भाषा से बड़ी अभिरुचि थी। बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी ने राजस्थानी और डिगल भाषा के ग्रन्थो की शोध करवाने के उद्देश्य से इस महत्त्वपूर्णकार्य के लिए डा० टेसिटोरी को नियत किया। उन्हो ने जोधपुर और बीकानेर राज्यो मे रह कर वहाँ के अनेक डिंगल ग्रथो की तीन विभागो मे सूचियाँ बनाई, जिन्हे बगाल एशियाटिक सोसाइटी ने अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। इन सूचियों के अतिरिक्त खडिया जगा कृत 'रतनसिंह री वचनिका', बीकानेर के राठोड़ पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणि री' और विठूसूजा कृत 'राव जयतसी रो छद' नामक तीनों डिंगल भाषा के ग्रन्थो का सम्पादन किया। इस के सिवा उन्हो ने अपने दौरे की वार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित की, जिन मे राजपूताने के कई स्थलो का वृत्तान्त तथा कई शिलालेख भी छपे हैं। ई० सन् १९१८ मे यवावस्था मे ही उन का देहान्त हो गया।

ये सुप्रसिद्ध सस्कृतज्ञ विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल भडारकर के पुत्र थे और एल्फिन्स्टन कॉलेज (बम्बई) में संस्कृत के प्रोफेसर थे। वे भी बबई-सरकार की तरफ से हस्त-लिखित प्राचीन पुस्तको की खोज के लिए नियत हुए

थे। इन्हों ने राजपूताने में उदयपुर, नाथद्वारा, जैसलमेर आदि के पुस्तक संग्रहों का निरीक्षण किया, जिन का वर्णन उन की रिपोर्टों में छपा है। जैसलमेर के पुस्तक भंडार के उत्तम ग्रंथों का विशद वर्णन लिखने के अतिरिक्त उन्हों ने वहाँ के कई एक शिलालेख प्रकाशित किये। जैसलमेर के शिलालेखों को सर्वप्रथम प्रसिद्धि में लाने का श्रेय उन्हीं को है।

श्रीधर रामकृष्ण भंडारकर

राखालदास बेनर्जी
(ई० सन् १८८२-१९३०)

ये कलकत्ते के रहने वाले थे। एक प्रसिद्ध वकील के यहाँ इन का जन्म हुआ। अंग्रेज़ी के अतिरिक्त ये संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, अरबी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। 'आर्कियॉलॉजिकल डिपार्टमेंट' में प्रवेश करने के पश्चात् वे कलकत्ते के सुप्रसिद्ध इंडियन म्यूज़ियम के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष रहे। उन को भारत की प्राचीन लिपियों और सिक्कों के विषय में बड़ी अभिरुचि थी। पहले पहल उन्हों ने बंगाल और उड़ीसा में प्राचीन शोध का काम किया। फिर आर्कियॉलॉजिकल विभाग में वेस्टर्न सर्कल के सुपरिंटेंडेंट नियत हुए। वेस्टर्न सर्कल से राजपूताने का संबंध होने से उन्हों ने अजमेर, उदयपुर, बीकानेर, भरतपुर, इन्दौर आदि राज्यों में दौरा कर अनेक स्थानों और वहाँ के शिलालेख आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिए उपयोगी है। उन की मृत्यु के अनन्तर हाल ही में बड़ी-बड़ी दो जिल्दों में प्रकाशित उन का उड़ीसे का इतिहास उन के जीवन का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उस के प्रत्येक पृष्ठ पर गम्भीर गवेषणा की छाप लगी हुई है। उन्हों ने "इंडियन आंटिक्वेरी" और "एपिग्राफिया इंडिका" आदि में अनेक शिलालेख एवं ताम्रपत्रों का संपादन किया। ईसा से पूर्व क़रीब ३००० वर्ष की सभ्यता का परिचय देने वाले सिंध के सुप्रसिद्ध स्थान मोहनजोदड़ो का पता लगाने और उस की सर्वप्रथम खुदाई करने का श्रेय उन्हीं को है। आर्कियॉलॉजिकल विभाग से संबंध छोड़ने के बाद वे काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन्हों ने बंगला साहित्य को उन्नत करने के लिए दो जिल्दों में बंगाल का इतिहास तथा अनेक ऐतिहासिक उपन्यास उस भाषा में लिखे। उन की बंगला में लिखी हुई भारत के प्राचीन सिक्कों के संबंध की 'प्राचीन मुद्रा' नामक पुस्तक भी एक उपादेय ग्रन्थ है। ना० प्र० सभा ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। २३ मई सन् १९३० ई० को भारत के उस श्रेष्ठ पुरातत्वविद् का थोड़ी आयु में ही देहान्त हो गया।

मुनि जिनविजय

ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े विद्वान् हैं। जैन साधनों से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास में इन्हें बड़ा अनुराग है। इन्हों ने प्राचीन जैन लेखों की दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पहली छोटी पुस्तक में सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख और दूसरी बड़ी में गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना आदि में मिलने वाले ५५७ लेखों का संग्रह है। ये दोनों पुस्तकें इतिहास प्रेमियों के लिए बड़े महत्व की हैं। आज कल मुनिजी कई प्रतियों के आधार पर प्रबंध चिन्तामणि, तीर्थकल्प आदि जैन आचार्यों के ग्रन्थों का उत्कृष्ट सम्पादन कर रहे हैं। आप शान्ति निकेतन (विश्व भारती) में जैन साहित्य के अध्यापक हैं। इन्हों ने जर्मनी जा कर पठन पाठन तथा सम्पादन-कला का विशेष अध्ययन किया है।

डॉक्टर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर

ये प्रसिद्ध विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के पुत्र हैं। प्रारंभ में ये आर्कियॉलॉजिकल सर्वे के वेस्टर्न सर्कल के सुपरिंटेंडेंट मि० कज़िंस के असिस्टेंट नियत हुए। राजपूताना वेस्टर्न सर्कल में होने के कारण इन्हों ने राजपूताने के उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, किशनगढ़ और सिरोही राज्यों में दौरा किया, वहाँ के कई स्थानों और शिलालेखों का वर्णन उस सर्कल

की वार्षिक रिपोर्टों में छपा है। पीछे से ये उक्त सर्कल के सुपरिंटेंडेंट हुए। इन्हों ने 'इंडियन आंटिक्वेरी", "एपिग्राफिया इंडिका" आदि में कई शिला-लेख प्रकाशित किये हैं। इस समय ये कलकत्ता युनिवर्सिटी में प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रोफ़ेसर हैं और इन्हें उक्त विश्व-विद्यालय से सम्मानार्थ पी० एच्० डी० की उपाधि मिली है। इस समय ये "इंडियन आंटिक्वेरी" तथा 'एनल्स ऑव दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट' के संपादकों में से एक हैं।

पूर्णचंद्र नाहर, एम्० ए०, बी० एल्

ये ओसवाल जाति के महाजन और बंगाल के जमींदार और कलकत्ते के निवासी हैं। इन्हों ने धार्मिक भाव से अनेक जैन तीर्थों की कई बार यात्रा की और अपनी शोधक-बुद्धि के कारण जहाँ जहाँ ये गये वहाँ के जैन शिलालेखों का संग्रह करते रहे। इसी के फल-स्वरूप इन्हों ने जैन-लेख-संग्रह की तीन बड़ी बड़ी जिल्दें प्रकाशित की हैं, जिन में करीब २५०० शिला-लेखों का संग्रह हुआ है. उक्त संग्रह की तीसरी जिल्द में केवल जैसलमेर के ही जैन-लेखों का संग्रह है। ये जिल्दें राजपूताने के इतिहास के लिए विशेष महत्व की हैं और इन का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा (१८६३—)

ओझा जी बड़े विद्वान और इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हैं। आपने अपना विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद अपना सारा जीवन इतिहास की खोज में लगाया है। आप करीब २० वर्ष तक उदयपुर में रहे। आपने कुछ वर्ष कविराजा श्यामलदास के साथ रह कर उक्त राज्य के इतिहास-विभाग में मंत्री का काम किया। तत्पश्चात् ये उदयपुर म्यूजियम के अध्यक्ष नियत हुए। ई० स० १९०८ में आप राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर के क्यूरेटर बनाये गये। आपने अपने जीवन में राजपूताना के इतिहास-सम्बन्धी बहुमूल्य खोज की। जिस में कई राजपूत वंशों की वंशावलियों में जो शृंखलाएं टूटती थीं तथा कुछ का कुछ लिखा था, वह सब आपने अपनी खोज के आधार पर ठीक किया। आपने कई हस्त-लिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिला-लेख एवं ताम्रपत्र आदि एकत्रित किये हैं, जिन से राजपूताने के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ई० स० १८९४ में आपने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की। उस समय तक संसार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। अतएव भारत तथा यूरोप के विद्वानों तथा पुरातत्त्वविदों ने उस की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। राजपूत जाति से विशेष प्रेम होने तथा उस के शौर्य आदि गुणों से मुग्ध हो कर कर्नल टॉड महोदय ने ऐनल्स् ऐंड ऐंटिकिटीज ऑफ़ राजस्थान नामक बृहद् इतिहास-ग्रंथ लिखा था किन्तु नवीन शोध के अनुसार उस में परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। महाराजकुमार बाबू रामदीनसिंह ने इस का अनुवाद कराया, तो इस के संपादन तथा टिप्पणि का भार आप को सौंपा। आपने उस कार्य को विद्वत्ता-पूर्वक किया। महानुभाव टॉड के प्रति भी आप की असीम श्रद्धा एवं भक्ति होने से आपने ई० स० १९०२ में उन की सविस्तर जीवनी लिखी जिसे खड्गविलास प्रेस ने छाप कर प्रकाशित किया। ई० स० १९०७ में आपने सोलंकियों का प्राचीन इतिहास लिखा। आज तक हिन्दी में इस पराक्रमी एवं गौरवशाली जाति का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास न था। विद्वानों तथा इतिहास वेत्ताओं ने इस इतिहास की बहुत प्रशंसा की तथा नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस के लिए एक पदक प्रदान कर आप को सम्मानित किया। मेवाड़ और सिरोही राज्य के इतिहास भी आपकी अमूल्य कृतियाँ हैं। आपके राजपूताने के बृहद् इतिहास की, जो १०—१२ भागों में समाप्त होगा, २ जिल्दें (...।) प्रकाशित हुई हैं। उन के देखने से आपके गंभीर अध्ययन एवं अथक परिश्रम का परिचय मिलता है। यह आजतक के लिखे हुए अन्य इतिहासों में अपने ढंग का एक ही है। आपकी स्मरण-शक्ति असाधारण है और ... बहुमूल्य ऐतिहासिक घटनाओं का अखूट भांडार है। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका-द्वारा, जिस का आपने

अब तक संपादन किया, आपने हिन्दी-जगत् को उत्कृष्ट साहित्य के साथ अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री भेंट की है। आप ही के शोध से राजपूताने के इतिहास के प्रत्येक अंग पर प्रकाश पडता है। आप का राजपूताने का इतिहास संपूर्ण प्रकाशित हो जाने पर गिबन के 'राइज़ ऐंड फॉल ऑव् दि रोमन एम्पायर' नामक इतिहास की भाँति युगान्तर उपस्थित कर देगा। ई० सन् १९२८ में आपने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी में ३ व्याख्यान दिये, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। उक्त पुस्तक में ई० सन् ६००-१२०० तक की भारतीय संस्कृति के विविध विषयों का विशद वर्णन है। राजपूताने की ऐतिहासिक खोज के लिए आप अथक परिश्रमी और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ इतिहासज्ञ हैं।

भारत-सरकार ने आप को रायबहादुर और महामहोपाध्याय की उपाधियों से विभूषित किया है।

उपर्युक्त विद्वानों के महान् श्रम से राजपूताने पर राज्य करने वाले मौर्य, मालव, ग्रीक, आर्जुनायन, क्षत्रप, हूण, गुर्जर, वैस, चावडा, गुहिल, प्रतिहार, चोहान, राठौड, कछवाहा, यादव, परमार, सोलंकी, नाग, योधेय, सबर, दहिया, निकुंप डोडिया, गौड, झाला आदि राजवंशों का बहुत कुछ शुद्ध इतिहास प्रसिद्धि में आ गया है, जिस से भाटों की पुस्तकों और ख्यातों में लिखी हुई अनेक कल्पित बातों का निराकरण हो सकता है। अतएव ये विद्वान् प्रत्येक विद्यानुरागी तथा इतिहास प्रेमी राजपूताना निवासी के सम्मान पात्र हैं।

५

अभिलेखों, मुद्राओं, लिपि तथा प्राचीन पोथियों का अनुशीलन

प्राचीन राजशासनातील दानच्छेदाचा निषेध करणारे श्लोक

श्रीयुत पांडुरंग वामन काणे, एल्० एल्० एम्०, मुम्बई

[याज्ञवल्क्य स्मृति (१ ३१८ २०) में विधान है कि आगामी अच्छे राजाओं के परिज्ञान के लिए राजा को दानपत्र या निबन्ध को कपड़े या ताम्रपट पर अंकित करवाना चाहिए तथा इस प्रकार के लेख उस की मुद्रा से अंकित होने चाहिएँ और उन पर दानोच्छेद के परिणामों को भी लिख देना चाहिए। अपरार्क ने इन श्लोकों पर टीका करते हुए बृहस्पति और व्यास के श्लोक उद्धृत किए हैं, जिन में इस का विस्तार से वर्णन है कि कपड़े या ताम्रपत्र पर लिखे जाने वाले राजशासनों पर क्या लिखा जाना चाहिए। इन में से दोनों स्मृतियों में पाए जाने वाले एक श्लोक में लिखा है कि दानपत्र में इस तरह के श्लोक रहने चाहिएँ जिन में दान का पालन करने वाले को स्वर्गप्राप्ति और उस का उच्छेद करने वाले को ६० ००० वर्ष नरकभोग लिखा हो।

पांचवीं शताब्दी के बाद से ऐसे श्लोक सब दानपत्रों में मिलते हैं। प्रारम्भिक गुप्त और पल्लव दानपत्रों में इस प्रकार के श्लोक नहीं है। पांचवीं या छठी सदी ई० के दानपत्रों में जहां प्राय इस प्रकार के २, ३ श्लोक ही रहते हैं वहां १० वीं सदी और उस के बाद के दानपत्रों में एक एक दर्जन से भी ज्यादा श्लोक इस प्रकार के रहते हैं। इस लेख में ऐसे ४१ श्लोक इकट्ठे किए गए तथा उन के अनुवाद दिए गए हैं। उन में से कुछ धर्मशास्त्र, महाभारत, बृहस्पतिस्मृति तथा अन्यान्य ग्रंथों में आए हैं यह दिखाया गया है। यह दिखाने का यत्न किया गया है कि सब से पुराने किन अभिलेखों और दानपत्रों में श्लोक आए हैं तथा उन के कुछ एक पाठभेदों को भी दे दिया गया है।]

याज्ञवल्क्यस्मृतींत राजानें दान देतांना कोणती पद्धति स्वीकारावी या विषयीं खालीं दिलेले श्लोक आहेत।

> दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं च कारयेत्।
> आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥
> पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।
> अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः ॥
> प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्।
> स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम् ॥ (१ ३१८ २०)

अर्थ—भूमिदान केलें असतां किंवा एखादी वृत्ति नेमून दिला असतां पाठीमागून येणाऱ्या सज्जन राजांच्या माहितीकरितां राजानें लेख लिहवून ठेवावा। तो लेख वस्त्रावर किंवा ताम्रपट्टावर लिहवावा आणि त्यावर आपल्या (गरुड, वराह वगैरेंनीं युक्त असलेल्या) मुद्रेचा ठसा उमटवावा, आपल्या वंशांतील पुरुषांचीं नांवें व आपलें नांव त्या लेखांत लिहवावें, दान दिलेल्या भूमीचें किंवा निबन्धाचें परिमाण त्याचप्रमाणें दानाचा विच्छेद केला असतां

काय परिणाम होतो याचे वर्णन ही त्या लेखांत असावें। त्या लेखावर स्वत:ची सही करून कालाचा (शकनृपकाल वगैरे) निर्देश करून चिरकाल टिकणारें असें शासन राजानें करवून ठेवावें।

अपरार्कानें याज्ञवल्क्यस्मृतीवरील आपल्या टीकेंत बृहस्पति व व्यास यांच्या स्मृतींतील अवतरणें या श्लोकांच्या व्याख्यानात दिलीं आहेत तीं महत्वाचीं आहेत, त्यांपैकीं बृहस्पतिस्मृतींतील उतारा खालीं देतों।

दत्त्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टेऽथवा पटे।
शासनं कारयेद्धर्म्यं स्थानवंश्यादिसंयुतम् ॥
अनाच्छेद्यमनाहार्यं सर्वभाव्यविवर्जितम्।
चन्द्रार्कसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयागतम् ॥
दातु: पालयितु: स्वर्गं हर्तुर्नरकमेव च।
षष्टिवर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं लिखेत् ॥
स्वमुद्रावर्षमासार्धदिनाध्यक्षाक्षरान्वितम्।
एवंविधं राजकृतं शासनं समुदाहृतम् ॥

यांतील तिसऱ्या श्लोकाचा अर्थ—दान देणाराला, दिलेलें दान पुढें चालू ठेवणाराला साठ हजार वर्षें स्वर्ग आणि दानाचा अपहार करणाराला तितकींच वर्षें नरक असें दानाच्या विच्छेदाचें फळ (राजशासनांत) लिहावे। बृहस्पतिस्मृतीच्या अवतरणांतील दुसरा व तिसरा हे श्लोक व्यासस्मृतींत ही होते असें अपरार्कटीकेवरून दिसतें।

या स्मृतींत सांगितल्याप्रमाणें ईसवी सनाच्या पांचव्या शतकापासून सर्व राजशासनांत मजकूर लिहिलेला सांपडतो। राजशासनात येणाऱ्या बाकीच्या मजकुराशीं या निबन्धात कांहीं कर्तव्य नाहीं। दानाची स्तुति व दानविच्छेदाचा निषेध बहुधा प्रत्येक शासनाचे शेवटीं असतो। मुख्यत्वें गुप्तशासनें व एपिग्राफिआ इन्दिका यांत प्रसिद्ध झालेल्या शासनांवरून वरील दोन विषयां सम्बन्धानें आलेले श्लोक येथें एके ठिकाणीं उद्धृत केले आहेत। शासन जितकें प्राचीन तितके अशाप्रकारचे श्लोक कमी असा साधारण नियम आहे। उदाहरणार्थ, मैत्रक कुलांतील व्याघ्रसेन याच्या ताम्रपट्टांत दोनच श्लोक आहेत (ए० इं० जि० ११ पान २२१), ध्रुवसेनाच्या (गुप्त वलभी) संवत् २०६ च्या शासनात व संवत् २१० च्या शासनांत (ए० इं० जि० ११ पान १०७ व १११) तीनच श्लोक आहेत, पण यश कर्णदेव याच्या संवत् ८२३ (कलचुरि) च्या शासनांत १६ श्लोक (ए० इं० जि० १२ पान २०५), चाहमान रत्नपाल याच्या विक्रम संवत् ११७६ च्या ताम्रपट्टांत पंधरा श्लोक (ए० इं० जि० ११ पान ३१२-१३) व कनोजचा राजा गोविन्दचन्द्र याच्या विक्रम संवत् ११८६ मधील सहेथ-महेत येथील ताम्रपट्टांत सात श्लोक आहेत। येथें निरनिराळ्या शासनांतील ४१ श्लोक उद्धृत केले आहेत व ते होतां होईल तों किती प्राचीन काळापासून आढळतात तें व भारतवर्षाच्या निरनिराळ्या प्रांतांतही आढळतात हेंही दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे। खालीं दिलेले श्लोक कधी व्यासाचे म्हणून, कधीं मनूचे म्हणून, कधी स्मृतींतील म्हणून व कधीं कोठील तें निर्दिष्ट न करतांच शासनांत दिलेले

या निबन्धांत खालीं दिलेले संकेत आहेत: इं० अॅं० = इण्डियन आण्टिक्वेरी; ए० इं० = एपिग्राफिआ इन्दिका, गुप्त० = डा० फ्लीट यांनी संपादिलेलीं गुप्त शासनें।

आढळतात। ह्या निबन्धांत प्रथम श्लोक, नंतर त्याचा अर्थ, नंतर तो कोणत्या प्राचीन शासनांत सांपडतो त्याचें दिग्दर्शन व क्वचित् तो वाङ्मयांत इतरत्र सांपडतो कीं काय हें ही दाखविलें आहे। खालीं उद्धृत केलेल्या श्लोकांपैकीं बरेच जीवानन्द यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या बृहस्पति स्मृतींत आढळतात।

१—बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिः सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥

सगरादि अनेक राजांनीं पृथ्वीचें दान केलें। ज्या ज्या काळीं ज्या ज्या राजाच्या ताब्यांत पृथ्वी असेल त्या त्या वेळीं त्या त्या राजाला त्या दानाचें (पुण्य) फळ प्राप्त होतें।

हा श्लोक व पुढील चार श्लोक हे अनेक शासनांत येतात। यांचे इतके दुसरे श्लोक शासनांत आढळत नाहींत। ह्या श्लोकांतील दुसरा चरण 'बहुभिश्चानुपालिता' असा पल्लव सिंहवर्मे यांच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान १६०) व कुमारविष्णु यांच्या चेंदलूर ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० ८ पान २३५) पठित केलेला आहे व तो ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून कुमारविष्णूच्या शासनांत दिलला आहे। हा श्लोक बृ० पान ६४६ वर आहे। हा श्लोक गुप्त० अनुक्रम २१ पान ९३ येथें महाराज हस्तिन् यांच्या ताम्रशासनांत (गुप्त संवत् १५६), त्याचप्रमाणें महाराज हस्तिन् यांच्या गुप्त संवत् १६१ मधील ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ पान १०८), धरसेनाचें वलभी शासन (सन् ५८८, इं० ॲं० जि० ६ पान ९), मंगलीश चालुक्य याचें शक ५०० मधील शासन (इं० ॲं० जि० ६ पान ३६३), शक ७३५ मधील तोरखेडें ताम्रपट्ट (ए० इं० जि० ३ पान ५७) इत्यादि शासनांत आलेला आहे। पहिल्या दोन शासनांत तो व्यासाचा म्हणून दिलेला आहे, तोरखेडें येथील शासनांत 'उक्तं महर्षिभिः' असें म्हटलें आहे। कदम्बवंशीय कृष्णवर्मा (दुसरा) यांच्या बनहळ्ळि ताम्रशासनांत मनूचा म्हणून (ए० इं० जि० ६ पान १८) व होय्सळ वीरबल्लाल यांच्या शके १११४ मधील शासनांत 'मन्वादय' म्हणून हा श्लोक अवतारित केलला आहे। गुप्त संवत् ३०० मधील एका शासनांत 'उक्तं च स्मृतिशास्त्रे' असा उल्लेख आहे (ए० इं० जि० ६ पान १४५)।

२—षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्॥

अर्थ—भूमिदान करणारा साठ हजार वर्षे स्वर्गांत आनन्दांत रहातो आणि त्या दानाचा विच्छेद करणारा व विच्छेदाला अनुमति देणारा तितकींच वर्षें नरकांत वास करितो।

यांतील दुसरें अर्ध बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४६) आहे। बदामी येथील महाकूट स्तंभावरचें मंगलीशाच्या कारकीर्दीच्या पांचव्या वर्षांतील शासन (इं० ॲं० जि० १९ पान १६, धर्मशास्त्रांतील श्लोक म्हणून), गुप्त संवत् २३२ मधील नन्दाचें अमौध ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ५१) व (चेदि) संवत् २०७ मधील दहसेन याचें पार्डी ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ५३, व्यासाचा म्हणून), सिंहादित्याचें पालिटाणा ताम्रशासन (इसवी सन २७४, ए० इं० जि० २१ पान १६ १८, व्यासाचा म्हणून), वलभी संवत् २०६ मधील ध्रुवसेनाचें शासन (ए० इं० जि० २१ पान १०७, व्यासाचा म्हणून) मैत्रक व्याघ्रसेन याचें (चेदि?) संवत् २४१ (म्हणजे ई० स० ४९०) मधील सुरत ताम्रशासन (ए० इं० जि० ११ पान २२१, व्यासाचा म्हणून), शके ६९२ मधील गोविन्दाचे ताम्रशासन (ए० इं० जि० ६ पान २११) इत्यादि शेंकडों ठिकाणीं हा श्लोक अवतारित केलेला आहे। ए० इं० जि० १२ पान १३५ येथें हा श्लोक व आणखी तीन श्लोक (अनुक्रम नम्बर १, ५, ७५) व्यास व मनु या दोघांचे म्हणून दिलले आहेत। गुप्त० अनुक्रम

२१ (गुप्त संवत् १५६ मधील) व गुप्त० अनुक्रम २३ (गुप्तसंवत १६१ मधील), गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७- (गुप्त संवत् १७४ मधील) महाराज जयनाथ याचें ताम्रशासन इत्यादि ठिकाणीं व्यासाचा म्हणून व शेवटच्या शासनात महाभारतातील म्हणून दिलेला आहे। पुष्कळ ठिकाणीं 'षष्टिं वर्षसहस्राणि' असा पाठ आहे।

३—स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम।
गवां शतसहस्रस्य हन्तुः प्राप्नोति किल्बिषम ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेली भूमि जो हरण करतो त्याला एक लक्ष गाईंचा वध करणाऱ्याला जें पाप लागतें त्याची प्राप्ति होते। गृहस्थरत्नाकर या ग्रंथांत बृहस्पतीचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे, वलभी येथील धरसेन याच्या वलभिसंवत २६९ मधील शासनात (इं० ऑ० जि० ६ पान ९, व्यासाचा म्हणून), पल्लव राज्ञी चारुदेवी हिच्या ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ८ पान १४६, 'हन्तु पिबति दुष्कृतम्' असा पाठ आहे), पल्लव सिंहवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ८ पान १६०, आर्ष श्लोक म्हणून), ध्रुवसेन याच्या वलभि संवत २१० मधील ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ११ पान १११, व्यासाचा म्हणून), इत्यादि अनेक ठिकाणीं हा श्लोक सापडतो।

४—स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेली भूमि जो हरण करितो तो विष्टेतील कृमि होऊन आपल्या पितरासहवर्तमान क्लेश भोगतो।

गुप्तसंवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनात (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७, 'सर्वसस्य-समृद्धां तु यो···सह मज्जति', असा पाठ आहे), गुप्त संवत् १९१ मधील महाराज हस्तिन् याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ 'मज्जते' असा 'पच्यते' बद्दल पाठ), इ० स० सातव्या शतकाच्या पूर्वार्धांतील भास्करवर्मन् या राजाच्या निधनपुर ताम्रशासनात (ए० इं० जि० १२ पान ७५), शके ५०० मधील चालुक्य मंगलीश याच्या शासनांत (इं० ऑ० जि० ६ पान ३६३, 'मज्जति' असा पाठ), शशांक राजाच्या कारकीर्दीतील गुप्तसंवत् ३०० मधील एका शासनांत (ए० इं० जि० ६ पान ४५ स्मृतिशास्त्रांतील म्हणून), ई० सं० ६६० मधील पहिल्या विक्रमादित्याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान १०१, 'षष्टिं वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः' असा पाठ), कदम्बवंशीय कृष्णवर्म याच्या शासनांत (ए० इं० जि० ६ पान १८, 'षष्टिवर्षसहस्राणि घोरे तमसि पच्यते' असा पाठ), राष्ट्रकूट कृष्णराज पहिला याच्या शके ६९० मधील तळेगाव ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १३ पान २७०, व्यासाचा म्हणून), शके ८५१ मधील चवथ्या गोविन्दाच्या शासनात (ए० इं० जि० १३ पान ३३३), संवत् ११९९ मधील गोविन्दचन्द्र याच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १३ पान २१९) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे। हा बृहस्पति स्मृति पान ६४६ येथेंही आहे। काही ठिकाणी 'स्वविष्ठायां' असा (बृहस्पति) व काही ठिकाणीं 'श्वविष्ठायां' असा पाठ आहे।

५—स्वदत्तां परदत्तां वा यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

अर्थ—बुद्धिमानांत श्रेष्ठ युधिष्ठिरा ! आपण दान दिलल्या किंवा दुसऱ्यानें दान दिलेल्या भूमीचें यत्नपूर्वक रक्षण कर, (स्वत) दान देण्यापेक्षां दिलेलें दान रक्षण करणें (किंवा चालू ठेवणें) हें जास्त श्रेयस्कर आहे।

यांतील शेवटचा चरण याज्ञवल्क्य १ ३१८—३२० वरील मिताक्षरा टीकेंत आला आहे। कदाचित् तो श्लोक ६ मधून हा घेतलेला असल। महाराज सङ्क्षोभ याचें गुप्त सवत् १५६ मधील ताम्रशासन व महाराज हस्तिन् याचें गुप्तसवत् १६१ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २१ व २३, दोन्हीं ठिकाणीं 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्या' असा पाठ आहे), महाराज जयनाथ याचें गुप्त सवत् १७४ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७ यथें 'स्वदत्तां' असाच पाठ आहे), मैत्रक ध्याघ्रसेन याच सवत २४१ म्हणजे सन् ५६० मधील सुरत ताम्रशासन (ए इ० जि० २१ पान २२१ 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्या यत्नाद्रक्ष' असा पाठ आहे), गुप्त सवत् १९९ (ई० स० ५१८ १९) मधील महाराज सङ्क्षोभ याचें बेतूल ताम्रशासन (ए० इ० जि० ८ पान २८४, यथेंहा 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्या' हा पाठ आहे), इ० ऑ० जि० ६ पान ३६३ चालुक्य मङ्गलेश याचें शके ५०० मधील शासन (व्यासाचा म्हणून), बुद्धराज याचें ताम्रशासन (सन् ६ ९ १० मधील ए० इ० जि० पान २९७, यथ हा 'पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो' हा पाठ आहे), चदि सवत ३९२ मधील चवस्या दद्दाचें शासन (ए० इ० जि० ५ पान ३७)—या सर्व ठिकाणीं व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलला आहे। चाहमान रत्नपाल यांच्या सवत् ११७६ मधील ताम्रशासनांत 'पूर्वदत्तां नरन्द्रैश्च यत्नाद्रक्ष शतक्रता' असा पाठ आहे।

६—स्व दा सुमहच्छक्य दु खमन्यार्थपालनम् ।
दान वा पालन वेति दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

अर्थ—स्वतःच्या मालकाचा वस्तु दान करणें पुष्कळ शक्य आहे पण दुसऱ्यानें दिलेल्या दानाचें पालन करणें कठीण आहे। (स्वत) दान देणें किंवा (दुसऱ्यानें दिलेल्या) दानाचें पालन करणें यांतून पालन करणें हें जास्त श्रेयस्कर आहे।

विक्रमादित्य चालुक्य (पहिला) याचें इ० स० ६६० मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० ७ पान १०१), कादम्बवंशीय कृष्णवर्मा याचें ताम्रशासन (ए० इ० जि० ६ पान १८, मनूचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आला आहे।

७—अग्नेरपत्य प्रथम सुवर्ण भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गाव ।
दत्तास्त्रयस्तेन भवन्ति लोका य काञ्चन गा च महीं च दद्यात् ॥

अर्थ—सुवर्ण हें अग्नीपासून प्रथम उत्पन्न झालें, भूमि हा विष्णूचा कन्या आहे व गाई ह्या सूर्याच्या कन्या होत। जो सुवर्णदान, गोदान व भूमिदान करील त्यानें तिन्ही लोकांचे दान केलें असें होतें (कारण अग्नि, विष्णु व सूर्य ह्यांचा पृथ्वी अन्तरिक्ष व द्युलोक हा अधिष्ठानें आहेत)।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र २८ १६ (यथें तिसरा चरण 'तामामाहुः पलमश्नुवीत' असा आहे), वायपुराण अध्याय २०० १२८व वृद्ध० पान ६४७ या ठिकाणीं सांपडतो। हा श्लोक तीवरदेव यांच्या राजि ताम्रशासनांत (गुप्त० पान २९१), तीवरदेवाच्या बालोद ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ७ पान १०५, व्यासाचा म्हणून), दन्तिवर्म याचें शके ७८९ मधील शासन (ए० इ० जि० ६ पान २८५ व २९३, व्यासाचा म्हणून), तिसरा इन्द्रराज याच्या शके ८३६ मधील शासनांत (ए० इ० जि० ९ पान ३७), महासुदेव याच्या खरिआर शासनांत (ए० इ० जि० ९ पान १७३) सांपडतो।

८—विन्ध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः ।
कृष्णसर्पा हि जायन्ते ब्रह्मदेयापहारकाः ॥

अर्थ—ब्राह्मणाला दिलेल्या दानाचा अपहार करणार जलविरहित अशाविन्ध्य पर्वताच्या अरण्यांत शुष्क वृक्षाच्या ढोलीत राहाणारे कृष्णसर्प म्हणून जन्मास येतात ।

इं० ऑ० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४, व्यासाचा म्हणून), कलचुरि संवत् २९२ (इ० स० ५४१) मधील संगमसिंहाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० १० पान ७४), वलभी संवत् २१० मधील ध्रुवसेन याचें पालिठाणा ताम्रशासन (ए० इं० जि० ११ पान ११३-१४, येथे 'कृष्णाहयो हि जायन्ते भूमिदानं हरन्ति ये' असा पाठ आहे), ए० इं० जि० २ पान २० (सन् ५९५, व्यासाचा म्हणून), चेदि संवत् ३९२ मधील चवथ्या ददाचें शासन (ए० इं० जि० ५ पान ३७), ए० इं० जि० ६ पान २११, शके ६९२ गोविन्द याचें शासन, शके १११४ मधील वीरवल्लाळ याचें शासन (ए० इं० जि० ६ पान ९७, मन्वादि महर्षींचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक येतो। यश कर्णदेव याच्या चेदि संवत् ८७३ म्हणजे सन् १०७३ मधील ताम्रशासनांत 'वारिहीनेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिनः । कृष्णसर्पास्तु जायन्ते ब्रह्मदेवस्वहारिणः ।' असा पाठ आहे। महाराज हस्तिन् याच्या गुप्तसंवत् १९१ मधील ताम्रशासनांत 'अपानीयेष्वरण्येषु "कृष्णाहयोभिजायन्ते पूर्वदानं हरन्ति ये ॥' असा पाठ आहे ।

९—यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्दानानि धर्मार्थयशस्कराणि ।
निर्माल्यवान्तप्रतिमानि तानि को नाम साधुः पुनराददीत ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ आणि यश यांची प्राप्ति करून देणारीं जीं दानें पूर्वीं राजांनी दिलीं तीं निर्माल्य किंवा वान्ति याप्रमाणें असणारीं कोणता साधु पुरुष परत घेईल ?

ए० इं० जि० २ पान २० (चेदि संवत् ३४६ म्हणजे इ० स० ५९५), ए० इं० जि० ५ पान ३७ (चेदि संवत् ३९२), वलभी संवत् २४६ मधील गुहसेनाचें ताम्रशासन (ए० इं० जि० १३ पान ३३९), शके ७८९ मधील दन्तिवर्म शासन (ए० इं० जि० ६ पान २८५, २९३), ए० इं० जि० ६ पान २९८ (इ० स० ६०९-१०, 'निर्भुक्तमाल्य' असा पाठ आहे), इं० ऑ० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४), वलभी संवत् ३२० मधील ध्रुवसेनाचा ताम्रपट्ट (ए० इं० जि० ८ पान १९०), बुद्धराज याचें ताम्रशासन (इ० स० ६०९ मधील, ए० इं० जि० १२ पान ३५), या सर्व ठिकाणी व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे । इ० स० ५७४ मधील सिंहादित्याच्या पालिठाणा ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ११ पान १८) 'यानीह दारिद्र्यभयान्नरेन्द्रैर्धनानि धर्मायतनीकृतानि' असा पाठ आहे । कांही ठिकाणी 'दत्तानि यानीह' असा पाठ आहे ।

१०—सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ।
सर्वानेतान् भाविनो भूमिपालान् भूयो भूयो याचते रामचन्द्रः ॥

अर्थ—सर्व राजेलोकाना (हे दिलेलें दान) साधारण असून त्याना तो धर्माप्रत पोचविणारा सेतु आहे । (म्हणजे एकट्यालाच ह्या दानाचे पुण्य मिळणारें नसून त्या पुण्यांत मागून येणारे सर्वराजे अंशभाक् आहेत), तुम्ही (भावी) राजांनी वेळोंवेळी या सेतूचे (दानाचें) पालन केले पाहिजे । अशी प्रार्थना रामचन्द्र पुनः पुनः सर्व भावी राजाना करीत आहे ।

चवथ्या गोविन्दाचें शासन (ए० इ० जि० १२ पान ३३३), ए० इ० जि० ६ पान ३७ (शके ८३६ मधील तिसऱ्या इन्द्रराजाचें शासन), विक्रम संवत् १०७८ मधील भोजाचें ताम्रशासन (इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली सन १९३२ पान ३०५), ए० इ० जि० २ पान २२० (शके ८२२), परमर्दिदेवाचें संवत् ११२३ मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० ४ पान १९३), होयसळ वीरबल्लाळ याचें शके १११४ मधील शासन (ए० इ० जि० ६ पान ७७, मन्वादिमहर्षी चा म्हणून), या ठिकाणीं हा श्लोक आहे। काहीं ठिकाणीं अर्धाचा व्यत्यास आहे म्हणजे 'सर्वानेतान्' अशी सुरवात केलेली आहे। उदाहरणार्थ, शके ८१५ मधील नाळव वंशीय शासन (ए० इ० जि० १० पान ६७, 'याचते रामचन्द्र' बद्दल 'अर्थयत्येष राम' असा पाठ), संवत् ११७६ मधील गोविन्दचन्द्राचें सहेट-महेट शासन (ए० इ० जि० २१ पान २४), कर्णदेवाचें सन् १०४७ मधील शासन (ए० इ० जि० २१ पान १४१), चाहमान विग्रहराज याचें शासन (ए० इ० जि० २ पान १२५)।

११—न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकम्॥

अर्थ—विष हें खरोखर विष नव्हे असें (जाणते लोक) म्हणतात, ब्रह्मस्व हेंच विष आहे (कारण) विष हें एक जणाला मारतें परन्तु ब्रह्मस्व हें (अपहार करणाराच्या) पुत्रपौत्रांचाही घात करतें।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र १७ ७६ यांत, बृह० पान ६४८ येथें आहे व पहिलें अर्ध बौधायन धर्मसूत्रांतही आहे (१ ८ १०२) शके ८१५ मधील धर्मपुर येथील नोळंब शासन (ए० इ० जि० १० पान ६७, येथें 'देवस्वं विषमुच्यते' असा पाठ आहे), शके ९७७ मधील सोमेश्वराचें शासन (ए० इ० जि० १३ पान १७३, 'देवस्व विष' पाठ आहे), संवत् ११७६ मधील चाहमान रत्नपाल याचें सेवाडी ताम्रशासन (ए० इ० जि० २१ पान ३१३ १४), कनोजच्या चन्द्रदेवाचें संवत् ११४८ मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० ७ पान ३०५)।

१२—आस्फोटयन्ति पितरः प्रवल्गन्ति पितामहाः।
भूमिदोऽस्मत्कुले जातः स नस्त्राता भविष्यति॥
१३—प्रायेण हि नरेन्द्राणां विद्यते नाशुभा गतिः।
पूयन्ते ते तु सततं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्॥

अर्थ—पितर टाळ्या पिटतात, पितामह उड्या मारू लागतात, की आमच्या कुळांत भूमिदान करणारा झाला, तो आम्हाला तारील, प्रायः राजांना अशुभगति प्राप्त होत नाहीं कारण ते वसुन्धरेचें सतत दान करीत असल्यानें पुनीत होतात।

यांतील पहिला श्लोक बृहस्पतिस्मृतींत (पान ६४५) आहे। दोन्ही श्लोक गुप्त संवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनांत आहेत (गुप्त० अनुक्रमांक २६ पान ११७)।

१४—सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्यकमङ्गुलम्।
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसम्प्लवम्॥

अर्थ—एक सुवर्ण (सोन्याचें नाणें), एक गाय किंवा एक अंगुलसुद्धां भूमि यांचा जो अपहार करितो त्याला भौतिक प्रलयापर्यंत नरक मिळतो।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४७) येतो। तेथें 'गामेका स्वर्णमेकं वा भूमरप्यर्धमङ्गुलम्। रुन्धन्नरकमायाति' असा पाठ आहे। इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० २१ पान १४१), संवत् ११४८ मधील कनोजच्या चन्द्रदेवाच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान ३०५ येथें 'गामेका स्वर्णमेकं च' असा पाठ आहे), संवत् ११८६ मधील एका शासनात (ए० इं० जि० २ पान ३६३) हा श्लोक येतो।

१५—भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ ॥

अर्थ—जो भूमीचे दान करितो व जो भूमिदानाचा प्रतिग्रह करितो ते दोघेही पुण्यकर्म करणारे असून निःसंशय स्वर्गास जातात।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत पान ६४७ व वृद्धहारीत ७.१६४ येथें आहे। हा श्लोक कर्णदेवाच्या इ० स० १०४७ मधील शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान १४१), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्राच्या शासनांत (ए० इं० जि० २१ पान २४), संवत ११४८ मधील चंद्रदेवाच्या शासनांत (ए० इं० जि० ९ पान ३०५), इ० स० १०४७ मधील कलचुरि सोढदेव याच्या शासनात (ए० इं० जि० ७ पान ९३), संवत् ११६२ मधील शासनांत (ए० इं० जि० २ पान ३६०) येतो।

१६—फालकृष्टां महीं दद्यात् सबीजां सस्यमालिनीम्।
यावत्सूर्यकृता लोकास्तावत्स्वर्गे महीयते ॥

अर्थ—नांगरानें नांगरलेली, बीजयुक्त व पीक आलेली अशी जमीन जो दान देतो तो जो पर्यंत सूर्याच्या प्रकाशाने लोक प्रकाशित होत आहेत तो पर्यंत स्वर्गात महत्व पावतो।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४५) आहे। दुसरा सत्याश्रय पुलकेशी याच्या चिपळूण ताम्रशासनांत (इ० स० सातवें शतक पूर्वार्ध, ए० इं० जि० ३ पान ५२), इ० स० १०७३ मधील यश.कर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इं० जि० १२ पान २०५) तो येतो।

१७—भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद्विशिष्टं परिपालनं तु।
सर्वेऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्या त्रिदिवं प्रपन्नाः ॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षां श्रेष्ठ असें दुसरें दान नाहीं, पण भूमिदानापेक्षांही भूमिदानाचें परिपालन करणें जास्त श्रेष्ठ आहे। दान केलेल्या भूमीचें परिपालन केल्यामुळेच सर्व नृगादि राजे स्वर्गलोकाप्रत गेले।

महाराज संक्षोभ याच्या गुप्त संवत् १९९ (म्हणजे इ० स० ५१८-१९) मधील वैतूल ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ८ पान २८७, व्यासाचा म्हणून), व त्याच राजाच्या गुप्त संवत् २०९ (गुप्त० अनुक्रम २५ पान ११५) मधील ताम्रशासनांत हा श्लोक येतो।

१८—भूमिदानसमं दानमिह लोके न विद्यते।
यः प्रयच्छति भूमिं हि सर्वकामान्ददाति सः ॥

अर्थ—ह्या जगामध्यें भूमिदानासारखें दान नाही, जो भूमिदान करितो तो सर्व काम देतो।

पल्लव सिंहवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ८ पान १६२, आर्ष श्लोक म्हणून) हा दिलेला आहे।

१९—योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥

अर्थ—जो मानमरातबानें दान देतो व जो अशा प्रकारें दिलेलें दान घेतो ते दोघे स्वर्गास जातात, याच्या उलट स्थिति असल्यास ते नरकांत जातात ।

संवत् ११६२ मधील शासनांत हा श्लोक आहे (ए० इ० जि० ७ पान ३६०)। हा मनुस्मृति ४ २३५ आहे ।

२०—अपि गङ्गादितीर्थेषु हन्तुर्गामथवा द्विजम् ।
निष्कृतिः स्यान्न देवस्वब्रह्मस्वहरणे नृणाम् ॥

अर्थ—गङ्गादितीर्थांच्या ठिकाणीं गाय किंवा द्विज याचा वध करणाराही पुरुष कदाचित् पापापासून मुक्त होईल परन्तु देव व ब्राह्मण यांचें धन हरण करणारा पुरुष (पापांतून) मुक्त होणार नाहीं ।

वळगांवच्या इ० स० १२०४ च्या एका शासनांत हा श्लोक येतो (ए० इ० जि० १३ पान २२)।

२१—मद्वंशजाः परमहीपतिवंशजा वा पापादपेतमनसो भुवि भाविभूपाः ।
ये पालयन्ति मम धर्ममिमं समस्तं तेभ्यो मया विरचितोऽञ्जलिरेष मूर्ध्नि ॥

अर्थ—माझ्या वंशातील किंवा परवंशातील जे भावी राजे पापापासून मन परावृत्त करून मी जें हें दान केलें आहे तें समग्र पालन करितील त्यांच्यापुढें शिर वाकवून मी अञ्जलि करितों (म्हणजे मी त्यांना हात जोडून नमस्कार करितों) सहाव्या विक्रमादित्याच्या निळगुन्द येथील सन् ११२३ मधाल ताम्रशासनांत हा श्लोक आहे (ए० इ० जि० १२ पान १५५)।

२२—अद्भिर्दत्तं त्रिभिर्भुक्तं सद्भिश्च परिपालितम् ।
एतानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

अर्थ—जलपूर्वक केलेलें दान, तीन पिढ्या उपभोगिलली जमीन व साधुपुरुषांनीं परिपालन केलेलें दान आणि पूर्वीच्या राजांनीं केलेलीं दानें हीं निवृत्त होत नाहींत । कदम्बवंशीय कृष्णवर्म यांच्या ताम्रशासनांत मनूचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे (ए० इ० जि० ६ पान १८)।

२३—शङ्खं भद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवारणाः ।
भूमिदानस्य चिह्नानि फलमेतत्पुरन्दर ॥

अर्थ—हे इन्द्रा ! शङ्ख, राजसिंहासन, छत्र, श्रेष्ठ घोडे व श्रेष्ठ गज हें जें फळ (ज्याअर्थी) प्राप्त होतें तें भूमिदानाचें द्योतक आहे (म्हणजे पूर्वजन्मीं किंवा या जन्मीं भूमिदान करणाराला हीं राजचिह्नें प्राप्त होतात)।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६५५) आहे । कलचुरि सोढदेव याच्या इ० स० १०७७ मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० ७ पान ९३), कनोजच्या चन्द्रदेवाचें संवत् ११४८ मधाल शासन (ए० इ० जि० ९ पान ३०५), संवत् ११८६ मधाल गोविन्दचन्द्राचें शासन (ए० इ० जि० ११ पान २४), यश कर्णदेवाचें इ० स० १०७३ मधाल शासन (ए० इ० जि० १२ पान २०५) येथें हा श्लोक आढळतो ।

२४—न तथा सफला विद्या न तथा सफलं धनम् ।
यथा तु मुनयः प्राहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

अर्थ—या कलियुगांत एक दान जसें सफल होतें तशी विद्या किंवा धन सफल होत नाहीं असें मुनि म्हणतात।

दुसऱ्या भिल्लमाच्या शके ९२२ मधील संगमनेर ताम्रशासनांत हा श्लोक व आणखी चार श्लोक (७,१२, ४०,४१) 'इति पराशरकुलाङ्गिरस-गौतम-मनु-याज्ञवल्क्यमुनिवचनान्यवधार्य' असें म्हणून दिलेले आहेत (ए० इं० जि० २ पान २१९)।

२५—भूमिदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्यैव हरणात्पापं न भूतं न भविष्यति ॥
२६—पूर्वैः पूर्वतरैश्चैव दत्ता भूमिं हरेत्तु यः।
स नित्यव्यसने मग्नो नरके च वसेत्पुनः ॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षा श्रेष्ठ दान पूर्वी झाले नाहीं व पुढें होणार नाहीं। त्या भूमिदानाचा अपहार केल्यानें जें पाप लागतें त्याहून मोठे पाप झाले नाहीं व होणार नाहीं। प्राचीन व अतिप्राचीन (दात्यानीं) दिलेल्या भूमीचा जो अपहार करील तो नेहमी संकट-ग्रस्त होईल आणि नरकात वास करील।

हे दोन्ही श्लोक काञ्ची येथील पल्लव राजवंशांतील दुसरा कुमारविष्णु याच्या चेंदलूर ताम्रशासनांत आहेत (ए० इं० जि० ८ पान २३५, ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून)। श्लोक २५ हा इन्द्रवर्म याच्या ताम्रशासनात आहे (ए० इं० जि० १२ पान १३५, व्यास-मनु-गीतश्लोक म्हणून श्लोक, १,२,५, व २५ या ठिकाणीं दिलेले आहेत)।

२७—गण्यन्ते पांसवो भूमेर्गण्यन्ते वृष्टिबिन्दव।
न गण्यन्ते विधात्रापि धर्मसंरक्षणे फलम् ॥
२८—परदत्तां तु यो भूमिमुपहिंसेत्कदाचन।
स बद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते ॥

अर्थ—जमिनीवरील मातीचे कण मोजतां येतील किंवा वृष्टि होत असतां पडणारे पाण्याचे बिन्दु मोजतां येतील, परन्तु धर्माचें (दानाचें) रक्षण केल्यानें जें फळ (पुण्य) प्राप्त होतें त्याचें माप ब्रह्मदेवालाही घेतां येणार नाहीं। जो कोणी कधींही दुसऱ्यानें दान केलेल्या भूमीचा विच्छेद करील तो वरुणाच्या पाशांनीं बांधला जाऊन रक्त व पूयात फेंकला जाईल।

हे दोन्हीं श्लोक शके १११४ मधील होयसळ वीरबल्लाळ याच्या गदग येथील शासनांत आहेत (ए० इं० जि० ६ पान ९७, मन्वादिमहर्षींचे म्हणून)।

२९—इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च।
अतिविमलमनोभिरात्मनीनैर्नहि पुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः ॥

अर्थ—मनुष्याचें जीवित व संपत्ति हीं कमलपत्रावरील पाण्याच्या बिन्दूप्रमाणें चंचल आहेत हें ध्यानांत वागवून अतिशुद्ध अन्तःकरणाच्या व आमच्या वंशांतील पुरुषांनी दुसऱ्याच्या कीर्तीचा (दानें देऊन मिळविलेल्या) लोप करूं नये।

शके ६९७ मधील ध्रुवराज याच्या पिंपरी ताम्रशासनात (ए० इं० जि० १० पान ८९), शके ७८९ मधील दन्तिवर्म ताम्रशासनात (ए० इं० जि० ६ पान २९४), इ० स० १०७७ मधील कलचुरि सोढदेव याच्या ताम्रशासनात

(ए० इ० जि० ७ पान ९३), संवत् १०७९ मधील भोजाच्या ताम्रशासनांत (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली स० १९३२ पान ३०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे।

३०—वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां धर्मः सखा परमहो परलोकयाने॥

अर्थ—पृथ्वीचें आधिपत्य हें वाऱ्यानें फिरविल्या जाणाऱ्या अभ्राप्रमाणें (चंचल किंवा क्षणिक) आहे, विषयांचें सेवन केवळ प्रारम्भीं गोड लागतें (परन्तु परिणामीं कडू किंवा घातक), मनुष्याचे प्राण हे तृणाग्रीं लोंबणाऱ्या जलबिन्दूप्रमाणें आहेत (केव्हां गळून पडतील याचा नियम नाहीं), म्हणून लोकहो, परलोकीं जातांना धर्म हाच श्रेष्ठ मित्र होय।

यश कर्णदेव यांच्या कलचुरि संवत् ८२३ (इ० स० १०७२-७३) मधील ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १२ पान २०५), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्र याचें सहेतमहेत ताम्रशासन (ए० इ० जि० ११ पान २४), त्याच राजाचें संवत् ११९९ मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० १३ पान २००) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे।

३१—अस्मत्कुलं परमुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमत्र नु मोदनीयम्।
लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचञ्चलाया दानं फलं परयशः प्रतिपालनं च॥

अर्थ—आमचें कुल अत्यन्त थोर आहे अशी घोषणा करणाऱ्या (आमच्या वंशांतील) राजांनीं व इतरांनीं हें जें दान (आम्हीं) दिलें आहे त्याला अनुमति द्यावी। विद्युत् किंवा पाण्याचा बुडबुडा याप्रमाणें चञ्चल असा जी लक्ष्मी तिचें फल म्हटलें तर दान व दुसऱ्याच्या (दान केल्यामुळें मिळालेल्या) यशाचें परिपालन हेंच होय।

संवत् १०७९ मधील भोजदेवाच्या नवीन संपादिलेल्या ताम्रशासनांत (इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली १९३२ पान ३०५, 'कुलक्रममुदारमुदाहर०' असा पाठ आहे)', संवत् ११६२ मधील गोविन्दचन्द्राच्या बनारस ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० २ पान ३६०) मध्यें हा श्लोक येतो।

३२—अस्मिन् वंशे द्विजघ्नोऽपि यश्चान्यो नृपतिर्भवेत्।
तस्यापि करलग्नोऽहं शासनं न व्यतिक्रमेत्॥

अर्थ—या (आमच्या) वंशांत ब्रह्महत्या करणाराही जरी कोणी नृपति झाला तरी त्याच्याही पुढें मी अञ्जलि जोडतों कीं (प्रार्थना करितों कीं) मी दिलेल्या शासनाचा त्यानें भंग करूं नये।

इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाचें ताम्रशासन (ए० इ० जि० २१ पान १४१), संवत् ११७६ मधील चाहमान रत्नपाल याचें सेवाडी ताम्रशासन (येथें 'अस्मद्वंशे यदा चान्ये य कोपि नृपतिर्भवेत्। एतस्याहं कर लग्न' असा पाठ आहे व तो जास्त चांगला आहे), इ० स० १०७३ मधील यश कर्णदेव याचें ताम्रशासन (ए० इ० जि० १२ पान २०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक येतो।

३३—यावन्ति सस्यमूलानि गोरोमाणि च सङ्ख्यया।
नरस्तावन्ति वर्षाणि स्वर्गे तिष्ठति भूमिदः॥

३४—न्यायेनोपार्जिता भूमिरन्यायेनापहारिता।
हरन्तो हारयन्तोऽपि घ्नन्त्यासप्तमं कुलम्॥

३५—त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।
आसप्तमं फलन्त्येते दोहवाहनिवेदनैः ॥
३६—सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम् ।
हाटकक्षितिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलम् ॥
३७—तडागानां सहस्रेण अश्वमेधशतेन च ।
गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुध्यति ॥
३८—सत्यं चैव हुतं चैव यत्किंचिद्धर्मसंचितम् ।
अर्धाङ्गुलेन सीमाया हरणेन प्रणश्यति ॥
३९—ऋणहर्ता भूमिहर्ता हारयिता हि ते त्रयः ।
एते च नरकं यान्ति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

अर्थ—गाईच्या रोमांची जितकी संख्या आहे (म्हणजे असंख्य) किंवा शेतात उगवणाऱ्या पिकांची जितकी मुळे असतात तितकी वर्षे भूमिदान करणारा मनुष्य स्वर्गलोकीं वास करितो। न्यायानें मिळविलेल्या भूमीचा जर अन्यायानें अपहार केला गेला तर अपहार करणारे आणि करविणारे यांच्या कुलाचा सात पुरुषापर्यंत घात होतो (म्हणजे नरक-गति प्राप्त होते)। गाय, पृथ्वी आणि विद्या ही तीन दानें सर्वदानात पर्लोकदर्ची आहेत। ही दानें देणाऱ्याच्या कुळात सातव्या पुरुषापर्यंत दुग्ध, वाहन व निवेदन (विद्यासंपन्नता) या तीन प्रकारानीं फल प्राप्त होत असतें। सर्व दानांचे फल फक्त एक जन्मापुरतेच मिळत असते, परन्तु सुवर्ण, भूमि आणि कन्या यांच्या दानांचें फल सात जन्म पर्यंत बरोबर येत असतें। भूमीचा अपहार करणारा एक हजार तलाव बांधून, शंभर अश्वमेध करून, एक कोटी गाई देऊन ही (पापांतून) शुद्ध होत नाहीं। सत्याचें पालन, अग्नीत हवन यामुळें व दुसऱ्या मार्गानीं जो कांहीं धर्माचा संचय केलेला असेल तो सर्व अर्धअंगुळ इतकी सुद्धा जर सीमा अपहृत केली तर नाश पावतो। ऋणाचा अपहार करणारा, भूमीचा अपहार करणारा व (ऋण आणि भूमि) यांचा अपहार करविणारा हे (तीघेही) चवदा इन्द्रांचें (देवांवर) अधिराज्य असे पर्यंत नरकात जातात।

हे सातही (३३-३९) श्लोक चाहमान रत्नपाल याच्या संवत् ११७६ मधील सेवाड ताम्रशासनात आढळतात (ए० ई० जि० ११ पान ३१२-३१३)। यांपैकीं ३५ श्लोकाचा पूर्वार्ध, ३७ व ३४ हे श्लोक बृहस्पति स्मृतीत (पान ६४६ व ६४७) येतात। 'त्रीण्याहुरति'''सरस्वती' हे अर्ध वसिष्ठस्मृति (२९-१९) येथें ही आढळतें। श्लोक ३३, ३४ हे यशःकर्णदेवाच्या ताम्र शासनांतही येतात (ए० ई० जि० १२ पान २०५)। श्लोक ३७ व ३९ राष्ट्रकूट कृष्णराज ह्याच्या शके ६९० मधील तळेगांव ताम्रपट्टात आहेत (ए० ई० जि० १३ पान २८०-८१, ३९ चें उत्तरार्ध 'नरकान्न निवर्तन्ते यावदाभूतसंप्लवम्' असें आहे)। ३६ चे पूर्वार्ध बृह० पान ६४६ व वसिष्ठधर्मसूत्र. २९ १९ येथे आहे.

४०—भूमिदानं सुपात्रेषु सुतीर्थेषु सुपर्वणि ।
अगाधापारसंसारसागरोत्तारणं भवेत् ॥
४१—धवलान्यातपत्राणि दन्तिनश्च मदोद्धता. ।
भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरन्दर ॥

अर्थ—योग्यपुरुषांना उत्तम तीर्थाचे ठिकाणीं व चांगल्या पर्वकालीं दिलेलें भूमिदान अगाध आणि अपार असा संसारसागर तरून जाण्याचें साधन होतें। हे इन्द्रा! मदमत्त हत्ती व शुभ्रछत्रें हीं भूमिदानाचीं पुण्यें आहेत व स्वर्ग हा फल आहे।

हे दोन्हीं श्लोक संगमनेर येथील शके ९७२ मधील यादववंशीयदुसऱ्या भिल्लमाच्या ताम्रशासनांत आहेत (ए० इ० जि० २ पान २१९)

ह्या श्लोकांवरून सुचणारे कांहीं विचार नमूद करणें आवश्यक आहे। गुप्तवंशाच्या पहिल्या शासनांत असले श्लोक नाहींत। उदाहरणार्थ, गुप्त संवत् ८८ (इ० स० ४०७-८) मधील दुसऱ्या चन्द्रगुप्ताच्या शिलाशासनांत 'यश्चैनं धर्मस्कन्धं व्युच्छिन्द्यात् पञ्चमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति' एवढेंच वाक्य आहे, त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् ९३ मधील (गुप्त० अनुक्रमांक ५ पान ३२) शासनांत ही 'तदेतत्प्रवृत्तं य उच्छिन्द्यात् स गोब्रह्महत्यया संयुक्तो भवेत्पञ्चभिश्चानन्तर्यैः' असें आहे। गुप्त संवत् १४६ मधील स्कन्दगुप्ताच्या ताम्रशासनांत एक श्लोक आहे पण तो व्यासाचा किंवा स्मृतींतील म्हणून दिलेला नाहीं व पुढें आढळणाऱ्या श्लोकांपैकीं नाहीं। तो श्लोक असा 'यो विक्रमदायमिमं निबद्धं गोप्ता गुरुर्नो द्विजघातकः स। तैः पातकैः पञ्चभिरन्वितोऽयो गच्छेन्नरः सोपनिपातकैश्च॥' गुप्तवंशाप्रमाणेंच प्राचीन पल्लव वंशांतील शिवस्कन्दवर्मन् यांच्या शासनांतही (ए० इ० जि० १ पान ७) हे श्लोक येत नाहींत। यावरून असे दिसतें कीं इ० स० च्या चवथ्या शतकापर्यंत शासन लिहिण्याची सर्वसंमत पद्धति ठरली नव्हती व दानविच्छेदासम्बन्धाचे श्लोक सर्वश्रुत झाले नव्हते। पुढें जसजसें गुप्तसाम्राज्य बळावत जाऊन विस्तृत झालें व वैदिक धर्माचा पुनः विजय व सर्वत्र प्रचार झाला आणि निरनिराळ्या याज्ञवल्क्य बृहस्पति इत्यादि स्मृति प्रमाण मानण्यांत येऊं लागल्या तेव्हां विशिष्ट पद्धतीनें शासनें लिहिण्यांत येऊं लागलीं व दानविषयक श्लोक उद्धृत करण्यांत येऊं लागले।

दानविच्छेदाचा निषेध पुष्कळ श्लोकांत जरी केलेला असला तरी लोभी राजे व इतर लोक दिलेला दान परत घेत किंवा त्याचा लोप वारंवार करीत असें दिसतें। यासंबंधानें परिव्राजक महाराज संक्षोभ व हस्तिन् यांच्या शासनांत एक नैराश्यपूर्ण विलक्षण वाक्य येतें त्याचा उल्लेख केला पाहिजे। गुप्त संवत् १९१ मधील ताम्रशासनांत 'योऽन्यथा कुर्यात्तमहं देहान्तरगतोऽपि महतावध्यानेन निर्दहेयम्' (जो कोणी माझ्या दानाचा विपर्यास किंवा छेद करील त्याला मी दुसऱ्या देहांत असलों तरी अत्यन्त अकल्याण चिंतून जाळून फस्त करीन) अशी धमकी महाराज हस्तिन्[1] यानें दिलेली आहे (गुप्त० अनुक्रमांक २३ पान १०७)। त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् १९९ मधील संक्षोभ याच्या शासनांत (ए० इ० जि० ७ पान ८७) तेच शब्द आहेत। त्याच प्रमाणें गुप्त संवत् २०९ मधील महाराज संक्षोभ यांच्या ह्या शासनांत आहेत (गुप्त० अनुक्रमांक २५ पान ११५)। चालुक्य विक्रमादित्य (पहिला) यांच्या इ० स० ६६० मधील ताम्रशासनांत 'देवब्राह्मण यांना दिलेलीं शासनें त्या तीन राज्यांत नष्ट झालेलीं विक्रमादित्यानें पुनः प्रस्थापित केलीं असें वर्णन आहे (ए० इ० जि० ९ पान १००)। तिसऱ्या इन्द्रराजाच्या शके ८३६ मधील शासनांत 'पूर्वीच्या राजांनीं विलुप्त केलेले चारशें गांव त्यानें परत दिले' असा उल्लेख आहे (ए० इ० जि० ९ पान २४)।

---

१ 'अवध्यान' याचा अर्थ 'तुच्छ लेखणें, तिरस्कार' असा आहे। तो अर्थ येथें बरोबर जुळत नाहीं। मूळांत 'अपध्यान' असें असण्याचा संभव आहे। 'अपध्यान' म्हणजे मनांतल्या मनांत शाप देणें। हा शब्द कादंबरी वगैरे संस्कृत ग्रन्थांत येतो।

विजयादित्य का अम्मणिगि-ताम्रपत्र

श्रीयुत पं० वीरभद्र शर्मा तैलंग, वेद-काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद, काशी

चार साल हुए यह ताम्रपत्र मुझे अपने मित्र पं० श्रीगुरुदेव जी स्वामी द्वारा मिला। आपने बताया कि "१५ साल हुए, मैंने इसे अपनी जन्मभूमि अम्मणिगि गाँव के हिरेमठ मे पहले पहल पाया था। यह मठ बड़े श्रीशैल (ज़ि० कर्नूल) के पास वाले, प्रसिद्ध सारंग-मठ वालो के वंशजो का है। इस वंश मे दो

उपक्रम

माहेश्वर स्वामी प्रसिद्ध तपस्वी और विद्वान् हो गये हैं। पश्चिमी चालुक्य राजाओं के शासनकाल मे पंडितो का आदर बहुत होने के कारण हमारे पूर्वजों मे से कुछ लोग वहाँ से निकल कर इस अम्मणिगि गाँव (ज़ि० बेलगाँव) में वास करने लगे थे। इस पत्र के बारे मे हमारे वंश मे परम्परा चली आती है कि यह पत्र चालुक्य महाराजाओं ने भूदान करते समय हमारे पूर्वजों को दिया था। ३० वर्ष पूर्व इस पत्र के साथ और भी दो पत्र थे, किन्तु इधर कितने ही विद्वानों ने परिशोध के बहाने बहुत कुछ पुस्तकें (ताडपत्र की) और ताम्रपत्रों को 'अपनाया' है, इस के अतिरिक्त मठ के पालकों की असावधानी से भी कुछ पत्र लुप्त हो गये हैं।"

हमारे पास एक ही पत्र है, जिस की लम्बाई ९३/४ अंगुल, और चौड़ाई, ४३/४ अंगुल है। पत्र के दोनो तरफ नौ नौ पंक्तियाँ हैं, और चारो तरफ के कोने मोड़ कर थोड़े ऊपर को उठाये गये हैं। एक तरफ का कोना थोड़ा फट गया है। इस तरह पत्र की हालत बहुत कुछ अच्छी है।

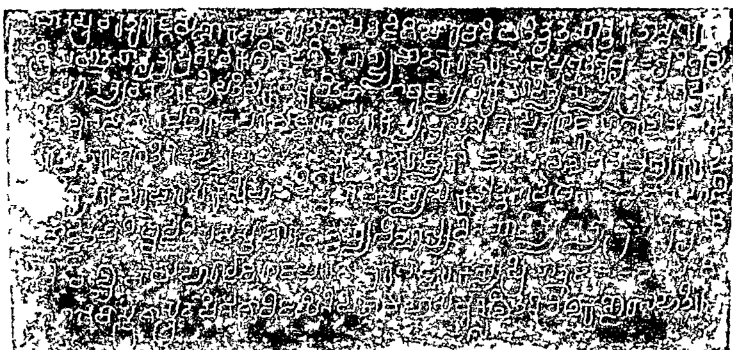
विक्रमादित्य सत्याश्रय श्री पृथ्वीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टारक के पौत्र और विनयादित्य सत्याश्रय महाराज के पुत्र श्रीविजयादित्य सत्याश्रय महाराज के सभी को आज्ञापूर्वक घोषणा करने के कारण इस पत्र का दानावसर पर लिखा जाना माना जायगा। इस पत्र के मालिकों का वंश-परम्परागत कथन

दाता

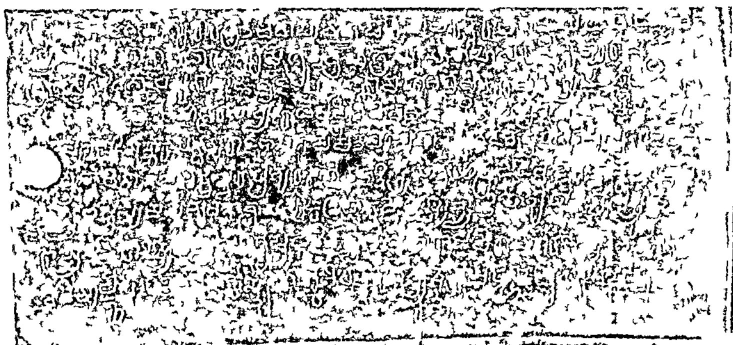
भी इस का समर्थक है। दाता तो पश्चिमी चालुक्य वंश का सुप्रसिद्ध राजा है। ये लोग, पहले वातापि (बादामि) नगर मे राज्य करने के कारण इतिहास-जगत् मे "वातापि के चालुक्य" कर के भी प्रसिद्ध हैं। वंशतालिका के अनुसार यह विजयादित्य द्वितीय पुलकेशी का प्रपौत्र और प्रथम विक्रमादित्य का पौत्र ठहराया गया है। उस समय मे द्वितीय पुलकेशी का भाई, विष्णुवर्धन महाराजा और उन के पुत्र मिल कर पूर्वी-चालुक्य (वेंगी अथवा आन्ध्र) राज्य का पालन करते थे। इस दान के दाता विजयादित्य का समय उस के पिता (विनयादित्य) और पौत्र (कीर्तिवर्मा) के दानपत्रों और शिलालेखों का अवलोकन कर के इतिहास के विद्वानों ने ई० सं० ६९६ से ७३४ के बीच माना है।[१]

---

१ ए० इ० (५), पृ० २०० प्र; इ० ऑ० (६), पृ० १८२ प्र।



अम्मणिगि ताम्रपत्र की पहली ओर



अम्मणिगि ताम्रपत्र की दूसरी ओर

इस पत्र का अगला भाग न मिलने से इस दान के प्रतिग्रहीता का ठीक नाम या वंश नहीं बतलाया जा सकता। तो भी अम्मगिरि के मठ में चली आती चिरकालीन परम्परा के कारण यही अनुमान होता है कि उसी मठ के किसी प्राचीन और तपस्वी आचार्य को यह दानपत्र दिया गया होगा, क्योंकि दक्षिण भारत के मठों में इस प्रकार के दानपत्र अब तक बहुत मिल चुके हैं।

प्रतिगृहीता

इस ताम्रपत्र में "चत्वारिंशदुत्तरषट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेषु" (शक वर्ष ६४० बीतने पर अर्थात् ई० स० ७१८) ऐसा स्पष्ट उल्लेख होने से इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस पत्र को दिये हुए अब बारह सौ पन्द्रह बरस हो चुके। इस पत्र की लिपि भी इस बात को सिद्ध करने में समर्थ है। कालनिर्णय के विषय में तो यह दानपत्र औरों के लिए भी आदर्श है।

दानपत्र का समय

इस पत्र के अक्षर प्राचीन आन्ध्रकर्नाटक लिपि के हैं, पत्र के एक तरफ के अक्षर गोल और दूसरी तरफ के अक्षर इन से कुछ भिन्न याने कोनेदार होने से ऐसा भास होता है कि इस पत्र को लिखने वाले दो आदमी होंगे। अक्षरों के गड्ढों में कोई कठिन मसाला भरा है जो बहुत परिश्रम करने पर भी ठीक नहीं निकल सका, इस के अलावा पत्र का दूसरा पार्श्व ज्यादा ऊँचा नीचा है, अतः पत्र का प्रतिबिंब वैसा नहीं आया, जैसा मैं चाहता था।

विशेषताएँ

स्वरों में इ ए और हलों में 'क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल ळ व, श ष स ह क्ष त्र ज्ञ, अक्षर आये हैं। स्वर मात्राओं में " , ो ' को छोड़ सभी मात्राएँ आने पर भी 'इ और ई' की मात्रा में कोई भेद मालूम नहीं होता। हल् मात्राओं में क् ग् च् छ् ज ट् ड् त द् न भ् म य् र् ल् व ष् स् ह" आदि हैं कुछ जगह महाप्राणों के लिए अल्पप्राण प्रयुक्त किये गये हैं, शेष तो नहीं से हैं। ( ) [ ] इन कोष्ठों में दोष और च्युत अक्षरों को दिखाऊँगा, यहाँ मेरे पाठ के अनुसार मूल, और मेरे उतारे हुए दो चित्र दिये जाते हैं।

पहली ओर का पाठ

१ यान[1] पवरतुरङ्गमेनैकेनैवोत्सारिताशेषविजिगिषोर्व्यनिपतितूतय तरिता[ ] स्वगुरो [ ]

२ त्रियमात्मसाकृ(त्कृ)त्य प्रभावकुलिश दलित पाण्ड्यचोळ केरळ कळभ्र प्रभृति भूभृदभ्रविभ्रम

३ स्यानन्याननत काञ्चीपति मकुट चुवि(म्बि)त पादाम्बु(म्बु)जस्य विक्रमादित्यसत्याश्रयश्रीपृथ्वी(थि)

४ वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकप्रियसूनो [ ] पितुराज्ञया बालेन्दु शेख (र)

५ रस्यतारकारातिरिव दैत्यबलमतिमुद्धतत्रैराज्यकाञ्चीपतिबलमवष्टभ्य कराली

६ क्र(कृ)तकवेर पारसिकसिंहलादिद्वीपाधिपस्य सकलोत्तरापथनाथमथनोपार्जित

७ तान्नितपालिध्वजादिसमस्तपारमैश्वर्यचिन्हस्य विनयादित्यसत्याश्रयश्रीपृथि

८ वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकस्यप्रियात्मजस्यैशवएवाधि

९ गताशेषशस्त्रशास्त्र (स्त्रो) दक्षिणाशाविजयिनि पितामहे समुन्मूलितनिखिलकण्टकमहितिकृत

दूसरी ओर का पाठ

१० गपथ विजिगीषोर्गुरोरग्रतएवाजहव्यापारमाचरन्नरातिगजघटापाटनविशी

११ र्यमाा(ण) म(कृ)पाणधारस्समरविग्रहामेसरमस्तरसिव परागु(ह्मु)त्याय(कृ)तश

१ इस 'यान' शब्द के पहले 'विक्रम (याने विक्रमकेसरिभिधान) का पाठ और और पत्रों में आता है।

१२ त्रुमण्डल(लो) गगा(ङ्गा) यमुनापालिध्वजपट(ट)टक्कामहाशब्दचिन्हकमाणिक्यमतंग(ङ्ग)जादीन्पित्र[सा]-
१३. त्कुर्व प(न्प) रै पलायमानैरासाद्य कथमपि विधिवशादपनीतोपि प्रतापादेव विषयप्रकोप[1]-
१४. मराजकमुत्सारयन्वत्सराजवानप(पे)क्षित परसहायकन(म्न)स्वयग्रहानि(ङ्गि)र्गत्य स्वभुजावष्टभ (म्भ)
१५. प्रसाधिताशेप विश्वम्भर [:] प्रभुत्क(त्व)ण्डितशक्तित्रयत्व(त्वा,छ(च्छ)त्रुमदभञ्जनत्वादुदारत्वा
१६ न्निरवद्यत्वाद्समस्तभुवनाश्रय: सकलपारमैश्वर्यव्यक्तिहेतुपालिध्वजात्युज्वलप्राज्य-
१७. राज्यविजयादित्यसत्याश्रयश्रीपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वर भट्टरकस्सर्वा-
१८. नेवमाज्ञापयति विदितमस्तुवो [ऽ] स्माभिश्च(श्च त्वारि [ ] शदुत्तरषट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेषु

"चित्रकठ नामवाले एक अश्व से ही अनेक वीरों को भगा कर, तीन राज्यो मे सपादित की हुई अपने पिता की लक्ष्मी को अधीन करते हुए, अपने पराक्रम रूपी वज्रायुध से पाण्ड्य चोळ केरळ कळभ्र देशों के नृपति रूपी पर्वतो को भेदते हुए, और किसी राजा के सामने न झुकने वाले कांची नरेश से पूजित विक्रमादित्य सत्याश्रय श्रीपृथिवीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टारक के सुपौत्र—जैसे शिव जी की आज्ञा से कुमारषण्मुख ने राक्षससैन्य का विध्वस किया था, वैसे ही अपने पिता की आज्ञानुसार अत्यद्भुत त्रिदेश कांची राजा की सेना को बाँध कर, कवेर पारसिक सिंहलादि द्वीपाधीशों को करदाता बनाने वाले, समस्त उत्तराखड के राजाओं को मथ कर पालिध्वजादि निखिलपार्मैश्वर्य चिन्हो को प्राप्त करने वाले, श्री विनयादित्य सत्याश्रय महाराजा के पुत्र समग्र धनुर्विद्या को अध्ययन कर के दक्षिण-देश विजय के लिए पितामह के जाने के बाद, विविध बाधाओं को दूर कर, उत्तर-देश विजय के लिए प्रयाण किये हुए अपने पिता के आगे ही युद्ध कार्य को निभाते हुए, शत्रु-राजाओं के कुम्भ-भेदन से अपनी तलवार की धारा फट जाने पर भी युद्ध के अन्त तक सब के आगे रहने के कारण से ही मर्धैर्यरसिक, गङ्गा यमुना-पालिध्वजादि से चिन्हित, माणिक्यगजों को अपने पिता के हस्तगत कराते हुए भागते हुए शत्रुओं से दुर्दैव से किसी तरह पकड़ा जाने पर भी स्वपराक्रम से ही दूसरों की सहायता की अपेक्षा न करते हुए, वत्सराज की तरह, शत्रु बन्धन से बाहर आ कर स्वभुज बल से इस विश्व को वश मे करने वाले और प्रभुमन्त्रोत्साह नामक शक्तित्रय की सपन्नता से, शत्रु गर्वपरिहरणों से, उदारता से, निर्मलता से, समस्तजगदाधार, और निखिल पारमैश्वर्य के कारण पालिध्वज से अत्युज्वल साम्राज्य मे विराजमान विजयादित्यसत्याश्रय महाराजा सारी प्रजा को यह आज्ञा देते हैं कि "तुम लोगो को मालूम होना चाहिए कि हम इस शकवर्ष के छः सौ चालीस गुजर जाने पर"—

तात्पर्य

तांम्रपत्र का भाग थोडा उपलब्ध होने पर भी यह विजयादित्य के प्रताप को जताने मे समर्थ है। अन्य ताम्रपत्रों से यह मालूम होता है कि पश्चिमी चाल्युक्यराजाओ ने, काञ्ची के पल्लव राजाओं को युद्ध में हरा कर, कावेरी नदी के तीर पर दूसरी राजधानी की स्थापना की थी। यहाँ, पराक्रम का अभिमान या राज्य के आशा से प्रेरित हो कर उत्तरदेशीय राज्यो पर भी चालुक्यो ने हमला किया, जंग मे काफी जीत भी हुई, किन्तु गडबड़ी मे युवराज विजयादित्य पकड़ा गया और उस ने अकेले ही शत्रुओं से लड़ कर अपने आप को मुक्त करा लिया, इत्यादि बातो से कर्णाटक के राजाओ के गत गौरव की सूचना-मिलती है।

अनुबन्ध

ऐसा मालूम होता है कि उस समय मे गगा यमुना पालिध्वजादि राजाओ के लिए बड़े गौरव के चिन्ह थे। तभी तो विजयादित्य ने भी उत्तरदेशीय राजाओ से छीन कर उन चिन्हो को पिता के अधीन किया।

१. "विषय प्रकोपमराजक" का तात्पर्य समझ में ठीक नहीं आता।

"गगा यमुना" नामक विरुद शायद नदी या कलश के रूप में कोई चिह्न हों। "पा ळि ध्व ज" तो जैनियों के सिद्धान्त के अनुसार सार्वभौमत्व (परमेश्वर) का चिह्न है। जिनसेनाचार्य विरचित "आदिपुराण" के २२ वें सर्ग म पाळिध्वज के बारे में इस प्रकार कहा गया है—

स्रग्वस्त्रसहसानाब्जहसवीनमृगेशिनाम् ।
वृषभेन्द्रचक्राणां ध्वजा स्युर्दश भेदका ॥१॥
अष्टोत्तरशत ज्ञेया प्रत्येक पाळिकेतना ।
एकैकस्या दिशि प्रोक्तास्तरगास्तोयधेरिव ॥२॥
पवनान्दोलितास्तेषा केतूनामशुकोत्कर ।
व्याजुहू धुरिवाभामि जिनेज्यायै नरामरान् ॥३॥
इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता वभु ।
विभोस्त्रिभुवनशत्व शसतोऽनन्यगोचरम् ॥४॥
दिश्येकस्यां ध्वजा सर्वे सहस्र स्यादशीति यत् ।
चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वित्रिकसागरा ॥५॥

"पुष्पमाला, वस्त्र, मयूर, कमल, हस, गरुड, सिह, वृषभ, गज, चक्र," इन चिह्नों से अकित ध्वजाएँ दस प्रकार हैं, एक एक प्रकार में १०८ खडी करने से एक हजार नौ ध्वजाएँ हो जायँगी, इसी समूह का नाम पाळि ध्व ज है। चारों दिशाओं में इस प्रकार खडा करने से ध्वजाओं की सख्या ४३२६ हो जाती है, इस का भी पा ळि ध्व ज नाम है। ऐसा कहा जाता है कि मोहत्याग के बाद जिन भगवान् ने जिस समय त्रिभुवनपतित्व को अपनाया था, उस समय पा ळि ध्व ज का भी प्रभुत्व के चिह्न के तौर पर स्वीकार किया था। तभी से राजाओं ने साम्राज्य चिह्नों में इस पाळिध्वज को महत्त्व दिया होगा।

बुधबुद्धि पुरातत्त्व विशिखाशु महोज्ज्वलम् ।
येन भारतमैतिह्य गुप्त दृश्य भविष्यति ॥

एकटि शिवकालीन मुद्रा

श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ सेन, बी० लिट्० (आक्सफोर्ड), एम० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता), कलकत्ता

[कृष्णाजी अनन्त सभासद ने अपनी पुस्तक में शिवाजी के कोषागार का वर्णन करते हुए अनेक सिक्कों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक सन् १६९४ ई० में समाप्त हुई। उस समय ये सब सिक्के प्रचलित होने के कारण उन्हों ने उनका मान बताने की आवश्यकता न समझी। परन्तु अब वे सिक्के लुप्त-प्राय हो गये हैं, अतएव उन का ठीक ठीक मान बताना कठिन है।

इस तालिका में उल्लिखित सब से प्रथम सिक्का गम्बार (अंग्रेजी गबार) है। हण्टर के मतानुसार यह मुद्रा सन् १७६३ ई० में बम्बई में प्रचलित थी, तथा इस का मूल्य तीन रुपये साढे बारह आने था। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में भी पश्चिमी भारत के वाणिज्य-केन्द्रों में यह चलती थी। तत्कालीन कम्पनी के पत्रों से ज्ञात होता है कि सन् १७३६ ई० में सूरत में इस का मूल्य कुछ घट गया था। इस के मूल्य का ठीक पता लगाना तो कठिन है; परन्तु बहुधा यह तीन और चार रुपये के बीच होता था।]

कृष्णाजी अनन्त सभासद शिवाजी महाराजेर कोषागारेर विवरणे अनेकगुलि सुवर्ण ओ रौप्य मुद्रार उल्लेख करियाछेन। एइ मुद्रागुलि शिवाजी महाराजेर जीवितकाले ओ मृत्युर अव्यवहित परे एरूप प्रचलित छिल जे सभासद तत्सम्बन्धे अन्य कोनो तथ्य प्रदान करा प्रयोजन बोध करेन नाइ। कालक्रमे एइसकल मुद्रा एकेवारे लोप पाइयाछे, सुतरां आधुनिक समये एइ मुद्रागुलिर उत्पत्तिस्थान ओ विनिमय-मूल्य सम्बन्धे आलोचना करा असंगत हइबे ना। सभासदेर-ग्रन्थेर इंराजी अनुवाद प्रकाश-काले एइ प्राचीन मुद्रागुलि सम्बन्धे आमि विशेष कोनो तथ्य संग्रह करिते पारि नाइ। किन्तु मत्प्रणीत Administrative System of the Marathas वा मराठादिगेर राष्ट्र-शासनपद्धति नामक इंराजी ग्रन्थेर द्वितीय संस्करणे एकटि परिशिष्टे एइ सम्बन्धे संक्षेपे आलोचना करियाछिलाम। ऐ परिशिष्ट प्रधानतः विदेशी पर्यटकदिगेर लिखित विवरणेर साहाय्ये सङ्कलित हइयाछिल।

परे लण्डनेर इण्डिया-आफिसेर कागज-पत्रेर मध्ये सभासदेर तालिकार प्रथम सुवर्णमुद्राटि सम्बन्धे आरओ किछु खबर पाओआ गिआछे। महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझा महाशयके श्रद्धाञ्जलि प्रदान उपलक्ष्ये एइ सामान्य तथ्य कयेकटि ऐतिहासिक साधारणेर गोचर करितेछि।

सभासदेर तालिकार प्रथम मुद्राटिर नाम 'ग म्बा र'। शिवाजी महाराजेर भाण्डारे एक लक्ष गम्बार छिल। एइ गम्बार ओ समसामयिक इंराजी चिठिपत्रे उल्लिखित 'गबार' (Gubbur) जे अभिन्न, ताहा निःसन्देहे बला जाय। हाण्टार साहेबेर मते १७६३ अब्दे बोम्बाइयेर बाजारे एइ मुद्रार प्रचलन छिल। तखन एकटि गबार छिल तिन टाका साड़े बारो आनार समान (Hunter, Annals of Rural Bengal, Appendix O, p 474)। बोम्बाइ पाब्लिक कन्साल्टेशन (Bombay Public Consultation) हइते जाना जाय जे एइ मुद्रा अष्टादश शताब्दीर द्वितीय

आ तृतीय दशके पश्चिम भारतर बहु वाणिज्य केन्द्रेइ प्रचलित छिल। १७२७ सालेर ३रा जानुआरीर कन्साल्टेशन चा आलोचनाय एइ मुद्रार उल्लेख आछे, किन्तु इहार विनिमय मूल्य सम्बन्धे कोनो कथा नाइ। १७३४ सालेर १७ अगष्ट तारिखे एकखानि चिठित तेलीचेरीर इङ्गराज वणिकेरा सुरत हइते अन्यान्य मुद्रार मध्य गबारओ चाहिया पाठाइयाछिलेन। ("A supply of money in rupees venetians and Gubburs for carrying on their purchases"—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No 7 (b) p 306)

१७३६ साले एइ मुद्रार विनिमय मूल्य पूर्वापेक्षा कमियाछिल। एइ जन्य ६इ सेप्टेम्बर बोम्बाइयेर कर्तपक्ष सुरतेर कर्मचारीदिगके दश हाजार गबार किनिते लिखियाछिलेन। तिन टाका साडे दश आना वा एगारो आना दरे पाइले पनेरो हाजार पर्यन्त गबार क्रयेर अनुरोध एइ पत्रयोगे करा हइयाछिल। ('It was reported that Gubburs could be bought at Surat at less than their usual price The gentlemen at Surat were instructed to buy ten thousand and if they are to be had for three rupees ten annas and an half, or three rupees eleven annas then they may buy fifteen thousand'—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No 8 p 324)। इहा हइते बुझा जाइतेछे जे १७३६ साले गबारेर मूल्य बोम्बाइयेर बाजारे तिन टाका एगारो आना अपेक्षा वशी छिल, किन्तु १७३६ हइते १७६३ साल पर्यन्त एइ मुद्रार मूल्येर बोध हय बशी तारतम्य हय नाइ।

कृष्णाजी अनन्त सभासद १६९४ साले ताँहार ग्रन्थ समाप्त करेन। ऐ समये गबारेर मूल्य किरूप छिल ताहा सठिक जाना जाय ना। अनुमान हय जे इहार मूल्य तिन हइते चारि टाकार मध्येइ छिल।

सभासदेर तालिकार अन्यान्य सुवर्णमुद्रा सम्बन्धेओ प्राचीन ग्रन्थ ओ समसामयिक चिठि पत्रेर साहाय्ये आलोचना हओया आवश्यक।

मुड़िया लिपि में एक ग्रन्थ

श्री कामताप्रसाद जैन, अलीगंज, एटा

दिल्ली और संयुक्त-प्रान्त के हिन्दू व्यापारियों में जो लिपि वहीखाता लिखने के लिए प्रचलित है उसे 'मुड़िया' कहते हैं। वह नागरी लिपि का लघु रूप है। हिन्दू व्यापारी उसे अपने सुभीते के लिए वर्त्तते हैं। किन्तु वह लिपि व्यापारिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। पाठक शायद आश्चर्य करें कि धर्मज्ञ जैन गृहस्थों ने उसे साहित्य-रचना का भी साधन बना लिया था। अलीगंज, ज़िला एटा, के दिगम्बर जैन शान्तिनाथ के मन्दिर में हमें आठ ऐसी वहियाँ मिली हैं जिनमे जैन साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिलोकसार' की गाथाओ पर मुड़िया लिपि मे टीका लिखी हुई है। पहली वही का आकार ७½ इंच चौड़ा और २१ इंच लम्बा है, और उस मे कुल ३७ पत्रे हैं। शेष वहियाँ भी प्राय: इसी आकार और कुछ कमती-ज़्यादा इतने ही पत्रो की हैं। पहली वही पर आदि मे निम्न प्रकार का लेख लिखा हुआ है:—

धर्मपाल के माथे त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा
चैत वदी ५ सुकर त्रिलोकसार थापा १८२५।

इसी वही के अन्तिम पत्र पर इस की समाप्ति का समय 'संवत् १८२५ मिती सावन सुदी १४ वृहस्पतिवार देवहरा' लिखा हुआ है। इन उल्लेखों से मुड़िया के इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा' और उस की रचना का आरम्भ सं० १८२५ मे सिद्ध होता है। आठवी वही के अन्त मे लेखक ने अपना परिचय और समय निम्न लिखित शब्दों में दिया है:—

'मिती कुआँर वदी १० सनीचर सवत् १८३० लिखित वनारसीदास के वेटा शिवसुख पद्मावतीपुरवार वासी जहानावाद के।'

इस से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ जहानावाद के निवासी किन्हीं शिवसुख द्वारा लगभग पाँच वर्ष में रचा गया था। हमारे ख़याल से मुड़िया लिपि मे शायद यही सब से पहली उपलब्ध रचना है।

इस ग्रन्थ से दो बातो का पता चलता है। पहली तो यह कि मुड़िया लिपि साहित्य-रचना मे भी प्रयुक्त हुई है, और दूसरी यह कि वर्तमान प्रचलित मुड़िया से संवत् १८२५—३० की मुड़िया हिन्दी के बहुत निकट, और उस से सादृश्य रखती थी, जैसे कि साथ मे लगे हुए मानचित्रो से प्रकट है। संभव है, उस समय इस लिपि का जन्म हुए अधिक समय नहीं बीता था।

उक्त ग्रन्थ की रचना का नमूना भी देखिये—

पंक्ति १. "१ सकती। और सेना। और स्थूलपना। और रूप इन का नाम वल है।
२. "सो अहै वल सवद नपुंसकलिंग है॥ वहुरि वल वीरज और दैतअ (?)

(१)

(२)

१	हिन्दी अक्षर—	अ	इ	उ	क	ख	ग	घ	च	छ	ज	झ	ट	ठ	ड	ढ
	पोथी के मुडिया अक्षर—														-	
	वर्तमान मुडिया अक्षर—															

२	हिन्दी अक्षर—	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	स	ह
	पोथी के मुडिया अक्षर—							-				-					
	वर्तमान मुडिया अक्षर—											-					

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

३ और काफ (? और बलवान। इन का नाम बली है॥ सा अहै बल सबद।
४ पुरस लगा है॥ सो इह बल सबद कर सक्ती सेना रूप तन अरथ गरा है॥"

चित्र १ में दिये गये उद्धरण का पाठ

"॥ है॥ श्रीमान। बहुरि काहूकरि हना न जाइ। ऐसा बहुरि प्रतिमान करि रहित। बहुरि प्रतिपक्षी कर्म करि रहित॥ बहुरि इन्द्रिय सहकार करि रहित॥ बहुरि इन्द्रियजत अनुक्रम तें। जानने ते रहित। ऐसा जो केवलज्ञान रूप तीसरे नेत्र कर अवलोका है। सकल पदार्थन का समूह जहाँ॥ ऐसा बहुरि ससार दुख तृषा है (?)॥ देवन्द्र। नरेन्द्र। मनेन्द्रन का समूह। जहाँ ऐसा। बहुरि तीर्थंकर प्रकृति रूप पुण्य की महिमा के अवलम्बन ते। उत्पन्न भया समोशरण। आठ ८ प्रातिहार्य और ३४ चोंतीस अतिशय। आदि———"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस लिपि म मात्राओं का अभाव था। ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि मुडिया लिपि का जन्म उक्त ग्रन्थ के रचना-काल से किञ्चित पहले हुआ होगा। हमारे इस कथन का समर्थन विक्रम स० १७५६ के लिखे हुए एक अन्य हस्तलिखित गुटके की लिपि स होता है। उस म प्रयुक्त अक्षर लिपि की समानता नागरी से अधिक है और उस मे आधी पडी मात्रायें भी जहाँ-तहाँ लगाई गई हैं। उस का नमूना चित्र स० ३ में दिया गया है। उस नमूने का पाठ या है—

१ चानरै नवल मामान मासे० तहा पुर (?)
२ मध्ये नवीनन पु (?) बहुत जोग वील (?)
३ स० हींडोला त्रेसठ। पुरष की भीमी (?)
४ गाम नगर मधे। ग० पडित लाल जी
५ पलगामै (?) चतुर सरस वनरा०
६ धम हींडोरन झूलते त्रेसठ। र—(?)
७ —(?) त्रेसठ। सलाका पुरुष को ही—
८ —डोगे समाप्त॥ ९ मिती सावन सुदी
९ ८ बुधवार सवत् १७९६ के लिखा।

इसी पोथी में एक स्थल पर स० १७६५ भी लिखा है। लेखक ने समय समय पर रचनाएँ लिखी हैं।

इन उद्धरणों का आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि मुडिया लिपि का हिन्दी मे विकास होना सवत् १७६९ के लगभग आरभ हो गया था। आरभ में उस के साथ थोडी-बहुत मात्राएँ भी सुविधानुसार लगाई जाती थीं, किन्तु सवत १८०० तक वह लिपि बहुत कुछ विकसित हो गई और उस में मात्राएँ बिल्कुल नहीं रक्खी गईं।

चित्रप्रश्नम्

श्रीयुत पनुक्कन अच्चन, कोच्चि

चित्रप्रश्नं ज्योतिश्शास्त्रसंबन्धमाय ओरु ग्रन्थमाकुन्नु। ओरुवनरे भाविये संबन्धिच्चुळ्ळ अरिवु वळरे एळुप्पत्तिल् इतु नोक्कुन्नतुकोण्टु सिद्धिक्कुन्नु। ई ग्रन्थत्तिले एतेङ्किलुं चित्रत्तोटु चोदिच्चालरियां ओरुवनरे भावि गुणमो दोषमो एन्नु।

तालपत्रत्तिल् एळुत्ताणिकोण्टु वरच्चिट्टुळ्ळ चित्रङ्ङळोटुकूटिय "चित्रप्रश्नग्रन्थङ्ङळ्" मध्यकेरळत्तिले मून्नु ग्रन्थप्पुरक्कळिल् निन्नु ई लेखकन्नु कण्टुकिट्टियिट्टुण्टु[1]। इतर ग्रन्थङ्ङळ् इन्त्यियिल वेरे एविटेयेङ्किलुं उण्टो एन्नु अरिवुतिल्ल[2] एनिक्कु कण्टेत्तुवान कळिञ्ञेटत्तोळं ग्रन्थङ्ङळ् ओत्तुनोक्कि चित्रङ्ङळोटुकूटि प्रसिद्धप्पेटुत्तेणमेन्नाणु विचारिक्कुन्नतु। कोच्चियिले आर्कियाळजिक्कल डिप्पार्ट्टुमेण्टिले ओरु मग्मोयर् आयिट्टायिरिक्कुं ईग्रन्थं प्रसिद्धपेटुत्तुन्नतु।

ई लेखकन्नु पकर्तियेटुक्कुवान् सादिच्चिट्टुळ्ळ ग्रन्थङ्ङकित् ओन्नु नेनकेलासमेन्नु प्रसिद्धिक्केट्ट तृश्शिवपेरूरिले ओरु सन्यासिमठत्तिल् निन्नुं किट्टियिट्टुळ्ळताकुन्नु। जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्यरुटे शिष्यपरम्परयिल पेट्ट सन्यासिमारुटे ई मठं, कोच्चि राज्यत्तिले सन्यासिमठङ्ङळिल वेच्चु एऱ्ऱवुं प्रधानप्पेट्ट ओन्नाकुन्नु। प्रस्तुत ग्रन्थ अविटत्ते इप्पोळत्ते मठाधिपतियाय शक्तिधरानन्दब्रह्मानन्दभूति स्वामिकळ् एनिक्कु पकर्त्तियेटुक्कुवान सन्तोषपूर्वं सम्मतिच्चुतन्निट्टुळ्ळताकुन्नु।

ई ग्रन्थत्तिल आके ओरुनूरु चित्रङ्ङळुण्टु। ओरो चित्रवुं ओरो तालपत्रत्तिनरे मुनवशत्तु वरक्कप्पेट्टिरिक्कुन्नु। अतातु चित्रङ्ङळे संबन्धिच्चुळ्ळ फलङ्ङळ् अतातु पत्रत्तिनरे पिनवशत्तु श्लोकरूपत्तिल एळुतप्पेट्टिट्टुण्टु। ओरो श्लोकत्तिन्रेयुं एटत्तु भागत्तु मार्जिनिलायि अतिन्रे मलयाळार्थवुं एळुतियिट्टुण्टु।

ई ग्रन्थत्तिले चित्रङ्ङळ् एत्रत्तोळ विशेषप्पेट्टवयाणेन्नु ई लेखनत्तोटुकूटि प्रसिद्धप्पेटुत्तियिट्टुळ्ळ "तामरप्पोय्क"[3] एन्न। चित्रत्तिल निन्नु मनस्सिलाक्काम। इतु ई ग्रन्थत्तिले पतिनारामत्ते चित्रमाकुन्नु।

उत्तरइन्त्ययिले ओरु महापण्डितनरे स्मारकमायि प्रसिद्धप्पेटुत्तुन्न ओरु ग्रन्थत्तिल, द्राविड भाषयाय मलयाळत्तिल् ओरु लेखनं नागरीलिपियिल एळुति प्रसिद्धप्पेटुत्तुन्नतु अभिलषणीयं आणेङ्किलुं अल्लेङ्किलुं, अङ्ङिनेवेणमेन्नु निश्चयिच्च "ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति" युटे विशालमनस्कतये इविटे नन्दिपूर्वं अनुस्मरिक्काते निवृत्तियिल्ला॥

---

१. ये तीनों पुस्तकालय कोचि राज्य के अन्तर्गत हैं।

(१) दि पलियम मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, चिन्नमयलम्;

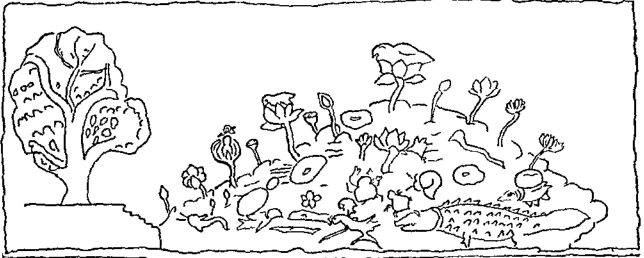
(२) दि तेक्केमथम लाइब्रेरी, त्रिचूर,

(३) दि ग्रन्थ लाइब्रेरी, त्रिप्पुनित्तुर।

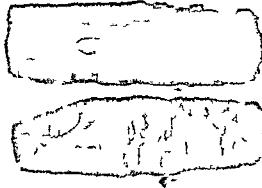
२. इस टिप्पणी के साथ प्रकाशित होने वाले इन पोथियों में से एक के एक फ़ोटोग्राफ़ से इन चित्रों का स्वरूप और ताड़-पत्र पर लिखने का प्रकार अच्छी तरह प्रकट हो जायगा।

३. कमल-ताल।

तामरप्पोयक



नवपङ्कजकरवाभिराम
  मर ण्तासरमोऽभिवीक्षते यः ।
धनलाभबले अतीव कान्ति
  परमैश्वर्यमपि प्रयाति सोऽयम् ॥



चित्रप्रश्नम्' पोथी का एक पन्ना

[अनुवाद*]

चित्रप्रश्नम् ज्योतिष शास्त्र का एक ग्रन्थ है इसे पढ़ने से एक के भविष्य के बारे में अच्छा ज्ञान आसानी से हो जाता है इस के किसी चित्र से पूछने से यह जाना जा सकता है कि एक का भविष्य अच्छा है या बुरा ।

ताड़ के पत्ते पर लोहे के कांटे से खींचे गये चित्रों सहित ग्रंथ मध्य केरळ के तीन ग्रंथालयों से मिले हैं । पता नहीं है कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दुस्तान में और कहीं है या नहीं । मेरा विचार यह है कि जितने ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए हैं उन सब को चित्रों के साथ छा... कर प्रकाशित करना चाहिए । यह ग्रंथ कोचिन के आर्कियालॉजिकल डीपार्टमेन्ट के स्मारक के लिए प्रकाशित किया जाएगा ।

मैं जितने ग्रन्थों की नक़ल कर सका उन में से एक ग्रंथ "तीन कैलास" के नाम से प्रसिद्ध "तृश्शिवपेरूर" के एक सन्यास के आश्रम से प्राप्त हुआ है । जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी के शिष्यों में से एक का यह आश्रम कोचीन के दूसरे आश्रमों से बहु... श्रेष्ठ है । प्रस्तुत ग्रन्थ वहाँ के आजकल के मठाधिपति "शक्तिधरानन्द ब्रह्मानन्द भूति स्वामी" ने नक़ल करने के लिये मुझ... दिया है ।

इस ग्रन्थ में कुल १० चित्र हैं । हर एक चित्र एक एक ताड़ के पत्ते पर खींचा गया है । साथ साथ चित्रों के फलों के बा... में श्लोक भी लिखे गये हैं । हर एक श्लोक का पाठ और उस का मलयालम अर्थ भी लिखा गया है ।

इस लेख के साथ छपने वाले 'तामरप्पोयक' नामक चित्र से जाना जा सकता है कि इस ग्रन्थ के चित्र कितने श्रेष्ठ हैं । यह इस ग्रन्थ का १६ वां चित्र है ।

उत्तर भारत के एक बड़े पण्डित के स्मारक के लिए प्रकाशित होने वाले एक ग्रंथ में द्राविड भाषा "मलयालम" में एक लेख नागरीलिपि में लिख कर प्रकाशित कराना, चाहे यह आवश्यक हो या न हो, वैसा करने का निश्चय करने वाली 'ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति" की विशाल हृदयता का धन्यवादपूर्वक अभिनन्दन किये बिना मैं नहीं रह सकता ।

---

* दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की कृपा से प्राप्त ।

Zur Vorgeschichte des Buddha-Bildes

प्रो० डॉ० हल्मुथ फॉन ग्लाज़नाप कोनिग्सबर्ग विद्यापीठ

[इस बात की व्याख्या कि साँची और भारहुत के मूर्त दृश्यों में बुद्ध की उपस्थिति को उन की मूर्ति के बजाय चिन्हों द्वारा दर्शाया गया है, जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के मूलतः अभाव से तुलना कर के करनी होगी। जान पड़ता है शुरू में, जैसे ब्राह्मण लोग नाम रूपहीन ब्रह्म को चित्रित नहीं करते थे, उसी तरह शिल्पी लोग उन महात्माओं का भी जिन्होंने संसार छोड़ दिया है और निर्वाण पा चुके हैं, मूर्त चित्रण करना पसन्द न करते थे।

परन्तु ईसवी पूर्व की पिछली शताब्दियों के धार्मिक विकास के कारण इस में परिवर्तन हुआ। एकेश्वरवादी विचारों के विकास का फल यह हुआ कि शिव या विष्णु को ईश्वर—अन्य संसारी देवताओं की तुलना में सत् और आनन्द स्वरूप—समझा जाने लगा। इधर का, जैसा कि भगवद्गीता में है, ब्रह्म से एकत्व माना गया है।

पर क्योंकि शिव या विष्णु के रूप में उन की मूर्तियाँ पहले से विद्यमान थीं, अतः अब इस युक्ति के लिए कोई स्थान न रहा कि केवल उसी को चित्रों द्वारा उपस्थित किया जा सकता है जो संसारी हो।

इस का प्रभाव जैनों पर पड़ा, जो सदा से अपने उपासकों को, जो कुछ दूसरे धर्मों में हो उस दन में तत्पर रहते थे हिन्दुओं की प्रतिमा पूजन की सफलता ने उन्हें तीर्थंकर प्रतिमाओं का प्रचलित करने को प्रेरित किया। यदि विष्णु या शिव को मूर्त किया जा सकता था तो महावीर और पार्श्व का भी मूर्त करना कुछ कठिन न था। जैनों के सिद्धान्त के अनुसार मुक्तात्मा सदा के लिए संसार के शिखर पर अवस्थित ईषत् प्राग्भारा लोक में सर्वज्ञ, आनन्द-स्वरूप और पूर्ण आध्यात्मिक पुरुषों के रूप में निवास करते हैं। वे सांसारिक परिवर्तनों से अछूते रहते हैं, और सांसारिक झगड़ों से बिलकुल अलहदा। उन की कोई आकृति या देह नहीं होती, पर इन का एक (अमूर्तिक) परिमाण होता है, जो उन के अन्तिम अस्तित्व का दो तिहाई रहता है। अतः वे सब एक दूसरे के समान होते हैं।

यदि कोई कलाकार ऐसी दिव्य-सत्ताओं की पार्थिव प्रतिमूर्ति बनाना चाहता तो उसे निश्चल महात्मा के रूप में ही, जो ध्यान मग्न हो और जिस की मुद्रा से स्वर्गीय शान्ति झलकती हो, उपस्थित करना होता। उन की संसार से पूर्ण विरक्ति अधमुँदे नेत्रों द्वारा प्रकट की जा सकती। व्यक्तित्व के पूर्ण लोप का भाव सब तीर्थंकरों को बिना किसी प्रकार के वैयक्तिक भेद के एक सा उपस्थित करने से प्रकट हो सकता (इस लिए उन की एक दूसरे से पहचान उन के चिन्हों से ही हो सकती)। इस प्रकार तीर्थंकर प्रतिमाओं का आदर्श स्थापित हुआ।

इस धारणा के लिए कि तीर्थंकर प्रतिमाएँ उन महात्माओं की मुक्तात्मा को ही प्रकट करतीं तथा उन के सांसारिक व्यक्तित्व की स्मृति उन में न रहती थी, दो प्रमाण दिये जा सकते हैं। पहला यह कि अनेक तीर्थंकर प्रतिमाओं के माथे यह स्पष्ट लिखा है। दूसरे, तीर्थंकर पूजा के सिद्धान्त से भी इस की पुष्टि होती है। यह सिद्धान्त यह है कि सब जिन प्रतिमाएँ ध्यान के साधन का काम देती हैं; उन का अस्तित्व केवल इस लिए है कि वे मुक्ति की कामना को जगातीं और उस की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

ऐसी सन्त आत्माओं से, जो सब प्रकार की सांसारिक बातों से उदासीन हैं, किसी अन्य प्रकार के इनाम या वरदान की आशा नहीं की जा सकती।

सर्वसाधारण पर इन प्रतिमाओं का बहुत प्रभाव पड़ता देख बौद्धों को भी बुद्ध को चिन्हों के बजाय प्रतिमा द्वारा प्रकट करने की सूझी होगी। पर उन के निर्वाण का सिद्धान्त जैनों से बिलकुल भिन्न होने से वे उन को निर्वाण-प्राप्त अवस्था को चित्रित न कर सकते थे। अतः स्वभावतः उन्हों ने बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति और परिनिर्वाण के बीच उन के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करना शुरू किया। यही कारण है कि बौद्ध प्रतिमाएँ तीर्थंकर-प्रतिमाओं की अपेक्षा बहुत अधिक विविधता और सजीवता प्रकट करती हैं। बुद्ध धर्मोपदेश करते, पृथ्वी को साक्षी बनाते आदि कई रूपों में चित्रित किये गये हैं।

पुरानी बुद्ध प्रतिमायें तीर्थंकर-प्रतिमाओं का भाव ले कर ही बनीं, लेखक के इस मत से इस बात की व्याख्या हो जाती है कि सब से पुरानी बुद्ध-प्रतिमाओं और तीर्थंकर-प्रतिमाओं में समानता है; जिसे युवान च्वाङ ने भी उतना ही अनुभव किया था जितना भारतीय मूर्ति-कला में रुचि रखने वाले शुरू के यूरोपियनों ने।

अतः लेखक का विश्वास है कि नालन्दा, सारनाथ, बोरोबुदर आदि में प्राप्त प्रतिमाओं से पहले भी बुद्ध-प्रतिमाएँ रही होंगी जो अब नहीं मिलतीं; पर जिन के नमूनों पर ये पिछली प्रतिमाएँ बनीं। यह मानना कठिन है कि बुद्ध की मूर्ति पहले पहल यूनानी कलाकारों ने ही आविष्कृत की। लेखक का यह दृढ विश्वास है कि उन्हों ने पहले से विद्यमान एक नमूने को केवल यूनानी साँचे में ढालने का काम किया था।

परन्तु लेखक यह स्वीकार करता है कि इस स्थापना के लिए अभी मूर्त प्रमाणों की जरूरत है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। जब तक भारतीय शिल्प की प्राचीन-तम कृतियों के नमूने और न मिलें, तब तक बुद्ध-प्रतिमाओं के उद्भव-विषयक किसी भी स्थापना को सचाई की खोज के प्रारम्भिक प्रयत्न से अधिक कुछ कहना निरी बेपरवाही होगी।]

Die bekannte Tatsache, dass der Buddha auf den Reliefs von Sâñci und Bhârhut nicht figurlich dargestellt sondern durch bestimmte Symbole vertreten wird, ist oft zu erklaren versucht worden Die meisten Interpretationen befriedigen nicht Dass es „den fruheren indischen Kunstlern an fruchtbarem kunstlerischem Geist wie an technischem Konnen gemangelt hat", um die Gestalt eines Buddha zu schaffen, ist unwahrscheinlich, weil sie dann auch nicht Indra oder andere gottliche Wesen hatten zur Darstellung bringen konnen Auch die vielfach vertretene Ansicht, die alteren Buddhisten hatten sich, gemass dem Wort des sterbenden Buddha „Die Lehre ist euer Meister, wenn ich hingegangen bin" nicht fur die Person des Buddha, sondern nur fur die Lehre desselben interessiert und deshalb den Meister durch Symbole der Lehre wie das Rad des Gesetzes versinnbildlicht, *greift fehl. hatten die Buddhisten* an der Personlichkeit des Erhabenen keinen Anteil genommen, so wurden sie die Geschichte seines Lebens nicht so ausfuhrlich auf den Toren der Stûpas in Stein verewigt haben Der Grund dafur, dass die alteren Buddhisten es vermieden, den Buddha abzubilden, wird erst begreiflich, wenn man die Untersuchung nicht auf den Buddhismus beschrankt, sondern sie auf die anderen Erscheinungen des religiosen Lebens Indiens im 1. Jahrtausend v Chr. ausdehnt Es zeigt sich dann, dass auch die Jainas ihre Tîrthankaras ursprunglich nicht bildlich dargestellt haben in den altesten Teilen des Kanons horen wir wohl von Statuen oder Tempeln von Gottern und Yakshas,

Jina Statuen werden aber erst in spaterer Zeit in kanonischen Texten erwahnt Es ist deshalb anzunehmen, dass die Ubereinstimmung zwischen Jainas und Bauddhas keine zufallige ist Wenn man sich vergegenwärtigt dass alle noch in den Banden der Welt gefesselten Wesen, Gotter Menschen und Tiere, abgebildet werden nur die aus dem Samsara ausgeschiedenen Erlosten nicht dann liegt es nahe zu glauben dass die Kunstler der alteren Zeit sich scheuten den uber das Weltgetriebe emporgewachsenen in das Nirvana eingegangenen Heiligen noch in korperlicher Form wiederzugeben Fur sie war die leibliche Darstellung eines Vollendeten, der das Nirvana verwirklicht hat ebenso undenkbar, wie für die Brahmanen die Darstellung des uber Name und Gestalt erhabenen Brahman

In den letzten Jahrhunderten vor Beginn unserer Zeitrechnung trat hierin ein Wandel ein Das machtvolle Emporwachsen monotheistischer Anschauungen bewirkte dass unter den zahlreichen Göttern von den Vishnu von anderen Shiva als der eine hochste Weltenherr (ishvara) angesehen wurde, der im Gegensatz zu den im Samsara verstrickten verganglichen Devas ewig und selig ist. Dieser ishvara der theistischen Sekten ist nun aber wie dies z B deutlich in der Bhagavadgita hervortritt, zugleich der Allgott und wird mit dem Brahman identifiziert Da der ishvara aber gleich den devas schon bildlich dargestellt war (Shiva z B schon in Mohenjo Daro), bestand für diese neue theistische Erlösungslehre kein Grund mehr fur die Anschauung dass nur der im Samsara wandelnde bildlich wiederzugeben sei Dies blieb nicht ohne Ruckwirkung auf die atheistischen Religionen der Jainas und Bauddhas Die Jainas sind zu allen Zeiten bestrebt gewesen, ihren Anhängern alles zu bieten was andere Religionen boten sie haben deshalb den verschiedensten Legenden Anschauungen Einrichtungen und Gebräuchen der Hindus Heimatsrecht gewährt und ihnen ursprunglich Fremdes in ihr System eingebaut (H v Glasenapp , Der Jainismus , Berlin 1925 S 446 und Beitr zur Literaturwiss u Geistesgesch Indiens (Festgabe H Jacobi) Berlin 1926 S 339 f) Der Erfolg des Bilderkults der Hindus veranlasste sie dem Zuge der Zeit zu folgen und Tirthankara Bilder einzuführen wenn der über den Samsara erhabene Vishnu oder Shiva durch den Meissel eines Künstlers in Holz oder Stein dem Auge der Verehrer gezeigt werden konnte dann musste es auch möglich sein Mahavira oder Parshva vor dem Blick des Frommen erstehen zu lassen

Die Form der Darstellung ergab sich von selbst ein Jina konnte nur so abgebildet werden wie er für alle Ewigkeit nach seinem Nirvana existiert Nach der Lehre der Jainas leben die Erlosten als allwissende selige rein geistige Wesen in der auf dem Gipfel der Welt gelegenen Region Ishatpragbhara für alle Ewigkeit fort von allem irdischen Wechsel unberuhrt und frei von jeder Anteilnahme an irdischen Dingen Sie sind ohne sichtbare Gestalt, körperlos und darum durchdringbar aber mit einer räumlichen (immateriellen) Ausdehnung von 2 3 derjenigen welche sie in ihrer letzten Existenz gehabt hatten Bei ihnen sind alle individuellen

Verschiedenheiten geschwunden, welche die Karman-Stoffe den Seelen beilegen, sie sind deshalb alle einander gleich Wollte ein Kunstler ein materielles Abbild eines solchen erhabenen Wesens schaffen, dann musste er es als einen unbekleideten, in tiefe Meditation versunkenen Heiligen darstellen, dessen Gesichtszuge erhabene Ruhe wiederspiegeln. Die völlige Weltentrücktheit konnte durch halbgeschlossene Augen ausgedruckt werden, die völlige Entpersonlichung dadurch, dass alle Tîrthankaras nach genau demselben Typus, ohne jede individuellen Unterschiede (darum also nur durch Unterschriften oder „cihnas" von einander unterscheidbar) dargestellt werden So entstand das typische, immer wiederkehrende, starre und unbewegliche Tîrthankara-Bild, das heute noch im Jainismus vorherrscht. Dass die altesten Tîrthankara-Bilder den Heiligen im Zustand der erlangten Erlosung zeigen, nicht aber die Erinnerung an seine irdische Existenz wachhalten sollen, ist aus zwei Grunden wahrscheinlich Erstens, weil dies bei manchen Tîrthankara-Bildern ausdrucklich bezeugt ist (In Jaina-Miniaturen ist dies meistens dadurch angedeutet, dass der Heilige auf der halbmondformig gezeichneten Siddhashilâ sitzt, uber Wolken thront u s w Vergl die Bilder Plate III fol. 55, VII fol. 38, XIII fol 66, XVIII fol. 73, XIX fol 80, 88 bei A. K Coomaraswamy, Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Boston 1924) und zweitens weil die Theorie über die Tîrthankara-Verehrung dies bestatigt Der Idee nach sollen namlich die Jina-Bilder als Konzentrationsobjekte dienen, ein Daseinsrecht haben sie nur insofern, als sie bei den Glaubigen, die sich ihrer Betrachtung hingeben, das Heilsverlangen wachsen lassen und die Entstehung der Voraussetzungen zur Erlangung des Nirvâna fordern Der Tîrthankara-Kult hat also nur einen subjektiven, keinen objektiven Wert, denn die allem irdischen Streben entruckten Vollendeten haben garnicht die Moglichkeit auf das Geschehen in der Welt einzuwirken und ihre Verehrer zu belohnen

Die grosse Anziehungskraft, welche der Kult der Tîrthankara-Bilder auf die Gläubigen, zumal die Laien ausubte, mag auch die Buddhisten dazu veranlasst haben, ihren Meister nicht mehr durch Symbole sondern in koperlicher Gestalt darzustellen Bei der grundlegenden Verschiedenheit ihrer Nirvâna-Lehre von der der Jainas konnten sie den Buddha naturlich nicht als einen in ewiger Weltabgeschiedenheit fortlebenden seligen Geist abbilden, sondern sie konnten nur versuchen, die Erinnerung an sein Erdenwallen festzuhalten Sie stellten ihn deshalb so dar, wie er sich den Glaubigen in der Zeit zwischen der Erlangung der Bodhi und dem Parinirvâna offenbarte Aus diesem Grunde zeigen die Statuen von Buddhas im Vergleich zu denen von Tîrthankaras eine viel grossere Verschiedenheit und Aktivitat. der Buddha predigt, er ruft die Erde als Zeugin an u s w Dass die altesten Buddha-Statuen, wie ich glaube, in Anlehnung an Tîrthankara-Statuen entstanden, kann als Erklarung fur das merkwurdige Phanomen dienen, dass manche Buddha-Darstellungen solchen von Tîrthankaras ausserordentlich ahneln, eine Tatsache, die Hiuen-tsang ebenso aufgefallen ist wie den ersten Europaern, die sich mit indischer

Plastik beschäftigten Ich möchte deshalb annehmen dass die altesten (uns heute nicht mehr erhaltenen) Buddha Statuen Vorlaufer der Buddha-Typen gewesen sind, wie sie uns durch die Buddhas von Sarnath, Nalanda, Borobudur bekannt sind Aus diesen Erwägungen heraus kann ich mir nicht vorstellen, dass hellenistische Kunstler uberhaupt erst das Buddha Bild erfunden haben es spricht vielmehr meines Erachtens alles dafur dass sie einen bereits bestehenden Typus in griechischem Sinne umgewandelt haben

Die hier entwickelten Gedankengange welche die geistesgeschichtlichen Voraussetzungen fur das Entstehen des Buddha Bildes darzulegen suchen, bedurfen natürlich noch des Beweises durch Tatsachenmaterial Solange unser Besitz an Werken der altesten indischen Kunst noch so gering ist wie heute, ware es vermessen, zu behaupten irgendeine Hypothese uber die Genesis des Buddha Bildes sei mehr als ein provisorischer Versuch die luckenhaften Tatsachen zu deuten Ich glaubte aber meine Ansichten den Kunsthistorikern deshalb unterbreiten zu durfen, weil ich meine dass sie geeignet sind einige Punkte aufzuhellen die bisher nicht erklart worden sind

---

PALLAVA PAINTING

श्रीयुत टि० ना० रामचन्द्र, एम्० ए०, मद्रास

[अजिंठा, बाघ, रामगढ़, सित्तन्नवासल, काञ्चीपुरम् के कैलासनाथ और तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिरों के भित्ति चित्र प्राचीन भारतीय चित्रकला के बचे हुए सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। अजिंठा आदि के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस लेख में सित्तन्नवासल और काञ्चीपुरम् के चित्रों की व्याख्या की गई है।

सित्तन्नवासल—पदुदुकोट्टै राज्य में राजधानी से ९ मील उत्तर एक जैन गुहामन्दिर है, जिस की भीतों पर पल्लव राजाओं की शैली के चित्र हैं, जो तामिल संस्कृति और साहित्य के महान् संरक्षक, कवि और प्रसिद्ध कलाकार राजा महेन्द्र वर्मा प्रथम (६००—२५ ई०) के बनवाये हुए हैं, और अत्यन्त सुन्दर हैं।

गुफा की बनावट यों है—एक ९' ६"×९' ६' और ७' ५" ऊँची कोठरी, आगे २२' ६'×७' ५" और ८' ३" ऊँचा मंडप, प्रत्येक गुफा में स्थित पुरुष परिमाण अत्यन्त सुघड़ और सुन्दर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ, जिन में से तीन अन्दर और दो मंडप के दोनों पार्श्वों में रक्खी गई हैं।

सित्तन्नवासल का मूल प्राकृत रूप है सिद्धण्ण वास—सिद्धों का डेरा। जैन दन्तकथाओं में सिद्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ अब दीवारों और छत पर सिर्फ दो चार चित्र ही कुछ अच्छी हालत में बचे हैं। इन को देखने से पता है कि बहुत बारीक परन्तु स्थिर और दृढ़ रेखाओं में अत्यन्त सुन्दर और सुघड़ आकृतियाँ बड़ी दक्षता के साथ लिख दी गई हैं। छाया आदि द्वारा का पृथक् प्रयत्न नहीं किया गया। रंग बहुत थोड़े हैं—सिर्फ लाल, पीला, भूरा, काला और सफ़ेद। इन्हीं को मिलाकर बड़ी-बड़ी कुछ

और हरा, पीला, जामुनी, नारंगी आदि रंग भी बना लिये गये हैं। इतनी सरलता से बनाये गये इन चित्रों में भाव आश्चर्य जनक ढंग से स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ सजीव सी जान पड़ती हैं।

सारी गुहा कमलों से अलंकृत है। सामने के दोनों खम्भों को आपस में गुँथी हुई कमलनालों की बेलों से सजाया गया है। खम्भों पर नर्तकियों के चित्र हैं। बरामदे की छत के मध्य भाग में एक पुष्करणी का चित्र है; हरे कमल पत्रों की भूमि पर लाल कमल खिलाये गये हैं; जल में मछलियाँ, हंस, जल मुर्गाबी, हाथी, भैंसे आदि जल-विहार कर रहे हैं। चित्र के दाहिनी तरफ तीन मनुष्याकृतियाँ हैं, जिन की आकृतियाँ आकर्षक और सुन्दर हैं। दो मनुष्य इकट्ठे जल-विहार करते दिखाये हैं; इन का रंग लाल दिखा है; तीसरे का रंग सुनहला है और वह इन से अलग है। इस की आकृति बड़ी मनोमोहक और भव्य है।

सौधर्मेन्द्र ने तीर्थंकर के केवली होने पर बैठ कर उपदेश देने को संवर्पण नामक एक स्वर्गीय मण्डप रचा था। उस के चारों तरफ ७ भूमियाँ होती हैं, जिन में से गुजर कर ही कोई व्यक्ति उस प्रासाद में तीर्थंकर का उपदेश सुनने पहुँच सकता है। इन में से दूसरी भूमि का नाम खा ति का है। जैन दिगंबर मूर्ति-शास्त्र श्रीपुराण नामक ग्रन्थ के अनुसार यह खा ति का भूमि एक तालाब होती है, जहाँ पहुँच कर भ व्यों (संवर्पण में तीर्थंकर का उपदेश सुनने के अधिकारी उपासकों) को स्नान और जल-विहार करने को कहा जाता है। उक्त चित्र इसी खा ति का भू मि का है।

अन्य बचे हुए चित्रों में दो नर्तकियों के चित्र हैं जो अन्दर घुसते ही सामने के दो खम्भों पर बने हैं। एक की दाहिनी भुजा गज-हस्त और दूसरी की दण्ड-हस्त मुद्रा में फैली है। इन चित्रों में कलाकार ने मानों गहनों से लदी पतली कमर और चौड़े नितंबों वाली, चीते की तरह प्रचंड शक्तिवाली और भव्य, स्वर्गीय अप्सराओं के और शिव-नटराजन की कल्पना में प्रकट होने वाली नृत्य-ताल और प्रचण्ड स्फूर्ति को एक ही जगह चित्रित कर दिया है।

अन्दर के दाहिने खम्भे पर एक सुन्दर पुरुष-शिर के, जिस के पीछे एक वैसा ही सुन्दर स्त्री का शिर है, निशान दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ लोगों ने इसे अर्धनारीश्वर का चित्र माना है। पर एक तो यह जैन मन्दिर है, दूसरे इस को जरा ध्यान से देखने से मालूम होता है कि इन के शिर पर जटा-जूट नहीं बल्कि राजमुकुट था जो अब मिट गया है। संभवतः यह चित्र राजा महेन्द्र वर्मा का अपना ही है। महाबलिपुरम् की वराह गुहा में भी राजा महेन्द्र वर्मा का एक चित्र इसी तरह है। वहाँ राजा अपनी दो रानियों के साथ मन्दिर में घुसता हुआ दिखाया गया है।

कैलासनाथ—काञ्ची पुरम् के कैलासनाथ के मन्दिर में भी मन्दिर की दीवारों पर कलई की परत के नीचे इसी काल के चित्रों के अस्तित्व का पता मिला है। कुछ थोड़ी सी आकृतियों का उद्धार कलई की परत को हटा कर किया गया है। इन में भी वही खूबी है। पर कोई पूरा चित्र अब तक आविष्कृत नहीं हो सका है। इस मन्दिर का बनानेवाला पल्लव राजा नरसिंह वर्मा उर्फ राजसिंह (६९० ई०) था।

मलयाडिपट्टि आदि अन्य भी कई स्थानों से इस प्रकार के चित्रों का पता मिला है।]

It is surprising indeed that the earliest extant specimens of Indian painting are so very few that they give room to the doubt whether painting, though spoken of highly in Indian literature, was ever practised at all like sculpture and architecture But the surviving specimens in the caves of Rāmgarh, Ajantā, Bāgh and Sittannavāsal and in the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram and the Brihadīsvara temple at Tanjore go to prove effectively that not only was painting popular but was often practised as a single craft being combined with sculpture Such a combination was treated as the highest form of religious art, being "more difficult and costly

than simple painting, and therefore conferring more merit both on the artist devotees and their patrons The result of such a process with a religious background was that fresco and tempera painters attempted not to produce the atmosphere of Western painting but to giv- their work the solidity and reality of sculpture to show something more than an art of line to exhibit a remarkable power of delineation and a subtle modelling of surfaces The modell ing of surfaces was so pleasant and wonderful that we my agree at once with Havell when h says whether they were modelled by the painter or the sculptor the finishing brush outlin gave life to the forms [1] The charge levelled against Indian painting, that it is an art of lin only, that is Indian paintings are not true pictures in the European sense, they are only coloured drawings , cannot be said to be true of that school of Indian mural painting tha is seen at its best at Ajanta, Bāgh Śittannavasal and the Kailasanatha temple at Kanchipuram Several writers have dealt with the paintings at Ajantā and Bāgh, it shall be our pleasant task to take up those at Śittannavasal and Kanchipuram which were done in the seventh century and are attributed to the Pallava kings for which reason we have chosen to call them Pallava painting [2]

Śittannavasal

In a cave temple here executed in the early Pallava style of the Mahendra period are the said paintings of this place attributed to the royal artist Mahendraverman I (600—625 A D) one of the greatest figures in the history of Tamilian civilisation This king was as we have proved elsewhere, a royal patron of art, an accomplished artist himself an intrepid architect and a highly cultured poet musician and dramatist To him are attributed several cave temples, among which Mamandur and Śittannavasal cave temples which resemble each other closely are alone interesting for our study of Pallava painting Some traces of paint were noticed on the walls of the Mamandur cave (6 miles south of Kanchipuram) as also at Mahabalipuram by Dr Jouveau Dubreuil but they yielded no satisfactory result But an inscription found at Mamanḍur though fragmentary is of great importance to us as it speaks of the literary accom plishments of Mahendravarman I and his contributions to painting, dance and music Line 11 of the inscription relates to painting and contains the following verse almost restored —*Kalpat Pravibhajya* *Vrittim Dakshina chitrakhyam (kara) yitva yathavidhi*

---

[1] *Indian Sculpture and Painting* p 165

[2] See my paper The royal artist Mahendravarman I read in December 1931 at the First Bombay Historical Congress

Translation "Classifying (the subject) from (an old standard) *kalpa* (*i e.*, work on the subject) he caused to be compiled a commentary or edition (*vritti*) called *Dakshina-chitra i.e.*, South Indian art or painting) following strictly the methods and the rules laid down for such a work"

It is evident that the king analysed the subject of painting that was laid down in an earlier work which was probably cumbrous or not clear or which had to be revised in the light of later inventions in the field The results of his analysis, derived probably from a practical study of the subject, he embodied in a treatise which conformed to the rules relating to such compositions and which he named *Dakshina-chitra* or Southern Art or Painting

While Māmandūr has very little of paintings to show to us today the Śittannavāśal frescoes offer us a pleasant study and entitle the cave temple to be called a *Chitra-śālā* or picture gallery. The architecture and sculptural details of this temple are briefly as follows.—It is identical with that at Māmandūr. In plan, it consists of a *cella*, 9′ 6″ square and 7′ 5″ in height with a small pillared verandah in front measuring 22′ 6″ in length, 7′ 6″ in width and 8′ 3″ in height. The temple contains five life-size rock-cut sculptures of Jaina Tīrthaṅkaras seated in the *samparyanka* pose, three inside the main shrine and one at each end of the *mandapa*. The two outer ones may be said to represent, as I have proved elsewhere[1], the Tīthaṅkaras Pārśvanātha and Chandraparbha These sculptures are similar in style and execution to some of the later Buddhist images at Ajantā The carving is marvellous for its precision and excellence of anatomy The figures are natural and carry themselves with a grace though in an erect posture "like a flame that flickereth not in windless space"

The surface of the rock inside was given a finish to suit it for the subsequent fresco-process As at Ajantā the walls and ceiling were covered with a layer of plaster, "not only to lighten the gloomy interior but also to serve as a ground work for colour decoration The designs were first drawn in Indian red on the white plaster, then flat washes of colour were applied and finally outlined in black to show up the designs and colours The latter were water colours and only five pure colours were used, *viz*, red, blue, yellow, black and white From these colours the artists also produced orange, green, brown, purple and pink Very little attempt at shading was made, less than is found in the Ajantā paintings which they closely resemble".[2] The cave was intended, even when it was actually carved, to be painted over inside for "the figures carved are not finished as such, for that was left to the painter's plaster and brush" Being the most perishable of the fine arts the painting in this cave has suffered a good deal owing to age and

[1] In my paper "The royal artist Mahendravarman I"

[2] Kern Institute—Leyden Annual Bibliography of Indian Archæology, 1930, p 11

age long neglect and indifference darkening of the interior of the cave by smoke from the fire of way-side wandering pilgrims cooking their food in, the peeling off of the plaster here and there owing of course to neglect and the almost horrible vandalism to which it has been subjected at the hands of cattle boys, the natives of the soil

The credit of discovering these paintings ought strictly to go to the late lamented Gopinatha Rao, who communicated his discovery to his scholar friend Dr Jouveau Dubreuil who forthwith drew the attention of the world by means of a leaflet and an article in the *Indian Antiquary* (Vol LII pp 45—47) with a tracing of the outline of a well preserved dancing figure With his remarkable precision in judgment and the instinct of a born archaeologist he was able to determine that—

'1 The process of Pallava painting is similar to that of the Ajanta paintings

2 The painting of the Pallavas was perhaps even more beautiful than their sculpture

3 The Śittannavāsal cave is a Jain temple [1] After closely examining the Śittannavasal paintings and sculptures we have only to conclude that the Professor is remarkably correct in his estimation The sculptures which represent Tirthankaras have been already examined The subject matter of the paintings alone remains

Before taking to a study of these it is interesting to note that the name of the place Śittannavasal is so un-Tamilian that to explain its derivation we have to look to its Sanskrit or Prākrit form In Sanskrit it will be Siddhānam vasah i e the abode of the Siddhas or ascetics and in Prakrit Siddhanna vasa As we know that the Jainas and the Buddhists had a special leaning towards Prakrit culturally we shall take the Prakrit form as the nucleus of the modern Tamil name of the place, Śittannavasal The term 'siddha is of special value to us for our study for we know that the siddhas occupy a pre eminent place in Jaina iconography and worship Among the *pañcha namaskaras* that every follower of the Jaina faith should make the first *namaskara* is reserved for the Siddha And in Jaina cosmology the highest place or heaven (to use a common and popular term) is spoken of as the *Siddhaloka*, the denizens of which are the *siddhas* or the liberated souls whom even the Tirthankaras worship prior to initiation (*diksha*)[2] The Jaina ascetics of the place naturally required solitary places like the cave under discussion for the performance of their austerities and *dhyana* The rocky nature of the country afforded them ample cave resorts one of which was the one under discussion which was embellished with sculptures and paintings by a royal patron of rare artistic taste who was probably

1 I A Vol LII p 45

2 This has been dealt with in detail by me in my monograph on *Jaina painting* to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin

drawn to the place either because of the sanctity of the place or because of his fervour for the Jaina religion—a point which we have discussed elsewhere[1] Of those paintings of the place that are intact, careful copies have been made by Mr. M S S Sarma of Madras, some of which have been figured by Mehta in his book on "Studies in Indian Painting". I have seen his copies in colour and was struck by their fidelity to the originals They have been drawn to correct scale and have been properly toned

The plaster serving as the primed ground is very thin, of about an eighth of an inch and has adhered to the surface of the rock so well that it is not easy to remove its traces Particles of husk and straw can be seen in some places and the lime appears to have been mixed up with fine sifted sand. At Bāgh one finds lime mixed up with cow-dung. My friend Mr Chitra of the Madras School of Arts tells me that the latter mixture would give a suitable ground for the best colour-effect The colours used are not many, those used are red, yellow, blue, green, black and white Mr M S S Sarma has examined them very carefully and tells me that they are natural colours or vegetable colours as some of the local Tamil painters would call them A bit of the primed ground furnished by the lime-mixture was tasted by him and found to be sweet While only one variety in each of black, green, blue and white pigments is found, red and yellow have two varieties each. Red has "red ochre" and "vermilion", and yellow "yellow ochre" and "bright golden".

The colour scheme is harmonious and simple, the colours being well soaked into the surface and given a final polish with probably small prepared pebbles. It is natural without any elaborate attempt at light and shade The backgrounds are mostly red or green The paintings are essentially linear; they "began and ended with outlines, and the boldness and firmness displayed in them are really marvellous", "every form being brought out firmly by its decided outline" It has been supposed that the first outline here must have been done with red ochre as at Ajāntā, an inference which is but natural as, in the case of such paintings time, exposure, weather and natural decay would tend to obliterate everything else save the red outlines But according to Mr. M S S Sarma the execution here was different. "The cuncuma (*Kunkuma*) stem which Indian ladies use even today in their toilet is the thing that was used for the preliminary outline. The alkaline nature of the fresh ground converted the yellow of the stem into a rich red colour which was then fixed by outlines of different appropriate colours, thus parcelling out the ground for subsequent coats of colour The outlines then were emphasised with suitable tints here and there When the surface moisture is gone, but when the ground is still

---

[1] See my paper "The royal artist, Mahendravarman I" read at the I Bombay Historical Congress

damp light shading by hatching and stippling is indulged in, and afterwards, before the ground completely dries up the whole is given a polish with small prepared pebbles [1] The linear draughtsmanship reveals a knowledge of anatomy and perspective far advanced

The chief decorative *motif* in the whole cave is the lotus with its stalk, leaf and flower As Dr Dubreuil has remarked in his ' Pallava Painting The decoration of the capitals of the two pillars of the façade is well preserved and consists of painted lotuses whose blooming stems intertwine with elegance the pillars being adorned with the figures of dancing girls The ceiling of the inner cell reveals a geometrical design, complicated, most of which has been unfortunately obliterated Of those fragments that are luckily intact and have been copied by Mr Sarma that on the ceiling of the verandah is the most interesting It is located in the centre of the ceiling and is flanked by two simple decorative panels with designs looking like carpets spread A lotus tank in blossom with fishes geese and other birds animals such as buffaloes and bulls and elephants and three men who are according to Dr Dubreuil surely Jains wading through gathering lotus flowers is the subject treated While the water of the tank alone is treated in a conventional manner the rest is done in a most natural elegant and simple manner The fishes and the geese play about in the tank here and there and recall a pleasant paradise Lotus leaves are made to stand as the background of every lotus flower in bloom Of the three men whose pose, colouring and the sweetness of their countenance are indeed charming , two stand close to each other while the third stands alone at the right hand end of the fresco The skin of two is dark red in colour while that of the third is bright yellow or golden While both Mehta and Sarma do not agree with Dr Dubreuil who identifies the scene depicted as probably from the religious history of the Jains , we are of opinion that the French archæologist is seldom wrong in his surmises and if he errs at all he errs rather on the right side than on the wrong one The scene depicted is one of the most attractive heavens that find a place in the Samavasarana or heavenly pavilion created by Saudharmendra for the Jina to sit and discourse the moment that he becomes a Kevali Seated in the *Gandhakuti* within the Lakshmivara mandapa which in turn is in the centre of the whole *samavasarana* structure the Tirthankara or the Jina holds the divine discourse attended by all pomp A *divyadhvani* emanates from Him which is interpreted by the *Ganadharas*, the occupants of the first *koshta* which is one of the 12 *koshtas* surrounding the seat of the Jina containing god s creation come to witness the grand scene of the Lord s discourse The structure including the *Lakshmivara mandapa* wherein the 12 *koshtas* or compartments are located and the *Gandhakuti* with the Lord in it is surrounded by seven *bhumis* or regions each region being encircled

[1] Triveni Vol III (1930) No 1 p 72

by a rampart called *vedikā* or *sāla*. Those that are *bhavyas i.e.*, those good people who will have the good fortune to attend the Lord's discourse in the *samavasarana* structure, have to pass through these regions before they repair to their respective *koshtas* in the *Lakshmīvara-mandapa* The second *bhūmi* or region is called the "khātikā bhūmi" or the region of the tank. According to the "Śrīpurāna" (a manuscript in Tamil-Grantha in the Madras Oriental Mss. library), a work on Digambara Jaina iconography, this region is described as a delightful tank with fishes, birds, animals, and men frolicking in it or playing in it The *bhavyas* are said to get down into the tank, wash their feet and please themselves as best as they can. And our painting shows this tank-region with those men pleasing themselves by gathering lotus flowers while animals such as elephants and bulls and birds and fishes are frolicking about pleasing themselves as best as they can[1]

The other paintings in a tolerable state of preservation are two dancing figures on the cubical pillars that catch our eye as we enter the cave. They have been figured by Mehta in his book in plates 3 and 4. The one on the right side is not so well preserved as the one on the left, a sketch of which was published by Dr. Dubreuil in the *Indian Antiquary*. From a sketch of the figure left out by Dr Dubreuil but figured by Mehta in plate 4 of his book we can see that the left hand of the danseuse is stretched out gracefully in the *dand-hasta* pose The left hand of the other figure (figured by Dr Dubreuil) is thrown in the *gaja-hasta* pose Both are treated with singular grace, their supple moments being rendered with ease, charm and sureness that could result only from the closest observation and æsthetic insight. Mr. Mehta was so much attracted by these danseuses that he bursts out as follows:—"It was left to the artists of Southern India to crystallize into immortal form, the rhythm of dance and the energy of dynamic movement, as seen respectively in the glorious figures of swaying *Apsaras*, "loaded with jewelled ornaments, broad-hipped, narrow-waisted, powerful and graceful as panthers", and in the noble conception of Śiva as Natarāja—the Divine Dancer"[2].

On the inner side of the right-hand pillar as we face the cave can be seen a beautiful head with traces of a figure in front and of a woman's head behind. It has been figured in plate 1 of Mehta's book I examined the copy of Mr. Sarma which shows many more details than Mr Mehta's It is that of a splendid figure with an ornamental coronet or head-dress and with *patra-kundalas* in both the ears. While we agree with Mr Mehta's description of the figure as "an impressive study—showing the strength of delineation and directness of treatment which

---

[1] A detailed description of the *samavasarana* which occurs in the Digambara Jaina at Tiruparuttikunram near Kāñchīpuram finds a place in my work on "Jaina painting" to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin

[2] Mehta, p 12

belonged to the palmy days of Ajanta and Bagh [1] we are unable to accept his identification of the figure as Ardhanārisvara or Mahādeva The figure is surely that of a king accompanied by his wife whom he probably leads into the shrine Such is the purpose in relegating this painting on the inner side of the pillar as if the persons are heading towards the interior of the shrine The *patra kundalas* and the ordinary coronet (not *jata-mukuta* as Mehta describes it to be) show that Śiva was not intended And Siva has no place in a Jaina shrine We are unable to see in the figure any divinity of expression, that should go as a *monopoly* to Siva alone Such dignity if any, can go to the king of the land also who in this case ought to be the royal artist Mahendravarman I That the figure behind him is that of his wife and that he is going with her to the shrine can be easily inferred if we bear in mind that the Varāha cave at Mahabalipuram contains a portrait of Mahendravarman heading towards the shrine accompanied by two of his queens, the nearer of whom he appears to be leading by her right hand while his half raised right hand points towards the shrine[2] He was probably similarly engaged here though only the head of the king remains with the outline of what looks like a feminine face which we have assumed to be thatof his queen

Kanchipuram

The discussion over this head takes us to the still more fascinating study of the newly discovered fresco-paintings in the Kailasanātha temple at Kañchipuram The credit of their discovery goes again to Dr Jouveau Dubreuil who has brought to our notice marvellous Pallava frescoes executed in the same style as those of Sittannavasal Mr M S S Sarma has taken copies of these also, two of which have been photographed and published in the *Triveni* (Vol IV, No 1) Fig 1 shows the outline of the left side of a man, probably a king with an expression identical with that of Mahendra at Śittannavāsal I had been to the Kailasanatha temple several times and seen them and three others also exposed by the Professor The paintings cannot date earlier than 690 A D for the temple came into existence only then during the rule of the Pallava NarasimhavarmanII *alias* Rajasiṃha The tradition regarding paintings should have descended down to Mahendra s successors also who were probably also artists like their illustrious predecessor What has been exposed consists of 5 heads of which only one is entire Among the others one is the right half of a man s torso another shows the fore arm and three fingers of a hand a third shows another half-head and a fourth the head of probably a child with a small coronet on head A panel contains the design of two vases placed alongside Traces of drapery of figure rather fragmentary, are made out here and there also traces of crude brush lines which Mr Sarma thinks to be of far later date

---

[1] Mehta p 12

[2] Gopalan *Pallavas of Kanchi* p 88

In the few that are visible the outlines are clear and sharp and the colouring bright and rich The lines flow in curves and have been done in a masterly manner so as to look as if they were designed without any effort The heads so far revealed are those of men, graceful and dignified The head that Mr. Sarma figures in the *Triven* as No 1 (Vol. IV, part I) is easily the best, though half eaten away. The left eye that alone remains "sits charmingly over the left cheek and is full of pathos and feeling revealing a whole world of its own". It is hoped that the coats of white wash that the cells in this temple have had periodically will soon be removed carefully and when these are removed much more of these paintings are likely to be exposed Even in the Śittannavāśal temple the inner cell shows on the floor a round stone piece inserted in its centre Does it lead to a cell underneath? And does the cell underneath also treasure paintings, which, if true must be in a state of excellent preservation? This awaits further investigation

Dr J Dubreuil's find of paintings at Kāñchīpuram was followed by others of equal importance in the Pudukottah state, this time by Mr. K Venkatarangam of the Pudukottah Museum, who discovered in the rock-cut temple at Malayadipatti dedicated to Vishnu and founded by the later Pallava king Dantivarman (788—840 A D) in the 16th year of his reign, ancient paintings of great beauty and in the style of Sittannavāśal[1]. They were found on the ceiling of the temple and are said to represent scenes from Vaishnavite mythology. As I have not seen them yet I am unable to say what they represent.

---

[1] Kern Institute Annual Bibliography for 1931, p 17

७

मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

Some Tibetan Customs and a Few Thoughts Suggested by them*

स्वर्गीय डॉ० सर जीवन जी जमशेद जी मोदी, पी एच० डी० एल एल० डी०

[लेखक को कुछ दिन दार्जिलिङ्ग के आस पास गुम्पाओं में तिब्बती लामाओं से मिलने और तिब्बतियों के रीति रिवाजों का अध्ययन करने का मौका मिला है। सांस्कृतिक जन विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है।

जातियों और राष्ट्रों के रीति रिवाजों में अधिकांश का उद्भव धर्म में हुआ है। आज कल के दर्बारी रीति रिवाज और शिष्टाचार के बहुत से नियमों की नींव धार्मिक है।

तिब्बती बौद्ध या लामा धर्म में तीन धर्मों की झलक है। जरतुश्ती धर्म, इसाई धर्म और तिब्बत का प्राचीन बोन धर्म। जरतुश्ती धर्म की याद तो हम उनके अन्त्येष्टि संस्कार को देख कर आती है। मुर्दों को पशु पक्षियों के खाने को फेंक दिया जाता है। उन के पूजा पाठ और कई विश्वासों को देख कर इसाइयत—कैथोलिक सम्प्रदाय—का स्मरण हो आता है। भूत प्रेत, मन्त्र तन्त्र, शकुन आदि में विश्वास प्राचीन बोन धर्म के प्रभाव के कारण है।

प्राचीन इरान के इतिहास ग्रन्थों से पता लगता है कि इरान और तिब्बत का परस्पर काफी संबंध रहा है। फरिश्ता के अनुसार काबुल, तिब्बत, पंजाब और सिंध पर प्रसिद्ध रुस्तम तक कृशस्पि के उत्तराधिकारियों का कब्जा था।

बौद्ध महायान सम्प्रदाय, लामा धर्म जिस कि एक शाखा है और इसाइयत् में बहुत अधिक समानता है यह तो सब लोग जानते ही हैं, इस समानता को देख कर तरह तरह की कल्पनाएँ ईसाइयों ने की है जैसे गुदफर (पहली शताब्दी ई० के लगभग) के दर्बार में महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य अश्वघोष और सेंट थामस का मिलना इत्यादि। पर इस प्रकार की कल्पनाओं से इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। असल में समानता का कारण दोनों धर्मों का एक ही सिद्धान्तों वाले स्रोत से निकलना ही है। मथ्र धर्म और इसाइयत की समानता का भी यही कारण है।

तिब्बती बौद्ध धर्म या लामा धर्म कई अंशों में बुद्ध की शिक्षाओं के शब्दार्थ के अनुकूल होता हुआ भी उन की शिक्षा के भाव से सर्वथा विरुद्ध है। उदाहरणार्थ बुद्ध ने भिक्खु के लिए विवाह का निषेध किया है। तिब्बती लामा विवाह नहीं करते पर रखैल रखने में कोई हर्ज नहीं समझते। बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार मांस आदि न खाना चाहिए, पर तिब्बती लोग गाय, भैंस आदि बड़े बड़े पशुओं को मार कर उनका मांस खाते हैं। पक्षियों को या छोटे छोटे प्राणियों को नहीं मारते। उन का कहना है कि बुद्ध ने कहा था कि कम से कम हिंसा करो। छोटे प्राणियों का मांस खाने से एक आदमी के लिए ही कई प्राणियों का वध करना पड़ता है। अतः बड़े प्राणियों का ही मांस खाना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने भिक्खुओं को बीच बीच में कुछ काल एकान्तवास कर के आत्म चिन्तन करने की शिक्षा दी थी। - तिब्बती लामा एक अन्धेरी गुफा में ६ मास, ६ वर्ष और जन्म भर बन्द हो कर एकान्त सेवन किया करते हैं।

उन में शकुनों और भूत प्रेतों पर विश्वास हद दरजे का है।]

I had the pleasure of passing about five weeks in May-June 1913 at the Himalayan Hill Station of Darjeeling. I had the good fortune of visiting several hill stations of India and among them some of the hill stations of the Himalayas. But with no hill station I was so much pleased as with that of Darjeeling. The charming scenery it commands, both of its beautiful hill side vegetation and especially its tea gardens and of the great snowy hills towered

Introduction

* This theme formed the subject of a public lecture delivered under the auspices of the Sassoon Mechanics Institute on the 10th of February 1914.

over by the lofty Kinchinjanga, is in itself a great attraction But the hill had pleased me nay fascinated me, by the opportunity it afforded me of knowing something of the Tibetan Lamas and of their Buddhist Monasteries I had read something of the Lamas, their Buddhist religion and their monasteries. but there, at Darjeeling, I had an opportunity to see and study them. We see some remains of the old Buddhist monasteries of India in our country, in our very neighbourhood, for example in the ruins of the caves of Kenheri in the Thana district and Ellora in H E H the Nizam's dominions, but they are quite of a different type

A study of the Tibetan customs is very interesting from an Anthropological point of view, as it throws a side-light upon many a point of cultural anthropology. At least, as a Parsee, I have been much interested in many of their customs which have enabled me to understand some of our old Iranian customs--customs once observed perhaps in Central Asia both by the ancestors of the ancient Persians and of the Tibetans. or customs given, as suggested by some, by the ancient Persians to the ancient Tibetans. On the subject of some of these old Iranian customs on which some side-light is thrown by the modern Tibetan customs I have spoken at some length in my five papers before other literary societies [1] So in this paper, I will only make a passing reference to them

We know that most of the customs of a community or nation, have their rise in its church or religion Most of the customs, known as Court customs or manners and most of the social customs have their parallel, nay, even their origin, in the Church customs For example, take the ceremonies observed in receiving and honouring royal personages or their representatives [2] We see the like of most of them in the Church Take for example the following

Church, the cradle of many customs

1 The hoisting of flags and banners and all kinds of bunting as marks of welcome.

2 (a) The firing of guns, (b) the ringing of bells (c) the playing of bands of music (d) the cheering of the people, (e) the wavering of hands

3 The various forms of salutation, beginning with prostration and ending with the most recent forms of court courtesy

4 The spreading of carpets or red cloth for great men to walk upon

5 The ceremonial presence of body-guards

6 The ceremonial forms of address as "Your Majesty, Your Highness, Your Worship Your Honour," and in the East as "Khudavand, Hazrat, Jan'ab," etc

---

[1] Vide *Journal of the Anthropological Society of Bombay*, 1913, Vide my *Anthropological Paper* II, pp 68—124, the Sir Jamset Jijeebhai Jadrsa Jubilee Volume, my *paper*, pp 35, 36

[2] *J Anthrop Soc*, Bomb, Vol III, pp 779—803

All these forms of respect and honour observed in Court ceremonials and on other high ceremonial occasions seem to have their origin in the Church

Such being the case, we will first speak of the Tibetan Churches which are ordinarily spoken of as monasteries by the Westerners and by the Tibetans

Tibetan Church

In the vicinity of Darjeeling we have three Buddhist Ganpas or monasteries I had visited them several times I had opportunities to see more than once their services to attend two of their religious processions and to have long talks with some of the Lamas What I propose saying to day is the result of my own observations of my talk with the Lamas and with others especially with the two well known travellers of Tibet who had made a long stay in Tibet—Rai Sarat Chandra Das Bahadur and Rev Kawagouch—and of my study of the books of known travellers

Tibet is a tableland of Central Asia situated at a height varying from 10 000 to 18 000 feet It is all surrounded by mountains the Himalayas being its southern boundary It has an area of 700 000 square miles Though most of the religious customs are common some vary in different parts of the country The Tibetan monasteries at Darjeeling give us a vivid idea of the religion of the Tibetans Their religion or to speak more correctly their religious services and observances remind us of three religions—(a) Zoroastrianism (b) Christianity and (c) Bon religion—with which the early Tibetans seem to have come into some contact

The Religion of the Tibetans

(a) Their customs of the disposal of the dead not as observed at Darjeeling but as observed in Tibet itself remind us of the Zoroastrian mode of the disposal of the dead—the custom of exposure before flesh devouring birds observed by the Parsees of Bombay

(b) Their religious hierarchy their religious services and even some of their beliefs remind us of Christianity

(c) The third religion of which we are reminded in Buddhism which is the prevalent religion is the ancient Bon religion which has given some of its elements to the Buddhism of Tibet more properly spoken as Lamaism

The name and the religion of Buddha have so much fascinated some writers that they see his name in the names of the gods of distant countries and even in the name of the day of a week For example, Lieutenant Richard Burton says ' But the celebrated Eastern reformer s name has extended as far as the good old island in the West It became Fo e and Xa ca (Shakya) in China but in Cochin China Pout in Siam "Pott or ' Poti in Tibet perhaps the Wadd of Pagan Arabia ' Toth ' in Egypt Woden in Scandinavia and thus reaching our remote shores left traces in

The fascinating name of Buddha

Wednesday,[3] i e , the day of Woden, the highest God of the Germans and Scandinavia" Justi, Darmesteter Harlez, Haug, and Meherji rana-vacha take the Gaotama of the Farvashis Yasht (Yh XIII, 16) to the Gaotama Buddha himself

Ferishta, in his well-known history, known, as *Tarikh-i-Ferishta* while tracing the connection between India and Persia from remote times, beginning with the Peshdadian King Faridun, thus refers to the conquest of Tibet by Persia

(a) Influence of Zoroastrian Persia on Tibet

"Some authors, however, relate that Faridun even possessed the Punjab and that the descendants of Koorshasp (Kershasp), down to the celebrated Rustom held it in subjection together with Kabul, Tibet Sind and Nemrooz"[4]

Macoudi on Tibet

According to the Arab historian Maçoudi,[5] who lived in the tenth century A.D , some of the descendants of Āmour (عامور) the grandson of Jafet the son of Noah, had gone and settled in Tibet Their kings were latterly known as "Khakans" The Kingdom of Tibet was a kingdom distinct from China[6] Its people were cheerful gay and contented They were rarely seen to be sad or sorry That was due to its fine climate This gaiety and cheerfulness of temper have led the people to cultivate the arts of music and dancing The same cheerfulness makes them feel less the loss of their near and dear ones Maçoudi derives the name Tibet from the Arabic word tabat (ثبت) "to fix" "to settle on account of the Himyarite Arabs having settled there[7] According to this author, Tibet was known for its musk[8] (مسك) Chosroes I (Nowshirwan the Just) was on friendly terms with the Khakan of Tibet who sent him some Tibetan curiosities with a letter,[9] and of all the tribes of the Turks, the Tibetans were the most noble[10]

Tabari on Tibet

The Arab historian Tabari,[11] in his account of the history of the Kings of Yeman for the time between the reign of Kai Kaus and that of Bahman of Persia says that in the times of Kings Gustasp and Bahman there reigned in Yeman Tobba,[12] Abou-Kourroub The rulers of many countries near and far were afraid of him The King of India, once sent him an embassy

---

[3] Lieutenant Richard F Burton's—" Goa and the Blue Mountains of Six Months of Sick-leave"

[4] Brigg—Ferishta I, *Introductory Chapter on Hindoos*, p. LXVI. According to a recent writer it was an Iranian prince who first promulgated Buddhism in China, (*Vide* my *paper* on the subject contributed to Mahamahopadhyaya Dr Jha Memorial Volume)

[5] Macoudi, traduit par Barbier De Maynard, Vol I, p 289

[6] *Ibid* , pp 350, 351

[7] *Ibid* , p 351

[8] *Ibid* , p 353 et seq

[9] *Ibid* , II, p 203

[10] *Ibid* , III, p 253

[11] Tabari, par Zotenberg, Vol I, p 505, et seq

[12] *Tobba'* was the name by which the Arab Kings of Yaman were known

with very rich presents made of silk amber etc The Tobba inquired if those things were made in India The ambassador afraid lest his answer in the affirmative may tempt the Tobba to take possession of India for its riches pointed to China as the home of the rich products and praised that country for its beauty and its riches The Tobba of Yaman thereupon sent an army to invade China The army went through Tibet The commander of the army left an army of 12 000 Arabs in Tibet on his way to China so that in case of defeat and retreat that army may be of use to him He was victorious in China and on his return he left the 12 000 Arabs in Tibet to live and flourish there Tabari says that many of the inhabitants of Tibet are descended from the Arabs

(b) Christianity and Buddhism

The religious services of the Lamas are of a variegated character At times it is unusually noisy and at times it is dignifiedly quiet and solemn To one who sees it long and on various occasions it appears to be more the former than the latter We in India are familiar with noisy religious services wherein drums, trumpets and such other instruments play a prominent part But what we see here is nothing compared to what we see in the Tibetan monasteries at Darjeeling They bring into service all imaginable noisy instruments of their so called music and make with these a really terrific noise which at times seem to strike terror in us and which no doubt are likely to strike terror among the demons the ejection of whom is one of the objects of their service

But during a part of the service when they conduct it in a quiet muttering tone if one familiar with the service of the Catholic Christians were to hear it from outside he would suppose it to be some Christian service The intonation of the prayers during the service is very similar to that of the Christian Catholic prayers Jesus Christ is known among them as 'Yshu mashi

Mr R F Johnstone says[13] It is a matter of common knowledge that some of the doctrines of the Mahayana (not to mention its ritualistic practices) bear a remarkable resemblance to some of the teachings of Christianity One critic has been venturesome enough to assert that Ashvaghosha and the apostle St Thomas actually became personally acquainted with one another at the Court of St Thomas's supposed Indian patron Gondophares or Godopharms and that such Christian elements as are to be found in the Mahayana were therefore the result of the intercourse between the Christian apostle and the Buddhist patriarch The problem of the nature of the relationships between *Christianity and Buddhism* is not to be explained by any such airy suggestion as this On the whole there is something to be said for the view that the resemblances between the Christianity and the New ' Buddhism (as the Mahayana has been called) are not due to borrowing either on one side or the other but to the fact that

[13] Reginald F Johnstone *Buddhist China* p 3

both had access to some sources of doctrinal inspiration—sources which in themselves were not specifically either Christian or Buddhist It is now a matter of common knowledge that Christianity and Mithraism were in many respects amazingly alike, yet the best authorities assure us, that, at the foot of these two religions "lay a common eastern origin (Persian and Babylonion) rather than any borrowing"

Huc saw so much of similarity between Christian ritual and Tibetan ritual that he said "The devil in his hostility to Christianity had anticipated his coming" Dr Waddell speaks of the religious service of the Lamas as a "most impressive spectacle"

They say that both Ashvaghosh the Buddh and St Paul the Christian were at one time present in the Court of Gondophur

Buddhism, mixed with some elements of the ancient Bon religion, is known as Lamaism A Tibetan traveller writes of Tibet as the country of the Lamas women and dogs Every monastery has a number of Lamas or priests attached to them Those who are regularly enrolled as full-fledged monks get ten rupees per month The distant monasteries are spoken of as attached to one or another of the big monasteries of Lhasa or Tashai Lumpo, or some such other big monastery The monastery of Tashilumpo, presided over by the Tashi Lama, has 3,000 Lamas Their principal dress consists of a loose gown of a pale reddish colour They move about generally bare-headed and barefooted On ceremonial occasions the chief Lama puts on an additional gown and an umbrella-like cap The Lamaship is hereditary and a father begins to initiate his son into the order at the age of about nine The Lamas in the monasteries round Darjeeling are not much versed in their religious lore, but most of those in Tibet are asked to go through a certain course of learning, some of which is a mechanical learning by heart of the Tibetan scriptures Before initiation they are made to recite by heart the principal portions, about 125 pages of ordinary size If any candidate commits a single mistake, he is rejected and is made to leave the monastery which educated and maintained him The Lamas have neither caste nor purdah system

Lamaism The Tibetan Lamas

The early religion of Tibet was Bon religion It was in the eighth century that Padma Sambhava introduced Buddhism into the country This Buddhism with the elements of the old Bon religion preceding it is known as Lamaism It has also something of the elements of Sivaism in it The belief in devils is an element of the old Bon religion

In Tibetan Buddhism as seen at Darjeeling, we find that some of the principal injunctions of Buddha are more honoured in the breach than in their observance The Lamas seem to cling more to the letter than to the spirit We see this in the following two principal cases (a) Not to kill, (b) Celibacy

Gaotama Buddha enjoined, that his disciples should not kill That injunction led to abstinence from animal food Thus all Buddhist Lamas are expected to be vegetarians But that is not so The Lamas at Darjeeling, when asked, why they ate meat said they "did not kill but ate the meat of animals killed by others The Hindus of India venerate the cow and request their Mahomedan brethren not to kill cow But the Lamas at Darjeeling eat the flesh of all kinds of animals even of the cow and I was surprised to see on the back verandah of a monastery itself a piece of beef in a meat safe But strange to find that though they eat all kinds of meat they advocate abstinence from eggs fish and birds Their plea in defence of this custom seems to have some force They say 'Buddha has prohibited the killing of animals so the lesser the number of lives killed for our food the better When one eats eggs or fish he has to eat several of them to satisfy his hunger So he takes several lives It is better therefore to kill one big animal like a cow or sheep and feed from its meat a number of men than to have a number of eggs and fish for each person and thus sacrifice many lives

Buddha's injunction not to kill

Buddha had enjoined celibacy to the priests This injunction also is observed more in its letter than in its spirit They do not marry thinking it unlawful to marry but they keep women saying that is not 'marrying So their monasteries have the so called nuns who are known as *anis* and are kept by the Lamas

(b) Buddha's injunction of Celibacy

Some of the Lamas get themselves entombed Such entombed Lamas are of three classes (a) those of the first class take vows for six months (b) those of the second take vows for three years, three months and three days (c) those of the third class take vows for life They shut themselves up in mountain cave, the entrance to which is shut up a small opening only being left to pass food At times young boys of twelve to fifteen entomb themselves At first, they think of entombing themselves only for six months with a view to exalt their spiritual character When they come out some of them turn out idiotic This idiocy leads them to take a further vow and thus some entomb themselves for life

Entombed Lamas

In this case of entombed Lamas we see a perversion of Buddha's teaching His injunction for short or long retirements had for its object a kind of moral and religious discipline He taught that such a temporary retirement gave opportunities for (a) self examination and (b) constructive thought which led to the proper way of salvation But the original good idea was perverted

The furniture of these tomb caves was as horrible as the idea and the surroundings Their drinking bowls of the entombed Lamas were made of skulls of deceased persons For their blowing instruments for worship they had bone trumpets made out of the thigh bones of deceased persons It was believed that the souls or spirits of deceased persons were pleased when their bones were made use of by living men for domestic and

religious purposes So in the paraphernalia of wandering monks, we often see bone-trumpets and skulls The Lamas are as it were, roaming monasteries, i e. they carried on their bodies most of the instruments which we see in a monastery,--bells, flags, rosaries, trumpets, praying-wheels, clarions, dorjis (symbolic small sceptres), etc

It is no wonder that retreats of this kind with horrible surroundings make the hermits idiotic and eccentric Even milder forms of retirement are, at times, said to have produced temporary eccentricity Martin Luther even, under such a mild temporary retirement, is said to have grown a little eccentric, and to have once thrown an ink-stand against a devil, who, he imagined, was before him

Their early code of ritual enjoins that the material of their robes should be "woolen cloth But nowadays, silk is used by some rich Lamas The colour of the robes in Tibet is yellow or saffron-like The colour spoken of in their books is *nur senig* or Brahman goose-coloured This sad-coloured bird, the ruddy shell-drake has, from its solitary habits and conjugal fidelity been long in India symbolic of recluseship and devotion[14]

Lama's Robes

The priestly garb consists of three vestments The first is the lower patched robe It is made of about 23 patches sewn in seven divisions and fashioned by a girdle at the waist The patches give an idea of poverty

Among the Buddhists there is a particular month, at the end of the rains, known as Chīvar Môsa i e Robe-month, when all mendicants are presented with new robes.[15] Their robes are made up of patched cloths because patched clothing indicates poverty

As a man is a child of circumstances and of his surroundings, so also is a nation to a certain extent We have too many monasteries and too many monks in Tibet In fact the Tibetans are spoken of as a hermit-nation It is this country that has made them so The country is isolated. (a) It is surrounded by lofty mountains of which the Mt Everest has the height of 29 000 feet (b) It is barren on account of the frequent fall of snow for a great part of the year and on a great part of the country. (c) It is surrounded by uninviting deserts These have made all the people also reserved They do not like the company of foreigners All these circumstances tend to make the people ascetic or hermit-like Thus, we see many monasteries and monks here and many cases of extreme asceticism like those of entombed hermits

The Tibetans a hermit-nation

The Dalai Lama and the Tashi Lama are the two chief Lamas at the head of all The Dalai Lama rules at Lhasa He is both the Temporal and the Spiritual Head of the country The Tashi Lama rules at Tashi Lumpo, and is next to Dalai Lama in dignity and public estimation His monastery has 3,800 monks attached to it He, however has to a certain extent

The Dalai Lama held as Incarnations

[14] Dr Waddell—*Lamaism*, p 200

[15] *Ibid*, p 511

somewhat independent sway over his country He has the right to officiate at the installation of the Dalai Lama The latter is held, as it were as an incarnation of the Spiritual Lord his predecessor Not only do the Tibetans address him as such but even European diplomats have, out of diplomacy so addressed a child Dalai Lama

Sir W Hastings Embassy to the boy Dalai Lama

We have an instance of this kind in Sir W Hastings embassy We thus read about it "On the morning of the 4th December 1783 the British envoy had his audience and found the child then aged eighteen months, seated on a throne with his father and mother on his left hand Having been informed that though unable to speak he could understand Captain Turner said 'The Governor General on receiving the news of your decease in China was overwhelmed with grief and sorrow and continued to lament your absence from the world until the cloud that had overcast the happiness of your nation was dispelled by your reappearance and then if possible a greater degree of joy had taken place than he had experienced grief on receiving the first mournful news The Governor anxiously wished that you might long continue to illumine the world by your presence and was hopeful that the friendship which had formerly subsisted between us would not be diminished but rather that it might become still greater than before and that by your continuing to show kindness to his country fellow men there might be an extensive communication between your votaries and the dependents of the British nation

The infant looked steadfastly at Captain Turner with the appearance of much attention and nodded with repeated slow motions of the head as though he understood and approved every word His whole attention was directed to the envoy and he conducted himself with astonishing dignity and decorum He was the handsomest child Captain Turner had ever seen

The Tibetans peculiarly as it were metamorphose foreign names This name of Warren Hastings is Gyal tochal ' Reimponchippo of Calcutta

Manning's account of his visit to the Dalai Lama

Manning thus describes his visit to the Dalai Lama ' This day (17th December, 1811) I saluted the Grand Lama Beautiful youth Face poetically affecting, could have wept Very happy to have seen him and his blessed smile Hope often to see him again '

Manning goes on to relate ' The Lama's beautiful and interesting face and manner engrossed almost all my attention He was at that time about seven years old had the simple and unaffected manners of a well educated princely child His face was, I thought poetically and affectingly beautiful He was of a gay and cheerful disposition his beautiful mouth perpetually unbending into a graceful smile which illuminated his whole countenance He enquired whether I had not met with molestation and difficulties on the road to which I promptly returned the proper answer I said that I

had had troubles, but now that I had the happiness of being in his presence they were amply *compensated* I thought no more of them "

Dr Suen Hedin says of the Tashai Lama that he is " more powerful than all the kings of the world " He rules " over the faith and souls of men from Volga to Lake Baikal, from Arabia to India " Of his visit to the Tashai Lama he says : " I left the Labang his cloistered palace intoxicated and bewitched with his personality This one day was worth many days in Tibet " Dr Suen Hedin when speaking of the Tashai Lama, his monastery his officers etc , speaks of them in Christian phraseology as the Pope, the Vatican, Cardinals, Prelates, etc The Tashai Lama is spoken of as Panchen Rinpoche i e , the Great person Tashai He is believed to be the incarnation of one Dhyani Buddha He is taken more as a teacher or spiritual head, while the Dalai Lama, who is known as Gyalpo Rinpoche i e , the precious king is taken as the Temporal head

The Kashmir Government sends a tribute every three years to the Grand Tashai Lama This grand Lama sends at first about 500 mules to Laddhak in Kashmir to welcome the embassy bringing the tribute The members of the embassy load them as bales of merchandise on the mules and carry them for trade to Tibet

The monastery of Tashai Lama and other monasteries of Tibet were built like walled forts They served as fortresses during fight, and these monks like the Christian monks of the Middle ages fought as soldiers

Prayer-Machines
(a) Prayer-flags

Among the religious instruments of the Lamas, what we should generally term as Prayer-Machines[16] draw our special attention Among these Prayer-Machines, I include their (a) Prayer-flags, (b) Prayer-wheels, cylinder or barrels, and (c) rosaries

Their Prayer-flags are as it were, "the rallying posts of religious sentiments. You see them in monasteries in the yards of private residences, on hill-tops rivers, streams and streamlets on boats, and even in the hands of mendicant Lamas The more the prayer-flags flutter with currents of air, the better So you see them on roofs of houses, on fire-places, tops of hills, and rivers There they flutter by the force of the ascending or descending currents of air and of currents of water They are inscribed with certain prayers and, with each motion or fluttering movement, a prayer is taken to have been recited

The most common prayer formula on these flags is that of " om maṇi padme hum," i e , " Hail, the Jewel in the Lotus flower " It is like the Pater noster of the Christmas, Bismilla of the Mahomedans Yathā-hu-vairyô of the Zoroastrians It brings all help and support from divine powers

---

[16] For a detailed account of these different prayer-machines, *vide* my *Papers* before the Anthropological Society of Bombay Journal, 1913, *Vide* my Anthropological Papers, Part II, pp 68—92

The flags are made of variegated colours The Tibetans come into frequent contact with the variegated colours of Nature on their mountains So they are very fond of variegated colours This we see in their flags, and even to some extent in their dress The women are on occasions gaily decorated in a dress of variegated colours Even their shoes or slippers are made of thick cloths of different colours They buy from the bazars only the soles of shoes and the upper part is their own handwork of variegated colours

Love of Colours

In the weekly bazars at Darjeeling I was struck at times with richness of the coloured stuff of the clothes even of some poor who acted as porters Some of them put on satin clothes At first I thought these satin robes or gowns were presented to them by some rich women whom they served But on seeing them on the body of several, I inquired from a shopkeeper, and he said that they were very fond of such clothings and even the poor of the working class at times bought satin worth at about a rupee and a half per yard

Next to prayer flags the most common prayer machine that we see is the prayer wheel cylinder or barrel They are seen in monasteries on house roofs on streams at fire places and in the hands of religious minded persons They vary in size from a quarter of a foot in length or height to six seven or more feet and a few inches in diameter to three or four feet in diameter It is the monasteries that contain the large wheels At the outside of a monastery you find at first a number of smaller wheels on both the sides of the entrance The visitor or worshipper at the monastery first turns all these wheels in turn He then enters into what may resemble a verandah where there is a very large wheel He turns that wheel by means of a large handle It is an effort to turn this huge machine for some time I was struck with the devotion of an old Tibetan mendicant woman at the rural monastery of Gang with which she moved the great machine The women go to the work as they go to that on a grinding mill with rhythmic movements of their body to and fro Just as we hear in India of mendicant *sadhus* going from shrine to shrine living upon the charity of religious minded persons we see and hear of mendicant beggars both men and women going from monastery to monastery and there turning the prayer wheels with devotion The Lamas at the monasteries are expected to feed them while they are there

(b) Prayer-wheels

The wheels, barrels or cylinders that are placed on roofs of houses and fire paces etc are of a very light structure so as to move with the slightest current of air produced by the moving wind or the ascending current of hot air The wheels carried by the Lamas are still lighter Some of them are like the big rattles (*nan*) with which our children play The Tibetans turn these wheels while talking with you and walking in the street

These wheels have long pieces of paper rolled over them These papers have religious prayers written on them With each turn or set of turns of the wheel a prayer

is taken to be recited Thus, in a minute a number of turns of the wheel would, as it were, recite a number of prayers for the person who carried it and moved it

I think the origin of this custom can be seen in the old custom of writing papers in the form of round scrolls We see them still in the case of modern Indian horoscopes and even of old writing Prayers, at first, were written on long pieces of paper which were then rolled on a roller The worshipper at first, recited leisurely the full prayer reading it in the paper rolled round the roller Then, subsequently some parts of the written prayer were, here and there omitted In that operation, the wheel had to move quickly The shortening process went on till at last, it came to a mere mechanical movement

All religious-minded Tibetans carry rosaries in their hands, which they turn when at prayers, and even while talking or walking We see the use of rosaries among many religious communities, and in their use also we trace the shortening or substitution process At first they were used for counting prayers With each recital of short-prayer like the pater noster or the bismilla or the Yathâ-ahu-vairyô one bead was turned As in the case of the wheel so in the case of the rosary, a shortening process went on After some time whole prayers ceased to be recited and only the first parts of the prayers were recited That also in process of time fell through, and the matter came to a mere mechanical movement The English word 'rosary' comes from the word 'rose' So, the corresponding words for it in other languages also come from words related to gardening or vegetation For example the Gujrati word hārdi from hār a garland These words show, that, at one time, some vegetable products like rose leaves, etc formed the beads of rosaries

Prayer-beads or Rosaries

Latterly rosary came from the Church to the state from temples to society rooms and we find that rosaries formed the part of ladies' ornament in the form of necklaces of gold, pearl, etc

The above shortening process is traced in the history of the word "Hip" in the formation of words "Hip Hip Hurrah" It is said that at the commencement of the Crusades, Peter the Hermit went from city to city, town to town and village to village, shouting Hierasalyma est perdita, i e, "Jerusalem is lost" The Saracens had taken the holy city of Jerusalem, and so, Peter went from place to place to arouse Christians to join the Crusaders for the religious war, and, in order to draw the attention of the people to the event and the cause uttered the above words Then, in haste, he shortened the words He only spoke the first letters, viz, H E P of the three words of the above sentence or formula He then joined the letters and spoke the word Hep The people had become so familiar with Peter and his shouts that no sooner he appeared and began to utter the word Hep they welcomed him, joined him and exclaimed Hep Hep Hurrah Thus, gradually what were at one time religious words, or words of the Church, latterly became words of welcome on gay occasions both in streets and in

A shortening process in the shouts of Hip Hip Hurrah

banqueting halls From the Church the shout came to the State from temples to society rooms

The Tibetan word Lha sol reminds us of the shortening process in the Christian religious word Hep in Hep Hep Hurrah At first the Tibetan words were ' Lhagya lo Lhagyalo ' i e ' God (may give) a hundred years It was an invocation to the mountain deities Latterly the words were shortened into Lha Sol which were used generally for a joyful exclamation

Tibetan salutations

Various forms of salutations are known among the Tibetans They vary according to the position of the person who salutes and the person saluted The various forms are the following

(a) Bowing or lowering the head (b) Protruding the tongue (c) Pointing the thumb (d) Scratching the head (e) Scratching the ear (f) Pointing or protruding the ear , (g) Doffing the cap (h) Rubbing of foreheads , (i) Prostrating on knees (j) Presenting a scarf

Among these the following strike us as very peculiar The saluter takes off his cap with his right hand bows a little holds forth his left ear and puts out his tongue This form of salutation is a relic reminding one of an old custom of Tibet China and Central Asia whereby conquering heroes or kings at times cut off the ears of their war-prisoners or of the persons whom they wanted to punish or to whom they wanted to show their displeasure At times they cut off the tongue also So in the above mode of salutation we see a remnant of this custom The saluter holds forth his ear and tongue and bends his head in submission indicating by all these signs that he places his ear and tongue and even his head at the disposal of the person whom he salutes and the latter may if he likes cut all these off Herbert Spencer has traced at the bottom of most of our modern day salutations remnants of the old idea of self surrender of the person saluting to the person he salutes

The modern salutation of lowering the head out of respect is a remnant of the old custom whereby the saluter places at the disposal of the person saluted his head his very life The modern salutation of ladies to royalties known as doing courtesy, wherein they bend their knees is a remnant of the old form of salutation by prostration Instead of prostrating their whole bodies, the ladies bend their knees indicating that they are prepared to fall in and prostrate

Another form of salutation is that of raising the thumbs and protruding the tongue The projecting of the thumb means approval and satisfaction and raising the little finger indicates disapproval and hostility Even in the midst of conversation if one wished to indicate his assent to what the other person says he raises his thumb The custom in modern assemblies to express assent by raising hands seems to be connected with this custom of indicating assent by raising a thumb In Gujerat and even in Bombay we see children indicating friendship with their play fellows by raising their two fore fingers with the thumb in the middle, and indicating enmity by protruding their

last finger This seems to have some connection with the above old method The ancient Roman gladiators also raised their thumbs when they showed their submission

Another peculiar form or mode of salutation during visits is that of presenting scarfs When one goes to another friend, he holds before him a scarf, which consists of a piece of woolen stuff The other side also presents such scarfs In the case of visits to great Lamas, this presentation of scarfs holds the same place as that of holding *nazrana* in India The Indian custom of presenting shawls or *poshaks* (suits of dress on great occasions) seems to have an origin in this old custom

Comparing the modern forms of salutation with these old forms which exist in Tibet, we find that almost all the modern forms have come down from the old An European gentleman's doffing his hat, a lady's courtesy, an Indian gentleman's low salam, a Free-mason's greeting in the First Degree, an officer's presentation of a sword, before the Governor, a soldier's salute by moving his hand across the head, a Parsee lady's salutation of Ovarna all these are modern forms of a kind of self-surrender to the person saluted

Disposal of the Dead

The Tibetans have several known modes of the disposal of the dead Among these, the principal is the one resembling that of the Parsees, viz disposal by submitting the bodies to be devoured by flesh-eating animals They expose their bodies to be devoured both by vultures and by dogs In big centres like Lasa and Tashi lumpo, the corpse-bearers form a separate class living apart from the people They have a number of dogs which devour the flesh They cut the bodies into small pieces, so that the work of the vultures and dogs is made easier They even break and pound the bones and mix them, so that they can be easily eaten away

Belief in devils

We see in all monasteries paintings on inner walls, wherein pictures of devils in all possible horrible forms predominate This belief in devils they have inherited from the old Bon religion, once prevalent in the country Some of their paintings carried by itinerant beggars,—Lamas and nuns—from village to village to illustrate their steriotyped religious lectures or sermons remind us of the pictures of heaven and hell observed on the walls of some of the Christian religious places of Europe and of the pictures in the illustrated works of Dante's *Divine Comedy* and Ardai Viraf's *Pahlavi Viraf Nameh*

One of their religious functions is that of the well-known devil-dances which they generally perform once a year Therein, the monks put on horrible head-dresses bearing the features of devils and dance

Superstitions

No nation or community is free, more or less from some kinds of superstitious beliefs The Tibetans are more prone to such beliefs, most of them borrowed from the ancient Bon religion Dr Waddell, who is a great authority on Lamaism takes a very broad liberal view of this matter and says "The movement of the Human spirit is one shape of many names" He adds as an

illustration If a learned Tibetan were to attend a wee Free Kirk service in the Highlands or in that lonely forbidden region of the Clyde the island or Arran he might be quite right in thinking it no better than some of the most degraded observances of his friends at home[17]

The following are some instances of their superstition

(a) During the Tibetan expedition, on 16th March 1904 they sent a number of Lamas near the British Camp, to pray and ask for the curses of the devils upon the British

(b) All Tibetans carry some chains In the war with the English all the Tibetan soldiers were given chains as amulets When some were killed even in spite of the chains they said, that the chains were intended to act against the lead bullets of the enemy, but the English had a little salna in their bullets so the chains had no effect

(c) They invoked the spirits of wild animals for protection In times of war, they suspended carcasses of wild animals like the yak on the gates of their forts believing that their spirits would help them in driving away the invading enemy

(d) The teaching of the Lamas that the votaries would go to higher heavens in proportion to the beauty and value of their offerings had led to the encouragement of some Tibetan arts They aim at producing beautiful votive offerings for the monasteries

Miscellaneous Beliefs and Customs

(1) On returning from places of pilgrimage when they come across big trees they stop and dance round it

(2) It is an honour for them to ride donkeys

(3) Among various Buddhist symbols flower pots two fish tied together and crows are often seen

(4) The killing of birds is a crime and sin

(5) They have no caste and purdah system

(6) The mastiffs or great dogs are the life and soul of the Tibetan shepherds

(7) The sacred formula of ' Om mani padme hum ' is held as their eternal truth

(8) They have a peculiar flag saluting ceremony which reminds us to a certain extent of our modern military custom

(9) One of their New Year's Day celebrations consists of burning papers on which prayers and good wishes are written They believe that the burning of these papers leads to the realization of the blessings of the prayers written on them This is something similar to the Chinese beliefs I had the pleasure of seeing a Chinese temple in

---

[17] Dr Waddell s *Lamaism* p 447

Calcutta, where such papers with prayers written on it were sold These papers were purchased and burnt by the worshippers The Chinese prepared paper horses, etc., also and burnt them believing that they received the meritoriousness of supplying the help of horses, etc to travellers

(10) The most important implement of religious ritual among the Tibetans was the Dorji, a kind of sceptre. The word meant a thunder-bolt and it symbolized emblem of power Darjeeling is said to have derived its name from this word Dorji

(11) They have periods of the day for religious services, corresponding to the five gahs of the Parsees and the five periods of Catholic service

(12) The words of Buddhist prayer exclamation are Lha-sal It is as said above, a contraction of "Lhagya lo Lhagya lo" meaning "God (give me) an hundred years, God (give me) an hundred years"

(13) Ghee or classified butter plays an important part in many religious ceremonies and even in social customs When one presents to another a peg or a bottle of their wine, they place on it a little ghee

(14) They have elaborate rain-making ceremonies Regular falls of snow in winter are good for their crops During the Tibetan invasion by the English army from India they had a very mild winter and they were afraid of the crops being short that year They saw heliographs being frequently used, and they thought that the English by the working of the heliograph, were in some magical way keeping off the snow So it is said, that in one place a deputation of some Tibetans went to the Commanding Officer of the place and implored him not to write the heliographs and thereby keep off the snow from their fields and lead to their starvation

(15) Wine and barley are held to be symbols for good omen When one goes out on a long journey or on an important errand, the women stand at the door, holding these in hands to wish him godspeed and success A ragged old woman carrying on an empty basket is a bad omen

(16) Like the Christian nuns even women are attached to some monasteries They are known as "ani" Some of these "anis" live there as kept women of the Lamas who are prohibited to marry The Lamas do not marry, but some keep women thus adhering to the letter but not to the spirit of the original injunction

(17) A part of their religious literature is known as the Kangyur Once a year, Kangyur books have to be read in the monastery They form a large number The reading lasts for some days, beginning at about 5 a m and ending at 7-30 p m They have their meals and tea at irregular intervals during the reading I saw them drinking their tea with bread in the midst of even smaller services lasting for about an hour The head Lama sits at one end and the other Lamas on his two sides in parallel lines They have drinking bowls before them and a woman moves about in their midst pouring hot tea They seem to be very fond of hot tea, which they lisp in the midst of services No sooner is a cup emptied, than it is re-filled by the woman the tea cup-bearer

(18) It is a rule of etiquette never to drink more than one third of the cup of tea at first neither less than one third nor less than one third, the latter being taken as an insult to the cook of the host as it may imply, that he had not prepared good tea

(19) In their religious offerings the torma plays an important part It is a kind of sweet formed in the form of a *chorten* a religious symbolic form

(20) Pillars serve as notice boards in the city of Lhasa The Dalai Lama sticks copies of his edicts on these pillars All important events like treaties with foreigners are thus announced to the public

(21) The following serve as good omens

(a) A well dressed man or woman , (b) A full vessel (c) Grain (d) Grass (e) Firewood , (f) A prayer flag (g) Sound of cymbals (h) A woman carrying a child milk or curd

---

Ksatriyas in Greater India

बिजनराज चैटर्जी, पी-एच० डी०, डी० लिट०

[कम्बुज, आनाम, जावा आदि में मिले अभिलेखों में ब्राह्मणों का जिक्र बहुत हुआ है। पर क्षत्रियों के उल्लेख विरले ही हैं। भारत से प्रायः ब्राह्मण लोगों ने जा-जा कर पहले हिन्द के प्रदेशों में उपनिवेश बसाये थे। बाद में इन्हीं के वंशजों ने अपने आप को क्षत्रिय कहना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार के कई उदाहरण इस लेख में दिये गये हैं, जब कि ब्राह्मणों ने जा कर राज्य स्थापित किये और बाद में अपने आप को क्षत्रिय कहना शुरू कर दिया। कम्बुज उपनिवेश की स्थापना कम्बु ऋषि नामक एक ब्राह्मण द्वारा किया जाना प्रसिद्ध है। अप्सरा मेरा और कम्बु से वहां एक सूर्यवंश का आरम्भ हुआ। इसी तरह एक दूसरे ब्राह्मण कौण्डिन्य और सोमा यक्षिणी से सोमवंश का भी उद्भव उल्लिखित है। बोर्नियो, जावा आदि के राजाओं के नामों के पीछे वर्मा आता है। सम्भवतः पल्लव राजदर्बार से ही, जिनका कि इन द्वीपों के भारतीय उपनिवेशों पर बड़ा प्रभाव था, इस का आरम्भ हुआ है। इस प्रकार के उदाहरण बारहवीं सदी तक मिल सकते हैं कि ब्राह्मण परिवार का सेनापति आदि का पद देकर क्षत्रिय बना दिया गया। केवल वर्मा शब्द से ही इन का अपने को क्षत्रिय बतलाना सूचित होता है। ये लोग बड़े विद्वान् थे तथा वेद शास्त्रादि बारहवीं शताब्दी तक भी पढ़ते थे।]

In the Sanskrit inscriptions discovered in Cambodia, Annam, Java, etc., by French and Dutch archæologists we find frequent mention of Brahmans but only occasionally do we come across the word 'Ksatriya'. Of course in Cambodia there is the 'solar' dynasty founded by the Risi Kambu and the apsarā Merā. From the name Kambu we get Kambuja—the name of the country of which the Europeanised form is Cambodia. Then there is the 'lunar' dynasty traced from the Brahman Kaundinya and Soma—a native queen whose hand the Brahman won after many adventures on his arrival in the newly discovered land. But the founders of both these dynasties were, as we see, Brahmans. The later rulers, however, assume the Ksatriya title of 'Varman'. In India too we find dynasties, Brahman in origin, which were recognised later on as Ksatriya.

Indeed in the earliest inscriptions discovered in Champā (South Annam), Borneo, Java and Cambodia we find all the royal names ending in 'Varman'. Probably this title of 'Varman' came from the Pallava court of Kanchi which influenced in many ways the Hinduised portions of South Eastern Asia. The title 'Varman' was retained right up to the end (of the Hindu period) by the rulers of Cambodia and Champā but elsewhere, as, e.g., in Java, it (this title) fell into disuse much earlier.

From a study of the traditions and inscriptions of Greater India it would thus appear that the Brahmans, who went over from India to those distant regions, married freely native princesses and after a few generations (when Indian traditions had struck deeper root in the new soil) their offspring, who ruled the land, became known as Ksatriyas. In Borneo where we find a prince of the name of Mulavarman, son of

Ashvavarman and grandson of King Kundanga inviting Brahmans to Borneo to perform a Yajña (in the fourth century A D)—it is possible that Kundanga was a native ruler who was accepted as a Ksatriya by Brahmans who had early visited that island and that Mulavarman might have been inviting a fresh batch of Brahmans to get his status as a Ksatriya confirmed In Indian history too there have been ruling families with no pretensions to Ksatriya blood who have been recognised later on as Ksatriyas

Indeed in Cambodia Siam Burma and Champā we have traditions of Brahman sages having founded kingdoms in those distant regions From inscriptions it appears that these early Brahman pioneers were reinforced by Brahman immigrants coming from India continuously from the fifth to the fourteenth century A D We do not hear of such a continuous inflow of members of any other caste We hear of some Cambodian monarchs like Harsavarman III (1065—1090 A D) boasting in their inscriptions of having made people observe strictly the duties of the four castes (जाति) But we do not get substantial evidence of any other caste besides that of Brahmans

If we leave out for the present the title Varman of the kings perhaps the only instance in Cambodian epigraphy where we come across a mention of the word Ksatriya (as referring to residents in that country) is in the eulogy of the mother of King Indravarman (877—889 A D) in the inscription of the temple of Baku — The Queen (mother) born of a family where kings have succeeded one another became the wife of Prithivindravarman who came of a family of Ksatriyas (क्षत्रान्वयात्सोद्गतै) and her was the ruler of the land—Shri Indravarman before whom kings bowed down

Another passage which in the opinion of some savants may also refer to Ksatriyas is in connection with the regulations of the royal āshrama of King Yashovarman of Cambodia (889—910 A D)— Into the interior of the royal hut (in the āshrama compound) the king the Brahmans and the offspring of Kings (नृप सूनव) can alone enter without taking off their ornaments ' Just after a few lines in the same inscription we get —' The head of the āshrama should do all the duties as e g offering welcome to guests such as Brahmans children of kings (भूपाल सुत), the leaders of the army ascetics ' May we take the words (नृपसूनवः) and (भूपालसुत) in the same sense as Rajput to mean Ksatriyas?

In the fourteenth century Javanese chronicle *Nagarakrtāgama*—we find in the description of the Javanese capital Majapahit, that in the western part of the city there were the houses of the Ksatriyas and ministers In Ta Prohm inscription of Jayavarman VII (1182—1202 A D) the last of the great Cambodian monarchs we find an enumeration of the favours conferred by the King on his guru and the guru's family ' To the descendants (of the guru's sons) the title of Senāpati was given as if they had been the descendants of Kings ' Do we get rather late instance of a Brahman family becoming Ksatriya through royal

Caste regulations as we learn from Kambuja (Cambodia) than in India

just on their arrival from India) wed royal princesses—but Cambodian monarch like Jayavarman II and Jayavarman VII married Brahman maidens

If, however, we take the title 'varman' of the Indo-Chinese monarchs to denote the fact that these rulers really belonged to the Kṣatriya caste, then we will find ample material in the inscriptions of Champā (South Annam) and Cambodia for a thousand years (almost to the end of the fifteenth century A.D) about the education, accomplishments, etc, of Ksatriya potentates in a region so remote from India We learn, e g, that several of the royal princes were educated by their gurus in astronomy and mathematics, the grammatical works of Pāṇini and Patañjali, the Dharma-shāstras, the Atharva Veda, and the different systems of philosophy One sovereign—Yashovarman—wrote a commentary on the Mahābhāshya of Patañjali Dancing and singing may also be mentioned among princely accomplishments.

As regards the religion of these rulers we may say that most of the Indo-Chinese monarchs were Shaiva But some illustrious sovereigns like Jayavarman VII (of Cambodia) were also Buddhists

We may conclude this short paper on Ksatriyas in Greater India with a stanza from Yashovarman's Loley inscription in which, in a pithy sentence an ideal picture of an Indo-Chinese monarch (Yashovarman) is attempted —"He who reigned over the earth the limits of which were the Chinese frontier and the sea and whose qualities glory, learning and prosperity were without any limits'

चीन-संधि-पयोधिभ्याम् मितोर्व्वी येन पालिता । गुणावलीव कीर्त्तिस्तु विद्येव श्रीरिवामिता ।

Such would be the high standard which we may expect of Kṣatriva rulers if they were to rule successfully countries at such a distance from India as the Hinduised Kingdoms of Indo-China—though this particular passage cited here may be only the panegyric of court poet

मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत के राजपूत

रायबहादुर डॉ० हीरालाल डी० लिट्०, कटनी।

राजपूत का असल अर्थ राजा का पुत्र होता है चाहे वह किसी जाति का हो, परन्तु अनेक युगों से क्षत्रिय जाति के लोग बहुधा राजा होते आए हैं इस से वह इस जाति का पर्य्यायवाची शब्द बन गया है[1]। कहीं-कहीं अब तक भी ऐसे घराने विद्यमान हैं जो राजपूत कहलाना पसन्द नहीं करते, वे अपने को ठेठ क्षत्रिय कहते हैं। राजपूत का एक और पर्य्यायवाची शब्द ठाकुर है जिस का अर्थ स्वामी या मालिक होता है। जब कोई व्यक्ति अपने को ठाकुर बतलाता है तो उस से राजपूत का बोध होता है, यद्यपि ब्राह्मणों के भी कई ऐसे घराने पाए जाते हैं जो भूमि प्रभुत्व के कारण ठाकुर घराने कहलाते हैं। इसी प्रभुत्व के कारण निम्न श्रेणियों के घरानों को भी इसी प्रकार का छाप पड़ गई है। कभी-कभी इस प्रकार की पदवियों और अधिकार के कारण विवाह सम्बन्ध हो जाने से अनेक जातियाँ क्षत्रिय जाति में सम्मिलित हो गई हैं, जिन का पृथक् करना अब असम्भव सा दिखता है। मगध का महाप्रतापी गुप्तवंश कारस्कर[2] जाति का था। यह जाति जाटों से मिलती-जुलती थी, परन्तु उस घराने की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मणवंशी वाकाटक महाराजाओं के यहाँ होने से वाकाटक घराना अन्त में राजपूतों की श्रेणी में आ गया। इसी प्रकार गढ़ामण्डला के गोंडों का घराना राज समता ही के कारण राजपूतों के वर्ग में गिना जाने लगा था और उन का विवाह सम्बन्ध असल क्षत्रियों के घरानों में होने लगा था। गोंड राजा दलपतिशाह की भार्या इतिहास प्रसिद्ध रानी दुर्गावती चन्देल घराने की कुमारी थी। उस के पीछे अन्य जो राजा हुए उन की रानियाँ कोइ पड़िहारिन, कोइ बघेलिन, कोई अन्यवंशीय क्षत्राणियाँ थीं। च्युतपद और अत्यन्त गरीब हो जाने पर भी यह घराना अभी तक सिवाय राजपूतों के अन्य किसी से विवाह सम्बन्ध नहीं करता।

इसी प्रकार की स्थिति का मनन कर कतिपय विदेशी इतिहासकारों ने कह डाला है कि राजपूत या क्षत्रिय कोई जाति ही नहीं था, वह केवल सैनिक और शासक लोगों का समूह था जिसने आपस में शादी विवाह कर लेने से एक विशेष जाति का रूप धारण कर लिया। परन्तु महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने बृहत् राजपूताने के इतिहास में इस का पर्याप्त रूप से खण्डन कर सिद्ध कर दिया है कि यह भ्रम है[3]। क्षत्रिय जाति का अस्तित्व बहुधा प्राचीन काल से है। सम्मिश्रण की कथा दूसरी है, ऐसी कोई भी जाति नहीं है

१ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर ओझा का कथन है कि मुसलमानों के समय से क्षत्रिय जाति राजपूत कहलाने लगी। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ५८।

२ श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल—हिस्ट्री ऑव् इंडिया १५० ३५० ए० डी० (लाहौर १९३३), पृ० ११२।

३ राजपूताने का इतिहास, अध्याय ३।

जिस में मिश्रण न हुआ हो, परन्तु उस से यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि उन जातियों का अस्तित्व ही नहीं था; अस्तु।

भारतवर्ष में राजपूतों की संख्या लगभग एक करोड़ है। राजपूताना उन का ठेठ स्थान समझा जाता है परन्तु वहाँ राजपूतो की संख्या केवल ६ लाख है। मध्यप्रदेश में कोई साढ़े चार लाख तथा मध्यभारत में चार लाख राजपूत पाए जाते हैं। पण्डित गौरीशङ्करजी ने बड़ी खोज के साथ राजपूताने के राजपूतों का विवरण अपने राजपूताना के इतिहास में लिखा है; हम यहाँ पर मध्यप्रदेश और मध्यभारत के राजपूतों और उन के कुलों का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे परन्तु स्थानाभाव से यह केवल बहुत संक्षिप्त रीति से किया जा सकता है।

कवि पद्माकर ने अपनी हिम्मतबहादुर की विरदावली में इन प्रमुख कुलों की सूची दे कर प्रत्येक कुल या कुरी की विशेषता या गुण प्रसङ्गानुसार प्रकट कर दिया है, उन का वर्तमान मनुष्य-गणना-विभाग (Census) द्वारा गिनी गई कुरियों से मिलान करने से कुछ उपयोगी बातो का पता लगता है।

पद्माकर लिखते हैं कि रणधीर पवाँर अर्जुनसिंह पर जिस समय हिम्मतबहादुर ने धावा किया, उस समय उन की सेना में अनेक कुरियों के योद्धा उपस्थित थे, यथा—

चौहान चौदह आकरे। धन्धेर धीरज धाकरे।
बुन्देल विदित जहान में। जे लरत अति घमसान में।
बघरू बघेले करचुली। जिन की न बात कहूँ डुली।
रन रैकवारन के झला। जे करंत अरिदल पै हला।
गज्जत गहरवारहु सजे। जुरि जङ्ग जे न कहूँ भजे।
वर वैस वीर जुझार जे। झुकि झमक झारत सार जे।
गौतम तमक जे रन करैं। अरि काटि कटि कटि कै लरैं।
पड़िहार हार न मानहीं। जिन को हरष घमसान ही।
उद्धत सुलङ्की साहसी। जे करत रन में राह सी।
रजपूत राना हैं सजे। जिन के खड़क रन में गँजे।
हरखे सु हाड़ा हिम्मती। जिन की जगत रन किम्मती।
राठौर ठुर ठौरन गने। रिपु जियत नहि जिन के हने।
रन कर करे कछवाह हैं। जे लरत दिग्ध ठुवाह हैं।
सँग लिए सूर सिसोदिया। जिन को जुरत फूलत हिया।
तहँ तौंर तीवन ताकिए। रन-विरद जिन के बाँकिए।
सेंगर संपूती सों भरे। जे सुद्ध जुद्धन मे लरे।
रन अटल वीर इटौरिहा। जे रन जुरत सिरमौरिहा।
विलकैत वीर बली चढ़े। सफ रङ्ग जङ्ग सदा मढे।
नदवान नाहर पिपरिहा। बल के बनाफर सिपरिहा।
सिरमौर गौर गराजि कै। सोभित सिला हैं साजि कै।
रनधीर वीर चन्देल हैं। जे लरत रन बगमेल हैं।

इन सब कुरियों का धावा पवाँरों पर था जिन के बाहुल्य का पता मनुष्य गणना विभाग से लगता है। यद्यपि सन् १८९१ से ले कर प्रत्येक गणना के समय राजपूतों की कुरियों का शोध अनवरत किया गया, तथापि आधे से अधिक राजपूत अपनी कुरियाँ लिखाने से किसी न किसी प्रकार वञ्चित रह गए, तिस पर भी मध्यप्रदेश और मध्यभारत में कम से कम दो लाख पवाँरों ने अपनी कुरी दर्ज करवा ही दी। इन में से कोई डेढ लाख इस प्रकार के पवाँर हैं जिनका व्यवसाय खेती होने के कारण वे कुनबी या कुरमी की स्थिति को उतर गए हैं। इस प्रकार पवाँरों में भिन्नता आ गई है। किसान पवाँरों के सिवाय मराठा पवाँर और बुंदेला पवाँर भी सामाजिक व्यवहार में कुछ भिन्नता लिए हुए पाए जाते हैं। असल धार के परमार[1], जिन के विषय में कहावत प्रसिद्ध है कि "जहाँ धार तहाँ परमार जहाँ परमार तहाँ धार", अब बहुत सङ्कुचित हो गए हैं। उन की सख्या प्राय बीस हजार के लगभग निकलेगी। मराठा पवाँर तो परमारों से भिन्न और कुछ न्यून समझे जाते हैं, परन्तु विचित्र संयोग से धार का राज्य मराठा पवाँरों के हाथ आ गया है। यद्यपि विवाह के नियमों के अनुसार समान कुरी वाले आपस में शादी नहीं कर सकते, तथापि निदान किसान पवाँरों मे एक ही कुरी के भीतर विवाह हुआ करता है जिस से स्पष्ट है कि अब के पवाँरों ने कुरी का सङ्केत त्याग कर अपने को पृथक् जाति का रूप दे दिया है।

पवाँरों के पश्चात् रघुवंशियों का नम्बर आता है। ये कोई आधे लाख के इधर उधर होंगे। इन का भी एक खण्ड पवाँरों का नाई किसान हो गया है, इसलिए इन की गिनती कृषक वर्ग में होती है। अयोध्या के रघुवंशी घराने इन लोगों से बराबरी का व्यवहार नहीं करते, इसी कारण जैसे किसान पवाँर पवाँर में शादी कर लेता है वैसे किसान रघुवशी रघुवशी से अपना विवाह सम्बन्ध जोडता है[2]।

रघुवंशियों से कुछ कम अर्थात् लगभग चालीस हजार चौहान हैं जिन का सख्या मध्यभारत से प्राय दूनी है। चौहान अपनी शान अलग ही रखता है और अग्निकुलों में अपने को श्रेष्ठ समझता है[3]। क्या यह बात छिपी हुई है कि दिल्ली की गद्दी पर एक समय वही विराजमान था, परन्तु 'सब नर होत न एक सर'। कालान्तर में इस कुरी के कुछ लोग तो इतने उतर गए कि वे चौकीदारी का व्यवसाय करने लगे जिस से चौहान नामधारी एक शाखा[4] ऐसी फूट गई कि वह सामाजिक व्यवहार में कोतवालों के बराबर समझी जाने लगी, क्षत्रियत्व से उस का बन्धन टूट गया और वह एक अलग जाति बन कर अपने ही फिरके के भीतर निर्वाह करने लगी। यह जाति विशेष कर प्राचीन महाकोशल में पाई जाती है। इसी प्रान्त में कुछ वर्ष पूर्व पटना का राज्य सम्मिलित था, जो कुछ काल तक उडीसा से सम्बद्ध रह कर अब एक अलग एजेंसी में सम्मिलित हो गया है, वहाँ के महाराजा चौहान वंशी हैं और अपना सम्बन्ध दिल्ली से बतलाते हैं।

राठौर राजपूत मध्यप्रदेश में प्राय सात ही हजार हैं, परन्तु मध्यभारत में इन की सख्या इस से तिगुनी से अधिक बैठती है। राठौर राष्ट्रकूट का अपभ्रंश है। इन का दक्षिण में विशेष दौरदौरा था। कोई इन्हें

---

१ परमारों की गिनती अग्निकुलों में होती है, परन्तु राजा मुञ्ज के समय अर्थात् ईसा की दसवीं शताब्दी तक वे ब्रह्मक्षत्र कहलाते थे, अर्थात् वह वंश जो ब्राह्मण और क्षत्रिय के योग से उत्पन्न हुआ था। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ११।

२ रसल और हीरालाल—ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् सी० पी० जि० ४, पृ० ४०३।

३ प० गौरीशंकर ओझा ने सतर्क सिद्ध कर दिया है कि चौहान अग्निकुल के नहीं थे, वे यथार्थ में सूर्यवंशी थे। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ६३।

४ ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् सी० पी०, जि० २, पृ० ४२०।

सूर्यवंशी और कोई यदुवंशी समझते हैं। मध्यप्रदेश मे तेलियों मे राठोड़ नाम की एक शाखा है, जो राठौड़ राजपूतों से उत्पन्न होने का दावा करती है। उन का कहना है कि पेट पालने के लिए उन के पूर्वजों ने तेल निकालने का व्यवसाय स्वीकार कर लिया, इस से उन की गिनती तेली जाति में होने लगी। सतना के निकट नारोगढ़ नामक क़िले मे तेलियों के राज्य की अनुश्रुति प्रखर रूप से प्रचलित है, जैसी कि उचहरा की ओर वैरागियों की है। वैरागी-राज्य का भी आधार मिलता है, क्योंकि गुप्त महाराजाओं के समय मे यहां पर परिव्राजक महाराज राज्य करते थे। कदाचित् नारो के शासक राठोड़ रहे हों, परन्तु अपना सम्बन्ध तेल के व्यवसायियों से रखने के कारण जनता उन्हे तेली जाति का समझने लगी हो। दूसरे स्थान से आए हुए लोगों की जाति-पाँति का यही हाल होता है, यथा उचहरा के निकटस्थ मैहर राज्य के अधिकारी को लोग जोगी समझते हैं, यद्यपि वे कछवाहा राजपूत हैं और उन का सम्बन्ध जयपुर राज्य से स्थिर है। कछवाहों मे एक शाखा जोगावत या जोगी[1] होती है। बस, उसी पर से लोगों को नटों की समता की जोगी जाति से मिला देने में कुछ देर न लगी।

बघेल यथार्थ मे चालुक्य या सोलङ्की राजपूत हैं। इन का एक वंश गुजरात के वाघेली ग्राम से आ कर चित्रकूट के पास बस गया। कालान्तर में वह उस के आसपास की भूमि का स्वामी बन गया, जिस से उस प्रान्त का नाम उस वंश के नाम पर से बघेलखण्ड चल निकला। बघेलों का प्रभाव इतना बढ़ा कि अब उन का नाम प्रमुख वंशो में गिना जाने लगा है। वस्तुतः वह सोलङ्कियों की एक शाखा ही है। मध्यप्रदेश मे बघेल कोई डेढ़ ही हज़ार होंगे; परन्तु मध्यभारत मे उन की संख्या इस से १६ गुनी है, क्योंकि उस में समस्त बघेलखण्ड का राज्य सम्मिलित है जिस में बघेलों का बाहुल्य स्वाभाविक ही है। जो सोलङ्की अपने को बघेल शाखा मे नहीं गिनते वे मध्यप्रदेश मे तो प्रायः दो हज़ार परन्तु मध्यभारत मे इस से पचगुने हैं। इस प्रकार बघेल शाखा को ले कर सोलङ्कियों की संख्या प्रायः चालीस हज़ार हो जाती है। सोलङ्की अपनी गणना अग्निकुलों मे करते हैं; परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझाजी ने 'सोलङ्कियों का प्राचीन इतिहास'[2] नामक पुस्तक मे प्रमाणित कर दिया है कि वे चन्द्रवंशी थे। उन्हों ने एक जगह लिखा है—"गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में थानेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष का और दक्षिणी भारत मे सोलङ्की पुलुकेशी (दूसरे) का राज्य था। इस प्रतापी सोलङ्कीवंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं।" यह तो बात हुई हज़ार डेढ़ हज़ार वर्ष पुरानी, परन्तु विचित्रता यह है कि सोलङ्कीवंश मे दानशीलता और विद्यानुराग वर्त्तमान समय तक बना रहा। बघेलखण्ड के राजकुलों मे महाराजा विश्वनाथसिंह और महाराजा रघुराजसिंह उच्च कोटि के कवि और अत्यन्त विद्यानुरागी केवल १०० वर्ष के भीतर-भीतर विद्यमान थे। देने-लेने में तो वे मुक्तहस्त थे ही, साथ ही अन्य कार्य भी अपना रूप देख कर करते थे। महाराजा रघुराजसिंह ने तो शेर को भी लोहे या सीसे की गोली से कभी नहीं मारा, जब मारा तब चाँदी की गोली से। रहीम ख़ानख़ाना ने अपनी विपत्ति के समय बघेल राज्य के चित्रकूट का आश्रय लिया था। ऐसी अवस्था में भी उस के दानपात्र वहाँ पर पहुँचे और प्रेरणा की कि उन को कुछ दिया जाय। बेचारे रहीम के पास उस समय कुछ न था। तब उस ने बघेल महाराजा को यह दोहा लिख भेजा—'चित्रकूट मे रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस। जा पर विपदा परति है सो आवत यहि देस ॥' इसे पाते ही महाराजा ने अपने कुल-गुणानुसार एक लाख रुपया तुरन्त दे दिया।

१. रुद्रसिंह तोमर—रुद्रक्षत्रियप्रकाश (तोमर-प्रकाशनगृह, दिल्ली, १९८२), पृ० २४।
२ दे०—पृ० ३-१४।

यादव या यदुवंश का महत्त्व श्रीकृष्ण के उस वंश में जन्म लेने से विशेष हुआ। मध्यभारत में इन की संख्या ७ हजार है, परन्तु मध्यप्रदेश में इस की दूनी है। इन की युद्ध शीलता का परिचय महाभारत में विशेष रूप से मिलता है, परन्तु इस कुल की भी एक शाखा फूट कर कृषि व्यवसायी हो गई है और अपना क्षत्रिय धर्म अर्थात् 'मरिए कि अरि को मारिए हँसि के हथ्यारन झारि०' को भूल कर इतनी डरपोक हो गई है कि लोगों ने कहावत बना ली है—'पत्ता खटका जादम सटका।' इन्हीं जादमों की एक अलग जाति बन गई है जो मध्यप्रदेश में बहुतायत से है।

पडिहार अथवा परिहार मध्यभारत में चार अग्निकुलों में से हैं[1]। ये मध्यभारत में बहुत हैं अर्थात् १६ हजार से ऊपर, परन्तु मध्यप्रदेश में इस का दशांश ही पाया जाता है। नागौद और अलीपुरा के राजा इसी कुल के हैं। चन्देलों के पहले इन का बड़ा दौरदौरा था।

सीसोदिया या गहलौत या गोहिल सूर्यवंशी राजपूत हैं। समस्त राजपूत कुलों में यह कुल श्रेष्ठ समझा जाता है। उदयपुर के राना ठेठ रामचन्द्रजी के वंशज होने का दावा करते हैं। उन की सब राजपूतों के घरानों में प्रतिष्ठा मानी जाती है। इस घराने में सन् ५६८ ई० के आसपास गुहिल नामक राजा हुआ जो बड़ा प्रतापी था। इसलिए इस वंश का नाम उस के नाम से गुहिल कहलाया जिस का अपभ्रंश गोहिल, गोयल, गुहलौत इत्यादि हो गया। पीछे से इस वंश की एक शाखा सीसोदा गाँव में रहने लगी, इसलिए उस का नाम सीसोदिया पड गया। इसी शाखा के वंशधर उदयपुर के महाराणा हैं। मध्यप्रदेश में इनकी संख्या बहुत थोड़ी है, परन्तु मध्यभारत में ये बीस हजार से कम नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी थे, इसलिए इन को कभी कभी रघुवंशी कहते हैं। यदि रघुवंशियों की संख्या इन में मिला दी जाय तो इन का बल बढ़ कर, प्राय केवल मध्यप्रदेश और मध्यभारत ही में, आधा लाख हो जाता है।

जिस प्रकार बघेलवंश द्वारा शासित प्रान्त का नाम बघेलखण्ड पड़ गया है, उसी प्रकार बुंदेला लोगों के आधिपत्य की भूमि को बुंदेलखण्ड कहते हैं। बुंदेला विन्ध्येल शब्द का अपभ्रंश है जिस का अर्थ होता है विन्ध्य पर्वत के निवासी। परन्तु साधारण क़िस्सों के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति बूँद अथवा बाँदी से बतलाई जाती है। कोई कोई कहते हैं इन के आदिपुरुष ने अपना सिर देवी को काट कर चढ़ा दिया था। उस समय जो बूँद गिरी उस से एक पुरुष पैदा हुआ, जो बुंदेला कहलाया। दूसरे कहते हैं कि ये लोग बाँदी (दासी) से पैदा हुए हैं इसलिए बंदेला या बुंदेला कहलाए। यथार्थ में ये काशी के गहरवारों की औलाद हैं। इन का संख्या मध्यभारत में कोई बीस हजार के लगभग, परन्तु मध्यप्रदेश में केवल दो हजार, है। बुंदेलखण्ड के अनेक राजा इसी वंश के हैं। यथार्थ में आदि घराना ओड़छा से अलग हो कर पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, बिजावर, दतिया आदि पृथक् पृथक् रजवाड़े हो गए हैं।

बैस-वंश भी भारत के इतिहास में बड़ा प्रतापी हो गया है। हर्षवर्धन के समय में इस का बड़ा विस्तीर्ण राज्य था। इस वंश के लोग अपने को शालिवाहन के वंशज बतलाते हैं। मध्यभारत में इनकी संख्या दस हजार और मध्यप्रदेश में चार हजार है। संयुक्तप्रान्त के रायबरेली और उन्नाव जिलों में बैसवाड़ा नामक प्रान्त है जहाँ इन का विशेष बाहुल्य है। उस प्रान्त का नाम इसी कारण से पड़ा।

गौड़ राजपूतों का नाम गौड़ देश में रहने के कारण पड़ा। अयोध्या प्रान्त का प्राचीन नाम गौड़ कहा जाता है। मध्यप्रदेश और मध्यभारत में इन की संख्या बराबर-बराबर है, अर्थात् दोनों प्रान्तों में पाँच-

१ यथार्थ में ये सूर्यवंशी हैं। राजशेखर ने इन्हें रघुकुलतिलक कहा है।

पाँच छः-छः हज़ार। इन लोगों मे चमरगौर नामक शाखा श्रेष्ठ समझी जाती है, यद्यपि साधारण रीति से इस प्रकार का नाम निम्न श्रेणी का सूचक होता है। गौरों मे निकल कर गौराये नामक एक अलग शाखा बन गई है जिस की स्थिति सब गौरों से नीची समझी जाती है। मध्यप्रदेश में ये प्रायः सात सौ हैं, परन्तु जान पड़ता है कि मध्यभारत मे ये गौरों मे मिला दिए गए हैं।

सेंगर क्षत्रिय चन्द्रवंशी समझे जाते हैं। इन का राज्य कभी अङ्ग देश (वर्त्तमान भागलपुर, मुँगेर) में था। इन का मूल उत्पत्ति-स्थान शृङ्गेरी बतलाया जाता है। उसी स्थल पर से इन का नाम पड़ा जान पड़ता है; परन्तु कोई-कोई कहते हैं कि कुल-नाम उन के एक शतकर्णी नामक पुरुष के नाम पर रक्खा गया जिस ने यमुना के दक्षिण गङ्गासागर से चम्बल नदी तक अपना अधिकार जमाया था। इन की संख्या दस हज़ार है।

इतने ही सेन्धो हैं जो नागवंशियों की शाखा के जान पड़ते हैं। इन का प्राचीन नाम सिन्दा या सिन्दक था। इन लोगों का राज्य वर्त्तमान बस्तर रजवाड़ा और हैदराबाद के इलाके में था। नागवंशियों का किसी समय बड़ा प्रताप था। बुंदेलखण्ड के भारशिव, जिन्हो ने हिन्दू-धर्म का बौद्ध झमेले से उद्धार किया, नागवंशी-शिरोमणि थे। उन्हीं के सम्बन्धी वाकाटक कहलाए, जिन्हों ने अपने वर्द्धमान समय में अनेक अश्वमेध यज्ञ किए और सम्राट् की पदवी धारण की। विद्यामहोदधि श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने बड़ी खोज के साथ पता लगाया है कि वाकाटक लोग वाकाट (वर्तमान बागाट, जो झाँसी ज़िले में है) के निवासी थे। ये आदि में ब्राह्मण थे; परन्तु, जैसा पूर्व कह आए हैं, गुप्त महाराजाओं से सम्बन्ध करने से क्षत्रिय-वर्ग में आ गए थे।

धाकड़ों का मध्यभारत में अभाव है, परन्तु मध्यप्रदेश मे वे नौ हज़ार के लगभग हैं। कहीं-कहीं धाकड़ शब्द 'विदुर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; इस प्रकार पतित राजपूत धाकड़ कहलाते हैं। इन की एक अलग जाति ही बन गई है, जिस के भीतर ये अपना वैवाहिक निस्तार कर लेते हैं।

मध्यभारत मे एक विशेष प्रकार के राजपूत मिलते हैं जो चौरसिया कहलाते हैं। प्रत्यक्षतः ये लोग किसी विशेष चौरासी के निवासी थे, जो किसी कारण अन्य वर्गों से अलग कर दिए गए। इन की संख्या सात हज़ार है।

इसी प्रकार उसी प्रान्त में हजूरी पाए जाते हैं, जो राजाओं के हुज़ूर मे सेवा किया करते थे। इन का पद न्यून समझा जाता है। इन की संख्या छः हज़ार है।

चन्देल अथवा चन्द्रात्रेय अपनी उत्पत्ति गहरवारों के पुरोहित से बतलाते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिलोम-सम्बन्ध था। बुंदेलखण्ड मे बुदेलों के पहले ये बड़े प्रतापी राजा हो गए हैं। इन्हीं लोगों ने खजुराहो में अत्यन्त भव्य मन्दिर बनवाए, जिन की कारीगरी की समता उत्तर के अन्य मन्दिर नहीं कर सकते। रानी दुर्गावती इसी कुरी की सन्तति थी, जो वीरता मे अपना नाम अमर कर गई है। चन्देलों की संख्या पाँच हज़ार है।

तोमर या तँवरवंश की संख्या भी इतनी ही है, परन्तु मध्यप्रदेश में इन में कँवर जाति के अनेक व्यक्ति मिले हैं, जिन्हों ने अपना असल नाम त्याग कर तँवर नाम रख लिया है। तोमर वंश बड़ा प्राचीन है और वह आदि में दिल्ली मे राज्य करता था। दिल्ली ही की ओर ये विशेष पाए जाते हैं, परन्तु यहाँ इन की संख्या कँवर-परिवर्तित तँवरों को मिला कर पाँच हज़ार से अधिक नहीं है।

बनाफर भी इतने ही हैं। इन का अड्डा मध्यभारत ही में है। ये बड़े शूरवीर और प्रचण्ड क्षत्रिय समझे जाते हैं। प्रख्यात आल्हा और ऊदल इसी दल के वीर थे, जिन की कीर्त्ति अब भी गाई जाती है और सुनने वालों को वीररस से ओत-प्रोत कर देती है। ये चन्देलों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, और उन्हीं की शाखा में समझे

जाते हैं। कहते हैं, इन का पूर्वज वन में मिला था, इसलिए उस के वंशज बनाफर कहलाए, परन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि यह नाम बनस्फर से निकला है जो विदेशी कनिष्क राजा का क्षत्रप था। इसी कारण यद्यपि ये वीरता में श्रेष्ठ समझे जाते हैं, तथापि कुल में कुछ न्यून गिने जाते हैं।

गहरवार या गाहडवाल एक प्रधान और सम्मानित वंश है, जिस ने पड़िहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य अपने अधीन कर लिया और चारों ओर अपना आतङ्क जमाया। राजपूताने के राठौड अपनी उत्पत्ति इन्हीं गाहडवालों से बतलाते हैं। गाहरवारों की संख्या पाँच हजार है।

इतने ही बागडी हैं जिन का नाम राजपूताने के बागड़ नामक विभाग से पडा है। बीकानेर राज्य के एक बडे भाग में काँटों की बागड या बाडी लगाने की चाल है, इसलिए उस विभाग का नाम बागड पड गया है। बीकानेर में जाटों की संख्या अधिक है इस से यह अनुमान किया जाता है कि उन में से बहुत से लोग बागडी राजपूत कहलाने लगे हों, परन्तु इस स्थल में पहले परमारों का राज्य था इसलिए कोई-कोई इन्हें परमारों की शाखा का समझते हैं।

मध्यभारत में देवडा या देवला राजपूतों की संख्या कोई चार हजार है। यह जाति चौहानों की एक शाखा है जो अपना विस्तार पृथक् रूप से करती है। पुरबियों की भी संख्या इतनी ही है। ये मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बराबर बराबर बँटे हुए हैं। यह नाम पल्टनिया है और केवल पूरब के रहने वाले राजपूतों का द्योतक है। कोई कोई पुरनियों को तवँरों के अन्तर्गत समझते हैं। (दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ७७)

मध्यभारत में कोई तीन हजार व्यक्तियों ने अपने को सोमवंशी लिखवाया, और मध्यप्रदेश में पाँच सौ ने। काँकेर के महाराजाधिराज अपने को सोमवंशी ही कहते हैं। कोई हजार वर्ष पूर्व महाकोशल (मध्यप्रदेश का वर्त्तमान छत्तीसगढ) के राजा सोमवंशी ही कहलाते थे। यद्यपि सोमवंशी का अर्थ चन्द्रवंशी ही होता है, तथापि सोमवंशी कुरी अलग सी हो गई है।

पाइक पुरनिया नाम के समान है। पाइक का अर्थ होता है सिपाही। सम व्यवसाय करने से इन लोगों की अलग कुरी बन गई है। इन की संख्या प्राय ढाई हजार है। अधिकतर ये मध्यभारत म रहते हैं।

कनौजिया राजपूतों की संख्या तीन हजार है। ये केवल मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में विशेष पाए जाते हैं। उस जिले में एक प्राचीन परगना कनोजा नाम का था। उस स्थल के राजपूत कनोजिया कहलाए। इस नाम का सम्बन्ध संयुक्तप्रान्त के कन्नौज से बिलकुल नहीं है और न वहाँ पर इस नाम के कोई राजपूत मिलते हैं।

धंधरों की भी संख्या तीन हजार है, परन्तु ये सब मध्यभारत में विद्यमान हैं, मध्यप्रदेश में नहीं। इनकी जाति चौहानों की एक शाखा है। यद्यपि पद्माकर ने इन का आदि ही में जिक्र किया है, तथापि अब इन का विशेष महत्व नहीं है।

खींची चौहानों की एक प्रमुख शाखा है। इन की संख्या दो हजार है। प्राय दो सौ को छोड कर शेष सब मध्यभारत में रहते हैं। यही दशा दीक्षितों की है और उन की संख्या भी खीचियों के बराबर है। इन के एक राजा ने जैन गुरु हेमचंद्र सूरि का दीक्षा ली थी इसलिए ये दीक्षित या दीखित कहलाए। पश्चात् इस वंश में दुर्गादास नामक व्यक्ति हुआ, जिस के कारण इस कुरी का पर्य्यायवाची नाम दुर्ग या दग हो गया। एक शाखा बिलखर नामक गाँव में बसने को चली गई इसलिए उस का नाम बिलखरिया पड़ गया।

बकसरिया मध्यप्रदेश ही में दो हजार पाए जाते हैं। इन का नाम प्रसिद्ध स्थान बक्सर से पड़ा है। जैसे बहुतेरी जातियों में जायस से आए हुए जायसवाल पाए जाते हैं, वैसे ही बक्सरिया भी अनेक जातियों में होते हैं। बक्सरियों का स्थान राजपूतों में कुछ नीचा समझा जाता है।

चांवड़ा भी दो हज़ार हैं। ये विशेष कर मध्यभारत में रहते हैं। ये परमार-वंश से निकले हैं और यही प्राचीन चापोत्कट या चावोटक थे। इन के पुरखा का नाम चाप था। जैवार मध्यप्रदेश में प्राय. तीन सौ और मध्यभारत में सत्रह सौ हैं। रावत एक आदर-सूचक शब्द है जो राव की न्यूनतावाचक संज्ञा है। यह अब अलग कुरी बन गई है। मध्यभारत में इस कुरीवालों की संख्या दो हज़ार है। स्मरण रहे कि मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ विभाग से लाखों रावत हैं, परन्तु वे जाति के अहीर हैं। कहीं-कहीं सोर अथवा शबर लोगों की भी उपाधि रावत है।

झाला कच्छी राजपूत हैं। मध्यभारत में इन की संख्या डेढ़ हज़ार है। मध्यप्रदेश में एक भी नहीं है। कहते हैं, इन के पूर्वज एक राजा के लड़के की ओर हाथी झपटा, तब उस की मां ने झाला दे कर अर्थात् इशारा कर के उसे अपने पास बुला लिया। तब से उस के वंशजों और कुरी का नाम झाला पड़ गया। सौराष्ट्र में एक विशाल विभाग का नाम झालावाड़ है, वहाँ पर बहुत से झाला रहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में झाला या झल्लों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से बतलाई गई हैं।

मध्यभारत मे सोहनेर पन्द्रह सौ और सकरवार (सीकरी के रहनेवाले) ग्यारह सौ बतलाए गए हैं, परन्तु ये अन्य कुरियो की शाखा के जान पड़ते हैं। वहीं पर सहस्रेक मोरी भी हैं, जो प्राचीन मौर्यों की सन्तान हैं। महाप्रतापी अशोक इसी कुल के शिरोमणि थे। यह नाम इस वंश के उन पुरखों के निवासस्थान से पड़ा था, जो मोरों की अधिकता के कारण मौर्य राज्य कहलाता था। निकुम्भों की संख्या भी मोरियों के बराबर है। ये सूर्य्यवंशी राजा निकुम्भ की सन्तान कहे जाते हैं।

गौतम क्षत्रिय अपनी उत्पत्ति गौतम बुद्ध के वंश से बतलाते हैं। ये लोग कोरा में राज्य करते थे और वहीं पर इन का एक क़िला बना था जो शाहजहाँ के समय में नष्ट कर दिया गया। परन्तु अब भी फ़तहपुर ज़िले मे इन की छोटी सी रियासत है। गौतम संयुक्तप्रान्त और अवध में अधिक हैं। मध्यभारत में ये केवल एक हज़ार हैं और मध्यप्रदेश मे केवल तीन सौ।

भदौरिया या भदवारिया चौहानों की एक शाखा है, जो अब प्राय: बिलकुल अलग हो गई है। यमुना के दक्षिण में भदावर नाम का स्थान है, वहाँ पर रहने के कारण इन का नाम भदौरिया पड़ा। इन की संख्या एक हज़ार के लगभग है। बड़गूजर सूर्यवंशियो की शाखा के हैं। ये रामचन्द्र के पुत्र लव की औलाद समझे जाते हैं। उभय प्रान्तों मे संख्या केवल छ: सौ पाई गई।

बिसेन का मूलपुरुष विश्वसेन समझा जाता है, जो मयूर नामक ब्राह्मण का पुत्र था। उस की माता सूर्यवंशी क्षत्राणी थी, इसलिए यह 'ब्रम्ह' क्षत्रिय-वंश कहलाता है। किसी-किसी का कथन है कि बिसेन महाभारतीय वृष्णि का अपभ्रंश है। ये लोग वृष्णिवंशज हैं। इन की संख्या बहुत कम—कोई चार सौ—है; परन्तु युक्तप्रान्त मे ये कुछ अधिक हैं। बिसेनों ही के बराबर गिन्नौरे, राना, कदम्ब और रैकवारों की संख्या है। कदम्ब दक्षिण का प्राचीन वंश है। उस वंश के राजा किसी समय बड़े प्रतापी थे। रैकवार अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी भरत के पुत्र पुष्कल से बताते हैं। ये जम्मू के निकट रैकागढ़ मे रहते थे, इसलिए इन का नाम रैकवार पड़ गया। मथुरेश कवि ने इस वंश के एक राजा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'सालि और बालि रैकवार भै प्रसिद्ध बड़े रै का तें और करो उत्तर को जोर है'।

सौ और तीन सौ के बीच वाली अन्य लघु-संख्यक कुरियाँ ये हैं—सुरकी (जो सोलङ्की का अपभ्रंश है), नाहर, ऊमट, खरवाँच, हरिया, जाँगड़ा और खाँगर। ये विविध मुख्य कुरियो की शाखाएँ हैं; जैसे ऊमट पवाँरों

का, नाहर और खाँगर अग्निवंशियों की। जिन राजपूत कुरियों की संख्या सौ से कम बतलाई गई है वे ये हैं—बनौधिया, बच्छानिया, जलखेड़, पैंजवार, फरहरा, हाडा, हैहयवंशी करचुलि (कलचुरि), सायनी, सिदा, केसरिया, लङ्गर और रकसेल। इन में से बहुतेरे मूल कुरियों की शाखाओं या उपशाखाओं के नाम हैं, जैसे हाडा चौहानों की एक शाखा है, सिदा नागवंशियों की इत्यादि। परन्तु इन में हैहय एक ऐसा कुल है जिस का प्राचीन काल में बड़ा प्रसार और बाहुल्य था। इस वंश का मूल पुरुष कार्त्तवीर्य या सहस्रार्जुन था जिस ने रावण को अपने घर पर कई महीनों तक बाँध रक्खा था। इस को परशुराम ने समूल नष्ट करने का २१ बार प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुए। इस की राजधानी माहिष्मती (वर्त्तमान मान्धाता) में थी, जो मध्यप्रदेशान्तर्गत नीमाड़ जिले में नर्मदा के किनारे पर है। कालान्तर में एक शाखा वर्त्तमान जबलपुर जिले में जा बसा और नर्मदा के तट पर त्रिपुरी को उसने राजधानी बनाया। यह स्थान अब जबलपुर से ६ मील पर तेवर के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन में से कर्ण डहरिया का नाम विशेष स्मरणीय है। उस को नेपोलियन की उपमा दी जाती है। कहावत है—'कर्ण डहरिया कर्ण जुझार। कर्ण हाँक जानै समार।' कर्ण डहरिया ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय मध्यभारत कलचुरि क्षत्रियों से परिपूर्ण था, परन्तु एक सहस्र वर्ष के भीतर ही इतना हेर फेर हो गया है कि उन के वंशजों की गणना सहस्रों के बदले दहाई के भीतर आ गई है। इन का राज्य तेरहवीं शताब्दी में अस्त-व्यस्त हो गया, परन्तु प्रश्न उठता है, इन के सहस्रों वंशधर क्षत्रियों का क्या हुआ? शोध से प्रकट होता है कि वे लोग कहीं चले नहीं गए। वे क्रमशः यहीं की जनता की अन्य जातियों में समा गए। राजच्युत और पदच्युत होने पर प्रत्यक्षतः उन को पेट पालने के लिए अन्य व्यवसायों में संलग्न होना पड़ा। बहुतेरों ने राजघरानों या धनाढ्यों के यहाँ 'कलेवा' आदि बनाने का काम स्वीकार कर लिया और अपने स्वामियों की रुचि मद्य की ओर देख कर उस का भी बनाना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि वे अपने अपने व्यवसाय-सूचक नामों से पुकारे जाने लगे। तथापि कुछ घराने ऐसे भी बच रहे जिन्हों ने अपना प्राचीन नाम और काम सुरक्षित रक्खा। वे अब रीवाँ रियासत और जबलपुर जिले में करचुलि नाम से प्रसिद्ध हैं। हैहयों या कलचुरियों के पहले भारत के मध्य भाग में भारशिव और वाकाटक क्षत्रियों का बड़ा दौरदौरा रहा, परन्तु किसी भी व्यक्ति ने अपने को इन वंशों का नहीं बतलाया। कदाचित् इन के वंशजों ने अपने को अधिक प्रचलित नागवंशी नाम में सम्मिलित कर लिया हो, जिन का उत्थान आदि में मध्यभारत के भिलसा स्थान से हुआ। भारशिवों ने अपने बाहुबल से बौद्ध धर्म को हटा कर पुनः हिन्दू धर्म का प्रचार किया और झाँसी के निकट बागाट नामक स्थान से उत्पन्न वाकाटक राजाओं से सम्बन्ध करके भारतवर्ष में एक प्रबल साम्राज्य स्थापित किया जिस का सामना कोई न कर सका। इन का बल प्रचुर काल तक यथावत् स्थिर रहा परन्तु पाटलिपुत्र के गुप्तों ने वाकाटकों को अपनी लड़की दे कर अन्त में उन के राज्य को निर्मूल कर दिया। गुप्तों का भी उभय प्रान्तों में कहीं पता नहीं है, यद्यपि सागर जिले का एरन उन का स्वभोगनगर था।

ऊपर लिखे विवरण से जान पड़ेगा कि मध्यप्रदेश और मध्यभारत में प्राचीन प्रतिभाशाली राजपूत-वंश नागवंशी, वाकाटक और भारशिव, हैहयवंशी कलचुरि, परमार या पवाँर, चालुक्यवंशी बघेल, सोमवंशी पाण्डव, राष्ट्रकूट या राठौड़, प्रतिहार या पड़िहार और चन्द्रात्रेय या चन्देल थे। इन में से बुंदेले और बघेले समृद्धिवान् रह गए हैं।

वराह अवतार

श्रीयुत रामेश्वर-गौरीशङ्कर ओझा, एम० ए०, अजमेर।

देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूपः सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव।
यस्योदरस्थितजगत्त्रयबीजकोशनिर्गच्छदङ्कुरशिखेव विभाति दंष्ट्रा॥

सोड्ढल[1]

हिन्दू-धर्म मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा महेश इन तीन देवताओं का प्रमुख स्थान है। ये जगत् की तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों अथवा प्रवृत्तियों—सृष्टि, स्थिति एवं संहार—के अधिष्ठाता माने जाते हैं। विष्णु का संसार के संरक्षण-पालन आदि से सम्बन्ध रहने के कारण सनातनधर्मावलम्बियों का यह धार्मिक विश्वास है कि विशेष परि-स्थिति मे कुछ असुरों (कु-प्रवृत्तियों) का नाश करने के लिए अथवा उन के कारण जगत् में फैलने वाले अधर्म एवं अत्याचार के प्रतीकार द्वारा शान्ति स्थापित करने के उद्देश से भगवान् विष्णु समय-समय पर मर्त्य-लोक मे मनुष्य एवं मनुष्येतर रूप मे अवतीर्ण होते रहे हैं। जिस रूप मे भगवान् प्रकट होते हैं, वह उन का अवतार कहा जाता है।

सामान्यत: विष्णु के दस अवतार माने जाते हैं[2]—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह (या नरसिंह), वामन, परशुराम, राम (रामचन्द्र), कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। भागवत पुराण में विष्णु के बाईस अवतार बतलाए गए हैं—(१) पुरुष, (२) वराह, (३) नारद, (४) नर-नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभ, (९) पृथु, (१०) मत्स्य, (११) कूर्म, (१२-१३) धन्वन्तरि, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) राम, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण, (२१) बुद्ध और (२२) कल्कि[3]। फिर भी विष्णु के उपर्युक्त दस अवतार ही प्रधान माने जाते हैं। विष्णु के अवतारों की ठीक संख्या का निर्णय यहाँ अनावश्यक है; हमें यहाँ केवल वराह अवतार का विचार करना है।

---

१. इस लेख के अन्त में उद्धृत।

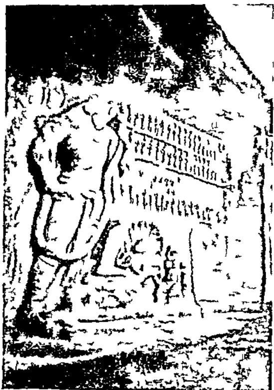
२. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥

वामन-शिवराम आप्टे—दि प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, 'अवतार'-शब्दान्तर्गत।

म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०, शान्तिपर्व, अध्याय ३४८, श्लोक २) में उपर्युक्त श्लोक के 'कृष्णश्च' के स्थान में 'रामश्च' पाठ मिलता है, जो बलराम का द्योतक है। सर राजा राधाकान्तदेव के शब्दकल्पद्रुम नामक बृहत् संस्कृत कोष मे भी यही पाठ दिया गया है। जयदेव कवि ने अपने 'गीतगोविन्द' काव्य के प्रथम सर्ग के आरम्भ में, मालव राग मे, विष्णु के दशावतारों की स्तुति की है, उस मे भी कृष्ण के स्थान मे हलधर (बलराम) का नाम है; किन्तु कृष्ण के पूर्णावतार होने के कारण हमे बलराम के स्थान पर उन की गणना उचित प्रतीत होती है। लेखक का यह कथन केवल कपोल-कल्पना नहीं है, क्योंकि महाभारत की किसी हस्त-लिखित प्रति में 'कृष्णश्च' पाठ भी मिलता है। दे० कुम्भकोणम्-संस्क० के उपर्युक्त श्लोक का टिप्पण।

३. श्रीमद्भागवत (निर्णयसागर-संस्क०), १. ३. १—२६।

(१)



उदयगिरि की गुफा में खुदी हुई नृवराह प्रतिमा

(२)



रानिम की नृवराह प्रतिमा

(३)



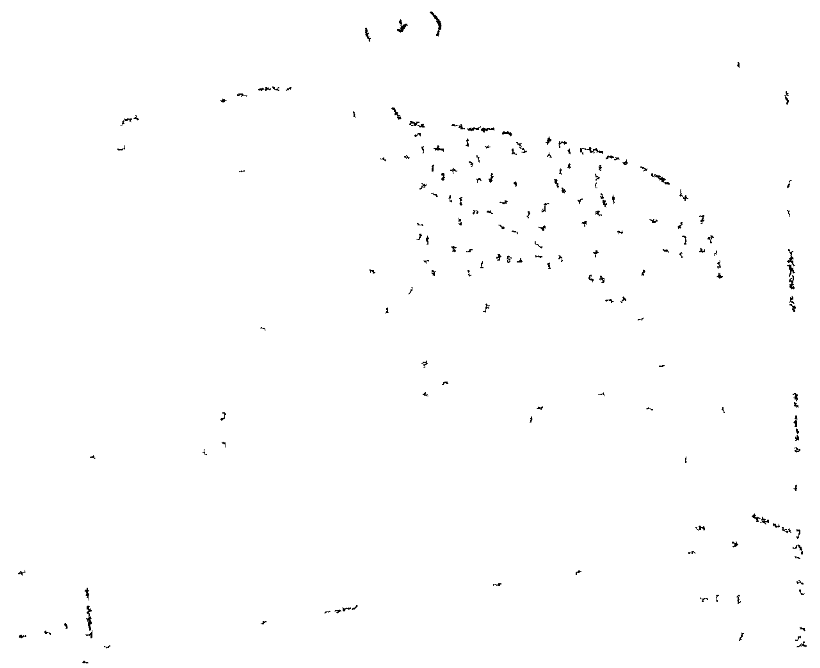
चक्रकेश्वर मंदिर की वराह प्रतिमा

(४)



फलोदी की वराह-प्रतिमा

(५)



इन्दौर म्यूज़ियम की वराह-प्रतिमा

ऋग्वेद[1] में रुद्र, मरुत् और वृत्र के लिए लाक्षणिक रूप में वराह सूचक शब्द का प्रयोग हुआ है। उस से ज्ञात होता है कि एक बार विष्णु ने सोम पान किया और इन्द्र की प्रेरणा से वराह (वृत्र) के सौ भैंसे और दुग्धमय मद्य छीन लिया, इतने में इन्द्र ने आ कर उस भयङ्कर वराह को मार डाला[2]। इस से अवतार-सम्बन्धी कथा का स्पष्टीकरण नहीं होता, इसलिए हमें पहले पहल शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ[3] ब्राह्मण में सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में एमुष नामक वराह[4] द्वारा पृथ्वी के उठाए जाने का उल्लेख मिलता है। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय संहिता से जान पड़ता है कि "पृथ्वी रूप जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। मूर्त शरीर से ठहरने के लिए कोई स्थान न होने के कारण प्रजापति ब्रह्मा वायु-रूप से उस जल में सञ्चार करते थे। उस समय उन्हों ने जल में डूबी हुई पृथ्वी को देखा और वराह का रूप धारण कर वे उसे दाँत से उठा कर जल से ऊपर ले आए। उसे बाहर लाते ही उन्हों ने अपना वराह-रूप छोड विश्वकर्मा बन कर उस का विस्तार किया। तब यह दृश्यमान पृथ्वी बन सकी। 'प्रथन' (विस्तार) से ही इस का पृथ्वी नाम पड़ा। तदनन्तर देव-सृष्टि आदि हुई[5]"। इस से पता चलता है कि जगत् की सृष्टि के समय प्रजापति ब्रह्मा ने वराह रूप धारण किया था, न कि विष्णु ने। तैत्तिरीय आरण्यक के 'वराहेण कृष्णेन शतबाहुना उद्धृता', इस वाक्य से भी सौ बाहु वाले श्यामवर्ण वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार होना (जल में से निकाला जाना) जान पडता है।

---

१ १ ६१ ७।

२ मैक्डॉनल—वैदिक माइथॉलॉजी पृ० ४१।

३ १४ १ २ ११।

४ संस्कृत साहित्य म वराह (सूअर) के लिए कइ पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो पाठकों के परिचय के लिए निम्नांकित श्लोकों में दिए गए हैं—

वराहः सूकरो घृष्टि कोल पोत्री किर किटि।
दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि॥ २॥

अमरकोष द्वितीय काण्ड, सिंहादि वर्ग।

अथ किर किरि।
भूदारः सूकरः कोलो वराह क्रोडपोत्रिणौ॥ ३२३॥
घोणी घृष्टि स्तब्धरोमा दंष्ट्री किट्यास्यलाङ्गली।
आखनिक शिरोमर्मा स्थूलनासो बहुप्रजः॥ ३२४॥

हेमचन्द्राचार्य—अभिधानचिन्तामणि, काण्ड ४ (तिर्यक्काण्ड)।

सूकरे कुमुरा कामरूपी च सलिलप्रिय।
तलेक्षणो वक्रदंष्ट्र पङ्कक्रीडनकोऽपि च॥

अभिधानचिन्तामणि के उपर्युक्त श्लोकों की टीका।

कलि देश के राजा पुरुषोत्तमदेव ने अनुमानत पन्द्रहवीं शताब्दी में 'त्रिकाण्डशेष' नामक पद्यबद्ध सुन्दर संस्कृत कोष लिखा, जिसे बम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास ने सन् १९१६ ई० में प्रकाशित किया। इस संस्करण में मुद्रित सीताराम शास्त्री महाशेर की टीका में 'वराह' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि 'वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्', अर्थात् अपनी प्रिय मुस्ता नामक घास के लिए भूमि को खोदने वाला (पशु) वराह है। वराह को मुस्ता के लिए भूमि खोदना बहुत पसन्द होता है;—द० विश्रब्ध क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षति पल्वले॥ कालिदास—अभिज्ञानशाकुन्तल, २ ६।

५ (आनन्दाश्रम-संस्क०) ७ १ ५।

तै त्ति री य ब्रा ह्म ण से तै त्ति री य सं हि ता की वराह-सम्बन्धी घटना विशद रूप में वर्णित है। उस के अनुसार "सृष्टि से पूर्व, हमें देख पड़ने वाली पृथ्वी के स्थान में, केवल जल था; इसलिए उस समय प्रजापति ने जगत् की सृष्टि करने के लिए बहुत विचार किया। प्रजापति विचार-मग्न थे, उस समय उन्हें जल पर लम्बी दण्डी का एक कमल-पत्र देख पड़ा। उसे देख कर प्रजापति ने अनुमान किया कि वह मृणाल-युक्त कमल-पत्र अवश्य किसी न किसी वस्तु के आधार पर ठहरा होगा। उस वस्तु की खोज के लिए जल में डुबकी लगाना आवश्यक था, इसलिए उन्हों ने वराह-रूप धारण कर उस कमल-पत्र के मृणाल के पास ही जल में डुबकी लगाई। भीतर पहुँचने पर उन्हे पृथ्वी मिल गई। तत्पश्चात् उस पृथ्वी की बहुत सी गीली मिट्टी अपने दांत से उखाड़ कर वे (वराह-रूपी प्रजापति) ऊपर निकल आए और उक्त कमल-पत्र पर उसे फैला दिया। फैलाने (विस्तार) के कारण उस का नाम पृ थ्वी (अर्थात् विस्तृत) पड़ा। तदनन्तर सन्तुष्ट हो कर प्रजापति ने कहा कि यह स्थावर-जङ्गम प्राणियों की आधार-वस्तु हो जाय। 'होना' के संस्कृत रूप 'भवति' से इस की व्युत्पत्ति होने से इस का नाम भू मि हुआ। फिर उस आर्द्र भूभाग (मृत्तिका) को सुखाने के लिए चारों दिशाओं से प्रजापति-सङ्कल्पित वायु बहने लगा। पवन के झोकों से सूखती हुई उस भूमि को प्रजापति ने छोटे-छोटे कङ्कड़ों से दृढ़ बनाया और अपने कल्याण की इच्छा की। श र्क रा (छोटे कङ्कड़) द्वारा उस की सुखोत्पत्ति होने से उस (पृथ्वी) का नाम श र्क रा पड़ गया। वराह द्वारा लाई हुई मिट्टी (पृथ्वी) की ऐसी महिमा है, इसलिए वराह द्वारा भूमि की जो मिट्टी खोदी जाय, उस का आदर करना चाहिए[1]"। तैत्तिरीय ब्राह्मण के उपर्युक्त वृत्तान्त से जान पड़ता है कि सृष्टि बसाने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) ने पृथ्वी का उद्धार किया न कि विष्णु ने, जैसा पिछले ग्रन्थों में लिखा मिलता है।

वैदिक साहित्य के बाद अब हम रामायण, महाभारत, पुराणों आदि पिछले ग्रन्थों को लेते हैं। वाल्मीकि-रामायण में वसिष्ठ रामचन्द्र को पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं—"पहले सर्वत्र जल ही जल था (अर्थात् जलमयी सृष्टि थी), उसी में पृथ्वी बनी। फिर देवताओं के साथ ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्हों ने वराह-रूप धारण कर पृथ्वी को (जल से ऊपर) निकाला और अपने पुत्रों सहित सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की[2]।" इस कथन से जान पड़ता है कि रामायण के अनुसार भी आदि-सृष्टि के समय ब्रह्मा ने वराह-रूप से पृथ्वी का उद्धार किया था, न कि विष्णु ने। वराह को विष्णु का एक अवतार मान कर उस की जो महिमा प्रचलित है वह वैदिक काल में,

---

१. कृष्णयजुर्वेदीयं तैत्तिरीयब्राह्मणम् (आनन्दाश्रम-संस्क०), १. १. ३. पृ० १८। विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए सायण-कृत भाष्य भी देखना चाहिए।

२ क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥
निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥
सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी तत्र निर्मिता।
ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥
स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम्।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥
निर्णयसागर-संस्क०, अयोध्याकाण्ड, ११०, पृ० ३२१।

अथवा रामायण काल तक, प्रचलित नहीं थी, केवल वेदोत्तर-काल के—उन में भी पिछले—ग्रन्था म वराह विष्णु के अवतार क रूप में देख पड़ता है[1]।

महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि पाण्डवों के वनवास काल म एक बार लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा कि एक साग वाले वराह (विष्णु भगवान्) ने पाताल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया। "पूर्व समय में, कृतयुग (सत्युग) में एक बार भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हुई। उस समय आदिदेव ब्रह्मा ने यमत्व (मृत्यु का निग्रह) किया जिस से जगत् म कोई नहीं मरता था, किन्तु सर्वत्र उत्पत्ति देख पडती थी। हिंसक पशु, पक्षी, मृग, बैल, घोड़े, मनुष्य आदि प्राणी हजारों की संख्या में इस प्रकार बढने लगे, जैसे प्रलय काल में जल की बाढ आ जाती है। भयङ्कर संख्या वृद्धि के कारण बोझा बढ जाने से पृथ्वी सौ योजन नीचे चली गई, तब उस ने व्यथित हो भगवान् नारायण की शरण में जा कर उन से अपना भार हलका करने के लिए प्रार्थना की। इस पर विष्णु ने उसे आश्वासन दिया कि उस का बोझ हलका हो जायगा, इसलिए उसे भयभीत न होना चाहिए उन्हों ने पृथ्वी देवी को सान्त्वनापूर्वक विदा कर अत्यन्त देदीप्यमान (एक) सींग और लाल नेत्र वाले वराह क रूप धारण किया। फिर अपने चमकते हुए सींग से सौ योजन नीचे से वसुमती (पृथ्वी) को उठा लिया पृथ्वी क उद्धार के समय बडा सक्षोभ हुआ, जिस से देवता, ऋषि, तपस्वी, स्वर्ग, भूमण्डल एव तीनों लोक, सब में हाहाकार मच गया और देव या मनुष्य किसी को चैन न पडने लगा। तब देवताओं एव ऋषियों ने ब्रह्मा के पास जा कर नम्रतापूर्वक उनसे प्रार्थना की कि तीनों लोकों में सक्षोभ हो रहा है, चराचर जगत् व्याकुल हो गया है, समुद्र-जल क्षुब्ध हो रहा है, सारी पृथ्वी सौ योजन डूब गई है और हम सब सज्ञा हीन हो रहे हैं, इसलिए हमें बतलाइए कि किस के प्रभाव से जगत् में इतनी व्याकुलता मची हुई है। उन को धैर्य दिलाते हुए ब्रह्मा ने कहा कि इस समय तुम्हें असुरों के उत्पात से भयभीत न होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र विचरणशील घट घट वासी परमात्मा के प्रभाव से यह सक्षोभ हो रहा है। सौ योजन पर्यन्त डूबी हुई पृथ्वी उसी विष्णु परमात्मा द्वारा निकाली गई है, उस की उद्धरण क्रिया को इस सक्षोभ का कारण जान कर तुम अपना सशय मिटाओ। यह सुन देवताओं ने कहा कि यदि आप हमें वह प्रदेश बतला दे जहाँ पृथ्वी का उद्धार हो रहा है, तो हम सब वहा चले जायँ। ब्रह्मा ने वह स्थान और विष्णु का पहचान बतलाते हुए कहा कि कालाग्नि के समान देदीप्यमान वराह-रूप में भूतल उठाते हुए लोकहितैषी भगवान् को तुम नन्दन वन में खडा पाओगे। उनके वक्ष स्थल पर श्रीवत्स शोभित हो रहा है।"

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार वराहरूपी ब्रह्मा द्वारा आदि सृष्टि के समय पृथ्वी का उद्धार नहीं हुआ किन्तु पशुओं एव मनुष्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि होने से भाराक्रान्त पृथ्वी जल में कई योजन डूब गई, तब उस की प्रार्थना पर ध्यान दे कर भगवान् विष्णु ने उस का उद्धार किया। रामायण में ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी का उद्धार बतलाया गया है, किन्तु यहाँ वही कार्य विष्णु द्वारा एक बिल्कुल भिन्न परिस्थिति म सम्पन्न हुआ।

महाभारत क वनपर्व क २७२वे अध्याय[2] में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का प्रासङ्गिक उल्लेख है। वहाँ इस सम्बन्ध में लिखा है कि नाभि पद्म से उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा न जगत् को शून्य देख कर मरीचि आदि मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन से चराचर जगत्, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग, मनुष्य आदि की उत्पत्ति हुई।

१ कुम्भकोणम् सं० १४४, २९—६३।

२ वना० ४९-२६।

प्रजापति ब्रह्मा अपनी तीन अवस्थाओं द्वारा सृष्टि का सञ्चालन करते हैं—ब्रह्मा-रूप में सृष्टि, पुरुष (विष्णु)-रूप से पालन और रुद्र-रूप से संहार। तत्पश्चात् विष्णु के अद्भुत कर्मों का निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस समय सारी पृथ्वी जलमय हो गई थी, उस समय चराचर-स्वामी भगवान् पृथ्वी को स्थापित करने के लिए उसे इधर-उधर इस प्रकार खोजने लगे मानो वर्षा-काल की रात्रि में जुगनू इधर-उधर उड़ रहा हो (इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इस कथन के अनुसार प्रलयकाल में पृथ्वी जल में डूब गई थी, न कि जन एवं पशु-संख्या की अत्यधिक वृद्धि से भाराक्रान्त हो कर)। अन्त में पृथ्वी को जल में डूबी हुई देख कर वे सोचने लगे कि कौन सा रूप बना कर उसे जल के भीतर से निकाला जाय। दिव्य दृष्टि के प्रभाव से उन्हें जल-विहार की रुचि रखने वाले वराह के रूप का स्मरण हुआ। तब भगवान् ने चतुर्वेदमय यज्ञवराह का रूप धारण कर जल में प्रवेश किया। उस का शरीर सौ योजन लम्बा, दस योजन चौड़ा, गगनचुम्बी महापर्वत जैसा ऊँचा और श्याम मेघ के समान देख पड़ता था। उस का शब्द प्रचण्ड मेघ-गर्जन की समता करता और उस का तीक्ष्ण तथा चमकीला दाँत बाहर निकला हुआ था। वह यज्ञवराह समुद्र में डूब गया और उस ने अपने एक दाँत पर पृथ्वी को उठा कर उसे यथास्थान स्थापित कर दिया। वनपर्व के १०१ अध्याय[1] में भी विष्णु को सम्बोधन कर पृथ्वी का उन के वराह-रूप द्वारा उद्धार होने का उल्लेख[2] मिलता है।

उल्लिखित पंक्तियों से जान पड़ता है कि वैदिक साहित्य एवं रामायण के रचना-काल तक आदि-सृष्टि के समय जल के अनन्तर स्थल-सृष्टि करने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा समुद्र में से पृथ्वी का उद्धार होना माना जाता था; किन्तु महाभारत-काल से वराह को विष्णु का एक अवतार माना जाने लगा, जिस के द्वारा पृथ्वी का उद्धार हुआ। अब हमें देखना है कि पौराणिक साहित्य इस विषय में क्या कहता है। विष्णु-पुराण[3] में निम्न-लिखित वृत्तान्त मिलता है।

कल्प के आरम्भ में नारायण नामधारी ब्रह्मा ने प्रजा-सृष्टि की। गत कल्प के अन्त में सत्त्व-गुण-सम्पन्न ब्रह्मा ने रात्रि-निद्रा से उठ कर संसार को शून्य देखा। उस अनादि, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मस्वरूप नारायण परमात्मा ने जगत् को सागरमय और पृथ्वी को उस में लीन देख कर उस का उद्धार करने के लिए—पूर्व कल्पों में धारण किए हुए मत्स्य, कूर्म आदि रूपों की भाँति—वराह का रूप ग्रहण किया, जो वेद-यज्ञ-मय था। तत्पश्चात् जनलोकवासी सनक आदि मुनियों द्वारा स्तुति किए जाने पर उस स्थिरात्मा, सर्वात्मा, परमात्मा प्रजापति ने जल में प्रवेश किया। उन के पाताल में पहुँचने पर उन्हें देख कर देवी वसुन्धरा (पृथ्वी) भक्ति-पूर्वक प्रणाम कर नाना प्रकार से उन की स्तुति करने लगी, जिस में सर्वव्यापी परमात्मा की विभूति का उत्कृष्ट वर्णन है। पृथ्वी द्वारा स्तुति होने के अनन्तर पृथ्वी-धारी (वराह-रूपी) परमात्मा ने साम-गान के स्वर में घर्-घर् शब्द से

---

१. त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात्पुष्करेक्षण।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥ २२ ॥
महाभारत एवं रामायण के वराह-विवरण के सम्बन्ध में दे० हॉपकिन्स—**एपिक माइथॉलॉजी**, पृ० २१०।

२. म० भा० सभापर्व, अ० ४१ और शान्तिपर्व, अ० २०८ में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की जो कथा मिलती है, वह पीछे से जोड़ी हुई जान पड़ती है। सम्भवतः वह पुराणों के आधार पर लिखी गई है।

३. अंश १, ४, श्लो० १—४२।

गर्जना की, और नीलवर्ण देह तथा विकसित पद्म जैसे नेत्र वाला वह महावराह पृथ्वी को अपने दाँत पर उठा कर पाताल से ऊपर उठा । जिस समय वह पृथ्वी को उठा रहा था, उस के वेदमय शरीर के रोएँ-रोएँ में बसने वाले सनन्दन आदि मुनिजन भक्तिपूर्वक उस की स्तुति करने लगे, जिस में वराह के कुछ अवयवों का यज्ञ के अङ्गों एव उपकरणों से साम्य दिखलाया गया है। तदनन्तर मुनिजन महावराह-रूपी परमात्मा की महत्ता प्रकट करते हुए उन से जगत् की स्थिति के लिए पृथ्वी का उद्धार कर सब के कल्याण की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार अपनी स्तुति सुन कर भू धारी परमात्मा ने पृथ्वी को उठा कर समुद्र पर रख दिया, जिस से ऐसा जान पडता था मानो उस जल समूह पर कोई विशाल नाव ठहरी हुई हो। वराह भगवान् के देह की अधिक वृद्धि हो जाने से पृथ्वी डूबती नहीं थी। फिर उसे समतल बना कर अनादि परमेश्वर ने उस पर पर्वत आदि बनाए।

विष्णुपुराणोक्त वराह वर्णन में प्रलयकाल म पृथ्वी का उद्धार होना बतलाया गया है। इस के अनुसार नारायण-नामधारी विष्णु को ब्रह्मा का एक स्वरूप मान कर उन के द्वारा भू देवी का उद्धार जान पड़ता है। ऋषियों की स्तुति म विष्णु के महावराह रूप का यज्ञ से सादृश्य दिखाया गया है, अर्थात् उसे यज्ञवराह माना है।

वराह अवतार की यह कथा थोडे-बहुत अन्तर से—सक्षिप्त या विस्तृत रूप में—वायु, अग्नि, मत्स्य, भागवत, पद्म, लिङ्ग, वराह एव गरुड आदि पुराणों म भी मिलती है। स्थानाभाव से यहाँ इन सब पुराणों में मिलने वाली इस कथा का सविस्तर परिचय देना सम्भव नहीं है, अतएव तत्सम्बन्धी मुख्य मुख्य बातों का निर्देश-मात्र किया जाता है। वायुपुराण[1] म लिखा है कि अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई। अग्नि के नष्ट होने पर पृथ्वी तल अन्तराल में लीन हो गया, जिस से स्थावर-जङ्गम सृष्टि का विध्वस हो कर चारों ओर एकाकार समुद्र देख पडने लगा। उस समय नारायण नामधारी ब्रह्मा योग निद्रा में निमग्न हुए और सत्त्व गुण के आधिक्य वश नींद टूटने पर जगत् को शून्य देख वे वायु बन कर उस जल में, वर्षा-काल में खद्योत की भाँति, सञ्चार करने लगे। फिर पृथ्वी को समुद्र तल में रही हुई जान कर उस का उद्धार करने के लिए उन्हों ने जल क्रीड़ा के अनुकूल दस योजन लम्बा और सौ योजन ऊँचा वराह रूप धारण किया और अपने दाँत से पृथ्वी को उठा कर उस का उद्धार किया। महावराह अथवा यज्ञ वराह की आकृति आदि का वर्णन[2] महाभारत वन पर्व के २७३वें अध्याय के उल्लिखित वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ यज्ञ वराह के शरीर के विभिन्न अवयवों का यज्ञ के अङ्गों से भली भाँति साम्य दिखलाया गया है, जिस में वह महावराह यज्ञ का, उस के पैर चारों वेदों के, उस का दाँत यूप (यज्ञ-स्तम्भ) का, सीना शक्ति का, मुख चिति (वेदि बनाने में ईंटों की चुनाई)

---

१ अ० ६, श्लो० १—२७।

२ दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमुच्छ्रितम्।
नीलमेघप्रतीकाशं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ १२ ॥
महापर्वतवर्ष्माणं श्वेत तीक्ष्णोग्रदंष्ट्रिणम्।
विद्युदग्निप्रकाशाक्षमादित्यसमतेजसम् ॥ १३ ॥
पीनवृत्तायतस्कन्ध सिंहविक्रान्तगामिनम्।
पीनोन्नतकटीदेशं सुश्लक्ष्ण शुभलक्षणम् ॥ १४ ॥
रूपमास्थाय विपुल वाराहममित हरिः।
पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविवेश रसातलम् ॥ १५ ॥

का, जीभ अग्नि की, रोएँ दर्भ के, सिर ब्रह्मा का, नेत्र रात-दिन के, कान के आभूषण वेदाङ्ग के, नाक (अर्थात् नाक से निकलने वाला द्रव पदार्थ) घी का, थूथनी स्रुव की, शब्द साम-घोष का, खुर प्रायश्चित्त के, घुटने यज्ञ-पशु के, आँतें उद्गाता की, लिङ्ग होता का, श्वास-वायु अन्तरात्मा का, नितम्ब मन्त्रों के, रक्त सोमरस का, कन्धे वेदि के, उस की गन्ध हवि (होमने का पदार्थ) की, तेज़ चाल हव्य-कव्य की, शरीर प्राग्वंश (यज्ञशाला का एक भाग) का, हृदय ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा का, एक आभूषण प्रवर्ग्य (सोम-याग-सम्बन्धी एक क्रिया) का और उसकी छाया यजमान-पत्नी की सूचक[1] है।

मत्स्यपुराण[2] में, पृथ्वी पर होने वाली, प्रजापति की सृष्टि का क्रम बतलाते हुए वराह अवतार का निर्देश किया गया है। उस से जान पड़ता है कि बहुत योजनों तक फैलने वाले पर्वतों की अनेक सुविशाल श्रेणियों के असह्य भार से आक्रान्त हो कर पृथ्वी जल में डूब गई थी। उसे कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गाय की भाँति नीचे जाती देख कर मधुसूदन (विष्णु) ने उस के उद्धार का निश्चय किया। उस समय अपने उद्धार के लिए पृथ्वी देवी ने भगवान् की अनेक प्रकार से स्तुति की। इस पर विष्णु परमात्मा ने, उसे सान्त्वना देते हुए, कुछ सोच कर जल-क्रीड़ा के लिए वराह-रूप धारण किया। महावराह के शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का यज्ञ के विभिन्न अङ्गों से सादृश्य-सूचक वर्णन और वराह-रूप में पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख वायुपुराण के तत्सम्बन्धी प्रकरण से ज्यों का त्यों मिलता है। इस में वराह के शरीर की ऊँचाई लम्बाई से दूनी बतलाई गई है[3]।

श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का उल्लेख है, जिस से ज्ञात होता है कि यज्ञाधिपति परमेश्वर ने रसातल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए दूसरा, अर्थात् वराह का, स्वरूप धारण किया[4]। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यहाँ वराह को तीसरा नहीं किन्तु दूसरा अवतार

---

१. स वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुवक्षाश्चितीमुखः।
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः॥ १६॥
अहोरात्रेक्षणधरो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः।
आज्यनासः स्रुवतुण्ड सामघोषस्वनो महान्॥ १७॥
सत्यधर्ममयः श्रीमान्धर्मविक्रमसत्कृतः।
प्रायश्चित्तनखो घोरः पशुजानुर्महाकृतिः॥ १८॥
उद्गात्रन्त्रो होमलिङ्गः स्थानबीजी महौषधिः।
वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्फिगाज्यस्पृक् सोमशोणित.॥ १९॥
वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान्।
प्राग्वंशकायो द्युतिमान्नानादीक्षाभिरन्वितः॥ २०॥
दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो विभुः।
उपाकर्मोष्ठरुचिरः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः॥ २१॥
नानाछन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः।
छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्गमिवोच्छ्रितः॥ २२॥
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः स प्राविशत्प्रभुः।

२. अ० २४८, श्लो० १—७७।

३. शतयोजनविस्तीर्णमुच्छ्रितं द्विगुणं ततः। ....॥६४॥

४. द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ ७॥

माना गया है। इस के सिवा तीसरे स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में, विदुर-मैत्रेय सवाद में, विदुर ने मैत्रेय से पूछा कि ब्रह्मा के प्रिय पुत्र सार्वभौम राजा मनु ने अपनी पसन्द की पत्नी पा कर क्या क्या किया ? मैत्रेय ने उत्तर दिया कि विवाह के पश्चात् मनु ने हाथ जोड कर ब्रह्मा से पूछा कि आप मेरे पिता हैं, मैं आप की सन्तान हूँ, इसलिए बतलाइए, मैं किस प्रकार आप की सेवा कर सकता हूँ ? मेरे योग्य कार्यों म से कौन सा करने से मुझे इस लोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति प्राप्त होगी ? इस पर ब्रह्मा ने उसे अपनी स्त्री से अनुरूप सन्तति उत्पन्न कर पृथ्वी का धर्म पूर्वक पालन और यज्ञ द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करने को कहा। मनु ने आज्ञा शिरोधार्य कर प्रार्थना की कि पृथ्वी—जो मेरा, मेरी प्रजा और सब प्राणियों का निवास स्थान है—जल में डूब गई है, इसलिए सब से पहले उसे ऊपर निकाला जाय। पृथ्वी का डूबना जान कर ब्रह्मा उस के उद्धार का उपाय सोचने लगे। ब्रह्मा ने देखा कि ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उनको पैदा किया है और सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी रसातल में चली गई, इसलिए जिनके हृदय से वे उत्पन्न हुए, वही परमात्मा पृथ्वी के उद्धार की योजना कर, तो अच्छा हो। वे इस प्रकार सङ्कल्प विकल्प कर रहे थे, इतने में अचानक उनकी नाक में से अँगूठे के परिमाण का वराह का बच्चा निकल आया। ब्रह्मा ने क्षण भर उस की ओर देखा, इतने ही म वह हाथी जितना बढ गया। यह देख कर उन्हें बडा आश्चर्य हुआ और मरीचि आदि विप्रों तथा मनु आदि कुमारों के साथ ब्रह्मा उस वराह के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार करने लगे। ब्रह्मा को शङ्का हुई कि कहीं यज्ञ रूप भगवान् तो उन्हें मोह में नहीं डाल रहे हैं। अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मदेव तर्क वितर्क में लगे हुए थे, उस समय भगवान् ने अपना शरीर पर्वतप्राय बना कर गर्जना की, जिस से दिशाएँ गूँज उठीं और ब्रह्मा तथा सनकादि ऋषि हर्षित हुए। तदनन्तर जन, तप एव सत्य लोकों के निवासी ऋषियों ने उस पवित्र वराह-स्वरूप की स्तुति की, जिसे सुन कर आदिवराह ने पुन एक बार गर्जना की और गजराज के समान लीला करते हुए जल में प्रवेश किया। उस समय उक्त महावराह के केश कडे और चमडी मोटी थी, वह अपने खुरों से मेघ पर आघात करता था। उस के दाँत स्वच्छ और पैने, दृष्टि तीक्ष्ण, पैर में तीन जोड, खुर बाण जैसे लम्बे, पूँछ ऊपर उठी हुई और गर्दन के बाल हिल रहे थे। तमाल पुष्प के समान नील वर्ण वाले उक्त वराह ने अपने दाँत से पाताल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठा कर जल से बाहर निकाला, इतने में हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने अपनी गदा से उस पर आक्रमण किया, जिस से आदिवराह ने क्रुद्ध हो कर—जिस प्रकार सिंह हाथी को मारता है उसी तरह—उस का भी अन्त कर डाला। उस के रक्त से आदिवराह का मुख मण्डल लाल हो गया। हिरण्याक्ष के वध से ब्रह्मा ने उन्हें ईश्वर जान कर वेदमन्त्रों स उन की स्तुति की, जिस में उन के भिन्न भिन्न अवयवों की यज्ञ के विभिन्न अङ्गों से तुलना की गई है। ऋषिगण वराह-रूपी परमेश्वर की स्तुति कर रहे थे, उस समय भगवान् अपने खुरों से पृथ्वी को क्षुब्ध जल में भली भाँति स्थापित कर वहाँ से चले गए। भागवत पुराण के तीसरे स्कन्ध के १८ १९वें अध्याय में हिरण्याक्ष-वध का सविस्तर वर्णन मिलता है।

लिङ्गपुराण[1] से जान पडता है कि ब्रह्मा ने वराह रूप धारण किया था। प्रलय-रात्रि में, जब सब स्थावर-जङ्गम प्राणियों का नाश हो गया, चारों ओर एकाकार समुद्र देख पड़ता था, ब्रह्मा न उस पर शयन किया

---

१ एल्मिंट्स ऑफ् हिन्दू आइकानोग्राफी जि० 1, भा० 1, पृ० 131।

इसी पुराण में, पूर्व खण्ड के ४४ वे अध्याय में दैत्य हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी के पीडित होने और उस के कष्ट के कारण भगवान् विष्णु के उसे पाताल से निकालने की कथा है, जिस से जान पड़ता है कि इस पुराण का यह पिछला अंश किसी समय क्षेपक रूप में जोड़ा गया।

और सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की। तब उन्हों ने वराह-रूप बना कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को निकाल कर उसे पहले की तरह स्थापित कर दिया। इस से यह भी विदित होता है कि पृथ्वी का उद्धार करने के पश्चात् विष्णु[1] अपना वराह-स्वरूप छोड़ कर अपने लोक में चले गए तब शङ्कर ने उस दाँत को, जिस पर पृथ्वी उठाई गई थी, ले कर अपने केशपाश में रख लिया, जिस से शिव की शोभा बहुत बढ़ गई।

अग्निपुराण[2] से ज्ञात होता है कि हिरण्याक्ष दैत्यों का राजा था; उस ने देवताओं को जीत कर स्वर्ग-लोक में निवास किया। तब देवताओं ने यज्ञ-रूपी भगवान् विष्णु के पास जा कर उन की स्तुति की, जिस पर उन्हों ने वराह-रूप धारण कर अन्य दैत्यों के साथ उक्त दानव का संहार किया।

पुराणों के वराह-सम्बन्धी विवरण से मालूम होता है कि विष्णु, वायु एवं मत्स्य में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का जो वृत्तान्त है, उस में हमें दैत्य हिरण्याक्ष के साथ के युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। हिरण्याक्ष की कथा श्रीमद्भागवत तथा अन्य पिछले पुराणों में पाई जाती है। अग्नि, गरुड[3], वराह और पद्म पुराण[4] से दैत्य

१. अथ देवे गते त्यक्त्वा वराहे क्षीरसागरम् ॥ २६ ॥
वराहरूपमनघं चचाल च धरा पुनः।
तस्य दंष्ट्रा भराक्रान्ता देवदेवस्य धीमतः ॥ २७ ॥
यदृच्छया भवः पश्यन् जगाम जगदीश्वरः।
दंष्ट्रां जग्राह दृष्ट्वा तां भूषणार्थमथात्मनः ॥ २८ ॥
दधार च महादेव. कूर्चान्ते वै महोरसि।
देवाश्च तुष्टुवुः सेन्द्रा देवदेवस्य वैभवम् ॥ २६ ॥

२ अवतारं वराहस्य वक्ष्येऽहं पापनाशनम्।
हिरण्याक्षोऽसुरेशोऽभूद्देवाञ्जित्वा दिवि स्थितः ॥ १ ॥
देवर्गत्वा स्तुतो विष्णुर्यज्ञरूपो वराहकः।
अभूत्तं दानवं हत्वा दैत्यैः साकं च कण्टकम् ॥ २ ॥
वेंकटेश्वर-संस्क०, अ० ४।

३. वंशादीन्पालयामास एवतीर्णो हरिः प्रभुः।
दैत्यधर्मस्य नाशार्थं वेदधर्मादिगुप्तये ॥ १ ॥
अवतीर्णो वराहोऽथ हिरण्याक्षं जघान ह।
पृथिवीं धारयामास पालयामास देवता ॥ ६ ॥
पूर्वखण्ड, अ० १४२।

४. अप्रमाणशरीरः स हिरण्याक्षो मदोद्धतः।
उद्धात्य बाहुसाहस्रैः पृथिवीं समहीधराम् ॥ १२ ॥
...उत्पाट्य शिरसाऽधार्य प्रविवेश रसातलम् ॥ १३ ॥
ततो देवगणाः सर्वे चक्रुशुर्भयपीडिताः।
शरणं प्रययुर्देवं नारायणमनामयम् ॥ १४ ॥
ततस्तदद्भुतं ज्ञात्वा शङ्खचक्रगदाधरः।
वाराहं रूपमास्थाय विश्वरूपी जनार्दनः ॥ १५ ॥
दंष्ट्रयैकया तं दैत्यं जघान परमेश्वरः।
संचूर्णितमहागात्रो ममार दितिजाधमः ॥ १६ ॥
पतितां धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोद्धृत्य पूर्ववत्।
संस्थाप्य धारयामास शेषे कर्मवपुस्तदा ॥ १७ ॥
उत्तरखण्ड, अ० २६४।

हिरण्याक्ष द्वारा मर्त्यलोकवासियों के पीडित होने, उस के अत्याचारों के फल स्वरूप पृथ्वी के रसातल में पहुँचने और अन्त में वराह-रूपधारी विष्णु द्वारा उस का उद्धार होने का पता चलता है। हरिवंश[1] का वर्णन वायुपुराण से बहुत मिलता-जुलता है, इसलिए उस का यहाँ पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं। पिछले ग्रन्थों में वराह को विष्णु का अवतार माना गया है और आगम तथा तन्त्र-ग्रन्थों म भी इसी मत की झलक देख पडती है।

पुराणोक्त वराह वर्णन के अनन्तर शिल्प-शास्त्र तथा आगम ग्रन्थों में मिलने वाले विष्णु के इस अवतार के विवरण का यत्किञ्चित् परिचय असङ्गत प्रतीत न होगा। इस के साथ साथ वराह अवतार की भिन्न भिन्न प्रकार का प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक जान पडता है। तक्षण कला के फलस्वरूप हमें वराह अवतार की जो खण्डित एवं अखण्डित सुन्दर प्रतिमाएँ भारत में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, उन्हें स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आदिवराह, नृवराह अथवा भूवराह ।
(२) प्रलयवराह।
(३) यज्ञवराह।

वैखानसागम के अनुसार आदिवराह अथवा भूवराह की प्रतिमा मे मनुष्य के शरीर के साथ वराह का मुख, सन्ध्या-काल जैसा वर्ण और चार हाथ होने चाहिएँ, जिन में से सामान्यत दो म शङ्ख और चक्र रहे। दाहिना पैर शेषनाग (सपत्नीक) के फन की मणि पर ठहरना चाहिए। उस पैर की जाँघ पर अपने पैर लटकाए पृथ्वी देवी बनाई जाय। वराह के शेष दो हाथों में से बाँया भू देवी के पैरों और दाहिना कमर पर रहे। वराह के मुख से जान पडे कि वह देवी को सूँघ रहा हो। भू देवी के हाथ अञ्जलिबद्ध हों और उस का शरीर वस्त्र, पुष्प एवं आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। देवी का मुख श्याम वर्ण और हर्ष एवं लज्जा का सूचक होना चाहिए। उस का सिर वराह के सीने तक पहुँचे। उस की प्रतिमा को पञ्चतालविधि के अनुसार बनाना चाहिए[2]।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उपर्युक्त प्रतिमा मे शेषनाग के चार भुजाएँ, रत्न-जटित फन और आश्चर्य विकसित नेत्र हों। आदिशेष का फन कुछ ऊँचा रहे, जिस से जान पडे कि वह देव को देखने के लिए उत्सुक है। उस के दो हाथों में हल और मूसल रहें। सर्प का पीठ पर भगवान् आलीढासन म विराजमान हों। उन के बाएँ हाथ पर प्रणाम करती हुई दो भुजाओं वाली स्त्रीरूपिणी पृथ्वी रहे। जिस भुजा पर पृथ्वी हो उसमें शङ्ख और शेष में पद्म, चक्र एवं गदा रहनी चाहिए। नृवराह की मूर्ति कपिल का भाँति ध्यानावस्थित रूप में भी होती है अथवा उस के हाथ पिण्डदान करते हुए बनाए जाते हैं। इस के सिवा मनुष्य का शरीर न हो कर केवल शूकर की आकृति की प्रतिमा भी होती है, जिस में बहुत से दानवों के साथ वराह भूमि खोदता हुआ देख पड़ता

१ अ० २२४।

२ आदिवराह चतुर्भुज शङ्खचक्रधर सन्ध्यश्यामनिभं (सन्ध्याश्यामनिभ—पाठान्तर) नागेन्द्रफणामणिस्थापितदक्षिण पाद तदूरौ महीं दधान दक्षिणहस्तेन देव्यो पादौ गृह्णन्तं मुखेन देवीं जिघ्र त कृत्वा तां महीं प्राञ्जलीकृतहस्तां प्रसारितपादां पुष्पाम्बरधरां श्यामाभां किञ्चिद्देव समीक्ष्य व्रीडाहर्षेण संयुक्तां सर्वाभरणसंयुतां देवस्य स्तनान्तां वा पञ्चतालेन मानेन कारयेत्। २६वाँ पटल।

है[1]। विष्णुधर्मोत्तर से ज्ञात होता है कि इस अवतार की दार्शनिक व्याख्या सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा द्वारा हिरण्याक्ष-रूप में मूर्तिमान् अज्ञान का नाश करना है[2]।

शिल्परत्न में लिखा है कि नृवराह शूकर के मुख से शोभित, गदा-पद्म-धारी और अपने दाँत के अग्रभाग पर भूमि देवी को उठाए होना चाहिए। आश्चर्य-विकसित नेत्रों वाली देवी हाथ में नीलोत्पल लिए हुए वराह की बाईं कोहनी पर बैठी हो। उस का एक पैर आदिशेष और दूसरा कमठ (कछुए) पर ठहरना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी आधे मनुष्य और आधे शूकर के रूप के सिवा पूरे वराह की आकृति भी मानी गई है। उस में मोटी थूथनी, चौड़े कन्धे, तेज़ दाँत और रोमाध्ययुक्त विशाल शरीर होना चाहिए[3]।

अग्निपुराण में भी आदिवराह का इस से मिलता-जुलता वर्णन है। इस के अनुसार वराह-प्रतिमा का नारङ्गी के जैसा वर्ण होना चाहिए। उस के दाहिने हाथ में शङ्ख और बाएँ में पद्म अथवा लक्ष्मी रहे। यदि प्रतिमा में लक्ष्मी बनाई जाय, तो भू देवी और शेषनाग उस के चरणों

१. नृवराहोऽथवा कार्यश्शेषोपरि गतः प्रभुः।
शेषश्चतुर्भुजः कार्यश्चारुरत्नफणान्वितः॥
आश्चर्योत्फुल्लनयनो देववीक्षणतत्परः।
कर्तव्यौ सीरमुसलौ करयोस्तस्य यादव॥
सर्पभोगश्च कर्तव्यस्तथैव रचिताञ्जलिः।
आलीढस्थानसंस्थानस्तत्पृष्ठे भगवान्भवेत॥
वामरत्निगता तस्य योषिद्रूपा वसुन्धरा।
नमस्कारपरा तस्य कर्तव्या द्विभुजा शुभा॥
यस्मिन् भुजे धरादेवी तत्र शङ्खकरो भवेत्।
अन्ये तस्य कराः कार्याः पद्मचक्रगदाधराः॥
नृवराहोऽथवा कार्यो ध्याने कपिलवत्स्थित।
द्विभुजस्त्वथवा कार्यः पिण्डनिर्वपनोद्यतः॥
समग्रक्रोडरूपेण बहुदानवमध्यग।
नृवराहो वराहश्च कर्त्तव्यः क्ष्माविदारणः॥

२. मूर्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणाविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः॥

३. नृवराहं प्रवक्ष्यामि सूकरास्येन शोभितम्।
गदापद्मधरं धात्रीं दंष्ट्राग्रेण समुद्धृताम्॥
विभ्राणं कोर्परे वामे विस्मयोत्फुल्ललोचनाम्।
नीलोत्पलधरां देवीमुपरिष्टात्प्रकल्पयेत्॥
दक्षिणं कटिसंस्थं च बाहुं तस्य प्रकल्पयेत्।
कूर्मपृष्ठे पदं चैकमन्यन्नागेन्द्रमूर्धनि॥
अथवा सूकराकारं महाकायं क्वचिल्लिखेत्।
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रवोणास्यस्कन्धकर्णोर्ध्वरोमकम्॥
२९वाँ पटल।

के पास होने चाहिएँ[1] । अग्निपुराण के अनुसार वराह प्रतिमा स्थापित करने से राज्य-लाभ और भवसागर से मुक्ति मिलती है[2] ।

प्रलयवराह की प्रतिमा में भगवान् सिंहासन पर बैठते हैं । उन का दाहिना पैर लटकता और बाँया मोड़ कर आसन पर रखा हो । पिछली भुजाओं में शङ्ख चक्र रहते हैं, सामने का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बाँया जाँघ पर रहता है । प्रतिमा का वर्ण नीला, वस्त्र पीले और शरीर आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। वराह भगवान् की भाँति पैर रखे हुए भू देवी उन की दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठी हो । देवी का वर्ण श्याम और शरीर पर आवश्यक गहने होने चाहिएँ । दाहिना हाथ आसन पर रख, बाएँ म उत्पल लिए हुए वह आश्चर्य-युक्त नेत्रों से भगवान् को देखती हो[3] ।

यज्ञवराह का प्रतिमा प्रलयवराह से बहुत मिलती-जुलती होना चाहिए। वह श्वेत वर्ण की और चतुर्भुज होती है । उस की दाहिनी ओर सोने के वर्ण वाली लक्ष्मी देवी बाएँ हाथ में कमल ले कर वराह भगवान् की भाँति सिंहासन पर बैठती है । प्रलयवराह प्रतिमा में जहाँ भू देवी बनाई जाती है, वहाँ इस में लक्ष्मी देख पड़ती है। यज्ञ वराह के बाईं ओर भू देवा रहती है । भू देवी का वर्ण श्याम, बाँया पैर लटकता हुआ और दाहिना मोड़ कर आसन पर रहता है । दाहिने हाथ में नीलोत्पल और बाँया हाथ आसन पर रहता है । भगवान् की ओर मुड़े हुए पृथ्वी देवी के चेहरे से आश्चर्य झलकता है[4] ।

विष्णु के राम, कृष्ण आदि प्रसिद्ध अवतारों की भाँति प्राचीन काल में सारे भारत में वराह-पूजा का भी बहुत प्रचार था । इस देश में अनेक स्थानों में वराह-मन्दिर बने हुए थे, जिन में से कुछ अब तक विद्यमान हैं । बहुत से मन्दिर नष्ट हो गए हैं, तो भी उन के खँडहरों से अनेक वराह प्रतिमाएँ अब तक मिलती हैं, जिन में से कई एक पुरातत्त्व सम्बन्धी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं ।

---

१ नारसो वाथ कर्तव्यो भूवराहो गदादिभृत् ।
दक्षिणे वामके शङ्खो लक्ष्मीर्वा पद्ममेव वा ॥ २ ॥
श्रीर्वामकूर्परस्था तु क्ष्मानन्तौ चरणानुगौ । ॥ ३ ॥
चतुर्बाहुर्वराहस्तु शेष पाणितले धृत ।
धारयन्बाहुना पृथ्वीं वामेन कमलाधरः ॥ १६ ॥
वेंकटेश्वर-संस्क०, अ० ५० ।

२ वराहस्थापनाद्राज्यं भवाब्धितरणं भवेत् ॥ ३ ॥
वही अध्याय ।

३ तद्रूपे प्रलयवराह वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं नीलाभं शङ्खचक्रधरमभयदक्षिणहस्तमूरुपतितवामहस्तं पीताम्बरधरं सर्वाभरणभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं महीं पादं वाममाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां श्यामाभां सर्वाभरणभूषितामुत्पलधरवामकरामासननिहितदक्षिणकरां किञ्चिद्वक्त्रं समीक्ष्य विस्मयोत्फुल्ललोचनां कारयेत् ।

४ अथ यज्ञवराहं श्वेताभं चतुर्भुजं शंखचक्रधरं वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं पीताम्बरधरं सर्वाभरणभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं श्रियं हेमाभां वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां पद्मधरवामहस्तामासननिहितदक्षिणहस्तां वामपार्श्वे महीं देवीं श्यामाभां दक्षिणपादमाकुञ्च्य वामं प्रसार्यासीनामुत्पलधरदक्षिणहस्तामासननिहितवामहस्तां देवं किञ्चित्समीक्ष्य विस्मयोत्फुल्ललोचनां कारयेत् ।

भारतवर्ष में एक से अधिक स्थानों के साथ वराह का महत्त्व सम्बद्ध है। युक्तप्रान्त में एटा से २७ मील उत्तर-पूर्व में गङ्गा-तट पर सोरों नामक प्रसिद्ध हिन्दू-तीर्थ है, जिस का प्राचीन नाम शूकरक्षेत्र[१] है। वराह-पुराण के अनुसार विष्णु ने इसी स्थान पर वराह-रूप ग्रहण कर अपने दाँत से पृथ्वी का उद्धार किया था[२]। यहाँ वराह का एक मन्दिर बना हुआ है। भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने बाल्य-काल के पाँच वर्ष यहाँ बिताए थे[३] और यहीं उन्हों ने अपने गुरु नरहरिदासजी[४] से पहले-पहल रामायण की कथा सुनी थी[५]। काश्मीर में झेलम नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए बारामूला के आसपास का प्रदेश भी वराहक्षेत्र[६] कहलाता है। बारामूला संस्कृत के वराहमूल[७] का अपभ्रंश है। कहते हैं, विष्णु के वराह अवतार का यहाँ

१. नंदलाल दे—जियॉग्राफिकल डिक्शनेरी ऑव् एंश्यंट एँड मेडिएवल इंडिया (दूसरा संस्क०), पृ० १९५-९६, २९८।

२. मम क्षेत्रं परञ्चैव शुद्धं भागवतप्रियम् ॥ ५ ॥
परं सौकरवं स्थानं सर्वसंसारमोचणम् ।.... ॥ ६ ॥
यत्र सस्था च मे देवि समुद्धृतासि रसातलात् ।
यत्र भागीरथी गङ्गा मम सौकरवे स्थिता ॥ ७ ॥
अ० १३७ (वेंकटेश्वर संस्क०)।

३. रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोस्वामी तुलसीदास (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद), पृ० ४० ।

४. रामचरितमानस (सटीक), इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग (प्रथम संस्क०), भूमिका-भाग, पृ० २०; गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३७। वेणीमाधवदास के 'गोसाईं'-चरित' के अनुसार तुलसीदासजी के गुरु का नाम नरहर्यानन्द था। वही पृ० ३८।

५. मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥ ३१ ॥
रामचरितमानस, बालकाण्ड ।

वेणीमाधवदास के मतानुसार इस सूकरखेत की स्थिति सरयू और घाघरा के संगम पर है। यह सूकरखेत सोरों से भिन्न होना चाहिए।

६. नंदलाल दे—जियॉग्राफिकल डिक्शनेरी ऑव् एंश्यंट एँड मेडिएवल इंडिया, पृ० २३।
कल्हण-कृत राजतरंगिणी में वराहक्षेत्र और वराहमूल का कई स्थानों में उल्लेख मिलता है।
मर्तुं ययौ च वाराहक्षेत्रं यत्र विधायकः ।...॥ १८६ ॥
नवावमानखिन्नः स मिलितानन्तसैनिकः ।
प्रत्यावृत्य ततो मानी वाराहं क्षेत्रमाययौ ॥ २०४ ॥
डॉ० स्टाइन-सम्पा० संस्क०, छठा तरंग ।

वराहक्षेत्र एवं वराहमूल के भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण के सम्बन्ध में दे० डॉक्टर सर ऑरल् स्टाइन—ए क्रॉनिकल ऑव् दि किंग्ज ऑव् कश्मीर जि० १, पृ० २५१, टिप्पणी १८६ और जि० २, पृ० ४८२-८३।

७ वराहमूलं प्रविशन्नागतां द्विषतां बलात् ।.. ॥ १३०६ ॥
राजतरंगिणी (स्टाइन-सम्पा०), सातवाँ तरंग ।
. वराहमूलं संप्राप कथंचित् प्रस्थितिं भजन् ॥ ४५१ ॥
.वराहमूलेन समं तस्य सैन्यमलुण्ठयत् ॥ ४५२ ॥
वराहमूलं सम्प्राप्तमग्रायातः प्रियं सुतम् ।
आश्लिष्य विषयो राजा बभूवानन्दशोकयोः ॥१२२६॥
वही, आठवाँ तरंग ।

आविर्भाव हुआ था। यहाँ आदिवराह का एक मन्दिर है। बारामूला के पास वाले वराह पर्वत[1] का नाम भी इस अवतार के सम्बन्ध के कारण पडा होगा। बङ्गाल के पुर्निया जिले में नाथपुर के पास तमोर, अरुण और सुनकोशी नदियों के सङ्गम पर भी एक स्थान वराहक्षेत्र[2] कहलाता है। यह वराहक्षेत्र पुराण वर्णित कोकामुख[3] है। इन उदाहरणों से यह जान पडता है कि प्राचीन काल में इस देश में ऐसे अनेक स्थान विद्यमान थे, जिन की प्रसिद्धि वराह अवतार के सम्बन्ध से हुई। इसी तरह कुछ गाँव, पर्वत आदि के साथ वराह नाम मिलता है। दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी राजा गोविन्द तृतीय के राधनपुर से मिले हुए शक संवत् ७३० के दानपत्र में रत्तजुण गाँव की सीमा बतलाते हुए उत्तर में वराह ग्राम[4] का उल्लेख है, जो डॉ० कीलहॉर्न के मतानुसार बम्बई प्रान्त का वर्तमान वरगाँव[5] होना चाहिए। अजमेर के राजपूताना म्यूजियम में रक्खे हुए कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (ई० स० की दसवीं सदी) के वि० सं० १००३ के शिलालेख में वराहपल्ली[6] गाँव का उल्लेख है। मद्रास प्रान्त के गञ्जाम जिले के अच्युतपुरम् से मिले हुए गङ्गवंशी इन्द्रवर्मन् प्रथम के दानपत्र में वराहवर्त्तनी[7] नामक जिले के सिद्धार्थक गाँव का कुछ अंश दान में दिए जाने का निर्देश है। मद्रास म्यूजियम के गङ्गवंशी वज्रहस्त तृतीय के, शक संवत् ९८४ के, दानपत्र में भी इस जिले का नाम मिलता है[8]। गङ्गवंशियों के कई अन्य दानपत्रों में भी इसका उल्लेख है[9]। गञ्जाम जिले के नडगाम से

---

१ ईस्टीट्यूट्स ऑव् वि णु—प्रा० ध० ग्र०, जि० ७ पृ २२६ टि०।

२ नन्दलाल दे—जिऑग्राफिकल डिक्शनेरी, पृ० २३, १०१ और २०७।

३ श्रीवराह उवाच—

> नास्ति कोकामुखात्क्षेत्रं श्रेष्ठं कोकामुखाच्छुचि।
> नास्ति कोकामुखात्स्थानं नास्ति कोकामुखात्प्रियम् ॥ १० ॥
> मम सा परमा मूर्तिर्या न जानन्ति गोपिताम्।
> स्थितं कोकामुखे नाम एतत्ते कथितं मया ॥ १३ ॥
>
> व० पु० अ० १४०।
>
> ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम्।
> विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितो विभुः ॥ १८ ॥
> तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत्।
>
> म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०), वनपर्व, अ० ८१।

४ उत्तरतः वराहग्राम (पंक्ति ४९)। ए० इ० जि० ६ पृ० २४६।

५ वही, जि० ६, पृ० २४१ ४२।

६ दक्षिणस्यां दिशि च पलासकूपिकाक्षेत्रान्तरितं वराहपल्लिग्रामवरम (पंक्ति २८ २९)।
ए० इ०, जि० १४, पृ० १८७।

७ वराहवर्त्तन्यां सिद्धार्थकग्रामे (पंक्ति ८)।
ए० इ०, जि० ३, पृ० १२७ २८।

८ वराहवर्त्तन्यां। तामरचेरुग्रामो नाम (पंक्ति ४३ ४४)।
ए० इ०, जि० ३, पृ० ३८।

९ इं० ऐ० जि० १३, पृ० १२०, २०३।

प्राप्त उपर्युक्त वज्रहस्त के, शक संवत् ९७९ के, दानपत्र में वराहवर्त्तनी के स्थान में कोलुवर्त्तनी[१] प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में 'वराह' और 'कोल' एक ही अर्थ के सूचक हैं[२]। महाभारत से जान पड़ता है कि मगध राज्य की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज (अथवा राजगृह) नगर पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था, जिन में एक का नाम वाराह[३] था। इस से अनुमान होता है कि उक्त पहाड़ी पर वराह का कोई मन्दिर भी रहा होगा।

यहाँ कुछ ऐसे प्राचीन स्थानों का उल्लेख युक्तिसङ्गत जान पड़ता है जहाँ वराह अवतार की उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मिलती अथवा मिली हैं। ग्वालियर राज्य के भेलसा ज़िले में भेलसा से चार मील, २३° ३२' उत्तर अक्षांश और ७७° ४६' पूर्व देशान्तर पर, वेतवा और वेश नदियों के बीच उदयगिरि नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ पहाड़ी से काट कर बनाई हुई गुफाएँ और आसपास के बौद्ध भग्नावशेष पुरातत्त्ववेत्ता के लिए दर्शनीय हैं। गुफाओं में से चौथी में नरवराह की एक विशालकाय प्रतिमा दीवार पर पत्थर को काट कर बनाई गई है[४]। इस का समय ई० स० ४०० के आसपास[५] माना जाता है। यह गुप्तकालीन तक्षण-कला एक उत्कृष्ट नमूना है।

विहार के गया ज़िले में सकरी नदी के दक्षिण तट पर अफसड़ (या अफसण्ड) नामक गांव में, जिसे जाफ़रपुर भी कहते हैं, वराह अवतार की एक गुप्तकालीन प्रतिमा मिली है[६]। शिल्प और सुन्दरता के कारण भारत की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमाओं में इस की गणना होती है[७]। अफसड़ में गुप्तकाल के अनेक प्राचीन देवालय हैं, जिस से अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वहाँ वराह का कोई भव्य मन्दिर अवश्य रहा होगा।

मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में एरण (संस्कृत एरिकिण) नामक प्राचीन गाँव में गुप्त-काल में एक वराह-मन्दिर था, जिस के भग्नावशेष वहाँ अब तक विद्यमान हैं। गांव से आधे मील पश्चिम में प्राचीन मन्दिरों का समूह है, उस के दक्षिण अन्त की ओर एक टूटे हुए मन्दिर में लाल पत्थर की भूवराह की ११ फ़ुट ऊँची और १५½ फ़ुट लम्बी भव्य, पूर्वाभिमुख एवं प्रेक्षणीय मूर्ति[८] है, जिस के शरीर पर हज़ारों छोटे-छोटे देवता खोदे गए

---

१. कोलुवर्त्तनीविषये तुगिलग्रामः प्रदत्तः—(पंक्ति ४७)।
ए० इं०, जि० ४, पृ० १६२।

२. वही, जि० ४, पृ० १८९, टिप्पण ५।

३. वैहारो विपुलः शैलो वाराहो वृषभस्तथा।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्चमहाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥
कुम्भकोणम्-संस्क० सभापर्व, अ० २१।

मा० पु० में भी एक वराहाद्रि का उल्लेख है। दे० सर मोनियर-विलियम्स—ए संस्कृत-इँग्लिश डिक्शनेरी (नवीन संस्क०), पृ० ९२३।

४. इंपीरियल गैज़ेटियर ऑव् इंडिया जि० २४, पृ० १०८-०९। कनिंगहम्—आ० स० रि०, जि० १०, प्लेट १८। बर्जेस—दि एंशंट मोन्युमेंट्स, टेंपल्स ऐंड स्कल्प्चर्स ऑव् इंडिया (१८९७ ई०), प्लेट २१६-१७। डॉ० कुमार-स्वामी—विश्वकर्मा (लंदन १९१४), प्लेट ६६। डॉ० कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, चित्र-संख्या १७४।

५. वही, पृ० ८५।

६. फ़्लीट—भा० अ० स०, जि० ३, पृ० २०१। इंपीरियल गैज़ेटियर ऑव् इंडिया, जि० ५, पृ० ६६।

७. वही।

८. इस के चित्र के लिए दे० रायबहादुर डॉ० हीरालालजी-रचित सागर सरोज, पृ० १३।

हैं। वराह के दाहिने दाँत पर स्त्री रूपी पृथ्वी देवी देख पड़ती है। इस का गर्दन के ऊपरी भाग में एक छोटा सा चौकोना देवालय बना है, जिस के प्रत्येक पार्श्व में एक एक छोटी प्रतिमा बैठी है[1]। इस भव्य एवं अति प्राचीन वराह प्रतिमा के सम्बन्ध में यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस के शरीर पर २′ ९″ लम्बे और १०$\frac{3}{4}$″ चौड़े स्थान में एक गद्यमय संस्कृत लेख[2] की आठ पंक्तियाँ खुदी हुई हैं। इस लेख[3] में अक्षरों में हूण नृपति तोरमाण के राज्य काल के प्रथम वर्ष के फाल्गुन मास की दशमी तिथि का निर्देश है (इस में कोई संवत् नहीं दिया गया)। यह एक वैष्णव लेख है, जिस से जान पड़ता है कि स्वर्गीय महाराजा मातृविष्णु के अवसान के पश्चात् उस के छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का यह मन्दिर बनवाया, जिस में यह विशाल प्रतिमा खड़ी थी।

मद्रास प्रान्त में मद्रास से तीस मील दक्षिण में चिङ्गलपट जिले में समुद्र तट पर महाबलिपुरम् (मामल्लपुरम्) नामक स्थान है, जो पाण्ड्यवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी थी। वहाँ चट्टानों को काट कर अत्यन्त सुन्दर गुहा मन्दिर बने हुए हैं और शिलाओं पर यत्र तत्र तक्षण कला के उत्तम नमूने देख पड़ते हैं। इन में से आठ स्तम्भ वाली वराह गुफा में दीवार पर वराह अवतार की बहुत सुन्दर प्रतिमा खोदी गई है[4]।

बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में कृष्णा नदी की शाखा मलप्रभा के पास बादामी (प्राचीन वातापीपुर) की, जो दक्षिण के चालुक्यों की प्राचीन राजधानी थी, गुफाओं में से तीसरी में अनेक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिन में वराह की प्रतिमा[5] प्रमुख एवं उल्लेखनीय है।

मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के राजिम नामक स्थान में चालुक्यों के राज्य काल की नृवराह की एक सुन्दर प्रतिमा है। इस में वराह के चार हाथ हैं, जिन में बाएँ की कोहनी पर भू देवी देख पड़ती है। प्रतिमा शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित वराह लक्षणों से इस में केवल यही भिन्नता है कि यहाँ आलीढासन में बैठे हुए आदिशेष वराह भगवान् को अपने फन के स्थान में दोनों हाथों पर थामे हुए हैं। पास की शिला पर नागकुल देख पड़ता है जिस में नाग अञ्जलिबद्ध हो कर नृवराह का सम्मान कर रहे हैं[6]।

वेलूर (मैसूर राज्य) के चेन्नकेश्वर मन्दिर में बारह हाथ वाली वराह प्रतिमा[7] है। दाहिनी ओर के ६ हाथों में (नीचे से) दानव हिरण्याक्ष के शरीर में डाला हुआ शूल, अङ्कुश, घण्ट, खड्ग, चक्र और बाण हैं बाईं ओर के हाथों में से दो में फल (नींबू) और खेटक देख पड़ते हैं। तीसरे हाथ का वस्तु अस्पष्ट है। चौथे

१ भा० अ० स०, जि० ३ पृ० १५६।

२ वही, पृ० १५६ ६०।

३ इसके आरम्भ में वराह अवतार की स्तुति में लिखा है कि—

जयति धरण्युद्धरणे घनघाताघातघूर्णितमहीध्रः।
देवो वराहमूर्तिस्त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भः॥ (पंक्ति १)।

४ आ० स० ई० १९१० ११, पृ० ४६ ४७ और प्लेट २६ (सी)। कुमारस्वामी—हिस्टरी ऑव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०२। रायबहादुर कृष्ण शास्त्री—साउथ इंडियन इमेजेज ऑव् गॉड्ज़ ऐंड गॉडेसेज, पृ० २४।

५ गोपीनाथ राव—ऐलिमेंट्स ऑव् हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, पृ० १४०, प्लेट ३७। इ० आ०, जि० ६, पृ० ३५४ के सामने की प्लेट, चित्र-संख्या २। विश्वकर्मा भाग १, संख्या ३६।

६ वही; पृ० १४१ और प्लेट ३८।

७ वही; पृ० १४३ ४४ और प्लेट ४१, चित्र संख्या २।

पृथ्वी के पैर को थामे हुए है। पाँचवे मे शङ्ख है और छठा विस्मय सूचित कर रहा है। भगवान् वराह के पैरों से दो असुर कुचले जा रहे हैं। सामने अञ्जलि-बद्ध भू देवी खड़ी है, जिस का सिर टूट गया है। यह प्रतिमा अधिक पुरानी नहीं है, किन्तु इस में बारीक खुदाई देख पड़ती है।

हिन्दुओं के तीर्थ-गुरु पुष्कर (अजमेर से सात मील पश्चिम) में आदिवराह का एक प्राचीन मन्दिर था, जिस मे मेवाड़ के महाराणा मोकल (वि० सं० १४७८-८५) ने सोने का तुलादान किया था[1]। मुग़ल बादशाह जहाँगीर ने अपनी दिनचर्या की पुस्तक—तुज़ुके जहाँगीरी—मे लिखा है—"पुष्कर के तालाब के चौतरफ़ हिन्दुओं के नए-पुराने मन्दिर हैं।... ..उन मे से एक को राणा सङ्कर (सगर) ने, जो विद्रोही अमर (अमरसिंह) का चाचा और मेरे बड़े सरदारों मे से एक है, एक लाख रुपया व्यय कर बनवाया था। मैं उस मन्दिर को देखने गया। उस मे श्याम पत्थर की एक प्रतिमा थी, जिस का गर्दन से ऊपर का भाग सूअर के जैसा और शेष मनुष्य का था।......उसे तुड़वा कर मैंने तालाब में डलवा दिया[2]।"

अजमेर ज़िले के बघेरा (प्राचीन व्याघ्रेरक) नामक स्थान में वराह का एक प्राचीन मन्दिर था, जो मुसलमानों के राज्य-काल में तोड़ा गया। फिर महाराणा अमरसिंह के समय (सन् १५९७-१६२० ई०) रावत मेघसिंह (कालीमेघ) चूँडावत ने उस का जीर्णोद्धार करवाया[3]। अब तक अजमेर-मेरवाड़े में इस मन्दिर की बहुत प्रसिद्धि है। इस मे चमकते हुए श्याम पत्थर की शूकर वराह की एक विशालकाय एवं सुन्दर मूर्ति है, जिस के सारे बदन पर देवताओं की असंख्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ खुदी हैं। महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा का कथन है कि उन की देखी हुई भूवराह की सब मूर्तियों में यह सब से अधिक सुन्दर है। इस मन्दिर मे अब तक पूजा होती है और प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है।

मेवाड़ के महाप्रतापी एवं विद्वान् महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा, ई० स० १४३३-६८) ने चित्तौड़ के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग पर आदिवराह का मन्दिर बनवा कर[4] अपनी विष्णु-भक्ति का परिचय दिया था। इस की असली प्रतिमा इस समय विद्यमान नहीं है, किन्तु भीतरी परिक्रमा के पिछले ताक में वराह-प्रतिमा होने से इस के गर्भ-गृह की असली प्रतिमा के सम्बन्ध में ठीक अनुमान हो सकता है। इस समय लोग इस को कुम्भ-

---

१. कार्त्तिक्यामथ पूर्णिमावरतिथौ येदात्तुलां कांचनीं
शास्त्रज्ञः प्रथमं .... ।
देवं पुष्करतीर्थमाश्रितममुं नारायणं शाश्वतं
रूपेणादिवराहमुत्तमतरैः स्वर्णादिकैः पूजयन् ॥ १७ ॥

शृंगी ऋषि का शिलालेख (अप्रकाशित)।

२ रॉजर्स—मेमॉयर्स ऑव् जहाँगीर (तुज़ुके जहाँगीरी का अँगरेज़ी अनुवाद), जि० १, पृ० २५४।
इस मन्दिर में महाराणा मोकल के तुलादान करने से यह निश्चित है कि यह राणा सगर से बहुत समय पूर्व बन चुका था, अतएव इस के निर्माण-काल के सम्बन्ध में बादशाह जहाँगीर का उपर्युक्त कथन ग़लत जान पड़ता है।

३. महामहोपाध्याय रायबहादुर प० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा—राजपूताने का इतिहास जि० २, पृ० ८१७, टि० २।

४. अकारयच्चादिवराहगेहमनेकधा श्रीरमणस्य मूर्तिः ॥ ३१ ॥

कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

श्याम का मन्दिर कहते हैं। गुजरात के प्रतापी राजा कुमारपाल सोलङ्की ने भी चित्तौड पर एक वराह मन्दिर[1] बनवाया था, किन्तु अब उस का कहीं पता नहीं चलता।

झालावाड राज्य में चन्द्रभागा नदी के तट पर चन्द्रावती नामक प्राचीन नगरी थी, जहाँ अब भी अनेक प्राचीन अवशेष देख पड़ते हैं। बहुत बरस पहले वहाँ भूवराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा थी, किन्तु वि० सं० १९५६ के देशव्यापी दुर्भिक्ष में, उस के पेट में धन की शङ्का होने से, किसी ने लोभवश उसे तोड डाला। उस का शेष भाग—जिस में केवल शेषनाग, वराह के चारों पैरों के चिह्न और भूदेवी का आधा शरीर है—महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा सन् १९०८ ई० में वहाँ से अजमेर के राजपूताना म्यूजियम् के लिए ले आए। इस के आसन पर खुदे हुए लेख से नवीं शताब्दी में चन्द्रावती में वराह-मन्दिर के अस्तित्व का पता चलता है।

बाँसवाडा राज्य के अर्थूणा नामक पुराने कस्बे में भी एक प्राचीन वराह मन्दिर था, जिस की प्रतिमा इस समय राजपूताना म्यूजियम् में सुरक्षित है। कोटा राज्य में भी कई एक वराह मन्दिर थे, जिन की प्रतिमाएँ यत्र तत्र बिखरी पडी हैं। आबू पर्वत के नीचे परमारों की प्राचीन राजधानी—चन्द्रावती—में कई वराह मन्दिर थे। चन्द्रावती के देवालयों से लोग उन की प्रतिमाएँ आसपास के गाँवों में ले गए, जहाँ वे आज भी देख पड़ती है। इन में से शूकराकृति वराह की एक प्रतिमा को इन पंक्तियों के लेखक ने शेहेरा गाँव में लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर के बाहर देखा है। जोधपुर राज्य के फलोदी नगर की वराह प्रतिमा कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। वराह का शरीर गठन, उस के खडे रहने का आकर्षक ढङ्ग, आभूषणों की बारीक खुदाई और फैले हुए कमल पत्र के नीचे नागदेवता द्वारा उन के निवासस्थान—पाताललोक—का प्रदर्शन आदि इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं[2]।

मध्यभारत में उज्जैन नगर अपने प्राचीन गौरव के लिए भारत भर में प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से महाकाल का मन्दिर यहीं है। इस प्राचीन नगरी के अवशेषों की खुदाई होने पर किसी दिन भविष्य में अनेक विक्रमकालीन पुरातन वस्तुएँ एवं इतिवृत्त प्राप्त होंगे। अब तक ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग की ओर से उज्जैन में खुदाई नहीं हुई है, तो भी वहाँ अनेक वराह प्रतिमाएँ मिलती हैं। इधर कुछ

---

१ कुमारपालस्तस्य धामोऽस्त्यस्ति नन्दन ।
नीतिरेव प्रिया यस्य सन्ना प्रतिकारिणी ॥ (प० ११ १२)।

शौरे प्रासादं कारयामास ॥
त्रिल्या[ता]रिम यद्वाख्यया विभु रोप वराहा हरि
भूमार विभ्रांपहार सबहोलया। (प० २१)।
सा‍/की कुमारपाल का, चित्तोडगढ का, शिलालेख (अप्रकाशित)।

इस लेख के आरम्भ में वराह स्तुति करते हुए लिखा है—

रसातलान्तमुग्मुज्जिहीर्षो कोलस्य दंष्ट्रा पदुर्नकदश।
मर्पेन्दुलेनेव (पंक्ति १)।

२ एन्सिक्लोपीडिया आव् हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, पृष्ठ ३१, चित्र-संख्या २।

वर्षों से उज्जैन मे मिलने वाली खण्डित एवं अखण्डित प्राचीन मूर्तियों का महाकाल-मन्दिर के एक भाग में संग्रह हो रहा है, जिन मे शूकर-वराह की भी एक प्रतिमा है। लेखक ने महाकाल-मन्दिर के संग्रह को सन् १९३२ ई० में देखा है। कोई दो वर्ष पूर्व उज्जैन-निवासी पुरातत्त्व-प्रेमी पं० सूर्यनारायणजी व्यास ज्योतिषाचार्य को दो वराह-प्रतिमाएँ मिली थीं, जिन की सूचना उन्हों ने मुझे भेजी थी। इन्दौर राज्य के भानपुरा परगने मे भानपुरे से छः मील पर कोहला[1] गाँव प्राचीन अवशेषों के लिए प्रसिद्ध है। कोहला के अनेक प्राचीन देवालयों में वहाँ का वराह-मन्दिर सब से बड़ा और वास्तु-कला की दृष्टि से सुन्दर बना हुआ है। इस समय उक्त मन्दिर का सभा-मण्डप और गर्भगृह विद्यमान हैं और वहाँ नियमानुसार पूजा होती है। ई० स० १९३० के फ़रवरी मास मे लेखक ने इस के गर्भगृह मे नृवराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा देखी थी। सुप्रसिद्ध पुराविद् राखालदासजी वन्द्योपाध्याय, एम० ए० (स्वर्गीय) के मतानुसार यह वराह-प्रतिमा सन् १९२० ई० तक उन को मिली हुई सब वराह-मूर्तियों मे सर्वोत्तम है[2]। कोहला से लगभग तीन मील पर निर्जन वन में बूखर नामक एक पुराने क़स्बे के खण्डहर हैं, जहाँ सन् १९३० ई० मे मुझे शूकर-वराह की एक विशाल एवं उत्कृष्ट प्रतिमा मिली थी[3]। तत्पश्चात् वह मेरे प्रयत्न से इन्दौर-म्यूज़ियम् के लिए मँगवा ली गई[4]। पाठक उसे चित्र-संख्या पाँच मे देख सकते हैं। इन्दौर-म्यूज़ियम् के अनेक दर्शक उसे देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं। साहित्याचार्य पं० पद्मसिहजी शर्मा (स्वर्गीय) अपनी इन्दौर-यात्रा के समय (सन् १९३० ई०) इस प्रतिमा को देख कर मुग्ध हो गए और इन्दौर से लौटते समय उन्हों ने मुझे वचन दिया था कि अपनी मालव-यात्रा के संस्मरणों मे वे इस विशाल एवं सुन्दर वराह-प्रतिमा का उल्लेख कदापि न भुलाएँगे[5]। काल की कुटिल गति से असमय मे ही शर्माजी का देहान्त हो गया और, खेद है, मालव-यात्रा के संस्मरण उन की चमत्कार-भरी लेखनी से न लिखे जा सके ! अस्तु। उल्लिखित पंक्तियों से यह भली भाँति मालूम होता है कि प्राचीन काल मे भारत मे ओर से छोर तक वराह-पूजा प्रचलित थी। सुदूर ब्रह्मदेश[*] (बर्मा) भी इस का अपवाद न था। वहाँ के प गा न नगर (= अरिमर्दनपुर—सम्पादक) की शहरपनाह के दक्खिन-पूर्व कोने में कई बौद्ध मन्दिर हैं; उन मे से नत्-हौङ-क्यौङ नामक दसवीं सदी के देवालय की बाहरी दीवार मे कई ताक बने हुए हैं, जिन में से एक मे नरवराह की एक प्रतिमा है[6]। यह बनावट मे भद्दी है।

वराहपुराण मे मथुरा-माहात्म्य के अन्तर्गत कपिलवराहमाहात्म्य-शीर्षक १६३वाँ अध्याय है। उस में बीस योजन के मथुरा-मण्डल के आसपास के तीर्थस्थानो का उल्लेख करते हुए वराह भगवान् पृथ्वी देवी से

---

१. प्रोग्रस रिपोर्ट ऑव् दि आ० स० प० भा०, सन् १९२० ई०, पृ० ८३-८७।

२. वही, पृ० ८४।

३. दि इन्दौर स्टेट गैज़ेटियर (नवीन संस्क०, सन् १९३१ ई०), जि० २, पृ० ३।

४. वही; पृ० १०।

५ वीणा, वर्ष ५, अंक ११ (सितंबर १९३२) मे लेखक का 'स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा (संस्मरण)'-शीर्षक लेख, पृ० ८७७।

*. ब्रह्मदेश कहीं का नाम नहीं है। अँगरेज़ी बर्मा म्यम्म-देश का बिगाड़ा हुआ रूप है।—सम्पादक।

६ आ० स० इं० सन् १९१२-१३ ई०, पृ० १३७ और प्लेट ७९, चित्र-संख्या (ए)।

कहते हैं कि दक्षिण में केशव (विष्णु) के आकार जैसी मेरी सुन्दर, विशालकाय एवं दिव्यरूपिणी प्रतिमा है, जिस के दर्शन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। सत्य-युग में मान्धाता नामक राजा ने अपनी भक्ति से मुझे सन्तुष्ट किया, तब मैंने यह प्रतिमा उसे दे दी। वह नित्य इस की भक्तिपूर्वक पूजा किया करता था। मथुरा में लवणासुर का वध हुआ, तब वहाँ उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई। कपिल नामक भक्त ब्रह्मर्षि ने इस शुभ वराह प्रतिमा का अपने मन से निर्माण किया था। वह सदा इसकी पूजा किया करता। इन्द्र ने कपिल मुनि को प्रसन्न किया, जिस से उस ने यह दिव्य प्रतिमा सुरराज को दे दी। उस की नियमपूर्वक पूजा करने से इन्द्र का दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर बहुत समय बीतने पर एक बार रावण स्वर्ग विजय के लिए इन्द्रलोक को गया, जहाँ उस ने युद्ध में इन्द्र सहित सब देवताओं को जीत लिया। इन्द्र को वन्दी कर रावण ने उस के रत्न-भूषित भवन में प्रवेश किया। वहाँ उक्त वराह प्रतिमा को देखते ही उसे सम्मोह हो गया। उसे प्रसन्न करने के लिए वह नाना प्रकार से स्तुति करने लगा। तब भगवान् जनार्दन ने सौम्य रूप धारण किया। लौटते समय पुष्पक विमान में बैठ कर रावण ने उक्त प्रतिमा को अपने साथ ले जाना चाहा, किन्तु वह अपने स्थान से नहीं हटी। इस पर रावण विस्मयपूर्वक सोचने लगा कि पूर्वकाल में भगवान् शङ्कर के साथ उस ने कैलास को उठा लिया था, किन्तु इस बार एक साधारण सी प्रतिमा को भी अपने स्थान से न हिला सका। तब कपिलवराह ने रावण से कहा कि हे राक्षस! तू तो अवैष्णव है, तुझ में इतनी शक्ति कहाँ से आई? इतने में रावण ने प्रतिमा के दर्शन से अपने में भक्ति का सञ्चार होना प्रकट किया। रावण की भक्ति से उस का रूप छोटा हो गया। फिर रावण उसे लङ्का में ला कर उस का नित्य पूजन करने लगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने रावण को मार कर लङ्का में विभीषण का राज्याभिषेक किया, तब वह प्रतिमा विभीषण से माँग ली। रामचन्द्र उसे अयोध्या ले गए। अयोध्या में उस की स्थापना हुई, वहाँ उसका नित्य पूजन होता था। इस तरह १०१० वर्ष बीत गए। फिर लवण का वध करने के लिए राम ने शत्रुघ्न को चतुरङ्गिणी सेना के साथ मथुरा भेजा। लवणासुर को मार कर शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया। लवण वध सुन कर श्रीरामचन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्हों ने शत्रुघ्न से वर माँगने को कहा। शत्रुघ्न ने वराह भगवान् की याचना की, तब राम ने उन्हें उसे मथुरा ले जाने की अनुमति दी। तदनन्तर शत्रुघ्न ने उसे मथुरा में स्थापित किया।

इस कथा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणोक्त स्थल-माहात्म्य प्राय पीछे से क्षेपक-रूप में जोड़े गए हैं। वैसे तो कई पुराण अधिक प्राचीन नहीं हैं, और वराहपुराण की भी उन में गणना होती है। मथुरा के सम्बन्ध में परिश्रम पूर्वक ग्रन्थ निर्माण करने वाले हिन्दी प्रेमी फलैस्टर माउज साहब के मतानुसार मथुरामाहात्म्य क्षेपक अंश है[1], उन का यह मत असङ्गत नहीं प्रतीत होता। ऐसी दशा में कपिलवराह की कथा में सत्यांश कितना है, यह प्रश्न हम विज्ञ पाठकों के निर्णय के लिए छोड़ते हैं। अस्तु।

यह पहले बतलाया गया है कि विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों की तरह वराह अवतार में भी हिन्दू धर्मावलम्बियों की पर्याप्त श्रद्धा थी और जनता में भक्ति-पूर्वक वराह-पूजन होता था। इतिहास से पता चलता है कि इस देश में अनेक वराह भक्त राजा थे। जिस तरह परमारों का कुल चिह्न गरुड़ है, उसी प्रकार दक्षिण के चालुक्य और विजयनगर के राजवंश का राजचिह्न वराह था। इन वंशों के राजाओं के दानपत्रों पर लगी हुई मुहरों में वराह

1 मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर (द्वितीय संस्क॰), पृ॰ ७५।

देख पड़ता है[1]; इतना ही नहीं किन्तु इन के दानपत्रों के प्रारम्भ में वराह-स्तुति भी मिलती है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले के सञ्जान नामक स्थान से प्राप्त पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा बुद्धवर्ष के दानपत्र के आरम्भ में 'ॐ अमरसङ्काशकाय भीपणरक्तांतलोच......शिखण्डानतं जयतु सदा वराहरूपम्'[2] लिख कर वराह-स्तुति की गई है, और उसी ताम्रलेख की पाँचवीं पंक्ति के 'प्रत्ययो वराहलाञ्छनं च चालुक्यानाम्' इस वाक्य-खण्ड से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। मद्रास प्रान्त के कृष्णा ज़िले के पोलमेरू स्थान से मिले हुए पूर्वी चालुक्यवंशी राजा बादप के दानपत्र का 'भगवन्नारायणप्रसादसमासादितवराहलाञ्छनेक्षणक्षणवशीकृताराति‌मण्डलानां......चालुक्यानां कुलमलंकरिष्णोः[3] (पंक्ति १-४), यह वाक्य भी हमारे कथन का पोषक है। बम्बई प्रान्त में धारवाड़ ज़िले के सूडी गाँव के जोडुकलशदगुडि नामक मन्दिर में लगे हुए दक्षिण के पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा सोमेश्वर प्रथम के शक संवत् ९८१ के शिलालेख के प्रारम्भ में वराह-स्तुति करते हुए लिखा है—

जयत्याविष्कृतं विष्णोर्व्वाराहं क्षोभिताण्र्णवम् ।
दक्षिणोन्नतदंष्ट्राग्रविश्रान्तभुवनं वपुः[4] ॥

श्रीरङ्गम् के सुप्रसिद्ध रङ्गनाथ स्वामी के मन्दिर में सुरक्षित तेलङ्ग देश के राजा मुम्मडिनायक के शक संवत् १२३० के दानपत्र के प्रारम्भ में वराह अवतार के सम्बन्ध में ये श्लोक[5] हैं—

---

१. गैज़ेटियर ऑव् दि बाम्बे प्रेसिडेंसी (कैंवेल-सम्पा०), जि० १, भाग २, पृ० २९९, टि० ४, पृ० ३३८। ए० इं० जि० १३, पृ० १२२।

वराहाङ्कित मुहर के सम्बन्ध में दे० पूर्वी चालुक्य राजा अम्मराज दूसरे की मुहर—इं० आ०, जि० ७, पृ० १२० के सामने का चित्र।

मध्यभारत के सीतामऊ राज्य के राजचिह्न में भी दो वराह अङ्कित हैं। सिन्धु देश के राजा जयद्रथ की ध्वजा में वराह अङ्कित होने से वह वराहध्वज कहलाता था—

वराह. सिन्धुराजस्य राजतोऽभिविराजते ।
ध्वजाग्रे लोहिताङ्गाभो हेमजालपरिष्कृतः ॥ २० ॥
शुशुभे केतुना तेन राजतेन जयद्रथः ।... ॥ २१ ॥

म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०), द्रोणपर्व, अ० १०५।

२ ए० इ०, जि० १४, पृ० १४९।

३. वही, जि० १९, पृ० १४१। इस से बहुत मिलती-जुलती भाषा के लिए दे० सन् ६१२ ई० का हैदराबाद से मिला हुआ पुलिकेशी द्वितीय का दानपत्र (इं० आ०, जि० ६, पृ० ७४)।

४. ए० इं०, जि० १५, पृ० ८७। दक्षिण के चालुक्यों के अनेक लेखों में यह श्लोक मिलता है। स्थानाभाव-वश अब तक प्राप्त तत्सम्बन्धी सब लेखों का उल्लेख न कर यहाँ केवल इस के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) मिरज राज्य (दक्षिण भारत) में कैाटेम नामक कस्बे से प्राप्त पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य पाँचवें (त्रिभुवनमल्ल) का शक संवत् ९३० का दानपत्र (पं० १)—इं० आ०, जि० १६, पृ० २१।

(२) बम्बई प्रान्त के धारवाड ज़िले के हङ्गल तालुके के करगुदरी गाँव में लगे हुए पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य छठे और उसके सामन्त वनवासी के महामण्डलेश्वर तैलप दूसरे का कनडी भाषा का शिलालेख (दूसरा श्लोक)—इं० आ०, जि० १०, पृ० २५१।

(३) पश्चिमी चालुक्य महाराजाधिराज विनयादित्य सत्याश्रय के राज्यकाल के ११ वे वर्ष का करनूल जिले से प्राप्त दानपत्र (पहला श्लोक)—इं० आ०, जि० ६, पृ० ८६।

इस सम्बन्ध में विशेष परिचय के लिए दे०, इं० आ, जि० ६, पृ० १२४, १२६, १३० और १३२।

५. ए० इं०, जि० १४, पृ० ९०, श्लोक० २-३।

श्वेत शुभ दिशतु शश्वदसौ वराह पातालसद्मनि तमोगहने रहो य ।
श्रौत्सुक्यनुनधृतिरुद्वहनोत्सवात् प्राक् दन्तेन किंचिददुनोदधर धराया ॥
तदारयैव प्रथितेऽत्र कल्पे मन्वन्तर सप्तम आगतेस्मिन् ।
बहुष्वतीतेषु चतुर्युगेषु कलिं विदु सप्रति वर्तमानम् ॥

विजयनगर के हिन्दू राजवश के अनेक राजाओ के ताम्रलेखों के प्रारम्भ म, विष्णु के इस अवतार का स्तुति मे, भिन्न भिन्न[1] श्लोक पाए जाते हैं ।

दक्षिण के चालुक्यवशी राजाओ के सोन और ताँबे के सिक्कों पर वराह पाया जाता है । इस सम्बन्ध में पूर्वी चालुक्यवशी शक्तिवर्मा (सन् १०००-१०१२ ई०) और राजराज (सन् १०१२-१०६२ ई०) के सोन के सिक्के उल्लेखनीय हैं[2] । चाँदी के 'वराह' का—इस सिक्के का यह नाम वराह अवतार के अङ्कित होने के कारण जान पड़ता है[3] —मूल्य लगभग ३½ रु० के बराबर माना जाता है[4] ।

---

१ (१) ओंकाराकारदंष्ट्राय क्रीडते अतिपल्वले ।
स्थिरा धारयते शक्ति नम प्रथमपोत्रिणे ॥ १ ॥
विरूपाक्ष का शक संवत् १३०५ का आलम्पुण्डि से मिला हुआ दानपत्र, ए० इं०, जि० ३, पृ० २२६ ।

(२) हरेर्लीलावराहस्य दंष्ट्रादण्ड स पातु व ।
हमाद्रिकलशा यत्र धात्रीच्छत्रश्रियं दधौ ॥
कञ्जीवरम् (मद्रास प्रान्त) से प्राप्त राजा कृष्णदेवराय का शक संवत् १४४४ का दानपत्र, प० २ ४, ए० इं०, जि० १३, पृ० १२६ ।

यह श्लोक विजयनगर के राजाओं के अनेक दानपत्रों के आरम्भ में मिलता है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(क) मद्रास प्रान्त के चिङ्गलपट जिले के उदयवाकम् गाँव से मिले हुए विजयनगर के दूसरे राजवश के राजा कृष्णदेव राय का शक संवत् १४५० का दानपत्र, प० २ ३ ए० इं०, जि० १४, पृ० १७० ।

(ख) सदाशिवराय का शक संवत् १४७३ का दानपत्र, प० २ ३ ए० इं०, जि० १४, पृ० २१६ १७ ।

(ग) विजयनगर के तीसरे राजवश के राजा तिरुमल प्रथम के राज्य काल का, शक संवत् १४६३ का पत्तगुलुरु गाँव (कडप्पा जिला मद्रास प्रान्त) से प्राप्त दानपत्र प० २ ४, ए० इं०, जि० १६ पृ० २४७ ।

(३) सम्पत्ति श्रीवराहो व सम्पादयतु भूयसीम् ।
सामोदामुद्वहन् भूमि समुद्रसलिलाप्लुताम् ॥
विजयनगर के पहले राजवश के राजा विजयभूपति का दण्डपल्ली (चित्तूर जिला, मद्रास प्रान्त) से मिला हुआ शक संवत् १३३२ का दानपत्र, प० ३ ६, ए० इं०, जि० १४, पृ० ७१ ।

(४) चतुर्णवजलमुदाराग्र घृष्टिकाय बिभर्ति य ।
स पायाद्द्धिस्थिरं विश्व विष्णुरेष सनातन ॥
श्रीरङ्गम् से मिले हुए विजयनगर के प्रथम राजवश के राजा विरूपाक्ष का शक संवत् १३८८ का दानपत्र, ए० इं० जि० १५ पृ० २० ।

२ ब्राउन—दि कॉइन्स ऑव् इंडिया पृ० ५४ और प्लेट ७, संख्या ५ का सिक्का । सर वॉल्टर इलियट—कॉइन्स ऑव सदर्न इंडिया (दि इंटरनेशनल न्युमिस्मेटा आरिएंटेलिया में प्रकाशित) पृ० १५२ डी और प्लेट ३, ७३ ८३ संख्या तक के सिक्के ।

३. ब्राउन—कॉइन्स ऑव इंडिया, पृ० ५७, टिप्पणी १ । ए० इं०, जि० ४, पृ० २८, टिप्पणी १ ।

४ ए० इं०, जि० ८, पृ० १३० ।

प्राचीन काल में वराह-पूजा का पर्याप्त प्रचार था और जनता में विष्णु के इस अवतार के लिए बहुत भक्ति थी, यह इसी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार आजकल रामसिंह, रामदास, कृष्णसिंह, नरसिंहदास, वामन-राव, बुद्धसिंह, परशुराम आदि विष्णुवाचक नामों के साथ विष्णु के इन अवतारों का सम्बन्ध है, उसी तरह प्राचीन काल मे अनेक पुरुषों के साथ वराह नाम जुड़ा रहता था। कतिपय राजाओं के नामों के अन्त मे भी वराह शब्द देख पड़ता है। कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव (सन् ८४३-८८१ ई०) का दूसरा नाम आदिवराह था। इस के चाँदी और ताँबे के सिक्कों मे एक तरफ़ 'श्रीमदादिवराहदेव' लेख और दूसरी ओर वराह (नृवराह) बना हुआ है[१]। कामरूप (आसाम) के राजा इन्द्रपाल के गौहाटी से मिले हुए दानपत्र से जान पड़ता है कि वहाँ के राजा रत्नपाल का विरुद श्रीवराह[२] था। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी में काठियावाड़ के वर्द्धमानपुर (वढ़वान) में चापवंशी धरणीवराह[३] राज्य करता था। अनङ्ग नामक राजा के बुलन्दशहर से मिले हुए वि० सं० १२२३ के दानपत्र मे भी धरणीवराह[४] नामक एक शासक का नाम मिलता है। बीजापुर (जोधपुर राज्य) से प्राप्त हस्तिकुण्डी (हथुण्डी) के राष्ट्रकूट-वंशी धवल के वि० सं० १०५३ के शिलालेख मे उस के समकालीन शासकों मे धरणीवराह[५] नामक राजा का उल्लेख है। जिनसेन-रचित दिगम्बर जैन हरिवंशपुराण से दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी गोविन्द तृतीय के समकालीन राजाओं का निर्देश करते हुए पश्चिम में वराह (जयवराह) नामक राजा[६] बतलाया गया है।

प्राचीन भारत में राजाओं के सिवा साधारण व्यक्तियों के नामों में भी 'वराह' का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है। गुप्तकालीन भारत के ज्योतिषी वराहमिहिर का नाम भारत भर में प्रसिद्ध है। वराह नामक एक प्राचीन विद्वान् ने गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों की रचना की; उस के ग्रन्थ कुछ समय पूर्व प्रकाश में आए हैं। शाश्वत (आठवीं शताब्दी) नामक कोषकार ने अपने संस्कृत कोष 'अनेकार्थसमुच्चय' के अन्त में वराह नामक एक सम-सामयिक विद्वान् का उल्लेख[७] किया है। इस के सिवा 'ज्योतिषरत्न'-प्रणेता वराहशर्मन्[८], व्याकरण-सम्बन्धी

---

१. वी० ए० स्मिथ—कै० सं० सि० सु०, जि० १, पृ० २४१-४२ और प्लेट २५, चित्र-संख्या १८। रेप्सन—भा० सु०, प्लेट ५, संख्या ५।

२. ज० ए० सो० बं०, जि० ६६, पृ० १८। हेमचन्द्र राय—डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, कलकत्ता, १९२७, जि० १, पृ० २५३।

३. इ० आ०, जि० १२, पृ० १९४-९५।

४. ज० ए० सो० बं०, जि० ३८, भाग १, पृ० २६। कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, संख्या १७०।

५. कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नार्दर्न इंडिया, संख्या ५३।

६. पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपराम्।
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥

गैजेटियर ऑव् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी, जि० १, भाग २, पृ० १९७, टिप्पण २ और पृ० ३९४—९५। इ० आ०, जि० १५, पृ० १४२।

७. महाबलेन कविना वराहेण च धीमता।
सह सम्यक्परामृश्य निर्मितोयं प्रयत्नतः॥८०७॥
शाश्वतकोश (कृष्णाजी-गोविंद ओक-सम्पा०), पृ० ६०।

८. आफ्रेक्ट—कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम्, जि० १, पृ० ५५२।

'प्रयोगसमद्दविवेक' के रचयिता वराह पण्डित[1], गृह्यसूत्रव्याख्याता वराहदेव स्वामी[2] और ज्योतिष की 'प्रश्नचूड़ामणि' के कर्ता वराह मिश्र[3] के नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। वराह नाम युक्त ग्रन्थों में वराहपुराण, वराहसंहिता, वराहस्फुट और वराहोपनिषद्[4] आदि का निर्देश किया जा सकता है।

मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अपराजित ने महाराज वराहसिंह[5] को अपना सेनापति नियुक्त किया था। अजण्टा मे प्राप्त एक खण्डित शिलालेख में वाकाटकवंशी राजाओं के वराहदेव[6] नामक मन्त्री का उल्लेख मिलता है। पालीताणा से मिले हुए गारुलकवंशी सामन्त सिंहादित्य के वलभी-संवत् २२५ (सन् ५७४ ई०) के दानपत्र में उस वंश के सेनापति वराहदास प्रथम और उस के पुत्र सामन्त महाराज वराहदास[7] का नामोल्लेख है। इस के सिवा प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में वराह[8], वराहदत्त[9],

१ आफ्रेक्ट—कटैलोगस् कैटलोगरम् जि० १, पृ० ५५२।

२ वही, पृ० ५५२।

३ वही; जि० ३, पृ० ११७।

४ इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में दे० वही; पृ० ५५२–५३।

५ राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति
श्रीमानित्यपराजितः क्षितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धभिः ॥ ३ ॥
शिवात्मजो खण्डितशक्तिसंप
द्दुर्यः समाक्रान्तभुजङ्गशत्रुः ।
तेनेन्द्रवत्स्कन्द इव प्रणेता
वृतो महाराजवराहसिंह ॥ ४ ॥

राजा अपराजित का वि० सं० ७१८ का उदयपुर का शिलालेख (ए० इ० जि० ४, पृ० ३१)।

६ आ० स० प० भा०, जि० ४, पृ० १२४। कीलहॉर्न—ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दन इंडिया, संख्या ६२२। सिस्टर निवेदिता—फुटफॉल्स इन इंडियन हिस्ट्री पृ० ७१।

७ ए० इ०, जि० ८, पृ० १७–१८।

८ (१) भूति के पुत्र वराह का राजतरङ्गिणी में उल्लेख मिलता है—
प्रसादपालवैरस्य गौरीशत्रिदशालये ।
भूतेहक्षधरो वज्रो वराहश्चामर सुताः ॥ २०७ ॥
सातवाँ तरङ्ग (स्टाइन सम्पा० संस्क०)।

(२) बोधिसत्त्व वराह का कथा सरित्सागर में उल्लेख है और वहीं उस की कथा भी है—
पुरा गुहायां विन्ध्याद्रावासीद्बुद्धांशसम्भव ।
वराहः कोऽपि सुहृदो मर्कटेन समं सुधी ॥ १२१ ॥
निर्णयसागर संस्क०, तरङ्ग ७२, पृ० ३७८।

(३) जैनों के नवें तीर्थङ्कर का पहला गणधर वराह है और तेरहवें का लाञ्छन भी वराह ही है। इस सम्बन्ध में दे०—मुनि रत्नचन्द्रजी महाराज द्वारा सम्पा० बृहत् 'सचित्र अर्धमागधी कोष' जि० ४ पृ० ३२२–२३।

९ युक्तप्रान्त के अल्मोड़ा ज़िले के तालेश्वर नामक स्थान से मिले हुए विष्णुवर्मन के दानपत्र के दूतक का नाम वराहदत्त है—

दूतकः प्रमातारवराहदत्त (पं० २८)—ए० इ० जि० १३, पृ० १२०।

वराहदेव[१], वराहगुप्त[२], वराहतीर्थ[३], वराहदेव शर्मा[४], वराहस्वामी[५], वराहरात[६] और वराहदिन्न[७] आदि व्यक्तियों का भी पता चलता है।

लेख समाप्त करने के पूर्व यहाँ वराह अवतार-सम्बन्धी कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का थोड़ा सा परिचय आवश्यक है। वराह अवतार का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ, तब से आरम्भ होने वाला कल्प वाराह (या श्वेत वाराह)-कल्प[८] कहलाता है। अब तक यही कल्प चल रहा है; इस में इस समय सातवाँ (वैवस्वत) मन्वन्तर है। माघ मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को वराहद्वादशी[९] कहते हैं। उस दिन वराह अवतार के उपलक्ष्य में वराह-मन्दिरों में उत्सव होता है। यह विष्णु के वराह अवतार ग्रहण करने की तिथि जान पड़ती है। वराहाङ्कित सिक्कों का, जिन्हें 'वराह'[१०] कहते हैं, पहले उल्लेख हो चुका है। वराह की देवीरूप शक्ति को

---

१. राजतरङ्गिणी में वराहदेव नामक द्वाराधिकारी (ड्योढ़ी के दारोगा) का उल्लेख है—

तेन सर्वाधिकारेषु जयानन्दो नियोजितः।
द्वारे वराहदेवश्च वितस्तात्रपुरोद्भवः ॥३६४॥
सातवाँ तरङ्ग।

२. श्रीचन्द्रदेव के रामपाल (बङ्गाल में) से मिले हुए दानपत्र में दानभोगी व्यक्ति के दादा (पितामह) का नाम वराहगुप्त है—

वराहगुप्तपौत्राय सुमंगलगुप्तस्य पुत्राय शान्तिवारिकश्रीपीतवासगुप्तशर्मणे...(पं० २७-२८)
ए० इं०, जि० १२, पृ० १३६।

३. दक्षिण भारत के सोदे नामक स्थान के मठ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् मध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा की जो नामावली सुरक्षित है, उस में मध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा में आठवें पुरुष का नाम वराहतीर्थ है (ए० इं०, जि० १२, पृ० ३४६, टिप्पण ४)।

४. बङ्गाल के बर्दवान ज़िले में नैहाटी से मिले हुए सेनवंशी राजा बल्लालसेन के ११वें राज्यवर्ष के दानपत्र में दानभोगी आचार्य श्रीवासुदेवशर्मा के प्रपितामह का नाम वराहदेवशर्मा है—

वराहदेवशर्म्मणः प्रपौत्राय (पं० ४६)—ए० इं०, जि० १४ पृ० १६१।

५ बङ्गाल के राजशाही ज़िले में धनैदह गाँव से मिले हुए गुप्तवंशी कुमारगुप्त प्रथम के, गुप्त संवत् ११३ के, दानपत्र में वराहस्वामी नामक किसी सामवेदी ब्राह्मण को दान दिए जाने का उल्लेख है—

आतृकटकवास्तव्य-छन्दोगब्राह्मणवराहस्वामिनो दत्तं (पं० १२)—ए० इं०, जि० १७, पृ० ३४७।

६. मुंगेर (बङ्गाल) से प्राप्त पालवंशी राजा देवपाल के राज्यकाल के ३३वें वर्ष के दानपत्र में दानभोगी के पिता का नाम भट्ट वराहरात है—वेदार्थविदो यज्वनो भट्टविश्वरातस्य पौत्राय विद्यावदातचेतसो भट्ट श्रीवराहरातस्य पुत्राय......भट्टप्रवर वीहेकरातमिश्राय शासनीकृत्य प्रतिपादितः (पं० ४२—४४)—ए० इं०, जि० १८, पृ० ३०६।

७. बघेलखण्ड के सोहावल क़स्बे से प्राप्त उच्छकल्प के महाराज शर्वनाथ के गुप्त संवत् १९१ के दानपत्र के लेखक, महासान्धिविग्रहिक मनोरथ, के पिता का वराहदिन्न (संस्कृत—वराहदत्त) नाम मिलता है—

लिखितं सवत्सरशते एकनवत्युत्तरे .भोगिकवराहदिन्नपुत्रेण महासान्धिविग्रहिकमनोरथेन (प० २७-३०)—ए० इं०, जि० १९, पृ० १३०।

८. सनातनधर्मावलम्बियों के स्नान आदि के सङ्कल्प में 'श्वेतवाराहकल्पे' का उच्चारण होता है।

९. सर मोनियर-विलियम्स—ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनेरी (नवीन संस्क०), पृ० ९२३।

१०. कञ्जीवरम् (मद्रास प्रान्त) के शारदा मठ के आचार्य महादेवेन्द्र सरस्वती के शक संवत् १६०८ के दानपत्र में रामाशास्त्री को अन्य दानों के साथ दो वराह (क़रीब ७ रु०) प्रतिवर्ष दिए जाने का उल्लेख है। ए० इं०, जि० १४, पृ० ३२४ और ३२६।

वाराही कहते हैं और उस की सप्तमातृकाओं[1] में गणना होती है। इस की भी प्रतिमाएँ यत्र-तत्र मिलती हैं। अजमेर के राजपूताना म्यूजियम् में भी वाराही की एक प्रतिमा है।

वराह-भक्ति से प्रेरित हो कर कई एक प्राचीन विद्वानों ने वराह अवतार का स्तुति अथवा उस के द्वारा पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख किया है, जिन में कविकुलगुरु कालिदास[2], जयदेव[3], जीवक[4], बाणभट्ट[5], मनोरथ[6], मातङ्गदिवाकर[7],

---

१ ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुण्डा सप्त मातरः॥

२ रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव॥

रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ८।

३ वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना।
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे॥ ३॥

गीतगोविन्द, सर्ग १।

४ मेरुदकेसरमुदारदिगन्तपत्त्रमामूललम्बिघनशेषशरीरनालम् ।
येनाहृतं कुवलयं सलिलात्सलीलमुत्सस्त्रातमिव पातु स वो वराहः॥

वल्लभदेव सङ्कलित सुभाषितावलि (डॉ० पीटरसन-सम्पा०), संख्या ८४।

५ (१) क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला—कादम्बरी (निर्णयसागर-संस्क०), पृ० १४० (विन्ध्याटवी के प्रसंग में)।

(२) आदिवराहसमुद्धृतधरामण्डलस्थानमिव जलपूरितम्—कादम्बरी (पम्पासर-वर्णन), पृ० ४४ ४५।

(३) असुरारिमिव प्रकटितनरहरिवराहरूपम्—कादम्बरी, पृ० ८०।

६ क्वेदानीं भूर्धृतास्ते धरामदमदिरामोदिनो दिग्द्विपेन्द्राः
हे मेरो मन्दराद्रे मलय हिमगिरे साधु च क्षमाधरत्वम्।
शेष श्लाघ्योऽसि दीर्घः पृथुमथनमरोचण्डशार्ङ्गे शिरोभिः
शंसन्नेवाग्रमुच्चैरिति धरणिभृतः पातु युष्मान्वराहः॥

सुभाषितावलि, श्लोक ४८।

७ पातु वो मदिनीदोला बालेन्दुद्युतिदंष्ट्रिका।
दंष्ट्रा महावराहस्य पातालगृहदीपिका॥

सुभाषितावलि, ३०।

वराहमिहिर[१], विभूतिबल[२], विभूतिमाधव[३], विशाखदत्त[४], व्याल[५], सोन्नोक[६] और हनूमत्[७] आदि उल्लेखनीय हैं। इन के सिवा 'सुभाषितरत्नभाण्डागारम्' में वराह-स्तुति के कई श्लोक[८] दिए गए हैं जिन के लेखकों का पता नहीं चलता।

---

१. लीने श्रोत्रैकदेशे नभसि नयनयोस्तेजसि क्वापि याते
श्वासग्रासोपयुक्ते मरुति जलनिधौ तालुरन्ध्रार्धपीते।
पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां स्मरतः शार्ङ्गपाणेः
क्रोडाकारस्य पृथ्वीमवलितविषयं वैभवं वः पुनातु॥
सुभाषितावलि, ४७।

२. ...स्मृत्वा वराहवपुरिन्दुकलाप्रकाशः।
दंष्ट्रोद्धृतक्षिति हरेरवतु स्मितं वः॥
सुभाषितावलि, ३४।

३. न मृन्दीयान्सृष्टी कथमिव मही पोत्रनिकषै-
र्मुखाग्निज्वालाभिः कनकगिरिरीयान्न विलयम्।
न शुष्येयुः श्वासैः सलिलनिधयः सप्त च कथं
वराहो वः पायादिति विपुलचिन्तापरिकरः॥
सुभाषितावलि, ५१।

४. वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री॥
मुद्राराक्षस, अङ्क ७, श्लोक १९ (भरतवाक्य)।

५. नमस्तस्मै वराहाय हेलयोद्धरते महीम्।
खुरमध्यगतो यस्य मेरुः खुरखुरायते॥
सुभाषितावलि, ७।

६. देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूपः
सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव।
यस्योदरस्थितजगत्त्रयबीजकोश-
निर्गच्छदङ्कुरशिखेव विभाति दंष्ट्रा॥
कवीन्द्रवचनसमुच्चय (बिब्लियोथेका इंडिका में डॉ० थॉमस द्वारा सम्पा०), ४७।

७. न पङ्कैरालेपं कलयति धरित्रीव्ययभया-
न्मुस्तामादत्तेऽप्युरगनगरभ्रंशभयतः।
न धत्ते ब्रह्माण्डस्फुटनभयतो घर्घररवं
महाक्रोडः पायादिति सकलसङ्कोचितमुखः॥
सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० १६, श्लो० २६। शार्ङ्गधरपद्धति, ८३।

८. पृ० १६, श्लो० २३—४०।

राजपूत जाति

श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य, जोधपुर।

शास्त्रों से पता चलता है कि पहले आर्य जाति में किसी प्रकार का वर्ण विभाग नहीं था। परन्तु कालान्तर में चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। ...जा भोज ने अपने "समराङ्गणसूत्रधार[1]" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

ब्रह्मा ने संसार में ... के लिए पृथु को पहला राजा बनाया और उस ने राज्य प्रबन्ध के सुभीते ... ां और चार आश्रमों की स्थापना की। उस समय देव-भक्त, शुद्ध ... ाह्मण बनाए गए, बहादुर, उत्साही, बलिष्ठ और रक्षा करने में समर्थ ... विश्वासी, फुर्तीले और दया वाले वैश्य कहलाए और इज्जत, धर्म, ... गा दिए गए।

... कि पहले पहल आर्य जाति में चारों वर्णों का विभाग गुण, कर्म ... से इस का कोई सम्बन्ध नहीं था।

... ार्य जाति के क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करते हैं।

... े ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ण में भी सूर्यवंश और चन्द्रवंश ... ारतीय आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन कर ... ा से दो भिन्न वंशों में विभक्त होना माना है। परन्तु कुछ ... ाग का उत्पन्न होना भी पाया जाता है[2]। पहले पहल ... ार्ध में बने पद्मगुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' में मिलता है। ... ष्ठ ने, विश्वामित्र से अपनी गाय छीन लाने के लिए, अग्नि से ... को मार कर वशिष्ठ की गाय को वापिस ले आया इसी से

१३।

... चरत में लिखा है—

... रापत्रयराद्वयेऽस्मिन्

।

... । चन्द्रवंशद्रुम च ॥

... ना क्षत्रिय वर्ण में सूर्यवंश और चन्द्रवंश नाम के दो ही प्रसिद्ध विभाग मान

मुनि ने उस का नाम प र मा र रक्खा।"[1] इस से अनुमान होता है कि विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी वशिष्टगोत्री ब्राह्मण ने किसी बौद्धमतानुयायी क्षत्रियवंश को, प्रायश्चित्त द्वारा, फिर से ब्राह्मण धर्म में दीक्षित कर अपनी सहायता के लिए तैयार किया होगा। परन्तु पद्मगुप्त के समकालीन हलायुध ने अपनी 'पिङ्गल-सूत्रवृत्ति' में इस वंश के राजा मुञ्ज को "ब्र ह्म क्ष त्र कु ली न"[1] लिखा है।

अग्निवंश का स्पष्ट उल्लेख 'पृथ्वीराजरासो' में पाया जाता है। उस में परमार, चालुक्य (सोलङ्की), पड़िहार (प्रतिहार) और चौहान वंशों का वशिष्ठ की अग्नि से उत्पन्न होना मान कर उन्हें अग्निवंशी कहा है। इसी के आधार पर डॉक्टर दे० रा० भाण्डारकर[2] आदि देशी और मिस्टर वि० आ० स्मिथ आदि विदेशी विद्वान् इन वंशों को आर्येतर-विदेशी (खिजर = गुर्जर) जाति की सन्तान अनुमान करते हैं और ब्राह्मणों का प्रायश्चित्त करवा कर इन्हें क्षत्रिय जाति में मिला लेना मानते हैं। परन्तु एक तो 'पृथ्वीराजरासो' में दिया पृथ्वीराज, उस के कुटुम्बियों और समकालीन नरेशों का अधिकांश हाल इतिहास के विरुद्ध सिद्ध होता है। दूसरा उस में मेवाड़-नरेश महारावल समरसिंह का वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में पृथ्वीराज की तरफ़ से लड़ कर मारा जाना लिखा है। परन्तु समरसिंह वि० सं० १३२४ (ई० स० १२६७) के बाद मेवाड़ की गद्दी पर बैठा था और वि० सं० १३५९ (ई० स० १३०२) में उस का देहान्त हुआ। तीसरा 'रासो' में भविष्य-कथन के तौर पर मेवाड़-नरेश का वि० सं० १६७० के बाद दिल्ली-विजय करना भी लिखा है[3]। ऐसी हालतों में उस के लेख पर विश्वास कर लेना अनुचित ही है।

वास्तव में देखा जाय तो क्षत्रिय वर्ण के ये वंश-विभाग राजवंशों की प्राचीनता और महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कवियों की कल्पना मात्र ही हैं। यदि ऐसा न होता तो भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओं के शिला-लेखों और ताम्रपत्रों से उन के वंश का उल्लेख अवश्य मिलता। इस के अलावा यदि किसी वंश के नरेशों की प्रशस्तियों में उन के वंश का उल्लेख मिलता भी है तो उस में बड़ी गड़बड़ पाई जाती है। यदि एक स्थान पर एक वंश को सूर्यवंशी लिखा है तो दूसरे स्थान पर उसी को चन्द्रवंशी आदि लिख दिया है। परमारवंश के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आगे कुछ अन्य वंशों के सम्बन्ध में अवतरण दिए जाते हैं।

चालुक्य (सोलङ्की) विक्रमादित्य छठे के वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) के लेख में चालुक्य (सोलङ्की)-वंश को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में उस वंश को ब्रह्मा के चुल्लू से—और बिलहारी से मिले हैहय (कलचुरी) युवराजदेव द्वितीय के लेख में द्रोण के चुल्लू से—उत्पन्न हुआ माना है।

ग्वालियर से मिली प्रतिहार भोज[4] की प्रशस्ति में प्रतिहारों (पड़िहारों) को सूर्यवंशी लिखा है। परन्तु बाउक के वि० सं० ८९४ के लेख में उन की उत्पत्ति हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से बतलाई है[5]।

१. कुछ विद्वान् इस विशेषण से इन का पहले 'वशिष्ठगोत्री' ब्राह्मण होना और बाद में क्षत्रियत्व ग्रहण करना अनुमान करते हैं। आजकल परमार-वंश वाले अपने को मालव-नरेश विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं।

२. ईं० आ०, जि० ४०, पृ० ७-३६।

३. सोरैसे सत्योतरै विक्रम साक वदीत। ढिल्लीधर मेवातपति लैहि खग्ग बल जीत।

तीसरा समय, छ० ४४, पृ० २६५।

४. इस का समय वि० सं० ९०० और ९४० (ई० स० ८४३ और ८८३) के बीच माना गया है।

५. उसी में पहले प्रतिहार-वंश का लक्ष्मण से, जो अपने भाई रामचन्द्र का प्रतिहार (द्वारपाल) था, उत्पन्न होना ध्वनित किया है।

चौहान लुम्भा के आबू से मिले, वि० स० १३७७ के, लेख में चौहानों को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु वीसलदेव चतुर्थ के लेख में उन को सूर्यवंशी कहा है।

ऐसी हालत में देशी और विदेशी विद्वानों का 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर ही उपर्युक्त वंशों को अग्निवंशी मान कर विदेशी गुर्जरों (खिजरों) की सन्तान अनुमान करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आगे राजपूतों को अनार्य जाति की सन्तान मानने वाले विद्वानों के दिए प्रमाणों पर विचार किया जाता है—

पूर्वपक्ष—'हरिवंशपुराण' में हैहय (कलचुरि)-वंशियों का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख किया गया है। इस से हैहय क्षत्रिय विदेशी हैं[1]।

उत्तरपक्ष—परन्तु हैहयों की प्रशस्तियों में उन्हें चन्द्रवंशी लिखा है और पुराणों से भी उन का शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में उन का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख होने से ही उन्हें विदेशी मान लेना ठीक नहीं है। इस के अलावा मनु ने तो यवनों, पारदों और काम्बोजों तक को क्षत्रिय माना है। वह लिखता है[2]—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

अर्थात् पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश नाम की क्षत्रिय जातियाँ धीरे धीरे धार्मिक कर्मों को छोड देने और ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने से शूद्र समझी जाने लगीं।

पूर्वपक्ष—'हर्षचरित' में बाण ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन का हूणों के साथ ही गुर्जरों को जीतना लिखा है। इस से गुर्जरों का विदेशी होना और हूणों के साथ भारत में आना सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष—परन्तु वास्तव में बाणभट्ट की लिखी—"हूणहरिणकेसरी, सिन्धुराजज्वरो, गुर्जरप्रजागर"[3] इस पंक्ति में गुर्जर शब्द से गुर्जर देश निवासियों का तात्पर्य ही झलकता है। ऐसी हालत में इस स्थान पर गुर्जर (खिजर) जाति के विदेशी लोगों की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता। इस के अलावा आज तक के प्राप्त इतिहास से भी विदेशी खिजिर जाति का भारत में आना सिद्ध नहीं होता।

पूर्वपक्ष—राजोर (अलवर राज्य) से मिले प्रतिहार मथनदेव के वि० स० १०१६ (ई० स० ६६०) के लेख में मथनदेव को गुर्जर प्रतिहार-वंश लिखा है। इसी प्रकार दक्षिण के राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों में कन्नौज के प्रतिहारों को 'गुर्जरेश्वर' और अरबों की पुस्तकों में 'जुर्ज' लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि प्रतिहार क्षत्रिय भी विदेशीय गुर्जरों की सन्तान थे।

उत्तरपक्ष—परन्तु वास्तव में वहाँ पर प्रतिहारों के गुर्जर जाति के होने का उल्लेख न हो कर उन के गुजरात के निवासी या गुजरात के शासक होने का उल्लेख है। उस समय राजपूताने का एक बड़ा भाग

---

1 इं० ऐ०, भा० ४०, पृ० ११।
2 अ० १०।
3 उच्छ्वास २, पृ० २४३।

'गुर्जरत्रा'[1] या गुजरात के नाम से प्रसिद्ध था और उस की राजधानी भीनमाल थी[2]। सम्भव है, इसी से वहाँ के प्रतिहारों के लेखों मे, कन्नौज के प्रतिहारों की शाखा से उन की भिन्नता प्रकट करने के लिए ही, उन के निवासस्थान का उल्लेख किया गया हो।

कन्नौज के प्रतिहारो ने चावड़ों[3] को हरा कर पहले अपना राज्य भीनमाल में स्थापित किया था। प्रतिहार नागभट प्रथम (नागावलोक) के सामन्त भर्तृवद्ध के, वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के, दानपत्र मे उस समय भड़ोच तक के प्रदेश का प्रतिहारों के अधीन होना प्रकट होता है। इस के बाद यहाँ से जा कर इन्हों ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। ऐसी हालत में यदि राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियां और अरब लेखकों की पुस्तकों में इन्हे गुर्जरेश्वर आदि लिखा है तो इस में आश्चर्य की कौन सी बात है।

पूर्वपक्ष—गुर्जरवंशी क्षत्रिय विदेशी खिजर जाति की सन्तान हैं। यह जाति, ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में, यूरोप और एशिया की सीमाओं के सङ्गम-स्थान पर रहती थी। कुछ लोग इस जाति का कनिष्क के समय और कुछ हूणों के आक्रमण के समय भारत में आना अनुमान करते हैं। इसी जाति के सम्बन्ध से इस के जीते हुए प्रदेश का नाम गुर्जर या गुजरात हुआ था।

उत्तरपक्ष—परन्तु एक तो, पहले लिखे अनुसार, आज तक के प्राप्त इतिहास से इस जाति का भारत में आना ही सिद्ध नहीं होता। दूसरा भड़ोच के गुर्जर नरेश जयभट तृतीय के, कलचुरी संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२= ई० स० ७०५) के, ताम्रपत्र[4] मे इस वंश को महाराज कर्ण की सन्तान लिखा है। तीसरा विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे आने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल और वलभी के राजाओं को क्षत्रिय बतलाया है।

इसी प्रकार बड़गूजर भी क्षत्रिय हैं और उन का विवाह-सम्बन्ध अब तक उच्च कुल के क्षत्रियों में होता है[5]।

---

१. प्रतिहार भोजदेव का वि० स० ६०० का ताम्रपत्र।

ए० इं०, जि० ५, पृ० २११।

२. हुएन्त्सांग का यात्रा-विवरण।

३. कुछ विद्वान् चावडों को भी गुर्जर-वंश का मानते हैं। परन्तु लाट के चालुक्य (सोलङ्की) पुलकेशीराज के कलचुरी सवत् ४६० (वि० सं० ७६६=ई० स० ७३६) के ताम्रपत्र में लिखा है—"सैराष्ट्र चावोटक मौर्य गुर्जरादि राज्ये"। इस से प्रकट होता है कि उस समय गुर्जर और चावडे (चापोत्कट) दोनों भिन्न वंशी माने जाते थे।

बं० गा०, जि० १, ख० १, पृ० १०६।

४. इं० ऐ०, जि० १३, पृ० ७७।

५. यद्यपि प्राचीन काल मे आर्य जाति के तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों मे अनुलोम विवाह होते थे, तथापि अन्त मे इस का निषेध कर दिया गया था। इन की पुष्टि आगे के अवतरणों से होती है—

ईसवी सन् से पूर्व की तीसरी शताब्दी मे आने वाले ग्रीक लेखक मेगास्थनीज़ ने लिखा है—कोई भी पुरुष न तो अपनी जाति से बाहर विवाह ही कर सकता है और न अपना पेशा ही बदल सकता है (मैक्क्रिंडल-कृत अँगरेजी अनुवाद, पृ० ८५-८६)।

ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है—प्रत्येक जाति का पुरुष अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है (हुएन्त्सांग का थॉमस वाटर्स कृत अनुवाद, जि० १, पृ० १६८)।

इस के अलावा यदा-कदा हो जाने वाले अनुलोम विवाहों की सन्तान माता के वंश की समझी जाने लगी थी। जैसे मारवाड़ के राठोड़ मूहण की क्षत्रिया स्त्री की सन्तान मूहणोत क्षत्रिय और वैश्या स्त्री की सन्तान मूहणोत वैश्य समझी जाती है।

पूर्वपक्ष—उत्तर पश्चिमीय भारत से सासानी शैली के कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी में "श्री वासुदेव वहमन" और पहलवी में "तकान जाउलस्तान सपर्द लक्षान" लिखा है[1]। कुछ विद्वान् 'वहमन' को 'चाहमान' मान कर इस वासुदेव को चाहमान-वंश का सब से पहला ज्ञात नरेश मानते हैं और सिक्कों में के सपाद लक्षान से हिमालय के सिवालक नाम से प्रसिद्ध पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं। उन का अनुमान है कि हूणों के साथ आने वाले गुर्जर (खिजर) जाति के लोग ही वहाँ जा कर बस गए थे। इस से चाहमानों के गुर्जर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

ये सिक्के खुसरो द्वितीय (परवेज) के सैंतीसवें राज्य वर्ष के सिक्कों से मिलते हुए हैं। इसलिए चाहमान-वंशी वासुदेव का समय ई० स० ६२७ (वि० स० ६८४) के करीब होना चाहिए।

उत्तरपक्ष—परन्तु इस विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। जनरल कनिंगहम इन सिक्कों में के वासुदेव को हूण-वंश का और मिस्टर रैप्सन सासानी-वंश का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् लेख में के कल्पित 'चाहमान' का 'वहमन' पढ़ते हैं।

इस के अलावा राजशेखर सूरि के बनाए 'प्रबन्धकोष'[2] के अन्त की वंशावली में चाहमान वासुदेव का समय वि० स० ६०८ (ई० स० ५५१) लिखा है। इस समय में और उपर्युक्त सिक्कों के आधार पर स्थिर किए समय में ७६ वर्ष का अन्तर आता है।

चौहानों के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस वासुदेव का सातवाँ वंशज गूवक (प्रथम) था। हर्षनाथ से मिले वि० स० १०१३ के लेख में उस का, अपनी वीरता के कारण, नागावलोक की सभा में वीर की पदवी प्राप्त करना लिखा है। चौहान भर्तृवृद्ध के वि० स० ८१३ (ई० स० ७५६) के लेख में भर्तृवृद्ध को नागावलोक का सामन्त कहा है। इस से नागावलोक और गूवक का वि० स० ८१३ के करीब विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में इस समय में से वासुदेव से गूवक तक के आठ राजाओं के लिए २०० वर्ष का समय निकाल देने से वासुदेव के राज्यारम्भ का समय 'प्रबन्धकोष' में दिए समय के निकट ही आता है।

फिर, चौहानों का राज्य पहले पहल सिन्ध या मुलतान में न रह कर अहिच्छत्रपुर[3] में रहा था और वहाँ से ये शाकम्भरी (साँभर) की तरफ आए थे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने (जो वि० स० ६९७=ई० स० ६४० के करीब भारत में आया था) अपने यात्रा विवरण में इस नगर का वर्णन किया है और उसी के आधार पर जनरल कनिंगहम ने उस का बरेली से २० मील पश्चिम में आधुनिक रामनगर के पास होना माना है[4]। 'महाभारत' के अनुसार भी यह अहिच्छत्रपुर उत्तर पाञ्चाल देश की राजधानी था। रही सपादलक्ष प्रदेश के हिमालय में होने की बात। परन्तु विद्वान् लोग सपादलक्ष से सवा लाख पहाड़ों के सिलसिले वाले प्रदेश का अर्थ न ले कर सवा लाख गाँवों वाले प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं[5], और चौहानों से शासित साँभर,

1 इन में के अन्य प्रकार के सिक्कों पर पहलवी में 'सफवसु तेफ (श्री वासुदेव) वहमन मुलतान मलका' लिखा है।

2 यह काव्य वि० स० १४०५ (ई० स० १३४९) में बनाया गया था।

3 रुहेलखण्ड के पूर्वी भाग में।

4 टॉमस वाटर्स—हुएन्त्सांग जि० १, पृ० ३३२; एन्शंट जियोग्राफी ऑफ इंडिया पृ० ३५९।

5 'स्कन्दपुराण' में (जिस का रचना-काल ईसवी सन् की नवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है) सांभर, मेवाड़, कर्नाटक आदि प्रदेशों में से प्रत्येक में सपादलक्ष (एक सवा लाख) गाँव होना लिखा है।

कुमारखण्ड, अ० ३९, श्लो० १२३ १४०।

नागौर और अजमेर का प्रदेश इस समय भी सवालख के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी हालत में चाहमानों का गुर्जर-वंशी होना और हिमालय की तरफ़ से राजपूताने में आना नहीं माना जा सकता।

यही हाल राष्ट्रकूट, गुहिल आदि अन्य क्षत्रिय जातियों का भी है। श्रीयुत विंसेंट स्मिथ आदि ने राजपूत जाति का ई० सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी से एकाएक उत्पन्न होना मान कर उन का विदेशी या आर्येतर होना अनुमान किया है[1]। परन्तु उन का यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि ई० स० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण में राष्ट्रकूटों का राज्य विद्यमान था और इसी शताब्दी के अन्तिम भाग में उस पर सोलङ्की जयसिंह ने अधिकार किया था। सोलङ्की त्रिलोचनपाल के, शक संवत् ९७२ (वि० सं० ११०७= ई० स० १०५१) के, ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूटों के दक्षिण में जाने से पहले उन (राष्ट्रकूटों) का राज्य किसी समय कन्नौज में भी रह चुका था[2]।

इसी प्रकार मेवाड़ राज्य के इतिहास से गुहिल-वंश के संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) का ई० सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और बापा रावल का ई० सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मौजूद होना पाया जाता है।

अन्त में हम राजपूतों को अनार्य मानने वाले विद्वानों से एक बात पूछना चाहते हैं। वह यह कि यदि वास्तव में ही उन का अनुमान ठीक है तो आख़िर सुदीर्घ काल से भारत में राज्य करने वाले वे पुराने क्षत्रिय-वंश कहाँ और कैसे लुप्त हो गए?

(१) यदि यह कहा जाय कि उन के बौद्ध या जैन मत ग्रहण कर लेने से उन का वर्ण नष्ट हो गया तो यह बात उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वैशाली के लिच्छवि क्षत्रियों के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने और दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम के जैन मत ग्रहण कर लेने पर भी उन के वंशज क्षत्रिय ही बने रहे थे।

(२) यदि यह मान लिया जाय कि विदेशी आक्रमणकारियों ने क्षत्रिय वर्ण को समूल नष्ट कर दिया तो यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि हूण नरेश मिहिरकुल के (वि० सं० ५९९=ई० स० ५४२ में) मरने के बाद से क़रीब पौने पाँच सौ वर्ष (अर्थात् महमूद ग़ज़नवी के पञ्जाब पर अधिकार करने) तक भारत-वर्ष बाहरी आक्रमणों से बचा रहा था[3]। और लिच्छवि क्षत्रियों के वि० सं० ८११ (ई० स० ७५४) तक के मिले लेखों[4] से उन का उस समय तक भी विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में 'पाराशर स्मृति' के "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इस वचन की दुहाई दे कर राजपूतों को अनार्य मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

---

१. श्रीयुत वि० ए० स्मिथ का चन्देलों, राठोड़ों और गाहड़वालों को अनार्य गोंड, भर और खरवारों की सन्तान अनुमान करना भी प्रमाणशून्य ही है। चन्देलों के शिलालेखों में उन को चन्द्रवंशी लिखा है।

२. कान्यकुब्जे महाराज! राष्ट्रकूटस्यकन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्याप्नुहि सन्ततिम्॥ ६॥

ई० ऐ०, जि० १२, पृ० २०१।

३. यद्यपि ई० सन् की आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिन्ध विजय किया था, तथापि उन का प्रभाव भारत के अन्य प्रान्तों पर नहीं पड़ा था।

४. इं० ऐ०, जि० ९, पृ० १६३, १६७।

राठोड़ राजवंश का मूल इतिहास

श्रीयुत जगदीशसिंह गहलोत, जोधपुर।

जोधपुर का प्रसिद्ध राजघराना राठोड राजवंश कहलाता है। क्षत्रियों के छत्तीस राजकुलों में राठोडों का राजवंश प्राचीन है। "आइन अकबरी" से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर की सेना में ६० हजार सवार और दो लाख पैदल राठोड़ थे[1]। कर्नल टॉड का मत है कि मुगल सम्राटों ने जितनी विजय प्राप्त की थी, उन में से अधिकांश का श्रेय राठोडों को था।

राजपूताना में प्रसिद्ध है कि—

बलहट बङ्का देवडा, करतब बङ्का गौड।
हाड़ा बङ्का गाढ में, रणबङ्का राठौड॥

अर्थात् देवड़ा राजपूत बल और हठ में एक ही है, गौड अपने कर्तव्य में अपूर्व है, हाडा बदन से गठोला होने में लासानी है और राठोड़ रणक्षेत्र में अद्वितीय है।

व्रज देशां, चन्दन वडा, मेरु पहाडा मौड।
गरड खगा लङ्का गढां, राजकुलां राठौड॥

अर्थात् देशों में व्रज, वृक्षों में चन्दन पहाडों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, किलों में लङ्का और राजकुलों में राठोड बड़े हैं।

राठोडों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। इन की ख्यात में लिखा है कि ये इन्द्र की रहट (रीढ़) से उत्पन्न हुए, इसलिए राठोड कहलाए[2]। एक मत है कि इन की कुलदेवी राष्ट्रसेना या राठाणी थी, उस के नाम से राष्ट्रकूट या राठोड़ कहलाए[3]। कहीं लिखा है कि इन का मूलपुरुष राष्ट्रकूट था, इस से ये राठोड प्रसिद्ध हुए[4]। दूसरी ओर राठोडों के बडवा भाट इन को दैत्यवंशी हिरण्यकशिपु की सन्तान बतलाते हैं[5]। कर्नल टॉड ने इन्हें भी राजपूतों के दूसरे वंशों की तरह उत्तर की ओर से आए हुए शक आदि अनार्यों की—जिन्हों ने हिन्दू धर्म तथा सभ्यता स्वीकार कर ली थी—सन्तान लिखा है[6]। डॉ० विंसेंट स्मिथ और उस के लेखों की छाया पर निर्भर रहने वाले कुछ भारतीय विद्वानों का कहना है कि राठोड, गाहडवाल और चन्देल आदि प्रसिद्ध राजवंश

---

१ आइन अकबरी जि० ३, पृ० ४४ ४५।
२ राजरत्नाकर भा० १ तरङ्ग १ पृ० ८७।
३ सर मुकर्जय—दि राठोर्स देयर ओरिजिन एंड ग्रोथ (१८९६ ई०) भूमिका, पृ० १।
४ राजरत्नाकर भा० १, त० १, पृ० ८८; टॉड राजस्थान भाग १, पृ० १०५।
५ टॉड राजस्थान जि० १, पृ० १०६, पु० ई०, जि० ५, पृ० २३।
६ टाड-राजस्थान, जि० १, पृ० ७३।

प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं हैं; किन्तु ये गोंड, भर आदि जङ्गली असभ्य जातियों से निकले हैं और उन्हों ने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्र से जा मिलाई[१]। कुछ लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि राठोड़ दक्षिण के द्रविड हैं। परन्तु राठोड़ अपने को शुद्ध क्षत्रिय आर्य और अयोध्या के महाराजा रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज बतलाते हैं।

राठोड़ों का सम्बन्ध प्राचीन अभिलेखों और वाङ्मय के रठिकों या राष्ट्रिकों से, जिन के नाम से महाराष्ट्र देश का नाम पड़ा है, प्रतीत होता है। रठिकों का उल्लेख हम अशोक के समय से पाते हैं[२]।

वेरूळ की गुफाओं में खुदे लेखों मे भी राष्ट्रकूट शब्द मिलता है[३]। कई विद्वान् यह मानते हैं कि राष्ट्रकूट या राठोड़ उत्तर भारत से दक्षिण में गए; परन्तु सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर और महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा के मतानुसार राठोड़ों का मूलराज्य दक्षिण में था और वहाँ से उन्हों ने पीछे से गुजरात, राजपूताना, मध्यप्रदेश, मालवा, गया (पीठी) आदि प्रान्तों में राज्य स्थापित किए।

राठोड़ों का, सातवीं शताब्दी के पूर्व का, प्राचीन इतिहास अन्धकार मे है। उत्तर भारत के राष्ट्रकूट राजा अभिमन्यु का ताम्रपत्र मिला है जिस मे उंडिकवाटिका नामक ग्राम का दान देना सूचित होता है[४]। उस में संवत नहीं है, परन्तु उस की लिपि सातवीं शताब्दी की अनुमान की जाती है[५]।

सिरूर[६] और नवसारी[७] से मिले शिलालेखों और ताम्रपत्रों मे राष्ट्रकूट और रट्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के बेटे रायमल की रानी और राव जोधा राठोड़ की पुत्री शृङ्गारदेवी की बनाई हुई घोसुंडी बावड़ी के सं० १५६१ वि० के शिलालेख मे "राष्ट्रवर्य" शब्द तथा नाडोल (मारवाड़) के चौहान कीर्तिपाल के स० १२१८ सावन सुदि १४ के ताम्रपत्र मे "राष्टाड़" शब्द राठोड़ों के लिए मिलता है[८]। इसी राष्टोड़ शब्द से राठोड़ बन गया और यही आजकल प्रचलित है।

आजकल राठोड़ अपने को सूर्यवंशी मानते हैं। राठोड़-राजवंश के प्राय: ६० प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्र दक्षिण गुजरात आदि से मिले हैं। इन में मे वि० सं० ६१७ से १०६५ तक के ८ लेखों में राठोड़ों

---

१. अ० हि० इ० (तृतीय सस्क०), पृ० ३२२।

२. डॉ० बर्नेल रट्ट शब्द को तैलगू भाषा के रेड्डी शब्द का रूपान्तर मानते है, जो उस भाषा मे वहाँ के आदिम निवासी किसानो के लिए प्रयुक्त होता है।

३. केव टेंपलस् इन्स्क्रिप्शन्, पृ० १२।

४. अर्ली हिस्टो ऑव् दि देकन, पृ० ४७।

५. फ्लीट—बं० ग० १. २ पृ० ३४६ ; ए० इ०, जि० ८, पृ० १६३।

६. इं० आ०, जि० १२, पृ० २२०।

७ ज० ब० रा० ए० सो०, जि० २८, पृ० २६६।

८. जोधपुर राज्य के बाली परगना के गाव कोयलवाव का अप्रकाशित लेख इस प्रकार है—

संवत १२०८ माघ सुदि १
सोमे श्री जसधवल राजे
राष्टउड पुनसिंह सुत
पूर्णपाल सुत थाहनु सो
मनद वि० ६मन ठा (?) कारीता

का चन्द्रवंशी होना लिखा है[1], बाकी में इन की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा। राठोडों का सूर्यवंशी होना सोलहवीं शताब्दी के लेखों से प्रारम्भ हुआ पाया जाता है।

इतिहासवेत्ताओं में एक और विवाद चला आता है। वह यह है कि क्या राठोड और गाहडवाल (गहरवार) वंश एक है या भिन्न। जोधपुर राज्य के मतानुसार गाहडवाल और राठोड़ एक ही वंश है और गाहडवाल राठोडों की एक शाखा मात्र है। इस विषय में कई विद्वान् यह प्रश्न करते हैं कि राठोडों का गोत्र गौतम और गाहडवालों का कश्यप है, फिर दोनों एक कैसे? गहरवारों का राठोड होना आज तक किसी शिलालेख में नहा मिला। राठोडों की गाहडवाल शाखा होना किसी ख्यात या काव्य आदि में भी नहीं पाया जाता। राठोड और गाहडवाल आज तक आपस में विवाह तक करते हैं[2]। इस के सिवा गाहडवालों को कर्नल टॉड ने राठोडों से हलका माना है। पुराने लेखों मे गाहडवालों को सूर्यवंशी और राठोडों को चन्द्रवंशी लिखा है।

इन शङ्काओं के उत्तर म जोधपुर राज्य के इतिहास विभाग का कहना है कि गोत्र तो अपने गुरु के बदलने पर बदल जाता है। विवाह एक ही खाँप (कुल) का उपशाखा में हो जाया करता है और गाहडवाल भी अपने को राठोड ही कहते हैं। रहा चन्द्रवंश और सूर्यवंश की बात, सो यह एक मनगढन्त कल्पना मात्र है। इस विषय में कैप्टेन ल्युअर्ड[3], हेमचन्द्र राय[4], ओझा आदि कई विद्वानों का मत है कि गाहडवाल राठोडों की शाखा नहीं है, गाहडवाल एक स्वतन्त्र कुल है। कन्नौज के गाहडवालों के राज्य में बदायूँ पर राठोडों का अधिकार था।

इस के साथ साथ यह प्रश्न भी है कि वर्तमान जोधपुर-राजवंश के मूलपुरुष किस के वंशधर हैं? राज्य तो इन को कन्नौज के गाहडवाल महाराजा जयचन्द्र के वंशधर मानता है। उस के मत में कन्नौज के गाहडवाल और उस के पड़ोसी बदायूँ के राठोडों का मूलपुरुष एक ही था, अर्थात् जो चन्द्र नाम का था। उस का कहना है कि चन्द्र ने पहले बदायूँ और बाद में कन्नौज पर अधिकार किया। बदायूँ में वह राठोड कहलाये और कन्नौज म उस के वंशजों का नाम गाहडवाल पड़ा। क्योंकि कन्नौज का पुराना नाम गाधिपुर था जो बिगड कर गाहडवाल हुआ। चन्द्र का बडा पुत्र मदनपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा और विग्रहपाल को छुटभैय रूप में बदायूँ का राज्य मिला। यही हाल सं० १२५३ के आसपास तक रहा। कन्नौज की शाखा में जयचन्द्र और उस का पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ और बदायूँ की शाखा में लखनपाल (लगभग वि० सं० १२८० में)। कन्नौज की शाखा म हरिश्चन्द्र का पुत्र सेतराम माना जाता है जिस का पुत्र राव सीहा वि० सं० १२८२ के लगभग कन्नौज से मारवाड़ में आया।

परन्तु कई विद्वानों का मत इस के विरुद्ध है। वे तो बदायूँ का शाखा को राठोड और कन्नौज की शाखा को गाहडवाल मान कर इन दोनों राजवंशों को भिन्न भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि कन्नौज और बदायूँ के राजघरानों का मूलपुरुष एक न था, जैसा कि जोधपुर राज्य के महकमे-तवारीख ने माना है। बदायूँ के

१ ए० ई०, जि० ६ पृ० २१ ज० बं० ए० सो०, जि० १८, पृ० २६१।
२ क्षत्रियमित्र (दिसंबर १९३३), भाग २४, संख्या २१, पृष्ठ २४, पंक्ति ३१।
३ कलिंग प्रिंसेज ऍंड चीफ्स ऍंड लीडिंग फेमिलीज इन सेंट्रल इंडिया (१९२३ ई०), पृ० ३।
४ डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नॉर्दर्न इंडिया (प्राचीन काल और मध्य काल) कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जि० १, पृ० ५४४-५५।

राठोड़ों के मूलपुरुष का नाम चन्द्र मिलता है और कन्नौज को विजय करने वाले राजा का नाम चन्द्रदेव। वदायूँ का चन्द्र कन्नौज के चन्द्रदेव से पहले हुआ था। उस के छठे उत्तराधिकारी मदनपाल का सं० ११७६ (ई० स० १११९) का शिलालेख गोंडा (अवध) ज़िले के सहेठ महेठ से मिला है। उस में लिखा है कि गाधिपुर (कन्नौज) के राजा गोपाल का सलाहकार विद्याधर था और मदन के समय भी वह उसी पद पर नियत था। गोपाल कन्नौज के गाहडवाल राजाओं में कोई नहीं हुआ। इस से पाया जाता है कि मदन गोपाल का पुत्र होगा। वदायूँ के शिलालेख में गोपाल के तीन पुत्रों के नाम त्रिभुवनपाल, मदनपाल और देवपाल लिखे हैं, जिन्हों ने एक-दूसरे के बाद वहाँ का राज्य पाया। मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ (ई० स० १११९) में विद्यमान था। उस के पहले उस का भाई त्रिभुवनपाल राजा था और त्रिभुवनपाल का पिता गोपाल कन्नौज का राजा था। इस से पाया जाता है कि वदायूँ के राष्ट्रकूट राजा गोपाल ने पड़िहारों के कमज़ोर होने पर उन का राज्य छीन लिया था। मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ में विद्यमान था, ऐसी दशा में उस के भाई त्रिभुवनपाल का वि० सं० ११५६ के आसपास होने का अनुमान किया जा सकता है और गोपाल का वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७९) के आसपास मौजूद होना माना जा सकता है।

उधर गाहडवाल चन्द्रदेव का सब से पहला दानपत्र वि० सं० ११४८ (ई० स० १०९१) का मिला है[1], इसलिए पाया जाता है कि गाहडवाल चन्द्रदेव ने राठोड़ गोपाल या उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से कन्नौज का राज्य छीन लिया हो।

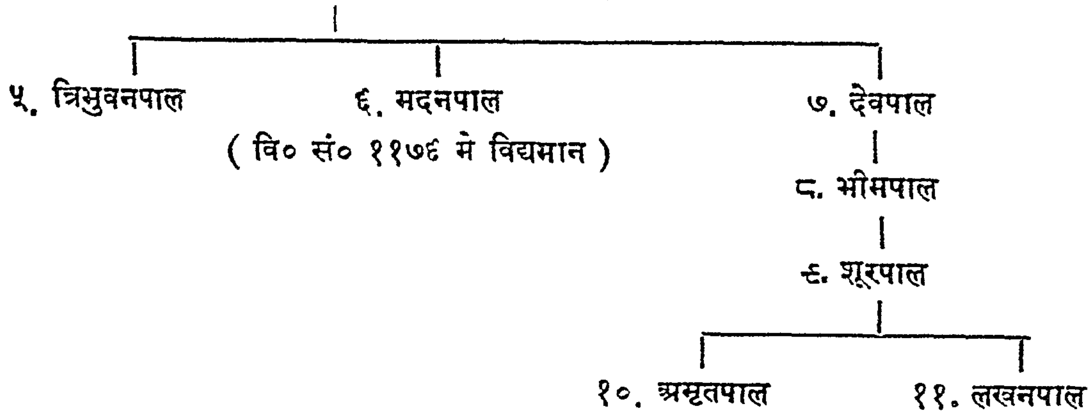
वदायूँ के शिलालेख के अनुसार वंश-वृक्ष नीचे लिखे अनुसार बनता है—

१. चन्द्र (राष्ट्रकूट)

२. विग्रहपाल

३. भुवनपाल

४. गोपाल (कन्नौज का राजा)



गाहडवाल चन्द्रदेव ने कन्नौज का राज्य या तो गोपाल राठोड़ से या उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से लिया होगा। वदायूँ का राठोड़ चन्द्र, गाहडवाल चन्द्रदेव से भिन्न और उस से पहले हुआ था।

उन का कथन है कि वदायूँ (कन्नौज प्रान्त) के राठोड़ों के वंशज सेतराम व सीहाजी थे। जोधपुर के राठोड़ गाहडवाल राजा जयचन्द्र के वंशज होते तो बुन्देलों की नाईं वे गाहडवालों की छोटी शाखा में माने जाते। अतः वे गाहडवाल नहीं किन्तु शुद्ध राठोड़ ही हैं।

१. दे०—आ० स० इ० (न्यू सीरीज), जि० १, पृ० ७१; ज० ब० ए० सो०, जि० ६१, भा० १।

ऐतिहासिक खोज के पूर्व कन्नौज के राजा जयचन्द्र को पृथ्वीराजरासो और कर्नल टॉड के अनुसार राठोड ही मानते थे। परन्तु अब कन्नौज के जयचन्द्र के पूर्वजों के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं जिन में उन को गाहडवाल ही लिखा है, राठोड कहीं नहीं लिखा। इस से विद्वानों ने अनुमान किया है कि कन्नौज का गाहडवाल राजवंश एक स्वतन्त्र वश है, वह किसी की शाखा नहा। इधर जोधपुर राजघराना अपने को राठोड मानता है इसलिए इस राठोड वश का कन्नौज से आना मानते हैं परन्तु बदायूँ भी कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था। इसलिए बदायूँ से गए हुए राठोड कन्नौज राज्य से आए हुए माने जावें तो कोई आपत्ति नहीं।

जोधपुर के राठोडों का सम्बन्ध कन्नौज के गाहडवालो से मिलाना शायद भाटों का कल्पना है। आधुनिक खोजों से वह कल्पना हिल गई है और इन की उत्पत्ति क न्नौ ज प्रा न्ती य ब दा यूँ के राठोड़ों से होना पुष्ट हो रहा है। जो हो, इस में तो तनिक भी सन्देह नहीं कि मारवाड़ मे प्रथम प्रवेश करने वाले तथा इस वर्तमान राठोड-राजवश के मूलपुरुष राव सीहाजी राठोड ही थे जो लगभग स० १३०० के इधर आए।

८

भूवृत्त

नकुल का पश्चिम-दिग्विजय

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार

प्रस्तावना

महाभारत सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व प्राचीन भारत के भू-विभागों के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व का है। इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों की राजधानी स्थापित होने पर धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों को चार दिशाओं का विजय करने भेजता है, और उन में से प्रत्येक अपनी अपनी दिशा के तमाम राज्यों, देशों और जातियों को जीत कर लौटता है। महाभारत के इस अंश के लेखक या लेखकों का अपने समय का भूमिविषयक ज्ञान इस बहाने यहाँ अंकित हो गया है।

सब से पहले अर्जुन की उत्तर दिग्विजय की तीन यात्राओं का वर्णन है। उन का रास्ता मैंने पहले पहल सन् १९३० के अन्त में टटोला था, और उस खोज के परिणाम प्रकाशित हो चुके हैं[1]। नकुल की पश्चिम दिग्विजय-यात्रा दिग्विजयपर्व के अन्तिम अध्याय में है। वह कुम्भघोणम्-संस्करण के अनुसार सभापर्व का ३५ वाँ, तथा सुब्रह्मण्य शास्त्री के प्रबन्ध से प्रकाशित नये दक्षिणी संस्करण के अनुसार २८ वाँ अध्याय है। काठमाडू, नेपाल के श्री ६ मान्यवर राज गुरु हेमराज पंडित ज्यू की प्राप्त महाभारत की ताड़पत्रों पर लिखित अत्यन्त प्राचीन प्रति से भी मैंने सन् १९३२ में इस पर्व का अध्ययन किया था, और सब पाठभेद ले लिये थे। मुझे अत्यन्त खेद है कि यह लेख लिखते समय वे कागजात मेरे पास नहीं हैं, और इस समय उन की प्रतीक्षा भी नहीं की जा सकती। यदि कोई विशेष बात उन में मिलेगी तो अपेक्षित संशोधन पीछे कर दूँगा। आगे की विवेचना में गोल कोष्ठों के अन्दर दी संख्याएँ कुम्भघोणम् संस्करण के अनुसार उस अध्याय की श्लोक-संख्याओं को सूचित करती हैं।

पहली मंज़िल—रोहतक सिरसा

नकुल खाण्डवप्रस्थ से बड़ी भारी सेना के साथ पश्चिम दिशा को निकलता है (२,३), और पहले पहल "गवाढ्य धन-धान्य वाले कार्तिकेय के प्रिय" रोहीतक पर जा टूटता है (४), जहाँ उस का शूर मत्तमयूरकों से भारी युद्ध होता है। वह समूची मरुभूमि को और बहुधान्यक को (५), शैरीषक और महेत्थ को वश में कर लेता है, तथा राजा आक्रोश को भी जिस के साथ कि बड़ा युद्ध होता है (६)।

रोहीतक और शैरीषक स्पष्ट ही आधुनिक रोहतक और सिरसा हैं। दिल्ली से जो रास्ता आज दक्खिन पंजाब की तरफ सीधा चलता है, वह रोहतक, महम, हाँसी, सिरसा, फाजिलका होते हुए सतलज पार करता, और फिर

---

[1] भारतभूमि और उस के निवासी, आगरा १९८८, परिशिष्ट १; छठी भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस पटना का विवरण पृ० १०१ प्र; तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिंदुस्तानी एकाडमी, प्रयाग से प्रकाश्यमान,) पृ० १०४९-५१, जहाँ कि उक्त खोज के अन्तिम परिणाम दर्ज किये गए हैं।

गुगेरा के सामने रावी का घाट उतर कर गोजरा होते हुए झंग पहुँचता है[1]। झंग प्राचीन शिवि राष्ट्र को सूचित करता है। वहाँ से यह राजपथ अपनी दो बाहें उत्तर और दक्खिन फैला देता है—एक शाहपुर और रावलपिंडी अर्थात् केकय और गान्धार की तरफ, और दूसरी मुलतान और बहावलपुर की तरफ। स्पष्ट है कि नकुल ने दिल्ली से इसी राजपथ को पकड़ा था। म हे त्थं के बजाय सुब्रह्मण्य शास्त्री के संस्करण में च है म पाठ है; मूल पाठ शायद म हे मं था, जिसे आजकल का महेम समझना चाहिए। रोहतक-सिरसा के समूचे प्रदेश में कुछ अंश म रु भू मि थे, और कुछ ब हु धा-न्य क। रोहतक के विशेषण ग वा ढ्य—गौओं का धनी—तथा ध न धा न्य वा न् भी ध्यान देने योग्य हैं। इस सब से प्रकट है कि यह वर्णन बहुत ही सच्चा है। रोहतक इलाके में म त्त म यू र क लोग रहते थे, यह एक नई सूचना है। मत्त-मयूरक कौन थे? कहीं मोर पालने के कारण ही तो उन का यह नाम न पड़ा था? समूचे रोहतक इलाके में आज भी मोर पवित्र प्राणी माना जाता, और घर घर दीख पड़ता है। रोहतक को यहाँ का र्त्ति के य का प्रि य कहा है; कार्त्तिकेय का वाहन मोर है। क्या रोहतक में कार्तिकेय की पूजा प्रचलित थी, और इसी से वहाँ मोर पवित्र माना जाने लगा था? जिस प्रदेश के निवासी आज भी भारत को सब से शूर और सुन्दर जातियों के अगुआ हैं, तथा मनुस्मृति के समय भी सेनाओं को हरावलों में रक्खे जाते थे[2], उस में युद्ध के देवता कार्त्तिकेय की पूजा प्रचलित रहना बहुत संगत था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस वर्णन में रोहतक-महेम-सिरसा इलाके का अत्यन्त प्रसिद्ध नाम ह रि या ण क या ह रि या ना नहीं है, वह नाम मध्य काल में चला दीखता है, जब कि रोहीतक, महेम और शैरीषक पुराने नाम हैं।

रोहतक-सिरसा इलाके के आगे नकुल की यात्रा का वर्णन यों है—"इन द शा र्णों को जीत कर पाण्डु का लाल आगे बढ़ा (प्र त स्थे)। शि वि ओं, त्रि ग र्त्तों, अ म्ब ष्ठों, मा ल वों, प ञ्च क र्प टों (७) तथा म ध्य म के यों

दूसरी लड़ाई—दक्खिन और मध्य पंजाब

और वा ट धा न द्विजों को (जीतते हुए) फिर लौट कर (पुनश्च परिवृत्य) पुष्करारण्यवासियों को (८)।"

रोहतक-सिरसा इलाके को यहाँ दशार्ण कहना ठीक है, या यह कोई पाठदोष है, सो मैं नहीं कह सकता। दशार्ण वास्तव में पूरबी मालवा—आधुनिक धसान—प्रदेश है, जहाँ दशार्णा या धसान नदी बहती है। सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में यह पंक्ति नहीं है।

इस सन्दर्भ में प्र त स्थे और पु न श्च प रि वृ त्य शब्द ध्यान देने योग्य हैं। नकुल अपने मुख्य रास्ते से एक तरफ प्रस्थान करता है, और फिर लौट कर पहले रास्ते पर आ जाता है। बीच में जिन जातियों के नाम हैं, वे सब दक्खिन और मध्य पंजाब की हैं। शि वि यों की राजधानी शि वि पु र आधुनिक शोरकोट के स्थान पर थी,[3] और सिकन्दर की चढ़ाई के समय वे लोग चिनाव के बायें किनारे झंग-शोरकोट-प्रदेश में ही थे[4]। त्रि ग र्त्तों का नाम यहाँ आने से कुछ कठिनाई उपस्थित होती है। उन का उल्लेख अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में भी आ चुका है। यह निश्चित है है कि त्रिगर्त्त में आधुनिक द्वाबा (जलन्धर-हुशियारपुर) और काँगड़ा सम्मिलित थे। क्या यह व्याख्या की जाय कि त्रिगर्त्त का पहाड़ी हिस्सा—काँगड़ा—अर्जुन ने जीता, और बाकी—मैदान का—नकुल ने? ऐसा अर्थ करने पर भी यह कठिनाई रह जाती है कि केवल त्रिगर्त्त नाम यहाँ होने से इन जातियों के नाम स्थान-क्रम से नहीं रहते। अ म्ब ष्ठ

---

[1] इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कन्ट्रीज (भारत और पड़ोसी देश, भारत-सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा प्रकाशित नक्शे), शीट नं० ५३,४४,४३,३९।

[2] मनुस्मृति, ७. १९३। [3] भारतभूमि, पृ० २१८। [4] भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५४०।

सिकन्दर के समय अन्तिम संगम पर थे, और मालव रावी के निचले काँठे में[1]। यहाँ भी उन जातियों की वही स्थिति प्रतीत होती है। पञ्चकर्पटों की पहचान में नहीं कर पाया हूँ। मध्यमकेय का स्पष्ट अर्थ है माझा के लोग, पंजाब का केन्द्र प्रदेश अमृतसर पट्टी-तरनतारन का इलाका है, जिस में सिकन्दर के समय कठ जाति रहती थी[2]। उस जाति के नाम से वह प्रदेश कठ कहलाता था[3], पंजाब के मध्य में होने से वह माझा है। वाटधान सम्भवतः भटनेर-भटिंडा का प्रदेश था, सो हम अभी देखेंगे।

इस सन्दर्भ में कई बातें विचारणीय और ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात, जैसा कि हम ने अभी देखा, शिबि और अम्बष्ठ के बीच यदि त्रिगर्त्त का नाम न होता तो यह कहा जा सकता कि ये सब नाम स्थान-क्रम से हैं। सिकन्दर के समय शिबि के पड़ोस में एक जाति रहती थी जिसे यूनानियों ने अगलस्स (Agalassoi) कहा है[4]। यदि त्रिगर्त्त के बजाय यहाँ उस जाति का नाम हो तो समूचा क्रम ठीक हो जाय, शायद किसी पुरानी प्रति में यह नाम निकल आय। दूसरे, मालवों का नाम यहाँ अम्बष्ठों के पड़ोस में और मध्यमकेयों से पहले होने से सिद्ध है कि यहाँ पंजाब के आधुनिक मालव—फीरोज़पुर लुधियाना प्रदेश—से अभिप्राय नहीं, प्रत्युत रावी के उसी निचले काँठे से है जहाँ सिकन्दर के समय मालव लोग रहते थे। दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू में मालव गण दक्खिन पञ्जाब से उठ कर उत्तर राजपूताना की तरफ चला गया था[5], यह सन्दर्भ सम्भवतः उस घटना से पहले का है। तीसरे, भारतीय वाङ्मय में माझा का नाम सब से पहले शायद इसी सन्दर्भ में आया है, यद्यपि अभी तक वह पहचाना न गया था। माझा शुद्ध प्रादेशिक नाम है, न कि जातीय, इसलिए यह सन्दर्भ ऐसे समय को सूचित करता है जब वह जातीय नाम मिटने और प्रादेशिक नाम का स्थान देने लगा था।

वाटधान का विचार करना बाकी रहा। शिबि अम्बष्ठ मालव मध्यमकेय—इस क्रम के अन्त में होने से उन्हें माझा के पूरब या दक्खिन कहीं होना चाहिए। क्योंकि वाटधानों को जीत कर नकुल 'फिर लौट आता है', इसलिए उन का देश उस के लौटने के मार्ग पर हो तो ठीक। हम अभी देखेंगे कि रोहतक के बाद वह प्राचीन घग्गड़ या हाकड़ा नदी के काँठे से सिन्ध की तरफ बढ़ता है। आजकल वह नदी नहीं है, केवल उस का सूखा पाट है, पर मुख्यतः जिन दो धाराओं के मिलने से वह बनती थी, वे उपरले अंश में विद्यमान हैं[1]। सरसुती और मारकण्ड दोनों सरमौर की उपत्यका के पहाड़ों से, एक साधौरा के पूरब और दूसरी पच्छिम, पैदा होती हैं। सरसुती थानेसर के पास से बहती हुई कुछ आगे जा कर पच्छिम मुँह मोड़ लेती, और वहाँ चौतांग कहलाने लगती है, सिरसा के प्रायः ठीक दक्खिन बहादरा तक पहुँचने के बाद वह मरुभूमि में गायब हो जाती है, उस का सूखा पाट आगे भी विद्यमान है। मारकण्ड साधौरा के पच्छिम शुरू हो कर शाहाबाद को बायें रखते हुए बहता है, पिहोवा या पृथूदक भी, जो प्राचीन काल में उत्तरापथ और मध्यदेश के बीच सीमान्त बस्ती थी, उस के बायें किनारे है। पटियाला नदी का पानी लेने के बाद वह सिरसा की तरफ बढ़ता, और सिरसा को अपने दाहिने रखते हुए थोड़ी दूर आगे बहने के बाद रेगिस्तान में लुप्त हो जाता है। उस के आगे हो आगे उस के सूखे पाट में वाहर या घाघर नामक एक और सूखे नाले का पाट आ मिलता है, और फिर भटनेर को दाहिने छोड़ते हुए यह सूखा पाट रामपुरा पर चौतांग के सूखे पाट में जा मिलता है। सरसुती और मारकण्ड के समागम से बनने वाली यह सूखी नदी वहाँ से प्रायः सीधे पच्छिम बढ़ते हुए, सरदारगढ़ पर अबोहर की तरफ से आने वाले एक और

---

[1] वही पृ० ५५०, १५२।　　[2] वही, पृ० ५३७ ३८।

[3] वही पृ० ५५०।　　[4] वही, पृ० ३३५ ३६।

[5] अधिक ब्यौरे के लिए 'भारत भूमि और पड़ोसी देश' नक्शों की पूर्वोक्त पोथी देखिए।

सूखे नाले के संगम के बाद, ७२° देशान्तर-रेखा से कुछ पहले दो शाखाओं में बँट जाता है, दाहिनी शाखा सीधे पच्छिम बढ़ जाती है, और कुछ दूर तक टटोली जा सकती है; बाईं जरा दक्खिन झुकते हुए पच्छिम बढ़ती है, और सिन्ध और पञ्जाब की सीमा पर रेती नामक बस्ती के पास २८° अक्षांश रेखा तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है।

वा र अथवा वा ड़ नाले के नाम से क्या वा ट धा न का कुछ सम्बन्ध नहीं हो सकता ? महाभारत के कलकत्ता-संस्करण में एक स्थल पर 'वाटधान' के बजाय 'वारधान' पाठ है भी[1] । नकुल की यात्रा की योजना में वाटधान का वाड़ नाले के काँठे से—भटनेर के इलाके में—रहना पूरी तरह संगत होता है। घग्घर नदी के जीवन-काल में भटनेर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फौजी नाका भी था। मेरे श्रद्धेय गुरु श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल में यह स्थापना की है कि वाटधान=पठान[2] । मैं इस स्थापना को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ के अतिरिक्त महाभारत का एक और सन्दर्भ वाटधानों की स्थिति को पञ्जाब के दक्खिन-पूरबी छोर पर सर्वथा निश्चित कर डालता है। उद्योग-पर्व में जहाँ सेनाओं के जुटने का वर्णन है, वहाँ कहा है कि कौरवों की सेना हस्तिनापुर में समाती न थी, उस ने पड़ोस के सब प्रदेशों को ढक दिया, पड़ोसी प्रदेशों का उल्लेख वहाँ इस प्रकार है—

न हास्तिनपुरे राजन् अवकाशोऽभवत्तदा ॥२८॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।
ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥२९॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥३०॥
वारणं वा ट धा नं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥३१॥
बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः[3] ।

अर्थात् हस्तिनापुर में कौरव सेनायें न समाती थीं, और समूचा पञ्चनद, कुरु-राष्ट्र का बांगर (कु रु जां ग ल= आधुनिक बागड), रोहितकारण्य, मरुभूमि, अहिच्छत्र (उत्तर पञ्चाल देश की राजधानी=आधुनिक बरेली जिले में रामनगर), कालकूट (?), गंगा-काँठा, वारण (वरण=बुलन्दशहर ?), वा ट धा न और यामुन अर्थात् कौलिन्द पर्वत (=कुणिन्द राष्ट्र)[4]—यह विस्तीर्ण देश उन से ढका गया। पञ्चनद, जैसा कि हम अभी देखेंगे, पञ्जाब नहीं, प्रत्युत सतलज का निचला काँठा है। इस प्रकार पञ्चाल से पञ्चनद तक कौरव सेनायें फैली थीं, और वाटधान उन के बीच ही कहीं होना चाहिए।

जायसवाल जी ने वराहमिहिर की बृहत्संहिता का एक उद्धरण पेश किया है, जहाँ "वा ट धा न-यौ धे याः" को उत्तरापथ का निवासी कहा है। यौधेय सतलज के निचले काँठे पर रहते थे[5]; वाटधानों का उन के पड़ोस में भटनेर के चौगिर्द रहना बहुत संगत है। वा ट धा न शब्द का अपभ्रंश प ठा न होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भले ही ठीक हो, पर पठान शब्द पश्तो या पख्तो भाषा के प श्ता न या प ख्ता न का हिन्दी रूपान्तर मात्र है।

---

[1] दे० सौरन्सेन-कृत महाभारत की इंडेक्स, लंडन १९०४, में वाटधान शब्द। [2] इं० आ० १९३२, पृ० ११९।
[3] म० भा० ५. १९। [4] दे० भारतभूमि पृ० ३१०-११ ; रूपरेखा पृ० १०६४।
[5] रूपरेखा, पृ० १३१।

सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में रोहतक प्रसंग के अन्त को आक्रोश राजा वाली पंक्ति नहीं है, उस के स्थान में वहाँ यह पंक्ति है—

लिलन्धान् कथानांश्च दूतैरेव जिगाय तान् ।

'लिलन्धान्' के बजाय 'सिलीन्ध्रान्', 'एलधान्' और 'लिलिन्धान्' पाठ भी हैं। 'वटधान' के बजाय एक पाठ 'पाटधान' भी है। फिर पंजाब प्रकरण के अन्त में 'वाटधानान् द्विजान्' के बजाय 'औपावृतगणान्' पाठ है। लिलन्ध, सिलीन्ध्र या एलध और औपावृतगण की व्याख्या करने में मैं असमर्थ हूँ। वाटधानों का नाम पंजाब प्रकरण के अन्त के बजाय उस के आदि में है, इस से कुछ भेद नहीं पड़ता, क्योंकि वाटधानों की स्थिति हमने पंजाब और रोहतक प्रदेश के बीच ही पाई है।

पंजाब में लौटने के बाद नकुल की यात्रा का वर्णन यों है—

तीसरी पड़ाव—हाँकड़ा से हिंगोल

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत्पुरुषर्षभः ।
सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥१०॥

"फिर लौट कर अब उस पुरुषर्षभ ने पुष्करारण्य के रहने वाले उत्सवसंकेत गणों को जीता, और जो सिन्धु के काँठे में आबाद अत्यन्त शक्तिशाली ग्रामणीय थे (गण हैं) तथा जो शूद्र और आभीर-गण हैं, और जो सरस्वती पर बसे हैं, तथा जो मछलियों से गुजर करते हैं, और जो पर्वतवासी हैं (उन सब को जीता)।"

पुष्करारण्य पोकरन हो या पुष्कर का जंगल। नकुल सिरसा प्रदेश के आसपास लौट कर वहाँ से सीधे सिन्धु की तरफ बढ़ता है, इस से स्पष्ट है कि वह घग्घड-हाँकड़ा के काँठे में उत्तर पच्छिमी राजपूताना जीतता हुआ सिन्धु पहुँचता है। रघु और अर्जुन के उत्तर दिग्विजयों में हम उत्सवसंकेत का अर्थ समझ चुके हैं[1], वह किसी विशेष जाति का नाम नहीं, प्रत्युत ऐसी सब जातियों की परिभाषा थी जिन में विवाह की प्रथा स्थापित न हुई होती; पोकरन प्रदेश अर्थात् पच्छिमी राजपूताना में भी वैसी कोई जातियाँ रहती रही होंगी। शूद्र या शौद्र नाम का एक गण-राज्य सिकन्दर के समय भी उत्तरी सिन्ध में था[2]। आभीर देश पेरिप्लस के लेखक के समय (लगभग ८० ई०) पच्छिमी राजपूताना में सिन्ध की सीमा पर था[3]।

वर्तयन्ति च ये मत्स्यैः—जो मछलियों से गुजर करते हैं—उन लोगों ने सिकन्दर और उस के साथियों को भी चकित किया था। हिंगोल नदी के पच्छिम, भारतवर्ष की पच्छिमी सीमा रास मलान के ठीक बाद उन्हें ऐसे लोग मिले थे, जो केवल मछली पर ही गुजर करते, तथा बड़ी मछलियों की हड्डियों से ही अपने झोपड़े भी बनाते और छाते थे। यूनानियों ने उन का नाम इख्थुओफगोई (Ichthyophagoi) अर्थात् मत्स्योपजीवी रक्खा था, और यहाँ भी उसी का ठीक अनुवाद है। उस जाति का जीवन आज भी वैसा ही है, उन के ढोर-डंगर गाय बकरी तक मछली खा कर रहते हैं।

शूद्राभीरगणों और मत्स्योपजीवियों के देशों के बीच जिस सरस्वती का जिक्र है, वह सिन्ध नदी के दाहिने होनी चाहिए। वहाँ तीन ही मुख्य नदियाँ हैं—हाब, पोराली और हिंगोल। हाब खीरथर और पब पर्वतों के बीच है, उस

---

[1] भारतभूमि पृ० ३०८। [2] रूपरेखा, पृ० ५४२। [3] पेरिप्लस, पृ० ३९।

की दाहिनी धारा का नाम सरुना है, वही सरस्वती हो सकती है। पर्वतवासी यहाँ कलात के पहाड़ी—ब्राहुई लोग—ही हो सकते हैं। कलात का अर्थ ही है पहाड़ी गढ़।

चौथी चढ़ाई वास्तव में अलग नहीं, तीसरी के ही सिलसिले में है। उस का वर्णन यों है—

चौथी चढ़ाई—सुलेमान, टोबा-काकड़

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम्।
उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥११॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः।
रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥१२॥
तान्सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥१३॥
स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम्।

—"समूचे पञ्चनद को तथा अमरपर्वत को, और उत्तरज्योतिष को तथा दिव्यकटपुर को, और द्वारपाल को उस तेजस्वी ने झट से वश में कर लिया। रामठों को, हारहूणों को तथा जो पच्छिमी राजा हैं उन सब को, उस पाण्डव ने (दूतों द्वारा अपना) शासन भेज कर ही वश में कर लिया। वहीं ठहरे हुए उस ने, हे भारत, वासुदेव (कृष्ण) के पास हुक्म भेजा; और उस ने उस के हुक्म को बेधड़क स्वीकार कर लिया।"

इस से प्रकट है कि नकुल इस दिशा में दिव्यकटपुर तक या द्वारपाल के देश तक गया, और वहाँ से रामठों आदि के पास उस ने केवल अपना शासन भेजा। पञ्चनद का अर्थ पंजाब मान लिया गया है; वास्तव में उस का अर्थ पजनद करना चाहिए। सिन्ध में मिलने से पहले और पंजाब की बाकी सब नदियों का पानी ले लेने के बाद सतलज पजनद कहलाता है, और उस के काँठे का नाम भी पंजनद है। मत्स्योपजीवी देश से कलात की अधित्यका चढ़ने के बाद पंजनद पर आ उतरना स्वाभाविक था। अमर-पर्वत उस के पड़ोस में सुलेमान और शीनगर के दक्खिनी धुमावों में कहीं होना चाहिए, या वह सुलेमान-शीनगर का ही नाम हो। फिर उत्तर-ज्योतिष, दिव्यकटपुर और द्वारपाल के देश की भी मैं ठीक ठीक पहचान नहीं कर सकता हूँ, पर इस में सन्देह नहीं कि ये भारत के सीमान्त स्थान थे; क्योंकि नकुल इन के आगे नहीं बढ़ता। उत्तरज्योतिष नाम प्राग्ज्योतिष के नमूने पर है; दोनों ही सीमान्त देश थे; यह देखते हुए उत्तर-ज्योतिष को सुलेमान, शीनगर और टोबा-काकड़ की तिहरी पर्वतशृंखला का समूचा प्रदेश मानना ठीक जान पड़ता है। दिव्यकट पुर उसी में कहीं होना चाहिए; क्या वह डुकि या कुइटा में से कोई है ?]

कौटिलीय अर्थशास्त्र २. २५ में हारहूरक देश की अंगूरी शराब का उल्लेख इस प्रकार आया है—

मृद्वीकारसो मधु। तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति[1]।

हारहूरक हरउवती नाम का बनाया हुआ संस्कृत रूपान्तर है। वास्तव में हरउवती संस्कृत सरस्वती का रूपान्तर है, और हरउवती का रूपान्तर—अरखुती, अरगंद[2]। अंगूरों की खान कन्दहार शहर जिस नदी के काँठे में बसा है, वह अब भी उसी—अरगदाब—नाम से परिचित है। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ का हारहूण वही हारहूरक है। रामठ का अर्थ संस्कृत में हींग भी है; रामठ देश स्पष्ट ही हींग का देश था। आज भी पच्छिमी अफगानिस्तान और पूर्वी ईरान ही हींग के मुख्य घर हैं; उस हींग-देश का केन्द्र हेरात तथा कन्दहार ही आज भी हींग के मुख्य बाजार हैं।

---

[1] शामशास्त्री का संस्क० २, पृ० १२०, पं० १६।

[2] भारतभूमि पृ० १८५।

रामठ का अर्थ हेरात का प्रदेश करना चाहिए। अर्जुन के उत्तर दिग्विजय में लोहित अर्थात् अफगानिस्तान के दस मण्डलों का उल्लेख आ चुका है,[1] कन्दहार और हेरात ठेठ अफगानिस्तान के किनारों के प्रदेश हैं, वे दोनों नकुल के दिग्विजय में कहे गये हैं, इसलिए वे अफगान-देश के दस जिलों में न थे।

सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले संस्करण में इस प्रसंग में अरण, रोम, यवनों के पुर, लम्पक और वन्यक देश—इतने नाम और हैं। अरण अरब का अपपाठ जान पड़ता है, और ये सब नाम स्पष्टतः पीछे से जोड़े हुए हैं।

उत्तरज्योतिष से नकुल मद्र देश (रावी चिनाब के बीच) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) वापिस आता है, जहाँ उस का मामा शल्य 'प्रीतिपूर्वक' उस की अधीनता मानता है (१४-१५)। तब वह वहाँ से बड़ी तैयारी के साथ अपना अन्तिम सम्प्रस्थान (चढ़ाई) करता है, और

पाँचवीं चढ़ाई—पह्लव, शक

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥१६॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ् शकान्।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान्।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥१७॥
करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥१८॥

—"तब सागर के पेट में रहने वाले परम दारुण म्लेच्छ पह्लवों, बर्बरों, किरातों, यवनों और शकों को वश में कर के तथा उन राजाओं से रत्नों के उपहार ले कर चित्र-मार्गों का जानकार कुरुश्रेष्ठ नकुल वापिस लौटा। दस हजार ऊँट उस महात्मा के महान् धन वाले कोश को मुश्किल से ढो कर लाये।"

सागरकुक्षिस्थान् शकान् इन शब्दों में दारयवहु के अभिलेखों के सकातरदरया[2] या सकापारदरया[2] की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है। पुराने जमाने में कास्पियन और अराल सागर एक विस्तृत उथले समुद्र और दलदल द्वारा परस्पर मिले हुए थे, और वङ्क्षु (आमू) नदी उसी समुद्र में अपना पानी ले जाती थी। उस के तट पर रहने वाले शकों को प्राचीन ईरानी सकातरदरया या सकापारदरया कहते थे। पह्लवों या पार्थवों का मातृभूमि भी उसी सागर का तट था। फारिस पर मकदूनी आधिपत्य स्थापित होने तथा बलख तक में यूनानी उपनिवेश बसने के बाद से कुछ यवन (यूनानी) बस्तियाँ भी उस सागर के तट पर रही हो सकती हैं। उत्तरी तिब्बत की किसी किरात जाति का भी उस सुदूर जंगली प्रदेश से सम्बन्ध रहा हो सकता है, और बर्बर में भी किसी वैसी ही जंगली जाति का अभिप्राय है, अथवा ये दोनों नाम फालतू जोड़ दिये गए हैं। ऊँटों पर खजाना लाद कर लाने की बात वर्णन का सच्चा बना देती है।

---

[1] भारतभूमि पृ० २१२, रूपरेखा पृ० १०६८।

[2] रूपरेखा पृ० ४०९।

गोमंत पर्वत

रावबहादुर वासुदेव अनन्तप्रभु सामर्देकर, नासिक

[हरिवंश मे वर्णित है कि, दक्षिणापथ में गोमन्त पर्वत पर श्रीकृष्ण और जरासंध में एक भयानक चक्र-मुशल युद्ध हुआ था। मराठी की एक पत्रिका मे प्रकाशित एक लेख में इस पर्वत की शिनाख्त गोआ प्रदेश के एक पर्वत से करने का यत्न किया गया है। परंतु श्री० पा० वा० काणे ने उस प्रयत्न की पूरी निरर्थकता दिखलाई है और उस पर्वत को उत्तर कनाडा में सुप्रसिद्ध गेरसप्पा प्रपात के निकट कहीं बताया है जो कि ठीक है। उस का ठीक स्थान निश्चित करने का प्रयत्न हम कर सकते हैं।

हरिवंश मे श्रीकृष्ण का दक्षिणापथ मे गोमंत पर्वत तक का रास्ता इस प्रकार बताया गया है। १. वेणानदी, २. करवीरपुर (आधुनिक कोल्हापुर), ३. यज्ञगिरि, ४. खट्वांग नदी, ५ क्रौंचपुर, ६. अनन्तह्रद तीर्थ और ७ गोमंत पर्वत।

इस वर्णन की पूरी जॉच करने से इतना स्पष्ट है कि 'गोमंत' अनन्तह्रद तीर्थ के नीचे परंतु वनवास्य देश की सीमा में, है। हरिवंशकार के अनुसार वनवास्य देश की सीमा चाहे कुछ भी रही हो अब उस से उत्तरी कनाडा जिले की पूर्वी सीमा पर, सिर्सी कस्बे से ३० मील आग्नेय दिशा मे स्थित मैसूर राज्यान्तर्गत वनवासी गॉव का बोध होता है। इसी वनवासी गॉव के दक्खिन हरिवंश में गोमंत पर्वत है, जो कि वस्तुतः सह्याद्रि की एक चोटी है। विजयनगर के राजा हरिहर के कनिष्ठ भाई मारप के १३४७ ई० के एक ताम्रपत्र में इस पहाड का ठीक इसी नाम से उल्लेख है।

उस ताम्रपत्र के सम्बद्ध अंश का अनुवाद इस प्रकार है·—'मारप ने कदम्ब वंश के सरदार कलसन से पश्चिम का एक प्रदेश जीत कर गोमंत पर्वत पर स्थित सुंदर चंद्रगुप्ति पर निवास किया, और प्रजा की शांतिपूर्वक सुरक्षा की।' ''गोमंत पर्वत, जिस का कि दूसरा नाम चंद्रगुप्ति है, वनवासी-बारह-हजार-राज्य की राजधानी तथा कुंतल देश का आभूषण '' '।'

हरिवंश ने इस देश के पशु-पक्षियो और वृक्ष-वनस्पतियो, जलप्रपातों, हाथियो, चन्दन-वनो, मरिच और लवंग-लताओं आदि का जो वर्णन किया है, वह इस प्रदेश पर अब भी पूरी तरह घटता है।]

आपल्या विभूतिमत्वानें भारतवर्षांतील कोटयवधि हिंदु स्त्री पुरुषांच्या अंतःकरणांत आज हजारों वर्षें ठाण देऊन वसलेल्या भगवान् श्रीकृष्णाच्या चरित्रांत, त्यांनी दक्षिणभारतांतील गोमन्त नामक एका पर्वतावर जरासंधाशी युद्ध केल्याचा एक प्रसंग हरिवंशांत वर्णिलेला आहे. परंतु हा गोमन्त पर्वत कुठे आहे ते आजच्या भौगोलिक परिस्थितीस अनुलक्षून सांगण्याचे आजवर कोणी मनावर घेतले नव्हते; त्याचा फायदा घेऊन, गोवे नांवाच्या पोर्तुगीज अमलाखालील प्रांतांतल्या एका 'शणैगोयबाब' नामधारी गृहस्थाने मुंबईतील 'विविधज्ञानविस्तार' मासिकांत १९३१ साली एक लेख लिहून, 'गोवे या अपभ्रष्ट नांवाचे मूळचे रूप गोमन्त असे होते, त्या प्रांताचेच नांव त्यांतल्या एका पर्वताला होते' इत्यादि मन मानेल तसली हास्यास्पद विधानें करून, परमपूज्य भगवान् श्रीकृष्णाला गोव्यासारख्या ठिकाणी आणून सोडलें. त्यावर मुंबईतील प्रोफेसर पांडुरंग वामन काणे, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० या इतिहास संशोधक विद्वान् गृहस्थाने महाराष्ट्र-साहित्य-पत्रिका नांवाच्या नियतकालिकांत, गोयबाबच्या जरूर त्या सर्व चुका दाखवून, हा पर्वत उत्तर कनाडा

जिल्ह्यातल्या सुप्रसिद्ध गेरसप्पा धबधब्याच्या जवळपास असला पाहिजे असें सिद्ध केलें, परंतु नक्की जागा दाखविली नाहीं ती दाखविण्याचें या लेखांत योजिलें आहे. तत्पूर्वी 'गोंयकार' यांच्या म्हणण्याचा किंचित् परामर्श घेणें अवश्य आहे.

गोव्याचें 'गोमंत' किंवा 'गोमंतक' हें प्राचीन नांव म्हणून मानण्याचा त्यांचा प्रयत्न व्यर्थ असून, हें नांव गोंय थांव सारख्या काहीं जणांनीं आपुल्या त्या भूमीला व परंपरेनें आपणाला मोठेपणा मिळवून देण्याच्या हेतूनें, गेल्या शंभर वर्षांच्या आंत, नवीन बनविलेलें आहे. गोवें यांचें नांव गोवा किंवा गोवें असेंच असल्याचें अनेक पुराव्यांवरून सिद्ध आहे आणि गोव्यांतील ज्या डोंगराला अगर पर्वताला 'गोमन्त' असें नांव ते देऊं पाहतात, त्याचें तर नांव 'व ल ग डों ग र' असें आहे. महाराष्ट्र सांवत्सरिक १९३२, पृ० ११४. शिवाय गोमन्त याचा गोवें असा अपभ्रंश कसा होतो, हें एक व्याकरणशास्त्रांतलें नवीनच कोडें आहे. असो, आतां हरिवंशांतील विष्णुपर्व अ० ३७ ते ४० यांतील श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाची माहिती देऊन, त्यांतील भूगोलविषयक वर्णनाची छाननी करूं.

श्रीकृष्णाचा दक्षिणापथांतील प्रवास

जरासंध १८ व्या वेळीं मथुरेवर चालून येत असल्याचें वर्तमान समजताच, त्याच्या भयानें यादवकुल यादव एकत्र जमून त्याच्या प्रतिरोधाचा विचार करूं लागले. तेव्हां विकद्रु नांवाच्या एका राजनीतिनिपुण व तेजस्वी यादवानें श्रीकृष्णाला उद्देशून भाषण केलें कीं, "या यदुकुलाची उत्पत्ति कशी झाली हें तुला मीं सांगतों. नंतर पुढें काय करावयाचें तें सांगतों. माझें बोलणें तुला युक्त वाटेल तरच मीं सांगेन त्याप्रमाणें तूं वाग. सर्वज्ञ व्यास ऋषींकडून जशी हकीगत मला कळली तशीच मीं सांगतों. मनूच्या वंशांत हर्यश्व नांवाचा पराक्रमी राजा होता. त्याची मधुमति नांवाची प्रिय भार्या ही मधु नामक दैत्याची मुलगी होती. एके दिवशीं हर्यश्वाला त्याच्या ज्येष्ठ भ्रात्यानें राज्यांतून हाकून दिलें. तेव्हां पत्नीच्या आग्रहावरून हर्यश्व आपल्या सासऱ्याकडे गेला. त्यानें आपलें राज्य हर्यश्वाला अर्पण केलें. त्या राष्ट्राचें नांव आ न र्त. त्याला यदु नांवाचा एक पुत्र झाला. पित्याच्या निधनानंतर तो आनर्तदेशाचा अधिपति बनला. त्याला धूम्रवर्ण सर्प (नाग) राजानें, आपल्या स र्प पु र नांवाच्या राज्यांत नेऊन आपल्या अविवाहित पांच कन्या अर्पण केल्या. त्यांपासून त्याला (१) मुचुकुंद (२) पद्मवर्ण (३) माधव (४) सारस आणि (५) हरित असे पुत्र झाले. ते पराक्रमी व कुलदीपक होते. ते वयांत आल्यावर, पित्याच्या आज्ञेप्रमाणें मुचुकुंदानें नर्मदातीरावर 'मा हि ष्म ति' नांवाची आपली राजधानी स्थापिली. पद्मवर्णानें सह्याद्रीच्या पठारावर, वेणानदीच्या कांठीं आपली राजधानी स्थापिली. त्या नगराचें नांव क र वी र. व देशाचें नांव प द्मा व त.[1] तो देश साधारणपणें लहान होता.[1] सारसानें 'क्रौं च पु र'[2] नांवाचें मोठें रमणीय असें नगर वसविलें. तेथील मृत्तिका[2] ताम्रवर्णाची होती, व ह्या नगरीच्या सभोंवारचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'व न वा सी'[2] या नांवानें प्रसिद्ध आहे. हरितानें समुद्रांतील एक बेट आपलें राज्य केलें. त्या द्वीपांत असंख्य रत्नें भरलेलीं असून तेथील स्त्रिया सुंदर होत्या. त्या राज्यांत मद्गुर नांवाचे धीवर होते.[3] इत्यादि.

---

[1]पद्मवर्णोऽपि राजर्षिः सह्यपृष्ठे पुरोत्तमम् ॥ चकार वेणा वेणायास्तीरे तरुलताकुलम् ॥२४॥
विषयस्याल्पतां ज्ञात्वा संपूर्णं राष्ट्रमेव च ॥ निवेशयामास नृप स्वप्रमाणपुरोत्तमम् ॥२५॥
[2]सारसेनापि विहितं रम्यं क्रौंचपुरं महत् ॥ चंपकाशोकबहुलं विपुलं ताम्रमृत्तिकम् ॥२७॥
वनवासीति विख्यातः स्फीतो जनपदो महान् ॥ पुरस्यास्य तु श्रीमान्द्रुमैः सार्वर्तु कैर्वृतः ॥२८॥
[3]हरितोऽपि समुद्रस्य द्वीपं समभिपालयत् ॥ रत्नसंचयसंपूर्णं नारीजनमनोहरम् ॥२९॥
तस्यदाशाजनाः सर्वे मद्गुरा नाम विश्रुताः ॥ ये हरन्ति सदा शंखान् समुद्रादद्य वारिणः ॥३०॥
हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ३८

"यदूच्या पश्चात् माधव आनर्त देशाचा राजा झाला. माधवाचा पुत्र सात्वत व सात्वताचा भीम. सात्वताचे व भीमाचे आपण (यादव) वंशज असल्यामुळें, सात्वत व भैम या नांवांनीं आपण सर्वांस जाणतात. भीम राजा आनर्त देशावर राज्यकरीत असतां, अयोध्येचा राजा रामचंद्र याचा बंधु शत्रुघ्न याने लवणाचा वध करून मधुवनाचा उच्छेद केला, आणि त्याठिकाणी आपुल्या मथुरानगरीची स्थापना केली. राम लक्ष्मणादि बंधूंचें अवतारकृत्य समाप्त झाल्यावर, भीमराजा तेथे राज्य करूं लागला. भीमाचा पुत्र अंधक व अंधकाचा रैवत. रैवत पुत्र जो ऋक्ष तोच विश्वगर्भ. त्याचे वसु, बभ्रु, सुषेण वसभाक्ष हे चार पुत्र. वसूने कुंतिदेशांत राज्य केलें. त्याला वसुदेव नांवाचा पुत्र व कुन्ति (ही पुढें पण्डूची राणी झाली) आणि कांतिमति (चेदिराज दमघोषाची राणी) ह्या दोन कन्या झाल्या. अशा रीतीनें यादव वंश प्रसृत झाला. जरासंध हा सर्व विद्यमान राजांत बलवान आहे. आणि आपली सामग्री अगदीं अल्प आहे. आपल्या नगरीला त्याने वेढा दिला तर, एक दिवसमुद्धां तो सहन करण्याचें त्राण आपणांत उरलेलें नाहीं".

विकद्रूचें हे निवेदन ऐकून, श्रीकृष्ण म्हणाला, "मी समर्थ आहे तथापि सर्वां तुमच्या म्हणण्याप्रमाणें वागतों. मी दुर्बलाप्रमाणे बलरामासहवर्तमान येथून निघून सह्याद्रीने युक्त असलेल्या अक्षय व शोभिवंत दक्षिणापथांत प्रवेश करितों[1]. त्या प्रदेशांत गेल्यावर, करवीरपुर आणि क्रौंचपूर या नगरांचे व 'गोमन्त' नामक श्रेष्ठ पर्वताचें दर्शन करूं. आम्हीं मथुरेतून निघून गेलों असें कळतांच, जयानें उन्मत्त झालेला जरासंध आमचा पाठलाग करील."

पुढे श्रीकृष्ण आणि बलराम, यदुवंशीयांनीं अलंकृत केलेल्या करवीर नगरास आले. तेथे त्यांनीं वेणानदीच्या तीरावर अतिविस्तृत अशा न्यग्रोध[2] वृक्षाखालीं, तेजःपुंज दिसणारा, अपरिश्रान्त व अव्यय असा भार्गवराम बसलेला पाहिला. त्या ऋषिशार्दूलाला मधुर व नम्र शब्दांनीं श्रीकृष्णम्हणाला, "भार्गवा, आपण एक शीघ्रगामी बाण मारुन समुद्र मागे हटविला, आणि अपरान्तामध्ये (उत्तरकोकणांत) ५०० धनुष्यें लांब व ५०० बाण रुंद येवढें 'शूर्पारक'[3] नांवाचें क्षेत्र वसविलें[3] हे विप्रा, तुला एक गोष्ट विचारावयाची आहे ती ऐकून आम्हांला युक्ति सांग." त्यावर परशुरामानें उत्तर दिलें कीं, "हे सर्वशक्तिमान् कृष्णा, तुला मसलत सांगण्यासाठीच, शिष्य बरोबर घेतल्याशिवाय, अपरान्तांतून मीं एकटाच येथें आलों आहे.[4] हे करवीरपुर व भोंवतालचे राष्ट्र तुझ्याच पूर्वजांनी निर्माण केलें आहे. येथें हल्लीं शृगाल वासुदेव नांवाचा फार क्रूर असा राजा आहे, म्हणून ह्या नगरींत तुम्ही राहूं नका. तुम्ही कोणत्या ठिकाणी राहून उन्मत्त जरासंधाशीं युद्ध करावे ते मी सांगतो.

आपण आतांच्या आतां आपुल्या बाहुबलाने ही वे णा न दी तरून जाऊ. आणि या पद्मावत देशाच्या सीमेवर, य ज्ञ गि री म्हणून सह्याद्रीची एक शाखा आहे, त्या ठिकाणी आजची रात्र राहूं. ते स्थान मांसभक्षक चोरांचे निवास-

---

[1] ततः सह्याचल युत सहार्येणाहमक्षयम् ॥ आत्मद्वितीयः श्रीमंतं प्रवेक्ष्ये दक्षिणापथम् ॥९॥

[2] वटवृक्ष.

[3] त्वया सायक वेगेन क्षिप्तो भार्गव सागरः ॥ इषुपातेन नगरकृत शूर्पारकं त्वया ॥२८॥

धनुष्यच शतायामभिषुपंचशतोच्छ्रयम् ॥ सह्यस्यच निकुंजेषु स्फीतो जनपदो महान् ॥२९॥

अतिक्रम्योदधेर्वेलामपरांते निवेशितः ॥ त्वयातत्कार्तवीर्यस्य सहस्रभुजकाननम् ॥३०॥

धनुष्य आणि बाण यांचें प्रमाण असें: चार हात लांबीचें एक धनुष्य, दोन हात लांबीचा एक बाण.

[4] अपरांतादहं कृष्ण संप्रती हागतः प्रभो ॥ एक एव विनाशिष्यैर्युवयोर्मंत्र कारणात् ॥४४॥

हरिवंश अ० ३९.

स्थान[1] आहे. नंतर दुसरे दिवशीं आपण खट्वांगा नांवाची नदी ओलांडून जाऊं. ती नदी पर्वतापासून खालीं पडते. त्या नदीचा प्रवाह गंगे सारखा आहे. त्यांत कसोटीचे दगड मिळतात.[2] त्याठिकाणीं विश्रांति घेतल्यावर, पुढें जातां जातां आपणांस रमणीय असें क्रौंचपुर लागेल. त्या नगराचा, तुझ्याच वंशातील, महाकपि नांवाचा व वनवास्य देशाचा स्वामी आहे.[3] त्याची प्रजा वनचर लोकांची आहे. परंतु त्या राजालाहि न भेटतां, सूर्यास्त होईपर्यंत आनडुह नामक तीर्थावर जाऊन तेथेंच आपण विश्रांति[4] घेऊं. तेथून मार्गस्थ झाल्यावर, आपण सह्याद्रीच्या दरीतील प्रख्यात गोमन्त नामक गिरीवर गमन करूं. त्या पर्वताला अनेक शिखरें असून, त्यांतून एक फार उंच असें आहे. त्यावर संचार करून, तुम्हीं दुर्ग युद्धाच्या पद्धतीनें जरासंधाला निकालं.[5] शैल युद्धांत त्याचा निरुपाय होईल. तो संग्राम 'चक्रमुशल' या नांवानें प्रख्यात राहील. त्यावेळीं तुझें विष्णुरूप उत्तम प्रकारें व्यक्त होईल." या प्रमाणें पुढें ते गोमंत शिखरावर येऊन पोंचले. तो पर्वत अगरु वृक्ष (चंदनविशेष) तमाल, एला (वेलदोडा), मरीच, पिंपळी यांचीं वनें, गंळेचे (देवदार) वृक्ष, अशोक वृक्ष इत्यादि अनेक तरुलतांनीं दाट भरलेला आहे. त्यावर हत्तींचे कळप होते. सिंह व व्याघ्र यांच्या आरोळ्यांनीं तो दुमदुमून गेला होता. त्याच्या दरींतून जलधारा वाहत असल्यामुळें चंद्रकिरणांनीं तो फारच शोभिवंत दिसत होता. त्याच्या प्रपातांतून निघालेल्या नद्यांची शोभा अपूर्व होती. त्याचा पायथा विशाल असून शिखर उंच होतें.[1] इत्यादि आतां, या वर्णनापैकीं जरूर त्या गोष्टी विचारांत घेऊन गोमन्त पर्वताचा शोध करूं.

'गोमंत' शोध

विकद्रु आणि परशुराम यांच्या कथनांतून, हरिवंशांतील 'गोमंत' पर्वत म्हणजे सह्याद्रीच्या ओळींतील दर्‍यांनी व शिखरांनीं युक्त असलेला सह्याचाच विशिष्ट भाग आहे हें दिसून येईल. श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाचें शेवटचें

---

[1]तीर्त्वा वेणामिमां पुण्यां नदीमद्यैव बाहुभिः ॥ विषयान्ते निवासाय गिरिं गच्छाम दुर्गमम् ॥५५॥
रम्यं यक्षगिरिं नाम सह्यस्य प्रवहं गिरिम् ॥ निवासं मांसभक्षाणां चौराणां घोरकर्मणाम् ॥५६॥
[2]प्राप्य तत्र निशामेकां खट्वांगानाम निम्नगाम् ॥५७॥
मर्दन्त संतरिष्यामो निकषोपलभूषणाम् ॥ गंगा प्रपात प्रतिमा सह्यांच महतो गिरेः ॥५८॥
[3]रम्यं क्रौंचपुरं नाम गमिष्यामः पुरोत्तमम् ॥६०॥
यत्र जन्तन्त राजा कृष्ण धर्मरतः सदा ॥ महाकपिरितिख्यातो वनवास्य जनाधिपः ॥६१॥
[4]तमदृष्ट्वैव राजानं निवासाय गतेहनि ॥ तीर्थमनाडुह नाम तत्रस्थास्याम संगताः ॥६२॥
[5]ततश्रुता गमिष्यामः सह्यस्य विवरे गिरिम् ॥ गोमन्त मिति विख्यातं नैक शृंग विभूषितम् ॥६३॥
शृंगस्थौ तस्य शैलस्य गोमन्तस्य वनचरौ ॥ दुर्ग युद्धेन धावन्तौ जरासंधं विजेष्यथ ॥६८॥
हरिवंश अ० ३९

[1]लताचार विचित्रश्च नाना द्रुम विभूषितम् ॥ नानागुरु पिनद्धांग चित्र चित्रैर्मनोहरैः ॥५॥
हरि प्रपातादुत्तरैश्च शार्दूल पत्रैः ॥८॥ पनसागातकाम्रोघ्रैर्वेत्र स्यदन चंदनैः ॥११॥
तमाले लायनयुत मरीच क्षुप संकुलम् ॥ पिप्पली वल्लिकलिल चित्रमिगुदि पादपैः ॥१२॥
हिंतालैश्च तमालैश्च पुन्नागैश्चापि शोभितम् ॥१४॥
नाग यूथ समाकीर्ण मृग संघात शोभितम् ॥१७॥ सिंह शार्दूल सन्नद्ध सतत प्रतिनादितम् ॥१८॥
सान्द्र वारिधाराभिष्यन्द पादश्च शोभितम् ॥१९॥
मूलेन सुविशालेन शिरसा पुलितनघ ॥ तमासाद्य गोमन्तं रम्ये भूमिधरोत्तमम् ॥ हरिवंश अ० ४०

स्थळ म्हणजे हा 'गोमन्त पर्वत' होय. त्याचा शोध, कथेंत वर्णिलेली प्रादेशिक व इतर लक्षणें त्या त्या क्रमानें घेऊन त्यांवरून केला पाहिजे. यदूच्या आज्ञेने त्याच्या चार पुत्रांनी स्थापन केलेली लहान-मोठी चार राज्ये दक्षिण-भारतांत सांपडतात. त्यांपैकी दोन म्हणजे मुचुकुंदानें ऋक्षवान् पर्वताच्या आश्रयानें नर्मदातीरावर वसविलेली माहिष्मती नगरी, आणि हरितानें समुद्रांतील एका बेटावर वसविलेले राज्य. यांचा—निदान पहिल्याचा तरी—गोमंत पर्वताशी कांहींच संबंध येत नाही. बाकी राहिलेली दोन. पहिले सह्याद्रीच्या पठारावर, वेणानदीच्या तीरीं, पद्मावतानें वसविलेले 'प द्मा व त' नांवाचें लहानसें राज्य. त्याची राजधानी क र वी र. दुसरें, सारसानें वसविलेलें 'क्रौ च पु र' नगर. त्याच्या सभोंवारचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'व न वा सी' या नांवानें प्रसिद्ध होता. म्हणजे क्रौंचपूर हें वनवास्य देशाच्या राजधानीचें शहर झालें. पद्मावत आणि वनवास्य देश या दोन राज्यांत आलेली श्रीकृष्णाच्या प्रवासांतीलस्थळें व त्यासंबंधी हरिवंशात वर्णन केलेली माहिती यांचे संकलन येणे प्रमाणे:—

स्थळे	लक्षणें व विशेष माहिती.
१ वेणानदी.	बाहुबलाने तरून जाण्याइतकी लहान नदी.
२ करवीरपूर.	पद्मावताच्या राजधानीचे शहर.
३ वज्रगिरि.	सह्यपर्वताची एक शाखा. त्याच्या आसमंतात् मांसभक्षण करणारे चोर राहतात. हें स्थळ पद्मावत राज्याच्या सीमेवर आहे.
४ खट्वांगा नदी.	ही नदी पोहून जाण्यासारखी नव्हती. ती पर्वतावरून खाली पडत असल्यामुळें तिचा धबधबा बनला आहे. त्या नदींत कसोटीच्या उपयोगी पडणारे दगड मिळतात.
५ क्रौंचपूर.	वनवास्य देशाची राजधानी. येथील मृत्तिका ताम्रवर्णाची आणि प्रजा वनचर लोकांची आहे. (रानांतून राहणाऱ्या भिल्ल लोकांसारखे, किंवा राक्षस म्हटलेल्या लोकांसारखे, अगर मूळचे द्राविडी लोक).
६ आनडुहतीर्थ.	वनवास्य देशांतील एकाद्या नदीचे बनलेले तीर्थ.
७ गोमन्त पर्वत.	याचे वर्णन वर आलेच आहे.

आतां या स्थळांचा क्रमशः विचार करूं. वेणानदी अथवा करवीर या स्थळांपासून गोमन्त पर्वतापर्यंतच्या प्रवासाचें मापन अजमासे १७०।१८० मैल होते. हा सर्व प्रवास सह्याद्रीच्या ओळीतून झालेला असल्यामुळे उपर्युक्त कोष्टकांतील स्थळे त्या ओळीत अगर जवळपास असली पाहिजेत हे उघड आहे. प्राचीन काळच्या देशाची, पर्वतांची, अगर पर्वतांच्या पोटभागांचीं, नद्यांची व तीर्थ-क्षेत्रांची नावे आजमितीसहि त्याच रूपात अथवा किंचित् अपभ्रष्ट रूपांत तरी राहिली असतील असे नसल्यामुळे, अशी शेकडो स्थळे आहेत की, ज्यांची स्थाने निश्चित सांगणे मोठमोठ्या विद्वानांसहि अशक्य होते. तेव्हां वज्रगिरि, खट्वांगानदी, क्रौंचपूर, आनडुहतीर्थ ही स्थळे अमुकच आहेत असे निश्चित सांगणे चुकीचे होईल. आतां टप्प्यांच्या स्थळांचा तपास काढीत गोमन्त पर्वताकडे जाऊं.

१ वेणानदी:—ही नदी सातारा जिल्ह्यांत महाबळेश्वराच्या पहाडांतून उगम पावून साताऱ्याच्या पूर्वेस, माहुली, गांवाजवळ कृष्णानदीला मिळते. या ठिकाणाला 'संगम-माहुली' म्हणतात. ही कोल्हापूरचे उत्तरेस (सुमारें ३५ मैलांवर) असल्या बद्दल सर्वांची एक वाक्यता आहे

२ करवीरपूर:—म्हणजे सध्यांचे कोल्हापूर. या बद्दल वाद नाही.

३ यज्ञगिरि —प्रो काणे यानीं या संबधात कांहीं लिहिलेलें नाहीं रा० 'गोंयबाब' यांचे मतें "बेळगावच्या उत्तरेस २० मैलावर 'हुन्नूर' नावाचा डोंगर आहे तो त्याला पवित्रगिरि किंवा पैञगड अशीं सांप्रत नावें आहेत त्याच्या आसपास १०।१५ मैलाच्या भागात मास खाणारे व घोर कर्म करणारे 'बरड' नावाचे लोक राहतात" अशीं लक्षण सांगून त्याला बॉम्बे गॅझेटियर नि ७ पा ५७१ वे (बेळगाव) मधाल हुनूर डोंगराच्या माहितीचा आधार दिला आहे पण त्याच्या स्थल निश्चितीला तो उपयोगी पडेल असें वाटत नाहीं कारण 'हुन्नर' हेंच त्याचें मूळ (कानडी) नाव, तेथील त्याच नावाच्या गावावरून पडलेलें आहे आणि 'पवित्रगड' हे हुन्नूर डोंगरावरील किल्ल्याला दिलेलें अडीच-तीनशें वर्षांच्या आतलें नाव आहे रा० 'गोंयबाब' यांनी 'ग ड' शब्दाच्या जागी 'गि रि' हा पदरचा शब्द ठेवून देऊन, गिरीला गिरि शब्द बेमालूमपणें जुळवून टाकला आहे। शिवछत्रपतीच्यावेळीं त्याचे नाव 'पवित्रगड' होतें, असें मॅंटडफ साहेबानें मराठ्यांच्या इतिहासात लिहिलें आहे (पृ० १३३) ह्याहुन्नूर डोंगराची उंची सुमारे २७०० फूट आहे हरिवंशांत यज्ञ गिरीला सह्याचा उपगिरि म्हटलें आहे 'उपगिरि' याचें टीकाकार नीलकंठ 'प्ररुह उपगिरिम्' असें स्पष्टीकरण करतो, व कोशकार याचा अर्थ 'डोंगरोगार' असा देतो त्यावरून सह्याद्रीपासून एकाद्या गावापर्यंत वाढत गेलेला त्याचा उंचवटा म्हणजे डोंगरा सारखा भाग हा यज्ञगिरि असावा, असा तर्क होतो या अनुरोधानें तपास करता असें समजतें कीं, कर वीरच्या दक्षिणेस सुमारें वीस मैलावर, बेळगाव जिल्ह्यातील चिकोडी तालुक्यात, 'सौंदलगे' या नावाचा एक गाव आहे त्याच्या अलीकडे दोन मैलावर एक डोंगर असून त्याला 'मलयाचाडोंगर' म्हणतात त्यावर यल्लम्माचें[1] एक जुनाट देऊळ आहे 'मलयाचा डोंगर' तोच हरिवंशांतील 'यज्ञगिरि' असे तिकडील माहितगार लोकाचे मत आहे या डोंगरापासून जवळच सवामैलावर 'वेदगगा' नांवाची एक नदी आहे खेडे गावा जवळचा हा डोंगर असल्यामुळें बेरडा सारखे रानात राहणारे लोक त्या ठिकाणीं राहणें शक्य आहे

खट्वांगानदी —'घटप्रभा' नावाची नदी बेळगाव जिल्ह्यात आहे ती गोकाकच्या वायव्येस १७५ फूट उंचीच्या डोंगरावरून खालीं उडी टाकते ह्या प्रपातामुळें नदीत सफेत व गुलाबी रंगाचे काचमणि व धाटोळे लहान लहान गोटे आढळतात ह्या लक्षणांवरून रा० 'गोंयबाब' यानीं खट्वांगा ह्मणजेच घटप्रभा असें नि संदिग्ध विधान केलें आहे हे त्याचें मत, अन्य साधनाच्या अभावीं, बहुताशीं मला मान्य करावें लागतें

स्कंदपुराणात पन्नास खडें असल्याचें एका पुस्तकात लिहिलेलें आठवत पन्नास खडाचीं ही वार्ता विश्वसनीय नाहींच, पण त्यात १५ खडानी युक्त अशी एक संहिता आहे, त्यात ख ट्वा गो ख ड, व र दा ख ड, तु ग भ द्रा ख ड असा खंडाचीं नावें मिळतात, तीं नद्याचीं द्योतक आहेत यात सशय नाहीं आणि साहचर्याच्या दृष्टीनें विचार केल्यास खट्वांगी हें नाव घटप्रभानदीचें असावें असें मानण्याकडे माझी प्रवृत्ति होते

या ठिकाणीं प्रो० काण याच्या कडून नकळत एक चूक झाली आहे ती सांगू त्यानीं क्रौंचपूर आणि वनवास्य देश हा प्रदेश कारवार जिल्ह्यातील शिरसी जवळ, व त्याच्यापलीकडे गोमन्तगिरि, ह लक्षणांना दाखविताना, "ह्या वर्णनाला जुळण्यासाठीं खट्वांगानदी व तिचा धबधबा म्हणजे गेरसप्पाचा धबधबा मानला पाहिजे, त्या धबधब्याच्या पलीकडे क्रौंचपूर व त्याचेहि पुढें गोमन्त" असें विधान केलें आहे मागें दिलेल्या फोटूतील नमान्यावरून, त्याच हे विधान चुकीचें आहे, हें सहज दिसून येईल गोमन्त पर्वत वनवासीच्या दक्षिणेस जवळपास असला पाहिजे, हो त्याची उपपत्ति

[1] जमदग्नीची स्त्री रेणुका, ती परशुरामाची माता, हिचें हे कानडी भाषेतील नाव आहे

सागण्यास अडचण म्हणून कसलीच पडत नाहीं या गृहस्थानें यज्ञगिरीच्या बाबतीत पवित्र गडाला पवित्र गिरि म्हणण्यात जी हातचलाखी केली, तशीच या ठिकाणींहि केली आहे। त्यानीं हळसीच्या उत्तरे कडचे 'न दी ग ड' म्हणून जे नांव सांगितलें, तें तसें नसून त्याचें 'न द ग ड' असेंच नाव प्रसिद्ध व सर्वतोमुखी आहे याला पुरावाच पाहिजे असल्यास बेळगांव गॅझेटिअर, पृ० ५९० वर दिलेली 'नदगड' ची माहिती पहावी त्यानीं आनडुह या शब्दार्थाला जमेल अस 'नदगड' गावाचें 'नंदीगड' हें नाव बेमालूम ठेवून देण्यात कौशल्य (?) दाखविलें खरें, पण पुढें त्याना तीर्थाचें अडचण पडताच 'नदीतीर्थ' ह्या नावाचें काल्पनिक तीर्थ मानावें लागून, त्याच्या स्थानासंदर्भहि कल्पनेवरच लटकावे लागलें म्हणून नावाचे मेळ घालण्याची त्याची ही सर्व लटपट निखालस खोटी ठरते 'गोंयकाव' ज्या क्रौंचपुरास हळसी म्हणून समजतात, त्या त्यांच्या क्रौंचपुराच्या दक्षिणस आनडुहतीर्थ असलें पाहिजे (भागोल स्थळाचे कोष्टक पहा) पण त्यांचे नदीगडा जवळपास कुठें तरी असलेलें काल्पनिक नदीतीर्थ हळसीच्या उत्तरेस येतें कारण नदगड हळसीच्या उत्तरेस ३।४ मैलांवर आहे लटपटीच्या लेखनात 'गोंयकार' यानीं ही मोठीच घोडचूक केली आहे

माझ्यामतें, 'आनडुह' याच्या अर्थावरून तें 'वृ ष भ ती र्थ' या नांवानेंहि परिचयाचें असण्याचा संभव आहे शिर्सी, बनवासी आणि म्हैसूरच्या प्रदेशातहि 'वृषभतीर्थ' या नावाची नद्यांच्या सान्निध्यात एक दोन तीर्थें आहेत असें तपासावरून समजतें त्यावरून बनवासीच्या जवळपास त्या नावाचें एखादें तीर्थ असेलहि नक्की माहितीच्या अभावी निश्चित विधान करण्याचें धाडस मला करवत नसलें, तरी हरिवंशातील आनडुहतीर्थ बनवासीच्या जवळपास पण दक्षिणस येतें, हळसीच्या जवळपास येऊं शकत नाहीं, हें खास

गोमन्तपर्वत —येथपर्यंत, सह्यखंडाच्या क्रमवार दिलेल्या माहितीवरून, गोमन्तपर्वताचा शोध आनडुह तीर्थाच्या खालीं पण बनवास्य देशातच लागला पाहिजे, हें स्पष्ट दिसून येईल या बाबींत प्रोफेसर काण यानीं त्याचे स्थानासंबंधी बसविलेली उपपत्ति निर्बाध असून ती मला पूर्णत मान्य आहे परंतु त्यानीं गोमंत पर्वताचें स्थान निश्चित सांगितलें नाहीं तें आता निश्चित करावयाचें आहे

गोमन्त निर्णय

हरिवंश लिहिणाराच्या समोर महाकपीच्या बनवास्य देशाचा विस्तार कितीहि मोठा असला तरी, सध्याचें बनवासी हें उत्तर-कानडा जिल्ह्याच्या पूर्व सरहद्दीवर व शिर्सीच्या आग्नेयीला ३० मैलांवर—म्हैसूर संस्थानात—सुमारें दोन हजार लोक संख्येचें एक गांव आहे त्याच्या खालीं सह्यगिरीचा विशिष्ट भाग म्हटलेला 'गोमन्त' पर्वत आहे त्याचा क्यवस्थित माहिती व्हावी म्हणून म्हैसूर प्रांतांतील एका ताम्रलिखित दान पत्रांतील आवश्यक तेवढा भाग खालीं उद्धृत करतों विजयनगरचा पहिला ह रि ह र रा य याचा कनिष्ठ बंधु मा र प यानें इ स १ ३ ४ ७ सालीं, आत्रेयगोत्रीय अठ्ठावीस ब्राह्मणाना वरदानदीच्या तीरावरील कान्तपुरी नांवाचा गाव अग्रहार करून दिला त्यांचें हें दानपत्र[1] आहे

> कल्यासनान मारप भूमिपाल संप्राप्य राज्यम् दिशि पश्चिमायाम् ।
> गोमन्तशैले वरचंद्रगुप्तौ स्थित्वापुरं सम्यग पालयत्प्रजा ॥

❧ ❧ ❧

[1] एपिग्राफिया कर्नाटिका व्हॉ ८, भा २ क्या पा १९०

कुंतल[1] देश मंडनायमान वनवासि द्वादश सहस्र सख्याक राज्य प्रधान राजधानी चंद्रगुप्तोऽपरनामधेय गोमन्त पर्वत द्वादश खर्वाट मध्यदेश विलासद् यडनाड[2] नगरखंडे कमठपुरान्तर्गत वरदानदी तीरस्थ कान्तपुरीम् प्रतिनाम वीरमारपपुरीम् ……

मारप राजाने (कदंबवंशीय) कल्लासन राजाला जिंकून पश्चिम दिशेला राज्य संपादन केलें, आणि गोमन्तशैल अथवा चंद्रगुप्ति येथे आपली राजधानी करून, तो सुखाने राज्य पालन करूं लागला. आपल्या राजधानीचा असा उल्लेख केल्यावर दानपत्राच्या शेवटच्या भागांत त्या दत्तगांवाला वीरमारपपुरी असें स्वतःचें नांव देऊन, त्याचें निश्चित स्थान सांगण्यासाठीं प्रदेशांचीं नांवे नोंदिली आहेत. त्यांत कुंतल देशाचें भूषण जे 'वनवासी १२ हजार राज्य,' त्याची मुख्य राजधानी चंद्रगुप्ति अथवा गोमन्त-पर्वत असल्याचे सांगितलें आहे. म्हणजे चंद्रगुप्ति[3] आणि गोमन्तपर्वत ही एकाच स्थळाचीं दोन नांवें होतात, आणि तशी तीं समजलींहि जातात. गोमन्तशैल हें पहिलें म्हणजे हरिवंश लेखन काला इतकें प्राचीन नांव असून चंद्रगुप्ति हें नांव त्या शैलाला मागाहून प्राप्त झालेलें दिसतें. आतां हरिवंशकाराने वर्णन केलेलीं लक्षणें या गोमंतास कशी लागू पडतात तें पाहू. शिर्सीपासून तो चंद्रगुप्तीपर्यंतच्या प्रवासांत येणारा सह्याद्रीचा भाग दक्षिणोत्तर मूळांतून वाढत वाढत उंच होत गेला आहे. त्या भागांत पुष्कळ शिखरें व अनेक दऱ्या आहेत. गोमन्त हें त्यांतलेंच एक शिखर आहे. त्या भागांतून कांहीं नद्या वाहत असतात व दऱ्यांतून धबधब्यांचे निनाद ऐकूं येतात. त्या पर्वतावर सिंह, व्याघ्र हीं हिंस्र जनावरें आणि हरणांचे कळप असलेले दिसून येतात. हस्तींच्या पैदासी बद्दल तर म्हैसूरचा प्रदेश सुप्रसिद्ध आहे, तसाच चंदनाच्या पैदासीबद्दलहि प्रसिद्ध आहे. तमाल, एला, मरिच, पिंपळी यांची पैदास त्या भागांत वैपुल्याने होते. हरिवंशांत वर्णन केलेले इतर सर्व वृक्ष व सुंदर वनराजी या संबधी मनाला आल्हाद देणारी वर्णनें अनेक प्रवाशांनी लिहून ठेविलेली आहेत. उलटपक्षी रा० 'गोयकार' च्या गोवे प्रांतांत अथवा कुवेशी डोंगराच्या रानांत त्यांपैकी कांही एक मिळणार नाही. तेथील जंगलांत आणि गांवांतून शिसा, साईल, खैर, बाभूळ, पातफणस, ओख, नारळ, सुपारी, काजु, फणस पपनस, पेरू, जांभूळ इत्यादि वनस्पति आहेत. (महाराष्ट्र-सांवत्सरिक). अर्थात् श्रीकृष्ण-जरासंध युद्धाने प्रसिद्ध असलेला 'हरिवंशांतील गोमन्त पर्वत', हा वर सांगितलेला म्हैसूर प्रांतांतील होय, हे निर्विवाद सिद्ध होते.

---

[1] दक्षिणापथांतील एका प्राचीन देशाचें नांव. भारत प्रसिद्ध चंद्रहास कुंतल देशाचा राजा होता.

[2] 'इडाइनाडु' या मूळतामील शब्दाचें 'यडनाड' हे कानडी भाषेंतील अपभ्रष्ट रूप आहे, असें समजतें. त्याचा अर्थ त्याच्या मधस्थ प्रदेश असा होतो नगर अथवा नागरखड हा प्रदेश म्हैसूर संस्थानापैकीं शिकारपूर तालुका असा समजला जातो.

[3] (चन्द्रगुप्ति) समुद्र सपाटी पासून २८३६ फूट उंचीचें हे पर्वत शिखर असून त्यावर रेणुकादेवी सतीगेल्यामुळें तिथें देवालय आहे

९

भाषातत्त्व

Dravidic names for the parts of the human body

प्रो० एल० वि० रामस्वामी ऐय्यर, एम० ए०, बी० एल०, एनाकुलम्

[प्रत्येक भाषा में संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, रिश्तों के सूचक नाम, शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के लिए प्रयुक्त नाम आदि कुछ इस प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जिन में परिवर्तन बहुत कठिनाई से होता है। इस प्रकार के शब्दों के अध्ययन से भाषाओं के वर्गीकरण में विशेष सहायता मिलती है। प्रस्तुत निबंध में द्राविड भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के नामों का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये नाम निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) सिर, आँख, कान, नाक, मुँह, दाँत, हाथ तथा पैर के सूचक नाम प्रायः समस्त द्राविड भाषाओं में समान हैं, (२) गाल, ठुड्डी, जबड़ा, जीभ, होंठ, अँगुली, नाखून तथा खाल के सूचक नामों में दक्षिण तथा मध्यवर्ती द्राविड भाषाओं में विशेष भेद नहीं है, (३) बाल, गाल, गरदन, पसीना, मांस तथा हड्डी के सूचक नाम दक्षिणी द्राविड भाषाओं में पृथक् हैं, (४) भूख तथा हृदय के सूचक नाम दक्षिणी तथा उत्तरी द्राविड भाषाओं में मिलते जुलते हैं, किन्तु मध्यवर्ती भाषाओं में भिन्न हैं, (५) बाल, गाल, जीभ, होंठ गरदन, नाखून, खाल तथा पसीने के सूचक मूल नामों के स्थान पर उत्तरी द्राविड भाषाओं में विदेशी शब्द प्रचलित हो गये हैं, (६) चोटी, गाल पेट, त्वचा तथा हृदय के सूचक नाम प्रायः आर्यावर्ती भाषाओं से दक्षिणी द्राविड भाषाओं में पहुँचे हैं, (७) बाल (कुन्तल) पेट तथा भूख (प्से) के द्राविड रूपों से यह अनुमान होता है कि ये आर्यावर्ती भाषाओं में कदाचित् द्राविड भाषाओं से पहुँचे हैं, (८) द्राविड शब्दों के रहते हुए भी कुछ आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में बाद आर्यावर्ती भाषाओं के शब्द भी साथ साथ प्रचलित हो गये हैं, (९) बाल, गाल, होंठ तथा रक्त के नामों में आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में कुछ विभिन्नता पाई जाती है।]

In every language certain categories of words are in normal circumstances, less open than others to replacement through internal processes of change or to displacement by foreign loans Numerals pronouns names of relatives, names for the parts of the human body, expressions denoting elementary ideas like the primary colours and the activities of the senses —these are the most prominent of such categories These therefore might be described as forming part of the essential heritage of the vocabulary of a language family and except under the influence of extraordinary factors making for change, these categories might be expected to persist largely in the several units of the language-family concerned —In Indo-European for instance, a common base underlies widely distributed representatives like Greek *pous* (foot) Latin *pes*, Gothic *fótus* Lithuanian *Pedá* (foot track) and Indo-âryan *Pada* but words for hand appear

in the lists are not the original IA words, but their modifications as they appear naturalized in different Dr dialects

The important Dravidian speeches are all considered here Though Kûvi is only a barnch of Kûi, I have included it in the table, as some forms of this dialect differ conspicuously from those of Kui The uncultivated minor' dialects of the Madras Presidency are mainly allied to one or other of the literary speeches, wherever unique forms are discoverable, they have been embodied in the course of my discussions of the severals groups

Nose		*mukku*	*mukku*	*mukku*	*mugu, mukku*	*mukku*	*mungeli*	*mungeli*	*mussôr massôr*	*mũi*	*mũs*	*lamus*
Cheek	i	*kannam*	*cennam*	*kannu*								
	ii	*cenni* (head)	*kenri cenni*	*kenne*	*cenni*	*kenne*						
	iii		*ceppi*	*cempa*	*cempe*	*keppe kebbu*						
	iv		*cellu*		*kekke cekkili, cekku*	*kekke* (neck)	[IA—*gada*]		[IA—*kolis*]	[IA—*galle*]		[IA—*kallak*]
	v	*taradai talai*	*tada* (dewlap)	*darade davude*	*daroda davuda*	*davude*		*lapedi* (chin)				
	vi	*kadupu*		*kadampu kadupu*								
Mouth	i	*vāy*	*vaya*	*bāy*	*vaya*	*bāy*			*vay*	*bas*		*ba*
	ii				[*noru*]		[*suda* (mouth beak)]		[*tōdi*]	[IA—*thotra* (configuration of mouth)]	[IA—*torotb*]	[IA—*sunt* (beak bill)]
Tooth		*pal*	*pal*	*pal*	*pallu*	*paru*	*pallu*	*pallu*	*pal*	*pal*	*pal*	*pal*
Tongue	i and	*nākku*	*nāvu nakku*	*nālige*	*naluka nalika*	*nālaya*	cf *nak*— (to lick)	cf *nak*— (to lick)	cf *nak*— (to lick)			
	ii						[*vandori*]	[*vanjori*]	[*vañjer*]	[? *latra*]		
Lip	i	*tudi*	*cuvadu*	*tuti*		*dudi*	*tuda tônda*	luda				[IA—*sunt* (beak bill)]
	ii	*udadu*		*odalu*								
	iii	[*edala*]			[*vatera môvi pedavi*]	[IA—*oth*]			[? *peddel, silvi*]			

Hunger	i	*payi* *pais*	*payi*	*pasi*	*pasiu* (fasting)				[*Karu*]	*pac*—(to be hungry) [*Ara*]		?*bin*
	ii	[*pattini*]	[*tilappu*] [*pattini* *pasini*]		[IA—*akali*]	[*badaiu*]	[IA—*saki*]	[IA—*baks*]				
Hand		*kay*	*kav*	*kay*	*ceyya* *ceya* *ceya* *kay* *gey*	*kay*	*kaju*	*kayu*	*kay*	*vekka*	[kol *te*]	[Afgh *du*]
	ii			[*tôl* *ratte* (arm)]		[*tôl*]						[*ôr* (*b*) *ôr*]
Finger		*tiral*	*tiral*	*biral* *leralu*	*tr'lu*	*biralu*	*vanju*	*vansu*	*virinj* *varanj*			
Nail		*ugir* [IA—*nagam*]	*ugir* [IA—*nakham*]	*ugur*	*goru*	*ugur*	*gôru*	*gôtu*				
Leg		*kal*	*kal*	*kal*	*kal*	*kâru*	*kalu*, *kalu*	*kadda*	*kal*	*xed*	*xed*	[Foreign *nat*]
Skin		*tol*	*tôl* *togal*	*Togal* *toial* *tôl* *sôl* (slough of snake)	*tol*	*tugal*, *tôl* *coli*		*tolu*	*tôl*			? *sil*
	ii									[IA—*capta*]		
Perspiration	i	*vijar* *ver*	*vesarpu*	*Lesar*		*begaru* *bevaru* *bemaru*						
	ii				[*cemata*]		[IA—*kara*]	[IA—*gama*]	[IA—*kaljum*]	[? *crcra*]	[? *ercra*]	
Flesh	i	*un*					*uju*	*unga* [Pl]				*sû*
	ii	*iraicci*	*iracci*		*eracci*	*erecci*						
	iii	*tû*									[? ahrâ]	[? *abra*]
	iv	[IA—*mâmsam*]	[IA—*mamsam*]	[*lad*, *bikku*] [IA—*kandi*]	[*nanjudu*] [IA—*kanda*]				[IA—*khandum*			

III

(1) 'HEAD'

(i) Forms on a *tal* basis are widely represented The inter relationship of the different forms of this group is clear Tam *-ai*, Mal *-a*, Kann *-e* Tulu *-a* are related

Tulu *r*- corresponding to *l*- is a Tulu feature in instances like *Kāru* (leg) *paru* (tooth) The operation of Aphœresis (consequent on Accent shift) has produced the Kui Kuvi forms with initial consonant groups and lengthened radical vowels

Malto *talĕ* meaning 'hair structurally belongs to this series cf, for the meaning, Tam *talai*, Tel *tala* and Tulu *tarœ* all of which mean 'head and 'hair of the head

(ii) *mandai* etc, designate 'skull' in Toda, the dialect of the dwindling tribe in the Nilgiris, *mat* (related to *mande* etc,) denotes 'head cf Skt *mastaka* (Modern Bengali *mathā* etc)

(iii) Brahui *Kulum*, according to Sir Denys Bray, means 'head' 'point of a needle or spear', 'bank of river' 'on top of' Sir Denys Bray suggests south Dr *Kodu* (top, summit of hill etc) as being possibly related Semantically there is perfect agreement, as *Kōḍu* in the south means not only 'top' but also bank of river' [old Tam and Tel] but it may I think, be difficult for us to prove the regular correspondence of Br *ḍ* to southern *-ḍ*

(2) 'HAIR'

(i) Tam *mayir* is 'hair' while literary *naviram* is 'hair of a male Mal *māyir* has taken on a pejorative signification in the modern varieties of speech in that it means 'hair of the privities', certain contexts in Tam usage also suggest this Mal commonly uses IA *roman* to denote 'hair' Kann *navir* (hair) is found in old texts while the word in common currency today is *Kodalu* (for which, see below)

These forms *mayir* (and *navir*) are generally supposed to be ancient south Dr adaptations of MIA (Prakrit) *mhaccu masuru* derived from OIA *śmaśru* (beard) but Gundert maintained that *mayir* was Dravidian Is *śmaśru* native in IA?

(ii) Tam *Kuruḷ* (curly hair)
Mal *Kuruḷ*, *Kuruḷ* (curl, hair)
Kann *Kuruḷ* (curl)
Tel *Kurulu* (curly locks of hair) cf *mun guruḷu* (locks of hair on the forehead)
Tulu *Kuḷal* (hair)

The underlying idea seems to be that of curling' The inter related ideas of 'curling 'bending' shrinking 'contracting are expressed by Dr words like [Tam] *Kuruḷ surul-*, *suṟung- Kurug* Verbs like Tam *Kuṟul* (to curl), Tulu *Kurunt* (to be coiled, contracted) do exist with a post dental *ṟ* in radical positions One may also cite here the Tam word *Kuṟul ai* (young ones of certain animals) occurring in very old texts like Tolkappiyam While it is the post dental *ṟ* that appears in *Kuṟul Kuṟulai* and in *suṟul* (along with its derivatives

in Tam and cognates in other dialects), we find a cerebral *-ṛ-* in Tam. *Kuṛug-* etc., and its derivatives with the significations of 'shrinking,' 'contracting', etc. Despite this difference in the nature of the *r*-sounds in these words, I consider the two sets *i.e.*, those with post-dental *-r-* and the others with cacuminal *-ṛ-*) to be related.

Kittel's suggestion (*Kannada Dict.*, p. xviii) that Skt. *Kuṇḍla, Kurala* (curl, lock of hair, especially on the forehead) was adopted from Dravidian, is therefore quite likely.

(*iii*) This group reminds us of Skt. *Kuntala* (hair), and Kittel has suggested (*op. cit.*, p. xviii) a Dr. origin for this Skt. word. The basic idea of the word is preserved in Tamil: 'long, flowing tresses of hair', structurally, therefore, the base probably was *Kûr-* (pointed, tapering, abundant) which is represented in all the south Dr. speeches.—Prof. Jules Bloch (*Some Problems of IA Philology*, Forlong Lectures, 1929, p. 741) is of opinion that Kittel may be right in attributing to Skt. *Kuntala* a Dravidic origin. From the Dravidic standpoint, one may say that a formation like *Kûr-d-al* (what is pointed, etc.) can produce *Kûr(n)dal* < *Kûndal*.

Brâhûi *kunnal* structurally looks like a relative of this group, but the meaning of the Br. word is 'curl of hair' which the words in (*ii*) above denote.

(*iv*) Here we have another set of words with intimate IA connections:

Tam. *suṭṭi* (tuft of hair, white curl on the forehead ornament on the forehead)
Kann. *juṭṭu* (tuft of hair left after tonsure)
Kann. *cuṭṭi* (frontlet)
Tel. *juṭṭu* (tuft of hair, the *śikha*)
Tuḷu *juṭṭu* (tuft of hair, hair)
Gôndi *cuṭṭî* (hair of humans and animals)
Kurukh *cuṭṭi* (hair)
,, *jûrô* (young men's *chignon*, tuft)
Malto *cundo* (tuft of hair)
Brâhûi *cund* (tuft of hair).

One may at once say that the words in Gôndi, Kurukh, Malto and Brâhûi are probably directly connected with different IA dialects, all these Dr. languages have borrowed words plentifully from IA. Gôndi from Hindi and Marathi, Kurukh from Hindi, Malto from Hindi and Bengali, and Brâhûi from Baloci. Hindi *cuṭiyâ* (hair-tuft), *jûḍa* (top-knot), *coṭi* (top-knot, lock of hair on the head), Oriya *cuṭṭi* (bunch of hair on the head), Baloci *cunḍ* (hair-tuft) are some of the instances of NIA forms ultimately derivable from OIA *cûḍâ*. We need only point out here that Gôndi and Kurukh appear to have popularised the form *cuṭṭî* with the generalised meaning 'hair,' while Malto and Brâhûi *cund* retain the meaning 'top-knot'.

The forms of the South Dr. speeches are also commonly explained as being adaptations of OIA *cûḍâ*, or (to be more precise) of MIA representatives of OIA *cûḍâ*.

Now, Indo-âryanists are inclined to think that Skt. *cûḍā* itself may have been an adaptation from Dr. forms like Tam. *śûḍ-* (to wear something on the head) and Kann. *śûḍ-* Prof.

Bloch (op cit, p 741) observes "The Aryans adopted probably some of the Dravidians' ways of dressing the hair, Kittel is, I think, right in quoting *Kuntala* and *cuḍā* as of Dr origin" [1]

(*v*) The other words are different in different groups

Tam *kûlai* (females' hair) is probably from *kulai*—(to be soft tender)

Tam *šuriyal* (curly hair, lock of hair, woman's hair) is a derivative of Tam *šuri*—(to be curled, rolled)

Tam *neḍumai* (length long hair) is of course from *nīḍ neḍ* (long) represented in all south Dr speeches

Kann *pinilu* (braid of hair) with which probably Tam *funnal* (braid of hair) is cognate, is connected with the base in Tam *pinai*—,kann *pene*—, Tel *pene*—, *pene*—, etc, signifying 'to intertwine

Tel *neri*, *nerulu* (tresses of hair) is from *nerai* (fold order, beauty)

Tel *ventruka*, *vendrika*, *venṭrka*, the common forms in Tel for 'hair,' go back to *vent*—(the *aupavibhakti* base of *vennu* 'rear' back') meaning 'at the back of' 'in company with

Kûvi *bûnu* (hair) is probably adapted from a word like Hindi *bâl* (hair)

NOTE It is noteworthy that, though representatives of the chief groups of words for hair are found in all or most south Dr speeches there is divergence in the forms for hair actually popularised in the colloquials of to day Tam *mayir* Mal *rômam* [IA] Kaan *kodal* (Gr) Tel *vendrukalu* Tuḷu *kojalu* (Gr) Forms other than these in each dialect are either purely literary now or only employed in the colloquials in special contexts

---

[1] This would make one reflect if the south Dr *juṭṭu šuṭṭi* may not (in some of their significations) have been originally native I shall make here a few observations in this connection from the Dravidist s standpoint leaving the question to be discussed further by Indo Aryanists —

(1) *juṭṭu šuṭṭi* may structurally and semantically be derived from native Dr *šuruḷ* (to curl roll)—

šuruḷ + noun forming *t* > *šuruṭṭu* (roll tuft) > *šuṭṭu* (with syncope as in Kannada Tel *cuṭṭu* cheroot roll of tobacco < *curuṭṭu* < *curuḷ* to roll)

Also cf Tam *šuruḷ* (curl of hair) and *šuruṭṭa-t talai* (curled hair)

(2) *šûḍ- cûḍ- sûd* in native Dr mean (in their oldest stages) to spread or curl round' 'to surround, 'to wear in a coil' to be twisted as a sheaf etc —cf also old Tam *šûl* (to surround encompass) and *šuḷi* (to become curved), *šuḷi* (curl of hair)

šûḍ- and *šul- šûḻ* in their earlier significations do imply curling' coiling' and semantically they seem to be allied to *šuruḷ-* A structural relationship is also possible but it cannot be absolutely established

(3) Some of the meanings which the south Dr forms show, may have to be recognized as having been borrowed from IA 'gold crest 'gold ornament, bracelet for *šuṭṭi juṭṭu*

Similarly the meanings 'head, 'top which the following Tam words show are very probably IA *šuḍam šûḍai šûḷiyam*

The intricate nature of the Aryo Dravidian linguistic connexions is nowhere better illustrated than in this instance

(3) 'Eye'

(i) The forms are pan-Dravidian the spirant r of kurukh. Malto and Br. being normal in instances like these.

(ii) A few Tam words signifying 'sight' are the following·

Tam *nâttam* from *nad*—(to covet, follow with the eye)
nôkkam from *nôkk*—(to see observe)
pârvai „ *pâr*—(„)
vili „ *vili*—(to open eyes)

These are all derivatives used in this *kunstsprache* Each of these words has a special connotation of its own, mainly depending upon its original source-meaning

(4) 'Ear'

(i) A very widely represented set of words is this group.

(ii) Tam *kādu* is used in the modern dialect for 'ear'; *śevi* is the older word favoured in literary usage In the other south Dr speeches, the forms of Gr (1) are in common currency in the colloquial today. *kādu*, however, is found only in Tam and Mal. (Malto *xed* (*ve*) ?]. While *kādu* is the common colloquial form in Tam, Mal. uses *kādu* only in the sense of 'ear-lobes' and not 'the organ of hearing'; for instance 'rings on the ear' are described in certain varieties of the mass colloquial as *kādile môdiram* while 'ear-ache' which affects the organ of hearing is *cevi-k-kuttu*.

Tam. *kannam* (ear) from Skt. *karna* is found only in old literature

Tel *vînu* seems also to be a literary word derived from Tel. *vinu*—(to hear)

Kûi *krîu*, *kriu* and Kûvi *kriyu* are unique in that they show a strange *r*.

(5) 'Nose'

This is another pan-Dr. group[1] Gôṇdi *mussôr* may possibly be a combination of *mus* (nose) and *tôr* (mouth). Br. *bā-mus* similarly is compounded probably of *bā* (mouth) and *mus* (nose) Sir Denys Bray suggests however the meaning 'in front of' for *mus* (*t*) and explains *bāmus* as being 'what is in front of the mouth,' *i e*, the nose.

(6) 'Cheek

It is very likely that the words for 'cheek' in central Indian Dr and in the north Dr. dialects are borrowings from forms connected with IA *galla* (cheek) The south Dr. words also are characterized by strange structural variations, in some cases probably owing to contamination and in others owing to their being possible loan-words

(i) This group means both 'cheek' and 'ear'. IA *karna* has been suggested as being at the back of this group.—The palatalisation of *k*-to *c*-in Mal is of course purely a Dr. feature.

[1] Parallel words denoting 'nose' occur in a number of "Austric' languages Prof Bloch adverts to them in his article on *Sanskrit and Dravidian* (in *Pre-Aryan and Pre-Dravidian*, p 57 and points out how very bewildering these parallelisms appear to be

(*ii*) (*iii*) and (*iv*) These three groups look like being the derivatives (with different affixes and with the syncope of the intermediate syllable not unusual in some Dr dialects) of a base like *kela* (side vicinity) which is represented as such in Kann and as *kelanu*, *kelanku*, *kelampu* *kelavu* (side flank) in Tel It is also possible that the forms of Gr (*i*) may have influenced the structure of words like *kenni*, *kenne*, etc of Gr (*ii*) Similarly *keppe ceppi* of Gr (*iii*) may possibly have suffered some structural contamination with *kebi kibi*, the Dr forms for the 'ear' The Malayalam forms *konni* [southern dialect] *konne* [northern dialect] and *kavulu* [with which we may compare *cevulu*, *cevidu* 'cheek'] also evidence structural 'confusion'

We have pointed out above that the base at the back of these forms for 'cheek' may have been one like *kela* (side, vicinity) occurring in Kannada but the resemblance of this form to late Skt *galla* (cheek) which is said to have been a *grâmya* variant (or derivative) of Skt *ganda* (cheek) raises complications as to whether the Dravidian base *kela* (side) may itself not have been an adaptation of IA *galla*

(*v*) These are very peculiar words in Dravidian While the south Dr forms mean 'cheek' and 'jawbone or jaw', Kuvi *lapedi* [*l* interchanges with *d* in Kûi and Kûvi] means 'chin I think that for our purposes we shall have to distinguish these forms from *tâdi* (beard, chin) occurring in the south Dr dialects which *tâdi* is possibly a direct adaptation of IA *dadhika*

The structural uncertainties are quite marked I cannot connect these forms with any elementary Dr base, and the words do not appear to have struck deep root in any of the southern speeches They are not found in the literatures of the south One can therefore strongly suspect them to have been non Dravidian in origin Kittel suggests the IA word *dâdhika* as the possible source and compares Marâthi *dâbade* (*abâde*) 'jaw' as being a formation like *davade*, etc of this group, but Prof Bloch (*Cf cit*, p 741) points out (from the Indo Aryanist's point of view) that *dâḍhika* (Manu) and Hindi *dâṛhi* etc neither phonetically nor semantically could be explained by Skt *damṣtra* (tusk fang) and he offers the suggestion that *dâdhikâ* may be related directly to Tam *tâḍai* (cheek) and Tel *davade* etc

As I have said, *tâdai tavadai*, *davade*, *lapedi* etc occurring in Dr do not seem to be native and since the IA forms [Skt *dadhika*, Hindi *dâṛhi* (beard) and Mar *dâbâḍe* (jaw)] themselves are probably exotic in IA) we may have to look out for a third source for explaining the ultimate origin of these forms

Prof S K Chatterjee, while making certain tentative suggestions regarding a possible relationship between Skt *kapola* (cheek, etc) and a few "Austric" forms mentions the following "Austric" words (*Pre Aryan and Pre Dr*, p xxii) meaning 'cheek' or 'face'

Khmer *thpeal* (cheek)
" *thbâl* (")
Nicobar *tapôa* (face)
Sakai *kapa* (cheek)
Semang *kebang* (cheek)

If the presence of different and alternating prefixes, together with the widespread distribution of these forms in "Austric" would warrant the suggestion that the root here may be native "Austric," then forms like *thbâl*, *tapôa* may conceivably be connected[1] with Dr *tavade*, etc.

(*vi*) This group again is rather peculiar in Dr.

(*vii*) Tam. *kavul* (cheek) an old word in Tamil and Mal. In Tamil it also means, 'temple of an elephant,' 'jaw of an elephant,' 'side': this word is usually explained as being an adaptation of IA *kapola* (cheek, temple of an elephant, etc)

But, as we have just seen above, IA *kapola* itself is a suspect

(*viii*) Among the other words, Kûi *gada* [-*d*- < *l*], Kur. *galle*, Malto *galle* and Br. *kalla* are all, I think, directly borrowed from the neighbouring IA speeches, as suggested by their structural features.

In the south also, direct adaptations of IA *galla* (cheek) exist: Tam. *kalam*, Kann. *galla*, Tulu *gadda* and Tel. *gadda* (and probably Tam. *kaṭṭai* in *môvây-kaṭṭai*) signifying 'chin' are also probably related to Prakrit *ghaddam*, Skt. *galla*.

The common colloquial forms for 'cheek' in the south Dr speeches today are the following

Tam *Kannam* (cheek)
Mal *Kavul*
Tel *Cekkili*
Tulu *Keppe*, *Kenni*
Kann *Kenni*, *Kenne*

'Jaw' is denoted in the colloquials by *tâdai* [Tam.], *davade* [Tel Kann , Tulu].

(7) 'Mouth'

(*i*) This group is represented in all Dr. dialects except Kûi-Kûvi and Malto In Gôṇḍi, while the usual word for mouth is *tuddî* or *toḍḍî*,[2] the form *vây* occurs in the phrase *vay ét*— (to yawn <'to raise mouth') The IA loan *thõṭha* in Kur emphasizes the configuration of the mouth, the organ itself being denoted in Kur by the old native word *baî* which occurs as such and also in numerous old combinations.

---

[1] I can cite here one instance where a Tam.-Mal. word which is neither found in other Dr. speeches nor capable of being explained as Dr is so remarkably alike to "Austric" forms as to raise the probability of the Tam. word being an adaptation from "Austric"

Tam *tavakkai*, *tavakkaḷai* *tavaḷai* (frog), Sakai *tabek*, *tabeg* Semang *tabak* Malay *buâk* (*Cf.* also *Pre-Aryan and Pre-Dr*, p xxii under 'frog')

[2] Prof Bloch (*Sanskrit et Dravidian*, p. 56) notes the parallelism between Skt. *tuṇḍa* (beak, trunk), Mar. *tôṇḍ* (mouth), Guj, Beng, *tuṇḍ* on the one hand, and Tam *tuṇḍi* (beak), Gôṇḍi *tuddî* (mouth) and Malto *toṛo* (mouth) on the other Prof. Bloch's reference would imply that the IA forms may have been borrowed from Dravidian It is difficult to say how far these forms are native in Dravidian. 'Mouth' is denoted in a large majority of Dr. dialects by a different base (*vây*, *vây*, etc).

(ii) Kui *suda*, Malto *toro* are (I think) direct borrowings from the IA speeches in the neighbourhood of these Dr dialects

(8) 'TOOTH'

A widespread group

(9) 'TONGUE'

(i) All the southern dialects have forms derived from a common base

(ii) *Vand*-in Kui signifies 'to taste' *vanḍ ori* of Kūi looks like a word derived from *vand*- Whether Gondi *vañjer* is structurally connected with this form, cannot be determined

(10) 'LIP'

(i) That there exists a definite relationship between these forms and Skt *Tunda* (and in the case of Mal probably to *sunda*) is beyond question The question of the lender and the borrower does not, I think, admit of an easy solution

One thing may be noted *tuḍi* (lip) in Tamil is a rare form, not usually met with in the texts or in the colloquial The common word in the texts is *idal*, while the colloquial has *uda ḍu* Tel does not possess a cognate for *tuḍi*, *duḍi*, the common form employed in Tel being *vātera* Kann and Tulu alone use *tuḍi* and *duḍi* for 'lip' commonly among the south Dr speeches

(ii) These are common forms in Tam and Kann

(iii) Tam *idalu* (petal, leaf, lip) is an old adaptation of Sanskrit *dala*

Tel *vātera* is literally 'a screen for the mouth'

Tel *palukappu* [*palu* (tooth) + *kappu* (covering)] is another literary word for 'lip' in this speech

The Tulu sub dialectal form *otte* is adapted from MIA *oṭṭa* (OIA *oṣṭa*)

(11) 'NECK'

(i) The forms are not widespread The resemblance borne by these to Skt *gala* (neck) has been pointed out by the Tam Lexicon, while Gundert recalls Skt, *kantha*

(ii) These forms are found only in Kann and Tel

(iii) Tel *meḍa* appears to have a direct relative in Prakrit *ma ḍo* (neck)

Tulu *kanṭhu* is an adaptation of IA *kantha* (neck) Tulu *kekkilu* (neck) looks like an adaptation of IA *gala* (neck), modified in Tulu with native affixes (cf for the structure 6 iv)

(12) 'BODY'

(i) A group with fairly wide representation in the dialect

(ii) This is confined to South Dr The base *ul* (to be attached) occurs in other words like *uḍaya* (belonging to attached to) *uḍu kk* (to wear), etc

(iii) A set of purely 'literary' words in Tamil

(13) 'STOMACH'—'BELLY'

(*i*) No representative exists for this group in Tel which uses *kadupu* for 'stomach'. Kûvi has *bandi* (cf Tulu *bañji*) and *vahi* (cf. Belgaum Tam *vahu*, *vahu*)

(*ii*) Here we have a set of forms, the basic idea of which emphasizes the 'protrusion of the belly.' I consider the forms native, connected as they are with

Tam *poḷḷ*-(to be blown big, enlarged)
„ *pollai* (hollow)
„ *pottai* (empty, hollow)
Kann *polle holle* (hollow)
„ *potte* (egg-shell)
Tel *potta* (empty, chaff)

MIA (Prakrit) *pottam* and NIA forms like Mar. *pôṭ*, Guj *pôṭ*, Hindi-Beng *pêṭ* are, I think, ultimately Dr -derived in origin

(*iii*) Tam *pandi* is compared in the Tam. Lexicon to IA *phand* The IA form is rather rare in IA, on the other hand, *paḷḷai* (sides of the stomach), *pallam* (cavity) etc. are native Dr and these could very well be connected with Tam *pandi*, Mal. *pandi* and Mal. *palla* all of which basically imply a protuberant or expanded stomach, as illustrated by the phrases Mal *pandi-vayaran* (huge-bellied man), *paḷḷa virtu* (the sides of the stomach have expanded) etc

The IA form *phanda* may therefore have been derived from Dr

(*iv*) If the cacuminal *-d-* is due to cerebralization of an older dental, then these words might be related to Tam *tollai*, *toḷai* (hollow, what is bored), etc cf. in this connection Mal. *tolla* (throat), Tam. *tondai* (throat) with Kûi *doḷlu* and *dôka* (throat)

(*vi*) *môḍu* and *agadu* are Tam "literary" words

For *môḍu* (belly), cf *mêḍu*, *môḍu* (rising ground, protuberance) *agadu* (inside, belly) is connected with *agam* (inside). *udalu*, *odalu* in certain sub-dialects of Tuḷu means[1] 'stomach", its normal signification being 'body' This transference of meaning in connection with words denoting bodily organs occurs, as we have already seen, in other instances also cf 6 iv

(14) 'HUNGER'

(*i*) These are old words in the respective speeches. Tel *pastu* (fasting) is referred to in the Śabdaratnâkaram as non—Tel,[2] but it is probably allied to this group A Sanskrit dictionary-word *pse* which means 'food' and 'hunger' has been suggested by Kittel (*Kann. Dict*) to be Dravidic in origin

---

[1] This kind of semantic transference in the case of words denoting the members of the human body, is a general phenomenon met with in different families of languages — Cf the observations of Prof Vendryes (*Le Langage*, p 239) relating to some of the IE speeches

[2] This probably represents the ingenious view that *pastu* is connected with IA *upa-vâsa* (fasting)

(15) HAND'

Malto *te* is probably a borrowing from Kolarian forms like *te*, *ti*, etc which are widespread in 'Austric' languages Br *du* has been compared to an Afghan word *du* (hand)

(16) 'FINGER

The forms are inter related Gondi *varañj*, a variant of *vuñj* shows -*a*- in the radical syllable The syncope of the intermediate syllable (with -*r*) of a form like *varañju* may give rise to *vañju* found in Kui

(17) 'NAIL'

This group is repre ented in south and central Dr Modern colloquial Tamil and Mal use only the adaptation from IA *nakham* *ugir* being found in Tam literary texts only Kann and Tulu colloquials use *ugur* even today Tel similarly uses *goru* (aphœresized from *ugir*) in both the written and the spoken dialects

(18) LEG

Pan Dr except for Br *nat* (?)

(19) 'SKIN'

(i) If *togal* here is the original form—as I think it is [*tōl* < *to(h)al* < *togal*]—then the resemblance which the basal portion bears to Skt *tvak tvac* is quite remarkable Indeed, IA *tvak* has been adapted by Tam Kann and Tel as *tokku*[1] which is probably separate from *togal* in its linguistic history ,

(ii) Kurukh *capṭā* is an adaptation of a MIA form like Bengali *cāmḍā*

(20) ' PERSPIRATION

(i) Tam Mal , Kann and Tulu show a common base while Tel *cemata* is probably allied to *cemma* (moisture) which latter looks like an ancient adaptation of a MIA form corresponding to OIA *jalam*

(ii) Kui *kara* Kūvi *gāma* and Gondi *kālum* are adaptations of IA *gharam* (sweat < heat) The semantic development is met with in Hindi and Bengali *ghām*

(21) 'FLESH'

(i) The forms are met with only in Tamil and in Kūi Kūvi now

(ii) This group is probably based upon *irai*—(to be sprinkled)

(iii) Tam *tā* remains an isolated form in the south its only cognate is found in far-off Brāhūi

NOTE IA forms are commonly used in the modern colloquials of the southern speeches Mal and Tulu also use *eracci*

---

1 The IA loan *tokku* in Tam means rind ,' bark , skin and sense of touch one of the five *indriyas*' in Tel it signifies bark , rind'

As *Sadrī Kōl* where the exact form khan is registered is an Eastern Magadhan dialect and just in the immediate neighbourhood of Bengali the migration of khan is easily imaginable and a postulate for separate origin of B khan is uncalled for The following expressions from the Gospel of St Mark in Magadhi quoted in O D B L p 998 only illustrate the pleonastic use of the conjunctive participle khan in Magadhi. kariai-khan I do I shall do. ailai-khan, came, kahal kai-khan, said etc . .

THE DIALECTICAL BENGALI -ie.

(debō-ne, I shall give, jābā-ne, you will go) and the dialectical Assamese (Kāmrūp)-ni (khāwā-ni, do eat. jāwā-ni, do go) are conjunctive endings used pleonastically

The origin of the conjunctive participles in-na in the various dialects and sub-dialects of N I A may be briefly indicated here

The forms in the *Bihārī dialects* as above noted are kahan. kōhan,-khan, khā̃.

The *Nepali* form is kan (shortened for ke-ne)

The Bengali sub-dialects (L S I V I) *Chākmā* p 324 -inai jeinai, having gone

Khariā-Thar (Mānbhum) p 93 -nā, henā, being ānā, taking

Māl Pāhāriā p 99 -henak gutiāi-henak, having collected

Jalpāi-guri p 106 -hāne jāyā-hāne, having gone

In Rājasthāni dialects: (L S I IX II)

Mārwāṛī p 26 -naĩ, -knaĩ

Mālvī p 57 -ne, -ī-ne

All these n- forms go back to O I A (Vedic) -tvāna > M I A -ttāna, -ccāna; -yāṇa (Pischell S 592) M I A -yāna N I A -āna. -na

Bihārī kahan Nep kan (< ke-ne), Bengali henak, hāne are double conjunctives In the Bihārī dialects the termination of the conjunctive participle may be either kai or ke (shortened for kari > ka (r)i) In this use kai or ke lost all traces of the verbal significance and became a mere conjunctive suffix subjoined to the conjunctive form of the principal verb The Rāj dialects built up an affix in -nai, ne on the analogy of kai,, ke

By blending both the forms we get, kai + na > kaya + na, kahan, kan The combination kai + na would also > kena, hena, henak with the addition of pleonastic -ka, (in some East B dialects, k in the middle of a word, and the k in the verb karite, to do. is pronounced as h Cf L S I V I p 259, hariā dila=kariā dila Ibid p 261).

The form in -na is the strengthening of -na, and hāne may be derived from ka (often used instead of ke, L S I V II p 52) + ana + i = kāne, hāne

The form in -ina-i is parallel to M I.A -ūna -ina goes back to O I A' -tvāna > tyāna (Pischell S 587) <M I A -tiāṇa, -iāna > N I A -īna, > -ina

Disguised Conjunctive Formations as Pleonastic Affixes

The above discussions will throw light upon the origin of certain affixes tagged on to inflected verbal forms and so long regarded as pleonastic without any assignable reasons. It will be found that they are highly worn out conjunctive participles added on to emphasise the meaning of the principal verb. The following are the affixed verbal forms :—

Noākhāli dialect (L. S. I. V. I. p. 307)

mari (y)er —I am dying
kari (y)er —I do
Cf. E. H. (Bagīni) maratha nī I am dying, jāthe nī he goes

Chittāgong dialect (Ibid. p. 293)

kari r also kari—I do
kara r also karas—thou dost
kare r also kare—he does
khā er also khār—he eats

Hājong of Mymensingh (Ibid. p. 215)

marib ār mārib-ān, he struck
thākib ār thākib ān, he remained

Sylhet (Ibid. p. 226)

jāi yār }
jai r ām } I am going
jāit r ām }

Early B. (Krishna Kirtan)

āchera he has, berhile ra surrounded
dibo ra shall give, haibe rá shall be
geli rá passed

In all these examples ra, erá have no clearly definable meaning. They are all used in a vague sense of emphasis and obligatoriness associated with English auxiliary verbs like 'do', 'did', 'shall', should, etc. and conveying the same shades of meaning as the conjunctive participles examined in the previous section.

In reality they are only decayed conjunctive participles. In Bihārī there is also the conjunctive formation kar (L. S. I. V. II. p. 30) side by side with kai, ke. In the Western languages kar often appears as ar. There is also the Nepali conjunctive in (y)er, Eastern Hindī ker (Turnbull, Nepali Gr. p. 111, L. S. I. VI. p. 159).

We have already met expressions in East B. with pleonastic use of hāri, ari < kari (gelām āri) and a Chittagong form like khāi r may be regarded as equivalent to

khāi kar (i) I do eat Similarly Noākhāli mari-yer may be equated to mari ker(i), I am dying (The Māl Pāhāriā dialect has a verbal root √ker Cf. ānand kerib : hāsi-mōjā kerib L S I V I p 102)

Dr Chatterjee regards this -r- as a contracted form of kar and a verbal auxiliary added on to the root (O D B L p 996) But he has left the history and function of this -r- undiscussed

Inverted Conjunctives

There are certain analogous formations in Early B (Krishna Kīrtan) and in Early A (Rāmāyan M Kandali) in which the position of the characteristic conjunctive ending has been inverted The principal verb takes on the conjunctive termination and what in similar contexts pass on as conjunctive participles have personal affixes added on to them The following are the examples —

Early B di-āra. do give, āni-āra do bring. kahi-āra. do speak khā-āra do eat; kahi-ārõ, I do speak

Early A kari-era do thou go, tāri-erá māri-erá do save kill etc

lukāi-erõ I shall have concealed
gucāi-erõ I shall have removed
hāni-ere he does strike etc .

Here -ará -erá are clearly related to kará, kerá and the formations di-ārá, tāri-erá may be equated to expressions like diā kara, tāri kerá = giving do. saving, do, = give, do save In this respect they may be regarded as compound verbs with the principal verbs put in the conjunctive forms āniārá may be regarded as equivalent to Mod. B āniyā phelá bring off This use of -ará, era may be due to the fact that though originally conjunctive in sense they are used without the characteristic conjunctive terminations and were perhaps mistaken for finite verbs in the imperative This motion once established, personal affixes of the other persons also were added on to them Cf Western Assam (Kāmrup) dialectical forms —khā-n-i, do thou eat. khā-n-ā, do you eat, khā-n-õ, let me eat, where -n- is a conjunctive particle

Dr Chatterjee connects -iā with the verbal noun in -ita (O D B L S 996) But the explanation suggested does not seem to be quite satisfactory.

Some Lexical Material in Jaina Mahārāṣṭrī Prakrit

अध्यापक डा० नॉमन ब्राउन, पॅसिलवनिया विद्यापीठ

[लेखक को महीपालचरित्र नामक जैन महाराष्ट्री प्राकृत भाषा के ग्रन्थ में कुछ नवीन शब्द मिले हैं उन्हें लेखक ने इस लेख में एकत्रित किया है तथा उनका अर्थ भी दिया है। लेखक ने अभी जहाँ तक पुस्तक पढ़ी है वहाँ तक के शब्द यहाँ दिये हैं।]

In preparing an edition and translation of the Mahīpālacaritra, a work of 1816 stanzas in Jaina Māhārāṣṭrī Prakrit by Vīradevagaṇin, whose floruit seems to have been about 1250 A.D., I have noticed in the two MSS and have so far used a number of new words which I list here. My notes are made with special reference to the following two works, which are cited by abbreviations:

PSM: *Pāia Sadda Mahaṇṇavo*, by Pandit Har Govind Das T. Sheth, 4 vols, Calcutta 1923—28.

Pischel: *Grammatik der Prakrit Sprachen*, by R. Pischel, Strassburg, 1900.

The references to the text are by stanzas.

aiduṅga, adj. (not in PSM), "very deep", from Skt. atituṅga: *diṭṭho ego kūvo maggaṃ tade tehiṃ aiduṅgo* (1035).

aisailla, adj. (not in PSM), 'full of excellent qualities', from *aisayi* (Skt. *atiśayin*) or *aisaya* (Skt. *atiśaya*), with suffix *illa*: *jassa indenaṃ diṇṇā kevaliya putthiya aisaillā tassa annaṃ pi hu kiṃ ci vi sambhāvijjai na saṃdeho* (500).

anabbha, adj. (not in PSM), "cloudless", in *anabbha vuṭṭhi* (Skt. *anabhra vṛṣṭi*): *esā anabbha vuṭṭhi* (491).

analihiya, adj. (not in PSM), 'not inscribed', from double negative prefix *ana* (cf. Pischel 77) and *lihiya* (Skt. *likhita*): *khujjo vi patta-saṃcaṃ analihiyaṃ niya karammi kāūna* (425).

annaṇṇa, adj. or n. (add to meaning in PSM), "spell, charm, hocus pocus", equivalent to *annaṇṇa*: *Jiṇasundari vi bhiyā datthūraṃ niyadie nie purise hatthi kāūna jalaṃ annaṇṇa smaraṇa bhaṇai evaṃ* (806).

arāḍa, m. (not in PSM), "non-speaking" (?), perhaps from Skt. *a-vada* (for phonetics cf. Pischel 222 end): *poyāiṃ phuṭṭaiṃ dhanaṃ gahēūna gayā ya vaṃ-uttā bhaṇḍa-sālī vinaṭṭha gehe vi kuḍuṃbaya-arāḍo* (73).

ahar, vb. (not in PSM), "make inferior", from Skt. *adharaya* (denom. of *adhara*): *kunda kaliy sraliu va jaṃ sohinti danta pantio aharanti tāna aharā dāḍima puppha ppahā pīlaṃ* (111).

āhīya n. (not in PSM), "object of thought" from Skt. *ādhīta*. *puṇā puttho jampai savvam jānāmi savva-āhīyam* (1408).

-unna adj in comp (not in PSM), from Skt *punya*, as in *kaya-unna* (Skt *kṛta-punya*) *to kaya-unno lahihī sokkhāim anna-bhave* (612)

kiṇ, vb. (this stem not in PSM), "buy", collateral with Pkt. stem *kin*, from Skt. *krī* (*krīṇāti*) (for phonetics of *kiriyā* from Skt. *kriyā*, and see Pischel 135) *gacchantenam tenam gahio kiṇittu lāda-pattānam, eyo rammo saaro aha jina-bharane jinam namium* (422)

kulhuya, m. (not in PSM), "jackal" (cf *kulha*), from Skt. *kroṣṭuka* (see Pischel 242) : *Mayano puna mariūnam samjāo kulhuo ranne* (1091)

keki, m (not in PSM), "peacock", from Skt *kekin* *keki-kalāra-sukesā taruṇī iva sohae vasuhā* (1700)

khattullīyā, f (not in PSM), "little bed", diminutive of *khattā* (Skt. *khaṭvā*) : *eto Dhanamjaya-gurū Jayasattum niya-payammi thavīūna, dei kula-kkama-laddhā eyā khattul-līyā tassa* (377)

khuddaliyā f (not in PSM), variant of preceding word. *to mahayā kaṭakenam Ujjenim pai calai Mahivālo, cauhim bhajjāhim samam khuddaliyam appaṇā cadio* (535).

gamariyjanta, pres. pass ppl (not in PSM), 'treated with honor." denom. vb from *gamara* (cf Skt *gamāya*) *abhimuha-samāgachim rāehim gamarijjanto* (731).

Guddara, m (?) (not in PSM), name of a mountain *kahiyam kena vi Guddara-nagammi kena atthi kāmiyam kūdam* (1448).

goru or °*rū*, m. (not in PSM), "horned cow, ox," from Skt. *gorūpa* (cf Hindi *gorū*, *gorūā gorūvā*) the word occurs twice in the story of the cowherd Sumanas, in stanzas 618, 626.

cadi-uttar, vb (not in PSM), "climb and descend," compound of *cadi* and *uttar*. *to so punai avi cadio puna bhaya-bhīo tao samuttario, cadiuttariūnam to jāva tahim citthaī eso* (1189).

cida, m. (not in PSM), "bird." Proportional analogy : *cida* : *cidiya* : Skt. *caṭa* Skt. *caṭaka* (Pkt *cadaya*) · *tuha viraho maha pāṇā khanena vaccanti uḍḍiya cidu vva* (817).

cukkav, vb (not in PSM), " cause to lose," caus. of *cukk*. *viṇaya-suya-sīla-ghāī māṇo-heū hiy' atthiṇā jam so, kiranto suha* (MSS *suhu*)-*dhamm'attha-kāma-bhogāṇa cukkavai* (1399).

jipp, vb. (not in PSM), " be conquered," pass. of *ji*, the same form of the passive occurs in Apabhramśa (see Jacobi, *Sanatkumāracaritam*, Abhandl. d. Bayer. Akad. d Wissenschaften, Philos-philol Kl 31 Bd, 2 Abhandl, Munich, 1921, p. 120), a basis for this form may possibly exist either in the Ardhamāgadhī gerund *jeppi* (see Pischel 588) or the more common Māhārāstri passive *jivvai* (see PSM under *ji*, cf Pischel 473, 536), of which *jippai* may be only a phonetic variant : *so khujjo jippai na surehim vi kim uya amhehim* (493), *asamāṇa-viggahenam jitte vi hu n' atthi tuha jaso koi*,—

jaha puna kaha vi na jippai to ayaso hoi aibahūo (543) *tā jai jippai tenam to latthum hoi* (550)

tāl, vb (not in PSM), "remove frighten away," from Skt *tālay*, caus of *tal*, cf Gujrati *talavum* "remove, get rid of," Hindi *tālnā* "pass beyond avoid, deter, frighten", Platts *Hindustani Dictionary* derives from Skt *tāray*, caus of *tr* which is phonetically possible (see Pischel 218, 257) *jādasai Sirikaram tam tā sāsana-devayā tahim jha-tti, tassa bhattie tutthā tam sappam tālai dūram* (1143)

tāl vb (not in PSM) 'shake," trom caus of Skt *tal* "be disturbed", probably the same as the preceding word so (elephant) *attālayāim tālai pāani hattāim bhanjai gihāim* (201)

dakkijj vb (not in PSM), "be bitten" pass of *das*, *dams* "bite", made on basis of pass pcpl *dakka* (from Skt *dakna dasta* see Pischel 566) *jai dakkijjasi kaham pi bhuyagena* (1716)

danguraya danguruya m (not in PSM), 'drum", cf Pkt *danka* Hindi *danka* used as synonym of *padaha* (184), *iya dangurao nayare vajjanto hatta-majjha sampatto chitto Mahivālenam* (185), *to danguruyam davāvai purammi* (203)

talāya, talāyara, m (not in PSM), 'city police' variants of *talāra, talavara* (cf Skt *talāra* "chief of police", see in Schmidt *Nachträge* pw), perhaps from Skt *tala talā* handle of sword, archer's arm guard,' with suffixes *ka ra kara vara* (?) *tie kalagali utte* (MSS *utto*) *pahāviyā tattha talāyara* (MSS *talāyarā*) (1337), *patta talāya-purisā joyanta cora paya pantim* (1350)

timirakkera, m (not in PSM) 'night" from *timira* with suffix *kkera* (*kera* Skt *-kārya* see Pischel 176) *vehai sirvesu jāsim susiniddho kasina kuntala kalāvo muha candāna* (MSS insert *va*) *bhaena va timirakkero nilino vva* (408)

thāgha, m (not in PSM) shallow place", from Skt *sthāgha* gloss in MS 1 *talam maccha vi tab bhaenam majjham daūna jāi jalahi tade Mahivalo vi hu thāgham lahiūnam tam muyai hatthā* (337)

devala, n (not in PSM) "temple, variant of *devaula, devakula jai nasissāmi aham gutte* (read *gutto*?) *vi hu devalassa sihar'ante, tattha vi joissanti vilakkha cintā ya gantūna* (1341)

nikkankha adj (not in PSM) "free from desire", from Skt *niṣkānkṣa so ricchiyam na pāvai Siridhara vaniu* (MSS *vaniya*) *vva ittha loyammi, nikkankho puna suhio* (MSS *sahio*) *hoi jahā so pano* (read *panau*?) *pacchā* (1134)

niyoda, n (not in PSM), "foot fetter', cf *niyala* from Skt *nigala, nigada so* (elephant) *niyadāim todiūnam* (200)

nived vb (not in PSM) 'find out, discriminate between, separate' cf Hindi *niberna* "separate, divide', Pkt word possibly from Skt *nir vid* (for phonetics cf Pischel 222 end) Platts (*Hindustani Dictionary*) derives the Hindi word from Pkt *nivvand* Skt *nir vand* (?) *eyana nicchayam jo karei nivvediūna donham pi tassa dammassa lakkham dei niro tutthi danena* (184)

10

panc'anga-pasāya, m (compound not in PSM), "five kinds of gifts": *to panc'anga-pasāyam dāūna visajjio nie hatte* (151), *to dāūna pasāyam panc' angam so visajjio rannā* (520)

padali, f (not in PSM), "box", from Skt *patalī*: *tamvola-padali-majjhe* .. *hāro* (1480); *to padalie mottum hāram* (1562)

pariyadiya, m (not in PSM), "entourage", variant of *pariyariya*, note *d* for *r* (see Emeneau in *Journal of the Amer. Or Soc*, vol. 51, 1931, p. 33), the form *pariyario* occurring in stanza 587 is followed in stanza 589 by the form *pariyadio*.

pādicarana, n. (not in PSM), "service, adoration, worship", variant of *padicarana*, *padiarana* (for lengthening of first vowel see Pischel 77), from Skt *praticarana*: *to anna-dine padio purao devāna pādicaranammi* (1153).

pāvanijja, grdv. (not in PSM), "to be reached", from Skt. *prāpaṇīya*: *āvinto ya kamenam langhittā jala-nihim asesam pi, ega-dina-pāvanijje kūlammi ya āgao jāva* (1002)

phitu indecl (not in PSM) exclamation of contempt (also in free construction as a neuter noun, like dhiva, Skt. dhik) Skt *phut*: *pāhario vi hu jampai phitu na vahasi kisa āgao ettha, eddaha-nayarassa janam vanciya kim na hu dhiyam kunasi* (170)

bida-hara, see below under *vida-hara*

bhamadana, n. (not in PSM), "wandering about", derived from the Pkt vb. *bhamad-bham*, Skt *bhram* (see Pischel 554): *bhamiūna Mahesarenam kumāra itth' atthi sasura-gcham te, to tatth' eva ya jāmo kim annatto bhamadanenaṃ* (1328).

mandalaya, n (meaning not in PSM), "magic circle", from Skt *maṇḍalaka*. *to āniya bhingāram vihi-puvvaṃ pūiūna mandalæ, donni vi manti bhaniyā jo tumhānaṃ iham sacco* (190).

mānusatta, n. (not in PSM), "man's condition", from Skt *mānusa-tva* occurs in stanza 1071

māsalijj, vb. (not in PSM), "made large or stout", pass of denom. from adj. *māsala*, *māṃsala* (Skt *māṃsala*): *taṃ datthūnam sāhū saddhā-pulæna māsalijjantam* (625)

mūdaya m (not in PSM), "a measure of grain", variant of *mūda*, *mūdha* (cf Skt *mūta*, *mūṭaka*, *mūdaka* "basket") *to rāya-kule gantum gahio dammāna kattium lakkho, jaha pūrissam dhannaṃ mūdaya-paya-attha-dammehim* (74).

melāvana, n. (not in PSM), "meeting, joining", action noun from caus. of *mil*: *to rāyā saha-lagge pāni-ggahanaṃ kunai tesim* (232) *hattha-melāvanammiṃ dinnaṃ rāena kanaya-lakkhaṃ se*

mojjha, n. (not in PSM), "confusion, stupidity", from Skt. *maudhya*: *maccho vi tab-bhaenaṃ mojjham dāūna jāi jalahi-tade* (337).

ratta-uda, n. (not in PSM), "ascetic (i e, one clothed in red)", variant of *ratta-vata ratta-pata* (from Skt *rakta-pata*): *iya cintiya so jakkho ratta-udā jattha jattha bhunjanti niya-hatthenaṃ tesiṃ parivesai tattha tatth' eva* (1241), *to kuvvanti avannaṃ ratta-udā sāhu-sanahassa* (1243)

latthaya, n (?) (not in PSM), "satisfaction, pleasant occurrence", from *lattha* (Skt *lasta lasda see Pischel 564), with suffix *ya* (Skt *ka*) *tā jai purassa bāhim ujjāne kīlai pahu kumāro, ahavā majjha ceiya rāulassa to latthayam hoi* (640)

latthu adj (not in PSM) 'agreeable' variant of *lattha* (for which see under preceding word) *tā jai jippai tenam to latthum hoi* (550)

lodda n (not in PSM) 'theft', from Skt *loptra* (cf Pischel 289 end), the word generally occurs in the compound *lodda-kara* "thief" occurrences in stanzas 1203 1343 1355 1653 1656

rāya pāna n (compound not in PSM), 'drinking (i e enjoying) the air' *tā pucchai niyada ttham gimhe jala-uvari vāya-pāṇa attham payadam uccala-kayam egam minam maha kāyam* (335)

vijāya adj (not in PSM), 'baseborn, casteless' from Skt *vijata* The story is that Mahipāla, disguised as a hunchback, shows some blank pages (palm leaves) successively to a king, a purohita, and a minister, saying that Sakra had given him these as a magic book To him only who was properly born (*jo vihim janehim jāo*) would letters appear on the leaves Each of the three fails to see any letters and so they conclude *aham vijao* (429) *imo vijau tti* (433) *ahayam vijāu tti* (436) Curiously, in all three cases the MSS read *tija*°

vida hara, n (not in PSM) 'entertainment hall' there is a variant form *bida*°, the word is erroneously treated in my *Story of Kalaka* (Washington Smithsonian Institution, 1933) p 110 The key to the meaning is found in the Ardhamāgadhi *vida* "dancer" (see *Ardhamāgadhi Dictionary* vol IV 1932), which is possibly the same word but in a different aspect as the Pkt *vida* (Skt *vita*) 'dissolute person, rake pimp' See also under the next word *to rāyā suha lagge pāni ggahanam kunai tesim* (232) *hattha-melavanammim dinnam rāena kanaya lakkham se dinno ya pavara-deso bahu-davva juyam bida haram ca* (233)

vida purisa m (not in PSM) "entertainer", for *vida* see preceding word *puna-puna pucchantassa vi jahe na hu dinti uttaram tao, to rannā vida purisā bhaniyā bollaviha imāo* (419) *te vi hu cau vattīhim nana hāsehim cheya* (MSS *ttheya*)-*bhanichim na taranti khoheum jā ta rannā tattha ānattam* (420)

vidh, vb (not in PSM) 'cling to' variant of *vedh* (Skt *vest*) *veddha tti kaliya so vi hu Mahivālo jāva tammi āruhai to mno sala salio viyaro to vidhai gādhayaram* (336)

vunāviya pass ppl (not in PSM) 'woven', from caus stem ultimately from Skt root *vā vi, u* The Pkt base *vun* does not appear in PSM as a verb but is represented in the noun *vunana* 'weaving', however cf the Hindi verb *bunnā* 'to weave' *tab-bhajjāe padao vunāvio kattio kaha vi* (616)

veddha (or° ā), m (or f ?) (not in PSM) 'trick trap', variant of Pkt *vedha* (Skt *vesta* enclosure noose) *gaha-gahio si tumam ceiya jo para gehammi esi vanceum atthai gihammi manti veddham annam tumam kunasu* (172)

veddhā, f. (not in PSM) "boat" (?), MS *A* has gloss *parvata*, but the word is possibly variant of *bedā* ' boat ". Perhaps in text we should read *vedha veddha tti kaliya so vi hu Mahivālo jāva tammi āruhai, to mīno sala-salio viyaro to vidhai gādhayaram* (336).

sannāha, m (not in PSM), ' armor ", Sanskrit *samnāha* *viveya-sannāha-sambuya-sarīro* (1771)

sala-saliya, adj. (not in PSM), " pierced by an arrow, severely hurt ", variant of *sara-salliya*, for illustration see stanza quoted under *veddhā*, cf *aha sā . . . kāma-sara-salliy-angī* (218)

salaha, adj. (not in PSM), " valuable excellent "(?), from Skt *ślāghya*(?): *rayane* . . *salahāni tti mannittā to tena samam kunai sattim* (103)

sārā, f (not in PSM) " care, concern "; Skt. *sārā* (see Schmidt, *Nachträge . . . pw*); cf. Hindi *sārā* "custom, usage, practice": *etth'antari se māyā sārā-karan'attham āgayā dāre, soūna kumari-saddam sā cintai kim kunai esā* (219).

siva, m. (not in PSM) "jackal', cf. *siva*, from Skt *śiva*· *ekkam khāyai madayam annam ca kad'akkha-rakkhiyam dharai, annam ahilasai mane masāṇa-siva-sacchahā nārī* (1043)

sunnāna, n. (not in PSM), " theoretical knowledge ", coupled in our text with *vinnāna*, the two meaning " theoretical and applied knowledge " (cf. Edgerton on " Jñāna and Vijñāna" in the Winternitz Festschrift) *tassa ya vinoya-thānam sunnāṇā-vinnāṇa-samjuo atthi, mitto tti ya padivanno Mahivālo nāma rāutto* (22).

hattha-sannā, f. (not in PSM), " hand-language, gesture language ", from Skt. *hasta-samjñā* *etto mahāyanenam dinnāo tattha hattha-sannāo, mullam thaviūna tao bhananti eyam imam lahai* (120).

O nekotoryx javlenijax rotatsizma v jazyke xindi.

प्रोफेसर डा० आ० बारान्निकोफ़ पी० एच्० डी०, लेनिनग्राद

[लेख का विषय है—हिन्दी भाषा में रकारीभाव की कुछ अवस्थाओं पर विचार]

हिन्दी कविता की बोलियाँ—ब्रज और अवधी, जिनका हिन्दी कविता के इतिहास में एक विशेष स्थान है, भाषा विज्ञान की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व की हैं। इन दो बोलियों की, ध्वनियों की, नामों और धातुओं के रूप परिवर्तनों की, वाक्य की और शैली की विशेषताओं ने बहुत समय पहले से अब तक अनेक भारतीय तथा योरपीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। तो भी, बावजूद इस बात के कि ब्रज और अवधी का अन्य पड़ोसी बोलियों से ध्वनियों में और रूप परिवर्तन में बहुत ही सरल अन्तर है, दुर्भाग्यवश ऐसा कोई ग्रन्थ उपस्थित नहीं है जिसमें ब्रज और अवधी की इन विशेषताओं की वैज्ञानिक विवेचना की गई हो।

ब्रज और अवधी में रकारीभाव के, अर्थात् शैली के निर्माणार्थ ल की जगह र के विधान करने के, दृष्टान्तों का उल्लेख अनेक भारतीय और योरपीय विद्वानों ने किया है। ल और र की प्राचीन ध्वनियों में—अर्थात् उन ध्वनियों में जिनका मूल कि संस्कृत की ध्वनियों में खोजा जा सकता है—तथा नये ल और र में जो कि अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में दन्त्य और मूर्द्धन्य व्यञ्जनों के ऐतिहासिक परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं, स्पष्ट भेद करना चाहिए।

ब्रज और अवधी के बहुत से साधारण प्रयोग के शब्दों में हम गद्य भाषा के ल के बजाय र की ध्वनि पाते हैं। फिर भी इन दो बोलियों का रकारीभाव पूर्ण नहीं है, और अनेक शब्द-समूहों में ल ध्वनि भली भाँति बची हुई है। दूसरी तरफ़ स्वयं खड़ी बोली में बहुत से दो रूपवाले शब्द पाये जाते हैं, जिनमें ल और र वैकल्पिक होते हैं और उनके वैकल्पिक प्रयोग से उन शब्दों के अर्थों में मामूली अन्तर पड़ता है।

परन्तु वैदिक भाषा में भी इस प्रकार शब्दों के दो रूप प्राय पाये जाते हैं। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, ल ध्वनि पुरानी र ध्वनि का स्थान लेती हुई दीख पड़ती है। जहाँ कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में, जिनका उनकी भौगोलिक परिभाषाओं द्वारा अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट है, हम ऐसी बोली पाते हैं जिसमें रकारीभाव का पूरा ज़ोर है, वहाँ दसवें मण्डल में, जिसकी भौगोलिक परिभाषाएँ अधिक पूरब की हैं, उन्हीं शब्दों में ल ध्वनि पाई जाती है, जिनमें कि पहले नौ मण्डलों में र ध्वनि है। ऋग्वेद के अन्तिम अंश में ल का प्रयोग पहले अंशों की अपेक्षा आठ गुना अधिक है। मैकडोनेल का कहना है कि अथर्ववेद में, जो कि निश्चय ही बाद का है, ल का प्रयोग ऋग्वेद से सात गुना अधिक हुआ है। फिर महाकाव्यों तथा शास्त्रीय संस्कृत में ल का प्रयोग प्राचीन संस्कृत की अपेक्षा तीन गुना अधिक है। प्राकृत भाषाओं में ल का प्रयोग और भी अधिक बढ़ जाता है; मागधी प्राकृत में तो वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, र सर्वथा लुप्त हो जाता और उसकी जगह सर्वत्र ल आ जाता है।

अब तक साहित्यिक बोलियों में र और ल के विपर्यय की व्याख्या करने के सब प्रयत्न विफल हुए हैं, क्योंकि इस विषय का अब तक केवल ऊपरी अध्ययन किया गया है, जिससे केवल इतनी बात सिद्ध हो पाई है कि पहले ल का प्रयोग बढ़ने की प्रवृत्ति रही, और बाद में वह घटती गई। इस विषय के विकास सम्बन्धी तथा शैली सम्बन्धी पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि हम तुलसीदास की भाषा पर विचार करें, जिसे कि अत्यन्त रेफ प्रवृत्ति युक्त कहना सर्वथा न्यायसंगत है, तो हम देखेंगे कि दो सीमायें हैं जिनके आगे रकारीभाव की प्रवृत्ति नहीं बढ़ती।

१—संस्कृत शब्द अपने ल को सदा बनाये रखते हैं।

२—जन साधारण की बोलचाल के प्रचलित शब्दों में र नहीं घुसता।

तुलसीदास की भाषा में रकारीभाव उन शब्दों में दीख पड़ता है, जो कि विभिन्न श्रेणियों के पुरुषों देवताओं और राजाओं के लिए प्रयुक्त होने पर अपने अर्थ में परिवर्तन होने देते हैं। यही बात सूरदास की रचनाओं के बारे में भी है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पश्चिमी आर्य्यावर्त्त बोलियों में रकारीभाव की प्रवृत्ति थी, जब कि पूरबी बोलियों में ल का प्रयोग विशेष था। यह स्मरण रखना चाहिए कि पूरब के, विशेषकर बङ्गाल तथा उसके समीपवर्ती प्रान्तों के, विजय के समय उच्च वर्णों के प्रतिनिधि पश्चिम से आये थे। उदाहरण के लिए, विशेष कर गुप्त-वंश के अभिलेख में प्राय: ऐसा उल्लेख है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पश्चिम से आये। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि पश्चिम से उच्च श्रेणियाँ रकारीभाव की प्रवृत्ति लाईं, और वह कुलीनता की द्योतक समझी जाने लगी। इसी कारण ब्रज और अवधी में उपर्युक्त दशा है, और र वाले रूप ऊँची शैली को सूचित करते हैं।

वैकल्पिक र या ल वाले शब्द रूपों के विकास की ये तीन क्रम-दशायें, अर्थात् (अ) र वाले पश्चिमी रूप, (इ) उनका ऊँचे दर्जे की भाषा का विशेष चिह्न होना, और (उ) उन का शैली को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयोग किया जाना—अत्यन्त आधुनिक खड़ी बोली में भी प्रतिबिम्बित होती है।

संस्कृत के अनेक शब्द-समूह भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ल वाले शब्द-रूप निचले दर्जों के लोगों के शब्द-कोष के समझे जाते थे। जैसे, नमूने के लिए, शास्त्रीय संस्कृत में कई आन्तरिक अंगों के नाम ल वाले ही हैं,—जानवरों को मारना तथा मृतक शरीर को छूना नीचतम दर्जों के ही कार्य थे। इसी प्रकार रँगने के लिए प्रयुक्त होनेवाले रंगों के नाम भी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन लेखकों की भाषा में, जिन्होंने अपनी रचनाओं में ऊँची शैली का परहेज किया है, रकारीभाव का लेशमात्र भी नहीं पाया जाता, उदाहरण के लिए कबीर की भाषा में।]

Poetičeskié dialěkty xindi—bradž [ब्रज] i avadxi [अवधी], —iméju. čie stol' bol'šoé značénié v istorii poezii xindi, predstavljajut isključitel'nyj lingvističéskij interés.

Svoěobrazié ix fonětiki, morfologii, slovarja i stilja davno uže privlěkalo vnimanié mnogix avtorov, kak indijtsév, tak i ěvropéjtsěv. Dolžno skazat' odnako, čto bol'šinstvo rabot etix avtorov prěslěduět préimuščéstvěnno praktičéskié tsěli—oblegčit' ponimanié jazyka togo ili drugogo avtora, dialěktičéskie osoběnnosti kotorogo v značitél'noj mére otličny ot sovréměnnogo litératurnogo prozaičeskogo jazyka.

Xotja oba nazvannyx poetičéskix dialékta těsnějšim obrazom svjazany s sootvětstvujuščimi lokal'nymi dialěktami xindi, odnako, daže pri sobréménnoj stepéni izučěnnosti etix dialěktov, možno skazat', čto dlitél'noě upotréblénie dialéktov bradž i avadxi v litératuré sposobstvovalo ix otkloněniju ot sootvětstvujuščix lokal'nyx dialěktov. Eti otkloněnija nabljudajutsja ně tol'ko v oblasti slovarja i stilja, kotoryě neizběžno vségda otličajut litératurnyě dialěkty ot dialěktov městnyx, v značitěl'noj měré ogranicénnyx v oblasti vyrazital'nyx srědstv, no takžé i v oblasti fonétiki i morfologii. Nesmotrja na otnositěl'nuju prostotu foněticěskix i morfologičěskix javlěnij my, k sožalěniju, i do six por ně iměěm ni odnoj raboty, po svjaščénnoj nadlěžaščěmu naučnomu rassmotréniju etix javlěnij v bradžě i avadxi. Dažě dannyě otnositěl'no zvučanija odnix i téx žě form začastuju byvajut različny u različnyx issledovatélěj i často ně sovpadajut s těmi formami, kotoryé my naxodim v različnyx izdanijax krupnějšix avtorov—Tulsi-Dasa i Sur-Dasa. Eščě měn'šě vnimanija uděljaětsja voprosu ot ispol'zovanii različnyx foněticěskix javlenij v potrěbnostjax stilističéskogo oformlěnija.

Nastojaščaja kratkaja zamětka iměět svoěj tsěl'ju popytku pokazat', kakim obrazom ispol'zuětsja javlěnie rotatsizma, to ěst' fakt zaměny zvuka "l" tsěréz "r" dlja potrěbnostěj stilja.

Javlěnija rotatsizma "l > r" stol jarko vyraženy v bradže i v avadxi, čto davno uže privlěkali vnimanijě isslědovatělěj Kromě mnogočislěnnyx indijskix avtorov na nix ukazyvajut mnogijě ěvropějskijě avtory, v častnosti *R Hoernle, S H Kellog* i dr Bol'sinstvo avtorov pri rassmotrěnii čěrědovanija zvukov "l i "r" raznogo proisxozděnija, t e staryě "l" i "r," vosxodjaščie k sootvětstvujuščim sanskritskim zvukam i novyě "l" i "r' kotoryě pojavljajutsja v novoindijskix jazykax v rězul'tate istoričěskix modifikatsii zubnyx i tserěbral'nyx soglasnyx V vidu kratkosti moěj zamětki ja ograničus' faktami čěrědovanija staryx "l' i "r", kotorye v drevneindijskom jazyke [v vědičěskom i sanskritě] vystupajut v kačěstvě plavnyx Faktam čěrědovanija zvukov "l" i "r' novogo proisxozděnija budět udelěno měn'šě vnimanija

Pri pěrexodě ot sovrěměnnogo litěraturnogo jazyka [खड़ी बोली] k dialěktam bradža i avadxi my nabljudaem v etix poslědnix zvuk "r" [र] na mesté zvuka "l' [ल] prozaičěskogo jazyka vo mnogix ves'ma často upotrěbitěl'nyx slovax Naprimer

Sur Dasa	Kxari Boli
घारो	घाला
गारि	गाली
घहराइ	घहलाना
बिजुरि	बिजली
दुबर	दुर्बल

Tulsi Das	Kxari Boli
टर	टलना
डारो	डालना
तरवार	तलवार
नाईफर	फल
घपपुतली	पुतरी
रोम	रोम, लोम i drugiě

Količěstvo priměrov možno bylo by uvělicit va mnogo raz

Kromě analogičnyx priměrov čěrědovanija staryx zvukov l i ' r my nabljudaěm někotoryě fakty čěrědovanija novyx "l" i "r", naprimër

घरा घला i dr

Na osnovanii etix i im podobnyx faktov mnogiě avtory ukazyvajut, čto dialěkt Tulsi Dasa ravno kak i dialěkt Sur Dasa xaraktěrizujutsja sil'nym rotatsizmom

Sověršěnno ponjatno, čto rotatsizm etix dialěktov dalěko ně polnyj, i v tsělom rjade slov upotrěbljaětsja tol'ko "l Takovy napriměr फल, घोला, फालक ग्वाल जले नगल i drugie

Pověrxnostnoě nabljuděnijě etix faktov nabljudajuščixsja v poetičěskix dialěktax bradža i avadxi možět privěsti k zaključěniju, čto formy s 'l ' i "r' upotrěbljajutsja čisto slučajno, čto v osnove ix upotrěblěnija nět nikakogo printsipa kak to i utverždajut někotoryě avtory

naprımèı, *Beames*. Vo v̌sjakom slučaě upotıéblenıé v poetıćeskıx dıaléktax foım s "r", kotorym v kxaıı-bolı sootvétstvujut formy s "l" obıaśćaét na sébja vnımanıě.

Dal'nějsěé ızučěnıě etogo voprosa pokazyvaét, čto ı v samom kxaıı-bolı ıméétsja značıtél'noě kolıčěstvo dublětov, gdě čěrědujutsja zvukı "l" ı "r", prıćěm znaćěnija slov s "l" ı "r" xotja ı blızkı, odnako ně pokıyvajutsja odnı drugımı Takovy naprimér; चरना—चलना, चराना—चलाना, जरना—जलना, जराना—जलाना, पुत्री—पुतली, गर—गल, हर—हल ı dr, novye "l" i "r" चेरा चेराई—चेला

Problěma čěıědovanija zvukov "l" ı "ı" okazyvaétsja éśćé bolée složnoj, ěslı my obratımsja k dıěvnım aıijskım jazykam vědıčěskomu ı sanskıitu

Užé v vědax my naxodım rjad dublětou, gde vystupajut to "r" to "l". Naprımèı ·

पुर	"mnogo"	पुलु
मिश्र	"směšannyj"	मिश्ल
जर्गुर्	"glotat'" [ıntěns ot गृ]	जल्गुल्
पिच्छोर	"svirěl'"	पिच्छोल
रोमन	"volos"	लोमन ı dı

J Wackeı nagel v svoěj grammatıké drévnéındıjskogo jazyka (*Altındısche Gıammatik, I, Lautlehıe, Goettıngen*, 1896, s. 215) s polnoj avtoııtětnost'ju otměčaět, čto s tečénıěm vréménı upotréblěnıě "l" narastaět Měž těm kak pěrvyě dévjat' mandal, svoěj gěografićeskoj termınologıěj svjazannyě s zapadom s těpěıěšnım Afganıstanom ı Pendžabom, dajut dıalèkt s sıl'nym rotatsizmom, gdé, kıomě privědénnyx pıımérov, zvuk "l" sověršěnno ně vstrěčaětsja, uže v děsjatoj mandalě, svjazannoj s bolěě vostočnoj géografićeskoj termınologıěj, vstrěčajutsja formy s "l", na městě kotorogo v bolěě dıěvnıx mandalax bylo "r" Naprıměr

म्रुच्—म्लुच्	"gıbnut'"
रभ्—लभ्	"polučat'"
रोहित—लोहित	"krasnyj" ı dr

Po vyčıslěnıjam razlıčnyx avtorov, v poslědnıx častjax Rıgvědy "ı" upotrěbljaětsja v 8 raz čaščě, čěm v bolěě rannıx. S drugoj storny, po podsčětam *Ascolı* v Atxarva-Vědě, to ěst' v pamjatnikě, něsomněnno, bolěě pazdněm po svoěmu jazyku, čěm Rig-Věda, zvuk "l" upotrěbljaětsja v 7 raj čašče, čěm Rıg-Vědě v tsělom

Nakoněts v epıčěskom ı klassıčeskom sanskrıtě upotrěblěnıjě "l" v trı raza prěvosxodıt po svoěj častotè upotrěblěnıě etogo zvuka v doklassıćéskoj lıtěıaturě Prı etom rjad slov, kotoryě v staıyx pamjatnıkax upotrébljalıs' tol'ko s "r", v klassıćěskom vystupajut tol'ko s "l". Takovy

लघु	"bystıyj, lěgkıj"
लम्ब	"visět'"
ललाट	"lob"
शुक्ल	"světlyj"
श्लथ	"ıazryxljat'cja" ı dı

Rjad drugix slov, raněe upotrebljavšixsja isključitěl'no s "r", v klassičeskom sanskritě soxranjajut eto "r" veśma redko i vystupajut počti isključitěl'no s "l". Takovy

बहुर	बहुल	"gustoj"
मूर	मूल	"koren'"
वार	वाल	"xvost, volosy xvosta"

Narastanié upotrěblenija zvuka "l" nabljudaětsja ěščě v bol'šej mere v prakritax. Kul'minatsionnogo punkta eto razvitie dostigaět v prakritě Magadxi, gdě "r" isčezaet sověršenno i na ego městě javljaetsja "l":

लाज	vměsto	राज	
अतल	"	अ तेर	
पुलिस	"	पुरुष	i drugie

Voprosy prakritskoj grammatiki, kak izvěstno, zanimali indijskix grammatikov značitěl'no měn'še čem voprosy sanskritskoj grammatiki. My možěm poetomu dumat', čto v někotoryx slučajax ulovív lis obsčuju tenděntsiju k zvuku "l," indijskie grammatiki, běssil'nyě ulovit' obsčie printsipy ego upotreblénija, prosto stilizovali někotoryje dialekty magadxi, podobno tomu, kak dramatičeskie prakrity, naprimer vo mnogix otnošénijax prědstavljajut soboju často iskusstvěnnyě, stilizovannye formy a ne formy rěal'no upotrěbljavšiesja v sootvetstvujuščix narodnyx dialěktax.

Vrjad li možno priznat udovlětvoritel'nym ob'jasněnie indijskimi grammatikami fakta nalíčija dublětov s "r" i "l" v sanskritě. Po suščestvu formula indijskix grammatikov

र-ल यार   अभद्

prědstavljaět soboju prostoj otkaz ot ob"jasněnija nabljudaemyx faktov.

Stol' žě malo udovlětvoritěl'ny i popytki rjada ěvropejskix lingvistov ob'jasnit' eto javlěnié. Eto možno vidět' xotja by iz utveržděnija Bartolome (*Bartholomae*, K Z, 39, 579 A), kotoryj zajavljaět, čto v načalě drěvněindijskomu jazyku, kak i drěvnepersidskomu, byl svojstvěněn rotatsizm, a potom snova vmesto zvuka "r" javljaětsja "l".

Pišel (*Pischel* GGA, 1884 512), rassmatrivaja fakty čěredovanija zvukov "r" i "l", prixodit k vyvodu čto narjadu s zapadnymi dialektami, obladavšimi rotatsizmom, suščěstvovali i vostočnyě dialěkty, soxranivšie zvuk "l" i daže rasširivšié granitsy ěgo upotrěblenija. Vlijaniěm etix poslědnix dialěktov ob"jasnjaětsja proniknověnié form s "l" v klassičeskij sanskrit.

Eto zaključeniě i osnovannoě na izučenii prakritov, podtvěrždaětsja takžě i někotorymi dannymi novoindijskix jazykov. S někotoroj ogovorkoj my možěm soglasit'sja s utveržděniem Pišelja o bolěě širokom upotreblénii zvuka "l" na vostokě, gdě, něsomnenno, bylo značitěl'noě vlijaniě drevněindijskix jazykov.

Odnako eto v věs'ma slaboj měrě ob'jasnjaět fakt naličija dubletov s "r" i "l".

Dž. Bimz v svoěj sravnitěl'noj grammatikě novoindijskix jazykov konstatiruět, čto, vo pervyx, v dialěktax zanimaju ix v nastojaščěě vrěmja territoriju prakrita magadxi, gdě,

po dannym grammatikov i nadpisej, na méstě zvuka "r" javljaetsja "l," v nastojščéé vrémja nabljudaétsja obratnaja téndéntsija i my iméém, naprimér,

करिश्र vmésto काला

कपार ,, कपाल i dr.

vo-vtoryx on ukazyvaét, čto v poetičéskix dialéktax xindi často javljaétsja "r" vméste "l," i, v trét'ix, on otmééaét, čto v nékotoryx dialéktax Indii směšénié zvukov "r" i "l" nastol'ko vélіko, čto govorjaščié otnosjatsja jako-by sovéršénno bezrazlično k tomu, kakoj zvuk skazat' "r" ili "l." Bimz odnako ukazyvaét, čto sootvétstvujuščié gruppy naséléníja soznajut različié méždu etimi zvukami i bézrazličié k upotrébléniju zvukov "r" i "l" nabljudaétsja srédi nizšix klassov naséléníja. V kontsě kontsov on sčitaét etu problému, pri sovréménnom emu urovné znanij po dialéktologii, sovéršénno néraztěšimoj.

Mné prědstavljaětsja, čto popytki ob"jasnit' fakty čerědovanija zvukov "r" i "l" v litěraturnyx dialéktax okazalis' sověršénno besplodnymi potomu, čto k ix razrěšéniju podxodili smětodom čisto formal'nym. Takoj mětod pozvolil tol'ko čisto statističěski ustanovit' narastanié upotrěbléníja zvuka "l" i potom cuženié égo upotrěbléníja.

Semantičěskaja i stilističěskaja storona etogo javlénija ostavljalas' bez vnimanija. Ravnym obrazom ně učityvalas' i klassovaja suščnost' jazykovyx javlénij. Měž těm učét etix moméntov sposoběn prolit' značitél'nuju jasnost' na eti fakty

Obratimsja k Tulsi-Dasu. Ego dialěkt s polnym osnovaniém kvalifitsiruetsja obyčno kak dialékt s sil'nym rotatsizmom. My privěli rjad priměrov, gdé na méstě "l" sovréměnnogo xindi u Tulsi-Dasa nabljudaětsja "r". Odnaka, granitsy upotrěbléníja zvuka "r" vměsto "l" ně rasširjajutsja u něgo do polnoj něopréděléннosti; oni ustanavlivajutsja s dvux storon, tak kak ěst tsělyě katěgorii, kuda "r" ně pronikaět.

Izučěnié těksta s polnoj uběditěl'nost'ju svidétěl'stvuét o slědujuščix dvux faktax.

I. Zvuk "r" na město "l" ně pronikaět v sanskritskié slova, kotoryě pri vsěx uslovijax soxranjajut svoě "l", xotja eti slova často javljajutsja v narodnom, vul'garnom proiznošěnii. Naprimer

बालकाण्ड "glava o dětstvě"
कुलदेव "cěméjnoé [rodovoě] božěstvo"
मगल काजा "blagoě dělo"
सील "xaraktěr"
अनुकूल "blagoprijatnyj"
सकल "ves'" i mnogiě drugiě.

Ravnym obrazom "r" né pronikaět v slova, naibolěě často upotrěbitěl'nyé v narodnom jazykě. Naprimér,

लेना "brat'"
लगना "načinat'"
लाग "do"
ग्वाल "pastux" i t. d.

Rotatsizmu podvergajutsja u Tulsi Dasa prĕimuščestvĕnno tĕ slova v kotorvĕ vozmožno privnĕsti raznoĕ soděržanie v zavisimosti ot otnošenija ix k litsam raznyx klassov. Takovy, naprimĕr

रास vmĕsto शोल
पर तुरती ,, •तुलसी

libo kogda govoritsja o bogax i tsarjax. Naprimĕr

रैट o Dašaratxe
रानी o Kĕkaji i t d

Esli my učtĕm ukazanié Bimza o smešĕnii zvukov "r" i "l" v sovremennyx dialĕktax nizšix klassov, naprašivaĕtsja vyvod, čto rotatsizm v litĕraturnom dialĕktĕ Tulsi Dasa javljaĕtsja odnim iz stilističeskix priĕmov, srĕdstvom soobščenija slovu xaraktĕra boleĕ vysokogo stilja

Analogičnoĕ položĕniĕ vĕ čĕj my naxodim i u Sur Dasa

बारो o Krišnĕ no बालदेव
नर ,, नर्ले
गर , गला
मरी govorit Jašoda no मालो i t d

Tot fakt, čto nĕ dlja vsjakogo lĕksičĕskogo elĕmĕnta so zvukom "r" my možem najti ĕgo dublet s "l", ob"jasnjaĕtsja samim xaraktĕrom proizvĕdĕnij Tulsi Dasa i Sur Dasa. V ix proizvĕdĕnijax vystupajut preimuščĕstvenno bogi, tsari, geroi braxmany i proizvedenija etix i blizkix im avtorov vydĕrzany v vysokom stilĕ

Nabljudĕnija sanskritologov svidĕtĕlstvujut o tom, čto zapadnyĕ indoarijskiĕ dialĕkty obladali rotatsizmom vostočnym že dialĕktam bylo svojstvenno "l"

Esli my vspomnim, čto pri podčinĕnii vostoka, v častnosti Bengalii i sosĕdnix provintsij, prĕdstavitĕli vysšix kast v svoĕm bol'šinstvĕ javilis s zapada va častnosti nadpisi impĕratorov dinastii Gupta mnogokratno govorjat o darax kotoryĕ davalis' braxmanam i eti eti braxmany xaraktĕrizujutsja v nadpisjax kak मध्यदेशविनिर्गत to ĕst kak vyxodtsy iz tsĕntral'noj, zapadnoj časti Indii a ravnym obrazom o tom čto s zapada prixodili prĕdstavitĕli voinskogo klassa क्षत्रिय my možĕm dumat', čto rotatsizm, prinĕsĕnnyj s zapada braxmanstvom i aristokratiĕj i radikal'no izmĕnivšij fonĕtičĕskuju strukturu različnyx novoindijskix jazykov, osoznavalsja kak prinadlĕžnost' jazyka vysšix klassov *(S K Chatterji The Origin and Development of the Bengali Language Part I p 5, 6)*

Otsjuda nĕtrudno pĕrĕjti k položĕniju, nabljudajuščĕmusja v dialĕktax bradž i avadxi, kogda formy s "r" polučajut xaraktĕr vysokogo stilja

[illegible] tri stupeni razvitija dublĕtov so zvukami "r" i "l" [illegible] to ĕst [illegible] na [illegible] [illegible] [illegible] so zvukom r kak [illegible] [illegible] jazyku vysšix klassov, a vposlĕd

stvu kak osobénnosti s vysokogo stilja, naxodjat svoé otražénié i v samom sovrémennom Kxariboli. Naprimér:

जलना "gorét'" — जरना "goret' v lixoradké"
चलना "dvigat'sja" — चरना "dvigat'sja, pastis'"
चलाना "dvigat'" — चराना "dvigat', pasti"
हल "plug" — हर "plug", osobénno v vyražénii हरजोत "pervaja borozda"
पुतली "dérévjannaja kukla, zračék," — पुत्री "doč', dévuška" i t. d.

Esli my v spomnim, čto vračami byli braxmany, čto slovo पुतली prinadležit detskomu jazyku i čto korova iméla ogromnoé značénié v xozjajstvénnoj i religionoj žizni Indii, né trudno budet ponjat', počemu dublety s "r" polučili značénie form vysokogo stilja.

V rjadé slučaév my naxodim *analogičnye sootnošenija značénij* dubletov "r" i "l" i v sanskrite. Takovy, naprimér:

उज्ज्वल "gorét', pylat'" — ज्वर् "gorét' v lixoradké"
ज्वल "plamja" — ज्वर "lixoradka"
चल् "prixodit' v dvižénié drožat', kolébat'sja" — चर् "dvigat'sja, idti, pastis'"
कल् "délat', prinimat'sja za" — कर् "delat', tvorit'"
लोहित "krasnyj" — रोहित "krasnyj, ryžaja lošad' ili lan'"
म्ला "vjanut'" — मर् "umirat'"
लज्ज् "smuščat'sja, stydit'sja" — रज् "krasnet'"
लघु "bystryj, légkij, néznačitel'nyj, ničtožnyj" — रघु "bystryj, nazvanié carskogo roda *Ragxu*"
लाघव "lëgkost', legkomyslié"

Vslédstvié togo, čto sanskritskie slovari né vségda dajut vaznvě dlja nas tonkié ottenki značénij, a takžé vslédstvié togo, čto grammatiki, kotorymi rukovodstvovalis' sostavitěli slovaréj, začastuju stavili znak ravenstva méždu "r" i "l", často ves'ma zatrudnitěl'no prědstavit' sémantičeskié otténki značénij. V vide prédpoložénija my možém, naprimér, vyskazat' mysl', čto, naprimér, iz dvux dublétov रोम i लोम, pervonačal'no v raznyx dialektax imévšix odno i to-žé značénié, poslé vxožděnija ix v klassičeskij sanskrit pervoé imělo značénié "volosy", a vtoroé "šérst'" i liš' vposlédstvii oni sblizilis' v svoix značenijax, xotja polnogo sovpadénija v značénijax nět i v nastojaščéé vremja, kak pokazyvajut frazeologičeskié oboroty

रोम रोम से = तन मन से
रोम रोम से आशीर्वाद देना i drugié, gdé dublét लोम obyčno nè upotrěbljaétsja

Rjad sanskritskix slov s polnoj jasnost'ju svidétél'stvuět o tom čto formy so zvukom "l" osoznavalis' kak eleménty slovarja nizšix kast. Naprimér:

उलूखल "stupka" pri उरू "širokij"
उपल "vérxnij kamén' ručnoj mél'nitsy" pri उपरि "v vrěxu"
खल "zloděj, izvěrg" pri खर "tvěrdyj, žěstkij".

Sjuda žě otnosjatsja nazvanija razlĭčnyx vnutrennix organov. Poskolku umeršěvlěnie životnyx i soprikosnovenie s trupami pavšix životnyx' vposledstvii bylo delom nizšix kast, nazvanija vnutrennix organov vstrečajutsja v klassičeskom sanskritě tol'ko s "l". Naprimĕr

कोमन् legkie'
क्लोमन् 'selezenka'
उर्वी 'jagoditsa' i drugiě

Ravnym obrazom so zvukom "l" vystupajut nazvanija tsvetov, v kotorye proizvodilas' okraska

पलित serыj'
नील sinij
मल grjaznyj
काल 'černyj

Sověršenno ponjatno čto detal'noe rassmotrenie problemy čerědovanija zvukov "r" i "l" potrebovalo by privlečenija značitel'no bolěe obširnogo materiala, kotoryj ne mog by uložit'sja v ramkax nebol'šoj zametki. Zdesj dany tol'ko němnogié naibolee prostye slučai čerědovanija etix zvukov.

Mne predstavljaětsja odnako, čto i privědennye kratkie dannye pozvoljajut otnestis' skeptičěski k utvěrzdeniju o bězrazličnom upotreblenii zvukov "r" i "l" i běspričinnomu narastaniju, a potom padeniju upotreblěnija "l".

Formy s "r" i "l", povidimomu pervonačal'no byli xarakterny dlja razlĭčnyx lokal'nyx dialěktov. Odnako tak kak nositěli zapadnyx dialektov prinadležali na vostoke gospodstvujuščim klassam, poskol'ku kasty braxmanov i kšatriěv v značitel'noj měrě sostavilis' iz vyxodtsěv zapadnyx častěj Indii, dialekty kotoryx xarakterizovalis' rotatsizmom, formy s "r" stali priznakom vysšix klassov obščěstva, a formy s "l" priznakom dialektov nizšix klassov.

V silu etogo, uže v sanskritě nametilos' sěmantičěskoě i stilističěskoě razlĭčie dubletov s "r" i "l" kak prinadlěžaščix sootvetstvěnno k vysokomu i nizkomu stilju.

Takoě osoznanie dublětov s "r" i "l" prodolžaět razvivat'sja, projavljajas' i v novyx indoarijskix jazykax, gde dublěty s "r" imejut značěnie form bolěě vysokogo stilja, čem form so zvukom "l".

Věs'ma xarakterno, čto v jazykě tex avtorov, kotoryě izbegali vysokogo stilja my ně nabljudaěm i elemĕntov rotatsizma. Takov, naprimĕr jazyk Kabira.*

* श्री सुवाति कुमार चटर्जी ने रसा लिपि से रोमन लिपि में अक्षरान्तर किया।

डेरेवाली कहावतें

[श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्रिणी]

कहावतों मे पुरखों के तजरबे संचित रहते हैं। किसी जाति की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि स्थिति के अध्ययन के लिए कहावतें उपयोगी होती हैं। किसी भाषा के अध्ययन के लिए तो वे और भी महत्त्व की चीज़ हैं, क्योंकि उन मे शब्द और मुहावरे मँजे हुए रूप मे पाये जाते हैं। उब्भे (उत्तरी) डेरे और लम्मे (दक्षिणी) डेरे अर्थात् डेरा-इस्माइलख़ान और डेरा-गाज़ीख़ान की बोली डेरेवाली कहलाती है। वह आर्यावर्त्त की सब से पश्चिमी वाणी है। डेरेवाली और मुलतानी में नाम का ही अन्तर है। बन्नू, कोहाट, पेशावर, तथा अटक, शाहपुर, झंग आदि की बोलियाँ भी उस मे बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। पश्चिमी पंजाब की ये सब बोलियाँ एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस भाषा का नाम पादरी तिस्डाल ने आज से ४५ वर्ष पहले ल हँ दा रक्खा था। लहँदा (डेरेवाली मे—लांधा) का शब्दार्थ है उतरता। उतरते सूर्य के उपलक्षण से किसी बोली मे इस का अर्थ पश्चिम दिशा भी होगा; डेरेवाली मे तो पूर्व पश्चिम को हम डिम्भार (=डीं-उभार=दिन का उभरना), डिलाः (=डीं-लाह=दिन का उतरना) कहते हैं। हमारी भाषा के नाम के रूप मे लहँदा शब्द सर्वथा निरर्थक और अनुपयुक्त है। श्रीयुत प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस भाषा का नाम हि न्द की प्र स्ता वि त किया है, क्योंकि इस की कई बोलियाँ 'हिन्दकी' या 'हिन्दको' नाम से परिचित हैं[1]।

जहाँ तक मुझे मालूम है, हिन्दकी कहावतों का अभी तक ऐसा कोई संग्रह नहीं हुआ। शाहपुरी बोली का तो एकाध छोटा-मोटा संग्रह हुआ भी है, पर डेरेवाली की ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया। इस लेख में प्रत्येक कहावत के शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ देने का यत्न किया गया है।

डेरेवाली में कुछ विशेष उच्चारण हैं—

स्वरों में—ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार अधिक हैं, उन के वही चिह्न रक्खे गये हैं जो इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने नियत किये हैं। ऐ और औ का उच्चारण सर्वत्र हिन्दी शब्दों की तरह है; जैसे—बैठा और चौड़ा शब्दों मे।

व्यञ्जनों मे—वर्गों के तृतीय अक्षरों से मिलते हुए चार अतिरिक्त अक्षर हैं, जिन के लिए इस लेख मे ग॒ ज॒ ड॒ ब॒ चिह्न रक्खे गये है। सर ज्योर्ज ग्रियर्सन ने "लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया" मे इस उच्चारण-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु वह उच्चारण-भेद स्पष्ट है क्योंकि उस के कारण अर्थभेद भी हो जाता है। उदाहरण के तौर पर, गुड्डी=लँगडी। ग॒ुड्डी=पतंग, गुडिया। जा=जाए। ज॒ा=(तू) पैदा कर। बुआ=फूफी। ब॒ुआ=दरवाजा। वच्चे=वचे। व॒च्चे=वच्चे।

य़ की अपेक्षा ञ्य का उच्चारण हलका होता है जिस के कारण उस का पूर्वगामी स्वर गुरु नहीं होता। ञ्य का प्रयोग मराठी मे भी है, और वही चिह्न इस लेख मे अपना लिया गया है।

इस संग्रह में मुझे अपनी पूज्य बहन श्रीमती कौशल्यादेवी विशारदा से बहुत कुछ सहायता मिली है, अत: वे मेरे धन्यवाद की पात्र हैं।

१—'भारतभूमि और उस के निवासी', पृ० २१६-२१।

अक्क न लान्नी, ते करने पा वान्दी ।
[करना = नारंगी का फूल]
आक नहीं पाती, और करने पहन बैठती है। हैसियत से ऊँचा काम करना।

अक़ल न शहूर, नाना मनसाराम कपूर।
अकल (है) न शहूर, पर बाबा (ने) (नाम) मनसा (मनीषी) राम कपूर (धराया है)।

अक्ल बैठा डिट्ठा हाई, ते बख़्त बैठा खाधा हाई।
[बख़्त = भाग्य]
अकल ने बैठे बैठे देखा था, और भाग्य ने बैठे बैठे खाया था—भाग्यहीन विद्वान् मारे मारे फिरते हैं और भाग्यशाली मूर्ख मौजें करते हैं।

अकल मुत्त् मिठ्या चूरया।
[मुत्त् = बिना]
(देखो तो) अकल बिना मीठे चूरमे (पा रहा है)।

अक्खीं थिआ डू, ते डेखण थिआ नित दा!
(बेचारे का क्या दोष?) आँखें (तो) हुई (केवल) दो और देखना हुआ नित्य का!
बपरवाही से देखनेवाले पर मीठी चुटकी।

अगुली न पिछ्ली, धाड़ा मारे विचली।
[धाड़ा मारे = लूट मचाये, विचली = मझली]
(न) पहली न अन्तिम, मझला (बीच म आ) लूट मचाये। अपना क्रम छोड़ कर अनधिकार चेष्टा करनेवाले पर आक्षेप।

अग्गे चिक्कड़ हाई, उत्तु ढाँदा मुत्र्या।
आगे (ही) कीचड था, ऊपर से बैलों ने मूता।

अगल अगूठा विथ नाल खड़ोतेन।
[विथ = फ़ासला]
अँगुली (और) अँगूठा फासले से खड़े हैं।
कुछ हो, अपने पराये का भेद रहता ही है।

अगल अगल चट्टी, नउँ मण माखी घट्टी।
[माखी = माक्षिक, शहद]
अँगुली अँगुली (कर के) चाटी गई, नौ मन शहद घट गई।

अज्ज खा सभाईँ खुदा।
[सभाईं = श्व, आनेवाला दिन = सिन्धी 'सभायों']
आज खा (ले) कल खुदा (देगा)।

अज्ज तां अज्ज ए, पच्छां तोड़ी कज्ज ए।
[ए=हे (=है) का संक्षेप, पच्छां=आज की रात, कज्ज=ढके रहना या ढकनेवाला; दूसरों के सामने गरीबी या त
का छिपे रहना, या छिपा रखनेवाला]
आज तो आज है, आज रात तक बहुत है (ढका रहेगा)।
किसी दिन अपूर्व लाभ की बात हो जाय तब यों हर्ष प्रकट किया जाता है।

अट्टा काज तोड़ी, कुड़ी डाज तोड़ी।
[काज=विवाह। कुड़ी=दुलहिन। डाज=दहेज]
आटा विवाह तक, दुलहिन दहेज तक।
जब तक दहेज के कपड़े पहनती है तभी तक दुलहिन होती है।

अठ कोठे अठ पिरा:, काई नीं बीबी दे हंगण दी भा:!
[कोठा=अन्दर का कमरा। पिरा.=कोठे और आंगन के बीच का कमरा]
आठ भीतरी कमरे (हैं) आठ बाहरी, पर बीबी के हगने की कोई जगह नहीं!

अठ छक्कां, डा निवेरां, अज्जां बीबी निरन्ने-हां!
[छक्कां=छक कर कलेवा करूँ। निवेरां=खा लूँ। निरन्ना=निराहार। हां=हृदय]
आठ (चीज़ों का) कलेवा कर लूँ, दस खा लूँ, अभी तक बीबी (कहती है) भूखे-पेट (हूँ)!

अढाई बूट्यां फत्तू बागवान!
अढ़ाई बूटे हैं, (तो भी) फत्तू बागवान (कहलाता है)!

अद्धा घड़ा हमेशां उछलदे।
आधा घड़ा हमेशा उछलता है।

अनडिट्ठ किराड़ी मणका लद्धा, धुन्नी ते लटकन्दा!
[अनडिट्ठ=जिस ने कभी अच्छे दिन न देखे हों। किराड़ी=हिन्दू स्त्री, किराड़ शब्द बनिये के अर्थ में बर्ता जाता
पश्चिमी पंजाब में बनिये का पेशा करनेवाले खत्री, अरोड़े, भाटिये ही हिन्दू रह गये हैं, इसलिए किराड़ का अर्थ हिन्दू हो
हैं। इसी प्रकार जट्ट और मुसलमान वहां समानार्थक शब्द हो गये हैं। कई बार किराड़ और ब्राह्मण में भी भेद किया जाता
लद्धा=लब्ध, पाया। धुन्नी=नाभि।]
गरीब किराड़ी ने मनका पाया, नाभि पर लटक रहा है! अनदेखी चीज़ पर फूले न समाना।

अन्दर भरया, बाहर भरया, बुए ते काला कुन्ना धरया।
अन्दर सखणां बाहर सखणां, बुए ते बैठा चन्न सुलखणां।
[बुआ=दरवाजा, कुन्ना=बड़ी बटलोई। सखणां=खाली]
(एक का) भीतर भरा (है), बाहर भरा (है) परन्तु (उसके) दरवाजे पर काली बटलोई धरी है। (दूस
भीतर से खाली (है), बाहर से खाली है, (किन्तु) दरवाजे पर सुलक्षण चाँद (बना) बैठा (है)।
एक आदमी सब कुछ पास रहते हुए भी दुनिया में शान-शौकत के साथ रहना नहीं जानता। दूसरा
...ी पास न रहते हुए ठाठ से रह लेता है।

अन्दर भाण्डे सखणें, बाहर सड्डींन्दे शा' !
[सड्डण=पुकारना]
भीतर (तो) बर्तन खाली (हैं), बाहर शाह पुकारे जाते हैं।

अन्धा के मंगदे ? डू अक्खीं।
अन्धा क्या माँगता है ? दो आँखें।

अन्धी अन्धा रल्या, हिका जुग्गा गल्या।
[जुग्गा=घर]
अन्धा अन्धा मिल गये, एक ही घर बरबाद हुआ। जो बरबादी दो जगह आधी आधी बँटती, वह एक ही जगह आ पड़ी।

अन्धे अग्गू रोवण, ते अक्खीं दा जिआन।
['ते' का अर्थ 'और' या 'पर', किन्तु यहां केवल दो वाक्यों को जोड़ने के लिए है, संस्कृत 'खलु' की तरह। जिआन=नुकसान]
अन्धे के आगे रोना, केवल आँखों का नुकसान (करना है)।

अन्धे, काणे, गुड्डे दी हिक रग वसेक होंदी हे।
[गुड्डा=लँगड़ा। वसेक=विशेष]
अन्धे, काने, लँगड़े की एक रग ज्यादा होती है—उनके स्वभाव में कुछ न कुछ अनोखापन रहता है।

अन्धे दी मुक्क, बेडी (या भड) दी धुप्प, मत्रेई दी भुक्ख, गरीब दी चुप्प।
[बेडी=नाव। मत्रेई=सौतेली माँ]
अन्धे का मुक्का, नाव (या बदली) की धूप, सौतेली माँ की (दी हुई) भूख, गरीब की चुप्पी (बुरी तरह सताने वाली होती हैं)।

अन्धे घर लोटी हे।
अन्धे (के) घर लूट (मची) है।

अन्न पराया हे, ढिड्ढ ता आपणा हे।
अन्न पराया है, पेट तो अपना है। दूसरे के घर खाते समय अन्न पर तरस नहीं तो अपने पेट पर तो होना चाहिए।

अन्न बलाईं दा बुन्न हे।
अन्न बलाओं का बाँध है।
अन्न खाने से रोगों का सामना करने की शक्ति आती है।

अन्न होवी तन्दूर ता, धन होवी ता मित्र वधा।
अन्न हो (तो) तन्दूर तपा, धन हो तो मित्र बढ़ा। तन्दूर की रोटी के लिए कड़ा आटा बर्ता जाता है, इस कारण उस में आटे का खर्च अधिक होता है।

अम्मां जाया न बावे जाया, सभ्भो लोक पराया।

[जाया = पैदा किया]

(मेरा) माँ का बेटा या बाप का बेटा (अर्थात्, सगा) कोई नहीं, सारी दुनियाँ पराई (है)।

अम्मां डित्ता, बावे डित्ता, साईं न डित्ता, कई न डित्ता।

माँ ने दिया, बाप ने दिया, (पर) परमात्मा ने न दिया, (तो) किसी ने न दिया।

अराईं, तम्मां ताईं, वन्नाँ लंघ ते खबर घिनाईं!

[अराईं = पंजाब की एक जाति जो खेती-बागवानी का काम करती है। तम्मां = गरज़। वन्नां = खेत की मेंड़। विन्नण = ग्रहण, लेना]

अराईं गरज़ (रहने) तक (भेंट उपहार देते हैं), (गरज़ न रहने पर कहते हैं) मेंड़ लाँघ और खबर लूँ!

अल्ला अल्ला खैर सल्ला।

अल्ला अल्ला (कहते रहो) खैरियत (रहेगी)।

आई गुपाली, विसरी जपाली।

[गुपाली = किसी स्त्री का नाम। जपाली = जपने की माला]

स्त्री आई, जाप की माला विसरी।

विवाह के बाद पूजा-पाठ भूल गये।

आई हाई भा विन्नण, बण बैठी चुल्हे दी सैण।

आई थी आग लेने, बन बैठी चूल्हे की सॉइन।

आए दी खुशी न गए दी गमी।

(न) आये की खुशी, न गए की गमी।

आखां धी कूं, सुणावां नूं कूं।

[धी = दुहिता (पालि 'धीता'), बेटी। नूँ = स्नुषा, पतोहू]

कहूँ बेटी को, सुनाऊँ पतोहू को।

एक को लक्ष्य कर दूसरे से बात कहना।

आगा दौड़, पैछा चौड़।

आगे दौड़ (बढ़ते जाना), पीछे चौपट।

आड़ा पाड़ा, आमक कूं दनाः दा साड़ा।

[आड़ा पाड़ा = तुकबन्दी के लिए निरर्थक शब्द है। आमक = अहमक। दना = दाना, सयाना। सड़न = जलना]

अहमक को सयाने से जलन (होती है)।

आदत न वन्जे आदती, खसलत मूल न जा।

[वन्जे = जाय; वन्जण = व्रजन, जाना। आदती = आदतवाली, जन्मसिद्ध। मूल = जड़ से, हर्गिज। जा = जाय।]

आदत और जन्मसिद्ध स्वभाव हर्गिज़ नहीं जाते।

आदत सिर नाल वेंदी है।
आदत सिर के साथ जाती है।

आदमी न मनुक्ख, साभण दा वी डुख !
[साभण = सँभालना, पालना]
(यह तो न) आदमी है न मनुष्य, (इसके तो) पालने का भी दुःख (है)।

आँदी है घोडे चढी, वैंदी है जू रीक़।
(बीमारी) आती है घोडे चढी, जाती है जूँ की तरह। बीमारी के आते तो पता नहीं लगता, किन्तु जाती बहुत धीरे धीरे है।

आधे दा कुझ नईं गिआ, ता साधे दा वी कुझ नईं गिआ।
[आखण = कहना, आधा = कहता हुआ। सांधा = सहता हुआ]
कहने वाले का कुछ नहीं गया, तो सहने वाले का भी कुछ नहीं गया।

आप कुचज्जी वेडे डो:।
[चज्ज = सलीका, शहूर, यह पजाब का बडा भावपूर्ण शब्द है, जो संस्कृत 'चर्या' से बना है, और हिन्दी में अपनाया जाना चाहिए। सुचज्जी, कुचज्जी दोनों शब्द प्रचलित हैं। वेड़ा = आँगन। डो = दोष।
आप कुचज्जी, आँगन पर दोष। नाच न जाने आँगन टेढा।

आप चङ्गा ता जग चङ्गा।
आप भला तो जग भला।

आप ता गुल्ली बामणी, जिजमान ई गुल्ये नाल।
[ई = भी, इभी का संक्षिप्त रूप है]
ब्राह्मणी आप तो बरबाद हुई (सो हुई), यजमान भी साथ (ही) बरबाद हुए।

आपणा अक्ल ते पराया धन हर कईं वूं वडुँ डिसदे।
अपना अकल और पराया धन हर किसी को बहुत दीखता है।

आपणां घर पिआ वस्से ता लोक किउं हस्से ?
[पिआ वसण = पड़ा बसे, बसा रहे]
अपना घर बसा रहे तो दुनिया काहे हँसे ?
घर में कलह द्वेष न हो तो लोगों को हँसी का मौका नहीं मिलता।

आपणा घर ता हग भर, पराया घर ता थुक दा वी डर।
अपना घर तो (भले ही) हग (कर) भर, पराया घर तो थूक का भी डर।

आपणा मूं डिसदा नईं, नुए दा भांदा नईं।
अपना मुँह दीखता नहीं, दूसर का भाता नहीं।

आपणां वत्तन कश्मीर हे।
अपना वतन कश्मीर (के बराबर) है।

आपणी आप निभाइए, उसकी ओ जाणे।
अपनी आप निभाइए, उसकी वह जाने।

आपणीं पत्त, ते आपणे हत्थ।
अपनी पत अपने हाथ (होती है)।

आपणे गुण्ये पुत्र माणिक होंदेन।
पुत्र अपने गुणों से माणिक होते हैं। गुणों से मनुष्य की प्रतिष्ठा होती है।

आपणे घर कुत्ता वी शींः होदे।
अपने घर कुत्ता भी शेर होता है।

आपणे पेर धोन्दे कडाई काई बानी सड्डी ए?
अपने पैर धोते कभी कोई दासी कहलाई है?

आपणे मूं दा सरावणा तां गूं खावणा हे।
अपने मुँह का सराहना तो गू खाना है।

आपणे मूं मियाँ मिट्ठू।
अपने मुँह मियाँ मिट्ठू।

आप न जोगी गवांढ बलाए।
[जोगी = योग्य। गवांढ = पड़ौसी। बलाए = विठावे]
अपने लायक (जगह) है नहीं, पड़ोसी को विठावे।

आप न मरिए ते सर्ग न जा।
आप न मरिये तो स्वर्ग न जाइए। स्वयं श्रम किये बिना कुछ नहीं मिलता।

आप बीबी दरमांदी, ते नेक्यां खट्टण जांदी।
[दरमांदी = दर दर माँगने वाली]
आप (तो) बीबी दर दर माँगती है, और (दूसरों को दे कर) नेकियाँ कमाने जाती है।

आप होवें तकड़ी, ते किउं लग्गी फकड़ी?
[होवें = तू होवे। लग्गी = तुझे लगे। फकड़ी = ठगी, चोरी का खटका]
तू खुद तगड़ा हो, तो तुझे ठगी-चोरी का खटका काहे लगे?

आमक दे लारे ते परन्ये वी कुआरे।
[लारे = भरोसे। परन्या = परिणीत, विवाहित]
अहमक के भरोसे (रहने से) विवाहित भी कारे (हो जाते हैं)।

आया माह पो', हिर ग्वा ते त्रिआ जो'।
[जो =जोत, शुरू कर]

आया पूस महीना, एक गया और दूसरा जात। पूस का दिन इतना छोटा होता है कि मजर का खाना निपटाते ही शाम का रसोई को लगना पडता है।

इण मिण, ते मैंकू विच गिण।
[इण मिण = बच्च की बोली का अनुकरण]

इण मिण, मुझे बीच में गिन। ग्वाहमरवा दखल देन वाले पर कटाक्ष।

इत्थ न डित्ता, उत्थ न लद्धा, सुञ्ञा जी अजाबें बुद्धा।
[सुञ्ञां = शून्य, सूना, व्यथ मे। अजाबें = मुसीबतों में]
यहा (इस लोक में) दिया नहीं वहा (परलोक में) पाया नहीं। व्यर्थ मे जीव मुसीबता में बँधा (रहा)।

इया पुझारत पुझ, जो निन्द्र जिआ नहीं कुज्झ।
यही पहला बूझ, कि नींद जैसा कुछ नहीं (होता)।

ईसवगोल, ते कुज्झ न फोल।
[फोलण = खोल कर बिखेरना]

ईसवगोल—और कुछ मत खोलो (पूछो)।
यह बात ईसवगोल की तरह लेसदार है, कुछ पूछो मत।

ईं जग दी भैंडी चाल, डुंदी हां कुकड ते थी वैंदी ए डाल।
इस जग की बुरी चाल है, देती हूँ मुर्गा, और हो जाती है दाल।
इस कहावत पर एक छोटी-सी कहानी यों है—एक स्त्री ने दूसरी का मुर्गा अमानत रखने का दिया, उस ने मुर्गा खा डाला और टोकरे के नीचे दाल का कटोरा रख दिया। मालकिन ने कहा, मैं तो मुर्गा दे गई थी। इस पर उस ने उक्त कहावत कही।

उगड्ये दन्द लगद नई।
उखडे दांत (फिर) लगते नहीं। फटे दिल फिर नहीं मिल सकते।

उच्चा लम्मा गभरू पल्ले ठीकरिआ।
[गभरू = दूल्हा या पति, जवान]
ऊँचा लम्बा जवाँ मर्द है, पर पल्ले ठीकरियाँ हैं। शरीर का तो खूब अच्छा है, पर निर्धन है।

उन्नड पुनड निहाल ए।
(चाहे) खो (कर) (चाहे) गँवा (कर) (हर हालत में) निहाल (खुश) है।

उठ दे मुह के आसी? नाल दी गा।
[नाल - पीलु की बला]
ऊँट के मुँह मे क्या आएगा? जाल का गन्ध। दुष्ट हमेशा बुराई की बात ही कहेगा।

उठ दे सिरूं परूण लह पए ।

[परूण = अनाज या आटा छानने की चलनी जिस में दो-तीन सेर के करीब अनाज समाता है]

ऊँट के सिर से परूण उतर गया है । कुछ थोड़ा-सा काम हलका हो गया है ।

उठ न रुन्ने, बोरे रुन्ने !

ऊँट नहीं रोये, बोरे रोये ।

ऊँट तो बोरो के बोझ को रोता नहीं, उलटा बोरे रोते हैं । ज़ालिम उलटा मज़लूम की शिकायत करता है !

उठ मुल ते बकरी भूंगा ।

ऊँट मोल और बकरी घलुआ ।

अनुपात से अधिक घलुआ माँगने पर आक्षेप ।

उत्तूं उत्तूं वत्ती घोल घोल घत्ती ।

[वत्तण = न्योछावर होना । घोलण = बलिहारी होना, वारे जाना । घत्तण = डालना]

ऊपर ऊपर से (अपने को) वारी बलिहारी (किये) डालती है ।

उत्तूं दी चक्खी-मक्खी, विचूं वुड़ वुड़ त्रकी ।

[वुड़ वुड़ = बौलाव के साथ, उगलते हुए । त्रकण = सड़ना]

ऊपर से चिकनी चुपड़ी (है), बीच से सड़ाँद उगलती है ।

दिखलावे की सफ़ाई रखने वाले पर आक्षेप ।

उत्तूं दी भोली भोली, विचूँ दी पत्थर दी गोली ।

ऊपर की भोली भोली, बीच की पत्थर की गोली ।

उधार चा के पाए चूड़ा, रन्न ई कूड़ी ते मुणस ई कूड़ा ।

[रन्न = स्त्री (तुच्छतासूचक शब्द) । कूडी = झूठी, कसूरवार]

उधार उठा कर पहने चूडा, (वह) औरत भी कसूरवार और मर्द भी कसूरवार ।

उबाल दे पिच्छूं टोये ।

[उबाल = जल्दबाजी । टोये = गड्ढे]

जल्दबाज़ी के पीछे (परिणाम-स्वरूप) गड्ढे (होते हैं) ।

उरसी कुरसी, कन्ध पेरे ते टुरसी ।

[उरसी = औरस प्रवृत्ति, वंशबीज । कन्ध = स्कन्ध, दीवार । पेरा = आधार, नींव । टुरण = त्वरण, चलना] ।

औरस प्रवृत्ति (के अनुसार) वंश-परम्परा (होगी), दीवार नींव पर (ही) चलेगी । जैसे बाप-दादा होंगे वैसी सन्तान होगी ।

उलटा चोर कुटवाल कू नप्पे ।
उलटा चोर कोतवाल को पकड़े ।

उवा घडी सुलखणी, जेरी शौं नाल विआवे ।
[शौं = पति, परमात्मा]
वही घडी सुलखनी है जो मालिक के साथ बीते ।

उवो गन्ना मिट्ठा, जेरा चक्ख नईं डिट्ठा ।
वही गन्ना मीठा, जो चख नहीं देखा ।
तभी तक प्रत्येक गन्ना मीठा जान पड़ता है जब तक चखा नहीं जाता ।

ए जग झूठा, डेंदी दॉं मुगर वण वैंदे ठूठा ।
[मुगर = धातु का कटोरा । ठूठा = मिट्टी का प्याला]
यह जग झूठा (है), देता हूँ कटोरा बन जाता है ठूठा ।
यह कहावत "ई जग दा भैडी चाल" का जवाब है। कहते हैं कि मुर्गे की बजाय दाल लौटाने वाली स्त्री ने किसी दूसरे दिन पड़ोसी स्त्री को बाजार से घी ला देने के लिए कटोरा दिया, उस ने भी मौका देख कटोरा अपने घर रख लिया और ठूठे में उसे घी ला दिया। पूछने पर उसे उक्त कहावत बना कर सुनाई ।

ए जग मिट्ठा, अग्गू कें डिट्ठा ?
यह जग (तो) मीठा (है ही), आगे किस ने देखा ?
"आकबत की खुदा जाने अब तो आराम से गुजरती है ।"

ए त्रै पीडाँ मन्धाँ, पाए, पुत्र, भिरावाँ सन्धाँ ।
[पाए = पति । भिरा = भाई]
ये तीन पीडाएँ बहुत बुरी हैं—पति, पुत्र और भाई से सम्बन्ध रखने वाली ।
पति, पुत्र अथवा भाई इन में से किसी पर कोई आपत्ति आए तो स्त्री को असह्य वेदना होती है ।

ओ चौंड ते ओ चन्दरा, ऊं मारी कुण्डी त ऊं मार्‌या जन्दरा ।
[चन्दरा = भण्ट]
वह चौपट (है) तो वह भण्ट (है), उस ने कुण्डी लगाई तो उस ने ताला लगाया ।
दोनों एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर बुरे हैं ।

ओ डिंहाड़ा डुन्ना, जड्डा घोडी चढ़या कुन्ना ।
वह दिन हुआ, जब कुबड़ा घोड़ा पर चढ़ा (विवाह के लिए) ।

ओढर नई बुझदा बोढर बुझदे ।

[ओढर = नवजात शिशु । बुझावरण = बूझना, बीमार होना । बोढर = कुछ बड़ा बच्चा किन्तु स्तनपायी]

ओढर (कष्ट) नहीं बूझता, बोढर बूझता है । माता की बदपरहेज़ी का प्रभाव ओढर पर भले ही न हो, बोढर पर होता है । असल में तो ओढर पर अधिक प्रभाव होता है, पर बच्चा बड़ा हो गया है अब दूध का असर उस पर बुरा नहीं पड़ेगा, ऐसा माँ कभी न सोचे, यह शिक्षा इस में है ।

ओ मंगे पिहावी, ओ पत्थर डाले !

वह माँगे पिसाई, वह पत्थर डाले ।

कई पीता खीर, कई पीता पाणी, रात हिक्को जीं विहाणी ।

किसी ने पिया दूध, किसी ने पिया पानी, रात एक-सी बीती ।

कई गोए दी फोसी दे अग्गू ई हाल डित्ता हाई !

किसी ने गोबर की चोथ के आगे भी (दिल का) हाल दिया (कहा) था ।

आदमी दुखी होता है तो पत्थर को भी जा सुनाता है ।

कख दी चोरी, ते लख दी चोरी ।

तिनके की चोरी, और लाख की चोरी ।

दोनों का नाम चोरी है ।

कट्टी कुद्दी हे किल्ले दे आण ते ।

कटड़ी कूदती है खूँटे के बल पर ।

कड़ाईं तां डोमां ई गांवण सट्या हाई ।

कभी तो डोमो ने भी गाना छोड़ दिया था ।—कभी तो हर कोई अपनी प्रकृति छोड़ देता है ।

पंजाब में डोमों का मुख्य पेशा व्याह-शादी में गाना है ।

कणक दा पथ, सुत्ते बाल दा हत्थ ।

[पथ = कई मनों का एक ढेर]

गेहूँ का पथ और सोते बालक का हाथ (बराबर होते हैं) ।—सोता बालक बहुत बोझल होता है ।

कन्ध ऐरे ते, रोटी पेड़े ते ।

दीवार नींव पर (अनुसार), रोटी पेड़े पर (अनुसार) ।

कन्ध दा विछोड़ा, पन्ध दा विछोड़ा ।

[पन्ध = पथ, रास्ता]

दीवार का विछोह, दूर देश का विछोह (एक ही है) ।—चाहे दीवार भर का हो चाहे दूर का हो विछोह तो विछोह ही है ।

कन्ध कू लेपा डेवो, कन्न ई सूणी लगदी हे।
दीवार को लाप दो, दीवार भी सुन्दर लगती है।

कन्धाँ कू कन्न हेन।
दीवारों को (भी) कान हैं।

कन्धी ते नुखटडा अज ढहा के कल।
[कन्धी=नदी का कगार, बुखटडा=बूटा पौदा]
कगार पर बूटा, आज गिरा या कल।
बूढे आदमी का जिन्दगी का क्या भरोसा है ?

कन्धु डूर, कन्धारु डर।
दावार से दूर (है तो), कन्दहार से दूर (है तो, एक ही बात है)।

कपडा आधे तू मैंकू रख ता' कर, ते मे तैंकू कड्ढा पातशा' कर।
कपडा कहता है तू मुझे रख तह कर, तो मैं तुझ निकालू बादशाह (बना) कर।

कन्नर चूनेगज, मुर्दा बेइमान।
कब्र पर ता चूना फिरा है, मुर्दा नईमान (है)। ऊपर से सुन्दर, अन्दर से कुटिल।

कम करे गोली, टप बावे ममोली।
काम करे दासी, कूद (कर) बैठे निठल्ला।
घर म जिन्हें एक सा काम करना चाहिए, उन में से एक तो दासी की तरह काम करती है, दूसरी निठल्ला बैठी रहती है।

कम दा कम, ते दिल्ली तोडी वञ।
काम (के बदले) का काम (है), तो दिल्ली तक जा।
दूसर से कराये काम क बदले में उस का काम करना पड, ता शिकायत न करनी चाहिए।

कम पिआरा हेंदे, चम पिआरा नई हेंदा।
काम प्यारा होता है, चाम प्यारा नहीं होता।
आदमी क काम से मतलब होता है, उस का मुँह तो देखना नहीं होता,

कमले जट्ट कटोरा लद्धा पी पी ढिड्ढ अफरा।
पगले जाट न कटोरा पाया, पी पी पेट अफरा (लिया)।
दुर्लभ चीज पा कर फूल न समाना।

कमल्या दे सिर कोई सिंघ हेंदेन ?
पगलो के सिर कोई सींग होते हैं ?

कर मजरी ते खा चूरी।
कर मजदूरी तो खा चूरमा। मेहनत का फल मीठा होता है।

कर वड्डाई ते पा छाई ।

[वड्डाई = घमण्ड । छाई = धूल]

अभिमान कर, तो धूल पा । ऊँचे बोल का सिर नीचा ।

कर्मां नाल विलल्ली भेड़े, कूड़े वन्ने दावे ।

[विलल्ली = पगली, भोली । भेडण = झगड़ना]

पगली कर्मों के साथ झगड़ा करे ! झूठे दावे बाँधे ।

कर्मों पर कभी किसी का बस चल सकता है ?

कहाणिआं ववाणिआं, मुट्ठीं पुत्र करेन, जेरे घरूं निकम्मे उवे वए सुणेन ।

[ववाणिआं = 'कहाणिआं' का अनुस्वरण शब्द । मुठीजण = मुषित होना, ठगा जाना, गँवाना]

कथा कहानियाँ, गँवाऊ (निठल्ले) बेटे किया करते हैं, जो घर से निकम्मे (हों) वे ही बैठे सुना करते हैं ।

काई सव्वड़ हे जो पूरी नईं आंदी ?

(यह) कोई रजाई है जो पूरी नहीं आती ?

किसी ऐसी वस्तु के विषय में, जिस का थोड़ा थोड़ा कर के बहुतों में भी बटवारा हो सके, कोई संदेह दिखलाए कि इतने आदमियों को कैसे पूरी पड़ेगी, तब यह कहा जाता है ।

काँ, किराड़, कुत्ते ते, विसाः न करें सुत्ते ते ।

कौआ, किराड़ (और) कुत्ता (इन तीनों) पर—सोतों पर (भी तू) विश्वास न करना । इनकी नींद बड़ी कच्ची होती है । ज़रा से खटके से जाग जाते हैं ।

कां गए हन हंसाँ दी वोली सिक्खण, आपणी ई वञा आए हन ।

[वञावण = गँवाना]

कौए गए थे हंसों की बोली सीखने, अपनी भी गँवा आए थे ।

कां दी जिव्भा खाधी होई हेस (या, कां दा भेजा खाधा होया हेस ।)

(इस ने) कौए की जीभ खाई हुई है (या, कौए का भेजा खाया हुआ है) । बहुत बतियाने वाले के विषय में कहा जाता है ।

काज़ी तां मोया कज़ा नाल, तू किउं मोयों रज़ा नाल ?

काज़ी तो कज़ा से मरा, तू (अपनी) रज़ा से क्यों मरा ? जिसे लाचार कष्ट भोगना पड़े वह भोगे, दूसरा व्यर्थ क्या भोगे ?

काड़सी काड़सी, जीन्द्यां कूं भुख मारसी, तां मोयां कूं क्या तारसी ?

['काड़सी' को केवल तुकवन्दी के लिए दोहरा दिया है]

एकादशी जीतों को भूखा मारेगी, तो मरों को क्या तारेगी ?

काणी अख न रानी गुज्झी, तं मारी ते म बुज्झी।

[गुज्झी=गुह्य, छिपा। अख मारण=आख से इशारा करना ; काणी अख मारण=काने की तरह अर्थात् टेढ़ी आँख से देखना, दुष्टतापूर्ण कटाक्ष]

"कानी आँख" छिपी नहीं रहती, तू ने "मारी" और मैंने बूझा।

झात्या दा चिलकार ते नौलू जागदा।

छुरियों की झनझनाहट (हुई) और न्योला जागता है। नींद म पडा जो व्यक्ति अपने मतलब की घात पर एकाएक जाग पडे, उस पर अन्योक्ति।

काल पिया दुचित्ता, मा पिउ देवण छोड्या, धीरीं मार्‍या पित्ता।

[दुचित्ता=दोतरफा काल=अकाल]

दोतरफा अकाल पडा, माँ बाप न देना छोडा बेटियों न बाप मारा।
माँ बाप बेटी को देना छोड दें तो बेटी भी ऐसा व्यवहार करती है मानो वे मर गए हो।

काठ मूल न थींदे वगे, भावें सौ मण साबण लगे।
काठ हर्गिज गोरा नहीं होते, भले ही सौ मन साबुन लग जाय।

किटकिट घडे दा पाणी सुकेंदी ए।

किचकिच घड का पानी (भी) सुखा देती है।

किराडपुत्र जित्ती टुर्‍या उत्ती भुर्‍या।

[भुरण=क्षीण होना]

किराडपुत्र ने जितना सफर किया उतना क्षीण हुआ (धन से)।

सफर में हर-हाल खर्चा बहुत होता है।

किराड़ दा छोटा भाई, जट दा जुंवाई।

किराड का छोटा भाई जाट का जमाई (दोनों को नौकर के समान काम करना पडता है)।

किराडपुत्र वजा के सिखदे।

किराडपुत्र गँवा कर सीखता है।—नुकसान उठाने के बाद उसे अकल आती है।

मिस्त्री दा मिस्तरी चल्ले कुण्ड दी जान गुल्ले।

[कुण्ड=कुण्ठितबुद्धि अनाड़ी]

कारीगर का कारीगरी चलती है, अनाडी की जान जाती है।—कारीगर की कारीगरी से जो काम हो जाता है, वह अनाडी के जान देने से भी नहीं होता।

किस्मत बाझ न पीतो चुक भर, कौन आखे नसीबा इँवें कर ?

[बाझ = बिना। चुक = अञ्जलि]

किस्मत के बिना (तू ने) अंजलि-भर (पानी भी) नहीं पिया। कौन कहे कि नसीब, (तू) ऐसा कर ?—किस्मत के बिना सामने उपस्थित जल-भण्डार में से अञ्जलि-भर पानी भी किसी को नहीं मिलता, भाग्य से कोई अपनी मनचाही नहीं करा सकता।

कीते दा मैं कदर न जाणां खेड़ा बेबुण्यादा।

[खेड़ा = अरोड़ों की एक उपजाति]

किये की मैं कदर न जानूँ, (कैसा) बेबुनियाद—बेपेंदी का—खेड़ा हूँ।

कृतघ्न पर उक्ति।

कीताम चाः नाल खादाम खट्टी छाः नाल।

(मैंने) किया (तो) चाव के साथ, (पर) खाया खट्टी छाछ के साथ।

असफलता पर खेद।

कुक्कड़ बांग न डेसी, तां डीं न थीसी ?

मुर्ग़ा बाँग न देगा तो (क्या) दिन न होगा ?

कुकड़ बुंदा तांहां ते, भाजी डेंदा मुआं ते।

मुर्ग़ा अपनी ख़ास जगहों पर ही बैठता है, (अमुक आदमी) मुँह देख कर भाजी बाँटता है (अपने लिहाज़-मुलाहज़े के आदमियों को ही देता है)। तुच्छ आदमी की मुर्गे के साथ तुलना।

कुचज्जी गई धाँवण, से आई घग्घरे दी लाँवण।

कुचल्ली नहाने गई, घाघरे का आँचल भिगो आई।

कुझ खाधा कुझ पिच्छूं जोगा रख्या।

[जोगा = योग्य]

कुछ खाया कुछ पीछे की ख़ातिर रखा। भला आदमी उपकार करने लगे तो एक ही समय उस पर बहुत बोझ न डालना चाहिए।

कुत्ता राज बहाइए, चक्की चट्टण जा।

कुत्ते को राजगद्दी पर बिठाइए (फिर भी) चक्की चाटने जाएगा।

कुत्ता वी पूछली वता बाँदे।

[वतावण = घुमाना, फेरना]

कुत्ता भी पूँछ फेर कर (पूँछ से जगह साफ़ कर के) बैठता है।

कुत्ते दी पुन्छ कूं कर्इ ग्रारा वरथे नडकी इच रख्या हाई, ता ई सिध्धी नाई थई ।
कुत्ते की पूँछ को किसा न बारह वर्ष नली मे रक्खा था तो भी सीधी न हुई ।

कुत्ते धरमसाल द जिन्द ड्रित्तीनुंडे दाल ते ।
[धरमसाल = गुरद्वारा]
धरमसाला के कुत्ते दाल पर जान दिए बैठे हैं । पजाब की धरमसालों या गुरुद्वारों में राटी दाल का लगर (भण्डारा) खुला रहता है । धर्मस्थाना पर अपनी जीविका का निर्भर रखने वालों पर अन्योक्ति ।

कुन्नीं उभरदी ए, आपणे कण्डल पई सड़ेन्दी ए ।
[साड़न = जलाना]
हाँडी उभरती है, अपने किनारे जला रही है । क्रोधी अपना ही बिगाड करता है ।

कुम्भार दे घर बुड्ढा लोटा ।
कुम्हार के घर फूटा लोटा ।—कुम्हार के अपने घर में फूटे लोटे ही रहते हैं, हलवाई स्वय मिठाई नहा खाते ।

कोई न रिहा नाल, ते नेंठी राम सम्भाल ।
[सम्भालणा = स्मरण करना]
कोई न रहा साथ, (तू) नैठी राम का स्मरण कर ।

कोई मरे कोई जीवे, सुथरा ग्राल पतासे पीवे ।
[सुथरा = उस इलाके का एक साधुओं का सम्प्रदाय]
कोई मरे कोई जिये, सुथरा बताशे घोल कर पीता रहता है ।
किसी के सुख दु ख में सहानुभूति न रखने वाले पर आक्षेप ।

कोढी नूँ टोटा खल दा, सूणी नूं टोटा महल्ल दा ।
[कोढ़ा = कुरूप । सूणी = शोभना, सुन्दर]
कुरूप पतोहू (मानो) खली का टुकडा है, (और) सुन्दर पतोहू (मानो) महल का टुकडा है ।

कोल्या दी दलाली इच हत्थ ई काला पेर ई काला ।
कोयलों की दलाली में हाथ भी काला पैर भी काला ।

कौड़ो घडा भर, धी दा दाद पूरा करे ।
[दाद = रिवाज का दान]
(माँ-बाप चाहे) कौडा में (एक) घडा भरें, (पर बेटी का देन पूरा करें—जैसे तैसे बेटी का दान पूरा करना चाहिए) ।

कौन कई कणा आँवदा ? ते किस्मत आवदा टार ।
कौन किसी के पास आता है ? भाग्य ही उसे चला लाता है । बडे भाग्य से किसी का आना होता है, आने वाले का स्वागत ही करना चाहिए ।

खबरां पों न हिके मर गएं हिके छोड़ गएं।
खबरें पड़ती है या तो मर जाने से या छोड़ जाने से। जब तक आदमी पास रहता है उस की परवा नहीं की जाती; पीछे पता चलता है।

खाई कोलूं चाई पिआरी होंदी ए।
खाने से उठवाना प्यारा होता है। बच्चा खिलाने वाले की अपेक्षा उठाने वाले पर अधिक रीझता है।

खा गए रंग ला गए छोड़ गए सो ओड़ गए।
(जो) खा गए (सो) रंग लगा गए (मौज कर गए), (जो) छोड़ गए सो डुबा गए।

खाड़ इच वड़्या तां छिंडकां कोल क्या डरया ?
[खाड़ा = हौज]
हौज में घुसना तो छींटों से क्या डरना ?

खाधा गूं, ते रख्या मूं।
खाया (तो) गू (बन गया), और (किसी को देने के लिए) रक्खा गया (तो) मुरौवत बढ़ी।

खाधा तां रज्ज के सुत्ता तां मूं कज्ज के।
[रज्जण = अघाना]
खाया (जाय) तो अघा कर, सोया (जाय) तो मुँह ढक कर।

खाधा पीता पाया संतोख, भाण्डे मांजण वड्डा औख।
खाया पिया (तो) संतोष पाया, (पर) बर्तन माँजना बड़ी कठिनाई है।

खा न पी पुत्र वड्डा पिआ थी।
खा न पी पुत्र बड़ा होता रह।
खाली बातों से प्रेम दिखलाना।

खांदी पींदी नां मरे उघलांदड़ी मर जा।
[उघलावण = जँभाइयाँ लेना, वहम करना]
खाती पीती (तो) नहीं मरती, वहम करती करती मर जाती है।
रोगों का मुख्य कारण वहम होता है।

खांदी पींदी मकड़ी वाङ्ग, सुकदी वैंदी लकड़ी वाङ्ग।
खाती पीती (है) मकड़ी की भाँति, सूखती जाती (है) लकड़ी की भाँति

खान्दें खांदे खूह खुट वैंदेन।
[खुट्टण = क्षय होना, समाप्त होना]
खाते खाते (धन के भरे) कुएँ भी खतम हो जाते हैं।

खा पी न मुकर ।

खा पी (कर) मुकर मत ।

खावणा आपणा ताल पराई ।

खाना अपना पड़ताल पराई । अपना खाना है तो दूसरों की पड़ताल क्यों की जाय ?

खाणा दी मैं डुत्थी पुत्थी, पाई ता मड़ा जुँज ।
कत्तण दी मैं झाँवणी, छिमाई वाड़ा सुँञ ।

[डुत्थी पुत्थी = फोकी फाकी; पाई = करीब सोलह सेर; जुँग = एक समय का भोजन; झांवणी = बहुत ही तेज; वाड़ा = करीब आध पाव धुनी हुई रूई का गोला, सुँञ = शून्य]

खाने में मैं बहुत ही ढीली हूँ, पाई भर मेरा एक समय का भोजन है। कातने में मैं बहुत ही तेज हूँ—छमाही में एक वाड़ा कभी निकालती हूँ, कभी वह भी नहीं।

खावणा छाण ते पड़ु मारने पिस्सी दे ।

खाना चोकर और पाद मारना मैदे के ।
अमीरी की झूठी डींगें हाँकना ।

खावाँ पीवाँ सत बलाईं, उठी न सगाँ बुए ताईं ।

खाऊँ पीऊँ (तो) सात बलाएँ, (पर) उठ न सकूँ दरवाजे तक (दरवाजे तक भी उठ कर न जा सकूँ)।

खावे गुढ़ा मरीजे कल्ला ।

खाय (तो) सारा परिवार (और) मारा जाय अकेला—पाप की कमाई करने वाले का धन खाता तो सारा परिवार है, पर फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है।

खावे पा कमावे खा, खावे सेर कमावे शेर ।

खाय पाव तो कमाये राख, खाय सेर तो कमाय शेर (की तरह)। जो खायगा अधिक वह कमायगा भी अधिक।

खिल खिल विढाईं कल्जे हथ घताईं ।
[विढावणा = हिसाब या बदला चुकाना]
(ऊपर से) हँस हँस (कर) चुका दूँ, (अन्दर से) कलेजे में हाथ डालूँ।
ऊपर से मीठे और अन्दर से घातक बनना ।

खिल्या हस्या मन परचाया, नाँ कुझ गिआ नाँ कुझ आया ।

हँस लिया, मुसकरा लिया, मन बहला लिया (इस से) न कुछ गया न कुछ आया।—खुशमिजाज रहने में यदि हाथ कुछ न आय तो जाता भी तो नहीं।

खीर दा खीर पाणी दा पाणी, गुजरी वेच के पिच्छूंताणी।

[खीर = क्षीर, दूध]

दूध का दूध (रहा) पानी का पानी (हो गया); गूजरी वेच कर पछताई। इस कहावत पर एक कहानी है—एक गूजरी दूध मे पानी मिला मिला कर वेचती रही। थोड़े दिनों मे उस के पास कुछ रुपये जमा हो गए। उन से उस ने सोने के कगन वनवाये। एक दिन वह नदी मे मुँह हाथ धोने लगी तो उस के हाथ का एक कंगन गिर पडा और वह गया। तव उस की समझ में आ गया कि जो कंगन गिर गया वह पानी की कमाई का था और जो बचा है वह वास्तव मे दूध की कमाई का है। सो वह वहुत पछताई और उस दिन से उस ने पानी मिलाना छोड दिया।

खुट्टी दा दारू कोई नईं।

आयु-क्षय की कोई दवा नहीं।

खुआं द्रिआवां दा अन्त पाते, वन्द्यां दा अन्त कर्ह नईं पाना।

कुओ नदियो का अन्त पा लिया गया है, (पर) मनुष्यों (के हृदय) का अन्त किसी ने नहीं पाया।

खू दी मिट्टी खू खा वैंदे।

कुएँ की मिट्टी कुआँ (ही) खा जाता है।

गज़ां मुत्तू पग्गां वदा कच्छेंदे।

[कच्छण = मापना। वत्तण = फिरना, सहायक क्रिया-रूप मे]

गज़ो विना पगडियाँ नापता फिरता है।

साधनो विना काम साधन की डींग हाँकना।

गँढ न पल्ले, खीसा हल्ले।

गाँठ पल्ले (तो) कुछ है नहीं, जेव हिल रही है। पास मे तो कुछ है नहीं, वातें वड़ी वड़ी वनाई जा रही हैं।

गञ्जी छुट्टी धॉवण्यें तेल मिट्टी लावण्यें।

गंजी नहाने और तेल-मिट्टी लगाने से वच गई। पच्छिमी पंजाव और सिन्ध मे प्रायः मुलतानी मिट्टी से ही वाल धोये जाते हैं।

गरमी दा मण सहीता वैंदे, वा दी रत्ती ई नईं सहीती वैंदी।

पित्त का मन-भर सह लिया जाता है, वात की रत्ती भर भी नहीं सही जाती।

ग़रीवां रोज़े रख्ये, ड्डी वड्डे थरा।

ग़रीवो ने रोजे रक्खे (तो) दिन वड़े हो गए।

दैव की मार भी ग़रीवो पर ही पडती है।

गल्ली ते आया, तल्ली ते खाया।

[तल्ली = हथेली]

गली पर आया, हथेली पर खाया (गया)। घर के अन्दर भी न पहुँच पाया और खा उडा लिया गया।

गुल्ली ते सटेसी, शरीक त मिन्नत न लैसी।
[शरीक=रिश्तेदार, दाय म भाग बँटाने वाला]
गल्ला पर फकेगा, (पर) शरीक पर एहसान न करेगा।
चाहे जाया चला जाय किन्तु किसी का देना नहीं।

गाँ न वच्छी, निन्द्र कर हच्छी।
(तेरे पास) गाय है न बछिया, अच्छा नींद कर।
गाय बछिया वालों को दिन रात का काम रहता है।

गाल नाल गाल अखाईं वल्के नाल नक कपाईं।
[वल्हा=घुमाव]
बात के साथ बात कहूँ, एक ढंग से नाक काटूँ।
ढंग से बात कह के दूसरे को शर्मिंदा कर देना।

गालीं करेन, रुप्ये द गुन काल सिया।
[रुप्या=रुपया गन=दूना]
बातें करता है रुपये के दून से भी साधी।
वे सिर पैर की बातें करता है।

गालीं धा गालीं, रोक्रा द माठ।
बातों की बातें, दामों के माठ।

इस कहावत पर एक कहानी चली आती है। कोई आदमी मुलतान जा रहा था। उस के मित्रों, परिचितों में से किसी ने कहा मेरे लिए वहाँ का रेशम लाना, किसी ने कहा चाँदी के बटन लाना, इत्यादि। दाम किसी ने न दिये। एक ने अधन्नी पकड़ाते हुए कहा मेरे लिए दो पैसे के मोठ लेते आना। जब वह लौटा तो जिस ने दाम दिये थे, बस तो माठों की पोटली पकड़ा दी। बाकियों से इधर उधर की बातें करना शुरू किया। जब सब ने अपनी अपनी चीज़ों के विषय में पूछा, तब उसने उक्त कहावत सुना दी।

गिद्द्ड़ कू जेर वेले सी लगुन, उँ वल्ले खुड्ड खटेन।
[सी=शीत]
गीदड़ को जिस समय जाड़ा लगता है, उस समय बिल खोदता है।

गुजर गई गुजरान, क्या झुग्गी क्या मैदान ?
गुज़र हो गई—झोंपड़ी (हुई तो) क्या ? (और) मैदान हुआ तो क्या ?

गुड़ दी कौर केंगी कौड़ी होंदी ए ?
गुड़ का कौर भी कहीं कड़वा लगता है ?
सभी चीज़ें एक से प्यारी लगती हैं।

गुमास्ते खांदे शकराँ, ते शाः मरेंदे टकराँ ।
गुमाश्ते शक्करें खाते हैं और शाह टक्करें मारते हैं ।

गो कूं मिली गो, जिआं ओ ते जिआं ओ ।
गोह को गोह मिल गई, जैसा वह है वैसा वह है ।

गोगी आप जोगी ।
[गोगी = छोटी सी मोटी रोटी]
गोगी अपने लायक ही है ।—जिस के पास गोगी है, उसी का पेट उस से मुश्किल से भर पाता है, दूसरे को क्या दे ?

गोरी नार, कजले दा सिंगार ।
गोरी स्त्री (का) काजल ही सिंगार हो जाता है ।

घर ए तां जग ए ।
[ए = हे = है]
घर है तो जग है ।

घर कुड़ी जग होका ।
[कुडी = बहू, दुलहिन]
घर (मे) बहू, लोगो मे ढंढोरा ।

घर डाँग नई बन्दूक ले आओ ।
घर लाठी नहीं है, (कहते हैं) बन्दूक ले आओ ।

घर दाणे नई, "अम्मां पीहण गई ए" ।
घर दाने नहीं है (कहते हैं) अम्माँ पीसने गई है ।

घर दा जोगी जोगड़ा, बार दा जोगी सिद्ध ।
घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध ।

घर दा भेदी लंका ढावे ।
घर का भेदी लंका ढाय ।

घर दी सड़ी भरर गई, ते भरर कूं लग्गी भा ।
घर की जली भरने गई, तो भरने को (भी) आग लग गई ।

घर दी गंगा धांदा कोई नई ।
घर की गंगा नहाता कोई नहीं ।

घर दी होवे रज्जी, बारूं आवे थाली कज्जी ।
घर की अघाई होवे (तो) बाहर से भी थाली ढकी आवे ।

घर लक्ख दा, बुंर कख दा।
घर लाख का, बाहर तिनके का।

घर न फिट्टे ताणी, ते कोई न सड्डे काणी।
घर में से ताना न बिगडे, ता कोई कानी न पुकारे। घर के लोगों में एकता हो तो बाहर बेइज्जती नहीं हो सकती।

घरु सिख डिराणी दी मत, बारु सिख गवांढण दी मत।
[डिराणी = दिरानी, किन्तु पति के भाई का—चाहे वह बड़ा हो छोटा—देर (देवर) कहा जाता है इस लिए यहाँ डिराणी का अर्थ जठानी है]।
घर में से सीख जेठानी की मति बाहर से सीख पडोसन की मति।

घाई घा मारेंदा मर गिआ, अजे सावे दा सावा।
[घा मारणु = घास काटना]
घसियारा घास काटता काटता मर गया, दूब हरी की हरी।

घिउ खान्दे सुके, ते पाणी पीन्दे कुप्प।
[कुप्पे = मोटे मुस न्]
घी खाते सूखे, और पानी पीते मोटे-ताजे।

घिन्नण कीते भीण निल्याणी, डेवण कीते मुसलमानी।
लेन की खातिर 'बहन मरिय' (पुकारती है), देन की खातिर (अपने को) मुसलमानी (बताती है)।

गू इच जित्ती लकड मारो उत्ती बो खिन्डदी हे।
गू में जितना लकडा चलाओ उतना बदबू फैलती है।

गू ई गोए ते चघद।
[चघर्ण = दाप बता कर चिढ़ाना]
गू भी गोबर को चिढाता है।

चङ्गे दी चङाई, उलटा सिर कूँ खावण आई।
भले की भलाई उलटा सिर को खाने आई। भले ने बुरे का भलाई की, तो भले को कष्ट ही उठाना पडा।
चार पल्ला मैडे चिक्कड भरचे, केरा मल मल धोवां?
मेरे चारों पल्ले कीचड से भरे (हैं), कौन सा मल मल कर धोऊँ?

चाकरां दी चूकरां त चूकरां दी कीश कीश।
[चूकर = चाकर के नमूने पर कल्पित शब्द]
चाकर (के जिम्मे) का (बात) 'चूकर' पर पडी, चूकरों की टालमटोल।
एक दूसरे पर छोडता है, दूसरा तीसरे पर, इस तरह काम यों ही रह जाता है।

चाँदणी रात ते मा पिउ दा राज ।
चाँदनी रात और माँ बाप का राज । माँ बाप का राज्य चाँदनी रात की तरह होता है ।

चिट्टा सिर धुप ते कीतेम !
[चिट्टा = सफ़ेद]
(अमुक ने) धूप पर (में) सिर सफ़ेद किया है ।
बूढ़ा है, किन्तु व्यवहार बुद्धिमत्ता का नहीं ।

चिट्टी डाढ़ी ते अट्टा खराब ।
सफ़ेद दाढ़ी है और (फिर भी) आटा खराब (अपनी मिट्टी खराब करते हैं) । सफ़ेद दाढ़ी होने पर भी बुराइयों से बाज नहीं आते ।

चिन्ता चिखा बरोबर है ।
चिन्ता चिता समान है ।

चिट्टे कपड़े ते सलामां दी चट्टी ।
सफ़ेद कपड़ों तो सलामों की आफ़त । केवल सफ़ेद कपड़े पहन कर बन फिरने वालों के कारण लोगों पर सलामी की आफत ही पड़ती है ।

चिट्टे तां वेड़ दे बड़ुम्बे ई बुउ पएन; गुण होवेन ।
सफ़ेद तो कपास के डोडे भी बहुत पड़े हैं, गुण हों । गोरे रंग से कुछ नहीं होता; गुण होने चाहिए ।

चिट्टे तां भेड़क दे वट्टे ई बुउ पएन ।
[भेड़क = दूधिया रंग का पत्थर; वट्टा = पत्थर, भेड़क दे वट्टे = दूधिया रंग के पत्थर]

चुआ खुड न मावे पिच्छूं बन्ने छज्ज ।
चूहा (स्वयं तो) बिल में नहीं समाता (और अपने) पीछे सूप बाँधे (बाँध लाता है) ।

चुल अंगारयों नई रज्जो, मा बालयें नई रज्जी ।
चूल्हा (कभी) अंगारों से नहीं अघाया; माँ (कभी) बच्चों से नहीं अघाई ।

चुल्ल ते, सो दिल ते ।
(जो) चूल्हे पर, सो दिल पर । जो समीप होता है उसी से अधिक प्रेम होता है ।

चुल दी खैर, कुल दी खैर ।
चूल्हे की कुशल, कुल की कुशल । पहले अपनी भलाई करो कुल की भलाई स्वयं होगी ।

चुल दे पिच्छूं पंसेरा, हुण उठी सस्सेड़ घर मेरा ।
अग्गे खाधा हेई बुतेरा, हुण वारा आया ई मेरा ।
[खाधा हेई = तून खाया है]
(बहू कहती है) चूल्हे के पीछे पसेरी [ये शब्द केवल तुकबन्दी के लिए हैं], अब उठ सास, घर मेरा (है) । आगे तूने बहुतेरा खाया है, अब मेरी बारी आई है ।

चेत्र विसाख भॅवे, जेठ हाड सॅवे,
सावण भद्रों धॅवे, अस्सू कत्ये थोड़ा खावे,
तबीब पुछ्ण न जावे।
चैत बैसाख घूमे, जेठ असाढ़ सोवे,
सावन भादों नहावे, असौज कातिक थोड़ा खावे,
(ता) हकीम (को) पूछने न जावे।

चोर आवे शै छपोजे, चुग़ल आवे ग़ाल लुकीजे।
चोर आय तो चीज छुपाई जाय, चुगलखोर आय तो बात छुपाई जाय।

चोर कू आख्या 'घर भन्न', साध कू आख्या 'भजदा पई'।
चोर को कहा 'घर फोड', साधु को कहा 'टूट रहा है'। इधर की बात उधर, उधर की इधर।

चोर दा उग़ाः गण्ढीकप।
चोर का गवाह गिरहकट।

चोरी कोलू मीणा है, ज़ारी कोलू मीणा हे, पोरये दा के मीणा हे ?
चोरी से उलहना (मिलता) है, जारी से उलहना है, मेहनत मजूरी में क्या उलहना है ?

छत्ते मू दो आ वैसेन, जुम्मा आया खड।
[छत्ते = सिर के बाल मू दो = मुँह की तरफ।]

छत्ते मुँह के सामने आ जायँगे, जुम्मा आया खड़ा है। मुसलमान लोग जुम्मे पर हजामत करवाते हैं। जब कोइ किसी के दोष दिखाय तो वह कहता है, समय दूर नहीं है, तुम्हारे दोष भी सामने आ जायँगे।

छा न मक्खण अजाया झग्गण।
छाछ न मक्खन, व्यर्थ का बिलोना।

छिक्के ते पडछिका, तुसा बारा ते मैं हिक्का।
[पडछिका = छीकों की परम्परा]

एक छीके पर दूसरा छीका, उस पर तीसरा, (इसी प्रकार) तुम बारह और मैं अकेली।
एक छीके पर टँगे अनेक छीके जैसे एक ही छीके का काम देते हैं, वैसे तुम बारह का मैं अकेली मुक़ाबला कर सकती हूँ।

जॅञ पराई ते आमक़ नच्चे।
पराई बरात पर मूर्ख नाचता है।

जुट कू किस दी वड्डाई ? थुक्क दी वड्डाई।
जाट को किस का अभिमान ? थूक का। तुच्छ मनुष्य तुच्छ वस्तु पर इतराता है।

जिब्भ आख्या मिट्टा मिट्टा, संग आख्या कुझ न डिट्टा।
जीभ ने कहा मीठा मीठा, गले ने कहा कुछ न देखा। चीज़ स्वादु, तो थी, पर थी इतनी ज़रा सी कि गले तक पहुँची ही नहीं।

जीन्दा शेर ए, मोया मिट्टी दा ढेर ए।
जीता (मनुष्य) शेर है, मरा मट्टी का ढेर है।

जीवे करनी उवें भरनी।
जैसी करनी वैसी भरनी।

जीवें चोली पाड़ी हेइ, उवें बै कर सी।
जैसे (तू ने) चोली फाड़ी है, वैसे बैठ कर सी।

जुलाब घिन्नण तां पक्के कोठे कूं सघ लावण है।
जुलाब लेना तो पक्के कोठे को सेंध लगाना है।

जूं मुत्तु सुरकार नई, धी मुत्तूं हाल नई।
जूँ के बिना खुजलाहट नहीं, बेटी के बिना (दिल का) हाल नहीं (कहा जाता)। माँ अपना दिल बेटी के आगे खोलती है।

जे नूं कुआरी, सस गल्यां तूं वारी।
जे नूं परनी सस शीख डित्ती घड़नी।
जे नूं पीढ़े बैठी आ के, सस शीख डित्ती ता के।
[शीख = लोहे की सलाई, जिस पर कबाब भूना जाता है]
जो (जब) बहू क्वारी, तो सास गलियों पर वारी (बहू के कूचे पर भी वारी जाती है)। जो बहू ब्याही आई, तो सास ने सलाई गढ़ी जाने को दी। जो बहू पीढ़े पर आ के बैठी, तो सास ने सलाई तपा कर दी।

जेरा बाल पिआ चुरके, ऊँदी मा किउँ थुड़के ?
जो बच्चा हगता रहे, उस की माँ क्यों डरे ?
कब्ज़ न होगी तो बच्चा बीमार न होगा।

जेरा बोले, उवो बुआ खोले।
जो बोले, वही दरवाजा खोले।

जेरा सड़े, चार डिहाड़े अग्गे मरे।
जो जले (ईर्ष्या करे), चार दिन पहले मरे।

जेरा सुख है छज्जू दे चवारे, ओ न बलख न बुखारे।
जो सुख है छज्जू के चौवारे, वह न बलख मे न बुखारे में।

अपने घर में जो सुख है वह विदेश म हर्गिज नहीं। छज्जू भगत का चौबारा लाहौर म अब भी है। यह छज्जू की उक्ति मानी जाती है। वह बहुत दूर दूर घूमा था।

जेरी फुट्टी न विआई, ओ के जाणे पीड़ पराई।
जो न (कभी) फूटी (जिस के कभी गर्भपात नहीं हुआ) और न वियानी, वह पराई पीड़ा क्या जाने?

जेरे राह न वॅञणा, ऊंदा पंध के पुछणा?
[पंध=पन्था, दूरी]
जिस रास्ते न जाना, उस का दूरी क्या पूछना?

जेरा दे शेर थी खडोंदेन।
[जर=जरायु]
जरायुओं (छोटे बच्चों) के शेर बन खड़े होते हैं। छोटे बच्चे के मरने का भी अफसोस कुछ कम न मानना चाहिए। बड़ा हो कर वह भी जवान बन जाता।

जे वस होवी आपणा, पाणी मग न पी।
यदि अपना वस चले, (तो) पानी (भी) माँग कर मत पी।
जहाँ तक हो स्वावलम्बी बनो।

जैंकूं रक्खे साइयाँ, मार न सग्गे को।
जाको राखे साइयाँ, मार न सकिहै कोय।

जैं खाधी सगुले दी डाल, ओ के जाणे टब्बरा नाल।
[सगुला=छोटी देगची। टब्बर=कुनबा]
जिस ने (छोटी सी) देगची की दाल खाई हो वह कुनबों के साथ (रहना) क्या जाने?

जैंदा खाविए, ऊंदा गाँविए।
जिस का खाइए, उस का गाइए।

जैंदा ब़ाल बुलाया, ओ मा बुलाई।
जिस के बच्चे को बुलाया (दिया, खिलाया) गया, वह माँ बुलाई गई।

जैंदी पेकी पवाई दुक्खी, ओ धी के जल्मी सुक्खी?
जिस का मायका तरफ दुःखी, वह बेटी क्या सुखी (जीवन) गुजारेगी?

जैंदे पिच्छू चार, ऊंकूं कड्ढो मार।
जिस के पीछे चार (आदमी पड जायँ) उस को मार निकालो।

जैंदे हत्थ डोई, भुक्ख मोया सोई।

जिस के हाथ चिलड़ा, वही भूखा मरा।

बाँटने वाला सदा घाटे में रहता है।

जो कुञ्झ करे खीर, न गुर करे न पीर।

जो कुछ (लाभ) दूध करता है, (सो) न गुरु करता है न पीर।

जो कुञ्झ करे घिउ, करे न मा करे न पिउ।

जो कुछ (लाभ) घी करता है, (सो) न माँ करती है न बाप।

जो मन होवी आपणा पर वी उाव्वो जाण।

(तेरा) अपना मन जैसा हो, दूसरे का भी वैसा जान।

झड़ झिड़कोल डी गिआ, विलल्ली दा टव्वर भुक्ख मोया।

झड बदली में दिन चला गया, कुचज्जी का कुनबा भूखा मरा।

झिक्का न खावे धिक्का।

[झिक्का = झुकने वाला, विनीत]

झुकने वाला धक्का नहीं खाता।

टके दी रन, ते आने ग्रां जुलमां।

टके की लुगाई और आने की जोकें। स्वयं तो टके की है, पर अपनी चिकित्सा के लिए आना खर्चना चाहती है।

टप पोंदे तां नैं टप वैंदे, खड़ो वैंदे तां अड़ तूं खड़ो वैंदे।

[अड़ = खेत में पानी रोकने को डाली गई मट्टी]

फाँद पडता है तो नदी फाँद जाता है, खडा हो (रुक) जाता है तो मेड़ से (पर) खड़ा हो जाता है।

ठड्ढा घड़ा आप कूं छां ते रखवेंदे।

ठण्डा घडा अपने को छाया में रखवाता है। गुणी की आप से आप कदर होती है।

ठुल्ली वन्नी खावे खन्नी, पाए आखे मेंडी कोठी भन्नी।

पतली नार खावे चार, पाए आखे मेंडी सरफ़ेदार।

[वन्नी = दुलहिन। खन्नी = आधी। भन्नी = टूटी। सरफेदार = किफ़ायतशार]

मोटी दुलहिन आधी (रोटी) खाये (तब भी) पति कहे मेरी कोठी (अन्न की) टूटी। पतली दुलहिन चार खाये, तब भी पति कहे मेरी (स्त्री) किफायतशार है।

ठुल्ला सुत्र वगवाणी दा, न पेटे दा न ताणी दा।

[वगवाणी = बागबान की स्त्री, पेटा = बाना]

मालिन का मोटा सूत, न बाने (के काम) का, न ताने (के काम) का।

मोटी अक़ल के आदमी पर अन्योक्ति।

डुई पारें जुमन्दी ए।
दहो पहरों में जमता है। कर्मो का फल देर म मिलता है।

डडा पीर मुस्टड्या तन्डया ताज्या दा।
डडा मोटों मुस्टण्डों का (भी) पार है। उन्हें भी सावे रास्ते ले आता है।

डुण्डुम मोटे दा मोटा, न ला जाणे न त्रोटा।
[ला = लाग, प्रम। त्रोटा = घटना]
ढीठ माटे का मोटा है, न किसी से ममवेदना करना जानता है न घटना (जानता है)।

डाग ते पन्हेडी, मुद्दा रोटी तोडी,
लक्खीं ते करोडी मुद्दा रोटी तोडी।
[डाग = लाठी पहोन्ही = लकड़ी के डडों की सीढ़ी।]
(जिस के पास केवल) लाठी और निमेना (है उस का भी) लक्ष रोटी तक (है और जो) लखपति और करोडपति (है उस का भी) लक्ष रोटी तक है।

डाची वी ते तोडा त्री।
[डाची = ऊटनी तोडा ऊट]
ऊँटनियाँ बास और ऊँट तीस (बराबर हैं)।

डाढे कोल न डर, डाढे दी डढाई कोलू डर।
जबरदस्त से मत डर, जबरदस्त की जबरदस्ती से डर।

डाढे त म फर न आवा, हीणे ते चढ लत्ता डूवा।
[फर आवण = काबू पाना]
जबरदस्त पर मेरा दाव न लगे, दुर्बल पर चढ़ (कर) लातों से दबाऊँ।

डाढे,दा सत्ता विआ सौ हे।
जबरदस्त का सात बीसे सौ है।

डिंगी रोटी खाधें कोई ढिढ डिंगा थींद?
टेढा रोटी खाने से कोई पेट टेढा होता है?

डिट्ठे नई सो मिट्ठे नई।
(जब तक) देखे नहीं (तब तक) मीठे नहीं। देखने के साथ ही मीठे लगने लगते हैं—पति और पत्नी एक दूसरे को।

डित्ता गिदा भाया दा, काला कुन्ना साया दा।
दिया लिया भाइयों का, काला देगचा साँईयों का।

कुरूप वहू के माँ वाप वहुत कुछ देवें भी तो वह देन-दहेज़ तो शरीक-विरादरी मे वट जाता है। मालिकों के घर मे तो वही रहती है।

डिराणिआं जिठाणिआं, रल वाँवेन तां करेन कहाणिआं, नई तां हड्डां दीआं विराणिआं।

[विराणिआं = वैरिनें]

दिरानिएँ जिठानिएँ मिल वैठें (मेल से रहें) तो कहानियाँ कहें, नहीं तो हाड़ों की वैरिनें।

डिस्सण दे वगले विच्चूं मच्छ्यां दे टरकाऊ।

दीखने के वगले अन्दर से मछलियों के हड़पने वाले। वगला भगत।

डीवा तां कौडी दा लाल ए।

दिया तो कौड़ी का लाल है।

डीं लत्था पलक निखत्था!

दिन ढला जनाव निकले!

डुपार तत्ता गुड्डं मत्ता।

दोपहर तपा गधा मचला।

सुवह ठण्डे वक्त न आ कर दोपहर आने वाले पर आक्षेप।

डू ते डू? चार रोट्याँ।

दो और दो चार रोटियाँ।

डू घरां दा मिज़मान भुक्खा रांधे।

दो घरों का मेहमान भूखा रहता है।

डू भाण्डे खड़कदे आएन।

दो वर्तन टकराते आये हैं।

डू रन्नां त्रीभा धन्नां।

[धन्नां = आदमी का नाम, धनपत का सक्षेप]

दो स्त्रियाँ तीसरा धन्नां।

स्त्रियों के वीच में कोई मर्द वैठे वोले तो उस पर यह व्यंग्य चलता है।

डे के घिनणी, नां रखाईं पिनणी।

[पिनण = भीख माँगना]

दे कर लेने वाली (का) नाम रक्खूँ मंगती।

डैण मोई डुद सट मोई।

डाइन मरी दाँत फेंक मरी।

डोडर का, डोडर का, पाए दा खव्या पिउ दा ना।
[डोडर का=पहाड़ी कौआ—यहा ये शब्द केवल तुकबन्दी के लिए है]
डोडर का डोडर का, पति का कमाई बाप का नाम।

डोमा घर विश्रा, जीवें आवी उवें गा।
डोमों के घर ब्याह (है) जैसा आए वैसा गाश्रो।

डोरे अग्गू गाँविए, अन्धे अग्गू नच्चिए।
बहरे के आगे गाया जाय, अन्धे के आगे नाचा जाय (तो क्या लाभ)?

ढुट्टी डित्ता वरडी खाधा।
[ढुट्टी=एक धूर्त स्त्री, वरडी=वसी नमून की दूसरी]
ढुट्टा न दिया, वरडा ने खाया। चुपचाप दिया गया, जिस से कुछ यश नहीं हुआ।

तलवार दा फट मिल वँदे, जबान दा फट नई मिलदा।
तलवार का घाव मिल (भर) जाता है, जबान का घाव नहीं भरता।

तलवार सामणें आव, सौंए सामणें न आवे।
[सौंण=समधी]
तलवार सामने आवे, समधी सामने न आवे।

ताड़ी हमेशा डुहत्थेंड वजदी हे।
ताली हमेशा दो हाथो से बजती है।

तुरत दान महा पुन्न।
[पुन्न=पुण्य]
तुहाडे पीठे दा कोई छाणन हे?
आप के पीसे का कोई छानना है? आप के काम मे संशोधन का आवश्यकता नहीं।

तू आपणी भरी निवेड।
तू अपनी भरी निपटा। (दूसर की वात में व्यर्थ दखल मत दे)।

तू कौन? मै खामुखा।
तू कौन? मैं ख्वाहमख्वाह।—दाल भात में मूसलचन्द।

तू न जाण मैकूं, ता मै थुका तैकू।
तू मुझे न जान (मेरी परवाह न कर) ता मैं तुझे (तुम पर) थूकू।

तेरांताली ते बारां-वेसी, अन्दर मार बासी परडूसी; बाहुर बेदन कहीं कूं न डूसी।
तेरह चालों वाली और बारह भेस (बनाने) वाली (अत्यन्त चालाक है); अन्दर परदेसी मार बैठेगी, बाहर किसी को पता न देगी।

तैडूडी हे तां मैडूडी हे, मैडूडी कूं हत्थ न ला।
तेरी है तो मेरी है, मेरी को हाथ न लगा।

तैडा मैडा जोड़, मैडे कोठे ते हाथी टोर।
तैडा मैडा नजोड़, मैडे कोठे ते सुई न पांड़।
तेरी मेरी बनी है (तो) मेरी छत पर हाथी चला।
तेरी मेरी अनबन है (तो) मेरी छत पर सुई मत गाड।

थुक सट के निगलींदी हे?
थूक फेंक कर निगली जाती है?

थोड़ा थोड़ा कत्ते निकम्मी मूल न वत्ते।
थोडा थोडा काते, पर निकम्मी हर्गिज़ न रहे।

दम हिआतीं ते नित्त विसाखी।
प्राण बने हैं तो नित वैशाखी (है)। वैशाखी या वैशाख-संक्रान्ति पंजाब का सब से बड़ा त्यौहार है; वह नववर्षारम्भ का दिन होता है।

दिल विच होवी सच्च, गली ते नंगी थी के नच्च।
(तेरे) दिल मे होवे सचाई, तो (भले ही) गली में नंगी हो कर नाच।

दिल्ली दे लड्डू जेरा खावे, पछतावे; जेरा न खावे ओ वी पछतावे।
दिल्ली के लड्डू जो खाए पछताए जो न खावे सो भी पछताय।

दुनिआँ रंग-बरंगी कोई राजा ते कोई भंगी।
दुनिया रंग-बिरंगी कोई राजा तो कोई भंगी।

द्रिखाण कण्ढ वलाई, चप्पर उक्खड़ आई।
बढ़ई ने पीठ फेरी, चिप्पड़ उखड़ आई।

धन्न करेंदा कम्म, काली रात कूं।
धन काली (अँधियारी) रात मे भी काम कर देता है।

धाता किराड़, भुक्खा भिघाड़।
नहाया किराड़, भूखा बघेला (सा होता है)—हिन्दू को नहाने के बाद बड़ी भूख लगती है।

धिए ड़ी म तैकी आखां, नुए डी तू कन्न कर।
अरी बेटी मैं तुझे कहूँ, अरी पतोहू तूँ कान कर। एक को लक्ष्य कर दूसरे से बात कहना।

धी उसरी भीए विसरी।
[उसरी=बड़ी हुई]
लड़की बड़ा हुई, बहन बिसर गई।

धी दा देण, भ्रें दा लेप, कदाई पूरा नई थींदा।
बेटी का देन, देगचा का लेप (मट्टी का), कभी पूरा नहीं होता।

धी निवी आई, खा पिन, नूं निवी आई हंडा पिन,
[हंडावण=किसी चीज़ का, विशेष कर कपड़े गहने का, प्रयोग कर के घिसाना]
बेटी नहीं आई तो खा ले, पतोहू नहीं आई तो पहन ओढ़।

धी बन्धण्यें मा सम्भण्यें।
[बन्धणा=लम्बा सा कपड़ा जिस से बजू दराजात के इलाके में गोद के बच्चे को बाँध कर सुलाते हैं कहते हैं इस से बच्चा ठोस और मज़बूत होता है। संभण=संचय करना]।
बेटी गोद में, माँ (दहेज के कपड़े लत्ते) जमा करने में। बेटी के पैदे होते ही माँ को उस के दहेज की फिक्र करनी पड़ती है।

धीरीं आया कत्त के, मा ठरी वे लोको ठरी।
धीरीं मगन घग्घरिया, मा सड़ी वे लोको सड़ी।
[वे लोको=अरे लोगो]
बेटियाँ कात के आई तो माँ (की छाती) ठंडी हो गई, बेटियाँ घाघरियाँ माँगें तो माँ जल भुन गई।

धीरीं मग्गयां कुई नईं, लभ्यां हर कुई हेन।
बेटियाँ माँगीं किसी ने नहीं, पाई हरेक ने हैं।

धी लाग्री हे मा दी डिस्स।
बेटी मां बाप की देन पाती है। मां बाप सम्बन्धियों मित्रों की बेटियों को जैसे जैसे देते हैं वैसे वैसे ही बेटियों को उन लोगों से मिलता है।

धोबी दा कुत्ता न घर दा न घाट दा।
धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

धोब्या दे घर पए चोर, ओ न मुट्टे मुट्टे होर।
[मुट्टे=मुषित]
धोबियों के घर चोर पड़े, (तो) उन का कुछ नुकसान नहीं हुआ, दूसरों का नुकसान हुआ।

नूरपुर द्यां गाईं, उवे चोर ते उवे साईं।

[नूरपुर=कांगड़ा जिले में एक बस्ती, लक्षणा से कोई भी अन्य स्थान]

नूरपुर की गौएँ, वही चोर और वही साईं। नूरपुर में चोर और मालिक का फ़रक नहीं होता—बड़े बड़े आदमी भी चोरी करते हैं।

नेकी बरबाद, गुनां बाकी।

नेकी बरबाद, गुनाह बाकी। किसी का जो भला करोगे उसे वह भुला देगा, जो बुरा करोगे याद रक्खेगा।

पक्खा घिन के अन्दर वड़िए, सव्वड़ घिन के बैंर निकल्लिए।

(असौज कातिक में रात को सोने के लिए) पंखा ले कर अन्दर घुसिए; (चैत वैसाख में) रजाई ले कर बाहर निकलिए। असौज-कातिक में ओस में सोना बहुत बुरा है, चैत-वैसाख में अन्दर की बन्द हवा में सोना बुरा है।

पँचां दा आख्या सिर मत्थे, परनाला उथाईं दा उथाईं।

पंचों का कहा सिर माथे, पनाला वहीं का वहीं। मुँह से तो मान लेना, अमल में न लाना।

पथ्या पहाड़ निखत्था चुआ, उवो ई मोया ओया।

खोदा पहाड़ निकला चूहा, वह भी मरा हुआ।

पद्दल नूं चङ्गी, खोसल नूं मन्दी।

[खोसल=चरखा कातते समय तार तोड़ तोड़ फेंकने वाली]

पादने वाली बहू भली, पर खोसल (सूत बिगाड़ने वाली) बहुबुरी।

बूढ़ी औरतों की दृष्टि में कातते समय रुई की रत्ती भी न खराब होनी चाहिए।

पढ़न वाले दा टोपा, सुणन वाले दी पाई;

ढेरी उन्हां दी जिन्हां तन नाल लाई।

[टोपा=मापने का एक बर्तन जिस में प्रायः चार सेर अनाज समाता है; पाई=१६ सेर अनाज का बर्तन]

पढ़ने वाले का टोपा, सुनने वाले की पाई; ढेरी उन की जिन्हों ने चित्त से लगाई। सुनने वाले को पढ़ने वाले से चौगुना फल मिलता है और अमल करने वाले को उस से भी कई गुना।

परदेस दी सारी कोलूं घर दी खन्नी चङ्गी हे।

परदेस की सारी (साबुत) से घर की आधी अच्छी है।

पर मोया जट्ट, बैठा कबर पट्ट।

पार साल जाट मरा, (और अब उस का तू साथी) कब्र खोद बैठा। मुद्दतों की बीती बात छेड़ता है।

पराई आस कुन्नें दी बास।

पराई आशा तो देगची की बास (मात्र) है (जिस से पेट नहीं भरता)।

पराई मझ दा चड्डा वड्डा डिसदे।
[चड्डा = थनों का ऊपरला भाग जिस में दूध भरा रहता है]
पराई भैंस का चड्डा बड़ा दीखता है।

पराया गाणा पा, ते अद्धा हाल वञा।
पराया गहना पहन, तो आधा हाल गँवा।—खोने टूटने का अँदेसा बराबर लगा रहता है जो कि आधा खो देने के बराबर है।

पराया मोया ते डूणीं खाधा।
पराया मरा तो डाइनों ने खाया।—हम क्या ?

पराये घर उठ मोया नई लभदा।
पराये घर मरा ऊँट भी नहीं मिलता।—क्योंकि अपने घर की तरह वहाँ स्वतन्त्रता से खोजा नहीं जा सकता।

परें दे रो. सुहावणे लगदेन।
[रो = पहाड़]
दूर के पहाड़ सुहावन लगते हैं।

पहाज मक्खण दी ई नई सिञादी।
[पहाज = सौत सिञांदी = सही जाती]
सौत मक्खन का (बनी हो तो) भी नहीं सही जाती।

पाए आवणीं पुत्र जावणीं दी हिको मन पकेसां।
[जावणीं = पैदा होना, मन = मीठा मोटा रोट जो उपलों पर पकाया जाता है और त्योहारों, उत्सवों पर खाया जाता है]
पति आने और पुत्र पैदा होने का एक ही मन पकाऊँगा।

पाणी हमेशा झिक्की झा खड़ोदे।
पानी हमेशा नीचा जगह ठहरता है।

पिउ कोल मैं अग्गे जाई, डाडे दा गुड़ खा के।
तमाशा डेखण मैं गई पड़डाडा कुच्छड़ चा के।
बाप से मैं पहले जन्मी, दादा का गुड़ खा कर।
तमाशा देखने मैं गई, परदादा बगल में उठा कर। छोटे मुँह बड़ी बात।

पुछदा काबल तें कन्धार वञ वडदे।
पूछता पूछता काबुल और कन्धार जा पहुँचता है।

पुत्र कपुत्र ता क्या धन जोड़े ? पुत्र सपुत्र ता क्या धन लोड़े ?
पूत कपूत है तो काहे धन जोड़े ? पूत सुपूत है तो धन काहे चाहिए ?

पुत्र कपुत्र पन्घणेयां पछाणदेन ।

पूत कपूत पालने में (शैशव में) पहिचाने जाते हैं ।

पुत्रां कोलं पोत्रे वध पेंदेन ।

पुत्रों से पोते बढ़ जाते हैं । मूल से ब्याज बढ़ जाता है ।

पेकी भुक्ख इन्नं भी निकल वेंदी ए, सावरी भुक्ख इन्नं नहं निकलदी ।

[भुक्ख = गरीबी, सावरी = ससुराल की]

बेटी मायके की गरीबी से तो निकल जाती है, (पर) ससुराल की गरीबी से तो नहीं निकल सकती ।

पेके न सावरे बुड्ढ मोटे ननगावरे ।

न मायके न ससुराल, हम भली ननियांससुराल । न इधर के रहे, न उधर के रहे ।

पेट इ आपणा ए ते कत्त ई आपणा ए ।

पेट भी अपना है और छुरी भी अपनी है । ससुर का चरित्र तो निन्द्य है, पर क्या करें अपना ही आदमी है !

पेट न पिआं रोटिआं ते सभ्भे गल्लां खोटिआं;

पेट न पिआ नाम ते याद न आया राम ।

[नाम = खाने की ठोस चीज]

पेट न पड़ी रोटिया, तो सभी बातें खोटी ।

पेट न पड़ा खाना, तो याद न आया राम ।

पेरां दे बेर होंदेन ।

पैरों के बेर होते हैं । परिश्रम से मीठा फल मिलता है ।

पैला सुआ, तां क्या हुआ ? दूजा सुआ भिट्टी दी न्याईं ।

[भिट्टण = अशुचि होना, कुछ लम्बक न रहना; भिट्टी = मासिक-धर्म]

पहला प्रसव, तो क्या हुआ ? दूसरा प्रसव मासिक धर्म की न्याईं । स्वस्थ स्त्री को पहले प्रसव को तो कुछ अनुभव ही न करना चाहिए और दूसरे का भी कष्ट मासिक धर्म से अधिक न मानना चाहिए ।

पैली कूं पिछली नईं मिलदी ।

पहली को बाद की नहीं मिलती । पीछे अपनाई हुई दुलहिन अथवा नौकर चाकर पहले वाले की बराबरी नहीं कर सकता ।

पैले डीं मिज़मान, दूझे डीं बेईमान ।

पहले दिन मेहमान दूसरे दिन बेईमान । अधिक दिन मेहमान न बने रहना चाहिए ।

पैसा डित्ता राक, खल्ला मारचा ठोक ।

पैसा नकद दिया और जूता ठोक मारा । नकद दाम देने वाला माल ठोक-बजा कर ले सकता है ।

फज्जर गई निमाशा आई।
सवेरे गई सन्ध्या (को) आई।

फुल दी गो कशतो बाग तोडी वैसी, बन्दे दी नक्री बद्दी दिल्ली कश्मीर ताड़ी वैसी।
फूल की दुर्गन्धि सुगन्धि बाग तक जाएगी, आदमी का नर्का बदा दिल्ली कश्मीर तक जायगी।

फुल नाई डुंगी मागदा, ते डित्ता बाग लुग।
[मांगवो = उधार मांगा गया]
उधार माँगा फूल नहीं देती थी, और बाग लुटा दिया। जीते जी रत्ती भर चीज किसी को न दी, मरने पर सर्वस्व दूसरों के हाथ चला गया।

बुउ गुलामी जुग्गा चौड़।
बहुत (बहुतों की) गुलामी में घर चौपट। जहाँ बहुतों के हाथ में प्रबन्ध हो वहाँ व्यवस्था नहीं रहती।

बुउ पिआर ते बुउ खुआर।
बहुत प्यार तो बहुत ख्वार (बिगाड़)।

बुक्री खीर डेसी मेङणे घत के।
बकरी दूध देगा मेंगनियाँ डाल के। काम कर भी दिया तो बहुत कहन सुनने पर और बुरे ढंग से।

बख्त दिवाना कुत्ता है, जैंदे पिच्छू लग वंजे!
भाग्य पागल कुत्ता है, जिस के पीछे पड़ जाए।

बगे मूल न थींदे काले, भावें मल बावेन मुकाले।
गोरे हर्गिज काले नहीं होते, भले ही मुँह पर कालख मल बैठें।

बणी बणाई, ते बुध उवा आई।
बनी बनाई, और बुद्धि वहा आई। जो होनहार होता है वैसी ही अकल हो जाती है।

बत्ती चुए खा, ते राणी हज्ज कू चली!
बत्तीस चूहे खा कर रानी हज को चली है।

बत्ती डन्द नई बत्ती कात्या हेन।
बत्तीस दाँत नहीं हैं बत्तीस छुरियाँ हैं। सोच समझ कर मुँह खोलना चाहिए।

बन्दा खुट वेंदे, धन्दा नई खुट्दा।
बन्दा खतम हो जाता है, धन्दा खतम नहीं होता।

बन्दे दे पिच्छे बन्दा, बन्दे दा अक्कल अन्धा।
बन्दे के पीछे बन्दा, बन्दे का अकल अन्धा। किसी आदमी के पीछे सब लोग पड़ जाय—सभी उसे बुरा कहने लगें—तो वह घबरा कर अन्धा सा हो जाता है।

बाल गमटाल होंदेन।
बच्चे ग़म टालने वाले होते हैं।

बाल हथ दी कड़छी होंदेन।
बच्चे हाथ की कड़छी होते हैं। बच्चों से काम-काज मे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

बालां दा कम असूंगड़ा होंदे।
[असूंगडा = मुफ़्त का]
बच्चों का काम मुफ़्त का होता है।

बावा टल, पकी पकाई घल।
[बावा टल = एक पंजाबी सन्त जिन के नाम का लंगर अमृतसर के गुरद्वारे में है]
हे बावा टल, पकी पकाई भेज। जो आदमी चाहे कि मेहनत कुछ न करनी पड़े और काम तैयार मिल जाए, उस पर व्यंग्य।

बिल्ली कुत्ता खावे, मनुक्खां अर्थ न आवे।
बिल्ली कुत्ता खा जाय पर मनुष्यों के काम न आवे। जहाँ अव्यवस्था से चीज़ ज़ाया हो, उस पर उक्ति।

बिल्ली कूं खाब छिछड़्यां दा।
बिल्ली को छीछड़ों का ख़्वाब। अपने मतलब की बात का ही ध्यान रखना।

बिल्ली शींह पढ़ाया, शींह् बिल्ली कूं खावण आया।
बिल्ली ने सिंह पढ़ाया, सिंह बिल्ली को खाने आया। गुरुद्रोह।

बिशर्मां ग्रां दूर बलाईं।
बेशर्मों की बलायें दूर (हो जाती हैं)। एका लज्जां परित्यज्य त्रिलोक-विजयी भवेत्।

बुड्हा घिउ पीवे, त जुआन न थीवे।
बूढ़ा घी पीवे, तो (भी) जवान न होवे।

बुद्धू दी नूं, सुंञ दे पासे मूं।
[बुद्धू = किसी का नाम। सुञ = शून्य]
बुद्धू की पतोहू, उजाड़ जंगल की ओर मुँह। आदमियों से मिलना जुलना पसंद न करने वाले पर अन्योक्ति।

पूंदे पूंदे लगी भा, मैं निम्मी लाई, लाई एई खुदा।
पींदे पींदे लगी आग, मैंने नहीं लगाई, खुदा न लगाई है। बुराई कर के कहना कि परमात्मा का करना है।

वुडी डिठ्यां पर डिगे हेठेन।
नाव देख कर पैर टेढे पडते हैं। वाहन सामने रहने पर पैदल नहीं चला जाता।

बेर सुणींदा लक्ख दा, अन्दर त्र पा अट्टा पकन्दा।
बाहर लाख का सुना जाता (है), अन्दर तीन पाव आटा पकता है।

भट्ट भठारी भाटिआ, त्रइये कुपत्ती जात।
भाट भटियारी भाटिया, तीनों बुरी जात हैं।

भट्ठ सना जेरा कन त्रोडे, भट्ठ मूरख जेरा रन छोडे।
धिक्कार उस साने को जो कान तोड, धिक्कार उस मूर्ख को जो वह छोड़।

भाजी दी भाजी, ते कीं मुथाजी ?
भाजी (के बदले) की भाजी, तो क्या मुहताजी ?

भा दी सडी, टिडाणे कोल डरी।
आग का जली, जुगनू से डरी।

भाडे दा मैक्रू सभो कुछ भादा, न भान्दे दा कुफ्फ न भान्दा।
भाने वाले का मुझे सब कुछ भाता (है), न भाने वाले का कुछ नहीं भाता।

भावें आपणी कन्ध ढै पोवे, ता वी पराई मझ जरूर मरे।
भले ही अपनी दीवार गिर पड, तो भी पराई भैंस जरूर मरे।

भिण्ड्या तूर्या, कईं न कीत्या पूर्या।
[भिण्डी तूरी = भिण्डी]
भिण्डियाँ किसी ने पूरी न कीं। भिण्डी की तरकारी से कभी पूरा नहीं पडता, क्योंकि वह बहुत सूख जाती है।

भैंण दे घर भाई, ओ वी कुत्ता, सौरे घर जँवाई ओ वी कुत्ता।
बहन के घर भाई वह भी कुत्ता, ससुर के घर जमाई वह भी कुत्ता।

भुख सुख हे।
भूख सुख है। भूख लगना स्वास्थ्य की निशानी है।

भुन्ना ता रुन्ना होंद।
भुरता तो रोया (हुआ) होता है। सिकुड जाने के कारण बहुत थोडा बनता है।

भैंड़ा जी न धुप्प साह्वे न सीं।
जो बुरा (है) न धूप सहता है न शीत। किसी अवस्था में सन्तुष्ट नहीं रहता।

भेंड़ दी पतशाई, मंगो मी ते घुल्ले झाई।

[मीं = मेंह]

लुरे की बादशाही, माँगा मेह तो चल पड़ता है अन्धड़।

मक्खन खांद्रे कई दे डन्द घसदे न ?

मक्खन खाते किसी के दाँत घिसते हैं ?

मक्खणां दी पल्ली, टुकरां दी गल्ली।

मक्खनो पर पली, (रोटी के) टुकड़ा से दुबला गई।

मक्खी खाध्ये नां मरे, ते मलमला मर जा।

मक्खी खाने से नहीं मरता, पर (उस की) मतली (से) मर जाता है। वहम बुरी चीज़ है।

मखट्टू पुत्र ते खोटा पैसा, औखे वेल्हे कम आंदे न।

निखट्टू बेटा और खोटा पैसा, कठिन समय काम आते हैं।

मच्छी मंदे पूगड़े, जमदों पए तरेन।

[मंदे = मग-दे, साथ के, पूगड़ा = जानवर का बच्चा]

मछली के बच्चे पैदा होते ही तैर रहे होते हैं।

मत्ती डेंदी बिन्नां कूं, ते लुड़दी वैंदी आप।

मत देती है दूसरों को, और आप बहती जाती है।

मत्ती डेवेन भीण भाई, मन कूं न लग्गे काई।

सीख देवें बहन भाई, (पर) मन को कुछ नहीं लगता। किसी भी हितैपी के उपदेश का असर नहीं होता।

मत्रेई, अल्ला मरेई! बावे मेंडे लिक्खी;
पेड़ा घड़ें फीती जेडा ताड़ी मारें तिक्खी;
बावे कूं जो आंदा डेखे टिक्की डेवे तिक्खी।

[फीती = करीब पैसे जितना लकड़ी का एक गोल छोटा सा टुकड़ा]

हे सौतेली माँ, तुझ पर ईश्वर की मार पड़े! तू मेरे बाप की लिखी है (मेरे बाप ने तुझे मेरे भाग्य में लिख दिया है), तू फ़ीती जितना पेड़ा बनाती है, पर तीखी (ज़ोर की) ताली बजाती है (पेड़ा ज़ोर से थपकाती है जिस से मालूम हो कि भारी रोटी बना रही हैं)। बाप को जो (तू) आता देखे तो रोटी बड़ी जल्दी देती है (ताकि छोटी रोटी बना के देने की बात बाप को मालूम न हो)।

मनभवन्दा खाइये ते जग-भवन्दा हंडाइये।

मन-भाता खाइये और जन-भाता पहरिये ओढ़िये।

मन मग पतशाइयां, मैं किथूं नित कढां ?
मन माँगता है बादशाहियाँ, मैं कहाँ से नित नित निकालूँ ?

मन हरामी ते हुज्जतां ढेर।
मन हरामी है तो हुज्जतें बहुत हैं।

ममणां ममणा, हिक खा ते बिआ समणा।
[ममणां ममणा—निरर्थक तुकबन्दी]।
एक खाना और दूसरा सोना।

मम्मोदाणा, कुज्झ न जाणा।
(मैं तो) भोली भाली (हूँ) कुछ नहीं जानता। अनजानपन का ढोंग करने वाले पर उक्ति।

मर न जी, हलाक पई थी।
[हलाक = अत्यन्त दु:खी]
न मर (और) न जी, अत्यन्त दुःखी होती रह। जिस आदमी को न मरने दिया जाये न जीने दिया जाए—काम करने की स्वतन्त्रता भी न दी जाय और काम के लिए जिम्मेदार भी ठहराया जाय—वह अत्यन्त दुःखी रहता है।

मरन्या मुग, ते परन्यां सीरा।
[सीरा = हलुआ]
मरने से मूँग और शादी से हलुआ। किसी के मरने पर सिर्फ मूँग ले लेने से मतलब, और किसी की शादी पर सिर्फ हलुए से।

मर्द दी पण्ठ गुड़ दी हे ते मूं लोह दा।
मर्द की पीठ गुड़ की है और मुँह लोहे का।—पुरुष मुँह से कड़ुए पर अन्दर से हितैषी होते हैं।

मर्दां दा खट्या खा, डिट्टा न खा।
मर्दों का कमाया खा, (पर) देखा न खा। स्त्री को पुरुष की कमाई खर्चने को मिलना चाहिए पर खर्च का हिसाब उस से न माँगा जाना चाहिए।

मर्दां दी पट्ट दी गण्ढ हांदी हे।
मर्दों की रेशम की गाँठ होती है। मर्द अपने दिल में पक्की गाँठ बाँधते हैं।

मलूक बणान सौखड़ा ते गड्डर बणान औखड़ा।
आराम तलब बनना सहल (है) और मोटे रहन-सहन वाला बनना कठिन है।

मांह् सिआला आएड़ा दर दर बलआं भाईं। हर कईं दा अन्त लधोसें कोई कईं दा नाईं।

[माह् = मास, लधोसे = हम न पाया]

जाड़े का मास आया, दर दर आगें जलती हैं। हर एक का अन्त पाया, कोई किसी का नहीं।

मा कढ्ढे धी खावे, घर दी बला घर इच राहे।

माँ निकाले (दान का सकल्प करे) बेटी खावे, घर की बला घर में रहे।

मा कोलूं धी सिआणी, रिद्धे-पक्के पाए पाणी।

माँ से बेटी सयानी, रँधे-पके में पानी डाले।—है तो ऐसी लायक कि रँधे-पके में पानी डाल देती है और बनती है माँ से भी सयानी।

मा जणेदी सत पुत्र, बख़्त न डेंदी वंड।

माँ सात बेटे पैदा करती है, पर भाग्य नहीं बाट देती।

मा जिआं मासी, कन्ध एंरे ते आसी।

[कन्ध = स्कन्ध, दीवार]

माँ जैसी मौसी, दीवार नींव के अनुसार आएगी।

माज़ दी मज्याणी, राती परनी डिआं चुथर्याणी।

दुहाज़ की दूसरी बहू, रात को व्याही दिन को चौधराइन।

माणक मोती नैं वहें, मिले पिरारबध।

[नैं = नदी]

नदी मे माणक मोती बहते हैं पर मिलती है प्रारब्ध।

मा दा हां पट्ट, ते बाल दा हां भट्ट।

माँ का जी रेशम, पर संतान के जी को धिक्कार।

मा दे लेखे पुत्र वड्डा पिआ थींदे, ईं न जाणे डी पए खुटदेन।

माँ की समझ मे बेटा बडा हो रहा है, यह नहीं जानती कि दिन (उम्र के) घट रहे हैं।—ज्यो ज्यों दिन बीतते हैं जीवन-काल घटता जाता है।

मा धी आपो आप, भुआ भत्रीजी हिक्को साथ।

[आपो आप = अपनी अपनी जगह पर]

माँ बेटी अलग अलग (होती हैं), पर बुआ भतीजी एक ही साथ की।—बुआ भतीजी का रूप स्वभाव आदि बहुत बार एक-सा होता है।

मा गी न करे, गी हग हग घघरे भरे।
माँ (तो उसे) बटी नहीं बनाती, (पर) बेटी हग हग (माँ के) लहँगे भरे। एक पक्ष का नितान्त उपेक्षा, दूसरे पक्ष का स्नेहाधिक्य।

मा न पाव गाखड़ी, धी दी गिच्ची आकड़ी।
[गाखड़ा = हथेला पर पड़ी मोटी रेखा]
माँ टिकड़ न पावे, (पर) बेटी की गर्दन अकड़ी हुई है।

मा न भैण, कौन करे वैण?
[वैण = मरने का विलाप]
(न) माँ है न बहन, कौन विलाप करे?

मा पिन्ने, पुत्र घोड़े घिन्ने।
माँ भीख माँगे, बेटा घोड़े लेवे (खरीदे)।

मा भठ्यारी पुत्र तिल्लेदारी।
[तिल्ला = कलाबत्तू; तिल्लेदारी = बढ़िया बढ़िया पोशाकें पहनने वाला]
माँ भटियारन बेटा राजकीय वेषधारी।

माया जग भरमाया है।
माया ने जगत् को भरमाया है।

मारण आले दा हथ नप्पा वैंदे, अलावण आले दा मूँ नईं नप्पा वैंदा।
[नप्पण = पकड़ना, अलावण = आलपना]
मारने वाले का हाथ पकड़ा जाता है, (पर) बोलने वाले (बुरा भला कहने वाले) का मुँह नहीं पकड़ा (रोका) जाता।

मार न कुट्ट, आन्द्रा च घुट्ट।
[आन्द्र = अन्तस्तल, प्राण]
(न) मार न पीट, और दम घोट दे। मर्म-वेदना पहुँचाना।

मारे मा, न मारण दे।
माँ (खुद भले ही) पीट ले, पीटने नहीं देता।

मिजमान आया, भगवान आया।
मेहमान आया, (मानो) भगवान् आया।

मित्रा नाल करैन ठगियाँ, थीन जनम गमाई।
जो (मित्रों) के साथ ठगी करते हैं (अपना) जन्म (में) कमाई खोते हैं।

मिओं करे निका निका, बीबी डेवे हिको धिका।
मियाँ करे छोटा छोटा, बीबी दे (डाले) एक ही धक्का। मियाँ तो थोड़ा थोड़ा कर के जोड़ता है, बीबी उसे एकबारगी उजाड़ डालती है।

मिओं घर नई, बीबी कूं डर नई।
मियाँ घर नहीं, बीबी को डर नहीं।

मिओं बीबी राजी तां की ए मुथाजी ?
मियाँ बीबी राज़ी तो (किसी दूसरे की) मोहताजी क्या है ?

मुट्टी रन्न सवादां दी, ते रक्खे आइतवार।
लुगाई स्वादों की मारी है, और आदित्यवार (व्रत) रखती है। बहुत लोग आदित्यवार को व्रत रखते हैं, और उस मे नमक नहीं खाते, कोई स्वादों की मारी मीठा खाने के लिए ही व्रत करती है।

मुड़दा न बोले तां न बोले, बोले तां खफ़न ओड़े।
मुर्दा न बोले तो न बोले, बोले तो कफ़न तोड़े। सदा चुप रहने वाला कभी कभी बड़ी चुभने वाली बात कहता है।

मुल्लां गए, मुहाबे चुक्के।
मुल्ला गए, स्नेहकथा समाप्त। मुँह के सामने ही ख़ैरख्वाही थी।

मुल्लां हर कई कूं थुक्के, मुल्लां कूं कोई न थुक्के।
मुल्ला हर किसी को थूके, मुल्ला को कोई न थूके। दूसरे को तो कह-सुन लेना, पर खुद किसी की न सहना।

मूं खांदे, अक्खी शरमान्धेन।
मुँह खाता है, आँखें शरमाती हैं।

मूं दी मिट्ठी, तन दी खोटी।
मुँह की मीठी, भीतर से खोटी।

मूं न मत्था, जिन पिटेंदा लत्था।
मुँह है न माथा, (रोता-) पीटता जिन उतर आया है। गुसैल घृणास्पद चेहरा।

मूरख दा हासा, थी पिआ विणासा।
मूर्ख की हँसी, और विनाश (वैमनस्य) हो पड़ा।

मूरख दा हासा मरोड़ भन्ने पासा।
[पासा = पार्श्व]
मूर्ख की हँसी पहलू मरोड़ (कर) तोड़ डाले।

मूल काल़ विहाज पिआरा होन्दा।
मूल से ब्याज प्यारा होता है।

मैं चङ्गा के मेड़ा भाई ? ओ मिट्टी ते ओ छाई।
मैं अच्छा कि मेरा भाई ? वह मिट्टा और वह धूल।

मेरा ना जिन, न दे न घिन।
मेरा नाम जिन (है), न दे न ले। रूखा सूखा व्यक्ति।

मैं न पिन्ना, मेड़ा ठूठा पिन्ने।
मैं भीख न माँगूं, मेरा खप्पर भीख माँगे। खुद न माँगना प्रत्युत किसी के द्वारा माँगना।

मोत्या दी परख सराफा कोल होंन्दी है।
मोतियों की परख सराफों के पास होती है।

मोया नहीं ते आकड़या पए।
मरा नहीं और अकड़ा पड़ा है। मार कर कहता है कि मरा नहीं, अकड़ा पड़ा है।

मौत चमेटा मारिआ, ते चेता आया झा।
मौत ने चपतें मारीं तो होश ठिकाने आये।

रकेव्यां मुञ्ज धा, वडाया सुञ्ज दा।
[मुञ्ज=मूंज]
रकेबियाँ मूंज का हैं, बड़ाइयाँ (अभिमान) व्यर्थ का है।

रज खाधे दी मार है।
अघा खाये का मार है। अघा कर खाना मिल गया, इसलिए नखरेबाजी हो रहा है।

रन गई सिआपे, दुख रोवे आपे आपे।
लुगाई स्यापे गई, आप से आप (अपने) दुखों को रोये। दुख की जगह जा कर अपने दुखों की याद आप से आप आ जाती है।

रहुड़ गिआ कुड़माई, आपणी करे के पराइ ?
[कुड़माइ=सगाइ]
रंडुआ (किसी की) सगाइ के लिए गया, अपनी करे या पराइ ?—रडुए को पहले अपने लिए चाहिए, दूसरे की क्या करायेगा ?

रंगे दी रंगाई, ते चिट्टे दा धुवाई।
[रंगा=रंग, रंगा हुआ]
रंगदार की रँगाइ और सफेद की धुलाइ (बराबर पड़ जाती है)।

रन्न विलली कीवे जापे ? गाल करे ते खिल्ले आपे।
पगली लुगाई कैसे जानी जाय ? बात करे और आप ही हँसे।

रन्नां अत्तर-तालियां अत्तर ताल करेन।
डुंघे विच्चूं कड्ढ के हथाले विच बुडेन।
[अत्तर-तालिया = अत्तर चाल करने वाली, अत्यन्त धूर्त। डोंगा = गहरा। हथाला = जिस में हाथ लग जाय, उथला]
धूर्त लुगाइयाँ अनेक चालें चलती हैं, गहरे में से निकाल के उथले में डुबोती हैं।

रन्नां रन्नां आखिए, रन्नां सन्दी वस्ती।
वसदे जुग्ग चौड़ करेयां, डुख रनां दी मस्ती।
[सन्दी = सनी, भरी]
(उन्हें) लुगाइयां कहिए (अर्थात्, वे कहलाती तो हैं लुगाइयां), (वह) लुगाइयों की भरी वस्ती है। बसते घर (घराने) चौपट करती है, देख (तो) लुगाइयों की मस्ती।

रब करे सबब ग़रीबां लोकां दे।
[सबब = कारण, घटनाओं का अनुकूल बनाव]
भगवान् गरीब लोगों का रास्ता बना देता है।

रब सूली दा कंडा कीतेस।
भगवान् ने सूली का काँटा कर दिया है। जहाँ सूली लगने वाली थी, वहाँ भगवान् ने ऐसा कर दिया कि काँटा ही चुभ कर रह गया। बड़ी आपत्ति के बजाय थोड़ा सा कष्ट हुआ।

राजे दी धी पाड़ पाड़ सी, निकम्मी मूल न थी।'
राजा की बेटी फाड़ फाड़ सी, निकम्मी हर्गिज न हो। निकम्मी तो नहीं रहती, पर फिज़ूल काम करती है जिन में कुछ लाभ नहीं।

राजे दे घर मोत्यां दा काल है।
राजा के घर मोतियों का अकाल है।

रात आपणी तात है।
[तात = (स०) तात]
रात अपनी तात है। आदमी का दिन का समय दूसरों के अधीन हो तो भी रात अपनी होती है।

रीस कतीदे सुत्र, रीस न थींदे पुत्र।
रीस से सूत काते जाते हैं, (पर) रीस से बेटे नहीं (पैदा) होते।

रीसड़िआं घर वुट्टे, हूसड़िआं घर मुट्टे।
रीस करने से घर बसे, ईर्ष्या करने से घर उजड़े।

रूखी सुक्खी खा के ते ठड्ढा पाणी पी, ना डेख पराया चोपड्या, ते ना तरसावी जी।
रूखी सूखी खा कर ठंडा पानी पी। पराई चुपड़ी मत देख, ताकि जी न तरसे।

रुप्पा गुल्ले, सूना पल्ले।
चाँदी (भले ही) गल जाय (बरबाद हो जाय), (पर) सोना पल जाय। रुपया पैसा नष्ट कर भी आदमी को अपन स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

रूप बैठा डिट्ठा हाई, ते नखत बैठा खाधा हाई।
रूप ने बैठे बैठे देखा था और भाग्य न बैठे बैठे खाया था। दे० ऊपर—अक्ल बैठा०।

रोटी खाओ शक्कर नाल, दुनिआ मेला मक्कर नाल।
[दुनियाँ=संसार, धन]
रोटी शक्कर के साथ खाओ, मक्कारी के साथ धन जोड़ो।

लए शार दे टिक्कडे कौन कड़ दो पट्टे? फूका डित्ते उड्ड गुए पंज सत्त कट्टे।
[लया=लइया नामक कस्बा जो सिंध नदी के बायें भक्कर से ४६ मील दक्खिन है; टिक्कड़ा=टिकड़ा=पतली पतली मोटी या पीली मट्ठी। ठीक शब्द 'लइया' और 'टिक्कड़ा' है, पर यहां पद में 'लया' और 'टिकड़ा' कर दिया गया है।]
लइया शहर की मट्ठियाँ, कौन किसी का भेजे? (जो) फूँक देने से पाँच सात एक साथ ही उड़ गए।

लग्गी लग लड़ाई, शक्कर मैं विडाई।
[लग—निरर्थक शब्द]
(अहा!) लड़ाई छिड़ गई, (तो) मैंने शक्कर बाँटी।

लल मरेंनी डिगे, रब सिधिआ टोरे।
[लल=पगली की चाल; डिगा=टेढ़ा]
ठमटा सीधा हाँक देती है, भगवान सीधा चला देता है।

लाऊ भवाऊ भेड़े घताऊ।
[लाऊ=लगाने वाला चुगलखोर]
चुगलखोर, चक्कर वाला, झगड़े डलवाने वाला।

लाल आए डुब गुए, सुन्दपके आए तर गुए। जिनां ते उमैद नाहें, ओ पउल चढ़ गुए।
लाल आए डूब गए, सीप आये तैर गए। जिन पर उम्मीद नहीं था वे पर्वत चढ़ गए।

ला लगा गुए डिगर।
[लावण=लगाना। डिगर=काँटों की बाड़]
(रुपया) लगा लगा कर (भी दरवाजे पर) काँटों की बाड़ ही रहा। खर्च कर के भी पास कुछ न बचा।

लुच्चे खावेन लुचिश्रां, भलेमानस खावेन जुतिश्राँ।

लुच्चे लुचुइयाँ खावे, भलेमानस जूते खावें।

लुट्ट गई खुट्ट, ध्रुवाला कड़ी न सावा।

[ध्रुवण=खींचना-खसोटना]

लूट चीण हो गई, खसोटने वाला कभी हरा नहीं होता। लूट का माल अपने पास बचने नहीं पाता।

लुड़दा खरबूज़ा पित्रीं दे नां।

बहता खरबूजा, पितरों के नाम। खरबूजा बहा जाता था तो उसे पितरों के नाम संकल्प कर दिया—बचा-खुचा किसी को देना।

लेला गिदोसे उन कीते, हत्थूं चरे कपाः।

मेमना लिया ऊन के लिए, उलटा चरे कपास।

लोक कत्ते गुली वत्त, लोक चाए गुली ढाए।

लोग कातें पगली घूमे, लोग उठाएँ (चर्खा) पगली बिछाए।

लोभ कूं सोभ कोई नई।

लोभ को कोई यश नहीं।—लोभी को कभी यश नहीं मिल सकता।

लोहा लूंण कुटेदिश्रां उमरा गई विहा।

लोहा नमक कूटते उम्र बीत गई। सदा मुसीबतों में ज़िंदगी कटी।

वॅञ धिश्रा रावी, न कोई वंञी न कोई आवी।

जा बेटी रावी, न कोई (तेरे पास) जाए न कोई आए। बेटी को दूर ब्याहना।

वट्टे सट्टे दी कुड़माई, गंजी गई ते काणी आई।

अदले बदले की सगाई, गंजी गई तो कानी आई।

वड्डा वैरी कौन? सक्के पिउ दा पुत्र।

बड़ा वैरी कौन? सगे बाप का बेटा।

वड्डे घर दी अघरोड़ी नई अज़मावण दी।

बड़े घर की खुरचन (भी) अन्दाज करने की नहीं होती।

वड्यां इच वड्डी बरकत होंदी है।

बड़ों में बड़ी बरकत होती है।

वड्यां दे मूं ते खल्यां दी पंचाई।

[पंचाई=पंच की हैसियत और अधिकार]

बड़ों के मुँह पर जूतों की पंचाई। बड़ों का पंच बनना जूते खाने के लिए ही होता है।

बगर्णी आई बधावण कू, खांड खण्ड खवावण कू।
हिचकी आई बढ़ान का (और) दूध खाँड खिलाने को। छोटे बच्चे को हिचकी आना स्वास्थ्य का चिह्न है।

वल वल आप कू, न माई कू न बाप कू।
फिर फिर (चाहे कुछ भी हो) अपने आप को, न माई को न बाप को।
अच्छे बुरे कर्मों का फल मनुष्य को अपने आप को मिलता है दूसरे किसी का नहीं।

वस्सल भर्नीदा ता बो उठदी है।
[भन्नणा = तोड़ना भनीजणा = तोड़ा जाना]
प्याज तोड़ा जाता है तो गन्ध उड़ती है। कोई बात खोले तभी फैलती है।

वाध ढाद कू दमका।
चलते बैल को साँटियाँ। अच्छा भला काम करते को फटकार बताना।

वाग्या नया थल करे, थलू करे दरिआ।
(ईश्वर की लीला) बहती नदियों को स्थल करती और स्थलों से दरिया कर देती है।

विसविस दी कुन्नी सड़ी ओई हान्दी है।
[विसविस = वहम, खाने पीने रहने सहने आदि में नियमों का उचित से अधिक ध्यान रखना]
वहम की देगची जली हुई होती है। बहुत वहम करने से मनुष्य नष्ट हो जाता है।

वेला न कुवेला, ते वोरे अन्धा वेला।
[वाजणा = मिमियाना]
वक्त बेवक्त अन्धा बकरा मिमियावे।

वेला बन्दा साईं दा चोर है।
निकम्मा आदमी ईश्वर का चोर है।

वेली जट्टी उन वले।
निकम्मी जाटनी ऊन बेले।

वेल दी सन्ध्या कुवेले दी निमाज।
वक्त की सन्ध्या, बेवक्त की निमाज।

शक्करखोरों कू शक्कर मिल रहदी है।
शक्करखोरों को शक्कर मिलती रहती है। जैसा खर्च करने का जिस आदमी का स्वभाव हो, वैसी आय भी उसको हो ही जाती है।

सखी नाल सूम भला जेड़ा तुरत देवे जवाब।
(बचन न निभाने वाले) दाता से (तो) सूम (ही) भला जो तुरत जवाब दे दे।

शखी शूम दा हिसाब बराबर थी वैंदे।

उदार कंजूस का हिसाब बराबर हो जाता है।

शरम करे, भुक्ख मरे, घर दा करे ज़िआन।

(जो) शर्म करे (सो) भूख (से) मरे, घर का नुकसान करे।

शरम वाला अन्दर वड़्या, विशरम आख्या मैं कोल डुरत्या।

शर्म वाला अन्दर घुस गया (सामने मुकाबला कर तो सकता था परन्तु इज्जत के ख्याल से हट गया), बेशर्म ने कहा, मुझ से डर गया।

शरीक दी कन्ध ढावे, भॉवें आप हेठ आ जावे।

शरीक की दीवार गिरे, भले ही खुद नीचे दब जावे।

शिंहॉं दे मूं कैं धोतेन ?

सिंहों के मुँह किस ने धोये हैं ?

संग तलूं लत्था, जिआं लड्डू तिआं मट्ठा।

गले से नीचे उतरा, जैसा लड्डू वैसा रायता।

संग तारे, कुसंग बोड़े।

सत्संग तैराए, कुसंग डुबोए।

संग सुई, पेट खुई।

गला सूई, पेट कुँआ। दीखने मे पतला दुबला, पर पूरा पेटू।

सच मरचां कूड़ गुड़, पीर पैसा रन्न गुर, जीवें आखी उवें टुर।

(तुच्छ आदमी के लिए) सत्य मिर्चें हैं, झूठ गुड़ है, पैसा पीर है, बहू गुरु है, जैसे कहे वैसे चल (चलता है)।

सजणां सिआवां दी फुल्लां दी अब्रो हौंदी ए।

सज्जनो समधियो की फूलो जैसी आबरू होती है।

सट्ठी दा रज्जा।

छठी का तृप्त। सदा का तृप्त। ऐसा विश्वास है कि बच्चे की छठी के दिन माँ अघा कर खा ले तो बच्चा सदा तृप्त-स्वभाव होता है।

सठ सांधी हे पंझाः नई सांधी।

साठ सहती है पचास नही सहती। बहुल की हानि करना थोड़े को बचाना।

सड़्ये कूं पड़काठ्यां पिआं डित्यां।

[पड़काठी = (पड़ + काठी) मुर्दा अपने बराबर तौल की लकडी से यदि पूरी तरह न जले तब जो और लकडी उसे जलाने को डाली जाती है।]

जले को पडकाठिया पड़ीं दी। मरे को मारना।

सदके मासी, घोल्ले मासी, भणींजा रोटी घर बॅंत्र खासी।
वारा जाय मौसा, बलिहारी जाय मौसी, भानजा रोटी घर जा खाएगा। खाला माता से प्रेम दिखलाना।

सप्प ई मरे ते ढिग्गा ई राहे।
साँप भी मरे और लट्ठ भी रहे।

सरफा कर, पट हडाने त मेन्दा खावे।
किफायत कर (करना चाहे) (तो) रेशम पहर और मैदा खाए।

सव्वड डुग्व पेर त्रिपरींदेन।
[त्रिपरना = फलना, त्रिपरावणा = फलाना त्रिपरीजणा = फलाया जाना]
रजाई देख पैर पसार जाते हैं।

सन्वड इचू शींह निक्ल आए।
रजाई में से सिंह निकल आया है। एकाएक कोई भारी मुसीबत आ पड़ना।

सस न निनाण, नींगी आप परधान।
न सास न ननद, बाबा स्वयं प्रधान।

सस न सारा, पाण ढीजी जारा निग्गेरा।
न सास न ससुर, पति मिला (तुझे) निरा छोकरा। माँ बाप आदि बड़ा सिर पर न हो तो शिष्ट संतान नहीं होती।

सस विन्सी गुल्लड़ियाँ, नूं विड्सी छल्लड़ियाँ।
[छल्लड़ियाँ = कुकड़ियाँ, बेड़न = लपटना, विड्सी = लपटेगी]
सास बातों में बहलाएगी, पतोहू कुकड़ियाँ खूब कातेगी।

सहज पके सो मीठा हो।
सहज पके सो मीठा होय।

साईं बदे हन कचावे चढ़ग, उगा' बदे हन गोल खांदे।
[कचावा = ऊँट की कोहान पर रखा जाने वाला लकड़ी का चौकोर खटोला जिस के अन्दर दोनों ओर बैठते हैं, उगा = गवाह]
मालिक कचावे पर चढ़ फिरते थे, गवाह गोते खाते फिरते थे। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त।

साईं बाज्ह सन्ना निगाल।
स्पष्ट है।

सागु ढोढा पच्छ्रां ताईं, खिच्चड़ी डुपार ताईं,
सीविआं डुकार ताईं, भत्तड़ा निसत्तड़ा चौंके दी बुनाली ताईं ।

[टोढा = मिसरोटी। कविता में 'खिचड़ी' का 'खिच्चड़ी' रूप रक्खा है]

साग-रोटी रात तक, खिचड़ी दोपहर तक, सिवई डकार तक, सारहीन भात रसोई की मुण्डेर तक।—रोटी खाने से रात तक तृप्ति रहती है, इत्यादि।

बाटी कहे मैं आऊँ जाऊँ, रोटी कहे मंज़िल पहुँचाऊँ,
दाल भात का ऐसा खाना, मेरे भरोसे कहीं न जाना।

सागु मथे दा भागु, डेवो पुत्रां कूं;
दाल मोड पिआर्यां नाल डेवो धीरी कूं;
वड़ियां गल्हां-सड़िआं डेवो नेर्गा कूं;

साग—माथे का भाग—पुत्रों को दो,
दाल—(अपने) प्यारों के साथ मोड़—बेटियों को दो;
बड़ियाँ—गालें जलाने वाली—पतोहुओं को दो।

सांझी बाबु न रोवे कोई।
साझे के बाप को कोई नहीं रोता।

साधां कूं के सवाधां नाल ? सणे मलाई आवण डे।
साधुओं को स्वादों से क्या ? मलाई से सना आने दो। किसी साधु से पूछा गया कि आप को मलाई हटा कर दूध दिया जाय या मलाई-समेत। उस ने बड़ा वैराग्य दिखलाते हुए उक्त उत्तर दिया।

साल दा त्रै-सौ-सठ डिहाड़ा हे।
साल का तीन सौ साठ दिन है।

सावरा सागु मथे दा भागु, पेकी खट्ट बैठी तक।
ससुराल का साग माथे का भाग, मायके की खाट बैठी ताक। ससुराल में साग-पात खा कर रहना भी अच्छा, मायके में पलंगों पर बैठे रहना भी अच्छा नहीं।

सॉंवलिआं मनभावलिआं, गोरी गोए दा पिन्न।
सब्भे गोर्यां छोड के हिका सांवली घिन्न।

[पिन्न = पिण्ड]

साँवलियाँ मनमोहिनियाँ (होती हैं), गोरी गोबर का पिंड। सब गोरियाँ छोड़ कर एक ही साँवली ले।

सिआणा का विठ ते धार ।
स्याना कौआ बाठ पर बैठता है । अमुक आदमी स्याना है तो क्या, वह स्याने कौए की तरह है ।

सिकआ दी गजी त्रोड पई मजी ।
[सिकणा=तरसना मंजा=मञ्च, चारपाई]
(सन्तान के लिए) तरसने वाला की गजा (बेटा अथवा बहू भी) चारपाई तोडता रह । जिन्ह तरस तरस कर बहू अथवा बेटा मिला हो, उन के यहाँ वह अगहान होने पर भी आदर पाती है ।

सिकर्यें सिकर्यें रन लद्धी, सिर ते रहे पण्ड बद्धी ।
[पण्ड=गठरी, मोटरी]
तरसते तरसते बहू मिला, (उसे) सिर पर गठरा बाँध (बना कर) फिरता है ।

सिर चिट्टा, अकल फिट्टा ।
सिर सफेद, अकल बिगडा ।

सिर तू लत्थी लोई, मेरा के करसी कोई ।
सिर से लोई उतर गई, (तो) मेरा कोई क्या करेगा ? निर्लज्ज का कोई कुछ नहीं बिगाड सकता ।

सिर वड्डे सरदारा दे, ढिढ वड्डे शाहकारा दे, पैर वड्डे गँवारा दे ।
सिर बड़े सर्दारों के, पेट बड़े साहूकारों के, पैर बड़े गँवारों के ।

सिमार दुमुँह चुआती ए ।
[चुआती=अधजली लकड़ी जो काला कर दे]
संसार दुमुँहा चुआती है ।

सिसारी रण्डयाँ दी वाड़ी ए ।
संसार काँटों की बाड़ है ।

सौण दे जेर थल ते गज्जेन, मा-पिउ दे जेरे पड्दे रज्जेन ।
[थल=सूखा मैदान]
समथा वहीं जो मरु-भाम गर्जे, माँ बाप वही जो परदे ढके (लाज रक्खे) । समथा प्राय शुष्कप्र होते हैं, माँ-बाप सन्तान की लाज रखते हैं ।

सुई पा वड़देन, मलाई पा निकलदेन ।
सुई होकर घुसते हैं, मलाई होकर निकलते हैं । (नौकर चाकर) पहले दास बन कर आते हैं, पीछे मालिक बन कर निकलते हैं ।

सुक्खाँ गं ढूँढेन्नी हाँ, दुख न जाण दे ।
सुखों को ढूँढता हूँ, (पर) दु ख (सुख को) आने नहीं (आने) देता ।

सुख्या खावे अन्न, डुख्या खावे धन्न ।

सुखी खावे अन्न, दुखी (बीमार) खावे धन ।

सुत्ती दा अट्टा खा गुई कुत्ती ।

सोई (हुई) का आटा खा गई कुतिया । सदा जागरूक रहना चाहिए ।

सौंरा आवे तां चरखा घूके, सस कैंदे अग्गं कूके ?

[घूके = घू घू आवाज़ करे, कूके = चीखे]

ससुर आवे तो चरखा घूँ घूँ करे (तेजी से चले), सास किस के सामने शिकायत करे ?

सौ सिआणे मत हिका, सौ विलांगे गंढ हिका ।

सौ स्याने मत एक, सौ घुमाव गाँठ एक ।

हॅगाई आई, मुत्राई गुई ।

[हॅगाई = हगना, मुत्राई = मूतना]

हगते आई, मूतते गई । जैसे वे दोनो क्रियाये साथ साथ होती हैं, उसी प्रकार झट आई और झट गई ।

हट्टी ते ब्रावण नई थींदा, 'उड़दा उड़दा तोल' ।

दुकान पर बैठना नही मिलता, (कहते हैं)—'उडता उडता (ज्यादा ज़्यादा) तोल' ।—दुकानदार के साथ उन का इतना लिहाज़-मुलाहजा नही है कि दुकान पर बैठना भी मिल सके, पर चाहते हैं कि दुकानदार उन्हे ज़्यादा तोल दे । हम उन्हे अपने घर घुसने भी नहीं देना चाहते, पर वे चाहते हैं हमारे घर आ कर खा भी जाँय ।

हत्थूं डिवीजे, ज़ामन न पुवीजे ।

[पीवण = पडना; पुवीजण = पड़ा जाना]

हाथ से (पल्ले से भले ही) दिया जाए, (किसी का) जामिन न बना जाय ।

हथ कङ्ङण कूं आरी क्या ?

हाथ कङ्गन को आरसी क्या ?

हथ काना, शार दिवाना ।

[काना = सरकण्डा]

हाथ मे सरकण्डा, शहर (भर मे) दीवाना (हुआ फिरता है) । लडका बगल मे ढँढोरा शहर मे ।

हथ न लग्गे तां वथ किथाईं टुर वैंदी हे ?

[वथ = वस्तु]

हाथ न लगे तो वस्तु कहाँ चली (चल कर) जाती है ?

हथ न वँढा, 'थू खट्टे हेन'।
हाथ पहुँचता नहीं, (कहते हैं) "थू खट्टे हैं"। अंगूर खट्टे हैं।

हथ पुराणे खोसड़े वसन्ते हुणा आएनी।
[खोसड़ा = फटा जूता वसन्त हुणां = वसन्त जी]
हाथ में पुराने फटे जूते (लिये) वसन्ते साहब आए हैं।

हथ विच होवनी रोकड़े, सँवीं-संझ विआह।
[सँवीं-संझ = साँझ होते ही]
हाथ में नकद (पैसे) हों (तो) साँझ होते ही (जल्दी) व्याह (हो सकता है)।

हरकत इच बरकत होंदी है।
हरकत (गति) में बरकत होती है।

हाड़ दा डुम्भ, सावण दा अम्ब, भद्रों दा अम्बरतफल।
[डुम्भ = खट्टा तीखा फल]
आषाढ़ का (आम) खट्टा तीखा फल, सावन का (आम) आम, भादों का (आम) अमृतफल।

हिक अखाईं, डूझा मूँ ते।
एक (तो) कहूँ, (और) दूसरे मुँह पर।

हिक खान्दे नहीं, हिक लाधे नहीं।
एक खाते नहीं, एक पाते नहीं।

हिक चुप सौ सुख।
एक चुप सौ सुख।

हिक चोर, डूझा चतरा, त्रीझा शरम नहीं जरा।
एक चोर, दूसरे चतुर, तीसरे जरा भी शर्म नहीं।

हिक डीं ह ते डू पिछान हेन।
एक दिन है और दो परछाइयाँ हैं। समय सदा एक सा नहीं रहता।

हिक म्यान इच कदाईं डू तलवारां मांदें न?
एक म्यान में कभी दो तलवारें समाती हैं?

हिक दर भुन्ने, सै दर खोले।
(भगवान) एक द्वार बन्द करता है तो सौ द्वार खोल देता है।

हिक न आपणा, सब्भे पराए।
एक अपना नहीं, सभी पराए हैं।

हिक न खट्टां, खावां चार।
एक नहीं कमाऊँ, (और) खाऊँ चार।

हिकनां दा तेल नई बुलदा, हिकनां दा मुत्र ई बुलदे।
[हिकनां दा = एकों का]
कइयो का तेल नहीं जलता, कइयो का मूत भी जलता है। अपनी अपनी किस्मत।

हिक पन्थ डू कारिज।
एक पन्थ दो काज।

हिक पिनणां, डूभा हलवे दी खैरैत।
एक (भीख) माँगना, दूसरे हलवे की खैरात।

हिक मच्छी गन्दी, जल सारा गन्दा।
एक मछली गन्दी, जल सारा गन्दा।

हिक मोए, बुए उगम्ये, कडी न खुट्टे राँद।
[उगमण = उद्गमन, गर्भ में पड़ना, राँद = खेल]
एक मरे, दूसरे गर्भ में पड़े, खेल कभी खतम न होवे।

हिक हिक डू यारां, त्रै अठारां।
एक एक दो ग्यारह, तीन अट्ठारह। एक और एक ग्यारह।

हिक्के ईद बरात हिक्के जुम्मेरात।
या तो ईद बरात या जुमेरात। दोनों तरफ़ अति।

हिक्के भा खड़ा पाणी ई त्रक वैंदे।
एक ही जगह खड़ा (हुआ) पानी (भी) सड़ जाता है।

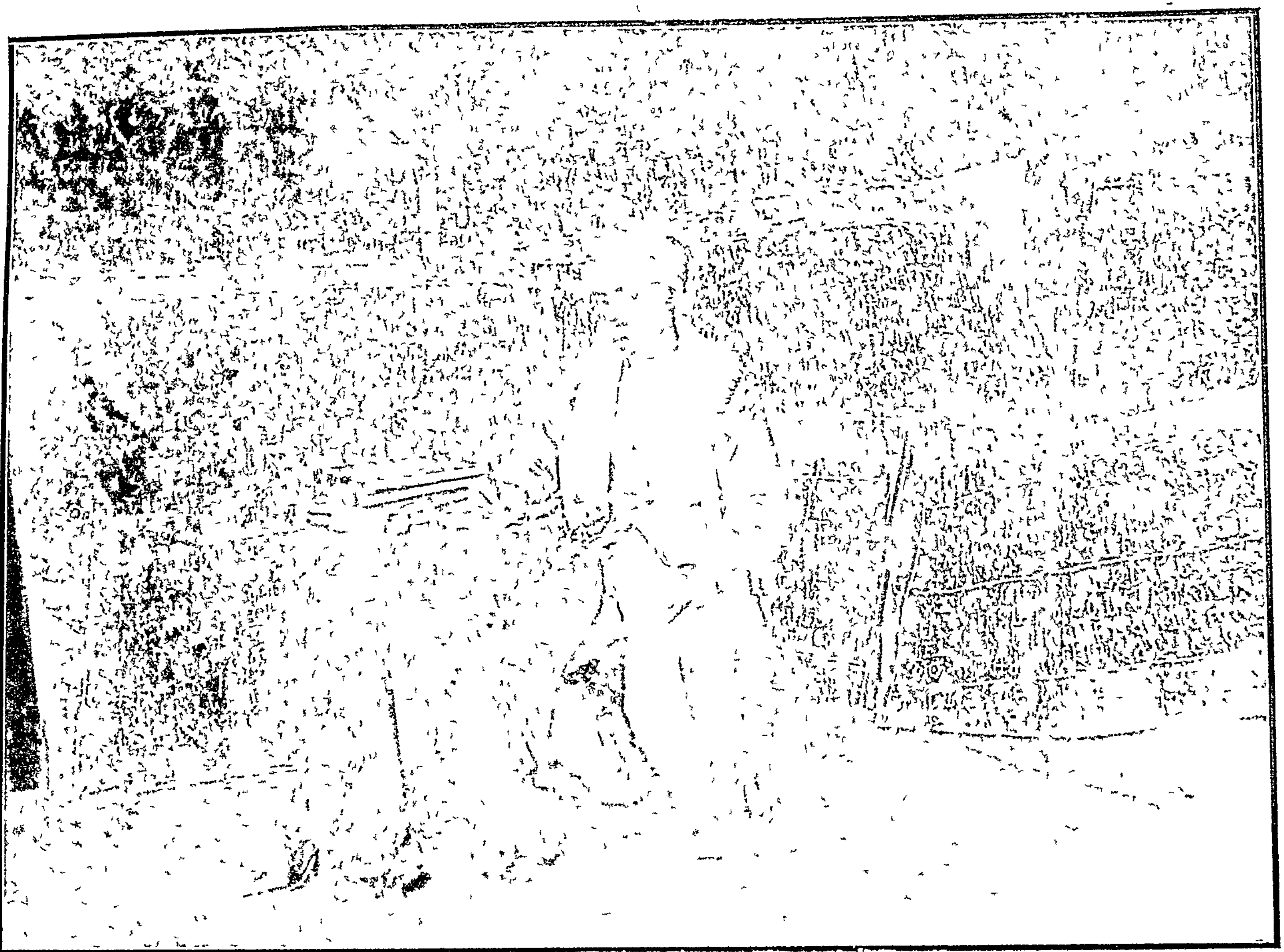
हिक्के मोले कडाई चावल निकल्ये ?
[मोला = मूसल]
एक मूसल (मारने) से कभी चावल निकले ? किसी काम में सहसा सफलता नहीं मिलती।

हीजड़्यां दे घर पुत्र जम्या हाई, चुम चुम मार सव्या हानें !
हिजड़ों के घर पुत्र पैदा हुआ था, (उन्हों ने) चूम-चूम कर मार डाला था !

हुण डुढ्ढी थणें पोंदी है ?
अब (क्या) दुही (गई) थनों में पड़ती है ? अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ?

होवणहार हो कर मिटे, सीता किउं वन भोग्ये ?
होनहार हो कर मिटती है, (अन्यथा) सीता ने क्यों वन भोगा ?

१०
वैयक्तिक



महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

[ई० स० १८९८ में काठियावाड़ की यात्रा के समय जूनागढ़ में उतारा हुआ चित्र। उस समय आपने गिरिनार की चट्टान पर खुदे हुए सम्राट् अशोक के अभिलेखों की छापें तैयार की थीं, जो इस चित्र में देख पड़ती हैं।]

परिचय

प० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा का जन्म विक्रमी संवत् १६२० भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को सिरोही रा रोहेडा गाँव में एक सहस्र औदीच्य ब्राह्मण के यहाँ हुआ। सहस्र औदीच्यों का एक शाखा सिरोही । 'गोल' नामक गाँव के नाम से गोरवाल कहलाती है। आबू के आस-पास इन की काफी बस्तियाँ हैं, जि वाडस प्रमुख है और पाडिव स्थान नाम से ख्यात है। ओझा जी इसी शाखा के हैं। इन के दादा का पीताम्बर और पिता का हीराचन्द्र था जो तीन भाई थे—सदाशिव, मायाराम और हीराचन्द्र। सब से हीराचन्द्र एक विद्याव्यसनी और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इन के चार पुत्र हुए—नन्दराम, भूर जी, ओंकार जी गौरीशङ्कर। ६ वर्ष के होने पर बालक गौरीशङ्कर को गाँव की पाठशाला में पढने बिठाया गया, जहाँ इन्ह ४ साल तक शिक्षा पाई, जिस में हिन्दी पढना, लिखना, पट्टी पहाडा और थोडा-बहुत हिसाब आ ग ८ साल के होने पर यज्ञोपवीत संस्कार के बाद कुल परिपाटी के अनुसार इन्हें शुक्ल यजुर्वेद प्रारम्भ कर गया। बालक की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक बार सम्पूर्ण वेद पढ लेने के बाद, ४० अध्याय एक-एक ४० दिन में ही आप ने अध्यापक को कण्ठाग्र कर के सुना दिये।

बालक की प्रतिभा देख कर पिता ने उसे उच्च शिक्षा दिलाने का निश्चय किया, पर घर की स्थिति बहुत खराब थी। इन के दादा पीताम्बर अच्छे व्यापारी थे। मेवाड के पहाडी प्रदेश भोमट सिरोही राज्य के बीच सारा व्यापार उन्हीं के जरिये होता था। इस के अलावा वे अफीम का भी करते थे। इस से उन्हें आमदनी भी खूब थी, पर उन के बाद हीराचन्द्र जी के सब से बडे भाई सदाशि भोलेपन में आगापीछा बिना सोचे ही लेनदेन में सारा रुपया बरबाद कर दिया। ऐसी हालत में सिवा के और कोई धन्धा न रहा। स्वयं हीराचन्द्र को पढने लिखने का बहुत शौक था। उन्हों ने बहुत-से स्वयं अपने हाथ से नकल कर इकट्ठे किये थे। लिखने को कागज को घोट कर चिकना करना, लाख से स्याही बनाना, घर में उपयोग के लिए दियासलाई, रंग आदि तैयार करना तथा घावों पर लगाने को मल्हम बनाना आदि सब काम ये अपने हाथ से करते। घर की हालत सुधारने को उन्होंने अपने नन्दराम को बम्बई में मुनीमी करने भेज दिया था। बालक गौरीशङ्कर को भी उच्च शिक्षा दिलाने के लिए बडे भाई के पास बम्बई भेज दिया गया।

राजपूताने में तब रेल न थी। उस समय के लोगों के लिए रेल एक अचम्भा था। एक बार लौटे आप के एक मित्र ने गाँव में रेल का वर्णन यों किया था—डिब्बों को एक-दूसरे से जोड देते क आगे एक लोहे का घोडा होता है, जो सब को खींचता है। अस्तु, बम्बई जाने को रेल पर चढने इन्हें गाँव से अपने बडे भाई ओंकार जी के साथ १६० मील पैदल चल कर अहमदाबाद पहुँचना पडा। समय आप की उम्र १४ साल की थी। पहले पहल रेल देख कर आप इतने प्रसन्न हुए कि दो घंटे तक एकटक उस के संचालन आदि की प्रक्रिया को बड ध्यान से निहारते रहे।

बम्बई में कुछ दिनों तक एक प्राइवेट स्कूल में गुजराती सीखने के बाद गोकुलदास-तेजपाल- स्कूल में भरती हुए। १७ वर्ष की उम्र में एलफिन्स्टन हाई-स्कूल में भरती हुए। इन्हीं दिनों पु विशालदमा-पाठशाला में संस्कृत और प्राकृत का भी अध्ययन चला करता। कालबादेवी में इन के भाई का

आप की इन पुस्तकों का विद्वानों में बड़ा मान हुआ। इस से उत्साहित होकर आप ने प्राचीन अभिलेखों आदि के आधार पर भारत के प्राचीन राजवंशों का एक इतिहास तैयार किया। इसी सिलसिले में मारवाड़ के राठोड़ों का एक इतिहास आप ने लिखा। उस के बारे में महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी की जबानी सुनकर स्वर्गीय महाराजा सर प्रतापसिंह ने उदयपुर-दरबार को लिख कर आप को जोधपुर बुलवाया और वह ग्रन्थ आद्योपान्त सुना। उक्त ग्रन्थ अब तक जोधपुरराज्य के इतिहास-कार्यालय में सुरक्षित है, और उसी के आधार पर पंडित सर सुखदेवप्रसाद ने अँगरेज़ी में मारवाडराज्य का संक्षिप्त इतिहास लिखा है।

सन १९०४ ई० में जब डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की पड़ताल का काम हाथ में लिया, तब उदयपुर राज्य की तरफ़ से इस सम्बन्ध की रिपोर्ट आप ने ही तैयार की। उन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से मेवाड़ में रहने वाली जातियों के रीति-रिवाज तथा इतिहास लिखने आदि का कार्य भी राज्य की तरफ से आपको सौंपा गया।

उन्हीं दिनों इम्पीरियल-गैजेटियर-आफ़-इन्डिया बनना शुरू हुआ। राजस्थान गैज़ेटियर तैयार करने का दायित्व कर्नल अर्सकिन पर पड़ा। उन्हों ने अपनी सहायता के लिए ओझा जी को उदयपुर-राज्य से कुछ दिनों के लिए माग कर आबू बुलाया। १९०७ में ओझा जी का सोलंकियों का इतिहास नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कर्नल टॉड के ग्रन्थ का अनुवाद तब तक हिन्दी में न था। खड्ग-विलास प्रेस, पटना ने उस का हिन्दी अनुवाद करवाया, और उस पर टिप्पणियां लिखने का काम आप को दिया, इस के १४ प्रकरण आप की टिप्पणियों सहित प्रकाशित भी हुए, जिन में आपने कर्नल टॉड की बहुत-सी ग़लतियों का सुधार किया।

लार्ड कर्ज़न अपनी उदयपुर-यात्रा में ओझा जी से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्हों ने राजपूताना में पुरातत्त्व की शोध का काम चलाने, अजमेर में एक म्यूज़ियम खोलने तथा ओझा जी को उस का अध्यक्ष निश्चित करने का सकल्प किया था, पर उन्हे शीघ्र ही हिन्दुस्तान छोड़ कर जाना पड़ा। अन्त में १९०८ में लार्ड मिंटो की सरकार ने आप को मेवाड-दरबार से मांग कर राजपूताना-म्यूज़ियम, अजमेर का क्यूरेटर नियत किया। यहाँ आकर आप ने काशी की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में भी लिखना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों 'भारत-वर्ष के इतिहास की प्राचीन सामग्री' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी आप ने निकाली, जिस पर आप को नागरी-प्रचारिणी-सभा की तरफ़ से एक पदक भेंट किया गया। यहाँ आकर उदयपुर के स्व० मेहता जोधा-सिंह से मिल कर आप ने राजपूताने की ऐतिहासिक दन्तकथाओं का सङ्ग्रह आरम्भ किया। इस का प्रथम पुष्प खड्गविलास प्रेस, पटना से निकला, कुछ फुट कर दन्तकथाएँ वहाँ से निकलने वाली शिक्षा पत्रिका में भी निकली थी।

१९११ के दिल्ली दरबार मे आप को फिर निमन्त्रित किया गया, १९१४ मे आप को सरकार की तरफ़ से रायबहादुर और १९२८ में महामहोपाध्याय की उपाधि दी गई।

१९१८ मे आप ने प्राचीन लिपिमाला का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। १९२४ मे इसी ग्रन्थ पर आप को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन मे मंगलाप्रसाद-पारितोषिक दिया गया। १९२० से नागरी-प्रचारिणी पत्रिका को पुरातत्त्व शोध की पत्रिका का रूप दे दिया गया; और आप उस के अवैतनिक सम्पादक



वजीरुद्दौला राय बहादुर श्रीसिरेमल जी बापना, बी० ए०, बी० एस् सी०,
एल एल० बी०, सी० आई० ई०, प्राइम मिनिस्टर, इंदौर राज्य
[आप ओझा जी के होनहार शिष्य हैं। आपकी राजनीतिज्ञता और
साहित्य प्रियता सराहनीय है।]

नियत हुए। लगातार १३ वर्ष तक आप वह सेवा करते रहे हैं। अब ७० वर्ष की अवस्था होने पर आप ने वह कार्य छोड़ा है।

१९२७ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भरतपुर अधिवेशन के आप सभापति हुए, और १९२८ में नडियाद में गुजराती साहित्य परिषद् के इतिहास विभाग के सभापति। १९२८ में इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू० पी० की तरफ से आप ने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (६००—१२००) पर तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये, जो उक्त संस्था की ओर से इसी नाम से एक पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं।

ओझा जी के जीवन का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य और उन के समूचे अध्ययन और परिश्रम का फलस्वरूप ग्रन्थ आप का 'राजपूताने का इतिहास' है, जो सन् १९२४ में प्रकाशित होने लगा है। इस की उपयोगिता और प्रामाणिकता निर्विवाद है। यह आप का और राजपूताने का एक कीर्तिस्तम्भ है। अभी तक इस के ४ भाग निकल चुके हैं, जिनमें राजपूताने का प्राचीन इतिहास और उदयपुरराज्य का सम्पूर्ण हुआ है। अभी बहुत कार्य बाकी है, जिसे पूरा करने को आज ७० बरस की अवस्था में भी आप युवकों की सी लगन, उत्साह और तत्परता से जुटे हैं।

भगवान आप को चिरायु करें।

Mahāmahopādhyāya Rai Bahadur Gourishankar Ojha

AN IMPRESSION

P SESHADRI, M A, Ajmer

Among those who have brought distinction to Ajmer in recent decades special mention will always be made of two of her illustrious sons Dewan Bahadur Har Bilas Sarda and Rai Bahadur Gourishankar Ojha If the former has been very much in the lime light on account of his social legislation in the Imperial Assembly the latter also deserves to be equally well known, though his has been the comparatively secluded life of a scholar and historian It is the good fortune of Ajmer to possess two such distinguished citizens and I often imagine them as two luminous planets in the intellectual life of the capital spreading the mellow radiance of their knowledge and wisdom on those who have the privilege of coming within the orbit of their influence

Being a new comer to the city of Ajmer I cannot claim much of an acquaintance with Rai Bahadur Gourishankar Ojha, though his name has been familiar to me for a long time I had heard of him at various university centres, particularly at Benares, as one who had dedicated himself to the study of Hindi and Sanskrit and whose work as an historian was of particular value to scholarship in the field of epigraphical research Having missed the privilege of meeting

him during my first visit to Ajmer in 1929, I took occasion almost immediately on my arrival here last April to assume the Principalship of the Government College to call on him one afternoon.

As he lives in typically Indian quarters in the old part of the city, it was with some difficulty that I could get at his residence even with the help of a guide There were lanes to be threaded after leaving the car and many narrow windings to be negotiated before actually reaching his place There he was in the midst of his books and manuscripts, bearing undoubted marks of old age, but as full of intellectual vigour as any person who has lived solely for the privileges of scholarship At first sight, almost instinctively, I thought of Browning's Grammarian As deeper drooped his head and his eyes grew dross of lead, the poet tells us, his disciples begged him to rest from his labours, but

Not a whit troubled,
Back to his studies, fresher than at first,
Fierce as a dragon
He (soul-Hydroptic with a sacred thirst)
Sucked at the flagon.

We sat and talked for some time of inscriptions and monuments, books and manuscripts and all the fundamental material which constitutes the basis of history, though its nakedness is often covered by the graphic narrative of the writer Imbued with the zeal of the real historian, Pandit Gourishankar spoke enthusiastically of dates and evidence, the details of historical facts interesting him much more than their adequate presentation to the man in the street. His face brightened up with immense satisfaction as he darted upon a correct date, or unravelled the mystery of some little allusion in an historical inscription.

He waxed indignant at some of the wrong conclusions of so-called historians ignorant of epigraphic evidence, without which he rightly held that investigation could never be complete. What impressed me most, though it did not cause any surprise, was that facts had a value in his eyes which amounted almost to religious reverence I was reminded of the remarks of Augustine Birrell in his eassy on the Muse of History "Facts are not the dross of history but the true metal and the historian is a worker in that metal. He has nothing to do with abstract truth, or with practical politics or with forecasts of the future..... The true historian therefore seeking to compose a true picture of the thing acted must collect facts, select facts and combine facts." Writing of the actual events of history, did not Lord Beaconsfield say in his *Coningsby*, "the least are of greater importance than the most sublime and comprehensive speculations" ?

Rai Bahadur Ojha has been able to accomplish work which will be remembered for a long time He has written a monumental history of Rajputana though unfortunately it is not available to the English-knowing public being in Hindi, he has given a powerful impetus to the cause of epigraphical research in India and the Ajmer Museum of which he is the Curator and whose valuable historical material he looks after with almost parental affection is entirely

his creation But in any enlightened country provided with better economic resources and with greater enthusiasm for the memorials of history, his talents should have received more adequate response resulting in richer fruits of his scholarship and wisdom

It was nearly sunset when I said good-bye and as he stood in the middle of the old court-yard of his residence, he spoke feelingly of the great wealth of historical material available in Rajputana and its sad neglect by its princes and people Dressed in picturesque Marwar costume, as the venerable figure peered at me appealingly in the failing light of the evening his body bent down by age and his vision getting dimmer and dimmer, he seemed to symbolize the voice of the distant past, conjuring the thoughtless children of to-day to cherish their mighty inheritance with legitimate pride Will his voice be heard, or be a mere cry in the barren wilderness of the deserts of Rajputana?

श्रीः

गौरीशङ्करशर्म्मा ओझानामा विराजते नितराम् ।
भारतमध्ये देशे नभसो मध्ये यथा चन्द्रः ॥१॥

सोमस्तोममरीचयः किमु किमु स्वर्निम्नगावीचयः
किंवा सत्त्वगुणाचयः किमथवा कर्पूरपूर्णाचयः ।
इत्थं प्राप्तकुतूहलाभिरनिशं सानन्दमुद्वीक्षिता
देवानान्तरुणीभिराहतमहो खेलन्ति यत्कीर्त्तयः ॥२॥

महत्तम उपाध्यायो गौरीशङ्करपण्डितः ।
पूजितो विदुषां वृन्दै राजतां राजपूजितः ॥३॥

प्राचीनधर्माचरणाद् यशस्वी
प्राचीनविद्याविमलाशयाढ्यः ।
प्राचीनलेखार्थविभासकोऽयं
जीव्याच्चिरं भारतरत्नभूतः ॥४॥

गङ्गानाथ झा शर्मा

भूलचूक

(विभाग १)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	२७	मियॉलागी	मिथॉलागी
५९	१४	आमिषभोजि	आमिषभोजी
६०	१२	Indus	Indus script
६०	३५	Far East (1912)	New East (1913)
६१	२८	yet	is yet
६२	१४	carried	carries
६३	८	similarity	similarity
६३	९	of course	of course,
६५	७	probable	probably
६५	३८	India,	India, i,

(विभाग २)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	४,६	भडि	भीड
२२	१६	H	R
२२	२०	Maukharis	Maukharis

(विभाग ३)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२०	होता ही	होता ही,
८	१६	मनोकामना	मन कामना
९	२९	यत्र यत्र	यत्र तत्र
९	३४	अविपच्च	अविवच्च
१०	४	सर ययाति नगर	प्सर ययातिनगर
१२	७	है।	है कि
१२	३३	को "उल्लोल" सस्कारित देशी शब्द	वाले "उल्लोल" देशी शब्द को संस्कृत कर
१३	७	अभिवादन	अभिनन्दन
५०	८,९,१०	कोगण्ड	कोङ्गद
५०	१३ तथा अन्यत्र इस सम्पूर्ण लख म	भामवश	भीम वश
५१	३३	छष्ठ	षष्ठ
५२	२०	माधव गजाङ्क	माधवराजङ्क
५२	२१	ज	ज से
५३	१५	जाइ अछि	जाउअछि
५५	४,६	जगमुग, जगमुङ्ग	जगत्तुङ्ग
५६	२१	मिलिथिया।	मिलिथिया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७	४	पाश्चाद्	पाश्चात्
५९	३	ठीक	ठिक
८३,८४	अनेक तत्सम शब्दों में	ज, ष	श ष
८४	१९	जाय।	जाय.

(विभाग ४)

१८	२४	मराठो	मराठे
१८	३१	कलचुरि के	कलचुरी
१९	१२	मांडिने	मांडिले
१९	१७	लावेत	लावले
१९	२७	पाटवकर	पाटणकर
२०	१०	आरम्भ होना	होना
२१	१०	तानगांना	तानशां
२४	५	राजद्रीय	राजकारणीय
२४	६	सवर्ते	सवन्ते
२४	७	मुख्याचात्म	मुख्यामात्य
२४	१७	ने	के
२४	२१	रायपुर	रामपुर
२५	२४	नय उसमे	इसी मे
२६	१६	वकील की	वकील के
२६	३२	१७६७	१७६७ मे
२७	१९	मराठा	अंग्रेज
२८	४	सम्बन्धी महाराणा	तत्सम्बन्धी महाराज
२८	१६	को	ने
२८	२३	तख्तसिंह	वख्तसिंह
२८	२४	१८०३	१८०३ मे
२८	२५	को	की
३७	२७	ठेवावा	ठेवाया
३८	३३	इतिहासात महाराजाच्या	इतिहासांत शिवाजी महाराजाच्या
४०	१३	लुटण्यान	लुटण्यात
,,	१५	दिलीरखान पैकी	दलीरखान या पैकी
,,	३२	हत्याप्रमाणे	हप्त्याप्रमाणे
४१	१०	का	की
४२	१४	चमूद	नमूद
,,	२८	नण्याकरिता	नेण्याकरितां
४३	९	महारानी	महाराजांनी
४४	३३	उगवन	उगवून

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५	२	तायाद	नायात
४६	४	निचाच	तिचाच
"	२२	समजलें जाते	समजले जात
४९	२१	स्वानया	स्वारया
"	२३	जुन्या नावागाला	नावागाला जुन्या
	३१	ढपलेला	ठरलेला
४९	२२	१७२४	१७२८
,	"	१७३९	१७२९
५०	१९	खळखळले	खवळले
"	२१	होवाचेंही	नोवाचेही
"	२९	चौथसरशमुगीचो	चौथसरदेशमुखीची
५१	१३	१७५७	१७५९
५१	२६	हानीवेतली	हाता घेतली
५२	१८	पुढें	पुढें सबसिडियरी अलायन्स
५२	२१	माय	मान्य
५३	४	डोले	डोळे
५३	२	दधिक्का	दधिक्रा
,	२३	वापरीनि	वापरीत
"	२८	तेयें	तेथे
५४	१८	विधेची	त्रिगची
५६	१७	मुत्तीचा	युक्तिचा
५७	२२	सुद्ध	युद्ध
५८	१	शीच	तशीच
"	५	सेप	ऐप
"	११	गावीद्ध	गावी
"	१२	उदवलेल्या	उद्धवलेल्या
५९	३२	सोत	होत
६०	२०	उग्राघडम	डगघईम
"	३२	ह	नुक्सान होईल ह
६१	२९	लावकीप्रमाणे	लायकीप्रमाण
६२	७,८	थोडयाच	थोडयान
६२	९	आपतया	आपल्या
६२	२७	पगत	पद्धत
६३	२	नक्त्या	नक्त्या

(विभाग ६)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	८,११	सवपग	समवसरग
९	६	my	may
९	१८	Mahendraverman	Mahendravarman

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२९	*Prabhaya*	*prabhāiya*
१०	३	*i.e*	(*i.e.*
१०	१८	Chandrapabha	Chandraprabha
१४	४	bhūmī	bhūmi
१४	१७	dand	danda
१४	३२	Jaina	Jaina printings

(विभाग ७)

२०	३४	sort	sel
२१	२०	her	h...n
२१	२५	Kings	kings
२२	२१	पर्योविन्याम	पर्योविन्याम
२२	२८	श्रीरितामिता	श्रीरितामिता

(विभाग ८)

११	७	सन १११४	(सन १११४)
११	१५	मधुमति	मधुमती
११	२१	मा हि स्म नि	मा हि स्म नी
११	२४	विहित	विहितं
११	३०	मायनु कैकृत	मायर्नुकैकृतं
१२	५	वसमान	व समान
१२	५	कुन्ति	कुन्ती
१२	६	कांनिमति	कान्तिमती
१३	१९	स्वट्वाङ्गानाम	स्वट्वांगा नाम
१३	२०	भ्रष्टांच	भ्रष्टां च
१३	२३	तीर्थमनाडुहनाम	तीर्थमानडुहं नाम
१३	३१	मक्षदे	मक्षादे.
१३	३२	सांवित	सेवितं
१४	२३	देशाची	देशांची
१५	८	त्याहुन्नर	त्या हुन्नर
१५	३०	जमदग्नीचा ना	जमदग्निची नी
१६	११	अनडुह	अनडुह्
१६	१६	एकत्र	एकच
१७	२९	१९०	सन १९०४
१८	१९	ओरंग	ओरंब
